आर्य शान्तिदेव विरचित

बोधिचर्यावतार

𑐧𑑀𑐠𑐶𑐔𑐬𑑂𑐫𑐵𑐰𑐟𑐵𑐬

བྱང་ཆུབ་སེམས་པའི་སྤྱོད་པ་ལ་འཇུག་པ།

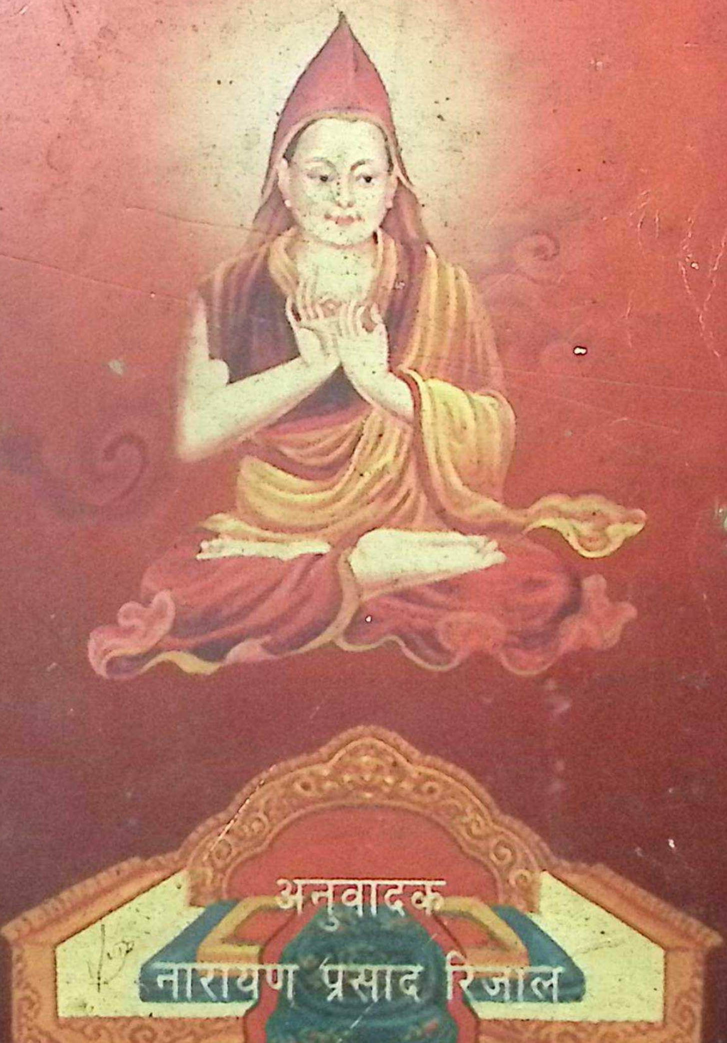

अनुवादक
नारायण प्रसाद रिजाल

254R.

Realty- अचलसम्पत्ति
Intimacy ⇒ आत्मीयता
Analogy - सादृश्यता
Honorific = आदरार्थी
Atrophy - अक्षय
Myopic view - अदूरदृष्टि
Expose - पर्दाफास गर्नु
strained relation मनमुटाव

आचार्य का विद्यार्थीहरुलाई बाहेक
अरुलाई यो पुस्तक काम छैन

२५४ R.

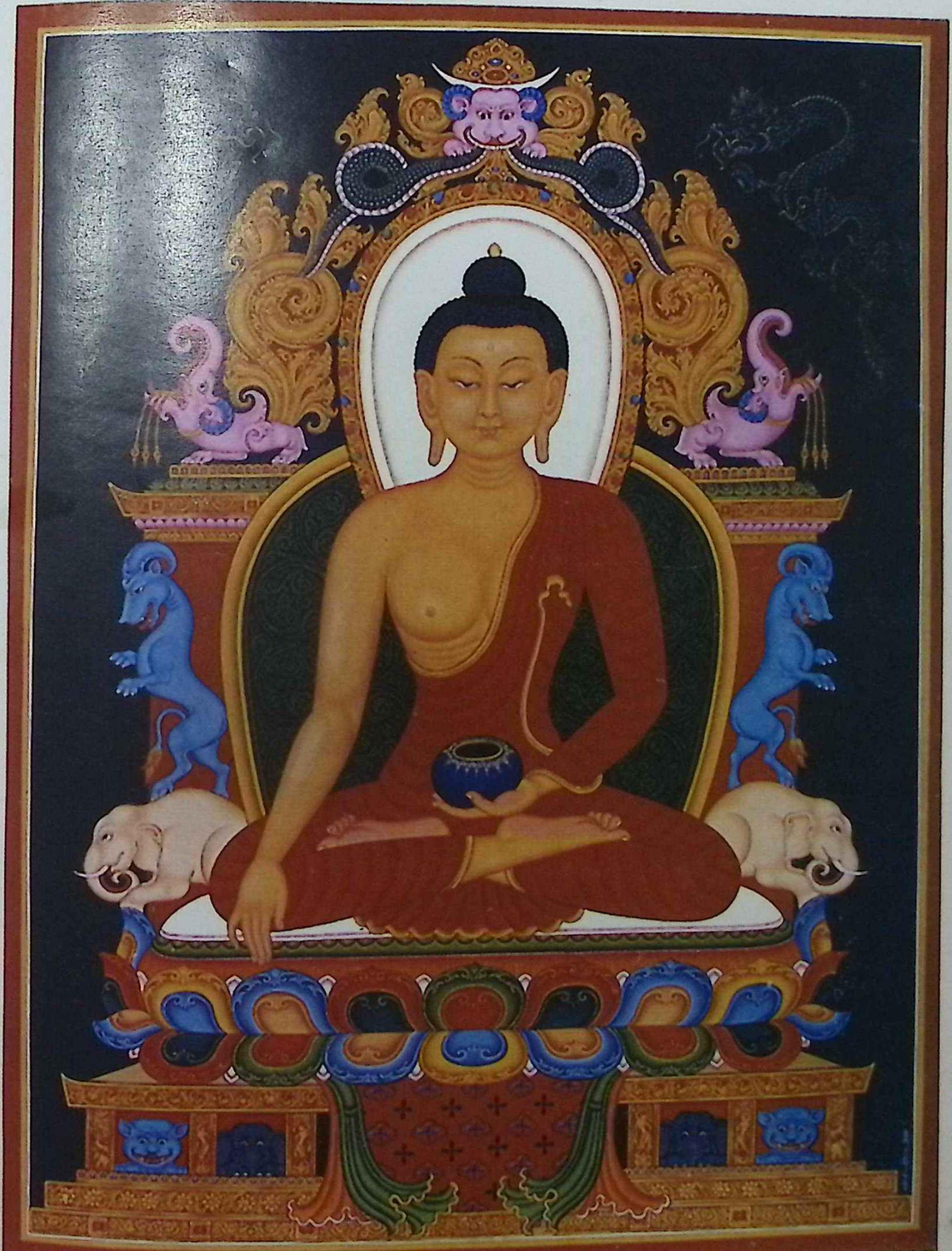

शाक्यमुनि बुद्ध

आर्यशान्तिदेवविरचित्त

बोधिचर्यावतार

𑐧𑑀𑐢𑐶𑐔𑐬𑑂𑐫𑐵𑐰𑐟𑐵𑐬

𑐧𑑀𑐢𑐶𑐔𑐬𑑂𑐫𑐵𑐰𑐟𑐵𑐬

བྱང་ཆུབ་སེམས་པའི་སྤྱོད་པ་ལ་འཇུག་པ།

[नेपाली छायानुवाद, अन्वयार्थ तथा प्रज्ञाकरमतिपञ्जिकानुगामी नेपाली भावार्थ र आचार्य धर्मवज्र (श्रीधर राणा) को उपोद्घात सहित]

अनुवादक तथा सम्पादक :

नारायण प्रसाद रिजाल (बुद्धवज्र)
व्योमकुसुमा अनुवाद समिति

प्रकाशक :

सिद्धि बहादुर श्रेष्ठ
रुक्मिणी श्रेष्ठ

प्रकाशक : सिद्धि बहादुर श्रेष्ठ
रुक्मिणी श्रेष्ठ
फोन : ५२२७३५

व्योमकुसुमा अनुवाद समिति :

संरक्षक : परमपूज्य कर्माठिन्ले रिन्पोछे

प्रमुख निर्देशक : आचार्य धर्मवज्र (श्रीधर राणा)

सदस्यहरु : खेन्पो वागीन्द्रशील, नारायण प्रसाद रिजाल, पुण्यप्रसाद पराजुली
हर्ष भण्डारी, विनय शमशेर राणा, पं. विजयनाथ पौडेल
शिवकुमार रिजाल

सर्वाधिकार : व्योमकुसुमा अनुवाद समितिमा सुरक्षित
फोन : ४१६३५२

संस्करण : प्रथम, २०५७
१००० प्रति

Acc. 24893
24423

मूल्य : ने. रू. ३५०/-
भा. रू. २५०/-

कम्प्यूटर डिजाईन : अनिल शाक्य, नरदेवी,
फोन : २६०८७०

मुद्रक : शक्ति प्रिन्टर्स, नरदेवी

कभर डिजाइन : किशोर जोशी तथा विजय महर्जन

सर्वदानानि धर्मदानं जयति

हाम्रा दिंवगत प्रात:स्मरणीय माता पिता

श्रीमती अम्बिका देवी श्रेष्ठ तथा डा. भक्त बहादुर श्रेष्ठ
(मातापिता - श्री सिद्धि बहादुर श्रेष्ठ)

एवं

श्रीमती अमल देवी श्रेष्ठ तथा समर बहादुर श्रेष्ठको
(मातापिता - श्रीमती रुक्मिणी श्रेष्ठ)

पुनीत स्मृतिमा उहाँहरुको अभ्युदय एवं नैःश्रेयस सिद्धिका निमित्त सुखावतीगमनको प्रत्यय होस् भनी

ग्रन्थरत्न

बोधिचर्यावतार

सादर समर्पण
गर्दछौं ।

श्री सिद्धि बहादुर श्रेष्ठ
श्रीमती रुक्मिणी श्रेष्ठ

H.E. CHOGYE TRICHEN
RINPOCHE

H.E. CHOGYE TRICHEN RINPOCHE
༄༅།སྐྱབས་རྗེ་བཅོ་བརྒྱད་ཁྲི་ཆེན་རིན་པོ་ཆེ།

Jamchen Lhakhang
G.P.O. Box No. 4518
Boudha Nath
Kathmandu
Nepal
Tel: 977-1-470992
Fax: 977-1-483118

༄༅། རྒྱལ་སྲས་ཆེན་པོ་ཞི་བ་ལྷས་མཛད་པའི་བསྟན་བཅོས་ཆེན་པོ་བྱང་ཆུབ་སེམས་པའི་སྤྱོད་པ་ལ་འཇུག་པ་འདི་བཞིན། ལེགས་སྦྱར་སྐད་ཡིག་ནས་ནེ་པ་ལི་སྐད་དུ་ད་ལམ་ནཱ་རེ་ཡན་པྲ་སདྷ་རི་ཛལ་མཆོག་ནས་ཕར་བསྒྱུར་གནང་བར་སློང་ནས་དགའ་བའི་རྗེས་སུ་ཡི་རངས་དང་འབྲེལ། རྒྱལ་བསྟན་རིན་པོ་ཆེ་སྤྱི་དང་། ལྷག་པར་ཤྲཱི་ལྔ་ལྡན་གྱི་རྒྱལ་པོས་སྐྱོང་བའི་ཡུལ་མི་དོན་གཉེར་ལྡན་པ་རྣམས་ལ་ཕན་ནུས་རྒྱ་ཆེ་ཡོང་བའི་སྨོན་འདུན་བཅས། བཅོ་བརྒྱད་ཁྲི་ཆེན་ལེགས་བཤད་རྒྱ་མཚོས། ཕྱི་ལོ་ ༢༠༠༡ ཟླ་ ༣ ཚེས་ ༡ དགེ་བ་ལ།།

शरणनायक चोग्ये ठ्री्चेन रिन्पोछेको आशीर्वचन

महाजिनपुत्र शान्तिदेव विरचित यो महान्‌शास्त्र बोधिसत्त्वचर्यावतारलाई संस्कृत भापावाट नेपाली भाषामा हाल नारायण प्रसाद रिजालज्यूद्वारा अनुवाद भएकोमा हृदयदेखि नै प्रसन्न भई अनुमोदन गर्दछु । सामान्यता बुद्धशासनरत्नको र विशेष गरी श्री ५ को सरकारले पालन गरेको देशका जनताको हितार्थ अत्याधिक लाभदायी होस् भनी प्रणिधान गर्दछु । चोग्ये ठ्री छेन् लेक्शे ग्यात्छोद्वारा, सन् २००१ मार्च १ मा ।

TEGCHEN LEKSHEY LING
Boudha-Jorpati
G.P.O. Box: 11925
Kathmandu
Nepal

Tel: 479115

Lama Karma Thinley
Rinpoche

Date . . . .

༄༅། །ངོ་མཚར་བདུན་གྱི་དཔལ་ལྡན་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་ཞི་བ་ལྷས་མཛད་པའི་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྤྱོད་པ་ལ་འཇུག་པའི་བསྟན་བཅོས་རྩ་འགྲེལ་གཉིས། ལོ་ཙྪ་བ་ནཱ་ར་ཡན་པྲ་སཱ་ད་རི་ཛལ་གྱིས་བཅོམ་ལྡན་འདས་སྐུ་འཁྲུངས་པའི་ཡུལ་ཁྱད་པར་འཕགས་པ་བལ་པོའི་རྒྱལ་ཁབ་ཀྱི་གཞུང་སྐད་དུ་ལེགས་པར་ཕབ་བསྒྱུར་མཛད་པ་ནི་བྱ་བ་རླབས་ཆེན་ཞིག་སྟེ། སྟོན་པ་བདེ་བར་གཤེགས་པ་མཆོག་ནི། མཁའ་ཁྱབ་ཀྱི་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མགོན་དང་སྐྱབས་མཛད་མཁན་ཡིན་པ་མ་ཟད། དེ་དག་ལ་ཕན་བདེའི་ལམ་སྟོན་པ་པོ་དང་། སངས་རྒྱས་ཉིད་ཀྱི་གོ་འཕང་ལ་བཀོད་གནང་མཁན་ཀྱང་ཡིན་སྟབས། སྟོན་པའི་དམ་ཆོས་བསྒྱུར་སྤེལ་བྱེད་པའི་ལེགས་བྱས་རྣམ་པར་དཀར་བ་འདི་ལྟ་བུ་ལ། བདག་གིས་ཀྱང་བསྔགས་བརྗོད་ཀྱི་པད་ཕྲེང་ཁྱེད་ཀྱི་མགུལ་དུ་ཀླུབ་པར་བགྱིད། རང་ཅག་རྣམས་ཀྱི་མི་ཚེ་འདི་ལ་ཆོས་དད་དང་འཇིག་རྟེན་ལུགས་ཀྱི་བགོ་སྐལ་ཇི་སྙེད་སྤྱད་ཀྱང་། སེམས་མ་དུལ་བས་ཆགས་སྡང་ཁོ་ནའི་གཞན་དབང་དུ་གྱུར་ཆེ། རང་གཞན་ཐམས་ཅད་མི་སྐྱིད་པ་དང་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཁོལ་པོར་ཆེ་འདི་ཆུད་གསོན་སྟབས། ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་གཞུང་བཟང་འདི་ལ་ཐོས་བསམ་སྒོམ་པ་རྩེ་གཅིག་ཏུ་གནང་ན། ཐུགས་ལ་རིན་ཐང་བྲལ་བའི་ཞི་བདེའི་ནོར་བུ་མཐའ་མེད་པ་རྙོལ་བར་ངེས་པ་རྒྱུ་འབྲས་བསླུ་བ་མེད་པའི་ཁྱད་ཆོས་ཡིན་འདུག་པས་དེ་བཞིན་ཐུགས་ལ་མཛེར་པར་ཞུ།

ཀརྨ་ཕྲིན་ལས་པའི་མིང་པས། ༢༠༠༡ ཟླ་༤ ཚེས་༡༨ ལ་བྲིས་པ་དགེ། །

परमपूज्य कर्माठिन्ले रिन्पोछेबाट आशीर्वचन

सात आश्चर्यले युक्त श्रीमान् महाबोधिसत्त्व शान्तिदेवविरचित बोधिसत्त्वचर्यावतार शास्त्रको मूल र भावार्थ दुवैलाई लोचावा नारायण प्रसाद रिजालद्वारा यो भगवान् बुद्ध जन्मिएको देश नेपालको राष्ट्रिय भाषामा भएको अनुवाद कार्य महोर्मि नै (धेरै किरणहरूले युक्त) छ । शास्ता सुगत आकाशव्यापी सर्वसत्त्वहरूका नाथ र शरणदाता मात्र नभएर उनीहरूलाई हित र सुखको मार्ग देखाउने र बुद्धताकै अवस्थामा पुऱ्याउनेवाला हुनुहुन्छ । (त्यस्ता) शास्ताको सद्धर्म फैलाउनको लागि (गरिएको) यो जस्तो अत्यन्त सेतो सुकार्यको निमित्त मैले पनि तपाईंको कण्ठमा प्रशंसाको पद्महार पहिराइदिन्छु । हाम्रो यो मनुष्य जीवनमा धर्ममा श्रद्धा र लौकिक चलनको भागलाई जसरी (मिलाएर) गरे पनि चित्त विनीत नभएको हुनाले राग र द्वेषको नै प्रभावमा परिराखिएको बेलामा, (तथा) आफू र अरु सबै अशान्ति र दुःखको दास बनेको बेलामा महायानको यो भद्रशास्त्रको एकचित्त भएर श्रवण, चिन्तन र भावना गरेमा अमूल्य शान्ति र असीम सुखको मणि प्राप्त हुने निश्चित छ । यो कर्म र फलको अकाट्य विशेष धर्म पनि यही भएकोले त्यसै गरी चित्तमा ग्रहण गर्नु होला । चौथो कर्मा ठिन्लेद्वारा सन् २००१ एप्रिल महिना १८ गते शुभम् ।

KA-NYING SHEDRUP LING MONASTERY

༄ རྣམ་འདྲེན་བཞི་པ་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཐབས་མཁས་ལ་ཐུགས་རྗེ་ཚད་མེད་པ་དང་ལྡན་པ་དེས་ བདག་ཅག་སྐྱེ་འགྲོ་རྣམས་ཀྱི་མོས་བློ་དང་འཚམས་པའི་ཆོས་ཚུལ་མཐའ་ཡས་པ་ཞིག་གསུངས་པ་ལས་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་སྡེ་སྣོད་ཀྱི་ཉིང་ཁུ་ རྒྱལ་སྲས་ཆེན་པོ་ཞི་བ་ལྷས་གསུངས་པའི་སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྤྱོད་པ་ལ་འཇུག་པའི་གཞུང་བཟང་ཡིད་བཞིན་གྱི་ནོར་བུ་རིན་པོ་ཆེ་ལྟ་བུ་འདི་ཉིད་ཀྱི་རྩ་བ་དང་དེའི་འགྲེལ་བ་སློབ་དཔོན་པྲ་ཛྙཱ་ཀ་ར་མ་ཏིས་ལེགས་སྦྱར་སཾསྐྲི་ཏའི་སྐད་དུ་མཛད་པ་བཅས། ནེ་པཱལ་ཡིའི་གཞུང་སྐད་དུ་སྟོན་དང་བསྟན་པར་དད་པའི་ཤེས་རབ་བཀྲ་བ་དངོས་སློབ་ནཱ་རཱ་ཡན་པྲ་སཱ་ད་རི་ཛཱལ་ནས་སབ་བསྒྱུར་བགྱིས་འདུག་པར་བསྔགས་བརྗོད་ཀྱི་མེ་ཏོག་འཐོར་བ་དང་ འདི་ལྟ་བུའི་གཞུང་བཟང་འདི་ཉིད་ད་ལྟའི་བར་དུ་བདག་ཅག་རྣམས་ཀྱིས་ཐོས་བསམ་སྒོམ་གསུམ་གྱི་སྤྱོད་ཡུལ་དུ་བཞུགས་པ་ནི་ཤིན་ཏུ་བསོད་ནམས་དང་སྐལ་པ་བཟང་ཞིང་དགོངས་དོན་བཞིན་ཐུགས་དམ་ཉམས་བཞེས་མཛད་སྒྲོར་གྲུབ་པ་ཞུ་རྒྱུ།

ཆོས་ཀྱི་ཉི་མ་སྤྲུལ་མིང་པས་ ༢༠༠༡ ཟླ་༢ ཚེས་༢༥ ལ

परमपूज्य छोक्यी न्यीमा रिन्पोछेबाट आशीर्वचन

चतुर्थ विनायक उपायज्ञाता भगवान् बुद्धमा अपार करूणा हुन्छ । उहाँले हामी व्यक्तिहरुको अधिमोक्ष र मतिसँग मिल्ने गरी असीम उपदेशहरू बताउनुभएको छ । ती मध्ये महायान पिटकको सार महाबोधिसत्त्व शान्तिदेवले बताउनुभएको बुद्ध र बोधिसत्त्वहरूको चर्यामा प्रवेश गराउने चिन्तामणिसमान भद्र शास्त्र रूपी यो कल्पचिन्तामणिको मूल र त्यसको आचार्य प्रज्ञाकरमति रचित संस्कृत भाषाको भाष्यानुसारी भावार्थलाई नेपालको राष्ट्रभाषामा शास्ता र शासनमा श्रद्धा भएका विचित्रप्रज्ञावान् मेरा साक्षात् शिष्य नारायण प्रसाद रिजालले अनुवाद गर्नु भएकोमा प्रशंसाका पुष्पहरू वर्षाउँछु । यो जस्तो भद्र शास्त्रलाई अहिलेसम्म हामीहरूले श्रवण, चिन्तन र भावनाको विपय वनाउनु अत्यन्तै पुण्य र सौभाग्य हुने भएकाले यसको अभिप्राय मुताविक पवित्र हृदयमा अभ्यास गरी सिद्धि गर्न अनुरोध गर्दछु । टुल्कु छोक्यी न्यीमाद्वारा सन् २००१ फरवरी २५ मा शुभम् ।

विषय सूची

विपय श्लोक
क) चित्रसूचि 1
ख) प्रकाशकीय 3
ग) अनुवादकीय 5-7
घ) भूमिका 9-11
ङ) आचार्य शान्तिदेवको जीवनी 13-21
च) उपोद्घात 23-57
छ) बोधिचर्यांवतार
१. प्रथम परिच्छेद (बोधिचित्तानुशंसा- पृ. १-१८)
१.१. मङ्गलाचरण १
१.२. ग्रन्थप्रयोजन २
१.३. क्षणसम्पत्तिको दुर्लभता ४
१.४. वोर्धिचत्तमहिमा ५, १८
१.५. दुई किसिमका बोधिचित्त १५
क) वोधिप्रणिधिचित्त १६
ख) वोधिप्रस्थानचित्त १६
१.६. लोकको स्वभाव २८
१.७. वोधिसत्त्वको महिमा ३१
१.८. बोधिसत्त्वका वैरीहरूको गति ३४
१.९. वोधिसत्त्वका हितैपीहरूको प्रशंसा ३५
२. द्वितीय परिच्छेद (पापदेशना- पृ. २०-४१)
२.१. त्रिरत्नको मनोमयी पूजा १
क) स्नानवाट पूजा १०
ख) वस्त्रहरूबाट पूजा १२
ग) चन्दनहरूवाट पूजा १४
घ) मालाहरूवाट पूजा १५
ङ) धूपहरूवाट पूजा १६
च) नैवेद्यहरूबाट पूजा १६
छ) दीपहरूवाट पूजा १७
ज) पुष्पहरूवाट पूजा १७
झ) विमानहरूवाट पूजा १८
ञ) छत्र (छत्तरी) हरूवाट पूजा १९
ट) पूजाको उपहारस्वरूप सारांश पूजा २०
ठ) सद्धर्म आदिको पूजा २१
ड) अनुत्तर पूजा २२
ढ) स्तुतिपूजा २३
२.२. प्रणामद्वारा पूजा २४
२.३. त्रिशरणगमन र पापदेशना २६
३. तृतीय परिच्छेद (बोधिचित्तपरिग्रह- पृ.४३-५७)
३.१. पुण्यानुमोदना १
३.२. अध्येषणा ४
३.३. याचना ५
३.४. वोधिपरिणामना ६
३.५. सम्यक्सम्बोधिचित्तोत्पाद २२
(अर्थात् बोधिचित्तोत्पादविधि)
४. चतुर्थ परिच्छेद (बोधिचित्तअप्रमाद- पृ.५९-७८)
४.१. शिक्षाहरूलाई अतिक्रमण नगर्नमा प्रयास १
४.२. बोधिसत्त्वको प्रतिज्ञा भङ्ग भएमा दोप ८
४.३. प्रतिज्ञा भङ्ग हुन नदिन हृदयमा राख्नुपर्ने कुरा ८
५. पाँचौं परिच्छेद (सम्प्रजन्यरक्षा- पृ. ८०-१२५)
५.१. चित्तरक्षा १
५.२. चित्तबाटै सबै कुरा हुन्छन् २
५.३. चित्तलाई दृढ वनाउनुपर्ने कुरा १९

विपय	श्लोक
५.४. स्मृति उपस्थान	२९
क) काय प्रत्यवेक्षण	३९
ख) चित्त प्रत्यवेक्षण	४०
५.५. अनर्थकुरा (व्यर्थका आचरण) गर्न नहुने शिक्षा	४३
५.६. सम्प्रजन्यको लक्षण	१०८
५.७. वोधिसत्त्वको आचार नै प्रमुख कुरा	१०९

६. छैठौं परिच्छेद (क्षान्ति पारमिता- पृ.१२७-१८०)

विपय	श्लोक
६.१. द्वेपका दोषहरू	१
६.२. क्रोधका दोपहरू	६
६.३. दु:खाधिवासना क्षान्ति	९
६.४. परापकारमर्षणा क्षान्ति	३५
६.५. धर्मनिध्याना क्षान्ति	५२
६.६. प्राणीहरू (सत्त्व) र भगवान्हरू (वुद्ध) मा समानता	११३
६.७. सत्त्वहरूको आराधना नै बुद्धहरूको आराधना	११९
६.८. क्षान्तिको फल	१३३

७. सातौं परिच्छेद (वीर्य पारमिता- पृ. १८२-२१२)

विपय	श्लोक
७.१. वीर्यको महिमा	१
७.२. वीर्यको स्वरूप	२
७.३. आलस्यका हेतुहरू	३
७.४. संवेग (तीव्र छट्पटी) उत्पन्न गर्नुपर्ने	४
७.५. वीर्य वृद्धि गर्ने उपायहरू	१६
७.६. विपाद (खिन्नता) उत्पन्न गर्न नहुने	१७
७.७. वलव्यूह	३१
७.८. वलव्यापार	३२
७.९. छन्दवल	३३
७.१०. स्यामवल	४६
७.११. रतिबल	६२
७.१२. मुक्ति (त्याग) वल	६६
७.१३. तात्पर्य	६७
७.१४. आत्मविधेयता	७४

८. आठौं परिच्छेद (ध्यान पारमिता- पृ.२१४-२९१)

विपय	श्लोक
८.१. समाधिभावनाको प्रयोजन	१
८.२. कायविवेक र चित्तविवेक	२
८.३. कायविवेकका उपायहरू	३
८.४. प्रियजनको सङ्गतले नै सबै अनर्थ ल्याउने	७
८.५. साधुजनको जस्तो आचार गर्नुपर्ने शिक्षा	१६
८.६. लाभ आदिको तृष्णा त्यागनुपर्ने	१७
८.७. वालजनहरूको संगत दु:खको कारण	२३
८.८. अरण्यवासको महत्व	२६
८.९. अल्पेच्छताको प्रशंसा	२९
८.१०. परिवारप्रति अनासक्ति	३३
८.११. एक्लै रहनुका गुण	३५
८.१२. चित्तविवेक	३९
८.१३. धन कमाउनु दु:खकै कारण	७१
८.१४. काम-आसक्ति त्यागनु आवश्यक	८०
८.१५. विवेक (एकान्त) विहारीहरूको प्रशंसा	८५
८.१६. विवेकभूमि (एकान्त)मा वोधिचित्तको भावना	८९
८.१७. परात्मसमताको भावना	९०
८.१८. परात्मपरिवर्तनको भावना	१२०
८.१९. आत्मदमन	१६०
८.२०. कायदमन	१७३
८.२१. पण्डितहरूका अनुसार चल्नु	१८५
८.२२. आवरण र विशेप गरी निवरण नाश गर्नु समाधिको प्रयोजन	१८६

विपय	श्लोक
९. नवौं परिच्छेद (प्रज्ञापारमिता- पृ. २९३-४३५)	
९.१. दुःखलाई हटाउने खास उपाय 'प्रज्ञा'	१
९.२. दुई सत्यहरू	२
क) व्यवहारसत्य या संवृतिसत्य	
ख) परमार्थसत्य	
९.३. दुई किसिमको लोक	३
क) प्राकृतक लोक	
ख) योगिलोक	
९.४. प्राकृतकहरूको ज्ञान भ्रान्त हुने	३
९.५. सर्वास्तिवादीहरूको आक्षेप र त्यसको परिहार	९
९.६. योगाचारवादीहरूको आक्षेप र त्यसको परिहार	१५
९.७. शून्यवादीहरूले भनेअनुसार बुद्धहरूको पूजाको फल	३९
९.८. बुद्धपूजाको फल सिद्ध गर्ने आगम प्रमाण	४१
९.९. शून्यता नै निर्वाणको कारण	४९
९.१०. त्रास नै अहम्प्रत्यय ('म' भन्ने अस्तित्वबोधको विश्वास) को विपय	५७
९.११. केश आदि अहम्प्रत्ययका विपय होइनन्	५८
९.१२. ज्ञान आत्मा होइन	६१
९.१३. नैयायिकहरूको आत्मामा सद्व्यवहारको निषेध	६९
९.१४. चित्त पनि अहंकारको गोचर हुन नसक्ने	७४
९.१५. शरीरका अङ्गहरूपनि अहङ्कारका गोचर होइनन्	
क) कायस्मृत्युपस्थान र प्रासङ्गिक अणुपरीक्षा	७९
ख) वेदनास्मृत्युपस्थान	८९
ग) चित्तस्मृत्युपस्थान	१०३
घ) धर्मस्मृत्युपस्थान	१०६
९.१६. स्वभाववादीहरूको निराकरण	११७
९.१७. जगत्को हेतु ईश्वर हो भन्नेहरूको निराकरण	११९
९.१८. अणुहरू (परमाणुहरू) सृष्टिका कारण हुन नसक्ने	१२७
९.१९. प्रधानको अपरिणामरूपताको निराकरण	१२७
९.२०. हेतुवादको समीक्षा	१४२
९.२१. त्रैकाल्यवादीहरूको निराकरण	१४३
९.२२. शून्यवादी (माध्यमिक) हरूको उपसंहार	१५०
१०. दशौं परिच्छेद (बोधिपरिणामना- पृ.४३७-४५४)	
१०.१. सबैले बोधिचर्या गरून्	१
१०.२. सबैले बोधिसत्त्वसुख प्राप्त गरून्	२
१०.३. नरकवासीले सुख पाऊन्	४
१०.४. दुर्गतिवासीले सुख पाऊन्	१६
१०.५. प्रेत र तिर्यग्योनिले सुख पाऊन्	१७
१०.६. मनुष्यले सुख पाऊन्	१९
१०.७. स्त्रीहरूले सुख पाऊन्	३०
१०.८. सबै प्राणी सुखी होऊन्	३१
१०.९. सबैले बुद्धता पाऊन्	३४
१०.१०. बुद्ध, बोधिसत्त्व र प्रत्येकबुद्धहरूको प्रार्थना	४८
१०.११. संघले लाभ सत्कार पाओस्	५७
१०.१२. ग्रन्थको अन्तमा मङ्गल	५८
ज) परिशिष्ट – १ तिब्बती भाषाको परिणामना – पृ. ४५६-४६१	
झ) परिशिष्ट – २ अकारादिक्रममा कारिकासूची – पृ. ४६३-४७६	

चित्रहरुको सूचि

१. आचार्य शान्तिदेव आवरण चित्र
२. शाक्यमुनि रंगीन चित्र
३. बोधिसत्त्व मञ्जुश्री पृ. - 2
४. बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर पृ. - 4
५. बोधिसत्त्व वज्रपाणी पृ. - 8
६. गुरु पद्मसम्भव पृ. - 12
७. आर्य नागार्जुन पृ. - 22
८. आचार्य आर्यदेव पृ. - 58
९. आचार्य असङ्ग पृ. - १९
११. आचार्य वसुबन्धु पृ. - ४२
११. आचार्य दिङ्नाग पृ. - ५८
१२. आचार्य चन्द्रकीर्ति पृं. - ७९
१३. आचार्य धर्मकीर्ति पृ. - १२६
१४. आचार्य शान्तरक्षित पृ. - १८१
१५. आचार्य अतीश पृ. - २१३
१६. आचार्य गम्पोपा पृ. - २९२
१७. आचार्य साक्यापण्डित पृ. - ४३६
१८. आचार्य लोङ्छेन्पा पृ. - ४५५
१९. आचार्य चोङ्खापा पृ. - ४६२

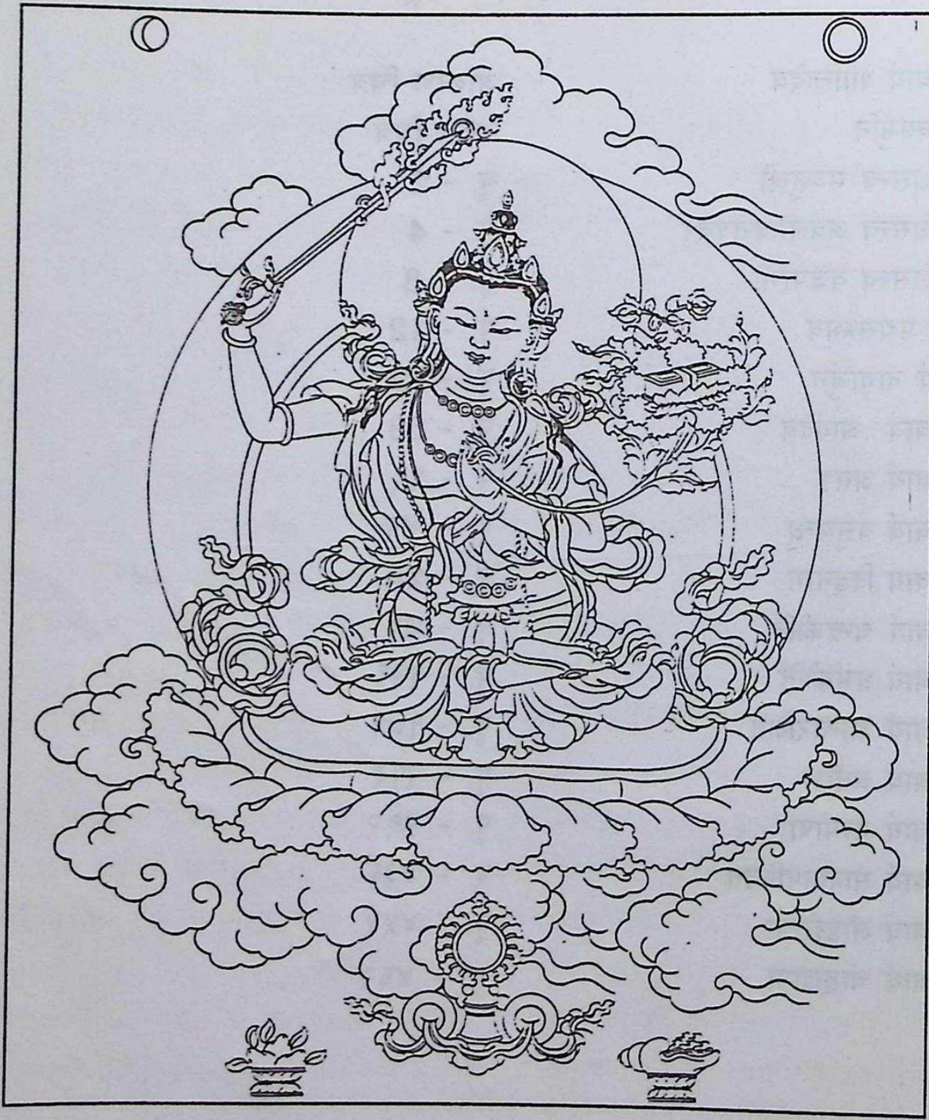

बोधिसत्त्व मञ्जुश्री

[लौकिक एवं लोकोत्तर प्रज्ञाको कमी भएकाहरूलाई प्रज्ञाद्वारा मद्दत गर्ने अधिष्ठान गरेका वोधिसत्त्व मञ्जुश्री । महायानमा प्रज्ञावृद्धिको लागि विशेषत: उहाँको उपासना गरिन्छ र यो ग्रन्थका लेखक आर्य शान्तिदेवले पनि उहाँको विशेष कृपा प्राप्त गर्नुभएको थियो]

प्रकाशकीय

प्रस्तुत बोधिचर्यावतार आचार्य शान्तिदेवले रचना गर्नुभएको कृति हो । बुद्धधर्ममा र विशेष गरेर महायान बुद्धधर्ममा यसको अत्यन्त महत्व छ तापनि अहिलेसम्म यसको नेपाली भाषामा अनुवाद र प्रकाशन हुन सकेको थिएन । अत: यसको प्रकाशन हुनु सबैको लागि अनुमोदनीय विषय होला जस्तो लागेको छ । आचार्य शान्तिदेवले यसमा ६ पारमिताहरूको अभ्यास गर्ने तरीकालाई अति मार्मिक ढंगले उपदेश गर्नुभएको छ । ती पारमिताहरू दान, शील, क्षन्ति, वीर्य, ध्यान र प्रज्ञा गरी छ ओटा छन् । महायान अनुसार बुद्धता प्राप्त गर्न आवश्यक पर्ने अभ्यासहरू यिनै हुन् । त्यसैले यो ग्रन्थ धेरै व्यावहारिक र मार्मिक छ ।

यो ग्रन्थलाई नेपाली भाषामा प्रकाशन गर्ने र जनमानसमा पुऱ्याउने पवित्र कार्यमा हाम्रा गुरुवर रत्नश्री श्रीधर राणाज्यूबाट प्राप्त प्रेरणाले हामीलाई श्रेय: दिलाएको छ । यसको नेपालीमा अनुवाद हुँदैछ भन्ने थाहा पाएपछि यसलाई प्रकाशन गर्ने तीव्र इच्छा हाम्रो मनमा उत्पन्न भयो । गुरुवरसँग प्रस्ताव राख्यौं र उहाँले सहर्ष अनुमोदन गर्नुभयो । अनि अनुवादक नारायण रिजालज्यूसँग कुरा पनि गऱ्यौं र उहाँले यो अनुवाद रविप्रधानज्यूले गराउन थाल्नु भएकोले एक पटक उहाँको अनुमति पनि लिनुपर्ने कुरा गर्नुभयो । उहाँले झन् प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दिनुभयो जसको लागि उहाँलाई कृतज्ञता प्रकट गर्ने शब्द समेत हामीसँग छैनन् । त्यस्तै अनुवादक नारायण प्रसाद रिजालज्यू प्रति हामी धेरै आभारी छौं जसको अथक प्रयासबाट यो अनुवाद कार्य सम्पन्न भई हामीले पनि आज यो पुण्य कार्यमा सहभागी हुने अवसर पाएका हौं । वहाँ जस्ता व्यक्तित्वहरूको वास्तवमा यहाँ खाँचो नै छ । यसको छपाइको काममा हाम्रै कारणले पनि धेरै ढिलाई हुँदै गएको थियो र पनि कुनै अप्ठ्यारो महसूस नगरी भने बमोजिम नै सहर्ष सुचारुरुपले कार्य गरी मुद्रण सम्पन्न गर्ने शक्ति प्रिण्टर्सका परिवारसहित श्री अनिल शाक्यज्यूलाई धन्यवाद दिन चाहन्छौं ।

हाम्रा छोरा शैलेशले यो किताब छपाउने काममा प्रेससँगका कारोवार आदि सबै काममा धेरै मद्दत गरेका छन् र यस्तो धार्मिक कार्यमा उनको सधैं मन लागिरहोस् भनी आशीर्वाद सहित उनी प्रति हामी कृतार्थ छौं ।

अन्तमा बुद्ध धर्मको प्रचार प्रसार गरी सबैले पुण्यलाभ र स्व-परहित गर्न सकून् तथा सबैले जन्म, मृत्यु, जरा व्याधिबाट मुक्ति लाभ गरुन् र विश्वमा शान्ति फैलिरहनसकोस् भन्ने कामना गर्दै विश्राम लिन्छौं ।

उपासिका – रुक्मिणी श्रेष्ठ
उपासक – सिद्धिबहादुर श्रेष्ठ

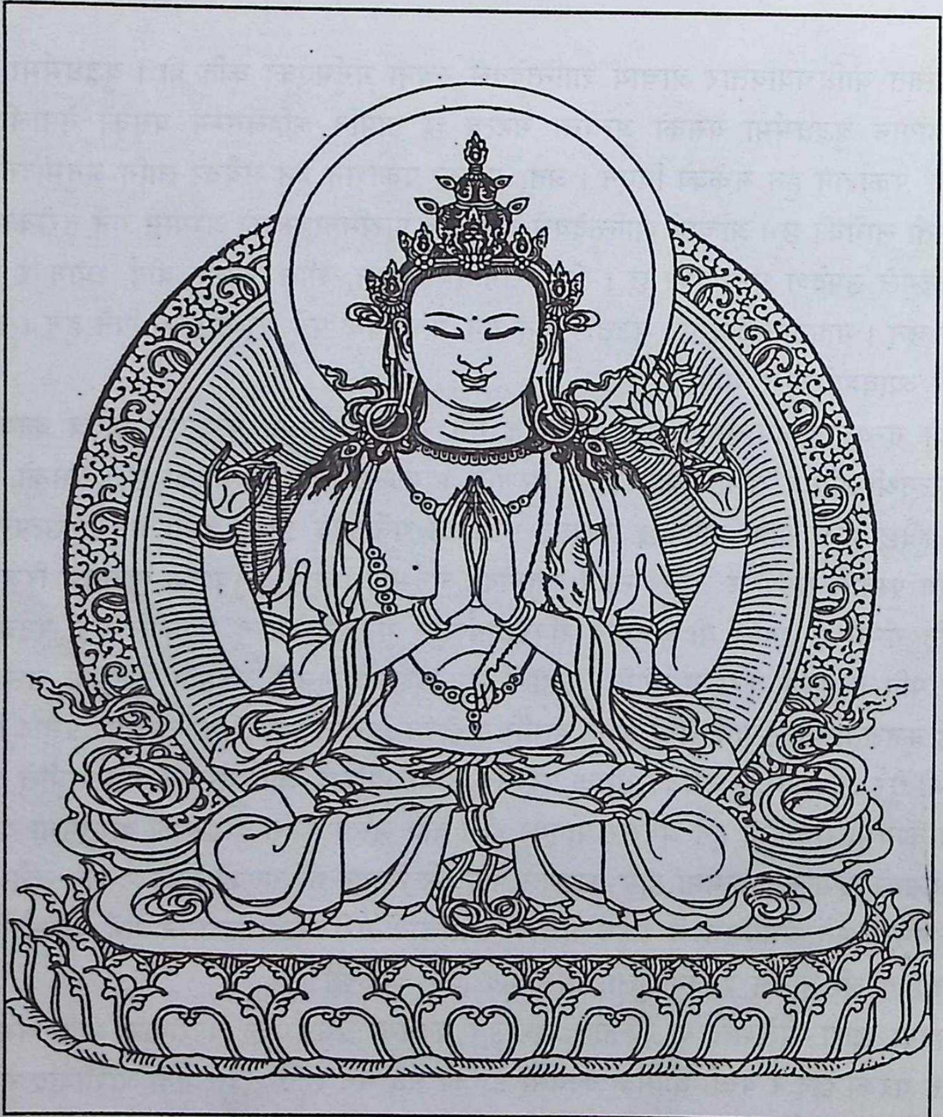

बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर

[करूणाद्वारा प्राणीहरूको हित गर्ने र आफ्नो नाम लिंदा सभाआदिमा भय नहोस् भनेर अधिष्ठान गरेका वोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर । महायानमा करूणाको वृद्धिको लागि विशेषत: उहाँको उपासना गरिन्छ र उहाँलाई वुद्धहरूको करूणाकै अभिव्यक्ति मानिन्छ । नेपालको अधिकांश हिमाली क्षेत्रका वौद्धहरूले उहाँको उपासनामा बढी जोड दिन्छन् ।]

अनुवादकीय

अनुवाद भनेको सजिलो कार्य अवश्य पनि होइन । त्यसमा पनि संस्कृत भाषामा केवल चञ्चुप्रवेश मात्र भएको मजस्तो व्यक्तिले बोधिचर्यावतारजस्तो गहन विषयको ग्रन्थमा हात हाल्नु हास्यास्पद नै हो । तैपनि धेरै वर्ष अगाडि मैले बुद्धधर्मको अध्ययन गर्ने शुरुताका यसको अध्ययनवाट अति ठूलो प्रेरणा र उत्साह पाएको थिएँ र महायान बुद्धधर्म अत्यन्त उत्कृष्ट र वास्तवमै एक मानवले वुझ्नु र आफ्नो जीवनमा ढाल्नुपर्ने सर्वोत्तम धर्म रहेछ भन्ने छर्लङ्गै देख्न सकेको थिएँ । त्यसमाथि पनि परमपूज्य गुरुपाद आचार्य धर्मबज्र (श्रीधर राणा) ज्यूको अनुग्रहले गर्दा परम्परागत रूपमै महायान-वुद्धधर्मको श्रवण, चिन्तन र भावना गर्ने धेरै अमूल्य अवसर प्राप्त हुँदै आयो र मेरो मूढमतिले ग्रहण गर्न सकेजति गर्दै गएँ पनि । कहाँको बुद्ध-धर्महरूको अगाध गम्भीर र अपार वैपुल्य सागर, कहाँको मेरो यो सीमित आयु-संस्कारवाला क्षुद्रमति, एक जन्मले मात्र बुझ्न र पारपाउन वास्तवमै गाह्रो रहेछ ।

त्यही क्रममै मलाई उहाँले यो बोधिचर्यावतारको नेपालीभाषामा अन्वय र शव्दार्थ सहित छायानुवादकै श्लोकहरू पनि रचना गर्नुपर्‍यो भनेर सुझाव दिनुभयो र ८/१० श्लोकको अनुवाद गरें पनि । परन्तु भौतिक शास्त्रको बोझिलो अध्ययन, परीक्षा अदि सबै एकैपटक पर्न थाले र समय दिन सकिएन, कार्य त्यसै रह्यो । पछि आएर उपासक रवि प्रधानज्यूसँग पुण्यजीको र मेरो सम्पर्क भएपछि यस्ता अनुवाद कार्यमा सक्दो समय निकालेर अलि प्राथमिकताका साथ नेपालीभाषामा बौद्ध सूत्र र शास्त्रहरूको अनुवाद गर्न थाल्नुपर्‍यो बरू तपाईंहरूलाई यथायोग्य सहयोग म गर्छु भन्ने वचन उहाँले दिनुभयो र हामीलाई निकै प्रेरणा पनि दिनुभयो । त्यसपछि आजभन्दा चारवर्ष अघिदेखि मैले यो अनुवादकार्य अगाडि बढाएँ ।

अनुवाद अघि बढ्यो र सिद्धियो पनि । यसको अनुवाद भइरहेको थाहा भएपछि उपासिका रुक्मिणी श्रेष्ठज्यूले यसलाई प्रकाशन गर्न मलाई दिए हुन्थ्यो भन्नुभयो जुन हामी सबैको लागि अत्यन्त अनुमोदनीय विषय थियो । पछि फेरि यसको अनुवादकार्यको व्ययभार पनि आफैंले वहन गर्ने प्रस्ताव राख्नुभयो जसको लागि रविप्रधानज्यूसँग अनुमति लिनुपर्ने भयो र उहाँले पनि सहर्ष अनुमति दिनुभयो र अनुवाद, सम्पादन र प्रकाशनको कार्य सजिलोसँग सम्पन्न हुनसक्यो । यसमा रवि प्रधानज्यू र रुक्मिणी श्रेष्ठज्यूको कुशलोत्साहलाई हामीले सदाकाल आफ्नो जीवनमा अनुकरणीय सम्झिनु पर्नेछ र सद्धर्मलाई स्थिर राख्न, फैलाउन र सकेसम्म धेरै सत्त्वहरूको हित गर्न उहाँहरूजस्ता पुण्यवान् व्यक्तित्वहरू भेटिनु धेरै दुर्लभ कुरा हो र उहाँहरूप्रति कृतज्ञता प्रकट गर्ने वास्तवमा कुनै पनि माध्यम अपरिपूर्ण नै रहने छ ।

म कवि पनि होइन, साहित्यकार पनि होइन, भाषाविद् पनि होइन । त्यसैले मेरो अनुवादमा विभिन्न दृष्टिकोणबाट विभिन्न पक्षमा त्रुटिहरू भएका छन् । जस्तैः छायानुवाद भनेर पनि कतिपय

श्लोकको छन्द बदलेर नेपाली श्लोक बनाएको छु, कतिपय ठाउँमा पाउहरूको संख्यामै बृद्धि गरेको छु। श्लोकमै जेको त्यही शब्दानुवाद गरी भावलाई समेट्न म जस्ताको मूढ बुद्धिले आँट्ने कुरा पनि भएन। त्यस्तै, कतिपय स्थानमा अन्वयसहित अर्थ गर्दा वाच्यमा परिवर्तन गरेर अनुवाद गरेको छु। यी सबै मेरो अल्पबुद्धिका द्योतक हुन् जसको कारणले विद्वान्हरूको सामु म लज्जित छु र क्षमाको अपेक्षा राखेको छु।

जहाँसम्म अनुवादको उपादेयता के रह्यो त भन्ने प्रश्न छ, त्यसमा म यत्ति भन्न सक्छु कि यो ग्रन्थ उपासकले आफ्नो चित्तलाई शोधन गर्दै बोधिमार्गमा हिंड्ने क्रममा व्यवहारमै परिवर्तन ल्याउने, क्लेशहरूसँग सामना गर्ने, करुणा, क्षान्ति आदिको अभ्यास गर्ने र सम्यग्दृष्टिमा चित्तलाई स्थिर गर्ने अभ्यासको लागि बनेको र बुद्धका गहन उपदेशहरूको नै सार भएको हुनाले साधक-साधिकाहरूका निमित्त बढी उपयोगी नै हुनेछ किनकि त्यस परिप्रेक्ष्यमा ग्रन्थको अन्य पक्षभन्दा भावार्थ बढी महत्वपूर्ण हुनजान्छ जसलाई शुद्धसिद्धपरम्परागत व्याख्याप्रणालीबाट बाहिर नजाने गरी यहाँ उतार्न प्रयास गरिएको छ। यहाँका श्लोकहरूका भावार्थहरूको मूल आधार भारतकै आचार्य प्रज्ञाकरमतिले लेख्नुभएको पञ्जिका नै हो तापनि उक्त पञ्जिकाको सोझो अनुवाद यो होइन। कतिपय स्थानहरूमा प्रो. राम शंकर त्रिपाठीले गर्नुभएको यसको हिन्दी अनुवादकै ढाँचा मैले पनि अपनाएको छु भने कतिपय स्थानमा मौलिक रूपमा आफैंले परम्पराका गुरुहरूबाट बुझे अनुसार नै गएको छु। नेपालीभाषामा महायान बुद्धधर्मको अभ्यासलाई सही ढंगले आधिकारिक रूपमा प्रस्तुत गरिएका किताबहरू प्राय: छैनन् भने पनि हुन्छ। त्यसमा यो बोधिचर्यावतार धेरै नै महत्वपूर्ण ग्रन्थ भएको हुनाले यसले अवश्य पनि उक्त कमीमा एक ईंटा थप्ने छ भन्ने मलाई विश्वास छ।

साँच्चिकै महायान बुद्ध धर्मको अभ्यास गर्ने हो भने यो बोधिचर्यावतार नै जडी ग्रन्थको रूपमा आउँछ जुन कुरा तिब्बती र नेपाल, भारत, भुटान आदि देशका अधिकांश हिमाली भेगका सबै महायान परम्पराहरूमा यसको व्यापक उपयोग हुनु, प्रतिभासत्रय, सद्धर्मचिन्तामणिमोक्ष-रत्नालङ्कार जस्ता अभ्यासकै उपदेशक्रमहरूले भरिएका ग्रन्थहरूमा अभ्यासको मूल आधार यही बोधिचर्यावतारलाई नै वनाइनु आदिबाट राम्रोसँग पुष्टि हुन आउँछ। अत: यो ग्रन्थ कस्तो हो भन्ने कुरा स्वयं यही ग्रन्थले आफैं बोल्ने भएको हुनाले र विस्तारभयले गर्दा पनि म त्यतातिर जान चाहन्न। उपासक, उपासिका एवं अध्येताहरूले स्वयं बुझ्नुहुनेछ। एकै वाक्यमा भन्नुपर्दा यो ग्रन्थमा बोधिचित्त उत्पाद गर्नुपर्ने कुराको पृष्ठभूमि र महत्त्वसहित बोधिचित्त उत्पाद गर्ने विधि एवं उत्पाद गरिसकेपछिको आत्मभाव (शरीरआदी) पञ्चस्कन्ध सन्ततीलाई रक्षा, शुद्धि र वृद्धि गरी सर्वसत्त्वहरुको हित र सुख सम्पादन गर्न योग्य एवं सक्षम कसरी बनाउने भन्ने कुराको गहिरो उपदेशक्रम सारसंक्षेपमा दिइएको छ। यही नै वोधिचर्यावतारको मूल विपयवस्तु हो।

तिव्वती भापका मूल श्लोकहरु सवै राख्दा विस्तार हुने भएकाले परिणमना मात्र भएपनि परिशिप्टमा दिइएको छ। यसले तिव्वती भाषमा धर्म बुझ्नेहरुलाई श्रद्धोत्पाद एवं महत्त्व दिनेछ। त्यस्तै महायान वुद्धधर्मको उत्थानमा योगदान दिएका सिद्ध गुरुहरुको पनि परिचय भइराखोस् भन्ने हेतुले

शाक्यमुनिबुद्ध र त्रिकुलनाथ लगायत भारत एवं भोटका केही प्रमुख सिद्ध आचार्यहरुका चित्र पनि छोटो परिचयसहित बिचबिचमा दिइएका छन् ।

यसको उपोद्घातको लागि हाम्रा परमपूज्य गुरुपाद आचार्य धर्मवज्र (श्रीधर राणा)ज्यूलाई विन्ति गर्दा आफ्नो अमूल्य समय निकालेर अत्यन्त समसामयिक, विवेचनात्मक र धेरै नै सूचनामूलक, सारगर्भित एवं आँखा चिम्लिरहेको बौद्ध एवं बौद्धेतर समाजमा चेतना ल्याउने खालको लेखरत्न उपलब्ध गराइदिनुभयो जसलाई अनुवाद गरी उपोद्घातको रूपमा यहाँ राखिएको छ । त्यस्तै मेरा आफ्नै अनन्य मित्र एवं बौद्ध विद्वान् श्री पुण्य प्रसाद पराजुलीज्यूको भूमिकाले बोधिचर्यावतारको महत्त्व र मूल्यलाई स्पष्ट पारेको छ जसको लागि उहाँप्रति म हार्दिक रूपमा कृतज्ञ छु र उहाँले यसको लेखन, सम्पादन आदिमा विभिन्न पक्षबाट दिनुभएको सहयोग र सुझावको लागि आभारी छु । त्यस्तै यस पुस्तकको आवरण पत्रलाई डिजाइन गर्न धेरै परिश्रम गर्नुभएका उपासक किशोर जोशी र विजय महर्जन एवं उहाँका मित्रहरूलाई पनि धन्यवाद दिन चाहान्छु । ढीलो-चाँडो, फेर-बदल कुनै कुरामा पनि धैर्य नटुटाई अत्यन्त सहयोगिताका साथ मुद्रण कार्य सम्पाद गराउने 'शक्ति प्रिण्टर्स' का अनिल शाक्य लगायत सम्पूर्ण सदस्यहरूलाई पनि धन्यवाद नदिइरहन सक्दिन । साथै प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूपमा पनि यस ग्रन्थलाई प्रकाशन गर्नमा यथायोग्य सहयोग गर्नुभएका सबै महानुभावहरूप्रति मेरो हार्दिक कृतज्ञता छ ।

अन्तमा यो ग्रन्थलाई अनुवाद गर्ने कार्यमा मेरो चित्तसन्तानमा अधिष्ठान गरिराख्नुभएका मेरा साक्षात् बज्रगुरूहरू परमपूज्य चोग्ये ठ्रीचेन् रिन्पोछे, परमपूज्य कर्मा ठिन्ले रिन्पोछे, परमपूज्य छोक्यी न्यीमा रिन्पोछेज्यू- जसका अमूल्य सम्मतिले यो ग्रन्थको गरिमालाई नै उच्च तुल्याएका छन् - र परमपूज्य धर्मवज्र रत्नश्रीज्यू (आचार्य श्रीधर राणा) को असीम अनुग्रहलाई जन्म-जन्मान्तर सम्म कहिल्यै पनि नटुट्ने गरी धारण गर्न सकूँ र उहाँहरूको प्रज्ञा-बल-करुणालाई अनन्त सत्त्वहरूसमक्ष पुऱ्याई अनुत्तरसम्यक्-सम्बोधिलाभ गराउन सकूँ भन्दै उहाँहरूप्रति कृतज्ञतासहित परिणामना गर्दछु ।

यत्किञ्चिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ॥

उपासक
नारायण प्रसाद रिजाल
(बुद्धवज्र)

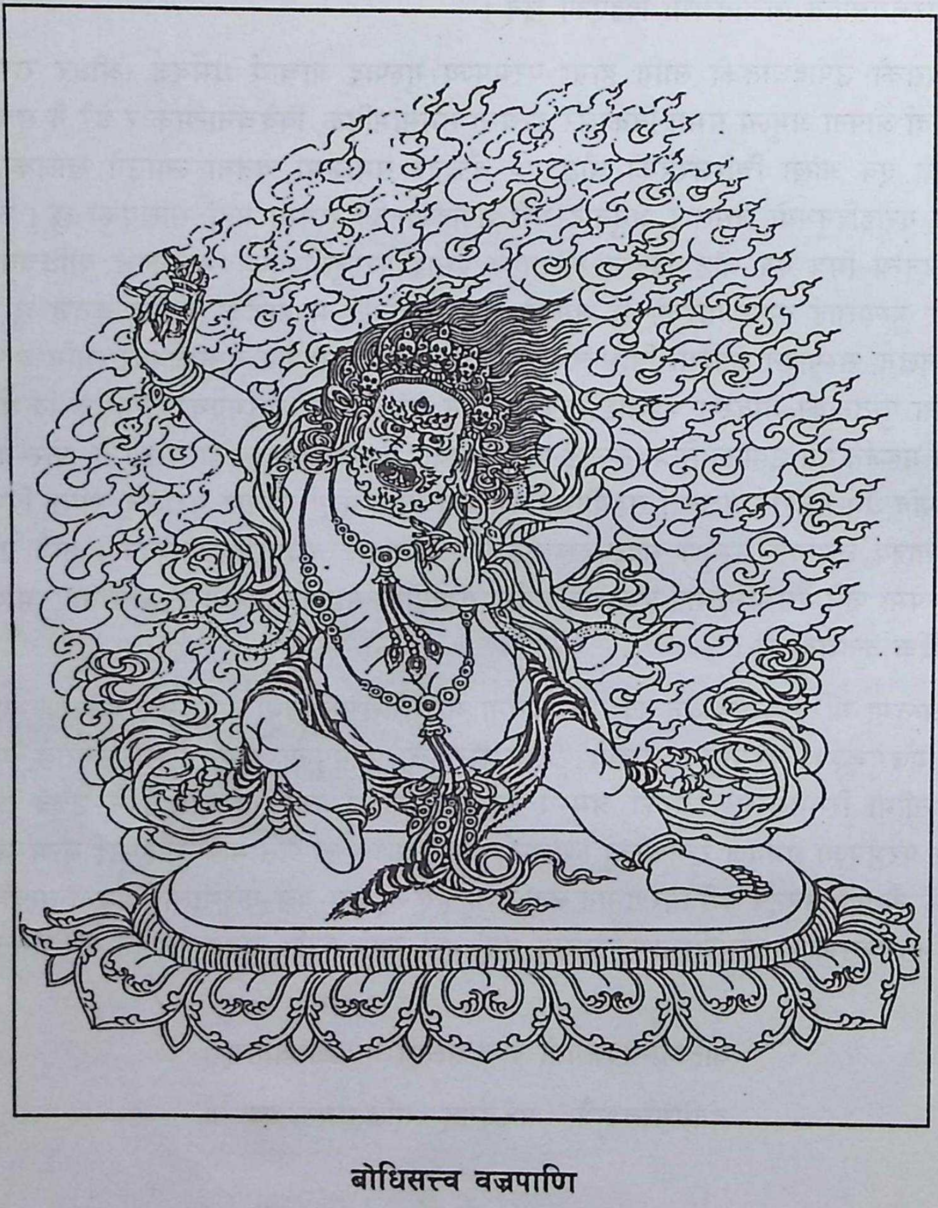

बोधिसत्त्व वज्रपाणि

[बलद्वारा प्राणीहरूको हित गर्ने र भय हरण गर्ने अधिष्ठान गरेका बोधिसत्त्व गुह्यचराट् आर्य वज्रपाणि । यहाँलाई विशेषत: बलको लागि र बाधा आदि निवारणको लागि उपासना गरिन्छ र बुद्धहरूको बलकै प्रतीक मानिएको छ । दीघनिकायको अम्बट्ठ सुत्तमा तथागतको वचन राख्न ठूलो फलामाको कूट लिएका र वरिपरि आगोको ज्वाला सहित चम्किएको अवस्थामा वजिरपाणि (वज्रपाणि) देखा परेर अम्बट्ठलाई सात टुक्रा पार्ने आँटेको प्रसङ्ग पाईन्छ ।]

भूमिका

त्रिरत्न शरणम् ।

सातौं शताब्दीका प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तिदेवविरचित बोधिचर्यावतार नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ नेपाली भाषामा अनुवाद भई प्रकाशित हुन लागेकोमा अत्यन्तै हर्षित छु। बौद्ध धर्मको दृष्टि र चर्यालाई वडो सुन्दर ढंगले यो ग्रन्थमा प्रस्तुत गरिएको छ । संस्कृत काव्य धारामा आधारित यो शिक्षाप्रद ग्रन्थलाई नेपाली काव्य धारामा प्रस्तुत गर्नुका साथै हरेक श्लोकलाई सरलरूपमा व्याख्या समेत गर्नुभएकोमा विद्वान् मित्र नारायणप्रसाद रिजालप्रति अत्यन्त आभारी छु । यो ग्रन्थलाई अनुवाद र पद्यवद्ध गर्न शुरु गराउने रवि प्रधानज्यूको योगदानका साथै पछि प्रकाशनसहित उक्त अनुवादकार्यको पनि जिम्मा लिई यसरूपमा ल्याउने उपासिका रुक्मिणी श्रेष्ठज्यूको पुण्यकार्य पनि अविस्मरणीय छ ।

संस्कृत भाषाबाट बोधिचर्यावतारलाई आठौं शताब्दीमा भारतीय गुरु सर्वज्ञदेव र तिव्वती लोकचक्षुपादले तिव्वती भाषामा अनुवाद गर्नुभएको थियो । त्यसपछि एघारौं शताब्दीमा भारतीय पण्डित धर्मश्रीभद्र तथा तिव्वती लोकचक्षुपाद रिन्छेन् साङ्पोले मगधमा पाइएको ग्रन्थ भाष्यको आधारमा फेरि अनुवाद गर्नुभएको थियो। पछि भारतीय पण्डित सुमतिकीर्ति र तिव्वती लोकचक्षुपाद लोदेन शेरावले सम्पादन गरेर अन्तिम रूप दिनुभएको हो। तिव्वतमा सबभन्दा बढी भाष्य लेखिने ग्रन्थमा बोधिचर्यावतार नै पर्छ। अहिलेसम्म तिव्वतीभाषमा यसका १४० ओटा भाष्यहरु लेखिसकिएका छन्। यसबाटै हिमाली क्षेत्रमा यसको महत्व झल्काउँछ । त्यस्तै चिनीयाँ भाषामा पनि यसको अनुवाद भईसकेको छ ।

नेपालमा पनि बोधिचर्यावतारको धेरै नै प्रचार प्रसार भएको पाइन्छ । चौधौं शताव्दीतिर लेखिएको बौद्ध ग्रन्थ गुणकारण्डव्यूहमा यो ग्रन्थमा भएका धेरै श्लोकहरूलाई समावेश गरिएको छ । गुणकारण्डव्यूहको आठौं अध्याय बलीसंवोधनबोधिमार्गावतारणमा वली राजा पातालमा पुगी सकेपछि आर्य लोकेश्वरले उनलाई उपदेश दिंदा बोधिचर्यावतारका लगभग १४० श्लोकहरूलाई नै उपदेशको रूपमा बताएको देखिन्छ । अनुसन्धानकै क्रममा रहेको यो प्रसङ्गबाट के देखिन्छ भने नेपाली बौद्ध जगत्मा बोधिचर्यावतार ग्रन्थको धेरै गहिरो छाप परेको थियो। शान्तिदेवका रचनाहरूका अधिकांश हस्तलिपिहरू पनि काठमाडौंबाट पाइएका हुनाले यसको महत्वलाई अझ झल्काउँछ ।

नेपालको बौद्ध समुदायमा संस्कृत भाषाको अध्ययन अध्यापनको क्रम क्रमिकरूपमा घट्दै गएकोले संस्कृत भाषाकै माध्यमबाट प्रस्तुत ग्रन्थ बुझ्ने व्यक्ति ज्यादै कम हुनु स्वाभाविकै हो। अतः नेपालभाषामा अनुवाद गर्नेकाम हालसम्म कायम रहेको पाइन्छ। बौद्ध विद्वान् मीनबहादुर शाक्यज्यूका अनुसार सन् १९३४ तिर पण्डित निष्ठानन्द बज्राचार्यले र सन् १९५२ मा पण्डित रत्नवहादुर बज्राचार्यले बोधिचर्यावतारको नेपालभाषामा अनुवाद गरी प्रकाशित गर्नुभएको थियो भने पं. दिव्यवज्र वज्राचार्यज्यूले मूल र प्रज्ञाकरमतिको पञ्जिकाको समेत अनुवाद गर्नुभएको थियो। यी सवै अनुवाद नेपालभाषामा मात्र भएकोले गैरनेपालभाषी व्यक्तिहरूमा यो ग्रन्थ पुग्न सकेको थिएन । नेपाली भाषाका सम्पूर्ण पाठकहरूको पहुँचमा पुगोस् भनेर नै सरल नेपाली भाषामा अनुवाद गरिएको छ। भावानुवाद मात्र नभएर संस्कृत श्लोकको अन्वय समेत दिइएको हुनाले संस्कृतमा भएको अर्थलाई धेरै नजीकबाट बुझ्न सकिनेछ ।

काव्यमा मिठास भएपनि अर्थ बुझ्नको लागि धेरै कुराको संयोग हुनुपर्छ । स्मरणको लागि श्लोकहरूले धेरै सजिलो पारे पनि नव सिकारुहरूले श्लोककै मद्दतबाट मात्र पुरै अर्थ बुझ्न गाह्रो पर्छ । त्यसको लागि टीकाको सहारा लिनुपर्छ । तिब्वतमा यो ग्रन्थका एक सय चालीसभन्दा बढी टीका भएपनि अनुवादमा आधारित टीकाहरू भएकाले ग्रन्थको मूल भावमा केही न केही तल माथि त परिहाल्छ । मेरो आफ्नै अध्ययनको क्रममा पनि तिब्वती अनुवादमा संस्कृत भाषामा भएका सबै शव्दहरू पूर्ण रूपमा नसमेटिएको पाएको छु । एउटा भाषाको छन्दोवद्ध काव्यलाई अर्को भाषाको काव्य परिपाटिमा लैजाँदा केही पक्ष छुटफुट हुन सक्छन् । यो नेपाली अनुवादमा सोझै संस्कृत माध्यमलाई प्रयोग गरिएकाले अर्थ ग्रहणमा सजिलो पर्ला भन्ने आशा गरेको छु । अमेरीकी विद्वान् एलेन वालेसको अंग्रेजी अनुवादमा संस्कृत अनुसारको अनुवाद र तिब्वती स्रोत अनुसारको अनुवादमा केही भिन्नता दर्शाइएको छ ।

प्रस्तुत ग्रन्थका अनुवादक श्री नारायणप्रसाद रिजालज्यू एकजना संस्कृत भाषाका विज्ञ मात्र नभएर बौद्ध दर्शनका मूर्धन्य पनि हुनुहुन्छ । नेपाली बौद्ध गुरु आचार्य श्रीधर राणाज्यूको अत्यन्त निकट्मा रहेर विगत १२ वर्षदेखि बौद्ध दर्शनको गहन अध्ययन र अभ्यास गरिरहनुभएकाले प्रस्तुत ग्रन्थका मर्मलाई उहाँले बुझ्नुभएको छ । बौद्ध धर्मको सबैभन्दा महत्वपूर्ण पक्ष नै अटुट सिद्ध परम्परा हो । भगवान बुद्धका उपदेशहरू अटुट क्रमबाट शान्तिदेवसम्म आएका थिए भने शान्तिदेवपछि पनि हिमाली क्षेत्रमा उक्त परम्परा कायमै छ । त्यही परम्परावाहक हिमाली भेगका गुरुहरूबाट गुरुवर श्रीधर राणाज्यूले जुन कुरा बुझ्नुभएको थियो त्यसैलाई नै अनुवादक नारायण रिजालज्यूमा संप्रेषण गर्नुभएको छ । यसरी परम्परा अनुसारको अर्थ बुझेर अभ्यास पनि गरेको व्यक्तिले आफ्नो भाषिक क्षमतालाई सदुपयोग गरी अनुवाद गरेको हुनाले यो ग्रन्थमा प्राण छ अर्थात् यसमा जीवन्तता छ जुन कुरा कोरा अनुवादमा मात्र पाइन्न ।

प्रस्तुत पुस्तकमा बोधिचित्त उत्पाद गर्ने, बढाउने, क्षय हुन नदिने तरीकाहरू सरल रूपमा प्रस्तुत गरिएको छ । तिव्वतमा धेरै प्रसिद्ध श्लोकहरूमध्ये आर्य नागार्जुनको रचना मानिने बोधिचित्त प्रणिधान निम्न अनुसार छ:-

वरबोधिचित्तरत्नं, अनुत्पन्नेषु जायताम् ।
जातेषु अक्षयं भूयात् प्रावल्येनैव वर्धताम् ॥

बोधिचर्यावतारको सम्पूर्ण विषयवस्तुलाई यो श्लोकको आशयसँग मिलाएर व्याख्या गर्ने पनि चलन छ । यस अनुसार पहिला तीन परिच्छेदहरू बोधिचित्तानुशंसा, पापदेशना र बोधिचित्त परिग्रह पहिलो विषय अर्थात् बोधिचित्त उत्पादसँग सम्बन्धित छन् । बोधिचित्ताप्रमाद, सम्प्रजन्यरक्षणम् र क्षान्तिपारमिता नामक तीन अध्यायहरू चाहिं बोधिचित्तलाई अक्षय बनाउने विषयसँग सम्बन्धित छन् । वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता र प्रज्ञापारमिता नामक तीन अध्यायहरू उत्पाद गरिएको बोधिचित्तको उत्तरोत्तर विकाससँग सम्बन्धित छन् । दशौं अध्याय अर्थात् परिणामना सम्पूर्ण ग्रन्थको पुण्य परिणामना गरिएको अध्याय हो । यसरी बोधिचित्तको उत्पाददेखि परिपूर्णतासम्मको मार्ग यहाँ दर्शाइएको छ ।

भारत, भोट र पश्चिमका धेरै विद्वान्हरूले बोधिचर्यावतारको प्रज्ञा परिच्छेदको मात्र व्याख्यामा धेरै रूचि देखाएका छन् । शान्तिदेवले प्रासंगिक माध्यमिक मतलाई स्थायित्व गर्न भरमग्दुर प्रयास गर्नुभएको छ । प्रज्ञापारमिता सूत्रहरूमा देशना गरिएको शून्यतालाई आर्य नागार्जुनले मूल माध्यमिक कारिका आदि ग्रन्थहरूमा व्यवस्थित गर्नुभएको थियो । उहाँको उक्त व्याख्यालाई आचार्य चन्द्रकीर्तिले अझ व्यवस्थित गर्नुभएको छ । प्रज्ञा परिच्छेदको अर्थलाई स्पष्ट रूपमा बुझ्न नागार्जुन र चन्द्रकीर्तिका माध्यमिक विषयका ग्रन्थहरूको अध्ययन हुन आवश्यक छ । पृष्ठभूमि स्पष्ट नभएमा अर्थ बुझ्न धेरै प्रयत्न गर्नुपर्छ । मेरो विचारमा प्रज्ञा परिच्छेदकै भाष्यहरूमा धेरै प्रयत्न गर्नुभन्दा पृष्ठभूमि बुझ्न प्रयत्न गरेमा लाभदायी हुन्छ ।

बोधिसत्त्वको अभ्यासमा ६ पारमिताहरूको धेरै महत्व हुन्छ । दान, शील, क्षान्ति, वीर्य र ध्यान पारमिताहरूलाई उपाय पक्षको रूपमा लिइन्छ भने प्रज्ञापारमितालाई प्रज्ञा पक्षको रूपमा लिइन्छ । उपाय र प्रज्ञारूपी दुवै पाङ्ग्रा भएमा मात्र बोधिमार्गमा यात्रा गर्न सकिन्छ । अर्को शव्दमा भन्ने हो भने दृष्टिको समन्वय भएमा मात्र सही बौद्ध अभ्यास हुन्छ । उपाय अर्थात् चर्या विनाको दृष्टिमात्र भएको अभ्यासलाई लङ्गडो मान्छेसँग तुलना गरिन्छ भने दृष्टि विनाको चर्यालाई अन्धो व्यक्तिसँग तुलना गरिन्छ । आचार्य शान्तिदेवले यी दुवै पक्षलाई सन्तुलित रूपमा प्रस्तुत गर्नुभएको छ । दृष्टि परिशोधनको लागि चर्या पक्षमा निपूणता हुनुपर्छ । यो कुरालाई हृदयङ्गम गर्न प्रस्तुत ग्रन्थको सिलसिलाबद्ध गहन अध्ययनले सहायता पुऱ्याउनेछ । एक बोधिसत्त्वले गर्नुपर्ने चर्याका पक्षलाई राम्ररी बुझ्न सकेमा वोधिपथ अंगाल्न सजिलो पर्नेछ ।

तिव्वतमा प्रचलित प्रतिभासत्रय, मार्ग क्रम, मुक्ति रत्नालंकार आदि अभ्याससँग सम्बन्धित ग्रन्थहरूमा बोधिचर्यावतारकै श्लोकहरूलाई अत्यधिक रूपमा उद्धृत गरिएको हुन्छ । तिव्वतका अधिकांश गुरुहरूले सर्वप्रथम यही ग्रन्थलाई गहन रूपमा अध्ययन र मनन गर्न लगाउने चलन छ । उन्नाइसौं शताब्दीका प्रभावशाली गुरु पाट्रुल रिन्पोछे त जहाँ जाँदा पनि यही ग्रन्थमात्र साथ लिने गर्नुहुन्थ्यो । केही दशक अगाडिका उत्तरी भारतका लामा गुरु खुनु रिन्पोछे पनि संस्कृत भापाको वोधिसत्त्वचर्यावतार नै साथमा लिएर निरन्तर रूपमा अध्ययन र अभ्यास गर्नुहुन्थ्यो । उहाँले परम पावन दलाई लामालाई संस्कृत भाषको मूल ग्रन्थकै आधारमा पढाउनुभएको थियो ।

अमूल्य बोधिचित्त रत्नलाई यथार्थ रूपमा प्रस्तुत गरिएको यो सम्यक् ग्रन्थको अध्ययन, चिन्तन र भावनाबाट सम्पूर्ण पाठकहरूमा बोधिचित्त उत्पाद र अभ्यास होस् भन्ने प्रणिधान गर्दछु । यो ग्रन्थका अनुवादक, प्रकाशक तथा सहयोगीहरूको अतुल्यरूपमा पुण्य र ज्ञानसम्भार होस् भनी पुण्य परिणामना गर्दै यो भूमिकाको यहीं अन्त गर्दछु । भवतु सर्व मङ्गलम् ।

लोचावा पुण्यप्रसाद पराजुली
व्योमकुसुमा अनुवाद समिति

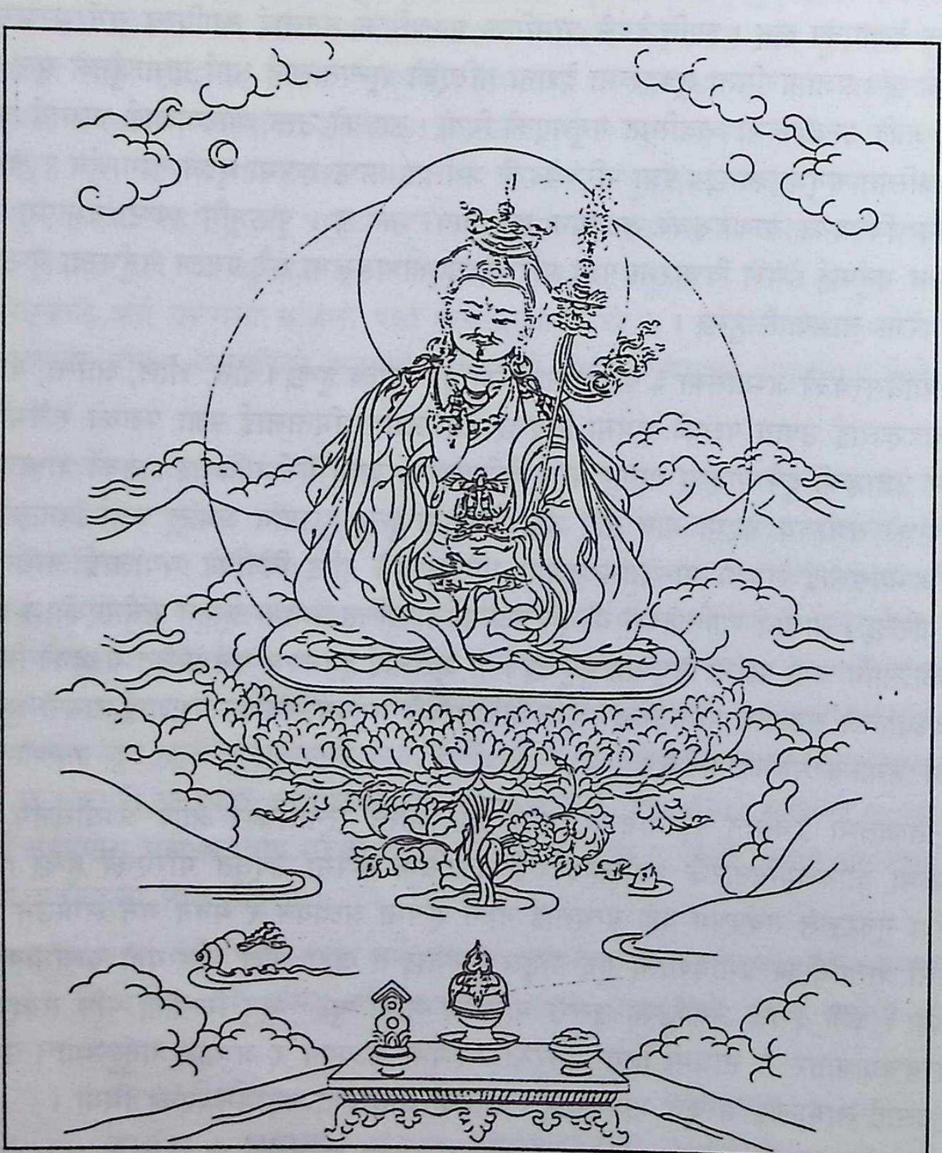

गुरु पद्मसम्भव

[वुद्धको परिनिर्वाणको आठ वर्षपछि ओडियान्को धनकोष भन्ने तलाउमा उपपादुक जन्मलिएका मानिने वौद्ध महागुरु पद्मसम्भव । नेपालको फर्पिङ्मा ज्ञान प्राप्त गर्नुभएका र हलेसी (माराटिका) मा अमितायुष्को सिद्धि गर्नुभएका गुरु पद्मसम्भवले नै तिव्वतमा वुद्धधर्मलाई स्थापना गराउनुभएको थियो । त्यसैले तिव्वती क्षेत्र र नेपाल, भारत, भुटान आदिका समस्त हिमाली भेगका बौद्धहरुले उहाँलाई दोस्रो बुद्ध समान नै ठान्दछन् र अहिलेसम्म उहाँले दिएका उपदेशहरुको अनुसरण गरी लाभान्वित भइरहेका छन् ।]

आचार्य शान्तिदेवको जीवनी

श्रीमञ्जुनाथानुगृहीतचेतसं
प्रभास्वरां स्वामनवस्थितां गतम् ॥
आर्षार्थमर्मज्ञमपास्तबन्धनम्
तं शान्तिदेवं भुसुकुं नमाम्यहम् ॥

[जसको चित्तलाई श्री मञ्जुनाथले अधिष्ठित गर्नुभएको हो, जो आफ्नो अनवस्थित प्रभास्वरस्थितिमा पुग्नुभएको छ, जसले बुद्धहरूले बताएका धर्महरूका तात्पर्यको मर्मलाई राम्रोसँग जान्नुभएको छ, त्यस्ता सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनलाई चुँडालिसकेका 'भुसुकु' भनिने गुरु शान्तिदेवलाई म प्रणाम गर्दछु ।]

आचार्य शान्तिदेव भारतका चौरासी महासिद्धहरूमा गनिएका एक प्रखर विद्वान् एवं महायान-वज्रयान बुद्धधर्मका अद्वितीय सिद्ध हुनुहुन्थ्यो । उहाँको जन्ममितिका सम्बन्धमा ठोकेर भन्न सकिने स्थिति छैन तापनि शान्तरक्षित आदि आचार्यहरूले तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थहरुमा उहाँको ग्रन्थ वोधिचर्यावतारका अंशहरू उद्धरण गरेकोबाट शान्तिदेव अवश्य पनि आठौं शताव्दीभन्दा अघिका हुनुहुन्थ्यो भन्ने स्पष्ट हुन्छ । उहाँको जीवनीका प्रमुख स्रोतहरूमा तिव्वतका सुप्रसिद्ध दुई विद्वान् वुतोन् एवं तारानाथको लेखलाई बढी प्रचलित मानिएको छ । ती दुवैको संयुक्त रूप जस्तो अर्को जीवनी पनि प्रसिद्ध छ जो अठारौं शताब्दीमा तिब्बती विद्वान् येशे पाल्ज्योर्ले लेख्नुभएको थियो । पछि आएर काठमाडौंमा चौधौं शताब्दीका संस्कृत भाषामा लेखिएका तीन तालपत्रहरू पनि प्राप्त भएका छन् जहाँ शान्तिदेवको जीवनी दिइएको छ । यी सबै र विशेष गरेर लोसाङ् एन. छोनावाले अनुवाद गर्नुभएको "Indian Buddhist Pandits From the Jewel Garland of Buddhist Hiistory" लाई आधार लिएर यो जीवनी तयार पारेको हुँ जसमा अपेक्षाकृत धेरै घटनाहरू समावेश भएका छन् र अभ्यास गर्ने साधकहरूका लागि प्रेरणादायक पनि छन् ।

आचार्य शान्तिदेवको जन्म भारतको सौराष्ट्रमा त्यहाँको एक राजकुलमा भएको थियो । उहाँका पिता राजा कुशलवर्मा (कल्याणवर्मा) थिए र माता रानी वज्रयोगिनी थिइन् । वाल्यकालम्मा उहाँको नाम शान्तिवर्मा राखिएको थियो । बाल्यकालदेखि नै उहाँको अत्यन्त तीक्ष्ण प्रतिभा र कुशाग्रबुद्धि थियो । स्वभाव पनि अत्यन्त करुणाले युक्त थियो र बुद्ध, बुद्धको महायान धर्म, अरूको हित गर्ने जस्ता कुरामा स्वभावैले नै अत्यन्त तीव्र रूचि थियो । उहाँले जसलाई पनि उत्तिकै आदर, सम्मान र माया गर्नुहुन्थ्यो । राजपरिवारमा हुर्किंदा पनि उहाँले दासदासीप्रति समेत सम्मान गर्ने गर्नुहुन्थ्यो । सानैदेखि नै बुद्धता प्राप्ति गर्ने चिन्तनमा लागिरहनुहुन्थ्यो ।

६ वर्षको उमेरमा एकदिन एकजना बौद्ध योगीले उहाँलाई भेटेर 'तीक्ष्ण मञ्जुश्री' को साधना गर्न अभिषेक दिएर विधि बताइदिए। उहाँले पनि मञ्जुश्रीको त्यो विधिअनुसार ध्यान गर्दै जानुभयो र अन्तमा एकदिन मञ्जुश्रीको दर्शन भयो। मञ्जुश्रीबाट उहाँले बुद्धधर्म र विशेषगरी प्रज्ञापारमिता एवं त्रिपिटकका उपदेशहरू भित्रभित्रै सिक्न थाल्नुभयो। बाहिर उहाँ केवल शान्त र भद्र स्वभावका हुनुहुन्थ्यो भने ध्यानमा प्रायः मञ्जुश्रीसँगै साक्षत् रूपमा सिक्ने गर्नुहुन्थ्यो। उहाँले तीव्र श्रद्धाकासाथ धर्मको जिज्ञासा राखी मञ्जुश्रीलाई प्रार्थना गर्दाखेरि प्रायः मञ्जुश्री प्रकट हुने गर्नुहुन्थ्यो।

यसै क्रममा उहाँ अलि ठूलो भएपछि एक दिन पिताको देहावसान भयो जसले गर्दा उहाँलाई नै राजगद्दीमा राख्ने तयारी हुन पुग्यो। गद्दी आरोहण हुनुभन्दा अगाडिको राती उहाँले सपनामा फेरि मञ्जुश्रीको दर्शन पाउनुभयो। त्यसबेला मञ्जुश्री एउटा गद्दीमा विराजमान हुनुहुन्थ्यो। अनि मञ्जुश्रीले भन्नुभयो, "हे मेरा एकमात्र पुत्र, म त तिम्रो कल्याणमित्र हुँ। त्यसैले हामी दुबैजना एउटै गद्दीमा बस्नु, समान आसनमा बस्नु उचित हुँदैन।"

त्यही राती आर्या तारा पनि आमाको रूपमा देखा पर्नुभयो र तातो पानी टाउकोबाट खन्याइदिँदै भन्नुभयो, "राज्य चलाउनु भनेको त ऊष्ण नरकको तातो पानी जस्तै हो। त्यस्तो अवस्थालाई पनि तिमीले अँगाल्न खोज्दैछौ?" त्यसपछि उहाँ जाग्नुभयो। उहाँलाई पक्का भयो कि यो राजगद्दीमा बस्नु सबैतिरबाट घातक सिद्ध हुनेछ। त्यसैले उहाँ सबेरै उठेर त्यत्रो उत्सव, राज्य, वैभव, बन्धु, बान्धव आदि सम्पूर्ण कुरालाई चटक्कै छोडेर भागिहाल्नुभयो।

त्यसरी कसैले मेसो नपाउने गरी भागेपछि उहाँ पूर्वतिर लाग्नुभयो र जङ्गलै जङ्गल हिँड्दै बीस दिन बितेछन्। भोलिपल्ट पनि उहाँ हिँड्दै हुनुहुन्थ्यो। बाटामा अत्यन्त तिर्खा लाग्यो र पानी खोज्न थाल्नुभयो। त्यो जङ्गलको बिचमा एउटा पानीको मुहान फेला पऱ्यो। त्यहाँको पानी पीउनै आँटेको वेलामा एउटी कुमारी आइपुगिन् र त्यो पानी नपिउन भनिन् किनकि त्यो विषालु थियो। आफूले राम्रो पानी दिएर तिर्खा मेटाइदिइन् र त्यहाँ नगिचै एकजना योगीकहाँ जान भनेर अगुवाइ गर्दै लगिन्। त्यो जङ्गलमा एकजना योगी रहेछन्। ती योगीको नाम मञ्जुवज्रसमाधि रहेछ र उनी पनि उनैकी शिष्या रहिछन्। त्यो सुनेर शान्तिवर्मा पनि खुशी हुँदै जानुभयो र त्यहाँ गुरुलाई भेट्नुभयो। उहाँले पनि विभिन्न किसिमका प्रज्ञा र समाधिका उपदेशहरू दिएर उच्च तहका समाधि एवं प्रज्ञाका द्वार खोलिदिनुभयो। यसै क्रममा १२ वर्षसम्म त्यहाँ बसेर अभ्यास गर्दै गएपछि प्रज्ञापारमिताको गूढार्थको उहाँलाई बोध भयो, लौकिक एवं लोकोत्तर सिद्धिहरू प्राप्त भए। अनि गुरुले अब तिमी मध्यदेशतिर जाऊ भनेर पठाउनुभयो।

शान्तिवर्मा पनि मध्यदेशतिर लाग्नुभयो। त्यसबेला उहाँले आफूसँग मञ्जुश्रीको प्रज्ञाको प्रतीकस्वरूप एउटा देवदारुको खड्ग बनाएर बोक्नुभएको थियो। यात्राको क्रममा एउटा राज्य आइपुग्यो। त्यो राजा पञ्चमसिंहको राज्य थियो। त्यहाँ केही दिन रहँदारहँदै त्यहाँका राजाले उहाँको प्रतिभा र अद्भुत क्षमताको विषयमा थाहा पाएपछि उहाँलाई बोलाए र आफ्नो राजकर्मचारी बन्न

आग्रह गरे । शान्तिवर्माले पनि त्यसलाई स्वीकार गर्नुभयो र कार्यालयको काम कुशलतापूर्वक गर्न थाल्नुभयो । त्यहाँ उहाँको नाम 'अचलसेन' रहेको थियो । परन्तु त्यो देखेर एकजना कर्मचारीलाई ईर्ष्या हुनथाल्यो । उसले एकदिन थाहा पायो कि शान्तिवर्माको खड्ग त साँच्चिकै नभएर काठको देखावटी मात्र रहेछ । उसले तुरुन्तै राजासँग गएर विन्ति गर्‍यो,"महाराज, अचलसेन त ठग रहेछ । तरवार बोकेको भनेर काठको बनावटी तरवार पो राखेको रहेछ । भोलि कुनै आपत्ति पर्‍यो भने त्यसले हजूरको रक्षा कसरी गर्न सक्छ ? त्यो ठग जासूस नभए अहिलेसम्म यसरी ढाँटिर किन बस्थ्यो ? नपत्याए हजूरले हेरिबक्से हुन्छ ।"

राजालाई पनि शङ्का लाग्यो 'कतै यो गुप्तचर त होइन, मेरो राज्यको भेद थाहा पाउन आएको त होइन ?' त्यसपछि उनले सबैलाई बोलाएर हुकुम दिए, "सबैले आ-आफ्नो म्यानबाट तरवार झिकेर मलाई देखाउनू ।" अरू सबैले खुशी भएर फटाफट निकाल्दै देखाए । परन्तु अचलसेनले त्यसो गर्न मान्नुभएन । त्यो देखेर सबैले भन्नथाले, "देखिबक्स्योस्, सरकार ! हामीले भनेको सत्य ठहरियो कि ठहरिएन ? यो ठग नै हो । यसलाई तुरुन्त सजायँ बक्सनुपर्छ ।"

राजालाई अचलसेनको काम मनपरेको थियो तापनि यो घटनाले उनलाई पनि सशंकित तुल्यायो । त्यसैले उनले सोधे, "के हो अचलसेन, तिम्रो करतूत, चाँडै तरवार देखाऊ नत्र तुरुन्तै सजाय दिइनेछ ।"

अचलसेनले भन्नुभयो, "महाराज, यो तरवार हेर्नु तपाईंको निमित्त घातक हुनेछ । त्यसैले त्यस्तो आज्ञा नहोस् ।" यो देखेर ती ईर्ष्यालु कर्मचारीहरूले झन् घीउ थप्न थाले, "होइन महाराज, यसले बहाना बनाउँदैछ । यसको तरवार साँच्चिकै तरवार नै होइन, काठको खेलौना राखेकोछ । त्यसैले बहाना गरिराखेको हो । यसले देखाउनै पर्छ ।"

राजाले भने, "यो मेरो राजाज्ञा हो, तुरुन्तै आफ्नो तरवार निकालेर देखाऊ, अन्यथा राजदण्ड भोग्नुपर्नेछ ।" अचलसेनले भन्नुभयो, " यो अनिष्ट हुनलाग्यो । तैपनि राजाको आज्ञा भएकोले ठीकै छ म देखाउँछु । परन्तु दाहिने आँखा बन्द गरेर देब्रे आँखाले मात्र हेरिबक्स्योस् ।"

राजाले त्यो कुरा स्वीकारे र दायाँ आँखा छोपे । त्यसपछि अचलसेनले म्यानबाट त्यो तरवार के निकाल्नुभएको थियो, तत्कालै राजाको आँखाले उक्त काठे तरवारको प्रकाश सहन नसकेर भुईंमा खस्यो । अचलसेनले तुरुन्तै त्यसलाई राखेर आफूले अधिष्ठान गरिदिएर सद्दे वनाइदिनुभयो । त्यो घटनाले राजालाई ठूलो प्रभाव पर्‍यो र उनले बुझे कि अचलसेन सामान्य व्यक्ति होइनन् र यी त महासिद्ध नै रहेछन् । यो जानेर उनले अचलसेनलाई त्यही राज्यमा रहन विन्ती गर्दै अमूल्य द्रव्यहरू चढाए । परन्तु अचलसेनले मान्नुभएन । राजालाई धर्मको उपदेश दिएर धार्मिक नियम पालना गर्दै राज्य चलाउनू भन्ने आज्ञा दिनुभयो । अनि त्यो राज्यमा बीस ओटा धर्मकेन्द्रहरू स्थापना गर्न लगाई काठको खड्ग पनि त्यहीं ढुङ्गामा फ्याँकेर नालन्दा महाविहारमा आउने विचारले हिँड्नुभयो ।

त्यतिखेरसम्म उहाँ प्रव्रजित हुनभएको थिएन । परन्तु नालन्दा आएपछि त्यहाँका उपाध्याय जयदेवसँग उहाँले प्रव्रज्या ग्रहण गरेर पूर्ण उपसम्पदाप्राप्त भिक्षु बन्नुभयो । उहाँको शीलस्वभाव अत्यन्तै शान्तिपूर्ण भएको हुनाले उहाँको नाम 'शान्तिदेव' राखियो । अनि त्यही विहारमा बस्ने गर्न थाल्नुभयो । उहाँले मञ्जुश्रीबाटै सम्पूर्ण त्रिपिटकको अध्ययन गर्नुभयो । सूत्र र तन्त्रका गम्भीर उपदेशहरू पनि त्यहीं बसेको समयमा प्राप्त गर्नुभयो । भित्रभित्रै अत्यन्त राम्रोसँग अभ्यास गर्दै जान थाल्नुभयो । शङ्का भएपछि मञ्जुश्रीसँगै सोध्ने सुविधा उहाँलाई थियो जसले गर्दा उहाँले बाहिरी, भित्री र गुह्य बाधाहरूलाई क्रमश: जित्दै पाँचमार्गहरूमा अघि बढ्दै दर्शन मार्गको साक्षात्कार गर्नुभयो । त्यही अवधिमा आफूले भित्रैदेखि बुझेका र मञ्जुश्रीले बताएका सम्पूर्ण सूत्रहरूको संक्षेपमा सारांश निकालेर 'सूत्रसमुच्चय' र ' शिक्षासमुच्चय' भन्ने ग्रन्थहरू लेख्नुभयो जसको विषयमा कसैलाई पनि थाहा दिनुभएन ।

उता उहाँको चर्यामा एक विहारमा बस्ने भिक्षुले पालन गर्नुपर्ने नियमहरूको चासो नभएजस्तो देखिन थाल्यो । भित्रभित्र त्यति माथिल्लो तहमा पुगेर पनि बाहिर चाहिँ क्रमश: उहाँ बढी सुत्ने, दिनमां पाँच पटकसम्म पनि भोजन गर्ने, विहारको काममा पनि सक्रिय नहुने गरेको देखिन थाल्यो । उहाँले कसैलाई पनि केही भन्नुहुन्नथ्यो । सधैं शान्त अवस्थामा रहिराख्नु हुन्थ्यो । खाँदाखेरि पनि उहाँ प्रभास्वर स्थितिमै हुनुहुन्थ्यो, सुत्दाखेरि पनि उहाँ प्रभास्वर स्थितिमै हुनुहुन्थ्यो, विहारमा आएपनि त्यस्तै स्थिति थियो, कुटीमा जाँदा पनि त्यही स्थितिमै रहनुभएको थियो । त्यसैले सधैं उहाँ 'भुसुकु' चर्या अर्थात् खाने, सुत्ने मात्र गर्ने जस्तो देखिन थाल्नुभयो । त्यसपछि उहाँले त्यसैगरी गोप्यरूपमा 'बोधिसत्त्वचर्यावतार' पनि रच्नुभयो परन्तु कसैलाई थाहा भएन । बरु उहाँको त्यो देखिएको निष्क्रिय र भुसुकु स्थितिले त्यहाँका अन्य पण्डित र भिक्षुहरूलाई नराम्रो लाग्न थाल्यो । आपसमा उहाँलाई खसालेर बोल्ने, हेप्ने, कुरा काट्ने पनि गर्न थाले । तर उहाँलाई त्यसले केही पनि हुँदैनथ्यो । आफ्नो शैली यथावत् नै रह्यो । उहाँलाई त्यो संघमा 'भुसुकु' भनेर जिस्क्याउने उपनाम राखे ।

उहाँको त्यतिखेरको आचरण विहारको लागि भार भयो भन्ने सोचेर अरु सभ्य भनाउँदा पण्डितहरूले उहाँलाई निकाल्ने योजना गर्न थाले । परन्तु सोझै दोषारोपण गर्न त्यति बलियो आधार नभएकोले मौका हेर्दै थिए । त्यो ताका नालन्दामा के चलन थियो भने प्रत्येक वर्ष जेठको शुक्लपक्षमा सामूहिक रूपमा धर्मप्रवचन गर्नुपर्थ्यो । त्यहाँ सबै भिक्षुहरू पढेका र विद्वान् हुने भएकाले धर्म प्रवचन गर्न दिएपनि केही आपत्ति थिएन । परन्तु त्यसबेला शान्तिदेवको विषयमा धेरै टीका टिप्पणी हुन थालेकाले अन्य अबुझ पण्डितहरूले त्यही मौकामा यसलाई बेइज्जत गर्नुपर्‍यो जसले गर्दा यो स्वत: विहारबाट निस्किनेछ भन्ने सोचेर त्यो वर्ष शान्तिदेवबाटै धर्म प्रवचन सुन्ने भन्ने हल्ला चलाउन थाले । यो कुरा विहारमा व्याप्त भयो र त्यही निर्णय गरियो ।

जब समय आइपुग्यो तब शान्तिदेवलाई धर्म प्रवचन गर्न भनियो । शुरुमा शान्तिदेवले मलाई आउँदैन भनेर टार्न खोज्नुभयो । परन्तु पण्डितहरूले झन् त्यही मौका छोपेर अझै जोड गर्दै बाध्य

वनाएर छोडे । अनि शान्तिदेवले आफ्ना अनन्य कल्याणमित्र एवं इष्टदेव मञ्जुश्रीलाई सम्झनुभयो र उहाँसँगै स्वीकृति लिएपछि धर्म प्रवचन गर्नको लागि धर्मगद्दी तयार पार्न भन्नुभयो । पण्डितहरूले यसलाई यही मौकामा जति सक्दो बदनाम गर्नुपर्छ भनेर नालन्दाको उत्तरपूर्वतिर रहेको धर्मशालामा सवैलाई जम्मा गराएर एउटा सिँढी विनाको अग्लो गद्दी तयार गर्न लगाए । त्यसपछि सबै जना त्यहाँ जम्मा भएर शान्तिदेवलाई बोलाई उक्त गद्दीमा बसेर धर्म सुनाउन भने ।

गद्दी अग्लो थियो । चढ्ने उपाय थिएन । भिक्षु, पण्डित एवं अन्य श्रद्धालु उपासक उपासिकाहरूका सामु त्यस्तो स्थिति सिर्जना गरेर उहाँलाई निकै अप्ठयारो पार्ने कुचेष्टा गरिएको थियो । तीव्र बेइज्जत होस् भनेर अनेकथरिका उपहार, चीवर आदि सामग्रीहरू चढाउन गद्दीको वरिपरि रास लगाइएको थियो । त्यो कुरा शान्तिदेवलाई थाहै थियो । त्यसैले उहाँले निर्भीकतापूर्वक गद्दीको छेउमा गएर हातले गद्दीलाई थिच्नुभयो । तत्कालै उहाँ गद्दीमाथि आसीन हुन पुग्नुभयो । कुनै भऱ्याङ् या सिँढीको आवश्यकता परेन । त्यो देखेर ईर्ष्यालु पण्डितहरूको मन स्तब्ध भयो । सबैजना आश्चर्यचकित भए ।

अनि शान्तिदेवले भन्नुभयो, "किमार्षं पठामि आर्षार्थं वा ?" अर्थात् "पहिले ऋषिले (बुद्धले) वताएको कुरा नै पढेर सुनाउँ कि त्यसको अर्थ चाहिँ बताऊँ ?"

पण्डितहरूले सोचे कि मुनिको वचन त यसलाई याद पनि होला, परन्तु त्यसको तात्पर्य (आर्षार्थ) त कसरी बताउन सक्ला र ! त्यसैले उनीहरूले भने, "आर्षार्थ सुनाउनुहोस् ।" त्यसपछि शान्तिदेवले विचार गर्नुभयो कि आफूले रचेका तीन ग्रन्थहरूमा बोधिचर्यावतार नै सुनाउनु बेस होला । त्यसैले उहाँले अत्यन्त गम्भीर भएर भन्न थाल्नुभयो,

सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान्
प्रणिपत्यादरतो S खिलाँश्च वन्द्यान्
सुगतात्मजसंवरावतारं
कथयिष्यामि यथागमं समासात् ।। (बो.च. १.१)

यसप्रकार आफूले रचेको ग्रन्थलाई सर्वप्रथम आफैले नै सुनाउन थाल्नुभयो । त्यहाँ सुन्न आउनेहरूमा कोही कोही श्रुतिधर पनि थिए । उनीहरूले अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक सुन्न थाले । जति जति शान्तिदेव अगाडि बढ्दै जानुभयो उति उति ती पण्डितहरूको भ्रम हट्न थाल्यो । उनीहरूको शेखी झऱ्यो र अन्तमा भावविभोर भएर सुन्न थाले । आचार्यले पनि सुनाउँदै जानुभयो । जब उहाँ नवौं परिच्छेदमा आइपुग्नुभयो र प्रज्ञापारमिताको व्याख्या गर्न थाल्नुभयो तब अत्यन्त आश्चर्यजनक ऋद्धिप्रातिहार्य देखापऱ्यो । उहाँले उक्त परिच्छेदको ३५ औं कारिका वाचन गर्दाखेरि उहाँ आसनबाट माथि उठ्नुभयो । त्यो कारिका यसप्रकार छ -

यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ।। (वो.च. ९.३५)

अर्थात् "जव बुद्धिका सामु भाव या अभाव दुवै नै टिक्दैनन् तब त्यो आलम्बनरहित (आधारहीन) भएको कारणले शान्त हुन पुग्छ ।" वास्तवमा त्यसवेला उहाँको बुद्धि पूर्णरूपमा निरालम्बा भइसकेको थियो । त्यसैको द्योतक स्वरूप अभिव्यक्ति पनि त्यही रूपमा देखापर्‍यो । सारा पण्डितहरू हेरेको हेर्‍यै भए । सवका मनमा लाग्यो कि हामीले यस्तो व्यक्तित्वलाई आजसम्म चिन्न सकेनछौं । अनि क्रमशः आचार्य शान्तिदेव त्यहाँबाट अदृश्य हुँदै जानुभयो । तर उहाँको ध्वनि निरन्तर चालू थियो । प्रज्ञापारमिताको बयान गर्ने क्रममा उत्पन्न हुने अन्य सबै मिथ्यादृष्टिहरूलाई खण्डन गरेका प्रसङ्गहरू अझै बाँकी थिए । ती सबै आकाशवाणी भएझैं अदृश्य भएर बताई सिद्धियो । अनि उहाँको शब्द सुनिन छोड्यो ।

त्यसपछि नालन्दामहाविहारमा ठूलो तहल्का मच्चियो । भुसुकु भनेर हेला गरिएका भिक्षु त त्यति उच्चतहका विद्वान्, सच्चा शील-संवरले युक्त र बुद्धको मार्गलाई अत्यन्त राम्रोसँग बुझेर आफूले पनि धर्मताको साक्षात्कार गरिसकेका आर्य बोधिसत्त्व पो रहेछन् भन्ने कुरा सबैले थाहा पाए । उहाँले दिएका उपदेशहरूको मर्म अभूतपूर्व र अति नै व्यावहारिक थियो । त्यसैले अब कसरी ती उपदेशहरूलाई प्राप्त गर्ने भनेर पण्डितहरूमा व्यापक छलफल भयो । त्यही क्रममा बुद्धिको धारणा-शक्ति सिद्ध गरेका श्रुतिधरहरू पनि त्यहाँ थिए भन्ने पत्ता लाग्यो र उनीहरूको स्मृतिका आधारमा वोधिचर्यावतारका श्लोकहरू लेखियो पनि । तर त्यसमध्ये मगधका, बङ्गालका र काश्मीरका पण्डितहरूको लेखाइमा अन्तर आयो । मगधकाले हजार श्लोक सम्झिन पुगे, बङ्गालीले आठ सयभन्दा कम सम्झिए । काश्मीरीले हजारभन्दा बढी लेख्न पुगे । त्यसैले कुन चाहिं शान्तिदेवको आधिकारिक रचना संख्या हो भन्ने निर्णय गर्न गाह्रो भयो ।

पछि केही समय बितेपछि शान्तिदेव त श्रीदक्षिण कलिङ्गमा स्तूपको छेउछाउमा हुनुहुन्छ भन्ने हल्ला चल्यो । नालन्दबाट तीन जना पण्डितहरू उहाँलाई खोज्न गए । आखिरमा उहाँसँग भेट पनि भयो । उनीहरूले आचार्यलाई पुनः नालन्दा फर्किन धेरै विन्ति गरे । परन्तु आचार्यले मान्नुभएन । अनि उनीहरूले नालन्दामा उहाँ विलाएपछि भएको सबै घटना बताएर बोधिसत्त्वचर्यावतारका तीन किसिमका अभिलेखहरूमा कुन चाहिँ उहाँका शब्दहरूसँग यथार्थ होला भन्ने कुरा सोधे । तब आचार्यले मध्यदेशको प्रतिलेख ठिक छ भन्नुभयो । पण्डितहरूले फेरि बोधिचर्यावतारमा उल्लेख भएका 'शिक्षासमुच्चय' र 'तन्त्रसमुच्चय'को बारेमा सोधे । तब आचार्यले भन्नुभयो, "नालन्दाको म वसेको पुरानो कुटीमा छतमा घुसारिराखेको छ र मसीना राम्रा अक्षरले लेखिएको छ । त्यहीं अलि राम्रोसँग खोज्नू ।" अनि ती दुई ग्रन्थको विषयमा उपदेश र आगम पनि ती पण्डितहरूलाई दिनुभयो र नालन्दामा गएर तिनीहरूको पनि प्रवचन गर्नू भन्नुभयो । पण्डितहरू फर्के ।

त्यसपछि शान्तिदेव पनि स्वतन्त्र रूपमा दक्षिण, पूर्वतिर घुम्न थाल्नुभयो । एकपटक एउटा जङ्गल नजिकै शान्तिदेव सानो कुटियामा वस्ने गर्नुहुन्थ्यो । त्यहाँ नजिकै पाँच सय भिक्षु वस्ने विहार पनि थियो । केही भिक्षुहरूले थाहा पाए कि उहाँको कुटीमा पशुपन्छी भित्र पस्दा रहेछन् र त्यसपछि

कहिल्यै पनि वाहिर ननिस्किने रहेछन्। त्यो देखेर उनीहरूलाई शङ्का लाग्यो कि त्यहाँभित्र यी सबैलाई मार्ने त गरिँदैन ? उनीहरूले चियो चर्चो गरी पत्ता लगाउन खोजे। उनीहरूले देखे कि त्यहाँ भित्र वसेको भिक्षुले त धमाधम सिङ्गै पशुपन्छिहरूलाई खाँदै बस्दो रहेछ। अनि सबै मिलेर कुटियाभित्र पसी आचार्यलाई हत्याको आरोप लगाउन थाले। आचार्यले भन्नुभयो, "मैले मारेको छैन। वरू राम्रोसँग तिनीहरूलाई पालेको हुँ।" भिक्षुहरूले भने, "त्यसो भए कहाँ छन् ? खोइ देखाऊ।" अनि आचार्यको मुखवाट धमाधम पहिलेभन्दा पनि मोटाघाटा र हृष्टपुष्ट भएका मृग, परेवा, खरायो आदि पशुपन्छीहरू निस्किँदै कुटियाबाट बाहिर आई जङ्गलतिर पसे। त्यो देखेर ती भिक्षुहरू चकित परे र माफी माग्दै त्यहीँ विहारमा रहेर सिकाउन अनुरोध गरे। परन्तु उहाँले त्यसपछि आफ्नो चीवर उतारेर त्यहीँ त्रिरत्नलाई चढाई आफू दक्षिणतिर लाग्नुभयो।

त्यसैगरी एकपटक उहाँले परवादी पाषण्डक मतका अबौद्धहरूका पाँचसय जनाको समूहलाई आफ्ना चेला बनाउनुभएको थियो। उनीहरू मगधको दक्षिण पश्चिमतिर एक गाउँमा रहन्थे। परन्तु एकाएक त्यहाँ प्राकृतिक प्रकोप फैलियो र अनिकाल पर्न थाल्यो। ती मानिसहरू सबै आत्तिए र आचार्यसँग भने, "यदि तपाईंले हाम्रो जीवन जोगाउनुभयो भने त तपाईंका शिक्षाहरूलाई आदर गर्छौं नत्रभने यस्ता शिक्षाको केही काम छैन।" आचार्यलाई अप्ठेरो पऱ्यो। उहाँले आफ्नो भिक्षा माग्ने पात्र भातले भरेर गहिरो समाधिबलले अधिष्ठान गर्नुभयो। फलस्वरूप त्यो भातले ती सबै ग्रामवासीहरूलाई धेरै दिनसम्म खान पुग्यो र सबैको त्यो अनिकाल टऱ्यो। त्यसपछि उनीहरूका मिथ्यादृष्टिहरूलाई हटाएर बुद्धका उपदेशहरू सिकाई सदाकालको लागि कल्याण गर्नुभयो।

त्यस्तै अर्को पटक त्यसैगरी एउटा गाउँमा ठूलो अनिकाल पर्दाखेरि उहाँले हजारौं भिखारीहरूको ज्यान बचाउनुभएको थियो। एकपटक दुई समूहका बिचमा ठूलो लडाईं हुन लागेको बेला शान्तिदेव त्यहाँ आइपुग्नुभयो र त्यहीं नै यसरी धर्मोपदेश गर्नुभयो कि अन्तमा आएर उक्त लडाईं रोकियो। अनि उहाँले सच्चा सुखको बाटो सिकाएर हिँड्नुभयो।

अनि एकपटक उहाँ दक्षिणमा श्रीपवर्तमा जानुभयो र एउटा उच्छृष्म रूप धारण गरी नाङ्गो भिखारी भएर भाँडा माझेर फ्याँकेको पानी खाएर जीवन धान्न थाल्नुभयो। त्यही क्रममा खटविहार भन्ने राज्यका राजाकी एउटी दासी कचलहाले देखिन् कि त्यसरी जूठो पानी फ्याँक्दाखेरि त्यसका छिटा उहाँका खुट्टामा परेपछि तातो फलाममा परे झैं घुजुजु पाकेर फींज उठ्दै सुकर जाने रहेछ। त्यो देखेर ती दासी आश्चर्यचकित भएकी थिइन्। त्यो समयमा उक्त राजाकहाँ एकजना अबौद्ध (तीर्थिक) पण्डित 'महेश्वर' आइपुगे र राजासँग भने, "महाराज, यहाँ बौद्धहरू एकथरी कुरा गर्छन्, हामीहरू अर्कोथरी कुरा गर्छौं। त्यसकारण हामीहरूको बिचमा शास्त्रार्थ हुनुपऱ्यो र त्यसको साक्षी तपाईं वस्नुपऱ्यो। जुन पक्षले जित्छ उसको मत हार्ने पक्षले अपनाउनुपर्नेछ र हार्ने पक्षले उपासना गरिआएका मठ मन्दिरहरू सबै ध्वस्त गरिनुपर्छ। हजूरले शास्त्रार्थको आह्वान गरिवक्सनुपऱ्यो।"

राजाले त्यो कुरा स्वीकारे र दूतहरू पठाई बौद्ध समुदायहरूमा यो चुनौतीको जानकारी दिलाए । परन्तु बौद्ध समुदायहरूले त्यस्तो प्रस्तावलाई स्वीकार्ने आँट गरेनन् । त्यसबाट राजा खिन्न भए । त्यही वेला शान्तिदेवको खुट्टामा पानी पर्दा उम्लेको देख्ने दासी कुचलद्वा आइपुगी र राजासँग उक्त अद्भूत तपस्वीको विषयमा कुरा गरी । त्यो सुनेर तुरुन्तै राजाले उक्त बौद्ध साधुलाई भेट्न दूतहरूलाई चारैतिर पठाए । लामै समयसम्म खोजेपछि एउटा वृक्षमुनि बसिरहेको भिखारी (शान्तिदेव) लाई फेला पारे । राज्यमा हुन लागेको उक्त शास्त्रार्थको चुनौतीको बारेमा सुनेर शान्तिदेवले आफूले शास्त्रार्थमा भाग लिने निर्णय गर्नुभयो । उहाँले एउटा पानीको भाँडो, अलिकति कपडा र आगो माग्नुभयो जसबाट त्यसको लागि तयारी गर्न सकियोस् । त्यो सबै मागे बमोजिम व्यवस्था गरियो ।

शास्त्रार्थ हेर्न देशका विद्वान् एवं अन्य गन्यमान्य व्यक्तिहरू जम्मा भए । ठूलो भीड एकत्र भयो । विचमा दुइटा गद्दीमा दुवै पक्षका वादीहरूलाई बसाइयो । आफ्नो दायाँतिर अन्य पण्डित सल्लाहकार एवं बायाँतिर मन्त्रीहरू सहित भई खटविहारका राजा पनि साक्षि गर्न बसे । शास्त्रार्थ शुरु भयो । शान्तिदेवका तर्कको अगाडि महेश्वर पण्डितको केही लागेन । सिद्धान्ततः उनी नाजवाफ भए । परन्तु पराजय स्वीकारेनन् र भने, "महाराज, ऋद्धिको प्रतियोगिता गर्न अझै बाँकी छ । त्यसबाट मात्र खास निर्णय हुनेछ । मैले आकाशमा शिवको मण्डल रचना गर्छु । त्यसलाई यिनीहरूले भत्काउन सके भने यिनीहरूकै जीत हुनेछ र यदि सकेनन् भने यिनीहरूका सम्पूर्ण विहार पीठ र शास्त्रहरू जलेर खरानी हुनेछन् ।"

त्यसपछि महेश्वरले आकाशमा गोलो रेखा कोरे र शिवमण्डल बनाउन शुरु गरे । त्यो दृश्य अत्यन्त भयावह थियो । बनाउने क्रममा जब उनले पूर्वतिरको मूल मण्डलद्वार तयार पारे तब आचार्य शान्तिदेव तुरुन्तै वायु कार्त्स्न्यको समाधिमा चतुर्थध्यानसम्म पस्नुभयो र ओर्लिएर प्रलयवायु सिर्जना गर्नुभयो । तत्काले भयङ्कर आँधीबेरी आयो र त्यो मण्डल, महेश्वर आदिलाई उडाएर तहसनहस पार्‍यो । राजा र मन्त्रीहरू पनि हावाले उडाइए । त्यो क्षेत्र पूरै धूलोले व्याप्त भयो । सम्पूर्ण क्षेत्र नै अन्धकारमय भयो । त्यसपछि आचार्यले आफ्नो आँखीभौंको बिचबाट प्रकाशको किरण निकाल्नुभयो जसबाट वायु शान्त भयो । त्यतिखेरको सम्पूर्ण तहसनहस पुनः शान्त र क्रमबद्ध अवस्थामा आइपुग्यो । शर्तबमोजिम अबौद्ध मठमन्दिरहरूमा ताला लगाइयो । अधिकांश पण्डितहरू बुद्धमार्गमा आए र धेरैलाई ज्ञानको बाटो खुल्यो । त्यो ठाउँ तीर्थिकहरू पराजित भएको नामले चिनिन थाल्यो । यसप्रकार शान्तिदेवले धेरै ठाउँमा धेरै प्रकारले सत्त्वहरूको हित गर्दै हिँड्नुभयो । पूर्वमा अरिभूपण भन्ने राजालाई पनि सन्मार्गमा लगाउनुभयो । महान् बोधिसत्व शान्तिदेवले गरेका हितकार्यहरूमध्ये केही प्रमुख कार्य यिनै हुन् ।

उहाँले केवल सत्त्वविनय गर्ने मात्र नभएर धर्मोपदेश, धार्मिक ग्रन्थ रचना जस्ता काम पनि प्रशस्तै गर्नु भएको थियो । उहाँका सूत्र सम्वन्धी ग्रन्थहरूमा अति प्रख्यात भएका तीन ग्रन्थहरू नै हुन्: १. बोधिचर्यावतार, २. शिक्षासमुच्चय र ३. सूत्रसमुच्चय । त्यसमा पनि बोधिचर्यावतार चाहिं

अत्यन्त छिटै प्रख्यात भयो र भारतमै पनि यसका भाष्यहरू १०० भन्दा बढी लेखिसकिएका थिए। भारतमा मात्र नभएर तिब्बतमा पनि यसको तुरुन्तै अनुवाद भयो र त्यो अनुवाद गर्ने पनि गुरु पद्मसम्भव र शान्तरक्षितका शिष्य भिक्षु कावा पाल्चेक् हुनुहुन्थ्यो। त्यसैले पनि तिब्बतमा महायान धर्मको गतिमा प्रसार हुन ठूलो भूमिका खेलेको थियो।

'भुसुक'(शान्तिदेव) ले तन्त्रका ग्रन्थहरू पनि प्रशस्तै लेख्नुभएको थियो। त्यसमा प्रसिद्ध चाहिँ 'श्री गुह्यसमाजमहायोगतन्त्रबलिविधि' को उल्लेख भेटिएको छ। त्यस्तै 'चर्याचर्यविनिश्चय' नामक तालपत्रमा वज्रयानका धेरै ग्रन्थहरू उहाँले लेख्नुभएको कुरा भेटिन्छ। उहाँले प्रशस्त दोहाहरू पनि गाउनुभएको थियो जसले 'चण्डाली' र 'सहज' को अभिव्यक्ति दिन्छन्। बंगालमा ती दोहाहरू अत्यन्तै प्रसिद्ध थिए। एउटा दोहामा उहाँले आफ्नो नाम 'कट' पनि उल्लेख गर्नुभएको छ।

यसप्रकार महान् बोधिसत्व आफ्नो अमूल्य चर्या एवं कृतिद्वारा आजसम्म पनि महायानका साधकहरूको मुटुमा प्रेरणा र उपदेशका स्रोत बनेर रहनुभएको छ।

यो जीवनी तयार गरेको पुण्यले सम्पूर्ण सत्त्वहरूलाई अत्यन्त चाँडै बुद्धताको मार्ग प्राप्त होस्।

- नारायण प्रसाद रिजाल

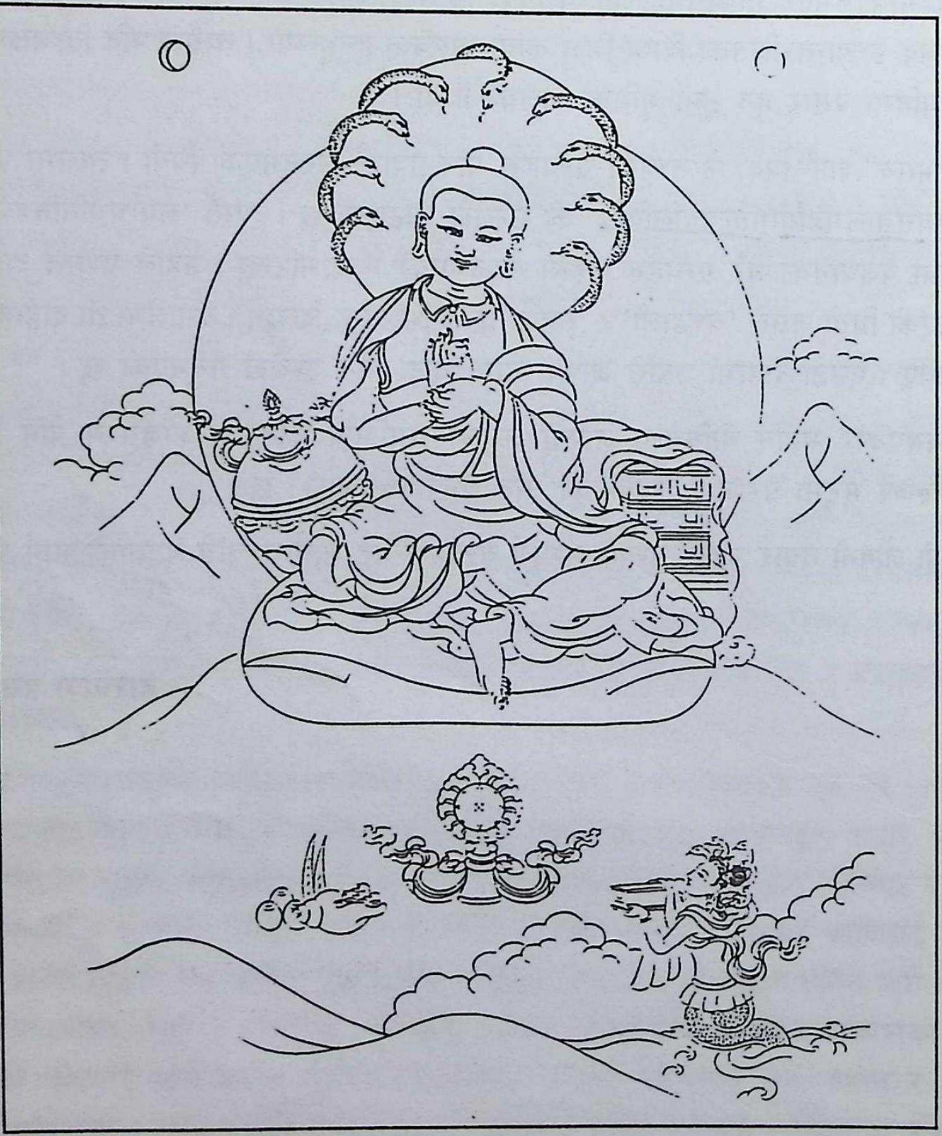

आर्य नागार्जुन

[ई.पू. प्रथम शताब्दीमा भारतको विदर्भमा ब्राम्हण कुलमा जन्मिएका र पछि प्रज्ञापारमिताको व्याख्या गर्ने र माध्यमिक दर्शन (शून्यता दर्शन) लाई प्रवर्तन गर्ने आर्य नागार्जुन । उहाँको विषयमा भगवान् बुद्धले नै भविष्यवाणी गर्नुभएको थियो । उहाँले मध्यमक शास्त्र आदि धेरै ग्रन्थहरू लेख्नुभएको छ ।]

उपोद्घात

- आचार्य धर्मबज्र (श्रीधर राणा)

अनुवादक-- नारायण प्रसाद रिजाल (बुद्धवज्र)

त्रिरत्नशरणम् ! नमो अमिताभाय !

स भगवाँस्तथागतो ऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्धो विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो
लोकविदनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवमनुष्याणां बुद्धो भगवानिति ।

हाम्रा शिष्य एवं व्योमकुसुमा अनुवाद समितिका सदस्य श्री नारायण प्रसाद रिजाल (बुद्ध बज्र) ले अनुवाद गर्नुभएको यो बोधिचर्यावतारको नयाँ अनुवाद र प्रज्ञाकरमतिको पञ्जिकामा आधारित नेपाली भावार्थलाई तपाईंहरूको सामु प्रस्तुत गर्न पाउनु हाम्रो लागि ठूलो हर्षको कुरा हो । सन् १९३४ तिर पण्डित निष्ठानन्द बज्राचार्यले र सन् १९५२ मा पण्डित रत्नबहादुर बज्राचार्यले गर्नुभएको यसको अनुवाद र पछि वि.सं. २०४३ मा पं दीव्यबज्र बज्राचार्यले गर्नुभएको मूल र प्रज्ञाकरमतिको पञ्जिका समेतको अनुवाद पनि नपाइने होइन, परन्तु यी सबै नेपालभाषामा भएकाले अधिकांश नेपालीहरूलाई बुझ्न गाह्रो भइराखेबाट एउटा यस्तो नेपाली अनुवादको आवश्यकता परिराखेको थियो जसलाई केवल नेवारहरूले मात्र बुझ्ने नभएर अन्य शेर्पा, तामाङ्, गुरुङ्, मगर, थारू, योल्मोपा आदि र ब्राम्हण, क्षेत्री एवं बुद्ध धर्मका शिक्षाहरूलाई र विशेष गरेर महायान बुद्धधर्मका उपदेशहरूलाई बुझ्ने चाहना भएका जुन कुनै नेपालीहरूले र अन्वेषकहरूले पनि सजिलैसँग बुझ्न सकून् । मैले व्यक्तिगतरूपमा पनि के पाएको छु भने नेवारी भाषा-संस्कृति नेपालका सबभन्दा समृद्ध भाषा-संस्कृतिमध्ये एक हो तापनि नेवारी भाषामै लेखिएका गहिरा कुराहरू धेरै कम नेवारहरूले मात्र सजिलोसँग बुझ्न सक्ने रहेछन् । त्यसो हुनाले यो नेपाली अनुवाद अधिकांश नेवारहरूलाई समेत पनि धेरै उपयोगी हुनेछ भन्ने लागेको छ । मैले सुने अनुसार पं. दीव्यबज्रज्यूले पञ्जिकाको सोझै अनुवाद मात्र गर्नुभएको छ र त्यसलाई सरलभाषामा व्याख्या गर्नुभएको छैन जसले गर्दा त्यो अनुवाद बुझ्न गाह्रो छ भनिन्छ परन्तु यो अनुवादमा भावार्थ मात्र प्रस्तुत गरिएको हुनाले सजिलै बुझ्न सकिन्छ ।

भारतका सातौं शताब्दीका प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तिदेवले रचना गर्नुभएको यो बोधिचर्यावतार भारतमै पनि सबभन्दा चाँडै प्रसिद्ध भएका ग्रन्थमध्ये एक हो भने तिब्बतमा पनि त्यहाँका पण्डित एवं सिद्ध गुरुहरूबाट आठौं शताब्दीदेखि शुरु भई अहिलेसम्म यसका सय भन्दा बढी भाष्यहरू लेखिसकिएका छन्, जसले यसको महत्व कति छ भन्ने कुरा स्पष्ट पार्छ । तर पनि हामीले चाहिँ प्रज्ञाकरमति भन्ने भारतकै एक बौद्ध आचार्यले लेख्नुभएको पञ्जिकालाई आधार बनायौं किनभने मौलिक संस्कृत भाषामा अहिले पाइने व्याख्या यही एउटा मात्र हो । यो पनि संवत् १९८ मा कायस्थ भुवनाकर वर्माले पाटनको एक विहारका स्थविर भिक्षुका निमित्त लेखिदिएको प्रति रहेछ । जस्तै:- बोधिचर्यावतारको प्रज्ञा परिच्छेदको टीकाको अन्तमा पुष्पिकावाक्यमा उल्लेख छ-

'अष्टान्नवतिसंयुक्ते शते शरति वत्सरे ।
कृष्णो श्रावणपञ्चम्यां वासरे कुजसाव्हये ॥
श्रीमच्छङ्करदेवस्य राज्ये विजयशालिनः ।
बोधिचर्यावताराख्यटीकेयं लिखिता शुभा ॥

(बोधिचर्यावतार, बौद्धभारती, १९८८)

जसरी हिन्दूधर्म नेपाली संस्कृतिको एक अङ्ग हो त्यसैगरी सामान्यतया बुद्धधर्म र विशेष गरी महायान-बज्रयान पनि नेपाली संस्कृतिको त्यत्तिकै महत्वपूर्ण अङ्ग हो । त्यसो हुनाले ब्रम्हसूत्र र यसको शाङ्करभाष्य जुन रूपमा नेपाली संस्कृतिको सम्पदा हुन्छ ठीक त्यही रूपमा बोधिचर्यावतार र यसको प्रज्ञाकरमतिको पञ्जिका पनि नेपाली सांस्कृतिक सम्पदा हुन जान्छ । यो कुरा नेपालका बौद्धेतरहरूले बुझ्नु अत्यावश्यक छ, परन्तु अहिलेसम्म त्यसरी बुझेको देखिएको छैन । भारतीयहरू यो कुराप्रति जागरूक भैसके र अति कट्टरपन्थी हिन्दू ब्राम्हणहरूले पनि धर्मकीर्ति र उनको प्रमाणवार्तिकलाई शङ्कराचार्य र उनको भाष्यलाई जस्तै आफ्नो सांस्कृतिक सम्पदा मान्नमा गौरव गर्न थालेका छन् । परन्तु हाम्रो देशमा दुर्भाग्यवश बौद्धिक दरिद्रता हावी भएको हुनाले बौद्ध सम्पदा पनि परिपूर्ण नेपाली सांस्कृतिक सम्पदाको त्यत्तिकै महत्वपूर्ण भाग हो भन्ने कुरालाई खुला दिलले व्यक्त गर्न सकेको एक जना हिन्दू पण्डित पनि मैले देखेको, सुनेको या जानेको छैन । यो रोगले त नेपालका प्राध्यापक र शोधकर्ताहरूलाई समेत संक्रमण गरिराखेको छ, यद्यपि उनीहरूलाई पश्चिमको तथाकथित वैज्ञानिक शिक्षा हासिल गरेका भनेर मानिन्छ र स्वयं उनीहरूले पनि आफूलाई संस्कृति, मानवशास्त्र जस्ता विषयमा उक्त शिक्षा लिएको भनेर गौरव गर्छन् । अधिकांश शिक्षित अबौद्धहरूका निमित्त सुन्न लायक, कुरा गर्न लायक, लेख्न लायक र 'हाम्रो सांस्कृतिक सम्पदा' भन्न योग्य नेपाली संस्कृति भनेको केवल हिन्दू धर्मसँग सम्बन्धित कुराहरू मात्र हुन्छन् । यो कुरा त अहिले सम्म हिन्दू मल्ल कालभन्दा अघिको ठकुरी कालको विषयमा उल्लेखनीय शोध अनुसन्धान हुन नसक्नुले नै पुष्टि गर्छ, जव कि त्यो मूलतः बौद्ध वंश थियो । त्यही भएर यसलाई कसैले अन्धयुग (dark age) समेत भनेका छन् । यही नै पर्याप्त संकेत हो कि अधिकांश शिक्षित अबौद्धहरूले नेपाली संस्कृति भनेर केलाई भन्न चाहँदा रहेछन् ।

यही अभिलक्षणसँग नजीकबाट सम्वन्धित भएको अर्को तथ्य पनि छ कि अहिले सम्म नेपाल र नेपाली इतिहासको विषयमा तिब्बती स्रोतहरूमा के के कुरा लुकेका छन् भन्ने कुराको त्यति उल्लेखनीय शोध भइसकेको छैन (यहाँनेर डा. सूर्यविक्रम ज्ञवाली, डा. रमेश ढुङ्गेल, डा. जगमान गुरुङ र ज्ञानमणि नेपाल आदीको प्रयासलाई स्तुत्य सम्झिनुपर्छ) । किन ? मलाई लाग्छ, त्यो एउटै कारणले हुनुपर्छ । त्यो हो, तिब्बत एक बौद्ध देश भएको हुनाले त्यहाँ नेपालका बौद्ध संस्कृतिसँग सम्वन्धित अभिलेख मात्र भेटिएलान् र हिन्दू संस्कृतिका भेटिँदैनन् होला । अधिकांश नेपाली अबौद्ध प्राध्यापक एवं विद्वान्हरूका निमित्त त्यो वास्तविक नेपाली संस्कृति होइन । हुन त भारत पनि अधिकांश हिन्दू नै छ तापनि त्यहाँका विद्वान्हरू पहिलेदेखि नै सचेत भैसकेका छन् कि भारतीय संस्कृतिका तत्वहरूको ठूलो भण्डार नै तिब्वतको बौद्ध परम्परामा अभिलेख भएको रहेछ । अहिले भारतमा धेरै

कम मात्र विद्वान्‌हरू त्यस्ता होलान् जसले भारतको वुद्धधर्मको विषयमा लेख्नुपर्दा तिव्वती लेखक र ग्रन्थहरूलाई उद्धरण नगरून् । तर, फेरि पनि मलाई के कुराको खेद छ भने थुप्रै नेपाली विद्वान्‌हरूले तिब्बतीहरूलाई अशिक्षित थाग्से भन्ने ठान्छन् र यिनीहरूसँग पनि हाम्रो संस्कृतिलाई वताउन सक्ने के या को होला र भन्ने सोच्छन् । यस्तो प्रवृत्ति त ती शिक्षित नेपालीहरूमा पनि देखिन्छ जो जन्मजात बौद्ध हुन् ।

मैले धेरैजना अत्यन्त सुशिक्षित नेवारहरू यस्ता पनि पाएको छु जसले यो विश्वासै गर्न सक्दैनन् कि तिब्बतीहरू पनि बीस तीस वर्षसम्म बौद्ध दर्शनका मसिना मसिना कुराहरूको अध्ययन गरेर उपाध्याय, महोपाध्याय एवं कल्याणमित्र (खेन्पो, खेन्छेन् एवं गेशे) बनेका हुन्छन् । अमेरिकी र यूरोपेली विश्वविद्यालयहरूले समेत यो कुरा बुझिसके र उनीहरूका बौद्ध विभागहरूमा त यस्तै गेशे, खेन्पो आदिलाई नियुक्त गरेका छन् या त त्यहाँका अनुसन्धानकर्ता विद्वान् प्राध्यापकहरूलाई नेपाल-भारतमा यिनै गेशे र खेन्पोहरूकहाँ पठाएर अनुसन्धान पूरा गर्न लगाउँछन् । त्यस्ता खेन्पो र गेशेहरू अहिले यहीं काठमाण्डौंमै बसिरहेका छन् तैपनि तिनै पश्चिमी विद्वान्‌का चेला नेपाली विद्वान्‌हरूले ती खेन्पो, गेशे भनेका के हुन् र को हुन् भन्ने समेत मेलोमेसो पाउँदैनन् । उनीहरूका निमित्त तिब्वती भनेका 'भोटे' हुन् र भोटेले गर्न सक्ने हदै भए दशैंमा च्याङ्ग्रा बेच्ने त हो । मलाई भन्नुपर्दा दु:ख त लाग्छ तर पनि यो कुराले स्वयं नै चर्को स्वरमा स्पष्टसँग व्यक्त गरेको छ कि सामान्यत: नेपाली संस्कृति र विशेषत: नेपाली संस्कृति के हो भन्ने विषयमा ब्राम्हणीकृत अदूर दृष्टि (brahminised myopic view) भएकाहरूको बौद्धिक स्तरको दरिद्रता कहाँसम्म रहेछ । नेपाली संस्कृति सिकाउनेहरूले शेर्पा, मनाङ्गी आदिको कुरा सम्म त गर्लान् परन्तु तिनीहरूले नेपाली संस्कृति के हो भनेर हेर्नुपर्‍यो भने केवल 'दाल भात' संस्कृति मात्र सच्चा नेपाली संस्कृति हो भनेर देख्ने, सोच्ने या विश्वास गर्ने गर्छन् । उनीहरूको तथाकथित निष्पक्ष एवं पश्चिमी वैज्ञानिक शिक्षा समेत उनीहरूलाई यहाँको 'चाम्पा-खाता' संस्कृति पनि 'दाल-भात' संस्कृति जत्तिकै नेपाली संस्कृति हो भन्ने देख्न सक्ने गरी दृष्टि खुला पारिदिन असफल भएको छ । 'चाम्पा-खाता' संस्कृति पनि 'दाल-भात' संस्कृति जत्तिकै समृद्धिशाली छ र कतिपय पक्षमा त अझ बढी सुसम्पन्न पनि छ । तर सामान्यतया शिक्षित नेपालीहरूको अदूर-दृष्टि (myopic vision) यो तथ्यप्रति पूर्णरूपमा अन्धो नै छ । यो ती बौद्ध नेपालीहरूका लागि पनि त्यत्तिकै रूपमा लागू हुन्छ जसका पूर्व-अग्रजहरू यिनै तिव्वतीहरूका गुरू एवं आचार्यहरू थिए र आठौं शताब्दीदेखि १२/१३ औं शताब्दीसम्म राम्रैसँग उनीहरूलाई आफ्नो धर्म र संस्कृति सिकाएका थिए । आज ती अग्रज गुरुहरूकै सन्ततिहरू नेवार भनेर चिनिन्छन् ।

हिमाली क्षेत्रका बासिन्दा जस्तै:- नुब्रीपा, शेर्पा, मनाङ्गी, हुम्लाली, योल्मोपा, डोल्पालीहरूमध्येमा कतिपय खेन्पो (उपाध्याय) हरू यस्ता विद्वान्‌हरू पनि छन् जसले शास्त्रार्थ गर्नुपर्‍यो भने नेपाली ब्राम्हण पण्डितहरूलाई सजिलै पराजित गर्न सक्छन् परन्तु 'दाल-भात' नेपालीहरूका लागि तिनीहरू अशिक्षित, गँवार र च्यांग्रा बेच्ने हुन जान्छन् । यही नै नेपाली शिक्षित वर्गहरूको दु:ख लाग्दो कथा हो । त्यसमा पनि यसको झनै खराव हिस्सा त यो हो कि शिक्षित बौद्ध नेवारहरू समेत पनि अरू

अबौद्धजत्तिकै नराम्रोसँग यो रोगबाट आहत भएका छन् ।

शिक्षित 'दाल-भात' बौद्धहरू अर्थात् नेवार र अन्य केही तामाङ्ग एवं गुरुङ्हरूमा मैले अर्को एउटा रोग पनि पाएको छु । त्यो रोगलाई क्यानडाको सास्काट्चेवान् विश्वविद्यालयका बौद्ध विभागाध्यक्ष्य प्रो. हर्बट् गुन्थरले 'काण्ट-हेगेल-ब्राड्ली-अभिलक्षण' (Kant-Hegel-Bradley-syndrome) भन्ने नाम दिएका छन् । मैले यो रोगलाई नेपाल र भारतको अपूरो र कमजोर शैक्षिक प्रणालीको प्रतिफल भन्छु । यस्तो शिक्षाले मानिसहरूलाई सोझो (रेखीय) सोचाई र सोझो (रेखीय) तर्क (linear thinking and linear logic) ले जे निश्चय हुन्छ त्यही मात्र 'वास्तविकता' या 'तथ्य' हो भन्ने ठान्ने गराउँछ । यो न्यूटोनियन विज्ञानको कार्टेजन मोडेलसँग तादात्म्य राख्ने कुरा हो । सोझो सोचाई (linear thinking=रेखीय चिन्तन) र यसका सीमाहरूको अवधारणा पश्चिममा समेत अझै नयाँ छ भने यहाँका अधिकांश नेपाली शिक्षित वर्गहरूमा जीवनको यस्तो रेखीय चिन्तन (linear thinking) र रेखीय दृष्टि (linear vision) एवं यसका सीमाहरूको कुनै जानकारी नै नहुनु त्यति आश्चर्यजनक कुरा होइन । रेखीय विचार भनेको सोझो रेखाको जस्तो आधारमा सोच्नु हो । उदाहरणको लागि २+२=४ भन्नु यस्तै रेखीय विधा (linear mode) को सोचाइ हो । बुद्धिलाई जे तर्कसम्म त लाग्छ त्यही मात्र सत्य हो, वास्तविकता हो, तथ्य हो भन्ने सोच्नु रेखीय सोचाइ हो । सोझो-सोझो विश्लेषण गरिने जति पनि कुराहरू छन् ती सबै रेखीय सोचाइका अभ्यासहरू हुन् । जस्तै 'चराले बीउ खान्छन्' भन्नु र त्यही नै एक मात्र वास्तविकता हो, सत्य हो, तथ्य हो, परमार्थ सत्य हो भन्ने विश्वास गर्नु यही रेखीय विचार (linear thinking) हो । यदि कसैले तपाईंलाई 'बीउले चरा खान्छन्' भन्यो भने त्यो रेखीय अर्थात् सोझो हिसाबले हुँदैन । रेखीय सोचाइमा (linear thinking) मा हामीले यसलाई तथ्य या वास्तविकता भन्दैनौं । परन्तु (परन्तु मात्र होइन, ठूलै परन्तु) यो एउटा तथ्य हो, वास्तविकता हो, सत्य हो कि बीउले चरा खान्छन् । जब चरा मर्छन् र जमीनमा खस्छन् तब तिनीहरूलाई प्राङ्गारिक मलको रूपमा बीउले खान्छन् । यो दृष्टान्तले स्पष्ट पार्छ कि रेखीय कार्टेजन सोचाइ (linear cartesian thinking) को सीमा के रहेछ ! 'वास्तविकता' या 'तथ्य' या 'सत्य' लाई यसको पूरापूर यति हो अथवा यसका सबै आयामहरू यति हुन् भनेर त्यसले नाप्न सक्दैन । धेरै कुराहरूलाई बुझ्न यो एउटा अति-उपयोगी मानव-साधन (human equipment) हुन सक्छ परन्तु यसका आफ्नै सीमाहरू छन् र एउटा बिन्दुभन्दा माथि यो स्वयं पनि मानवीय ज्ञानको तगारो या अवरोध बन्न जान्छ । ठीक यही कुरा विज्ञानले स्वयं पत्ता लगायो जब आइस्टाइनले बीसौं शताब्दीको मोडमा आएर सापेक्षताबादको सिद्धान्त प्रतिपादन गरे ।

काण्ट, हेगेल र ब्राड्ली सबै त्यो बेलामा फक्रेका थिए जुनबेला विज्ञानले रेखीय कार्टेजन् सोचाइको (linear cartesian thinking) आधारमा ठूला ठूला पाइला चाल्दै थियो । त्यही भएर ती दार्शनिकहरूले पनि तर्क (reason) लाई नै सबभन्दा ठूलो मानवीय इन्द्रिय (faculty) भन्ने र यसैले जे पनि वेधन (probe) गर्न सक्छ भन्ने मान्यता बनाएका थिए । अवश्य पनि उनीहरूले तर्क (reason) भन्नाले यही विज्ञानको रेखीय कार्टेजन सोचाइ (linear cartesian thinking) लाई

भन्न खोजेको हो । त्यसवेलामा न त उनीहरूले सोच्न सके न त विज्ञानले नै ख्याल गरेको थियो कि रेखीय कार्टेजन् तर्क (linear cartesian logic) का पनि आफ्नै सीमाहरू हुन्छन् र कुनै विन्दुमा आएर यो स्वयं नै एउटा धराप बन्न सक्छ । उनीहरूलाई यो पनि ख्याल भएन कि तर्क या युक्ति (logic or reason) का अन्य स्वरूपहरू पनि हुन सक्छन् । अहिले त्यस्तो तर्क या युक्तिहरूलाई अग्रणी मनोविज्ञान (avante-guarde psychology) र कग्निटिव साइन्स (cognitive science) मा (यी दुवै तुलनात्मक रूपमा नयाँ विज्ञान हुन्) अरेखीय सोचाई (non-linear thinking) या रूपक-लाक्षणिक चिन्तन (metaphoric thinking) भन्दछन् । हामी पाउँछौं कि 'चराले वीउ खान्छन्' मात्रै सधैं सत्य, सधैं तथ्य या कहिल्यै पनि चुनौती दिन नमिल्ने वास्तविकता हुँदोरहेनछ भन्ने कुरा अरेखीय सोचाइ (non-linear thinking) को प्रयोगबाट देखिन आउँछ र यसले 'बीउले चरा खान्छन्' भन्ने पनि देख्न सक्ने गरी हाम्रो दृष्टिलाई चौडा बनाउँछ या खुला पारिदिन्छ र यो पनि 'चराले वीउ खान्छन्' भने जत्तिकै सत्य तथ्य या वास्तविकता रहेछ भन्ने बुझाउँछ ।

चेतनाको अध्ययन गर्ने आधुनिकतम विज्ञानहरूका अनुसार मानवमष्तिष्कलाई दुई भागमा बाँडिएको हुन्छ । दायँ भाग र बायाँ भाग । यी दुई भागको सम्बन्ध दुई भिन्दै विधाका सोचाइ, अनुभूति र ज्ञानसँग हुन्छ । बायाँ भाग दायाँ तर्फका अङ्गहरूको सञ्चालनसित र विश्लेषणात्मक बुद्धि (analytical mind) सँग सम्वन्धित हुन्छ भने दायाँ भाग चाहिं देब्रेतिरका अङ्गहरूको सञ्चालन र रूपक लाक्षणिक बुद्धि (metaphorical mind) सँग सम्बन्धित हुन्छ । त्यसैले शाव्दिक चिन्तन (verbal thiinking) युक्ति, तर्क, विवेक, विश्लेषण, गणितीय सोचाइ, रेखीय चिन्तन (linear thinking) शैली विज्ञान र सामान्यतया जेलाई वैज्ञानिक सोचाइ या विश्लेपण भनिन्छ त्यस्ता कुराहरू सबै वायाँ तिरको अर्धभागसित सम्वन्धित हुन्छन् । परन्तु त्यो त मष्तिष्कको आधा भाग मात्र हो र मानव क्षमताको पूरा भागको आधा मात्र हो । जो व्यक्ति केवल विश्लेपणात्मक या तथाकथित वैज्ञानिक प्रवृत्तिको/रेखीय हुन्छ ऊ केवल अर्धविकसित याने आधा पक्ष मात्र विसित भएको हुन्छ । त्यस्तो प्रकारको विचार गर्ने/जान्ने/अनुभव गर्ने तरीका त मानवले व्यहोर्नुपर्ने बहुआयामिक वास्तविकतालाई बुझ्न सक्षम हुनको लागि विकास गरिएको एक कृत्रिम विधि हो । एकातिर वैज्ञानिक प्रविधिमा यस्तो विधाको चिन्तनले प्रकृतिलाई नियन्त्रण गर्ने कल्पनातीत साधनहरूको विकास गर्नमा अत्यन्तै सहयोग गरेको छ भने यसको सबै बहु-आयामिक वास्तविकतालाई जस्ताको तस्तै (यथाभूत) रूपमा अनुभव गर्ने साधनको रूपमा भने दयनीय हिसाबले नै असफल भएको छ । यो असफल भएको मात्र छैन, यसले त अति आधुनिक व्यक्तिहरूको दृष्टिलाई पनि यसरी बिगारेको छ कि उनीहरू वास्तविक जगत्‌लाई अनुभूति गर्ने असक्षम भैसकेका छन् । उनीहरूले अनुभूति गर्ने त वास्तविकता या वास्तविक गतिशील जगत् (actual dynamic world) लाई शाव्दिक रेखीय चिन्तन (verbal linear thinking) को सहारावाट निकालिएको कृत्रिम संरचना मात्र हो । यसैलाई उनीहरूले वास्तविकता भन्ने ठान्छन् परन्तु यो त केवल कल्पित कृत्रिम संरचना भएको हुनाले यस्तो कल्पित (अवास्तविक =abstracted) जगत् या जागतिक अनुभूति त परिपूर्ति दिने खालको हुन सक्दैन । त्यही भएर आधुनिक रेखीय मानवले भित्रबाट सधैं खोक्रो र रित्तो महसूस गरिरहेको हुन्छ र

सोँच्चिको जगत्‌लाई (अझ वास्तविक जगत्‌को उसको कल्पित संरचनालाई) सधैं रित्तो, खोक्रो, शून्य, निरर्थक र अपरिपूर्ण पाउँछ। यदि यसैलाई उसले कुनै हदभन्दा माथि पुऱ्यायो भने त्यो अति आधुनिक मानवमा विभिन्न प्रकारका स्नायविक रोग प्रवृत्तिहरू (neurotic tendencies) को स्रोत समेत बन्न जान्छ।

मस्तिष्कको दक्षिणी गोलार्ध चाहिँ बाँकी अर्को आधा पक्षसँग सम्बन्धित हुन्छ। यो तर्कमूलक या युक्तिमूलक हुँदैन परन्तु यो तर्कहीन या युक्तिहीन पनि हुँदैन। अति युक्तिमूलक (over rational) व्यक्तिहरू जो केवल जगत्‌बाट संरचना गरिएको तार्किक कल्पना (logical abstract constructed out of the world) लाई नै अनुभव गरिरहन अभ्यस्त भइराखेका हुन्छन्, तिनीहरू यसबाट त्रसित हुने गर्दछन् किनकि यो तर्कमूलक या युक्तिमूलक देखिंदैन। युक्तिमूलक, तर्कमूलक बुद्धि आफ्नै प्रविधिमा अल्झिएको हुन्छ जुन प्रविधिले केवल दुइटा सम्भावनाहरूलाई मात्र स्थान दिन्छ-या त तर्कसम्मत/युक्तिसम्मत या त तर्कहीन/युक्तिहीन। त्यसकारण जे जति कुरा तर्कसम्मत/युक्तिसम्मत या रेखीय संरचनामा मिल्ने हुँदैनन् तिनीहरू स्वतः नै उसका निमित्त तर्कहीन/युक्तिहीन हुन्छन्, त्यसैले गर्दा अन्धविश्वास/अवैज्ञानिक हुन पुग्छन्। परन्तु यहाँ तेस्रो विकल्प पनि छ जो न त युक्तिसम्मत/तर्कसम्मत हुन्छ न त युक्तिहीन/तर्कहीन हुन्छ। यो त पूर्णरूपमा भिन्दै खालको देखाइ, अनुभव गराइ, थाहा पाउने काम हो, जससँग यी तथाकथित युक्तिवादीहरू (rationalists) अपरिचित मात्र छैनन् अपितु त्यस्तो सम्भावनाप्रति त्रसित पनि छन्। यस अर्थमा त्रसित छन् कि कठोर परिश्रमबाट प्राप्त गरिएको आफ्नो जगत्/जीवन/अनुभूति आदि प्रतिको तार्किक कृत्रिम संरचनालाई त्याग्नुपर्ला भन्ने डर उनीहरूमा छ यद्यपि उनीहरू स्वयंले नै त्यसमा रित्तो, खोक्रो र पूर्णता नदिने खालको स्वभाव महसूस गरिराखेकै हुन्छन्। परन्तु यो नयाँ मोडले उक्त कृत्रिम संरचनामा भएको कमीलाई पूर्ण गरिदिएको हुन्छ। यो काम त्यही रूपकलाक्षणिक बुद्धि (metaphoric mind) ले गर्दछ जुन मस्तिष्कको दायाँ गोलार्धसँग सम्बन्धित हुन्छ। यही रूपकलाक्षणिक बुद्धि (metaphoric mind) बाट नै मानवले जगत्‌को वास्तविकताको बहु आयामिक पक्षबाट परिपूर्णरूपले अनुभव गर्न सक्छ जुन यथाभूत (जस्ताको तस्तै) हुन्छ र केवल कल्पित संरचना मात्र हुँदैन।

यस्तो अनुभवलाई युक्ति, तर्क, रेखीय चिन्तन, शाब्दिक चिन्तन आदिले समेट्न सक्दैनन् किनभने यिनीहरूको स्वभाव नै परिपूर्णतालाई सफा युक्ति सम्मत टुक्राहरूमा काटेर त्यही काटिएको कृत्रिम टुक्रालाई मात्र अनुभव गर्नु हो। प्राविधिक संरचनामा यो गजबको साधन हुन सक्छ परन्तु एउटा समृद्ध जीवनको अनुभव गर्ने, यथाभूतरूपमा परिपूर्णतालाई अनुभूति गर्ने, जीवनको परिपूर्णतालाई अनुभूति गर्ने साधनको रूपमा यसलाई प्रयोग गर्नु गलत ठाउँमा प्रयोग गरिएको साधन या औजार हो। यो काम त केवल रूपकलाक्षणिक बुद्धि (metaphoric mind) ले मात्र दिन सक्छ। यो अशाब्दिक (non-verbal), युक्तीतर (arrational) र तर्केतर (alogical) हो/छ। यसले वास्तविकतालाई जस्ताको तस्तै (यथाभूत) अनुभूति गर्दछ। संगीत, काव्य, कला, नृत्य इत्यादि कुराहरू यही रूपकलाक्षणिक बुद्धि (metaphoric mind) सँग अत्यन्त नजीकबाट सम्बन्धित

छन् । रहस्यवाद (mysticism) यही रूपकलाक्षणिक बुद्धि (metaphoric mind) कै एक अभिव्यक्ति हो जस्तो कि गणित रेखीय विश्लेषणात्मक बुद्धि (linear analytical mind) को अभिव्यक्ति हो । शव्दहरूमा आधारित शाब्दिक चिन्तन पनि रेखीय विश्लेषणात्मक वुद्धिको कार्य हो । शव्दमा नआउने अनुभूतिहरू दृश्य-प्रतिरूपहरू (visual-imageries)- जसलाई अशाव्दिक चिन्तन (non-verbal thinking) भन्न सकिन्छ-चाहिँ रूपकलाक्षणिक बुद्धि (metaphoric mind) का कार्यहरू हुन् । गणितीय चिन्तन हुनु (mathematical thinking) विश्लेषणात्मक बुद्धिले कार्य गरेको हो भने सृजनात्मक चिन्तन या स्फुरणात्मक चिन्तन (intuitive thinking) हुनु चाहिँ रूपकलाक्षणिक वुद्धिले कार्य गरेको हो । रूपकलाक्षणिक सत्यहरू (metaphoric truths) लाई विश्लेषणात्मक वुद्धिले बुझ्न सकिदैन परन्तु विश्लेषणात्मक सत्यहरू (analytical truths) लाई रूपकलाक्षणिक बुद्धिले मत्र पनि बुझ्न सकिन्छ । अधिकांश तथाकथित शिक्षित नेपालीहरूले आफ्नो रूपकलाक्षणिक बुद्धिको प्रयोगलाई गुमाइसकेका छन् र यस्तो अन्धविश्वास बोकेका छन् कि विश्लेषणात्मक बुद्धि (जसलाई उनीहरूको शिक्षाले एकपक्षीय ढंगले विकास गऱ्यो) नै एक मात्र सोच्ने/अनुभव गर्ने/जान्ने तरीका हो र त्यो विश्लेषणात्मक बुद्धिबाट जे ग्रहण गर्न सकिदैन त्यो असत्य/ अवास्तविक/ अन्धविश्वास/अवैज्ञानिक इत्यादि हुन्छ भन्ने ठान्छन् । परन्तु अत्याधुनिक भौतिक शास्त्रका उपलव्धिहरू समेत सोझो रेखीय तर्कले अहिले ग्रहण गर्न नसकिने भैसकेका छन् । फेरि विज्ञान स्वयं विश्लेषणप्रधान भएतापनि यसका अधिकांश क्रान्तिकारी आविष्कार र सिद्धान्तहरू चाहिं रूपकलाक्षणिक बुद्धिवाट नै उब्जेका छन् । अझै पनि रेखीय विश्लेषणात्मक चिन्तनप्रति अति-आश्रित भइरहनु कति खतर्नाक होला भन्ने कुरा आफ्नो आत्मकथा (Autobio-graphy of Charles Darvin) मा चार्ल्स् डार्विनले भनेका यी भनाइहरूबाटै अनुमान गर्न सकिन्छ, "सबै प्रकारका काव्यहरूले .... मलाई अति आनन्द .... दिन्थे .... । शेक्सपीयरमा मलाई चरम आनन्द आउँथ्यो .... चित्रहरूमा पनि .... । र संगीतले मलाई ठूलो आनन्द दिन्थ्यो । परन्तु अहिले धेरै वर्षदेखि मलाई एक लाइन कविता पढ्ने धैर्य पनि छैन .... । मैले चित्र या संगीत .... आदिका सबै रसहरू गुमाइसकेको छु । मेरो मन कुनै एक प्रकारको यन्त्र (machine) जस्तो वनेको झैं लाग्छ जसले तथ्यहरूको ठूलो संचयबाट सामान्य नियमहरू (general laws) निकाल्दै पिस्दै गरिरहन्छ, परन्तु किन मष्तिष्कको त्यो भागमा (पक्षमा) मात्र त्यस्तो अपक्षय (atrophy) हुन पुग्यो जसमा त्यस्तो उच्च तहको रस आश्रित थियो ? मैले बुझ्नै सकिन ।

यी रसहरू हराउनु भनेको सुख हराउनु हो र यो विवेक (intellect) का निमित्त हानिकारक हुन सक्छ, अझ बढी त हाम्रो प्रकृतिको भावप्रधान (emotional) भागलाई कमजोर तुल्याएर नैतिक चरित्रका निमित्त घातक हुने सम्भावना हुन्छ ।"

आज मनोविज्ञानले प्रमाणित गरेको छ कि रेखीय चिन्तनमा वढी जोड गर्नाले खुशी हुने क्षमता घट्छ, विवेक (intellect) लाई हानि गर्छ, हाम्रो प्रकृतिको भावप्रधान (emotional) पक्षलाई कमजोर तुल्याउँछ भन्ने कुरा सत्य हो (Dr. Daniel Goleman :– Emotional Intelligence) । वव् स्याम्पल्स्, रबर्ट अर्नस्टाइन् जस्ता मनोवैज्ञानिकहरूले भन्छन् कि परिपूर्ण

हुनको लागि मानिसले आफ्नो रूपकलाक्षणिक (metaphoric) र विश्लेषणात्मक (analytical) दुवै वुद्धिलाई विकसित पार्नुपर्छ । आधुनिक जेस्टाल्ट साइकोथेरापीका जन्मदाता फ्रेडरिक् पर्ल भन्छन्, "कसैको जति धेरै तर्क गर्ने क्षमता छ त्यति नै ऊ वस्तुहरूको 'कल्पना गर्न' डराउँछ । त्यही भएर उसले प्रत्येक कुरालाई तर्कसम्मत वनाउन प्रयास गर्छ ।" (पर्ल:- Ego, Hunger and Aggression), परन्तु मैले भनिहालें कि वास्तविकताका त्यस्ता आयामहरू पनि छन् जसलाई न त युक्तिसम्मत/विवेकसम्मत गराउन सकिन्छ न त ती युक्तिपरक/विवेकपरक चिन्तनका क्षेत्रभित्र नै आउन सक्छन्, तैपनि ती वास्तविक, सत्य र तथ्य हन्/हुन्छन् ।

तथ्य के हो भने वास्तविकताका यस्ता आयाम या पक्षहरू पनि हुन्छन् जसलाई केवल रेखीय कार्टेजन् तर्क (linear cartesian reason) ले मात्र अनुभव गर्न, बुझ्न या देख्न या आत्मसात् गर्न सकिंदैन । यदि तर्क भनेको केवल रखीय कार्टेजन् तर्क (linear cartesian logic) हो भने त तान् सेन्, विथोभन्, मोजार्ट जस्ता महान् संगीतकारहरू, या पिकासो; भान् गग जस्ता चित्रकारहरू अल्पविकसित मानव हुन जान्छन् । उनीहरूका संगीत या कलाकृतिहरूले रेखीय सोचाईको मोडमा त विल्कुलै अर्थ दिदैंनन् याने पूर्ण रूपमा बेमतलबका हुन जान्छन् । बौद्ध भाषामा भन्ने हो भने केवल रेखीय मोडको सोचाइ मात्र प्रज्ञा होइन । अन्य प्रकारका प्रज्ञाहरू पनि हुन्छन् । जस्तै निर्वाण अतक्कावचर (पालि) र अविकल्प हुने भएकोले यसलाई त्यस्तो रेखीय प्रज्ञा (linear wisdom) ले जान्न सकिंदैन ।

Mind Science East-West Dialogue मा सेमिनारका क्रममा हार्वर्ड विश्वविद्यालयको शिक्षा शास्त्रका प्राध्यापक डा. होवार्ड ई. गार्डनर (Ph.D.) ले भनेका छन् कि सात प्रकारका भिन्दाभिन्दै खालका वुद्धि या प्रज्ञा (intelligence) हुन्छन् अर्थात् हामीले त्यसलाई सात प्रकारका युक्ति या सोचइका सात भिन्दाभिन्दै मोडहरू या सात प्रकारका प्रज्ञा नै भन्न पनि सक्छौं । ती यसप्रकार छन्- (उनले पश्चिमतिर प्रचलित उदाहरणहरू दिएका छन् भने बुझ्न सजिलोको लागि म हाम्रै सांस्कृतिक परिवेशका उदाहरणहरू दिने प्रयास गर्छु ।)

१. Linguistic Intelligence (भाषिक प्रज्ञा) यस्तो बुद्धिको सबभन्दा राम्रो दृष्टान्त महाकवि लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा, भूपीशेरचन, चित्तधर हृदय आदि हुन् ।

२. Logical Mathematical Intelligence- (नैयायिक गाणितिक प्रज्ञा)
यसमा गणितज्ञ, वैज्ञानिक, तार्किक (नैयायिक) आदिको बुद्धि पर्दछ । जस्तैः- आर्यभट्ट, गोडेल्, धर्मकीर्ति, दिङ्नाग, आइन्स्टाइन इत्यादि ।

३. Musical Intelligence- (सांगीतिक प्रज्ञा)
यसका दृष्टान्तहरू हुन्-तानसेन्, थ्यागराजन्, विथोभन्, मोजार्ट, नरराज ढकाल इत्यादि ।

४. Spatial Intelligence- (दिशीय प्रज्ञा)
शल्य चिकित्सक, कलाकार, वुट्टा भर्ने (कालीगढ) जस्ता व्यक्तिहरू बढी मात्रामा यस्तो प्रज्ञामा आश्रित हुन्छन् ।

५. Bodily Kinesthetic Intelligence- (कायगतिकीय प्रज्ञा)-
नर्तक-नर्तकी, खेलाडी, अभिनेता जस्तैः- चार्ली च्याप्लीन, शोभना नारायणन् इत्यादिमा यो वर्गको प्रज्ञा हुन्छ ।

६. Interpersonal Intelligence- (अन्तर्व्यक्तिगत प्रज्ञा)
यो चाहिँ अरुलाई बुझ्न सक्ने, अरुसँग मिलेर राम्रोसँग काम गर्न सक्ने, अरुलाई प्रेरणा गर्नसक्ने वुद्धि हो । यो नं. १, ३, ४, ५, र पछि आउने ७ नं. को जस्तै रेखीय तर्क एवं गणितीय (linear logical mathematical) खालको विश्लेषणमा आधारित हुँदैन । यो अर्थमा बुद्ध नै यसप्रकारको प्रज्ञामा सबभन्दा प्रज्ञावान् हुनु हुन्थ्यो । तर उहाँका त अरु सबै प्रज्ञाहरू पनि त्यत्तिकै पूर्णरुपमा विकसित थिए ।

७. Intrapersonal Intelligence- (आन्तरिक व्यक्तिगत प्रज्ञा)
यसले आफैंले आफैंलाई बुझ्छ, आफ्नो सामर्थ्य, बल, कमजोरी, इच्छा-आकांक्षाहरू, भय इत्यादिलाई जान्दछ र यस्तो प्रज्ञाले आफ्नो जीवन कसरी अघि बढाउने भन्ने कुरा निर्णय गर्ने क्षमतालाई जान्दछ । सबै ध्यानीहरूलाई आवश्यक हुने यही प्रज्ञा हो र सबभन्दा राम्रो आध्यात्मिक व्यक्तिसँग यस्तो प्रज्ञा प्रचुरमात्रामा हुन्छ । यसमा पनि सबभन्दा राम्रो दृष्टान्त त बुद्ध नै हुनुहुन्थ्यो ।

ती प्रोफेसरको भनाइ अनुसार देवकोटाले गर्ने, तन्सेन्ले गर्ने कुरालाई कुनै प्रकारले पनि आइन्स्टाइनले गर्नेभन्दा तल्लो या नराम्रो दर्जाको हो भन्न सकिंदैन । उनी भन्छन् "वैज्ञानिक पद्धति समय अनुसार अवश्य बदलिन्छ । यो शताब्दीमा विज्ञान के हो ...... र मानिसहरूले कस्ता विधिहरू प्रयोग गर्छन् भन्ने बारेमा वैज्ञानिक पद्धति अलि खुकुलो पाराले सोच्नेतर्फ छामछाम छुमछुम गर्दै हिंड्न थालेको छ । अपचयवाद (reductionism) (बहुआयामी कुरालाई पनि अतिसरलीकरण गरेर सोझो रेखीय ढाँचामा हाल्न खोज्नु) एक प्रकारको तरीका हो परन्तु यहाँ system's theory, cybernatics पनि छन् र case studies र introspective studies मा मानिसहरू लागेको ४०/५० वर्षभन्दा बढी हुन थालेको छ ।"

त्यसैले विज्ञान (science) भित्र पनि हामीले देख्न सक्छौं कि रेखीय कार्टेजन मा अपचयवाद (reductionist mode) को सोचाइ, विश्लेषण, खोजीनीति आदिलाई चुनौति आइसकेको छ र यसले मात्र अब सत्य/तथ्य/वास्तविकता आदिलाई व्याख्या गर्नु, विश्लेषण गर्नु र निश्चय गार्नु पर्याप्त हुँदैन भन्ने मानिन थालेको छ । तर यहाँ भने आजभोलिको अपूरो शिक्षाले अधिकांश शिक्षित नेपालीहरूलाई यसैलाई मान्न यसरी अभिसंस्कृत (conditioned) पारेको छ कि जहिले पनि वास्तविक या अवास्तविक, तथ्य या गलत, ठीक या बेठीक के हो भन्ने कुरा सोचाइ/विश्लेपणको रेखीय पद्धति (linear mode) ले मात्र निश्चय गर्न सक्छ भन्ने उनीहरूले विश्वास गरिरहेका छन् । यो एउटा काल्पनिक कथा (myth) मात्र होइन यो त एक अति ठूलो अन्धविश्वास पनि हो जो नेपाली शिक्षित वर्गले सिकेका छन् (या अझ ठीक तरीकाले भन्ने हो भने त्यसरी विश्वास गर्न सिकाइएका या अभिसंस्कृत (conditioned) गरिएका छन्) ।

'न्यूयोर्क टाइम्स्' मा निकै योगदान गरेका (पुल्लिज्जर प्राइज विजेता) सुप्रसिद्ध लेखक डा. डेनिएल गोल्म्यान् (पी.एच.डी.) ले त्यही किताबमा त्यही सेमिनारमा भनेका छन्- "हार्वर्डमा मनोविज्ञानको विद्यार्थीको रूपमा हुँदा यो मनोविज्ञन एक वैज्ञानिक विषय (scientific topic) को रूपमा अमेरिका र यूरोपमा यही गत शताब्दीमा शुरू भएको हो भन्ने पश्चिमतिर अन्तर्निहित भएको मान्यतालाई नै मैले पनि मान्दै आएको थिएँ । त्यसैले जब म एसियामा पुगें र पूर्वीय विचार प्रणालीलाई साँच्चिकै हेर्न थालें तब म आश्चर्यचकित भएँ कि त्यहाँ प्रत्येक ठूला ठूला धार्मिक परम्पराहरूको कोख भित्र एक मनोवैज्ञानिक पद्धति (psychological system)- धर्मको esoteric part (रहस्यात्मक हिस्सा)-पनि हुँदोरहेछ । मैले अध्ययन गरेका ती प्रणालीहरूमध्येमा तिव्वतको वुद्धधर्मभित्र त्यस्ता मनोविज्ञान (psychology) मध्ये को शायद सबभन्दा परिष्कृत मनोविज्ञान भएको हुनुपर्छ जस्तो मलाई लाग्छ ।" यहाँनेर म नेपालका बौद्धहरूलाई याद गराउन चाहान्छु कि ठीक यही रहस्यवादी (esoteric) तत्व नै हो जसलाई राहुल सांकृत्यायन, आम्बेडकर, आनन्द कौसल्यायन, राइज डेविड्स् आदिले अवैज्ञानिक भनेर बुद्धधर्मबाट पन्छाउन र मेटाउन प्रयास गरेका थिए । डा. गोलम्यान् अगाडि भन्छन्, "मलाई अनौठो त के लाग्छ भने मलाई स्नातकको तहमा सिकाइँदाखेरि या कुनै पनि मनोविज्ञानको तालिम दिंदा खेरि यस्ता कुराको बारेमा कहिल्यै पनि कुनै सूचना दिइएन जब कि यी मनोविज्ञान (psychologies) हरू त दुई हजार वर्षभन्दा अघिदेखि नै उपयोगमा ल्याइँदै आएका रहेछन्" ।

यो माथिको सबै कुरा हार्वर्ड मेडिकल स्कूलको कण्टिन्यूइङ मेडिकल एजुकेशन डिपार्टमेण्टले आयोजना गरेको गोष्ठीको रेकर्ड हो । मलाई लाग्छ कि हाम्रो शिक्षण अस्पताल या विश्वविद्यालयका प्राध्यापकहरूले माथि भनिएको जस्तो सेमिनारको कल्पनासम्म पनि कहिले गर्लान् ! त्यसले त मेडिसिन्, साइक्याट्री, साइकोबायोलजी, न्यूरोबायोलजी, शिक्षा, तुलनात्मक धार्मिक अध्ययन र भारत-तिव्वती वुद्धधर्मका विशेषज्ञहरूलाई भेला गराएर यो गोष्ठी सम्पन्न गरेको थियो । उक्त गोष्ठी हार्वर्ड मेडिकल स्कूल र तिव्वती समुदाय बिचको संयुक्त सहयोगको दशक बितेको उपलक्ष्यमा सन् १९९१ मार्च २४ मा क्रेस्गे अडिटोरियम, म्यासाचुसेट्स् इन्स्टिच्यूट अफ टेक्नोलजीमा गरिएको थियो ।

परम्परागत नेवारी-बुद्धधर्म बज्रयान नै हो जुन ठीक तिव्वती बुद्ध धर्म नै हो । केवल भिन्नता भनेका बाहिरी सांस्कृतिक आवरणमा मात्र छन् र त्यो पनि धेरै कम मात्र, आखिर नेपाल र तिब्बत भनेका नजीकका छिमेकी नै हुन् (यो लेखमा तिब्बत भनेर सांस्कृतिक परिवेशमा मात्र लिइएको हो) । परन्तु आजका आधुनिक शिक्षित नेवारहरूले आफ्नै पूर्वअग्रजहरूको बज्रयानलाई बिस्तारै बिस्तारै वुझ्न नसक्ने हुँदै आइरहेका छन् र नव-आगन्तुक थेरवादतिर झुकाव राख्दै जान थालेका छन् । किन ? यो प्रश्नको उत्तरमा म आफ्नै किसिमले विवेचना गर्न गइरहेको छु । आफ्नै अग्रजहरूको धर्मको (जुन तिव्वतीहरूको र अधिकांश नेपाली जनजातिहरूको धर्म पनि हो) गहिराइलाई आधुनिक शिक्षित नेवारहरूले किन आत्मसात् गर्न सक्दैनन् र अधिकांश यी नवशिक्षित नेपालीहरूले नेपालमा प्रस्तुत गरिने थेरवादको नयाँ रूपलाई आकर्षक महसूस गर्छन् भन्ने कुराका दुई प्रमुख कारणहरू छन् । यो केवल शिक्षित वौद्ध नेवारहरूमा मात्र सत्य होइन शिक्षित तामाङ् एवं गुरुङ्हरूमा पनि केही हदसम्म

सत्य छ ।

थेरवादको नयाँ रूप भन्नाले मैले बर्मा, थाइल्याण्ड, लाओस्‌मा र श्रीलङ्काका केही समुदायमा रहेको सही ढङ्गको थेरवाद व्याख्यालाई भनेको होइन । यहाँ मैले भन्न खोजेको त श्रीलंकामा १८-१९ औं शताव्दीतिर अंग्रेजहरूद्वारा प्रवेश गराइएको तात्कालीन अंग्रेजी विश्वविद्यालयीय शिक्षाको फलस्वरूप विशेष गरी ती क्षेत्रमा विकसित भएका नयाँ व्याख्या प्रणालीहरू (hermeneutics) लाई हो जसले निकायहरूलाई नयाँ र रेखीय ढाँचातिर फर्केर व्याख्या गर्ने प्रयास गरे । त्यो बेला श्रीलंकामा अंग्रेजी संस्कृति र शिक्षाको यति प्रभाव थियो कि झण्डै सबैजसो नवशिक्षित श्रीलंकनहरूले आफ्नो नाम समेत पनि अंग्रेजीकरण गरेका थिए जस्तै:- 'जोन् वीररत्ने' इत्यादि । यिनै पश्चिमी शिक्षाप्राप्त श्रीलंकनहरूले नै वौद्ध सुत्तहरूलाई तथाकथित 'वैज्ञानिक' व्याख्या दिन शुरू गरेका हुन् । त्यो समयमा विश्वभरि नै यस्तो सोच्न थालिएको थियो कि जे-जे उक्त 'वैज्ञानिक' हुन्छ त्यही त्यही मात्र ठीक, मान्य, सत्य र अन्धविश्वासरहित इत्यादि हुन्छ । वास्तवमा त्यसबेला जे कुरा रेखीय तर्क (linear logic), रेखीय विचार (linear thinking) आदिबाट मान्य हुन आउँथ्यो त्यसैलाई मात्र 'वैज्ञानिक' भन्ने ठानिन्थ्यो । तर आज विज्ञान स्वयं र विशेष गरेर पश्चिमी मनोविज्ञानले अरेखीय (non-linear) र रूपकलाक्षणिक (metaphoric) वास्तविकतालाई समावेश गर्ने तर्फ बढी झुकाव राख्न थालेका छन् । त्यसकारण आजको वैज्ञानिक संस्कृति र साहित्यको हेराइमा समेत अहिलेसम्म पनि श्रीलङ्कामा पाइने त्यस्तो प्रकारको रेखीय व्याख्यालाई 'वैज्ञानिक' मान्न नमिल्ने भैसक्यो । यस्ता खालका तथाकथित वैज्ञानिक व्याख्याहरूको काम नै उनीहरूको रेखीय (linear) विचारमा नमिल्ने सवै कुरा निकालेर फ्याँक्नु या वेवास्ता गर्नु रह्यो । यस्ता श्रीलङ्कन विद्वान्‌हरू र उनीहरूका अनुयायी भारतीय विद्वान्‌हरूले त्यसमा अपनाएको तरीका थियो, 'यस्ता यस्ता वाक्य या शव्दहरू या भनाइहरू वुद्धका आफ्ना नभएर पछि थपिएका हुन्' या 'यो बुद्धको भनाइ हो भन्ने कुरा अत्यन्त विचारणीय छ' आदि भन्दै उद्घोषण गर्नु । यस्ता व्याख्याहरूलाई अलि ख्याल गरेर अध्ययन गर्ने हो भने फेरि अवश्य पाइन्छ कि के कति कारणले ती बुद्धका वचन हुन सक्दैनन् भन्ने कुराको मान्य ठोस प्रमाण त्यहाँ केही पनि दिइएको हुँदैन । छोटकरीमा भन्ने हो भने, ती विद्वान्‌हरू व्यक्तिगत रूपमा स्वयं नै वुद्धका वचन के के हुन् र के के होइनन् भन्ने निर्णय गर्नमा सर्वे सर्वा अधिकारी हुन् ! तिनीहरू केमा आश्रित थिए त ? शर्त एउटै थियो, जे जे उनीहरूको अभिसंस्कृत विचार (conditioned idea i.e. linear thinking) सँग मेल खान्थ्यो ती मान्य हुने र जे जे त्यससँग मेल खाएन त्यो त्यो अमान्य हुने ! त्यसैले पुनर्भव, प्रातिहार्य, देवी देवता, बुद्धले मन्त्रका विपयमा भनेका कुनै पनि कुराहरू र कहीँ कहीँ त वुद्धले वताएका ध्यान विधिहरू समेत पनि झ्यालवाट वाहिर फ्याँकिए । यस्तो किसिमको वौद्ध धर्मलाई प्रिन्स्टन् युनिभर्सिटिका मानवशास्त्रका प्राध्यापक डा. गणनाथ ओवये सेकरे (श्रीलंकन) र अक्सफोर्ड युनिभर्सिटिका संस्कृत विषयका प्राध्यापक डा. रिचार्ड गोम्व्रिक्‌ले 'Buddhism Transformed" भन्ने किताबमा 'Protestant Buddhism' (प्रोटेस्टण्ट बौद्धधर्म) भन्ने नामाकरण गरेका छन्, याने तात्कालीन व्रिटिश उपनिवेशवादीहरुको आफ्नो धर्मानुकूलको शिक्षा प्रणालीले प्रभावित भएको बौद्धधर्म । पछ्याडिका भारतीय बौद्धहरू पनि यो नयाँ श्रीलङ्कन वैज्ञानिक हलचलवाट

प्रभावित भएका हुनाले अहिलेसम्म पनि हामीले बुद्धिवादको नाममा यस्तै खालको व्याख्या प्रस्तुत गर्ने धेरै भारतीय थेरवादीहरू पाउँछौं । त्यो बुद्धिवादको अर्थ नै त्यही रेखीय विचार (linear thinking) हो । यदि वुद्धिवादले रेखीय (linear) र अरेखीय (non-linear) दुवै विचारलाई समेट्ने र जनाउने हो भने त यसमा कुनै दोष या नमिल्ने कुरा केही थिएन र यस्तो त सुविख्यात अमेरिकी मनोवैज्ञानिक डा. वोव् स्याम्पल्स् का अनुसार झन् बढी परिपूर्ण र सर्वाङ्गीण हुने थियो र वास्तविकतालाई वुझ्न रेखीय विधा (linear mode) को सोचाइमा आश्रित हुँदाखेरि भन्दा बढी मौका हुने थियो । [Samples: The Metaphoric Mind 1976] त्यस्तै Man and His Symbols मा सुविख्यात मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताभ युङ् भन्दछन्, "Modern man does not understand how much his 'rationalism' (which has destroyed his capacity to respond to numinous symbols and ideas) has put him at the mercy of the psychic 'underworld'. He has freed himself from 'superstition' (or so he believes), but in the process he has lost his spiritual values to a positively dangerous degree."

अर्थात् "आधुनिक मानवले उसको युक्तिवाद या बुद्धिवाद (जसले उसको अभौतिक रूपक र विचारहरूलाई ग्रहण गर्ने क्षमतालाई नष्ट पारेको छ) ले उसलाई मानसिक अधोभूमि (=अचेत मानस unconscious) को अधिपतित्वमा कति हदसम्म फसाएको छ भन्ने कुरा बुझेको छैन । उसले आफूलाई 'अन्धविश्वास' बाट मुक्त गरेको छ (याने त्यस्तो ठान्छ !) परन्तु त्यो प्रक्रियामा उसले आफ्नो आध्यात्मिक मूल्यलाई निश्चितरूपमा खतर्नाक हदसम्म गुमाएको छ ।"

जागरूक नभएका (थाहा नपाएका) नेपाली बौद्धहरूले बुझ्नुपर्छ कि राइज डेविड्स्, पण्डित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि सबै यही अत्यधिक रेखीय श्रीलङ्कन परम्परामा पर्ने विद्वान्हरू हुन् । यहाँ उहाँहरूले बुद्ध धर्मको लागि गरेको महान् कार्यलाई अपलाप गर्न खोजिएको होइन । राइज डेविड्स्लाई सारा पालि त्रिपिटक रोमन अक्षरमा लिपिवद्ध गरेकोमा प्रशंसा गर्नैपर्ने हुन्छ । त्यस्तै भदन्त आनन्द कौसल्यायनले भारत र नेपालमा बुद्ध धर्मलाई उत्थान गर्ने काममा दिएको ठूलो योगदान अत्यन्त सराहनीय छ भने महापण्डित राहुल सांकृत्यायनले ठूलो अथक परिश्रमकासाथ भारतमा गायब भएका अमूल्य बौद्ध संस्कृत ग्रन्थहरूलाई तिब्बतका कुना काप्चाबाट खोजेर ल्याउने महान कार्य गर्नुभएकोमा भूरि भूरि प्रशंसा गर्नै पर्ने हुन्छ । तर त्यो बेग्लै मामला हो र त्यो प्रशंसनीय कार्य भयो भन्दैमा बुद्धधर्मको यो तथाकथित 'वैज्ञानिक' व्याख्या पनि ठीक र प्रशंसनीय हुनैपर्छ भन्ने केही छैन । उहाँहरूको व्याख्यालाई खण्डन गर्दैमा उहाँहरूका प्रशंसनीय कार्यहरू पनि खण्डित हुने कुरा हुँदैन । हामीले यो बुझिराख्नुपर्छ कि उहाँहरू सबै त्यो पोस्ट भिक्टोरियन शिक्षा प्रणालीका उपज या त्यसका उपजहरूद्वारा प्रभावित शिक्षित व्यक्तित्त्वहरू हुनुहुन्छ जुन प्रणाली रूपकलाक्षणिक (metaphoric) विचार प्रणालीलाई तुच्छ बनाएर रेखीय विचार प्रणाली (linear thinking system) लाई मात्र मान्य, वैज्ञानिक भन्नेतिर अग्रसर भएको थियो ।

अब यसरी व्याख्या गरिएको थेरवादलाई बढी आकर्षक मानिनुका प्रमुख दुई कारणतिर जाऔं। सर्वप्रथम त, मेरो मूल्याङ्कन अनुसार, नेवार बज्रयान यी बितेका १००० वर्षसम्मको हिन्दू शासकहरूको हिन्दूकरणको चेपमा परेर धेरै ठक्कर खाँदै आइसकेको छ । त्यसको कारणले गर्दा पश्चिमी मनोविज्ञानविद् (psychologists) हरूले अत्यन्त परिष्कृत र गम्भीर भनेर स्वीकार्न थालेको 'सम्यग् दृष्टि' र यसको गहिरो मनोविज्ञान (psychology) सँग सम्बन्धित बज्रयानका पक्षहरू पनि यहाँ हराइसकेका जस्ता देखिन्छन् । केही बज्राचार्यहरूमा मात्र त्यसका न्यूनतम पक्षहरू बाँकी रहेका जस्ता देखिन्छन् । यहाँ भएका बज्रयानीय पद्धतिहरूको पनि आफ्नै प्रकारको मौलिकता र व्यावहारिकता नभएको होइन। जस्तै कि चर्यागीति, तिनीहरूका राग, ताल र तिनीहरूको माध्यमबाट शिष्यहरूमा सम्प्रेषण गरिने प्रज्ञा र रूपान्तरणका तरीकाहरू यहाँ भएका अद्वितीय विशेषताहरू हुन् । त्यस्तै बज्रयानका प्रत्येक सिद्धान्तहरूलाई व्यवहारमा उतार्न प्रयोग गरिने सांकेतिक विधि र प्रयोगका तरीकाहरूमा पनि यहाँको आफ्नै मौलिकता रहेको छ र यो पनि प्राचीन भारत र नेपालमा प्रयोग भइरहेका शैलीहरू मध्येकै एक हो जुन तिब्बत र नेपालको हिमाली भेगमा अहिलेसम्म पुगेकै छैन । त्यस्तै बज्रयानकै कतिपय विद्याहरू, तन्त्रका अभिषेक र साधनाका परम्पराहरू जुन तिव्वत क्षेत्रतिर अहिलेसम्म पुगेकै छैनन् ती पनि यहाँ अझै सुरक्षित नै छन् र यो कुरा स्वयं तिव्वती र नेपालको हिमाली क्षेत्रका ठूला ठूला विद्वान् खेन्पो, गेशे र सिद्ध गुरुहरूले स्पष्टसँग स्वीकार गरेका छन् र कतिपय गुरुहरूले त ती आफूकहाँ नपुगेका पक्षहरूलाई सिक्न र प्राप्त गर्न एवं अभ्यास गर्नको लागि नेवार बज्राचार्यहरूसँग प्रयास पनि गरिराखेको पाइन्छ यद्यपि ज्ञानको साक्षात्कारको लागि ती गुरुहरूसँग बज्रयानका पक्षहरूको आवश्यक सम्पूर्ण भण्डार नै मौजूद छ । यस हिसावले यहाँको नेवार बज्रयानमा पनि केही आफ्ना पक्षहरू नभएका होइनन् र तिनीहरूलाई जोगाइरहनु र पछि लोप हुने स्थितिमा पुग्न नदिनु अत्यावश्यक छ जुन प्रयास अहिले क्रमश: बढ्दै गएको छ र धेरै बज्राचार्यहरू भर्खर यस कुरा प्रति केही सजग हुन थालेको जस्तो पनि देखिएको छ । यहाँनेर म मेरा आफ्नै गुरुवरहरू काठमाडौंका पं. बद्रीरत्न बज्राचार्य ज्यू र पाटनका पं. रत्नराज बज्राचार्यज्यू आदिले जे बाँकी छ त्यसलाई जोगाउनको लागि निरन्तर गरिराख्नुभएको अथक प्रयासलाई स्तुत्य सम्झिन्छु । तर पनि यो प्रयास कर्मकाण्ड र साधना पक्षलाई सम्यग्दृष्टि र विपश्यनासँग सम्वन्ध गराउने मामलामा अझै कमी नै देखिन्छ र यहाँ भएकोलाई जोगाउनमा मात्र सीमित छ न कि शताव्दीयौंको अन्तरालमा छुटेको सम्भावना भएका कुराहरूलाई वापस ल्याउनमा । यही सन्दर्भमा नागार्जुन इन्स्टिच्यूट अफ एक्ज्याक्ट मेथडस्का डाइरेक्टर मीनबहादुर शाक्यज्यूले गरिराख्नुभएको प्रयत्नलाई पनि सराहनीय सम्झिनुपर्छ ।

अहिलेको नेवार बज्रयानमा के छुटेको होला भन्ने कुरा त जब हामीले लद्दाख, स्फिति, लाहुल, जाँस्कार, खुनु, भुटान, अरुणाचल प्रदेश, नेपालका लगभग पूरै हिमाली क्षेत्र (दार्चुलादेखि लिएर ओलाङ्चुङ गोलासम्मै पनि), मङ्गोलिया, मध्य ऐशिया, तिब्बत क्षेत्र, हान् चाइना (चेन् येन्=गुह्यमन्त्रको रूपमा), कोरिया, जापान (शिन् गोन्=गुह्यमन्त्र) र उत्तरी भियतनाम आदिमा अहिले पनि भइराखेको त्यही बज्रयानसँग यहाँको बज्रयानलाई तुलना गर्छौं तब सजिलैसँग देख्न सकिन्छ । वास्तवमा यो कुनै

नेवार वज्राचार्यहरूको दोष पनि होइन । यो त करिब १००० वर्षसम्म नेवार वौद्धहरूमाथि भएको राजनीतिक दवावको प्रतिफल हो । बरू १००० वर्षजति लामो प्रत्यक्ष्य वा अप्रत्यक्ष्य राजनीतिक दवावपछि पनि अझै 'वौद्ध' नै रहन सकेकोमा नेवार संस्कृति वास्तवमा श्रेयको भागीदार नै छ । तर हिन्दू शासकहरूको विचार र विश्वासप्रति जबर्जस्ती अनुकूलनको प्रक्रियामा धेरै महत्वपूर्ण कुराहरू हराइसकेको जस्तो देखिन्छ । यो कुनै नेवार बौद्ध संस्कृतिको अवमूल्यन नभएर बाहिरी दबावको कारणले यसका केकस्ता पक्षहरू हराएका हुनुपर्छ भन्ने कुरा औंल्याउन गरिएको प्रयास मात्र हो । वास्तवमा, जहाँसम्म मलाई लाग्छ नेवारी संस्कृति नै हाम्रो सम्पूर्ण नेपाली संस्कृतिमा सबभन्दा परिष्कृत र धनी संस्कृति हो । नेपालको ब्राम्हण-क्षेत्री संस्कृतिमा त आफूलाई भारतीयहरूबाट भिन्दै पहिचान दिन सक्ने र अधिकांश हिमाली जनजातिहरूमा तिब्बतीहरूबाट अलग्याउने एउटा लिपि समेत पनि छैन भने यो नेवार संस्कृति नै एक मात्र त्यस्तो हो जसका आफ्नै लिपिहरू छन् । केही अरूका पनि अक्षरहरू त छन् परन्तु तिनीहरू स्वरशास्त्रीय हिसाबले (phonetically) अपूर्ण छन् । मेरो व्यक्तिगत धारणामा भन्ने हो भने त यो लिपिलाई नै नेपाली लिपि भनेर प्रयोग गरिनुपर्ने हो । तर पनि सांस्कृतिक रूपमा धनी र परिष्कृत हुनु एउटा कुरा हो भने बितेका हजार वर्षसम्ममा नेवार वज्रयानमा के के कुरा छुटेका होलान् भन्नु भिन्दै कुरा हो । यसलाई हामीसँग सम्पूर्ण कुरा छ र अब कसैवाट केही कुरा पनि सिक्नु आवश्यक छैन भन्ने बहाना गरेर मात्र समाधान गर्न सकिंदैन । यस्तो प्रवृत्ति त जुनसुकै संस्कृतिको पनि अध:पतनको शुरुआत हो ।

यद्यपि म स्वयं चाहिँ नेवार होइन तापनि काठमाण्डौं उपत्यकामै जन्मेर हुर्केको नेपाली हुँ । काठमाण्डौं उपत्यकामा जन्मेर हुर्कने कुनै व्यक्ति पनि यहाँको यो परिष्कृत र गम्भीर नेवारी संस्कृतिवाट अप्रभावित रहन सक्दैन । अझ म यसबाट प्रभावित नभएको भएपनि यो नेपाली संस्कृतिको एक हिस्सा या भाग नै हो र एक नेपाली भएको नाताले यो मेरो पूर्ण सांस्कृतिक सम्पदाको एक भाग हो भनेर नेवारले जत्तिकै गौरवका साथ उद्घोष गर्छु । त्यही भएर नेवारी संस्कृतिको वज्रयानको अहिलेको यो सामान्य अवस्था देख्दा मलाई दु:ख लाग्छ । अझ यो दु:खलाई झन् गहिरो केले गराउँछ भने आफ्नै आँखा अगाडि के भइरहेको छ भन्ने कुराप्रति पनि अधिकांश गुरूजुहरूको निरुत्साही र नदेख्ने रोग (scotoma) कायमै छ ।

कर्मकाण्ड या वाहिरी सांस्कृतिक तत्वहरू विकृत हुनु त्यति आपत्तिजनक कुरा होइन परन्तु जव सम्यग् दृष्टि र मार्ग समेत विकृत भइसक्छ तब त्यसले बुद्धधर्मको अन्त्यलाई निम्त्याउँछ । मज्झिम निकायको समागमसुत्तमा बुद्धले बताउनुभएको छ कि धर्मको लागि सबभन्दा खतरा कुरा नै मार्गको विषयमा भेद उत्पन्न हुनु हो । परन्तु बौद्ध मार्गको सबभन्दा पहिलो अङ्ग भनेकै 'सम्यग् दृष्टि' हो । 'सम्यग् दृष्टि' विना वौद्ध मार्ग कदापि हुन सक्दैन । चक्रसंवरको अभ्यास गर्दैमा मात्र त्यो मार्ग वौद्ध मार्ग बन्दैन । देवयोगहरू त हिन्दू र क्रिश्चियनहरूमा पनि पाइन्छन् ।

यदि चक्रसम्वर साधनाभित्रै पनि ३७ बोधिपाक्षिक धर्महरूको अभ्यासै कसरी गर्ने भन्ने कुरा छुट्यो भने, चक्रसम्बरकै देखा दिनेहरूले विपश्यना भनेको के हो र उत्पत्तिक्रम र सम्पन्न क्रम के हो भन्ने विषयमा त्यही चक्रसम्वर साधनाभित्रै अलि अलि पनि मेलो मेसो पाउन छोडे भने, देखा

दिनेहरूले पनि उत्पत्तिक्रमको शमथसँग सम्वन्ध र सम्पन्न क्रमको 'प्रभास्वर शून्यता युगनद्ध' शून्यताविमोक्षद्वारिक महाविपश्यना (एक प्रकारको अत्यन्त गहिरो विपश्यना ध्यान विधि) सँग कसरी सम्वन्ध छ भन्ने कुरा बुझ्नेनन् भने, दीक्षा दिनेहरूले समेत पनि शून्यता, प्रासङ्गिक माध्यमिक, स्वातन्त्रिक माध्यमिक, योगाचार माध्यमिक के हुन् र यी दृष्टिहरू कसरी उक्त चक्रसम्वर साधनाको सम्पन्न क्रमसँग अत्यन्त नजीकबाट सम्वन्धित छन् भन्ने कुरा बुझ्नेनन् भने, चक्रसम्वर या अन्य कुनै देवयोग जस्तैः- हेवज्र, गुह्यसमाज, कालचक्र इत्यादिको विपश्यनासँग अत्यन्त नजीकवाट सम्बन्धित चित्त-प्रकृतिलाई औंल्याउने विधि थाहा छैनन् भने, यदि आफूसँग चक्रसम्वरका अभ्यास भएकाले नै त्यो चक्रसंवर अन्य देवयोगभन्दा विशेष र श्रेष्ठतम हो भन्ने ठान्न थाले भने, यदि सवै अनुत्तर देवयोगहरू जस्तैः- चक्रसम्वर, हेवज्र, कालचक्र, वज्रभैरव, गुह्यसमाज, महामाया, योगाम्वर, बुद्धकपाल, आदिका चार मूल अभिषेकहरू हुन्छन् र तिनीहरूको अभ्यासको मूल ढाचा (सामान्य बाहिरी पक्षलाई छोडेर) ठ्याम्मै एउटै हुन्छ भन्ने बुझ्न छोडे भने, चक्रसम्वर आदिको साधना गर्न सक्ने बन्नको निमित्त सम्यग् दृष्टिलाई बुझ्नको लागि बौद्ध दर्शनको, अभिधर्म आदिको अध्ययन गर्न आवश्यक नपर्ने कुरा गर्न थाले भने, यदि हाडका माला लगाउने, चक्रसम्वर आदिको देखा लिने र टीका लगाउने, मन्त्र जप गर्ने र पूजा गर्ने नै बुद्धधर्म हो र यत्तिले पुग्छ भन्ने सोच्न थालियो र शोधनभूमि, शोधक, शोधन विधि र शोधनफलका साथै साधनाका प्रत्येक पक्षको मार्गीकरण (विपश्यनाकरण) का कुरै छुटेका छन् भने, बज्रयान भनेको केवल देखा लिने, जप, पूजा गर्ने र आफ्नो परम्परामा आएका केही गुह्य नाडी चक्रहरूको योग-जो बज्रयानको गम्भीर विपश्यनाको लागि तयारी स्वरुप गरिने बाहिरी केही अभ्यास मध्येको एक प्रणाली मात्र हो-अदि मात्र होइन भन्ने बुझ्न छोडिसकिएको छ भने, यदि उनीहरूले कुनै ईश्वर या सृष्टिकर्ता या जातपात आदिमा विश्वास राख्छन् र कुनै निश्चित जातले मात्र चक्रसम्वर पाउनुपर्छ भन्छन् भने, नीतार्थ र नेयार्थसूत्रहरूको (जस्तै गुणकारण्डब्यूहसूत्र आदिको) भेद थाहा पाउँदैनन् भने, अझ मूल चार वर्गका तन्त्र र तिनीहरूको परस्पर भेद थाहा नभएर क्रिया, चर्या, आदि तन्त्रका सिद्धान्तलाई अनुत्तर तन्त्रका विशेषतासँग भद्रगोल गराउन थाले भने, सन्ध्याभाषा र तन्त्रका षट्कोटी व्याख्याहरूको फँदटुप्पो रहेन भने, तन्त्रको अभिषेक ग्रहण गर्नुभन्दा अघि बोधिचित्त उत्पाद गर्नु र शून्यताको एवं करुणाको धेरै भावना गर्नु आवश्यक ठानिन छोड्यो भने, चित्तमा उत्पाद गर्नुपर्ने महाकरूणा एवं बोधिचित्तको अभ्यास विना नै तान्त्रिक सांकेतिक बोधिचित्तलाई सोझो अर्थमा ग्रहण गर्न थालियो भने, नाडीचक्र आदिको अभ्यास र यन्त्रयोग आदि गरे पनि र मध्यमा नाडीमा प्राणवायु आदि पठाए पनि तथाता दृष्टिलाई त्यहाँ कसरी प्रयोग गर्ने भन्ने उपदेशहरू हराएका छन् भने, तन्त्रको लोकोत्तर सिद्धिलाई वेवास्ता गरी लौकिक सिद्धिका निमित्त गरिने पुरश्चरण आदिमा मात्र महत्त्व देख्न थालियो भने अहिलेका गुरूजुहरूले कल्पना गर्नेभन्दा अवश्य पनि त्यहाँ नेवार बज्रयानले धेरै कुरा हराइसकेको लक्षण हो।

मेरो विचारमा उनीहरू तिब्बती तथा हिमाली बज्रयानप्रति वढी उदार र खुला हुनुपर्छ र लेनदेनको सम्बन्ध राख्न थाल्नुपर्छ जस्तो कि उनीहरूका पूर्वजहरूले १२/१३ औं शताव्दीसम्म गर्दै

आएका थिए। अनि मात्र उनीहरू स्वयंलाई पनि थाहा हुन र पत्ता लाग्न सक्छ कि के कुराहरू हराएका रहेछन्। परन्तु यिनै गुभाजुहरूका छोरा र नातीहरूको लक्षणको छाँटकाँट हेर्दा त धेरै कुरा नै हराइसकेको जस्तो देखिन्छ। नत्र उनीहरूका नव शिक्षित छोरा नाती र उनीहरूका दानपतिका छोरा-नातीहरू पनि किन थेरवादलाई बढी आकर्षक ठान्थे र ? जब कि अमेरिका र यूरोपका उच्च कोटीका विश्वविद्यालयका प्राध्यापक उपप्राध्यापकहरूले तिब्बती र नेपालको हिमाली भेगकाहरूले अभ्यास गरिराखेको त्यही बज्रयानलाई सबभन्दा परिष्कृत मनोवैज्ञानिक प्रणाली मान्दैछन्।

हराएको सम्भावना भएका यस्तै पक्षहरू नै बढी महत्वपूर्ण भएका हुनाले शिक्षित नेवारहरूले वज्रयानलाई विपश्यना नै नभएको यो बज्रयान साँच्चिकै बुद्धधर्म नै होइन, यसको अष्टाङ्गिक मार्गसँग कुनै सम्बन्ध नै छैन, ३७ बोधिपक्षीय धर्मका अभ्यासै छैनन् इत्यादि इत्यादि भन्ने ठान्न थालेका छन्। कोही बज्राचार्यहरूले त बज्रयानमा सुखै सुख मात्र छ दुःख नै छैन भन्ने वाहियाती प्रवचन समेत गर्न थाले भनेर केही थेरवादीहरूले आक्षेप समेत गर्न थालेका छन्। उनीहरूलाई यति पनि महसूस नभएजस्तो देखिन्छ कि सम्पूर्ण बुद्धधर्महरूको मूल शुरुआतको दृष्टिकै एक भाग दुःख हो। जहाँसम्म मार्गको कुरा छ, त्यो त थेरवादले पनि स्पष्टसँग प्रीतिप्रामोद्यको विषयमा कुरा गरेको छ। जस्तैः-

यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं।
लभती पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं॥

(धम्मपद, भिख्खुवग्गो, १५)

अर्थात् जब जब स्कन्धहरूको उदय-व्यय चिन्तन गर्न थाल्छ तब उसले प्रीति-प्रामोद्य-अमृत पाउँछ। संयुत्तनिकायमा पनि भनिएको छ, "सुखेन सुखम् अधिगन्तब्बम्" अर्थात् सुखबाटै सुखको अधिगम गर्नुपर्छ।

शिक्षित नेवारहरूले बज्रयान के हो भन्ने सन्दर्भमा किन गलत धारणा बनाएका छन् र आफ्नै अग्रजहरूको महायान/बज्रयानलाई बुझ्न असफल भएका हुन् भन्ने कुराको एउटा कारण यही हुन सक्छ। यस्तो किन भइरहेको छ भन्ने कुराको दोस्रो कारण चाहिँ यो भन्दा पनि बढी सूक्ष्म र बुझ्न जटिल छ। यो त तथ्य नै हो कि महत्तम संख्यामा नेपाली शिक्षित व्यक्तिहरूले (जसमा शिक्षित नेवार पनि पर्दछन्) र अरू शिक्षित बौद्ध जनजातिहरूले पनि क्यानडाको सास्काट्चेवान् विश्वविद्यालयको डिपार्टमेण्ट अफ फार इस्टर्न स्टडीजका हेड प्रा.डा. हर्बर्ट गुन्थरले भन्ने गरेको उक्त काण्ट-हेगेल-ब्राड्ली अभिलक्षण विकास गरेका छन्। यो १९५० सम्म पश्चिमतिर व्याप्त भएको एउटा रोग हो। परन्तु हार्ड साइन्स स्वयं र साइकोलजी एवं शिक्षा सम्बन्धी विज्ञानहरूले ठूला ठूला पाइला चालेको कारणले गर्दा धेरैजसो पश्चिमी मुलुक यसबाट अब मुक्त हुन थालिसकेको छ। तर यता पिछडिएका र अविकसित नेपालजस्ता मुलुकहरू-जो आफ्नो चौतर्फी विकासमा समयभन्दा पछाडि परेका छन्-भने अहिले त्यो भाइरसबाट भर्खर आक्रमण गरिदैछन्। यो त्यस्तो रोग हो जसले व्यक्तिलाई रेखीय पद्धतिको युक्ति/विचार/तर्क (linear logic/reasoning/thinking) को क्षेत्रमा जे आउँछ त्यो मात्रै ठीक/वैज्ञानिक/तथ्य/सत्य/वास्तविक हुन्छ भन्ने सोच्ने/अनुभव गर्ने गरी अभिसंस्कृत

(conditioned) गर्छ । जुन कुरा रेखीय तर्क (linear logic) को क्षेत्र/पकड/दृष्टिकोणभित्र पर्दैनन् अर्थात् जुन कुरालाई रेखीय तर्क या युक्तिले वुझ्न या प्रमाणित गर्न सकिदैन ती गलत या मिथ्या या झूठा या अवास्तविक हुन् अन्धविश्वास हुन्, र अशिक्षितहरूले मात्र विश्वास गरिने कुरा हुन् भन्ने ठान्न थाल्छन् ।

न्यूटोनियन साइन्सको कार्टेजन् मोडल पनि रेखीय तर्क (linear logic) मा आश्रित हुन्छ । काण्ट या हेगेल या ब्राड्लीहरूको दर्शन पनि रेखीय सोचाइमा (linear thinking) मात्र अत्यधिक आश्रित हुन्छ । त्यसैले जो व्यक्ति यस्तो धरापमा फसेर केवल रेखीय तर्कको सोचाइ या युक्तिवाट जे कुरा देखिन्छ या अनुभूति गरिन्छ या प्रमाणित हुन्छ त्यही मात्र सही, वास्तविक, वैज्ञानिक र ठीक हुन्छ भन्ने ठान्न थाल्छन्, तिनीहरूलाई काण्ट-हेगेल-ब्राड्ली सिण्ड्रमले (अर्थात् त्यो रोगले) ग्रस्त पारेको हुन्छ । नेपाली शिक्षित व्यक्तिहरूमा यस्तो लक्षण हुनु मिति पुगिसकेको अत्यधिक रेखीय (linear) शिक्षण प्रणालीमा ४/५ वर्षको उमेरदेखि लिएर २५/३० वर्षको उमेर सम्म अध्ययन गर्नाले भएको हो ।

उनीहरू यो एकपक्षीय रेखीय शिक्षा (one-sided linear education) द्वारा यसरी अभिसंस्कृत भएका हुन्छन् कि जीवनको रेखीय दृष्टि (linear view of life) सँग नमिल्ने अन्य कुनै सम्भावना, या वास्तविकता, या कुनै कुराप्रति पनि उनीहरू अन्धो जस्तै बनेका हुन्छन् । तर फसाद त के पर्‍यो भने विज्ञान स्वयंले पनि यो महसूस गरिसकेको छ कि साँच्चिको जगत्, साँच्चिको वास्तविकता, विशेष गरेर मानव मनको कार्य र धर्म एवं संस्कृति जस्ता कुरालाई रेखीय विधाको सोचाइ (linear mode of thinking) ले आत्मसात् गर्न, मूल्याङ्कन गर्न या ठीक तरीकाले बुझ्न सकिने रहेन छ ।

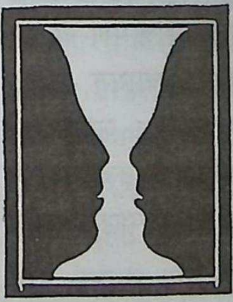

यो चित्रलाई हेरौं । रेखीय बिचारको तर्क (linear thinking logic) ले हेर्ने हो भने यो एउटा तस्वीर हो अर्थात् एउटा चित्र हो । एउटा चित्र कुनै एउटा दृश्य या वस्तुको चित्र हुन्छ । उही एउटै चित्र दुई भिन्दै वस्तुको या दृश्यको चित्र हुन सक्दैन । रेखीय विचारमा (linear thinking) यो भनाइ अत्यन्त युक्तिसंगत भनाइ हो । तर यहाँ एउटा समस्या छ जसले रेखीय विचार (linear thinking) को सीमालाई औंल्याउँछ । यदि तपाईंले राम्रोसँग हेर्नुभयो भने यो एउटै चित्र पनि दुई भिन्दा भिन्दै वस्तुको चित्र भइरहेको पाउनु हुनेछ जुन कुरा रेखीय पद्धतिको विचारमा सम्भव हुँदैन । हामी देख्न सक्छौं कि त्यो चित्र एउटा फूलदानको चित्र हो । परन्तु यो पनि उत्तिकै मान्य रूपमा देख्न सकिन्छ कि यो दुई व्यक्तिहरूले एक आपसमा हेरिरहेको चित्र हो । कसरी एउटै चित्र पनि दुई भिन्दा भिन्दै कुराको चित्र हुन सक्छ ? रेखीय हिसाबले यो तथ्य या सत्य या सम्भव छैन तापनि वास्तवमा यो तथ्य या सत्य या सम्भव हो । यो कुनै अन्धविश्वास या अवास्तविक या असत्य होइन । धेरैले यसलाई तुरून्तै एक फूलदान देख्न सक्छन् याने एउटा चित्र, तर दुई अनुहारको चित्र देख्न अप्ठ्यारो मान्छन् या यसको विपरीत पनि हुन सक्छ । के फूलदान मात्र देख्नेहरूका लागि अनुहार देख्नेहरूको देखाइ गलत अवास्तविक या झूठो भन्नु ठीक होला ? तर काण्ट-हेगेल-ब्राड्ली अभिलक्षणले संक्रमण भएका अहिलेका आधुनिक शिक्षित व्यक्तिहरूले त ठीक त्यही भन्दैछन् । उनीहरूले आफ्नो रेखीय तर्कसँग मेल नखाने या पकडमा न

आउने कुरालाई तुरुन्तै अवास्तविक, अवैज्ञानिक, असत्य इत्यादिको दर्जा दिइहाल्छन् ।

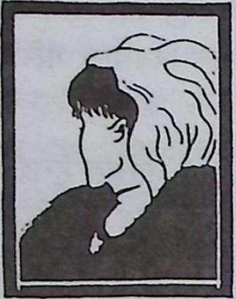

त्यस्तै यो अर्को चित्रले पनि दुई व्यक्तिको तस्वीरलाई अभिव्यक्त गरेको छ । परन्तु एकैपटक दुवै तस्वीर देखिदैनन् । यहाँ पनि आफूले कुन दृष्टिले हेरिन्छ त्यही नै सत्य लाग्छ । एक किसिमले हेर्दा यो घुम्टो ओढेर बसेकी बूढी महिलाको तस्वीर हो भने अर्को दृष्टिले हेर्दा यो एउटी केटीको तस्वीर हो जुन छेउतिरबाट देखिने रूप हो । यी दुई हेराइलाई एउटा सत्य र अर्को झूटो भन्न मिल्दैन ।

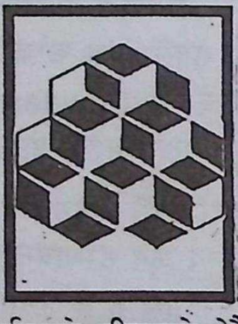

यहाँ पनि एक किसिमले हेर्दा ७ ओटा बट्टा देखिन्छन् भने अर्को किसिमले ६ ओटा पनि देखिन्छन् । वास्तवमा दुवै देखाइ नै सत्य हुन् । केवल हाम्रो हेराइ मात्र फरक हो ।

ती चित्र जस्तै हाम्रो संसार, हाम्रा अनुभूतिहरू र वास्तविकताका निकै धेरै कुराहरू रेखीय पद्धतिको तर्कभित्र आउँदैनन् । अर्को शब्दमा भन्ने हो भने वास्तविक जीवन नै अरेखीय (non-linear) हुन्छ र कृत्रिम तरीकाले नियन्त्रण गरिएको जीवनको धेरै सानो भाग मात्र साँच्चिको रेखीय दृष्टिमा मिल्न आउँछ । परन्तु अत्यधिक शिक्षित नेपालीहरू (नेवार लगायत) विचारको रेखीय पद्धतिबाट यति अन्धा भएका छन् कि आफ्नो पुरानो भइसकेको अधूरो शिक्षाबाट उत्पन्न भएको रेखीय दृष्टिभन्दा बाहिर पर्ने कुनै कुरालाई पनि देख्न या जान्न या आत्मसात् गर्न सक्दैनन् । यो सम्पूर्ण कुरालाई नेपाली भाषाको एउटै वाक्यमा भन्नुपर्दा उनीँहरूलाई आँखामा रेखीय (linear) फुलो परेको छ । यस्तो रोगबाट संक्रमण भएका प्रख्यात वौद्ध व्यक्तित्वहरूमा सबभन्दा उत्तम दृष्टान्त मध्येमा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, राइज डेविड्स्, डा. वावा साहेब आम्बेडकर आदि पर्दछन् । उहाँहरुका अनुयायीहरू नेपालमा धेरै छन् । अधिकांश भारतीयहरूले यो कुरा महसूस गर्न थालिसकेका छन् तार्पनि नेपालीहरू भने अघिपछि अरू कुरामा जस्तै यसमा पनि रोग छ भन्ने थाहा पाउन समेत समयभन्दा पछि पर्दैछन् ।

यो कुराको पृष्ठभूमिमा म अब यी तथाकथित शिक्षित बौद्धहरू (विशेषत: नेवार र अन्य शिक्षित वर्ग पनि) ले बज्रयानलाई किन अवैज्ञानिक र युक्तिहीन ठान्छन् जब कि पश्चिमी विद्वान् र प्राध्यापकहरूले फेरि त्यही बज्रयानलाई मनोवैज्ञानिकरूपमा अत्यन्त गम्भीर र दृष्टिकोणहरूमा पनि अत्यन्त गहिरो पाइरहेका छन् भन्ने कुराको अलिकति चर्चा गर्न चाहान्छु । आजको कग्निटिभ माइन्स (cognitive science) का मूर्धन्य वैज्ञानिक डा. फ्रान्सिस्को भ्यारेलाले आफ्नो "The Embodied Mind: Cognitive Science and Human Experience" भन्ने कितावमा लेख्छन् कि "विज्ञानका लागि नयाँ आविष्कारको प्राप्तिमा ढोका खोलिदिने साधनको रूपमा तिव्वती परम्पराले मन (चित्त=mind) को सवभन्दा परिष्कृत मोडेल (नमूना) उपलव्ध गराएको छ ।" यहाँ तिव्वती परम्परा भन्नाले बज्रयानलाई भनिएको हो किनभने तिव्वतको वुद्धधर्म भनेकै बज्रयान हो ।

त्यसैले यो तथ्यलाई बज्राचार्य शाक्य आदिका छोरा नातीले किन देख्दैनन् त ? एउटा सम्भाव्य कारण त मैले पहिले नै बयान गरिसकें । दोस्रो कारण नै मैले देखाउन खोज्दैछु । त्यो के हो भने मूलतः वज्रयान भनेको वास्तविकताको बौद्ध दृष्टिलाई खोलिदिने एक अरेखीय (non-linear) रूपकलाक्षणिक (metaphoric) मार्ग हो । यसले तिनै चार आर्यसत्य, ३७ वोधिपाक्षिक धर्म आदिलाई अधिगम (realise) गराउन अरेखीय (non-linear) रूपक लाक्षणिक (metaphoric) पद्धति (mode) लाई प्रयोग गर्छ । जसका आँखामा रेखीय (linear) फुलो परेको छ उनीहरूलाई यही कुरा बुझ्न धेरै गाह्रो भएको छ या अझै युक्तिहीन (illogical) लागेको छ । मूल कुरा यही हो । रेखीय (linear) तर्कभन्दा अरेखीय (non-linear) या रूपक-लाक्षणिक (metaphoric) तर्क बढी जटिल र परिष्कृत हुने भएकोले आधुनिक शिक्षा प्रणालीमा सुशिक्षित नभएका बज्राचार्यहरूले साँच्चिकै बुझेका छन् कि छैनन् भन्नेमा म अनभिज्ञ नै छु । किनकि बज्रयान भनेको तीक्ष्ण इन्द्रियवाला (having sharp intellectual faculties) हरूलाई हो जसका रेखीय (linear) र रूपकलाक्षणिक (metaphoric) दुवै प्रज्ञाहरू राम्रोसँग विकसित हुन्छन् । तर मलाई यतिसम्म पक्का छ कि राम्रोसँग शिक्षा-दीक्षा ग्रहण गरेका तिब्बती र नेपालको हिमाली भेगका गुरुहरूले यो राम्रोसँग बुझेका छन् । फेरि यसको तात्पर्य यो होइन कि सबै तिब्बती तथा हिमालीहरूले बज्रयान बुझेकै छन् !

आज धेरै पश्चिमी वैज्ञानिकहरूले mind का नयाँ क्षेत्रहरू जस्तै cognitive science आदिमा बज्रयानमा पाइने अरेखीय र रूपकलाक्षणिक अवधारणाहरूबाट धेरै कुराहरू देख्न सकेका छन् भने यता यी नवशिक्षित बज्राचार्य या शाक्यहरूले चाहिँ भद्वन्त आनन्दकौ सल्यायन, महा पं. राहुल सांकृत्यायन, डा. आम्बेडकर आदिद्वारा रेखीय ढाँचाले व्याख्या गरिएको थेरवादलाई नै पचाउन सजिलो मान्दैछन् किनकि यो त उनीहरूको कोष्ठबद्ध भएको र साँघुरो पारिएको सीमित काण्ट-हेगेल- ब्राड्ली-अभिलक्षण-दृष्टि (Kant-Hegel-Bradley-syndrome-vision) सँग मेल खान्छ । त्यसैकारणले गर्दा यी तथाकथित शिक्षित नेवारहरूले स्वयं थेरवाद परम्परामा चलिरहेको परीत्तसुत्त पाठ (परित्राण पाठ आदि) माथि पनि प्रश्न चिन्ह खडा गर्न थालेका हुन् किनकि यो त जीवनको रेखीय दृष्टि (linear vision of life) मा ठ्याक्क मिल्न आउँदैन । उता आधुनिक मनोविज्ञान र हार्ड साइन्स पनि, जस्तैः- फिजिक्स, केमेस्ट्री आदिले भने यस्तो दृष्टि सीमित हुन्छ, वास्तविकताको सबै भागलाई समेट्दैन र अत्यन्तै कृत्रिम हुन्छ याने यथार्थतासँग मिल्दैन (बौद्ध शव्दमा भन्दाखेरि 'यथाभूत' हुँदैन) भन्ने कुरा स्वीकार गरिसकेका छन् । शिक्षित नेवारहरूलाई म सचेत गराउन चाहान्छु कि विज्ञान परिवर्तनशील हुन्छ । जेलाई हिजो वैज्ञानिक भनिन्थ्यो त्यसलाई आज अपूरो मोडेल भनिन्छ, जेलाई हिजो अवैज्ञानिक भनिन्थ्यो त्यसलाई आज सबभन्दा नयाँ वैज्ञाविक आविष्कार पनि भनिन्छ । हिजो विचारको रेखीय पद्धतिलाई वैज्ञानिक मानिन्थ्यो भने आज त्यसलाई सीमित र अधूरो मानिन्छ । डा. जेरिमी डब्ल्यू हेवार्डले "Gentle Bridges" मा भनेका छन् कि "१९०० सम्म विज्ञान (science) लाई पक्का थियो कि यसको भौतिक युक्तिवाद (logical empiricism) नै दह्रो जग हो । परन्तु २५ वर्षजति पछि आएर त्यो भौतिक युक्तिवाद (logical empiricism) को जग हल्लिन थाल्यो । अनि १९३० देखि १९६० सम्म भौतिक युक्तिवाद (logical empiricism) मै

आधारित एउटा निश्चितताको नयाँ अनुभूति आयो। परन्तु १९७० पछि आएर आज भौतिक युक्तिवाद (logical empiricism) का विषयमा अब त्यस्तो निश्चितता छैन यद्यपि केही वैज्ञानिकहरू अझै पनि त्यसैलाई समातिरहेछन् ।" फ्रेडरिक सुप्पेले १९७० मा "The Structure of Scientific Theories" भन्ने विषयमा भएको एक प्रमुख गोष्ठीमा भनेका छन्, "विज्ञानको दर्शनमा आजको स्थिति अव यस्तो छः- उपलब्धदृष्टि (received view =logical empiricism) मा खडा भएको वैज्ञानिक ज्ञानको सकारात्क विश्लेषण बहिष्कृत भैसकेको छ या कम्तीमा पनि अत्यन्त शङ्कास्पद ... छ" । हिजो फ्रोइडको मनोविज्ञान नै मनको वैज्ञानिक विकास मानिन्थ्यो भने आज फ्रोइडकै क्षेत्र अर्थात् मनोविज्ञानको क्षेत्रका उनका सन्तति (चेला-प्रचेला) हरूले उनको धारणा अति रेखीय (too much linear) र अति सीमित भयो र वास्तविकतासँग पूरा मेल खाएन भन्न थालेका छन् । फ्रोइडका यस्ता छोरा, नाती मध्ये कार्ल गुस्ताव युङ्, जो फ्रोइडका सबभन्दा प्रिय शिष्य हुन्, डा. एरिक बर्न (M.D.) जसले ट्रान्ज्याक्शनल साइकोलोजीको जग बसाए, डा. फ्रेडरिक पर्ल जो जेस्टाल्ट थेरापीका जन्मदाता हुन्, आदि पर्छन् । अमेरीकामा यी दुवै पद्धतिहरू १९७० पछि विकसित भएका हुन् । मैले पाएको छु कि धेरैजसो नेपाली मनोविज्ञहरूले यी नाम समेत सुनेका छैनन् । यी पद्धतिहरूको बयान गर्न फेरि धेरै स्थान चाहिने भएकोले यहाँ सम्भव छैन तापनि यति भन्न सकिन्छ कि बज्रयानलाई युङ्गियन एनालिटिकल साइको थेरापी, ट्रान्ज्याक्सनल थेरापी र जेस्टाल्ट थेरापीको दृष्टिकोणबाट हेर्ने हो भने बज्रयानमा पाइने विधि र भावना, ध्यान आदिका साधनाहरू आफूलाई न्यूरोसिस (बौद्ध भापामा भन्दा क्लेश र तिनीहरूका हेतु) र संस्कारहरूबाट मुक्त पार्ने सबभन्दा गहिरा उपायभित्र पर्दछन् भनेर देख्न सकिन्छ ।

डा. कार्ल गुस्ताभ युङ त स्वयं फ्रोइडका चेला नै थिए र उनी भन्छन् कि तिब्बती परम्पराहरूमा प्रयोग गरिने मण्डलहरू मन (mind) लाई स्वस्थ र परिपूर्ण (integrate) गर्ने सबभन्दा गहिरा उपायहरूमध्येमा पर्दछन् । उनले पनि फ्रोइडको अत्यधिक रेखीय (excessive linear) पद्धतिलाई खण्डन गरेका छन् । त्यस्तै 'ज्याक् कर्नफिल्ड' भन्ने एकजना सुप्रसिद्ध अमेरिकी विपश्यनाचार्यका अनुसार लाओस्तिरका पहाडी क्षेत्रमा अत्यन्त उच्च तहको थेरवाद विपश्यना गर्ने साधकहरूले पनि यस्ता मण्डलहरूको प्रयोग गरेका हुन्छन् । ती आचार्यले धेरै वर्षसम्म थाई, बर्मीज र लाओसियन गुरुहरूसँग वसेर अध्ययन र अभ्यास गरेका थिए [Living Buddhist Masters].

त्यसकारण मेरो यी सबै शिक्षित बज्राचार्य, शाक्य एवं गुरुङ्, तामाङ् पुत्र-पौत्रहरूसँग के अनुरोध छ भने आफ्नो रेखीय मतिविभ्रम (linear mental hallucination) बाट ब्यूँझिनुपर्‍यो र आफ्नो दृष्टिमा परेको रेखीय फुलोबाट मुक्त हुनुपर्‍यो जसले गर्दा विलम्ब नहुँदै आफ्नो प्राचीन सम्पदाप्रति जागरूक हुन सकियोस् । यहाँनेर के कुरा स्पष्ट हुनु आवश्यक छ भने मेरो अभिप्राय थेरवाद नराम्रो या तल्लोस्तरको भन्ने नभएर आफ्नो परम्परागत त्यत्तिकै गम्भीर बज्रयानीय सम्पदाको महत्त्वलाई देख्न सक्नुपर्‍यो भन्ने हो, नत्र थेरवाद पनि आफ्नो परम्परा र संस्कृतिमा धनी नभएको होइन ।

यसवाट हामी यो प्रश्नमा आइपुग्छौं कि त्यसो भए वज्रयान के हो त ? यो प्रश्न उपयुक्त पनि छ किनकि यो पुस्तकका लेखक आचार्य शान्तिदेव स्वयं पनि वज्रयानका साधक गुरु (वज्राचार्य) हुनुहुन्थ्यो । वज्रयानलाई बुझ्न सर्वप्रथम यो बुझिराख्नु आवश्यक छ कि पहिले देखि नै १. श्रावकयान २. प्रत्येकवुद्धयान र ३. वोधिसत्त्वयानहरू थिए जुन कुराको संस्कृत आगमहरूमा र पाली त्रिपिटकहरूमा पनि स्पष्ट उल्लेख पाइन्छ । श्रावकयानलाई प्रतिनिधित्व गर्ने १८ निकायहरू पनि भएका थिए र ती सवै मूल श्रावकयानबाटै हाँगा हालेका थिए । पहिले त वुद्ध धर्म महासाङ्घिक र मूल स्थविरवादमा छुट्टियो अनि महासाङ्घिक पनि क्रमश: छुट्टिँदै धेरै बन्यो । केही विद्वान्हरूको दाबी छ कि महायान तिनीहरूबाटै पछि विकसित भएको हो, तैपनि त्यसको पूर्ण ऐतिहासिक प्रमाण भने छैन । यी केवल तर्कहरू (opinions) मात्र हुन् । परन्तु यदि हामीले महायान महासाङ्घिकबाटै विकसित भएको हो भन्ने परिकल्पनालाई स्वीकार्‍यौं भने पनि यो अशोक राजाको पालामा र तेस्रो संगायन हुनु अघिसम्म पनि थियो भन्ने देखाउने पर्याप्त प्रमाणहरू छन् । कथावत्थुमा यसलाई वेतुल्लवाद (वैतुल्यवाद) को रूपमा खण्डन गरिएको छ र आजका अधिकांश विद्वान्हरू पाली साहित्यको वेतुल्लवाद (वैतुल्यवाद) भनेको महायान नै हो भन्नेमा एकमत छन् । तिब्वती परम्परा अनुसार पूर्वशैल र अपरशैलहरूको आफ्नै प्राकृत पज्ञापारमिता सूत्र थियो (नलिनाक्ष दत्त, Buddhist Sects in India) । यो अभिलेखको खण्डन हुने अर्को ऐतिहासिक अभिलेख पनि केही पाइएको छैन । यी दुवै फेरि अशोकका पालामा तेस्रो सङ्गायन हुनुभन्दा अघि पनि थिए र विभज्यवादीहरूको कथावत्थुमा खण्डन पनि गरिएका छन् । विभज्यवादीहरू सर्वास्तिवादबाट छुट्टिएका हुन् र सर्वास्तिवादीहरू पनि तेस्रो संगायनमा स्थविर वादबाट छुट्टिएका हुन् । स्थविरवाद चाहिँ दोस्रो संगायनमा महासाङ्घिकसँग छुट्टिएको हो । माथि भनिए झैं स्थविरवादको अर्को हाँगाबाट विभज्यवादीहरू छुट्टिने बेलामा महायान या वैतुल्यवाद पहिले नै अस्तित्वमा थियो भन्नको लागि पर्याप्त प्रमाणहरू छन् । आजको थेरवाद विभज्यवादबाट विकास हुँदै आएको अहिलेको रूप हो । विभज्यवाद पहिले १. काश्यपीय २. थेरवाद र ३. महीशासकमा छुट्टियो अनि त्यही थेरवाद फेरि छुट्टिएर १. महाविहारवासी २. अभयगिरिवासी र ३. जेतवनीय भनेर तीन भागमा छुट्टियो । महाविहारवासीहरूले अभयगिरीवासीका ग्रन्थहरू सबै जलाइदिएर आफूले कब्जा जमाए । त्यसपछि आएर तिनै महाविहारवासीको परम्परा नै अहिलेको थेरवादको रूपमा आइपुगेको छ । यसको तात्पर्य यो होइन कि अहिलेको थेरवादमा पहिलेको मूल बुद्धधर्मका अभिलेखहरू नै छैनन् परन्तु यसलाई हुबहु पहिलेको मूल बुद्धधर्म र एकमात्र त्यही शुद्ध मूल वुद्धधर्म भन्नु चाहिँ उपयुक्त देखिदैंन । चिनियाँ प्रोफेसर 'यिन् शुन्' ले भन्छन् कि केही थेरवादीहरूले आफूहरूलाई त्यही मूल स्थविरवादकै हौं भनेर दावी गर्नु ऐतिहासिक शोधहरूबाट मान्य हुँदैन । (The Notion of Emptiness in Early Buddhism). आधुनिक विद्वान्हरूले कथावत्थुमा प्रस्तुत गरिएको १८ निकायहरूको तालिकालाई ऐतिहासिक रूपमा ठीक मान्दैनन् र केवल साम्प्रदायिक दृष्टि मात्र भन्छन् । त्यहाँ सबै १८ निकायहरूलाई नै मातृ थेरवादबाट हाँगा हालेको रूपमा देखाइएको छ । फेरि त्यो तालिका पनि कथावत्थुमा पछि थपिएको हो र त्यसैबेलाको होइन । अहिले एङ्लो जर्मन् विद्वानहरूले लिएको दक्षिणी बुद्धधर्म अर्थात् थेरवाद मात्र मूल वुद्धधर्म हो र अरू सबै यसवाट निस्केका शाखा-प्रशाखा मात्र हुन् भन्ने यो धारणालाई धेरै विद्वान्हरूले चुनौती दिइसकेका छन् ।

सर्वप्रथम त दक्षिणी बुद्धधर्म स्वयं पनि विभज्यवादको एउटा शाखा हो र त्यो विभज्यवाद स्वयं पनि सर्वास्तिवादवाट सँगै छुट्टिएको स्थविरवादबाट आएको शाखा हो । (यिन् शुन्, Notion of Emptiness in Early Buddhism, बापट : 2500 Years of Buddism)

दोस्रो, दक्षिणी बुद्धधर्म पनि महायान जत्तिकै मूल बुद्धधर्मबाट आएको शाखा हो । स्टानिस्लाभ शेयर (लेनिनग्राड समूह) ले आफ्नो "Pre-Canonical Buddhism" मा भन्दछन्, "अहिले हामीलाई थाहा छ कि माहायानले पछि आएर विकसित भएको अवस्थालाई प्रतिनिधित्व गर्नुपर्छ भन्ने छैन र अझ कतिपय कुरामा त यसले हिनयानले भन्दा पनि सच्चा तरीकाले पुराना तथ्यहरूलाई सुरक्षित गरिराखेको रहेछ ।" महासाङ्घिकहरू विश्वस्त थिए कि उनीहरूको निर्णय शास्ताको शिक्षा बमोजिम नै थियो र उनीहरूको दावी थियो कि थेरवादीभन्दा उनीहरू नै बढी परम्परानिष्ठ थिए । (बापट : 2500 Years of Buddhism) सुप्रसिद्ध थेरवादी भिक्षु महाथेरा संघरक्षितले भन्नुहुन्छ कि महायन परम्परा समग्रमा मूल शिक्षाहरूको अभिप्रायप्रति बढी निष्ठावान् रहेको छ । (संघरक्षित, A Survey of Buddism) डा. एडवर्ड कोन्जे (फ्रेङ्को बेल्जियम समूह) ले भन्छन् "जहाँसम्म महायानले कुनै कुराबाट केही कुरा लिएको छ भने त्यो महासङ्घिकबाटै लिएको छ । यो पनि केवल आंशिक रूपमा सत्य हो र यस्तो देखिन्छ कि महायानले कुनै सुधार गर्नुभन्दा पनि परम्परागत रूपमा स्वीकारिएरै आएका कुराहरूका केही पक्षहरूमा नयाँ किसिमले महत्व दिएको मात्र हो र त्योभन्दा बढी केही गरेको छैन" । (कोन्जे: Buddhist Thought in India) रिचार्ड रविन्सन् भन्दछन्, "थेरवादीहरूले आफूलाई वढी परम्परानिष्ठ दाबी गर्छन्, परन्तु वास्तवमा उनीहरूले मूल (primitive) शिक्षाहरूलाई उल्लेखनीय रूपमा तोडमरोड गरेका छन् …… महासाङ्घिकहरूले आफ्नो सभामा उपासक र अन्य अर्हत् नभैसकेका भिक्षुहरूलाई पनि समावेश गरेका थिए र प्रचलित धार्मिक मूल्य र मान्यताहरूप्रति सचेत भएका थिए । उनीहरू प्रगतिशील सुधारक थिए र महायानका दुई तिहाइ मूलभूत तत्त्वहरू महासाङ्घिक मूलका छन् ।…… तैपनि एक प्रकारले ती थेरवादीहरू भन्दा यिनीहरू नै मौलिक शिक्षाहरूप्रति बढी बफादार रहे । (रविन्सन् The Buddhist Religion: A Historical Introduction) तैपनि आज श्रावकयानका ती १८ निकायहरूमध्ये केवल थेरवाद मात्र अस्तित्वमा छ । यसका पालि त्रिपिटक र चिनियाँ एवं तिब्बती भाषामा पाइएका सर्वास्तिवादका आगमहरू नै उपलब्ध सबभन्दा पुराना स्रोतहरू हुन् ।

तेस्रो संगायनभन्दा अघिदेखि नै अस्तित्वमा देखा परेको वैतुल्यवाद शायद पक्कै पनि पालि त्रिपिटकमा पनि पहिले देखि नै उल्लेख गरिएको वोधिसत्वयान हुनुपर्छ । महायानलाई पछाडिको विकास भन्यौं भने पनि यो चाहिँ पक्कै भन्नुपर्ने हुन्छ कि यो महायान पहिलेदेखि नै अस्तित्वमा भइरहेको वोधिसत्वयान र वैतुल्यवादकै निरन्तरता हो । अव प्रश्न छ, यदि यो बोधिसत्वयान सर्वास्तिवाद आगम र पालि त्रिपिटकमा पहिलेदेखि नै उल्लिखित छ र वैतुल्यवाद पनि अशोकको समयभन्दा पनि अघिदेखि नै भइरहेको स्पष्ट छ भने यसका पिटकहरू के हुन् र कहाँ छन् त ? महायान पिटक भनेका यिनीहरू नै हुन् र यिनीहरूलाई नै वोधिसत्त्व पिटक पनि भन्दछन् । त्यसकारण श्रावकयान र वोधिसत्वयान पहिलेदेखि नै थिए । आजका थेरवाद र महायान भनेका ती दुई यानहरूका प्रतिनिधि

हुन् । आखिर यदि वोधिसत्वयान नहुने हो भने त वुद्ध हुने सम्भावना नै हुँदैन र श्रावक अर्हत् मात्र वाँकी रहने छन् (त्यो पनि वौद्ध शिक्षाको लोप नहोउञ्जेल सम्म मात्र) । फेरि यदि बुद्ध नहुने हो भने (वोधिसत्वयान नभएकोले) श्रावकयान पनि हुनेछैन किनकि श्रावकयान सिकाउने पनि बुद्ध नै हुन्छन् । अत: सोझो हिसावले विचार गर्दा पनि वोधिसत्त्वयान छैन र श्रावकयान मात्र बुद्धले सिकाएका हुन् भन्नु अनुपयुक्त हुन्छ । पालि त्रिपिटकमा जहाँ पनि वोधिसत्त्व र वोधिसत्त्वयान भन्ने शव्द छयाल्छयाल्ती भेटिन्छन् । जस्तै:- मज्झिम निकाय (१ १७ ६, १.१६३.९, १.११४.२४, इत्यादि), संयुत्त निकाय (२.५.८.), दीघ निकाय (महापदान सुत्त १.१३) इत्यादि । यसरी हामी देख्न सक्छौं कि वोधिसत्वयान थेरवादका पालि निकाय र सर्वास्तिवादका संस्कृत आगमहरूमा स्पष्टसँग उल्लेख भएका छन् ।

जहाँसम्म यो महायान शुद्ध बुद्ध धर्म हो कि होइन भन्ने प्रश्न छ, शास्ता स्वयंले नै शास्ताको शासन (सत्थुसासन) हो कि होइन भन्ने छुट्याउनको लागि स्पष्टरूपमा शर्त राखिदिनुभएको छ । अङ्गुत्तर निकायको विनय वग्ग ७ औं निपात र मज्झिम निकायको मज्झिम पण्णासको राजवग्गमा वोधिराजकुमार सुत्तमा उहाँले सात ओटा शर्तहरू छुट्याइदिनुभएको छ । जस्तै:- यदि कुनै धर्म १. निर्वेदको लागि छ, २. क्लेशको उपशमको लागि छ, ३. निर्वाणको गुण देखाउने छ, ४. निरोधको प्रकाश गर्ने छ, ५. विरागतिर लैजाने छ, ६. सम्बोधितिर लैजाने छ, ७. अभिज्ञाको लागि छ भने यो शास्ताको (सत्थुसासन) शासन हो भन्ने जाने हुन्छ । यस्तो कुरा आगमहरूमा पनि पाइन्छ, जस्तै:- अध्याशयसञ्चोदनासूत्रमा र महायानोत्तरतन्त्र (शास्त्र) मा दोहोऱ्याइएको वचनलाई हेर्न सकिन्छ । त्यहाँ भनिएको छ,

“यत् किञ्चित् सुभाषितं सर्वं तद्बुद्ध भाषितम् ।”
“यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः ।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ॥”

अर्थात् “जति पनि उत्तम कल्याणकारक कुरा बताइएको छ त्यो सबै बुद्धहरूद्वारा वताइएको हो ।” अनि “जो अर्थले युक्त, धर्मका पदहरूले युक्त र त्रिधातुका क्लेशहरूलाई शान्त पार्ने वचन छन्, शान्ति (निर्वाण) को प्रशंसा गर्ने याने गुण देखाउने वचनहरू छन् ती मुनिका वचन हुन्छन् भनेर वताइएको छ र त्यसको विपरीत भए भने होइनन् भन्ने जान्नुपर्छ । सम्पूर्ण महायानका शिक्षाहरू नै (यो वोधिचर्यावतार समेत) निर्वेद, उपशम, सम्बोधि, क्लेशविनाश इत्यादिका निमित्त भएको हुनाले शास्ताकै वचन अनुसार यो पनि सत्थुसासन अर्थात् शास्ताकै शासन हो ।

त्यो वोधिसत्त्वयान भनेकै यही महायान हो र यसलाई नै ‘अग्रयान’ पनि भन्दछन् । महायन स्वयंका पनि दुई वेग्लावेग्लै मार्गहरू छन् ।

१) सूत्रयान अथवा पारमितायान, जसले ३७ बोधिपाक्षिक धर्महरूको प्राप्तिका लागि अलि बढी रेखीय पद्धति (linear methodology) प्रयोग गर्ने प्रवृत्ति राख्छ । श्रावकयान अझै पारमितायानभन्दा पनि बढी रेखीय (linear) हुन्छ तर पनि यी दुवै नै अत्यधिक रेखीय कार्यप्रणाली (modus operandii) तिर बढी झुकेका हुन्छन् । तर अन्तिम लक्ष्यमा आइपुग्दा थेरवाद (श्रावकयान)

पनि 'अतक्कावचर' (अर्थात् रेखीय तर्कभन्दा पर) हुन पुग्छ भने पारमितायान पनि 'अविकल्प' अर्थात् विकल्पबाट मुक्त (non-conceptual i.e. non-linear thinking) हुनजान्छ । तैपनि श्रावकयान (थेरवाद) ले भन्दा पारमितायानले शुरूदेखि नै बढी अरेखीय विधिहरू (non-linear methods) प्रयोग गरेको हुन्छ ।

२) दोस्रो प्रकारको बोधिसत्त्वयान या महायान भनेको बज्रयान हो । बज्रयान पनि शुरुमा दह्रोसँग रेखीय विचार (linear thinking) मा आश्रित हुन्छ किनकि यसको जग भनेको पनि श्रावकयान र महायानको शून्यता दृष्टि नै हो । तैपनि यसको आफ्नो मार्गको कार्यप्रणाली (modus operandii) ले रूपकलाक्षणिक प्रतिरूप (metaphoric symbols) र अरेखीय पद्धति (non-linear mode) प्रयोग गर्नुतिर अत्यधिक झुकाव राख्दछ ।

यी रूपकलाक्षणिक प्रतिरूप (metaphoric symbols), ध्यान-भावना (visualisations) र अरेखीय पद्धतिहरू (non-linear modes) लाई रेखीय विश्लेषण (linear analysis) बाट बुझ्न गाह्रो हुने भएकोले मन्दबुद्धि भएकाहरूले सजिलैसँग गलत अर्थमा बुझ्ने सम्भावना रहन्छ । त्यही भएर बज्रयान भनेको तीक्ष्णइन्द्रिय भएकाहरूलाई हो, अर्थात् जसका रेखीय (linear) र अरेखीय (non linear) दुवै प्रज्ञा राम्रोसँग विकसित भएका हुन्छन् ती व्यक्तिहरूका लागि हो भनेर बताइएको हुन्छ । जस्तैः-

एकार्थत्वेऽप्यसम्मोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

(आचार्य त्रिपिटकमल, विनयप्रमोद तथा अद्वयवज्र संग्रह)

अर्थात् "एउटै अर्थ भएपनि मोह नभएकोले, धेरै उपायहरू भएकोले, धेरै कठीन नभएकोले र तीक्ष्ण इन्द्रिय भएकाहरूले गर्न सकिने भएकोले, मन्त्रशास्त्र (अर्थात् बज्रयान) धेरै विशिष्ट छ ।"

केवल रेखीय प्रज्ञाको मात्र विकास भएका या प्रज्ञा नै नभएका मूढहरूले या त यसलाई वुझ्दैवुझ्दैनन् या त यसलाई गलत अर्थमा बुझ्दछन् । किनकि यो त अत्यन्तै अरेखीय (non-linear) र रूपकलाक्षणिक (metaphoric) भएकोले मन्दबुद्धिवालाहरूलाई अवैज्ञानिक या नमिल्दो जस्तो लाग्छ । परन्तु आज जेस्टाल्ट थेरापी, ट्रान्ज्याक्शनल थेरापी जस्ता थुप्रै अन्य मनश्चिकित्साप्रणाली (psychotherapy) हरूले बज्रयानलाई र यसको विधिलाई वैज्ञानिक मन्यता उपलब्ध गराएका छन् । Creative Vision मा प्रो. हर्वर्ट गुन्थरले श्रावकयान अतिरेखीय, पारमितायान कम रेखीय र वज्रयान चाहिँ जीवन पद्धतिको वास्तविकताको अनुकूल अरेखीय छ भनेका छन् । बज्रयान स्वयंलाई त यो 'मान्य' छ भन्ने प्रमाणित हुन कुनै विज्ञान चाहिने होइन किनकि यसले २००० वर्षभन्दा बढी लामो समयसम्म बोध, अभिज्ञा, उपशम, निर्वेद जस्ता आफ्ना लक्ष्यहरू उत्पाद गर्न ठीक र प्रभावकारी भइरहेको छ भन्ने कुरा प्रमाणित गरिसकेको छ जसका अभिलेख भनेका नागार्जुन, शान्तिदेव, मिलारेपा, गुरू पद्मसम्भव इत्यादि इत्यादि नै हुन् । मैले यसका अभ्यासहरूलाई प्रमाणित गर्न यो तथाकथित वैज्ञानिक आधार त ती व्यक्तिहरूका निमित्त लिएको हुँ जसले रेखीय पद्धतिको चश्मालाई यसरी

आँखामा लगाएका हुन्छन् कि मानौं सुपर ग्लुले नै चिप्काएको हो। यस्ता छद्मवैज्ञानिकहरू (pseudo scientists) को दृष्टिलाई खोल्नको लागि बज्रयान के हो भनेर बुझाउन त्यसको सिद्धान्तलाई प्रमाणित गर्ने आधुनिकतम साइकोथेरापी र त्यसको पद्धतिलाई मान्य देखाउन सुत्तहरू प्रयोग गरेर पछि लेख्ने इच्छा गरेको छु (यहाँ स्थानको अभावले गर्दा)।

छोटकरीमा भन्ने हो भने बज्रयान भनेको यस्तो प्रणाली हो जसले श्रावक शीललाई आफ्नो जगको रूपमा र पारमितायानको बोधिचित्तलाई आफ्नो अध्याशय (motivation) को रूपमा प्रयोग गरी षट्पारमिता, चार ब्रम्हविहार, ३७ बोधिपक्षसँग सम्बन्धित शमथ र विपश्यना आदिलाई अत्यधिक रूपकलाक्षणिक (metaphoric) एवं अरेखीय (non–linear) पद्धतिबाट अभ्यास गर्दछ। मन्त्रयान, बज्रयान, गुह्यचयान, गुह्यमन्त्रबज्रयान, तन्त्रयान, उपाययान, फलयान, सहजयान यी सबै यसका पर्यायवाची शब्द नै हुन्। केही भारतीय लेखक जस्तैः- भट्टाचार्य, बलदेव उपाध्याय आदिले कालचक्रयान, सहजयान जस्ता शब्दद्वारा बेग्लै यानहरूको रूपमा यिनीहरूको अस्तित्व थियो भन्ने देखाउन प्रयास गरेका छन् तापनि त्यस्तो कालचक्रयान, सहजयान भन्ने खालको बेग्लै 'यान' वास्तवमा कहिल्यै पनि थिएन र छैन नै।

'कालचक्र' भनेको बज्रयानभित्र पाइने असंख्य उपायहरूमध्येको एक हो। फेरि 'मन्त्रयान' भनेर पारमितायान या श्रावकयानसँग सम्बन्धै नराखी बेग्लै स्वयंमा पूर्ण भएको 'मन्त्रयान' को उल्लेख त अहिलेसम्म कहीं पनि भेटिएको छैन। यो 'बोधिचर्यावतर' भन्ने शास्त्रका रचयिता पनि वज्रयानका साधक हुनुहुन्थ्यो र सच्चा गुह्यचयानको अभ्यासी हुनुहुन्थ्यो। बाहिरबाट उहाँले भिक्षुका प्रातिमोक्ष संवरलाई कठोर रूपमा पालना गर्नुभएको थियो अर्थात् उहाँ एक विनयधर हुनुहुन्थ्यो (आफ्नो कायको चर्या) र भित्रबाट उहाँले पारमितायानको बोधिचित्त उत्पाद गरिरहनुभएको थियो (वाक्‌को चर्या) भने गुह्यचरूपमा बज्रयानको गम्भीर शमथ-विपश्यनाको भावना गरिराख्नुहुन्थ्यो (चित्तको चर्या)। यसरी हो साँच्चिकै बज्रयानको अभ्यास गरिनुपर्ने। गुरू पद्मसम्भवले 'जोमो सुग् लेन्' (Advice to Dakini) भन्ने पुस्तकमा स्पष्टसँग बताउनुभएको छ कि "आचार (चर्या) श्रावकयानको हुनुपर्छ, विचार बोधिसत्त्वयानको हुनुपर्छ भने भावनादृष्टि (meditation-view) चाहिँ झोक्छेन् (महासन्धि) को हुनुपर्छ।" यही नै स्पष्ट संकेत हो कि जसले गुह्यमन्त्र बज्रयान (साङ् ङाक् दोर्जे थेग्पा) को नाममा जथाभावी पिउँदै हिंड्छन् तिनीहरूले गुरू पद्मसम्भवको या बज्रयानको उपदेश पालन गरिरहेका छैनन्।

यो बोधिचर्यावतार भन्ने ग्रन्थको पूरा नाम 'बोधिसत्त्वचर्यावतार' हो जसको अर्थ हो 'वोधिसत्त्वको चर्यामा प्रवेश गर्ने ढोका'। वोधिसत्त्व भनेको त्यो व्यक्ति हो जसले या त बोधिसत्त्वयानवाट दर्शनमार्गमा प्रवेश गरी प्रथम भूमिस्थ आर्य बन्नको लागि बोधिचित्त उत्पाद गरेर अभ्यास गर्दैछ या त दर्शनमार्गमा प्रविष्ट भइसकेर द्वितीय, तृतीय भूमि हुँदै दशौंभूमि सम्म पार गरी अन्तमा वुद्ध वन्न अभ्यास गर्दैछ। जसरी श्रावकयानका अभ्यासहरू सर्वप्रथम स्रोत आपन्न वनाउन र पछि क्रमशः सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत्‌का मार्ग एवं फल चित्त उत्पाद गरी अर्हत् वनाउनका लागि हुन्

त्यसै गरी महायानका अभ्यासहरू पनि मुख्यत: दर्शन मार्गमा प्रवेश गराउन र अन्तमा भूमि पार गराउँदै वुद्ध वनाउनका लागि हुन् । आचार्य चन्द्रकीर्तिले मध्यमकावतारमा लेख्नुभएको छ कि, स्रोत आपन्न श्रावक र् दर्शनमार्गमा प्रवेश गरिसकेको बोधिसत्त्व दुवैले सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा र शीलव्रतपरामर्शलाई प्रहाण गरिसकेका हुन्छन् । त्यसैगरी सकृदागामी र द्वितीय भूमिमा प्रवेश गरिसकेका बोधिसत्त्वले कामच्छन्द र प्रतिघलाई शान्त पारेका हुन्छन् । तृतीय भूमिका वोधिसत्त्व र अनागामीहरूले कामच्छन्द र प्रतिघलाई पूर्णरूपमा प्रहाण गरिसकेका हुन्छन् । आठौं भूमिस्थ बोधिसत्त्व र अर्हत्ले सवै क्लेशहरूलाई प्रहाण गरिसकेका हुन्छन् । अर्हत्का र आठौं भूमिका बोधिसत्त्वहरूका पनि वुद्धका जति अपरिमित गुणहरू हुँदैनन् । प्रथम भूमि (दर्शनमार्ग) देखि सातौं भूमिसम्मलाई अशुद्ध भूमि भन्दछन् किनकि त्यहाँसम्म क्लेश=वासनाहरू अझै बाँकी हुन्छन् । आठौंदेखि दशौं भूमिसम्म शुद्धभूमि भनिन्छ । तर त्यहाँ पनि ज्ञेयावरण त अझै बाँकी हुन्छ । दशौं भूमि नाघेपछि मात्र ज्ञेयावरण पनि काटिन्छ र बोधिसत्त्व बुद्ध बन्छ । नवौं, दशौं भूमिका बोधिसत्त्व र बुद्धहरू एक अर्हत्भन्दा सबै कुरामा माथि हुन्छन् । सूत्रयान या पारमितायानबाट बुद्ध बन्न कल्पौंको समय लाग्दछ । यो कुरा त पालि साहित्यले पनि देखाउँछ कि शाक्यमुनिलाई त्यसरी बुद्ध बन्न त्रि-असङ्ख्य कल्प लागेको थियो । वज्रयान चाहिँ धेरै छिटो तरीका मानिन्छ किनकि यसबाट सम्भोगकायको विकास चाँडै नै गर्न सकिन्छ जसको कारण यिनै अरेखीय (non-linear) र रूपकलाक्षणिक (metaphoric) ध्यान् र भावनाहरू (visualisations) हुन् । बज्रयानद्वारा एकै जन्ममा पनि बुद्ध बन्न त सकिन्छ परन्तु त्यो चाहिँ चित्तबुद्ध मात्र हुन्छ । त्यसको तात्पर्य हुन्छ ३२ लक्षण र ८० अनुव्यञ्जनहरूले युक्त रूपकाय प्राप्त हुन अझै बाँकी रहन्छ जसपछि मात्र पूर्ण तथागत भइन्छ र त्यसको लागि पनि धेरै समय लाग्छ । तान्त्रिक ग्रन्थहरूमा जब कुनै व्यक्ति (जस्तैः- 'मिलारेपा' आदि) ले बुद्धता प्राप्त गरे (या गर्छन्) भन्ने पाइन्छ त्यसको अभिप्राय त्यही 'चित्तबुद्ध' हो अर्थात् धर्मकाय र सम्भोगकाय पूर्ण बुद्धताको अवस्थाकै भइसके परन्तु निर्माणकाय् चाहिँ अझै भएको छैन भन्ने बुझिन्छ । निर्माणकायको विकास पनि सूत्रयानबाट भन्दा तन्त्रयानबाट चाँडै हुन्छ किनकि असंख्य निर्माणकायहरू पठाउने र पुण्यसम्भार पूरा गर्ने क्षमताको विकास यसमा धेरै भैसकेको हुन्छ । यही नै तन्त्रयानको विशेषता हो ।

अत: बोधिसत्त्व भनेको संक्षेपमा त्यो हो । अनि 'चर्या' भनेका उसको अभ्यास या उसले के गर्नुपर्छ र के गर्छ भन्ने कुरा हुन् । त्यसैले यो पुस्तकको शीर्षक स्वयंले नै के देखाउँछ भने यो त एउटा प्रवेश या मुख या चर्या कसरी शुरूआत गर्ने भन्ने कुरा मात्र हो । त्यसकारण यो बोधिसत्त्वमार्गको उच्चतहलाई विस्तृत रूपमा विवेचना र निरूपण गर्ने ग्रन्थ पनि होइन । तैपनि यसमा सारत: शुरूदेखि अन्त्यसम्मका सबै कुरा समाविष्ट छन् । त्यसैले यो ग्रन्थ शुरुका साधकहरूलाई आफ्नो मार्गको अभ्यासको मोटामोटी क्रम बुझ्न अत्यन्त उपयोगी हुन्छ भने उच्चतहका साधकहरूलाई पनि आफ्नो मार्गको पुनरावलोकन गरिरहन, मार्गबाट विचलित नहुने प्रेरणा पाइरहन र चित्तका दुवै आवरणहरूलाई पखालिरहन अति उपयोगी हुन्छ । तात्पर्य के भने यो विसुद्धिमग्ग जस्तो मार्गका प्रत्येक क्रमहरूलाई केलाएर दिइएको विस्तृत व्याख्या होइन र लेखक स्वयंले पनि 'समासात्' भनेर अति छोटकरीमा वताउँदै छु भन्ने प्रतिज्ञा गर्नुभएको छ । ती विस्तृत क्रमहरू यहाँ पुस्तकमा

पढ्नुभन्दा गुरूमुखबाट सीधै सुनेर अभ्यास गर्ने गरिन्छ। श्रावक थेरवादमा पनि विसुद्धिमग्गले सच्चा कल्याणमित्रको प्रतिस्थापन (substitute) त गर्न सक्दैन।

यहाँ एउटा प्रश्न उठ्न सक्छ, यदि पूर्वजन्मको बोधिसत्त्वले सत्तविसुद्धि (सप्त विशुद्धि) क्रम अर्थात् श्रावकयानका अभ्यास गऱ्यो भने के हुन्छ ? श्रीलङ्काका शमथ-विपश्यनाका प्रसिद्ध आचार्य (आरण्यक परम्पराका) श्रद्धेय मातर श्री ञाणाराम महाथेराले आफ्नो पुस्तक "The Path of Purification" मा स्पष्ट पार्नुभएको छ कि त्यस्तो व्यक्ति 'संखार उपेक्खा ञाण' भन्दा माथि जान सक्दैन र जाँदैन पनि। उसले जतिसुकै परिश्रम गरे पनि 'अनुलोम ञाण' उत्पन्न हुन सक्दैन र स्रोत आपन्न हुँदैन। त्यसबेलासम्म ऊ स्वयंलाई नै थाहा हुन्छ कि ऊ बोधिसत्त्व मार्गको हो र स्रोत आपन्न भई अर्हत् मार्ग अपनाउने वाला होइन। अनि महाथेराले अझै भन्नुभएको छ कि उसले त्यसपछि पारमीहरूको अभ्यास गर्न थाल्नुपर्छ। मातरश्रीलाई महायान शिक्षाहरूको विस्तृत रूपमा जानकारी थिएन तापनि उहाँले अप्रत्यक्ष रूपमा पाली विपश्यना परम्पराभित्रबाटै एउटा यस्तो प्रमाण उपलव्ध गराइदिनुभएको छ जसले के प्रमाणित गर्छ भने यदि कसैले बोधिचित्त उत्पाद गरिसकेको छ भने उसको गोत्र नै बदलिएको हुन्छ र उसले श्रावक विपश्यना अभ्यास गरे पनि ऊ अर्हत् बन्दैन र अझ स्रोत आपन्न पनि हुँदैन। वास्तवमा उहाँले व्यावहारिक अनुभवबाटै पनि बोधिचित्त उत्पाद गरेपछि गोत्र नै बदलिन्छ भन्ने महायानको सिद्धान्तलाई अप्रत्यक्ष रूपमा समर्थन गर्नुभएको छ। त्यही भएर बोधिसत्त्वमार्ग बोधिचित्तोत्पादबाट शुरु हुन्छ। कोही थेरवादीले त्यो कुरालाई स्वीकार नगर्न सक्छन् परन्तु झन् त्यसबाट एउटा गम्भीर प्रश्न उठ्छ कि अहिले कलियुगका व्यक्तिले सामान्य विपश्यनाचार्यहरूसँग सिकेर पनि स्रोत आपन्न हुन सक्ने, परन्तु सिद्धिऋद्धिले सम्पन्न भैसकेका ऋषि सुमेधले (शाक्यमुनिले) पहिले स्वयं दीपङ्करजस्ता तथागतहरूसँग सिक्दा पनि त्रि-असंख्य कल्पपछि आएर मात्र स्रोत आपन्न हुने किन भयो त ? यसैबाट देखिन्छ कि शाक्यमुनिले अपनाएको मार्ग वेग्लै थियो।

यो पुस्तकका दश परिच्छेदहरू छन् जसले बोधिसत्त्वमार्गका तीन पक्षहरूलाई बयान गर्दछन् १. बोधिचित्तोत्पाद, २. बोधिसत्त्व मार्गको साधना चर्या ३. परिणामना जुन चाहिँ बोधिसत्त्वमार्ग क्रमको अविभाज्य र अभिन्न (integral) पक्ष हो।

प्रथम परिच्छेदमा बोधिचित्तको अनुशंसा अर्थात् महत्व, गुण, विशेषता आदि वताइएको छ जसवाट भर्खर शुरु गर्ने आदिकर्मिक (beginner) ले ती महत्व र गुण वुझोस् अनि मार्गमा प्रवेश गर्ने तीव्र इच्छा उत्पन्न गरोस्। बोधिचित्तोत्पाद भनेको "सबै प्राणीहरूलाई उद्धार गर्नको लागि वुद्ध वन्नेछु" भन्ने अत्यन्त बलियो चेतना उत्पन्न गर्नु हो। यो पालि साहित्यवाट वाहिरको कुरा होइन किनकि त्यहाँ कुनै न कुनै रूपबाट यो बताइएकै छ। जस्तै "चरथ भिक्खवे चारिकं वहुजनहिताय वहुजनसुखाय …… तथागतो उप्पज्जति …… सप्पुरिसो जायति ……" इत्यादि कुरा १) चुल्ल वग्ग १७१, २) दीघनिकाय ३-१६९-१७० र २.१७०, ३) मज्झिम निकाय २३, ४) संयुत्त निकाय १.१०५, ५) अङ्गुत्तर निकाय १.२२ र ३.३४३, ६) इतिवुत्तक १९१ आदिमा पाइन्छ। तर पनि यही

आशयलाई वढाउँदै विकसित पार्ने अभ्यासहरू पालि साहित्यमा त्यति धेरै पाइँदैनन् । जस्तो कि चार व्रम्हविहारको पाइन्छ । अर्हत् हुनको लागि यो चेतनाको त्यति बलियोसँग विकास गर्नैपर्छ भन्ने आवश्यकता हुँदैन यद्यपि एक अर्हत् पनि स्वाभाविक रूपमै मैत्री, करुणा आदिले युक्त र सहयोगी नै हुन्छ । परन्तु वोधिसत्त्वको लागि भने गोत्र बदल्नु पर्नेभएकाले त्यो चाहिन्छ नत्र भने ऊ दर्शनमार्गमा पस्न सक्दैन, स्रोत आपन्न बन्न पुग्छ । गोत्र बदल्नु भनेको नै पूर्णरूपमा मानसिक प्रवृत्ति नै बदल्नु हो अर्थात् वोधिचित्तसँग सम्बन्धित अभिवृत्ति (attitude) का सन्दर्भमा वलियो चेतना उत्पन्न गर्नु हो । यो चाहिँ कामगोत्र र महद्गत गोत्रभन्दा बढी लोकोत्तरजस्तै हो तर पनि दर्शनमार्गमा नपुग्दासम्म साँच्चिकै लोकोत्तर भने होइन । वास्तवमा त्यस्तो बलियो चेतना उत्पन्न गर्नु नै वोधिचित्तोत्पाद हो जुन गोत्र बदल्नु नै हो, जसको कारणले गर्दा श्रावक मार्गको अभ्यास गरे पनि ऊ स्रोत आपन्न हुन सक्दैन, जस्तो कि थेरवादका महान् विपश्यना गुरू मातरश्रीले पनि आफ्नो व्यावहारिक अनुभवबाट थाहा पाउनुभयो । तर पनि व्यक्तिले आफूले केही गर्नुभन्दा अघि त्यसको महत्त्व, मूल्य आदि बुझिराख्नुपर्ने हुन्छ । त्यही भएर शान्तिदेवले पहिलो परिच्छेदमा नै बोधिचित्तानुशंसाबाट शुरु गर्नुहुन्छ । जब बोधिचित्तोत्पादको महत्त्व बुझिन्छ तब आफ्ना पहिले गरेका अकुशलहरूबाट चित्तलाई मुक्त गराउन पापको प्रायश्चित्त गर्नुपर्ने हुन्छ जुन पाप देशना हो र दोस्रो परिच्छेदमा छ । वोधिचित्तोत्पाद गर्नुभन्दा अगाडिको चरण नै यही हो । जबसम्म कुशल, अकुशल, शील इत्यादिको विपयमा आफूलाई स्पष्ट हुँदैन र अकुशल भनेको त्यागनै पर्ने कुरा हो भन्ने ज्ञान हुँदैन तबसम्म त्यो वोधिचित्त भन्ने चेतना उत्पन्न गर्नुको कुनै औचित्य या कारण नै रहँदैन । आधुनिक मनोविज्ञान अनुसार पनि आफ्ना खराब आदत, न्यूरोसिस आदिबाट मुक्त हुनको लागि तिनीहरूलाई अचेतनबाट चेतनामा ल्याई पूरापूर होश सहित स्वीकार्नुपर्छ । त्यसैले पापदेशना पनि बोधिसत्त्व मार्गमा हिंड्न शरु गर्नुअघि आवश्यक पर्ने कुरा हो । पापदेशना साँच्चिकै हुनको लागि आफूले गरेका सबै अकुशलहरू अकुशल नै हुन् भन्ने रूपमा महसूस गर्नुपर्छ र प्रायश्चित्त गर्नुपर्छ अर्थात् यो गलत नै रहेछ, अकुशल नै रहेछ भन्ने महसूस हुनु र होश सहित स्वीकार्नुपर्छ । यो र होशसहितको स्वीकार विना त आधुनिक मनोविज्ञान अनुसार पनि तिनीहरूबाट हामी मुक्त हुन सक्दैनौं किनकि तिनीहरू हाम्रो अचेतन (unconscious) मा घुसेर बसिराखेका हुन्छन् र चित्तलाई प्रभाव पारिराख्छन् ।

चित्तले आफ्ना पहिलेका अकुशलप्रति सचेत भई ती गलत नै रहेछन् भन्ने कुरा पूर्णरूपमा होशसहित महसूस गरेपछि तिनीहरूको प्रभावबाट चित्तलाई मुक्त पार्ने चाहना गर्दै (यसैलाई पाप देशना भन्छन्) वोधिचित्त कसरी ग्रहण गर्ने भन्ने विषयमा जान्नु आवश्यक हुन्छ । यही नै छोटकरीमा तेस्रो परिच्छेदमा वोधिचित्त परिग्रह भनेर दिइएको छ । यो बोधिसत्त्व सम्वरलाई ग्रहण गर्ने औपचारिक विधि हो र यसमा शरणगमन र पञ्चशील आदि स्वत: अन्तर्निहित हुन्छन् ।

तर तिनीहरूको विषयमा यहाँ त्यति विस्तारमा चर्चा गरिएको छैन । यी पहिला तीन परिच्छेदहरूले वोधिचित्तको उत्पाद गर्ने विषयमा बताएका छन् जुन पहिलो चरण हो । दोस्रो चरण चाहिं त्यसलाई चर्यामा उतार्ने या आचरणमा ल्याउने या साधन गर्ने या अभ्यास गर्ने हो र यसको

विषयमा त्यसपछिका ६ परिच्छेदमा बयान गरिएको छ जसमा षट्पारमिताहरूको कुरा आउँछ र त्यही नै बोधिसत्त्वको चर्या हो। पहिलेका दुई पारमिताहरूको (दान र शील) बेग्लै बयान दिइएको छैन किनकि पूरै बुद्धधर्मका ती अत्यन्त आधारभूत कुराहरू हुन् जसमा बोधिसत्त्वमार्ग मात्र बिटुलो (exception) बन्न सक्दैन । त्यसको सट्टा चौथो परिच्छेदमा 'अप्रमाद' र पाँचौं परिच्छेदमा 'सम्प्रजन्यरक्षण' को विषयमा बयान गरिएको छ। अप्रमाद र सम्प्रजन्यको परिभाषाले नै जनाउँछ कि यो त कुशलको रक्षा गर्ने र अकुशल उत्पन्न हुन नदिने अभ्यास हो, जुन शीलकै व्यावहारिक पक्ष हो। यिनीहरूको अभ्यासबाटै शीलको रक्षा र वृद्धि हुन्छ।

"कुशलानां धर्माणां प्रतिलम्भनिषेवणं अप्रमादः (कुशल धर्महरूको प्राप्तिका पछिलाग्नु नै अप्रमाद हो।) अङ्गुत्तर निकायमा यसलाई इन्द्रियगुप्ति भनिएको छ।

अनि क्षान्ति पारमिता, वीर्य पारमिता, ध्यान पारमिता र प्रज्ञा पारमितालाई एक एक परिच्छेद लगाएर बयान गरिएको छ। दानपारमिताको विषयमा भने पाँचौं परिच्छेदको दशौं श्लोकमा पराभाषा दिनुभएको छ र बुद्धधर्ममा यसको स्वतः नै महत्व स्पष्ट भइराखेकोले विस्तारमा चर्चा गर्नुभएको छैन। तैपनि ठाउँ ठाउँमा दानको प्रक्रिया, क्रम आदिको प्रसङ्ग अनुसार उल्लेख भएको छ। महायानमा पुण्यपरिणा पनि महत्वपूर्ण दान हो र दशौं परिच्छेदमा त्यो गरिएको छ। यहाँ ध्यान पारमिता भनेर शमथलाई नै भनिएको हो र शमथका कर्मस्थानहरू (आलम्बन) मा बोधिसत्त्वले अभ्यास गर्ने आलम्बन प्रचलित ४० कर्मस्थानभन्दा पनि 'परात्मसमता' र 'परात्मपरिवर्तन' भावनालाई नै बताइएको हुन्छ। यो चार ब्रम्हविहार भावनाजस्तै खालको शमथको विधि हो तापनि चार ब्रम्हविहार र यी (परात्मसमता र परात्मपरिवर्तन) भूमि, मार्ग र फलका आधारमा अलि भिन्दै खालका ध्यानविधिहरू हुन्। यिनीहरूको भावना गर्ने तरिका यहाँ त्यति विस्तारमा बयान गरिएको छैन। केवल त्यो विशेष कर्मस्थानलाई कसरी बनाउने भन्ने कुरा संक्षेपमा मात्र दिइएको छ। विस्तारमा शमथका तहहरूको व्याख्या गरिएको छैन र त्यो परम्पराका गुरूहरूबाट सिकेर अभ्यास गर्ने चलन छ।

नवौं परिच्छेद प्रज्ञापारमिता यो शास्त्रको सबभन्दा गहिरो अध्याय हो। यसमा महायान विपश्यनामा प्रयोग गरिने सम्यग्दृष्टिको बयान छ। तैपनि त्यो दृष्टिलाई कसरी विपश्यनामा प्रयोग गर्ने भन्ने उपदेशहरू त्यहाँ त्यति छैनन्। छोटकरीमा चार स्मृत्युपस्थान (सतिपट्ठान जस्तै) हरू (कायस्मृत्युपस्थान, वेदनास्मृत्युपस्थान, चित्तस्मृत्युपस्थान र धर्मस्मृत्युपस्थान) को विषयमा पनि बताइएको छ र बाँकी प्रसङ्गहरू मिथ्या दृष्टिको शास्त्रीय खण्डनको रूपमा आएका छन्। तरपनि जसले केवल पालि (थेरवाद) को विपश्यना शैलीलाई मात्र बुझेका छन् उनीहरूले यहाँको विपश्यनालाई सजिलोसँग बुझ्न सक्दैनन्। त्यही भएर मैले अलिकति यी पाली विपश्यनाशैली र महायान विपश्यनाशैलीको विषयमा प्रकाश पार्न चाहान्छु। स्थानको अभावले गर्दा यहाँ यी विपश्यनाहरूको परिभाषा दिन गइरहेको छैन। त्यसलाई भर्खरै नेपालीभाषामा प्रकाशित सुहृल्लेखको फेनपिण्डोपमा टीकामा हेर्न अनुरोध गर्दछु। दुवै परम्पराले विपश्यना भनेको 'यथाभूत देख्नु' लाई मान्दछन्।

पालि संयुत्त निकायको १२.७० र संस्कृत संयुक्तागम-३४७ मा विपश्यनाको अभिसमय क्रम वयान गरिएको छ । "पुब्बे खो सुसिम, धम्मत्थितिञाणं पच्छा निब्बाने" अर्थात् पहिले धर्मस्थिति ज्ञान हुन्छ अनि निर्वाणज्ञान हुन्छ । दुबैमा बताइएको छ कि जसले धम्मत्थितिञाण (धर्मस्थितिज्ञान) प्राप्त गर्छ ऊ पञ्ञा विमुत्त (प्रज्ञाविमुक्त) हुन्छ र जसले निब्बानञाण (निर्वाणज्ञान) प्राप्त गर्छ ऊ उभतोभार्गविमुत्त (उभयतोभागविमुक्त) हुन्छ ।

अव धम्मत्थितिञाण (धर्मस्थितिज्ञान) भनेको के हो ? यसको अर्थ हो धर्महरूको स्थिति कस्तो छ या धर्महरूको अस्तित्त्वप्रकार कस्तो छ भन्ने कुराको ठीक ठीक ज्ञान । 'स्थिति' भनेको अस्तित्त्वको विधा (mode of existance) हो । त्यसकारण पालि संयुत्तनिकाय र संस्कृत संयुक्तागम दुबैका अनुसार विपश्यनाको पहिलो चरण भनेको धर्महरूको स्थितिको ज्ञान गर्नु हो । यो पालि त्रिपिटकसँग कुनै प्रकारले पनि विरूद्ध छैन । अब पालि निकायमा र संस्कृत आगमहरूमा पनि यो धर्मस्थितिको ज्ञान गर्ने दुई किसिमका मार्गहरू पाइन्छन् ।

१) धर्महरूलाई अनित्य-दु:ख-अनात्म प्रकारले देख्नु, जुन पालि साहित्य र पालि संस्कृतिमा वढी जोड दिइएको तरीका हो । धेरैजसो मानिसहरूले विपश्यना यतिमात्र हो भन्ने ठान्छन् ।

२) अनित्य-दु:ख-शून्य-अनात्म प्रकारले देख्नु र यो पनि निकायहरूमा स्पष्टसँग पाइन्छ । सं.नि. २२.१२२ र सं.आ- २५९ मा स्पष्टसँग भनिएको छ कि स्कन्धहरूलाई अनित्यत:- दु:खत:- शून्यत:-अनात्मत: (अनिच्चतो-दुक्खतो-सुञ्ञतो-अनत्ततो) देख्नुपर्छ । यहाँ प्रयोग गरिएको (पालि संयुत्तनिकाय २२.१२२ मा) नयाँ शब्द हो "शून्यत: (सुञ्ञतो)" । यो शून्यता स्वयंलाई पनि दुवै पालि निकायमा र संस्कृत आगममा दुई भिन्दै तरीकावाट परिभाषित गरिएको छ ।

   १) शून्यताको एउटा अर्थ अनात्म-अनात्मीय भन्ने हो । यही अर्थ पालि साहित्यमा र व्याख्याप्रणाली (hermeneutics) मा बढी प्रसिद्ध छ ।

   २) परन्तु पालि निकायमै पनि हामीले शून्यता (सुञ्ञताको) अर्को अर्थ पाउँछौं । त्यो अर्थ अनुसार शून्यता भन्नाले 'न सत् (existing) न असत् (non-existing)' भन्ने बुझिन्छ ।

संयुत्तनिकाय (१२.१५, छन्न सुत्त) मा हामी पाउँछौं कि शास्ताले कच्चायन (कात्यायन) लाई 'तथागतले दुई अन्तहरूबाट मुक्त रहेको धर्म सिकाउनु हुन्छ' भन्नुभएको छ । (उभो अन्ते अनुप्पगम्म) र यही नै सम्यग् दृष्टि हो (विपश्यनाका सन्दर्भमा) । दुई अन्तहरू के के हुन् त ? त्यही सुत्तमा तथागतले अत्यन्त राम्रोसँग स्पष्ट पार्नुभएको छ, "सब्बं अत्थिति एको अन्तो, सब्बं नत्थीती दुतियो अन्तो ।" अर्थात् सबै छ (exists= सत्) ठान्नु एउटा अन्त हो भने सबै छैन (does not exist= असत्) भन्ने देख्नु अर्को अन्त हो । त्यही सूत्र संस्कृत संयुक्तागम ३०१ मा पनि छ । प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्महरूको यो धर्मस्थितिको विपश्यनाको मतलब मध्यम (मज्झिम) मा पकड गर्नु या ग्राह गर्नु भन्ने पनि होइन भने कुन चाहिं अन्त्य ठीक होला भनेर अनिश्चित नै रहनु पनि होइन । यो त आत्मभावमा आश्रित दुवै अन्त्यवाट मुक्त अर्थात् दुवै अन्त्यले शून्य भन्ने मात्र हो । त्यसकारण स्पष्ट छ कि आत्मभावलाई प्रहाण गरी निर्वाणतिर लैजाने दुई तरीका छन् । त्यसमध्ये १. पहिलो तरीकाले

अनित्यमा जोड गरेर (केन्द्रित भएर) धर्मस्थितिलाई देख्न आत्मभावलाई प्रहाण गर्छ। (अनित्य-दुःख-अनात्म तिलक्खण विधि) २. दोस्रोले सोझै धर्महरूको स्वभाव अर्थात् धर्मस्थितिलाई न सत् (existing) न असत् (non-existing) रूपमा हेर्नमा जोड गर्छ, जसबाट सबै धर्महरूको अनात्मता (नैरात्म्य) लाई (सब्बे धम्मा अनत्ता) सोझै देखिन्छ। पहिलो तरीकाजत्तिकै दोस्रो तरीका पनि सम्यग्दृष्टि र धर्मस्थिति नै हो भन्ने कुरा त सं.नि. २२.१२२ र सं.आ. ३०१ ले स्पष्ट देखाएको छ।

तर पालि साहित्यमा अरू सुत्तहरू पनि छन् जसले के देखाउँछ भने यो मध्यमा प्रतिपदा या मध्यम मार्ग (मज्झिमा पटिपदा) बुद्ध स्वयंले नै जमानत बसी धर्मस्थितिको रूपमा र निर्वाणाभिमुख विपश्यनाको पहिलो चरण हो भनेर स्वीकार्नुभएको छ। संयुत्तनिकायको पुप्फवग्गको फेनपिण्डोपम सुत्तमा भनिएको छ,

फेनपिण्डूपमं रूपं, वेदना बुब्बुलूपमा।
मरीचिकूपमा सञ्ञा सङ्खारा कदलूपमा
मायूपमञ्च विञ्ञाणं देसिता दिच्चबन्धुना॥

अर्थात् रूप फिँजको डल्लो जस्तो हो, वेदना पानीको फोका जस्तो हो, संज्ञा चाहिँ मृगतृष्णा जस्तो हो भने संस्कारहरू केराका खम्बा जस्ता हुन्। विज्ञान त माया समानको हो भनेर आदित्यवन्धु (बुद्ध) ले प्रकाश पार्नुभएको छ। यो नै न सत् (existing) न असत् (non-existing) लाई व्यक्त गर्ने अर्को तरीका हो र महायान माध्यमिक दर्शनमा धर्मस्थितिलाई बयान गर्न यी दुवै तरीकाहरू प्रयोग गरिएका छन्।

डा. चुङ् मुन् कीट भन्दछन्, "प्राचीन बौद्ध ग्रन्थहरूले शून्यता (अनात्म र निर्वाणको पर्यायवाची शब्द) लाई जनाउन दुई प्रमुख तरीकाहरूको उल्लेख गरेका छन्। पहिलो हो धर्महरूको स्वभावलाई (धर्मस्थिति) अनित्य रूपमा हेर्नु (विपश्यना) र दोस्रो हो धर्महरूको स्वाभाविक स्थिति (धर्मस्थिति) लाई मध्यम मार्गको रूपमा (दुई अन्त्यदृष्टिहरूबाट शून्य रूपमा) हेर्नु (विपश्यना)। शून्यता या अनात्माको ज्ञानतिर लैजाने र निर्वाण प्राप्त गराउने यी दुई तरीकाहरूलाई सम्यग् दृष्टि र पञ्ञा (प्रज्ञा) को विकास भनेर जानिन्छ। 'अनित्य' र 'मध्यमा प्रतिपद्' दुवै नै प्रतीत्यसमुत्पादको मूल उपदेशमा आश्रित छन्। ...... यसरी प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यतासँग सम्बन्धित छ (सुञ्ञतापटिसंयुत्ता) ...... बुद्धले मुक्तिको लागि आधारभूत रूपमा विपश्यना र सम्यग्दृष्टिको उपदेश गर्नु त्यसबेलाका कुनै पनि अन्य ध्यान परम्पराहरूसँग मेल नखाने अद्वितीय शिक्षा हो।" [The Notion of Emptiness in Early Buddhism]

शास्ताले 'शून्यता' या 'मध्यमा प्रतिपद्' भनेर स्पष्टसँग बताउनुभएको भेटिने अन्य पालि सुत्तहरूमध्ये केही यी हुन्- १. सुत्तनिपात परायण वग्ग, तिस्समेत्तेयमाणवकपुच्छा सुत्त, जातुक्कणि माणवक पुच्छा सुत्त, मोघराजमाणवक पुच्छा सुत्त इत्यादि, जहाँ जगत्मा शून्यताको भावना गर भनेर सिकाइएको छ। जगत् भनेको पञ्चस्कन्ध पनि हो या त्यसमा पञ्च स्कन्ध पर्छ। अङ्गुत्तर निकायको छैठौं निपातको महावग्गमा भनिएको छ,

"यो उभोन्ते विदित्वा न मज्झेमन्ता न लिप्पति ।
तं ब्रूमि महापुरिसोति सोध सिब्बिनिमच्चगाति ॥

अर्थात् 'जसले दुवै अन्तहरूलाई जानेर मध्यमा अर्थात् मध्य-अन्तमा पनि टाँसिदैन त्यसलाई महापुरूष भन्दछु र त्यो यहाँ तृष्णाबाट पार भएको हुन्छ । यो श्लोक सुत्तनिपातको तिस्स मेत्तेय माणवकपुच्छा सुत्त (परायण वग्ग) मा पनि छ । यो कुन तात्पर्यले तथागतले भन्नुभएको थियो भनेर फेरी प्रश्न उठ्दा त्यतिखेर अन्य छ जना भिक्षुहरूले बेग्ला बेग्लै तात्पर्य दिएका थिए र तथागतसँगै सोध्दा ती मध्ये एकजनाकोसँग तथागतले मेत्तेयलाई भन्नुको अभिप्राय मिलेको थियो तापनि तथागतले अरू पाँचैजनाको भनाइलाई पनि स्वीकार्नु भएको थियो जसबाट स्पष्ट हुन्छ कि यसको अर्थ माध्यमिकले दिने अर्थको रूपमा स्वीकार्दा पनि सम्यग् दृष्टिसँग विरोध हुँदैन र तथागतले नस्वीकार्ने अर्थ हुँदैन । त्यस्तै अङ्गुत्तरनिकायको चतुर्थ निपातको सञ्चेतनावग्गमा भनिएको छ, "छ ओटै स्पर्शायतनहरूको निरोध भएपछि त्यहाँ केही 'छ' भन्नु या 'छैन' भन्नु या 'छ छैन दुवै' भन्नु या 'छ-छैन दुवै होइन' भन्नु गलत हुन्छ ।" संयुत्त निकायको लोकायतिक सुत्त निदान वग्गमा शास्ताले भन्नुभएको छ कि 'छ' (सत्) र 'छैन' (असत्) दुवै नै गलत हुन् ।

यो पृष्ठभूमिमा अब मैले आजभोलि नेपालमा अत्यधिक प्रचलित विपश्यनाका सन्दर्भमा देखिएका केही मूल मामलालाई स्पष्ट पार्न खोज्दैछु । धेरैजसो व्यक्तिले सोच्दछन् कि केवल थेरवादमा मात्र विपश्यना छ र त्यसमा पनि धर्मस्थितिलाई अनित्य-दु:ख-अनात्मको रूपमा देख्ने तरीका मात्र सच्चा विपश्यना हो । नेपालमा प्रचलित विपश्यना अभ्यास गर्ने केही व्यक्तिहरू त झन् अन्योलमा परेका छन् र ठान्छन् कि केवल वेदनाको प्रवाहलाई हेरिरहनु र त्यसबाट बेला बेलामा उत्पन्न हुने सुखको अनुभूतिमा रमाएर बसिरहनु नै विपश्यना हो । यही गलत बुझाइ र विपश्यनाको नाममा गरिएको गलत अभ्यासको कारणले नै त्यस्ता व्यक्तिहरूको चित्त खुला र उदार हुनुको बदला झन् सङ्कुचित (narrow and limited) र झन् बन्धनमा फसेको देखिन्छ । उनीहरूको आसक्ति र आग्रह यति कडा हुँदै गएको हुन्छ कि चित्तले भित्र हेर्ने बानी बढ्नुको बदला बाहिर बढी हेर्ने, त्यसमा पनि गुण हेर्नुको वदला दोष बढी हेर्ने, सामान्यरूपमा चारै सम्प्रजन्यहरू बढ्नुको बदला सप्रायसम्प्रजन्य समेत बिग्रिँदै गएको देखिन्छ । अझ कांही त ध्यानको अनुभूतिमा यति नराम्रोसँग टाँसिएको पाइन्छ कि कुनै दिन त्यो अनुभूति भएन भने चित्तमा कहिल्यै नआएको अशान्ति र बेचैनी स्वत: आउन थाल्छ । सच्चा विपश्यनाको परिणाम यस्तो हुँदैन ।

माथि राम्रोसँग केलाइसकियो कि अनित्य-दु:ख-अनात्म प्रकारले देख्नु मात्र विपश्यनाको विधा (mode) होइन । शास्ताले सिकाउनुभएको विपश्यनाका विधा अरू पनि छन् भन्ने कुरा पालि निकायभित्रै पनि स्पष्ट देखिएको छ । पाली संस्कृतिमा शताव्दीयौं पछि आउँदाखेरि अरू विधा उपेक्षित हुन पुगी यही पहिलो विधामा बढी केन्द्रित भएकोले मात्र यस्तो भएको हो । विमुत्तिमग्ग (उपतिस्स) मिलिन्दपन्ह, (नागसेन), विसुद्धिमग्ग (वुद्धघोष) अभिधम्मत्थसङ्गहो (अनुरुद्धाचरिय) आदिसम्म आइपुग्दा दोस्रो विधा (mode) लगभग पूरै बिर्सिसकिएको देखिन्छ । तर पनि यहाँनेर म के भन्न चाहान्छु भने

माहयान परम्पराले दोस्रो विधा (mode) को विपश्यनालाई जोड दिएर धर्मस्थिति (मध्यमा प्रतिपद्) लाई देख्नु मूल अभ्यास र अनित्यादि प्रकारले हेर्नुलाई त्यसको पहिले गरिने (तयारी अभ्यासको) रूपमा लियो । त्यही भएर जो अनित्य-दु:ख-अनात्म प्रकारले हेर्नु मात्र विपश्यना हो भन्नेमा अभिसंस्कृत (conditioned) भएका छन् उनीहरूले महायान सूत्र र शास्त्रहरूमा विपश्यना भेटाउन सक्दैनन् । (सूत्र भनेका बुद्धवचन हुन् र शास्त्र भनेका अन्य वौद्ध आचार्यका ग्रन्थ एवं व्याख्या आदि हुन्) यसको कारण के हो भने महायान साहित्यमा सामान्यतया दिइने विपश्यना दोस्रो प्रकारको हो । महायानमा विपश्यना नै नगरिने र नचाहिने भए त यो पुस्तकका लेखक शान्तिदेवले यो भन्दै भन्नुहुँदैनथ्यो-

शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरूते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥

(बोधिचर्यावतार ८.४)

अर्थात् शमथले युक्त भई विपश्यनामा संलग्न भएपछि मात्र क्लेशहरूको नाश गर्न सकिन्छ भन्ने जानेर पहिले शमथ प्राप्ति गर्न खोज्नुपर्छ र त्यो चाहिँ लोकमा निरपेक्ष रति अर्थात् अनासक्त भावले प्रेम (करूणा) गर्नाले चाँडै प्राप्त हुन्छ । यसैबाट थाहा हुन्छ कि विपश्यनाविना क्लेशहरू नाश हुँदैनन् र त्यो विपश्यनालाई गहिन्याउनको लागि शमथ चाहिने हो ।

त्यो दोस्रो प्रकारको विपश्यना विधालाई शास्ता स्वयंले नै एक मार्ग भन्नुभएको छ र 'सम्यग् दृष्टि' भनेर पालि निकायमा पनि बताइएको छ । केही थेरवादीहरूले त महायानको शून्यतालाई पछाडिका नागार्जुनजस्ता व्यक्तिले निकालेको कुरा हो पनि भन्ने गर्छन् । यहाँनेर यो याद गर्नु रमाइलो हुन्छ कि शास्ताले स्वयं नै पछिका श्रावक भिक्षुहरूले गम्भीर अर्थ भएका शून्यताले युक्त उपदेशहरू सुन्न रूचाउने छैनन् भनेर व्याकरण गर्नुभएको छ । जस्तै:-

"ये ते सुत्तन्ता तथागतभासिता गम्भीरत्था ...... लोकुत्तरा ...... सुञ्ञतापटिसंयुत्ता तेसु भञ्ञमानेसु न सुस्सुसिसन्ति" (अङ्गुत्तरनिकाय, पञ्चक निपात, अनागतभय सुत्त) अर्थात् जुन सूत्रान्तहरू तथागतले बताएका हुन् र गम्भीर अर्थ भएका ...... लोकोत्तर ...... शून्यताले युक्त भएका छन् ती बताउँदाखेरि सुन्न इच्छा गर्नेछैनन् ...... । स्वयं तथागतले बताएका शून्यतासँग सम्बन्धित गम्भीर शिक्षाहरू सुनाउँदाखेरि पनि श्रावकहरूले सुन्न चाहँदैनन् भन्ने यस्तो स्थितिको भविष्यवाणी स्वयं शास्ताले गर्नुभएको छ । यो त यही अहिलेको स्थिति हो भन्ने स्पष्टै छ ।

वोधिचर्यावतारमा दिइएको विपश्यना, कायानुस्मृति, वेदनानुस्मति, चित्तानुस्मृति र धर्मानुस्मृति आदि पनि अनित्य-दु:ख-अनात्म विधिमा आधारित नभएर मध्यमाप्रतिपद् (शून्यता) मा आधारित विधि हो । शान्तिदेवले दिनुभएको विपश्यना गर्नुपर्ने मध्यमाप्रतिपद्को दृष्टि नागार्जुनले बताएको माध्यमिक दृष्टिमा आश्रित छ जुन स्वत: आगमहरू (बुद्धवचन) मा र प्रज्ञापारमिता सूत्रहरूमा आश्रत दृष्टि हो र यो पालि सुत्तहरूसँग पनि बाझिने दृष्टि होइन । सबभन्दा त यो नागार्जुनको आफ्नो सिर्जना पनि होइन र व्यक्तिगत निजी व्याख्या पनि होइन । पालि परम्परामा र महायान परम्परामा

केवल केमा जोड दिने भन्ने कुराको मात्र भेद हो (डा. कोन्जे:- Buddhist Thought in India)। एउटाले अनिच्च-दु:क्ख-अनत्त धम्मत्थितिमा जोड गर्छ भने अर्कोले मध्यमाप्रतिपद् धर्मस्थितिमा जोड गर्छ। नागार्जुनले व्याख्या गर्नुभएको माध्यमिक पनि दुई भिन्दै व्याख्या प्रणालीमा (hermeneutics) विकसित भएको छ। एउटा हो, भावविवेक (भव्य पनि भन्छन्) बाट शुरू भएको परम्परा जसलाई स्वातन्त्रिक माध्यमिक भन्दछन्। दोस्रो हो, बुद्धपालितबाट शुरू भएको र चन्द्रकीर्तिद्वारा बढावा दिइएको परम्परा जसलाई प्रासङ्गिक माध्यमिक भन्दछन्। शान्तिदेव पनि यही दोस्रो परम्पराका आचार्य हुनुहुन्थ्यो।

अधिकांश चिनियाँ परम्परा स्वातन्त्रिक माध्यमिक दृष्टिमा आधारित छ भने तिब्बती परम्परा चाहिं प्रासङ्गिक माध्यमिक दृष्टिमा आधारित छ। बुद्धधर्म स्वयं पनि गतिशील (dynamic) र जीवन्त भएको हुनाले नयाँ नयाँ व्याख्याप्रणाली (hermeneutics) र उप-व्याख्याप्रणाली (sub-hermeneutics) हरू अझै पनि विकसित हुँदै छन् जसले दार्शनिक दृष्टिलाई परिमार्जित गर्दै लगेका छन्। तिब्बत र नेपालको हिमाली क्षेत्रमा त मध्यमाप्रतिपदाको झन् बढी ठीक र मिल्दो परिभाषा दिनंको लागि हुने शास्त्रार्थहरूको साहित्यको भण्डार नै अगाध छ जसले भगवान् स्वयंले दिएको कालाम सुत्तको उपदेशलाई अनुसरण गरेको छ। त्यसमा भगवान्ले भन्नुभएको छ कि परम्परा आदिले यस्तो भन्यो उस्तो भन्यो इत्यादि इत्यादि भन्दैमा त्यसलाई स्वीकार्नु जरुरी छैन। महाबल तन्त्रराजको श्लोक-जसलाई शान्तरक्षितले तत्त्वसंग्रहमा उद्धरण गर्नुभएको छ-ले पनि त्यस्तै भनेको छ-

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥

अर्थात् 'हे भिक्षु हो, जसरी सुनलाई गालेर, पिटेर, कसी लगाएर मात्र ग्रहण गर्छन् त्यसरी नै पण्डितहरूले मेरा वचनहरूलाई पनि परीक्षण गरेर मात्र स्वीकार्नुपर्छ न कि गौरवले मात्र।' महायान विपश्यनामा यही महत्वले गर्दा यो ग्रन्थको ९ औं परिच्छेदका १०० ओटा भन्दा बढी व्याख्याहरू लेखिसकिएका छन्। दशौं परिच्छेदमा आचार्यले परिणामना गर्नुभएको छ।

अन्तमा यसलाई अनुवाद गराउन शुरु गर्ने मेरा बाल्यकालदेखिकै अनन्य मित्र श्री रवि प्रधानज्यू प्रति मेरो कृतज्ञता जहिले पनि कमी नै हुने महसूस गर्दछु र उहाँको यस्तो सत्प्रयासको हृदयदेखि नै कदर गर्दछु। पछि आएर उक्त अनुवाद कार्यको र छपाउने कार्यको समेत जिम्मा लिई त्यससम्वन्धी सम्पूर्ण व्ययभार बहन गरेर अनन्त पुण्यसम्भार प्राप्त गर्ने हाम्रै गणकी उपासिका रुक्मिणी श्रेष्ठ तथा उपासक सिद्धिवहादुर श्रेष्ठज्यूको कुशल चित्तको प्रशंसा गर्ने शब्दकै खाँचो भएको महसुस गर्दछु। उहाँहरूको यस्तो धर्मचित्तप्रति म हार्दिक रूपमा कृतज्ञ छु र त्यस्तो चित्त वृद्धि हुँदै जाओस् भन्ने कामना गर्दछु।

यो ग्रन्थलाई म सम्पूर्ण नेवार, तामाङ, गुरुङ, मनाङ्गी, शेर्पा, हुम्लाली, डोल्पाली, नुव्रीपा (१८ सय खोला तिरका), योल्मोपा, लेप्चा, मुस्ताङ (लोपा) थकाली, जिरेली, र यस्तै अन्य सवै बौद्ध साधक

र गुरूहरूको पहिचान र सन्तृप्तिको लागि परिणामना गर्दछु जसले वज्रयानद्वारा नेपाली संस्कृतिमा ठूलो योगदान गरेका छन् तापनि आजसम्म यहाँ व्याप्त भएको सामान्यतः दालभात संस्कृति र विशेषतः काण्ट-हेगेल-ब्राड्ली-अभिलक्षणद्वारा संक्रमण भएका शिक्षित नेपालीहरूको अदूरदृष्टि (mypoic vision) को कारणले गर्दा अपरिचित र अख्यात नै रहेका छन् !

विशेषगरी डोल्पाका मेरा गुरुवर खेन्तिङ् रिन्पोछे र मार्गेम रिन्पोछे, अठारसय खोला नुब्रीका मेरा गुरुवर लोपोन् ग्युर्मे, काठमाडौंका मेरा गरुवर पं. वद्रीरत्न वज्राचार्यज्यू र पाटनका मेरा गुरुवर पं. रत्नराज वज्राचार्यज्यूको दीर्घायु, उहाँहरुको परम्पराका उपदेशहरुको विस्तार र नेपालमा उहाँहरुले गरिराख्नुभएको महायान बुद्धधर्मको प्रचार प्रसार एवं सत्त्वहितको उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होस् भन्दै परिणामना गर्दछु ।

जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसम्पत्सुखाकरम्
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम्

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतून्तेषाँस्तथागतो ह्यवदत्
तेषाञ्च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ॥

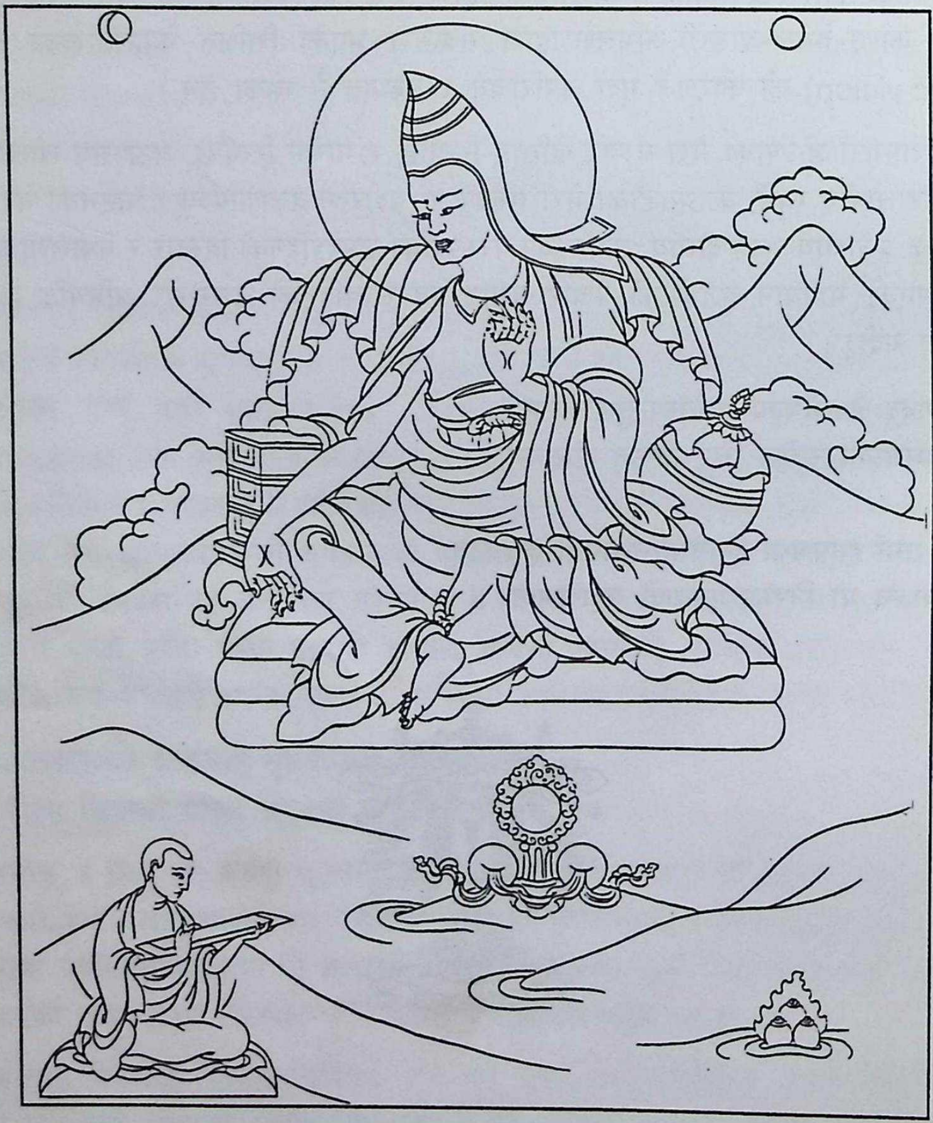

आचार्य आर्यदेव

[ई. पू. पहिलो शताब्दीमा सिंहलद्वीपको राजाको बगैंचामा कमलको फूलमा उपपादुक जन्म लिएका मानिने नागार्जुनकै शिष्य आर्यदेव । अश्वघोष नामका तीर्थिक विद्वान्लाई शास्त्रार्थमा र ऋद्धि प्रातिहार्यमा समेत हराई बुद्धशासनमा दीक्षित पारेका आर्यदेवले रच्नुभएको 'चतु:शतक' अमूल्य बौद्ध शास्त्र हो। सूत्र र तन्त्रमा समेत उहाँ अभूतपूर्व विद्वान् हुनुहुन्थ्यो र माध्यमिक दर्शनका व्याख्याता हुनुहुन्थ्यो । भिक्षुहरुले टोपी नलगाउनु पर्ने भए पनि पहिले भारतमा तीर्थिकहरूसँग शस्त्रार्थमा विजयी हुन र बुद्धधर्मको रक्षा गर्न चुच्चे टोपी लगाएर शुरु गर्नु पर्छ भन्ने एक वृद्ध महिलाले दिएको सुझाव अनुसार शास्त्रार्थ गर्दा विजयी हुँदै गएकोले प्राय: तिब्वती थान्का, चित्र आदिमा पण्डित भिक्षुको चुच्चे टोपी लगाएको देखाइएको हुन्छ। अर्को कथा अनुसार, एक शास्त्रार्थमा तीर्थिकले ऋद्धिबलद्वारा केश आदि डढाइदिएबाट शास्त्रार्थमा त्यस्तो टोपी लगाउने चलन चलेको थियो।]

नमो मञ्जुश्रिये कुमारभूताय

बोधिचर्यावतार

प्रथम परिच्छेद

बोधिचित्तानुशंसा

४८१२

सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान्
प्रणिपत्यादरतोऽखिलाँश्च वन्द्यान्
सुगतात्मजसंवरावतारं
कथयिष्यामि यथागमं समासात् ॥ १ ॥

गर्दै प्रणाम जिनमा जिनपुत्र, धर्म-कायादिले सहित आदरणीय सब्मा
रच्नेछु आगम मुताविक बोधिसत्व-चर्यावतार सब सार गरी समास ॥१॥

__अन्वयार्थ :__ ससुतान् = पुत्रहरूले सहित भएका, सधर्मकायान् = धर्मकायले सहित भएका, सुगतान् = सुगतहरूलाई र, अखिलान् = सम्पूर्ण, वन्द्यान् च = वन्दनीय महापुरुपहरूलाई पनि, आदरतः = आदरका साथ, प्रणिपत्य = प्रणाम गरेर, सुगतात्मजसंवरावतारं = सुगतात्मजसंव-रावतार अर्थात् बोधिसत्वचर्यावतार भन्ने ग्रन्थलाई, यथागमं = आगम अनुसार, समासात् = संक्षेपमा, कथयिष्यामि = बताउनेछु ॥

मञ्जुनाथं नमस्कृत्य शान्तिदेवं सरस्वतीम्
बोधिचर्यावतारस्यानुवादं मातृभाषया
विदधामि सदा शुद्धा सुगताश्चैव त्र्यध्वकाः
बोधिसत्वाः परार्थाय प्रयच्छन्तु शुभां मतिम् ॥

पुत्रहरूले र धर्मकायले सहित भएका सुगत (बुद्ध)हरूलाई र अन्य सबै वन्दनीय कल्याणमित्र आदिलाई आदरपूर्वक प्रणाम गर्दै बोधिसत्वले पालन गर्नुपर्ने शिक्षाको मार्गलाई आगम अनुसार संक्षेपमा बताउनेछु ।

यहाँ सुगत भनेका बुद्धहरू हुन् र उनीहरूका पुत्र भनेका बोधिसत्वहरू हुन् । धर्मकाय भनेको बुद्धहरूको सबै दोषहरूबाट मुक्त ज्ञानधर्मकाय हो भने 'काय'को अर्थ समूह पनि हुने भएकोले बुद्धहरूले सिकाएका सबै धर्महरूको समुच्चयलाई नै धर्मकाय भन्न पनि सकिन्छ । त्यसकारण यहाँ बुद्ध, धर्म र संघलाई वन्दना गरिएको छ, जुन त्रिरत्नको वन्दना हो । त्यस्तै अन्य आदरणीय पुरुषहरूमा उपाध्याय, आचार्य, कल्याणमित्र आदि पर्दछन् । त्यसैले उनीहरूलाई पनि प्रणाम गरिएको छ । सुगतका आत्मज भनेका जिनपुत्र हुन् जसलाई बोधिसत्व पनि भनिन्छ, उनीहरूको संवर भनेको बोधिसत्वले ग्रहण गर्नुपर्ने र पालन गर्नुपर्ने शिक्षाहरू हुन्, ती शिक्षाहरूको अवतार भनेको मार्ग हो । त्यसकारण यो ग्रन्थ बोधिसत्वहरूले पालन गर्नुपर्ने शिक्षाहरूको मार्गलाई स्पष्ट पार्ने प्रयोजनले रचिँदैछ भन्ने अभिप्राय आचार्य शान्तिदेवले देखाउनुभएको छ । आफ्नो यो ग्रन्थ बुद्धहरूले बताएका आगम या सूत्रहरूको विपरीत हुने छैन भन्ने दर्शाउन उहाँले 'यथागमम्' भन्नुभएको छ भने ती सूत्रहरू अति विस्तारमा भएकाले सबैले समग्रमा अध्ययन गर्न र बुझ्न गाह्रो हुने भएको हुँदा संक्षेपमा

आफूले तिनीहरूको सार बताउँछु भन्ने आशय उहाँको छ। आफ्नो नम्रता प्रकट गर्दै यो ग्रन्थ रच्नाले अरूलाई फाइदा नपुगे पनि आफ्नो मनमा सन्तोष हुने भएकोले पनि यो लेखेको हुँ भन्दै अगाडिका दुई श्लोकहरू लेख्नुहुन्छ –

न हि किञ्चिदपूर्वमत्र वाच्यं न च संग्रन्थनकौशलं ममास्ति।
अत एव न मे परार्थचिन्ता स्वमनो वासयितुं कृतं मयेदम् ॥२॥

केही थिएन कथनीय अपूर्व यस्मा, छैनन् ममा कुशलता पनि ग्रन्थ रच्न
तस्मात् म सोच्दिन 'हुनेछ परोपयोगी' मैले रचें स्वमन वासित गर्न खोजी ॥२॥

अन्वयार्थ : अत्र = यहाँ, अपूर्वम् = पहिले कतै पनि नभएको, वाच्यं = बताउन योग्य कुरा, किञ्चित् = केही पनि, न हि = छैन नै, मम = मेरो, संग्रन्थनकौशलं च = ग्रन्थरचना गर्ने कुशलता पनि, न अस्ति = छैन, अत एव = त्यसकारणले नै, मे = मलाई, परार्थचिन्ता = यो ग्रन्थ अरुका निमित्त उपयोगी होला भन्ने विचार, न = छैन, मया = मैले त, इदं = यो ग्रन्थलाई, स्वमन: = आफ्नै मन अर्थात् चित्तसन्तानलाई, वासयितुं = भिजाउनको लागि, कृतम् = गराएको हुँ ॥

पहिले नभनिएका कुरा यसमा केही पनि छैनन् र ग्रन्थरचना गर्ने कुशलता पनि ममा छैन। त्यसैले यो अरुका निमित्त उपयोगी होला भन्ने चिन्ता ममा छैन र आफ्नै मनलाई वासना दिन भएपनि काम लागोस् भनेर लेखेको हुँ।

चाहिने कुराहरू त सबै आगमहरूमा बताइसकिएका छन्। त्यसैले मैले भन्नुपर्ने नयाँ कुरा केही छैन र ग्रन्थ रचना गर्ने क्षमता पनि ममा छैन। यस्तो बताएर आचार्यले आफ्नो नम्रता प्रकट गर्नुभएको छ। त्यस्तै बोधिसत्वका शिक्षाहरूको अभ्यास गर्ने क्रममा यस्तो प्रयासले आफ्नै मनलाई द्रवित पार्ने भएकोले अरुको लागि उपयोगी होला भन्ने चिन्ता नभए पनि यो लेखेको हुँ भन्ने दर्शाउनुभएको छ। केवल स्वार्थकै लागि पनि कसैले ग्रन्थ रच्ला त ? भन्ने प्रश्न उठ्न सक्छ। फेरि, ती कुरा त आफ्नै मनमा छँदैछन् भने फेरिलेख्दैमा केको सन्तोष होला र ? त्यसको समाधानका निमित्त उहाँले लेख्नु हुन्छ –

मम तावदनेन याति वृद्धिं कुशलं भावयितुं प्रसादवेग:
अथ मत्समधातुरेव पश्येदपरोऽप्येनमतोऽपि सार्थकोऽयम् ॥३॥

किनकि त्यसले वढाउनेछ कुशलै भावन गर्न हर्ष वेग
अनि देख्छ भने कुनै मजस्तो जनले यो तव सार्थकै हुनेछ ॥३॥

अन्वयार्थ : अनेन = यो ग्रन्थले, तावत् = वास्तवमैं, मम = मेरो, कुशलं = शुभकर्महरू, भावयितुं = भावना अर्थात् आराधना गर्नलाई, प्रसादवेग: = प्रसन्नताको गति, वृद्धिं याति = वढ्दछ, अथ = अनि, एनम् = यसलाई,अपर: = अर्को, मत्समधातु: = ममग मिल्ने गुण भएको व्यक्तिले, अपि = पनि, पश्येत् एव = देख्यो भने, अत: अपि = त्यसवाट पनि, अयम् = यो मेरो ग्रन्थ, सार्थक: = सार्थक अथवा काम लाग्ने भयो ॥

त्यसले गर्दा मेरो कुशल भावनामा प्रसन्नता बढेर जान्छ। यदि मजस्तै खालको कोही व्यक्तिले यसलाई हेऱ्यो भने त त्यसबाटै यो सार्थक सिद्ध हुनेछ। यसरी यो ग्रन्थ स्वार्थ र परार्थ दुवैमा सहयोगी हुन सक्छ भन्ने देखाउँदै उहाँले आफ्नो अभिमानहीनतालाई देखाउनु भएको छ।

अब आचार्यले बोधिसत्वचर्या गर्नु किन आवश्यक छ त भन्ने कुरा देखाउन भूमिका बाँध्दै

मानवजीवन प्राप्तिको कठीनाइलाई दर्शाउन थाल्नु भएको छ -

क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥४॥

पुरुपार्थ सधाउने यिनी क्षणसम्पत्ति मिले सुदुर्लभं
नगरे हितचिन्तनै यहाँ पछि होला कि त यो समागम ? ॥४॥

अन्वयार्थ : *इयम् = यो, सुदर्लभा = प्राप्त गर्न अति कठीन भएको, पुरुपार्थसाधनी = पुरुपार्थलाई सिद्ध गराउने, क्षणसम्पद् = क्षणरूपी सम्पत्ति, प्रतिलब्धा = पाइसकिएको छ, यदि = यदि, अत्र= यहाँ यो मौकामा, हितं = हित हुने कुरा, न विचिन्त्यते = विचारै गरिएन भने, पुनरपि = फेरि पनि, एष समागमः = यस्तो संयोग, कुतः = कहाँबाट पाउनु ? ॥*

पाउन अत्यन्त गाह्रो र पुरुषार्थ सिद्ध गराउने यो क्षणसम्पत्ति पाइएको छ । यदि यस अवस्थामा पनि हित हुने कुरा विचार गरिएन भने यस्तो संयोग फेरि कहाँ पाइन्छ ?

नरक, प्रेत, पशुमा जन्म लिनु, म्लेच्छ अर्थात् विधर्मी हुनु, दीर्घायु भएका देवता हुनु, मिथ्यादृष्टि अर्थात् गलत र युक्तिहीन धारणाहरूमा आश्रित हुनु, बुद्धहरू नभएको युगमा जन्म हुनु र लाटो बुङ्गो भएर जन्मनु यी आठ 'अक्षण' हुन् जुनवेलामा ज्ञान प्राप्त गरेर मुक्त हुने सम्भावना हुँदैन । यिनीहरूबाट मुक्त भएको हाम्रो अवस्था 'क्षण' हो र यस्ता क्षणहरूको समग्रता अर्थात् सम्पत्ति नै हामीले पाएका छौं जुन प्राप्त गर्नु ज्यादै कठीन कुरा हो । त्यसमा पनि यो क्षण सम्पत्तिले आफ्नो अभ्युदय र नैःश्रेयसरूपी पुरुषार्थहरूलाई सिद्ध गर्न सकिन्छ । अभ्युदय भनेको लौकिक उन्नति हो भने नैःश्रेयस भनेको परमार्थ हित या मोक्ष हो । त्यसकारण गहीरो अर्थमा हेर्दा अभ्युदयले पुण्यसम्भारलाई र नैःश्रेयसले ज्ञानसम्भारलाई जनाउँछ । यसरी यी दुई सम्भार पूरा गर्नु बुद्धता प्राप्तिको लागि पुरुषार्थ हुन् । यी पुरुषार्थलाई यही क्षणसम्पत्ति पाएको वेलामा मात्र पूरा गर्न सम्भव हुन्छ । त्यसकारण यस्तो अमूल्य जीवन पाइसकेर पनि आफूलाई दुःखमुक्तिको हित हुने उक्त पुरुषार्थमा लगाउने तर्फ सोचिएन भने फेरि यस्तो संयोग कहाँबाट प्राप्त हुन्छ र भन्ने आशय आचार्यले व्यक्त गर्नुभएको छ । अनि बोधिचित्तको महत्त्व बताउने क्रममा उहाँ भन्नुहुन्छ -

रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे, विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशम् ।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचिल्लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ॥५॥

राती हुंदा सघन बादलले अँध्यारो क्षण्भर् निकाल्छ विजुली जसरी उज्यालो
त्यस्तै कताकति क्षणैभर पुण्य गर्ने लोक्को हुनेछ मति ती जिनको कृपाले ॥५॥

अन्वयार्थ : *यथा = जस्तै, रात्रौ = रातिमा, मेघघनान्धकारे = बाक्लो वादल लागेर घनघोर अँध्यारो भएको वेलामा, विद्युत् = विजुलीले, क्षणं = एकै छिन्, प्रकाशम् = उज्यालो, दर्शयति = देखाउँछ, तथा = त्यस्तै, बुद्धानुभावेन = बुद्धहरूको कृपाले, लोकस्य = लोकको अर्थात् मानिसहरूको मतिः = बुद्धि, कदाचित् = कहिलेकाहीँ, पुण्येषु = पुण्यकर्महरूमा, क्षणं = एक छिनको लागि भए पनि, स्यात् = होला अर्थात हुन्छ ॥*

राती घना बादलले अँध्यारो छाए पनि बिजुली चम्किँदा एक क्षण भएपनि उज्यालो हुन्छ । त्यस्तै बुद्धहरूको अनुभाव (कृपा)ले गर्दा लोकका जनहरूमा पनि कथं कदाचित् पुण्य गर्ने मति उत्पन्न हुन्छ ।

बुद्धहरूको चित्त शून्यता र करुणाको युगनद्ध (एकै भएको) स्थितिमा रहने भएको र उहाँहरू प्रज्ञा र उपायको पनि युगनद्ध (एकै भएको) अवस्थामा रहने भएको हुनाले सत्वहरूको अवस्था, क्षमता एवं योग्यता अनुसार कुनवेला कहाँ कसलाई कसरी कतिसम्म हित गर्न सकिन्छ, पुण्यकर्म र ज्ञानमार्गमा लगाउन सकिन्छ त्यही बमोजिम उहाँहरूले लोकहित गरिराख्नुभएको हुन्छ। त्यसकारण कहिलेकाहीं सत्वहरूको चित्तसन्तानमा पुण्यकर्ममा बुद्धि लाग्ने पनि गर्छ। तर जुन व्यक्ति आफ्ना कर्महरूले गर्दा बुद्धहरूको त्यो करुणाका पात्र हुँदैनन्, उनीहरूप्रति बुद्धहरू उपेक्षाभावमै रहनुहुन्छ। त्यसरी उत्पन्न भएको कुशल चित्त पनि दुर्लभ र दुर्बल हुन्छ। जस्तै राती बादलले घना अन्धाकार छाएको बेलामा विजुलीले प्रकाश त दिन्छ तर त्यो दुर्बल र क्षणिक हुन्छ, अतः फेरि अन्धकारले जितिहाल्छ। त्यस्तै यहाँ पनि लोकले अनादिकालदेखि अकुशलकर्महरूको नै बढी अभ्यास गर्दै आएको हुनाले त्यो पुण्य अस्थिर नै हुन्छ। त्यसो हुनाले आचार्यले भन्नुहुन्छ -

तस्माच्छुभं दुर्बलमेव नित्यं बलं तु पापस्य महत् सुघोरम्।
तज्जीयते ऽ न्येन शुभेन केन संबोधिचित्तं यदि नाम न स्यात् ॥६॥

अत: सधै दुर्वल हुन्छ पुण्य र महान् भयङ्कर् छ नि पापको बल
र्जितिन्छ अर्को कुन पुण्यले त्यो संबोधिचित्तै न यहाँ हुँदो हो ॥६॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, शुभं = कुशल या पुण्यकर्म, नित्यं = सधै, दुर्वलम् एव = दुर्वल याने कमजोर नै हुन्छ, पापस्य = पापको, वलं = वल या समर्थ्य, तु = त, महत् = महान् या ठूलो र, सुघोरं = डरलाग्दो पनि हुन्छ। तत् = त्यो पापको वललाई, अन्येन = अर्को, केन शुभेन = कुन शुभकर्म याने पुण्यकर्मले, जीयते = जितिंदो होला र !, यदि = यदि, संवोधिचित्तं नाम = संवोधिचित्त नामको कुरा, न स्यात् = नहुँदो हो त ? ॥

अतः सधैं नै पापको बल डरलाग्दो हुन्छ र शुभ (पुण्य) दुर्बल हुन्छ। यदि सम्बोधिचित्त (वोधिचित्त) भन्ने कुरा नभैदिएको भए त्यसलाई अर्को केले जितिन्थ्यो ?

त्यसकारण पापको बल धेरै हुने र पुण्यको बल थोरै हुने भएको हुनाले उक्त पापहरूलाई जित्न निकै कडा प्रतिपक्षको जरुरत पर्दछ। साना तिना पुण्यकर्महरूले यो अनादिजन्मदेखि जम्मा हुँदै र बढ्दै गइराखेको पापको बलसँग सामना गर्न सक्दैनन्। त्यसैले त्यसको लागि अत्यन्त बलियो पुण्यकर्म चाहिन्छ। त्यो नै 'संबोधिचित्त' हो। संबोधि भनेको सम्यक् संबुद्धता हो जसलाई छोटकरीमा 'बुद्धता' पनि भनिन्छ र संबोधिचित्त भनेको सम्पूर्ण सत्व (प्राणी)हरूलाई दुःखको सागरबाटै मुक्त गराउन र त्यही बुद्धताको अवस्थामा पुऱ्याउनको लागि आफूले अभ्यास गर्ने दृढ र बलियो आशयको चित्त हो। यसलाई संक्षेपमा 'बोधिचित्त' पनि भनिन्छ। त्यसकारण यदि यो बोधिचित्त नभएको भए त्यो पापको बललाई नष्ट पार्ने सम्भावना नै थिएन। बोधिचित्तभन्दा बलियो अरु कुनै पनि पुण्यकर्म हुँदैन र यसले वाहेक ती अकुशल कर्महरूलाई नष्ट पार्न अरुले सक्दैनन्। अतः यसको उत्पाद गर्नुपर्दछ। यही कुरा अगाडि आचार्य भन्नुहुन्छ -

कल्पनानल्पान् प्रविचिन्तयद्भि दृंष्टं मुनीन्द्रैर्हितमेतदेव।
यतः सुखेनैव सुखं प्रवृद्ध - मुत्प्लावयत्यप्रमितान् जनौघान् ॥७॥

विचार गर्दै बहुकल्प सम्म त मुनीन्द्रद्वारा यहि देखियो हित
जस्वाट बढ्दो सुखैले सजिलै असंख्य प्राणीगण तार्छ यस्ले ॥७॥

__अन्वयार्थ:__ अनल्पान् = धेरै, कल्पान् = कल्पहरूसम्म, प्रविचिन्तयद्भिः = राम्ररी चिन्तन मनन गर्ने भएका, मुनीन्द्रैः = मुनिहरूमा श्रेष्ठ वुद्धहरूले, एतद् एव = यही बोधिचित्तलाई नै, हितम् = हितगर्ने कुरा हो भनेर, दृष्टं = देख्नुभएको छ, यतः = किन कि, प्रवृद्धं = वढ्दै गइरहेको, सुखं = सुखले अर्थात् बुद्धत्वले, अमितान् = असंख्य, जनौघान् = सत्वहरुको समूहलाई, सुखेन एव = सजिलैसंग नै, उत्प्लावयति = तार्दछ ॥

मुनीन्द्रहरूले धेरै कल्पसम्म चिन्तन गरेर यही नै हितकारक हो भन्ने देखेका छन्। किनभने बढ्दै गइरहेको सुखले अपरिमित जनहरूलाई पनि तार्ने काम गर्छ।

बुद्धहरूले असंख्य कलपसम्म चिन्तन र अनुभव गरेर यही बोधिचित्तलाई नै हितकारी मार्ग देखेका हुनाले यो श्रेष्ठ छ भन्ने थाहा हुन्छ। फेरी यसबाट आफूमा झन् झन् सुखको वृद्धि हुँदै जान्छ र अरुलाई पनि सजिलोसँग तार्दै जान सकिन्छ। कुनै कठोर उपाय या तरीका अपनाउनु पनि पर्दैन। बोधिसत्वचर्या गर्दाखेरि भगवान्ले अनेकौं कष्टहरू सहेको कुरा जातक कथाहरूमा पाइन्छ। त्यो त दुष्कर र कष्टसाध्य भएन र ? शुरुमा त्यस्तो लागे पनि बोधिचित्त उत्पाद गरिसकेका र अभ्यासमा खटिसकेका बोधिसत्वहरूलाई अरुको दुःख देख्दा नै बढी कष्ट हुन्छ र त्यसको निमित्त उनीहरूलाई आफ्नो दुःखको पर्वाहि नगरीकन लागिपर्ने आँट आउँछ र त्यस्तो आँट लिनु पनि पर्छ। त्यसले उनीहरूमा फलस्वरूप सुखै ल्याइरहन्छ र कष्ट हुँदैन। अतः सजिलो गरी सुख बढाउँदै जान्छ भनिएको हो। त्यसकारण सुख दिने त्यो बोधिचित्तलाई कहिल्यै त्यागनुहुँदैन भन्ने कुरा आचार्य व्यक्त गर्नुहुन्छ –

> भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपिसत्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
> बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्नविमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥८॥

भवदुःख सयौं त तर्नखोज्ने अनि सत्वैहरूको त दुःख हर्ने
सुख धेर सयौं त भोग्न खोज्ने-हरूले छोड्नु हुँदैन बोधिचित्तै ॥८॥

__अन्वयार्थ :__ भवदुःखशतानि = जगत्का सयौं दुःखहरूलाई, तर्तुकामैः = तर्न खोज्नेहरूले, सत्व व्यसनानि = सत्वहरूका अर्थात् प्राणीहरूका दुःखकष्टहरूलाई, हर्तुकामैः = हरण गर्न खोज्नेहरूले र, बहुसौख्यशतानि = धेरै सयौं किसिमका सुखभोग गर्न चाहनेहरूले पनि, सदा एव = सधै नै अर्थात् कदापि, बोधिचित्तं = बोधिचित्तलाई, न विमोच्यम् = त्याग गर्नु हुदैन ॥

भवसागरका सयौं दुःखबाट तर्न खोज्ने, सत्त्वहरूका दुःखलाई नाश गराउन खोज्ने र सयौं गुणा सुख भोग्न खोज्नेहरूले बोधिचित्तलाई कहिल्यै पनि छोड्नु हुँदैन।

नरकदेखि लिएर त्रिधातुभरिका सयौं किसिमका दुःखहरूबाट आफू पार लाग्न खोज्नेहरूलाई श्रावकगोत्रीय पुद्गल भन्छन्। तिनीहरू र प्रत्येकबुद्ध- गोत्रीय पुद्गलहरू, जो बुद्ध उत्पन्न नभएका कल्पहरूमा स्वयं आफ्नो प्रयत्नबाट बुद्धता प्राप्त गर्न खोज्ने व्यक्तिहरू हुन्, तिनीहरूले पनि बोधिचित्त नत्यागनु नै राम्रो हुन्छ भने सबै सत्वहरूको दुःख समेत हरण गर्ने कामना राखेर अघि वढेका बोधिसत्वहरूले झन् बोधिचित्त त्याग गर्ने कुरै हुँदैन। त्यति मात्र नभएर आफ्नो र अरुको दुःख हटाउनुको साथै लौकिक एवं लोकोत्तर सुख समेत प्राप्त गर्न खोज्नेहरूले त झन् बोधिचित्त कदापि

त्यागनुहुँदैन किनकि यी सबै कुरा बोधिचित्तबाट मात्रै सम्भव हुन्छन्। त्यति मात्र नभएर -

> भवचारकबन्धनो वराकः सुगतानां सुत उच्यते क्षणेन।
> सनरामरलोकवन्दनीयो भवति स्मोदित एव बोधिचित्ते ॥९॥

विचरो भवमा त बाँधिएको पनि छिन्मै 'जिनपुत्र' त्यो भनिन्छ
सुर-मानवलोकमै त पूज्य हुन त्यो पुग्छ नि बोधिचित्त जागे ॥९॥

अन्वयार्थ : *भवचारकबन्धनः = संसाररूपी कारागारमा बाँधिएको, वराकः = विचरो अर्थात् निरीह प्राणी पनि, वोधिचित्तं = वोधिचित्त, उदिते = उदाएका खण्डमा, क्षणेन = तत्कालै, सुगतानां सुतः = बुद्धहरूको पुत्र अर्थात् बोधिसत्व, उच्यते = भनिन्छ, सनरामरलोकवन्दनीयः = मानव र देवलोकहरूमा पनि पूज्य, भवति स्म = भएको हुन्छ ॥*

सामान्य अवस्थामा संसाररूपी यो कारागारमा बाँधिएको र केही गर्न नसक्ने, असहाय, दुःखी प्राणीले पनि यदि अभ्यासको बलले बोधिचित्त उत्पाद गर्‍यो भने त्यसलाई त्यही क्षणमै 'बोधिसत्व' या 'जिनपुत्र' भनिन्छ। त्यसबेलामा उसलाई मनुष्य र देवताहरूले समेत वन्दना, आदर, सम्मान गर्नुपर्ने हुन्छ र गर्छन् पनि, किनकि त्यो चित्त उत्पाद भएको क्षणमा उसको कुशलमूल अर्थात् पुण्य अत्यन्त उच्चकोटिको हुन्छ र त्यसलाई अरुले खराब चिताएमा निकै निम्नकोटिको पापकर्म संचय गर्छन्। त्यसकारण उ सबैको पूज्य हुन्छ।

> अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घाम्।
> रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञम् ॥१०॥

प्रतिमा त अशुद्धिको लिई यो प्रतिमा नै जिनको अमूल्य पार्ने
रसधातु छ धेर वेधनीय दृढता पूर्वक लेऊ बोधिचित्त ॥१०॥

अन्वयार्थ : *इमा = यां, अशुचिप्रतिमां = अशुद्धिले वनेको प्रतिमालाई, गृहीत्वा = लिएर, अनर्घाम् = अति वहुमूल्य, जिनरत्नप्रतिमां = वुद्धरूपी रत्नको प्रतिमा, करोति = वनाउँछ। वोधिचित्तसंज्ञं = वोधिचित्त नाम गरेको, रसजातं = रसायन, अतीव = अत्यन्तै, वेधनीयं = वेधनक्षमता भएको छ, सुदृढं = राम्ररी दृढतापूर्वक, गृह्णत = लेऊ ॥*

अशुचिको यो प्रतिमालाई लिएर अमूल्य जिनरत्नको प्रतिमा बनाइन्छ। त्यसकारण यो वोधिचित्त भन्ने रसायन अत्यन्त वेधनक्षमता भएको छ र यसलाई राम्रोसँग ग्रहण गर्नू।

विभिन्न किसिमका क्लेश र वासनारूपी अशुद्धिहरूले भरिएर बनेको यो हाम्रो मनुष्यशरीरको रूपमा भएको मूर्तिलाई यो बोधिचित्त भन्ने रसायनले पूरापूर बदलेर अत्यन्त अमूल्य बुद्धको शरीररूपी रत्नको प्रतिमा बनाइदिन्छ। त्यसैले यसको रासायनिक प्रतिक्रिया गरेर बदल्ने क्षमता धेरै नै छ। अतः यो बोधिचित्त नामक रसायनलाई बलियोसँग राख्नुपर्छ ताकि यो पुनः उम्किन नपाओस्। अर्थात् बुद्ध बन्न चाहनेले यही बोधिचित्तलाई नै राम्रोसँग ग्रहण गरिराख्नुपर्छ। यहाँ बुद्धलाई अमूल्य (अनर्घ) भनिएको छ। त्यसको कारण के हो भने कामधातु, रूपधातु र अरूपधातु गरी तीनै धातुमा पनि उहाँ यस्तो रत्न हुनुहुन्छ जसको कुनै पनि मूल्य नै हुँदैन। त्यही भएर उहाँलाई अनर्घ भनिएको हो। बोधिचित्तको क्षमता यति धेरै छ कि सामान्य मानिसलाई पनि त्यस्तो अमूल्य बुद्ध बनाइदिन सक्छ। त्यसैले यसलाई राम्रोसँग ग्रहण गरिराख्नू भनी आचार्यले भन्नुभएको छ।

सुपरीक्षितमप्रमेयधीभिर्बहुमूल्यं जगदेकसार्थवाहैः ।
गतिपत्तनविप्रवासशीलाः सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तरत्नम् ॥११॥

वहुवुद्धि र एक मात्र लोक हितकारीहरूले त जाँचिएको
लिनु उत्तम बोधिचित्तरत्न गतिरूपी पुरवासि हो, अमूल्य ॥११॥

अन्वयार्थ : गतिपत्तनविप्रवासशीला: = गतिरूपी नगरमा वास गर्ने गरेका प्राणी हो, अप्रमेयधीभि: = नाप्नै नसकिने वुद्धि भएका, जगदेकसार्थवाहै: = जगत्का एक मात्र सार्थवाह भएका वुद्ध आदिले, सुपरीक्षितम् = राम्रोसंग जाँचवुझ गरिएको, वहुमूल्यं = अत्यन्त मूल्यवान्, बोधिचित्त रत्नम् = बोधिचित्तरूपी रत्नलाई, सुदृढं = राम्ररी वलियोसंग, गृह्णत = ग्रहण गर ।

हे गतिरूपी नगरमा बस्ने बानी भएका प्राणी हो ! जगत्का एकमात्र सार्थवाह भएका अपरिमित बुद्धिवाला (बुद्ध-बोधिसत्व)हरूले राम्रोसँग परीक्षण गरिएको यो अमूल्य बोधिचित्तरूपी रत्नलाई राम्रोसँग ग्रहण गर ।

आचार्य भन्नुहुन्छ, हे प्राणी या मनुष्य हो ! तिमीहरू कर्म अनुसार यो त्रिधातु- षड्गतिभित्रै कहिले नरक, कहिले स्वर्ग, कहिले प्रेत गर्दै घुमिराख्छौ, त्यसकारण यो षड्गति नै तिमीहरूको बस्ने शहर हो । यसमा बस्ने बनी लागिसकेका हो ! यो बोधिचित्तरूपी रत्न धेरै मूल्यवान् छ र तिमीहरूलाई यो नगरबाट तार्छ पनि । किनभने व्यापारीहरूलाई लाभ र हानि हुने विभिन्न उपायहरू सिकाउने र यात्रामा बाटो देखाउने व्यक्तिहरू (सार्थवाह) जस्तै यो जगत्कै एकमात्र भर पर्न योग्य एवं लाभ हुने उपाय सिकाउने र देखाउने सार्थवाह समान भएका अत्यन्त बुद्धि र प्रज्ञाले युक्त बुद्ध-बोधिसत्वहरूले यसको राम्रोसँग परीक्षण गरिसकेका छन् । त्यसकारण यस्तो बोधिचित्त-रत्नलाई राम्रोसँग ग्रहण गर ।

कदलीव फलं विहाय याति क्षयमन्यत् कुशलं हि सर्वमेव ।
सततं फलति क्षयं न याति प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्षः ॥१२॥

कुशलै अरु एक पल्ट फल्दै सव केरा सरि नाश भै रहन्छन्
तर फल्छ सधै, हुँदैन नाश फलिराख्ने छ नि बोधिचित्त वृक्ष ॥१२॥

अन्वयार्थ : अन्यत् सर्व कुशलं = बोधिचित्त बाहेक अरु सवै पुण्यकर्म, फलं विहाय = फल दिएर, कदली इव = केराको वृक्ष जस्तै गरी, क्षयं हि एव याति = नाश हुनै पुग्छन् । परन्तु, बोधिचित्तवृक्ष: तु = वोधिचित्तरूपी वृक्ष त, सततं = वारम्वार, फलति = फल दिन्छ, क्षयं न याति = नाश हुँदैन, प्रसवति एव = फल दिइरहन्छ ।

केराको रुखले एक पटक फल दिएपछि फेरि फल्दैन । त्यस्तै अरु कुशल कर्महरू पनि एक पटक विपाक भैसकेपछि फेरि फल दिंदैनन् । तर यो बोधिचित्त त कल्पवृक्ष या चिन्तामणिजस्तो हो र निरन्तर फल दिइरहन्छ । यसको स्वभाव स्थिर किसिमको याने अटल हुने भएकोले त्यसबाट अन्य कुशल कर्महरू बारम्बार भइरहन्छन् र कुशल फल अर्थात् लौकिक एवं लोकोत्तर सुख दिंदै रहन्छन् । जबसम्म बुद्धता प्राप्त हुँदैन तबसम्म यो बोधिचित्तले फल दिइरहन्छ । त्यसैले आफ्नो जुनसुकै कुशल कर्मलाई पनि अनुत्तर बोधिमा परिणामना गर्नुपर्छ जसले गर्दा त्यो अक्षय बनेर जान्छ । त्यो पनि बोधिचित्तकै रूप हो । यसप्रकार बोधिचित्त उत्पाद ज्यादै महत्वपूर्ण कुरा हुन आउँछ । आचार्य अझै भन्नुहुन्छ -

कृत्वापि पापानि सुदारुणानि यदाश्रयादुत्तरति क्षणेन ।
शूराश्रयेणेव महाभयानि नाश्रीयते तत् कथमज्ञसत्वैः ॥१३॥

भयङ्करे पापहरू गरे पनि जस्को लिंदा आश्रय पो महाभयै
शूराहरूमार्सार शीघ्र तर्छ नि त्यस्को हुँदैनन् किन सत्व आश्रयी ॥१३॥

अन्वयार्थ : सुदारुर्णानि = अत्यन्तै डरलाग्दा, पापानि = पापकर्महरू, कृत्वा अपि = गरेर पनि, यदाश्रयात् = जस्को आश्रयले, शूराश्रयेण = शूरवीरहरूको आश्रय लिनाले, महाभायानि इव = ठूला ठूला डरहरूबाट (पार लागे) जस्तै, क्षणेन = एक छिनमै, उत्तरति = पार लाग्दछ, तत् = त्यो बोधिचित्तको, अज्ञसत्वैः = मूढव्यक्तिहरूले, कथम् = किन, न आश्रीयते = आश्रय लिँदैनन् ?

जसरी पराक्रमी शूरवीर पुरुषमा आश्रय लिँदा विभिन्न खालका ठूला डरहरूबाट ढुक्क भइन्छ त्यस्तै यो बोधिचित्तको आश्रय लिँदा जस्तै ठूला पापकर्महरू गरेको भए पनि तर्न सकिन्छ । त्यसो हुँदाहुँदै पनि किन यी बाल अञ्जानहरूले त्यो बोधिचित्तको आश्रय लिँदैनन् ? अर्थात् आश्रय लिनुपर्ने हो । किनभने –

युगान्तकालानलवन्महान्ति पापानि यन्निर्दहति क्षणेन
यस्यानुशंसानमितानुवाच मैत्रेयनाथः सुधनाय धीमान् ॥१४॥

युगान्त कालाग्नि समान ठूला पापैहरू छिन् भरिमै डढाउने
यस्को प्रशंसा त निकै गरेछन्, धीमान मैत्रेय सुधन्जीलाई ॥१४॥

अन्वयार्थ : यत् = जस्ले, क्षणेन = एक छिनमै, महान्ति = ठूला, पापानि = पापहरूलाई, युगान्तकालानलवत् = युगको अन्तमा आउने कालाग्निले समान, निर्दहति = पूरै जलाउँछ, यस्य = जस्को, अमितान् = नाप्नै नसकिने अर्थात धेरै, अनुशंसान् = गुणहरूको वखान या प्रशंसाहरू, धीमान् = प्रज्ञाले युक्त भएका, मैत्रेयनाथः = मैत्रेयनाथले, सुधनाय = 'सुधन' नाम गरेका बोधिसत्वलाई, उवाच = वताउनु भएको थियो । (त्यस्तो बोधिचित्तको मूढ व्यक्तिहरूले किन आश्रय लिँदैनन् ?)

युगको अन्तमा आउने अग्नि (प्रलयाग्नि)ले जलाएजस्तै गरी जसले ठूला पापहरूलाई पनि छिनभरमै डढाइदिन्छ र जसको प्रशंसा पनि धीमान् मैत्रेयनाथले सुधनसँग अत्यन्त धेरै गर्नुभएको थियो (त्यस्तो बोधिचित्तलाई किन यी मूर्खहरूले ग्रहण गर्दैनन् ?)

जसरी प्रलयकालमा धेरै सूर्यहरू उदाउँदाखेरि ठूलो अग्नि उत्पन्न भएर प्रथमध्यानभूमि सहित कामधातु सबैलाई केही बाँकी नराखी डढाउँछ, त्यसरी नै महारौरव, अवीचि जस्ता नरकमा लैजाने खालका ठूला ठूला पापकर्महरूलाई यो बोधिचित्तले तुरुन्तै जलाइदिन्छ र फल दिनै नसक्ने अवस्थामा पुऱ्याउँछ । फेरि यो बोधिचित्तका यस्ता असंख्य गुणहरू प्रज्ञावान् मैत्रेयले सुधनलाई वताउनु भएको थियो । त्यसकारण यस्तो उत्तम बोधिचित्त किन ग्रहण नगर्ने ? अवश्य गर्नुपर्छ भन्ने आचार्यको अभिप्राय हो । अनि यो बोधिचित्तका भेदहरू बताउन उहाँ लेख्नुहुन्छ –

तद् बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः ।
बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थानमेव च ॥१५॥

त्यो वोधिचित्तका भेद वुझ्नू संक्षेपमा दुई
वोधिप्रणिधिचित्तै र वोधिप्रस्थानचित्त यी ॥१५॥

बोधिचित्तं { बोधिप्रणिधिचित्त
बोधिप्रस्थानचित्त

अन्वयार्थ : तत् = त्यो, वोधिचित्तं =वोधिचित्त, समासतः =- संक्षेपवाट, द्विविधं = दुई प्रकारको, विज्ञातव्यं = जान्नु पर्छ। वोधिप्रणिधिचित्तं = वोधिप्रणिधिचित्त र, वोधिप्रस्थानमेव च = वोधिप्रस्थानचित्त समेत गरेर ॥

यसरी त्यो बोधिचित्त संक्षेपमा दुई प्रकारको नै हुन्छ। ती दुई प्रकारहरू मध्ये पहिलो 'बोधिप्रणिधिचित्त' हो भने दोस्रो 'बोधिप्रस्थानचित्त' हो। यिनीहरू कस्ता हुन् भन्ने कुरा स्पष्ट पार्न आचार्य भन्नुहुन्छ -

गन्तुकामस्य गन्तुश्च यथा भेदः प्रतीयते।
तथा भेदोऽ नयोर्ज्ञेयो याथासंख्येन पण्डितैः ॥१६॥

जान खोज्ने र जानेको भेद देखिन्छ जस्तरी
जान्नु पण्डितले यिन्को क्रमैले भेद उस्तरी ॥१६॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, गन्तुकामस्य = जान चाहनेवालाको र, गन्तुश्च = जानेवालाको, भेदः प्रतीयते = फरक देखिन्छ, तथा = त्यस्तै, पण्डितैः = पण्डितहरूले, याथासंख्येन = क्रमैले (क्रमशः), अनयोः = यी दुईको, भेदः = फरक, ज्ञेयः = जान्नु पर्छ ॥

जसरी जान खोज्ने र जाने व्यक्तिमा अन्तर छ त्यसरी नै क्रमशः यिनीहरूमा पनि त्यस्तै भेद छ भनेर विद्वान्ले बुझ्नुपर्छ।

जान इच्छा गर्नु र हिँडिहाल्नुमा केही अन्तर छ। इच्छा मनमा भएको हुन्छ भने हिड्ने काम व्यवहारमै उत्रिसकेको हुन्छ तर पनि मनले जान चाहना पनि गरिएन भने एकै पटक हिँडिहाल्ने काम हुन सक्दैन। त्यसैगरी बोधि-प्रणिधि चित्त भनेको सम्यक् सम्बोधिका निमित्त कपट र बनावटीपनले रहित भएर गरिएको अभिलाषा हो। यसमा "समस्त जगत्लाई दुःखबाट मुक्त गर्न बुद्धता प्राप्ति गरूँ" भन्ने मानसिक चाहना हुन्छ। त्यही चाहनाले युक्त भएको चित्तलाई बोधिप्रणिधिचित्त भन्दछन्। यो चाहना अकृत्रिम छ किनभने त्यहाँ आफ्नो कुनै स्वार्थ छैन। त्यसकारण यो एक प्रकारको विशुद्ध सङ्कल्प हो। त्यसैले 'प्रणिधि' भनिएको हो। यस्तो चित्त उत्पन्न भैसकेपछि व्यक्ति (पुद्गल) त्यो चित्त अनुसारको कार्यमा लाग्छ। त्यो कार्य बोधिसत्वसंवरहरू ग्रहण गरेर ज्ञानसम्भार र पुण्यसम्भारका निमित्त खट्नु हो। यसरी कार्यमा खटिसकेको बेलाको चित्तलाई बोधिप्रस्थानचित्त भनिन्छ। यसको तात्पर्य के भयो भने उ बोधिमार्गमा हिँडिसकेको छ।

कार्यमा नउत्रिसकेको त्यो प्रणिधिचित्तको पनि ठूलो महत्व हुन्छ भन्ने कुरा अब बताउनुहुन्छ -

बोधिप्रणिधिचित्तस्य संसारेऽपि फलं महत्।
न त्वविच्छिन्नपुण्यत्वं यथा प्रस्थानचेतसः ॥१७॥

बोधिप्रणिधिचित्तैको जगत्मा छ ठूलो फल
तर प्रस्थानको जस्तो अटूट पुण्य छैन त ॥१७॥

अन्वयार्थ : वोधिप्रणिधिचित्तस्य = वोधिप्रणिधिचित्तको, संसारे अपि = संसारमा पनि, महत् फलम् = ठूलो फल छ, परन्तु, प्रस्थानचेतसः = वोधिप्रस्थानचित्तको, यथा = जस्तै, अविच्छिन्नपुण्यत्वं = कहिल्यै विच्छेद नहुने अर्थात् नटुट्ने किसिमको पुण्य हुन्छ, त्यस्तो त, न तु = हुँदैन ॥

बोधिप्रणिधिचित्तको त संसारमा (लोकमा) पनि ठूलो फल हुन्छ तैपनि प्रस्थानचित्तको जस्तो अविच्छिन्न पुण्य भने यसको हुदैन।

प्रणिधिचित्त मात्र छ भने समाधिभावना, चर्या आदि गरिएको हुँदैन। त्यसैले सीधै बुद्धता प्राप्ति त गराउँदैन परन्तु अन्य लौकिक पुण्यभन्दा यो धेरै उच्चकोटिको हुनेभएकोले लौकिक फलहरू पनि यसले उच्चकोटिकै दिन्छ। त्यसैले संसारमै पनि यसको ठूलो फल हुन्छ भनिएको हो। राजाववाद सूत्रमा भनिएको छ कि चर्या गर्न नसके पनि यो प्रणिधिचित्तलाई कहिल्यै पनि त्यागनु र कम हुन दिनुहुँदैन किनकि यसको त लौकिक फल पनि धेरै माथिको हुन्छ र पछि बोधि पनि दिलाउन सक्छ त्यसोभए पनि प्रस्थानचित्तको जस्तो सधै उत्तरोत्तर बढ्दै गइराख्ने र कहिल्यै विच्छेद नहुने खालको पुण्य यसको हुँदैन। किनभने प्रस्थानचित्तले बुद्धताप्राप्ति नै गराउन सक्छ। प्रस्थानचित्तले कसरी अविच्छिन्न पुण्यधारा निकाल्छ भन्ने बयान गर्न तलका दुई श्लोकहरू लेख्नुहुन्छ -

यतः प्रभृत्यपर्यन्तसत्वधातुविमोक्षणे।
समाददाति तच्चितमनिवर्त्येन चेतसा ॥१८॥

ततः प्रभृति सुप्तस्य प्रमत्तस्याप्यनेकशः।
अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः प्रवर्तन्ते नभःसमाः ॥१९॥

जवदेखि मुक्त गर्ने अनन्त सत्वधातुको
नफर्कने चित्तद्वारा लिन्छ प्रस्थानचित्त त्यो ॥१८॥

तवदेखि सुतेमा या मातेमा पनि धेर नै।
अविच्छिन्न पुण्यधारा आकाशै जति झर्दछन् ॥१९॥

अन्वयार्थ : *यत: प्रभृति = जुनवेलादेखि, अपर्यन्तसत्वधातुविमोक्षणे = सीमा नै नभएका प्राणीहरूलाई मुक्त गर्नमा, तच्चित्तं = त्यो चित्तलाई अर्थात् बोधिचित्तलाई, अनिवर्त्येन = कहिल्यै नफर्किने किसिमको, चेतसा = चित्तले, समाददाति = ग्रहण गर्दछ ॥*

तत: प्रभृति = त्यो वेलादेखि, सुप्तस्य = सुतेको भए पनि या, प्रमत्तस्य = प्रमत्त अर्थात् विक्षिप्त भएको अवस्थामा पनि, अनेकश: = धेरै पटक अर्थात् वारम्वार, नभ: समा: = आकाशै समानका, अविच्छिन्ना: = विचमा कहिल्यै नटुट्ने खालका, पुण्यधारा: = पुण्यका धारा, प्रवर्तन्ते = प्रवृत्ति हुन्छन् याने झर्न थाल्छन् ॥

यस प्रकार जबदेखि अनन्त प्राणीहरूलाई दु:खबाट तार्छु भन्ने इच्छाले बोधिप्रस्थानचित्तलाई फेरि नछोड्ने गरी ग्रहण गरिन्छ तबदेखि सुत्ने, खाने, बस्ने जस्ता खालका सामान्य दैनिक क्रियाकलापहरू गरिरहँदा पनि, ध्यानमा नरहेकै अवस्थामा पनि अथाह पुण्य जम्मा भइरहेको हुन्छ।

इदं सुवाहुपृच्छायां सोपपत्तिकमुक्तवान्।
हीनाधिमुक्तिसत्वार्थं स्वयमेव तथागतः ॥२०॥

सुवाहुपृच्छासूत्रैमा युक्तिपूर्वक भन्नुभो
तथागत स्वयं आफै हीनयानीहरूकन ॥२०॥

अन्वयार्थ : इदं = यो कुरा, तथागतः = भगवान् तथागत (वुद्ध) ले, स्वयम् एव = आफै नै, हीनाधिमुक्तिसत्वार्थं = श्रावक र प्रत्येकवुद्धगोत्रीय पुद्गलहरूका निमित्त (हीनयानीहरूका निमित्त), सुवाहुपृच्छायां = सुवाहुपरिपृच्छासूत्रमा, सोपपत्तिकम् = प्रमाणसहित, उक्तवान् = वताउनु भएको छ ॥

यो कुरा सुबाहुप्रृच्छा सूत्रमा स्वयं तथागतले नै प्रमाण दिंदै हीन अधिमुक्ति भएकाहरूलाई बताउनभएको छ। तथागतले बताएका ती युक्तिहरू निम्न अनुसार छन् -

शिरः शूलानि सत्वानां नाशयामीति चिन्तयन्।
अप्रमेयेण पुण्येन गृह्यते स्म हिताशयः ॥२१॥

किमुताप्रतिमं शूलमेकैकस्य जिहीर्षतः।
अप्रमेयगुणं सत्वमेकैकं च चिकीर्षतः ॥२२॥

शिरदर्द नाश गर्न प्राणीको चाहने कुनै
हितैषी पनि ठानिन्छ अनन्त पुण्यको धनी ॥२१॥

हरेकका ती असंख्य दुःख हर्न, हरेक नै
असंख्य गुणले युक्त गर्न खोज्ने त के कुरै ॥२२॥

अन्वयार्थ : सत्वानां = प्राणीहरूका, शिरःशूलानि = टाउको दुःख्ने पीडाहरूलाई, नाशयामि इति = नाश गर्दछु भन्ने यस्तो, चिन्तयन् = विचार गर्ने व्यक्ति, हिताशयः = हितैषी भनी, अप्रमेयेण = प्रमाणै गर्न नसकिने अर्थात् धेरै, पुण्येन = पुण्यद्वारा, गृह्यते स्म = ग्रहण गरिन्छ भने ॥

एकैकस्य = प्रत्येक प्राणीको, अप्रतिमं = अति धेरै, शूलं = दुःखलाई, जिहीर्षतः = हरण गर्न चाहने र, एकैकं सत्वम् = प्रत्येक प्राणीहरूलाई, अप्रमेयगुणं च = अपार गुणले युक्त पनि, चिकीर्षतः = गराउन खोज्नेको, किं उत = के हुँदैन त ? (अर्थात् के अपार पुण्य हुन सक्दैन ?) ॥

सामान्य टाउको दुख्ने जस्ता पीडालाई औषधि या मन्त्र इत्यादिको प्रयोगबाट नाश गरिदिन्छु भन्ने व्यक्ति त हितैषी भनेर अनन्तपुण्यको भागी कहलाउँछ भने यो सारा जगत्का समस्त प्राणीहरूको सम्पूर्ण दुःखलाई आत्यन्तिक रूपबाट हटाएर मुक्त पार्छु भन्ने आशय लिने व्यक्तिको त्योभन्दा कैयौं गुणा अपार पुण्य हुँदैन ? अवश्य हुन्छ। त्यति मात्र नभएर उसले (बोधिसत्वले) त ती प्राणीहरूलाई असीम गुणहरूले युक्त पनि पार्छु अर्थात् बुद्ध बनाउँछु भन्ने प्रतिज्ञा गरेको छ भने के त्यसको पुण्यधारा वर्षदैन ?

कस्य मातुः पितुर्वापि हिताशंसेयमीदृशी।
देवतानां ऋषीणां वा ब्रम्हणां वा भविष्यति ? ॥२३॥

कसका माता पिताको वा देवता ऋषिको तथा
ब्रम्हादिहरूको होला यस्तो पूर्ण हितैषिता ॥२३॥

अन्वयार्थ : कस्य = कसका, मातुः = आमाको, वा = अथवा, पितुः अपि = वावुको पनि, देवतानां = देवताहरूको, वा = अथवा, ऋषीणां = ऋषिहरूको, वा = अथवा, ब्रम्हणां = ब्रम्हाहरूको (विधाताहरूको), इयम् ईदृशी = यस्ता प्रकारको यो, हिताशंसा = कल्याणकारी वुद्धि, भविष्यति = होला ?

यस्तो हिताशय कसका आमा या बाबुको हुन सक्ला ? या कोही देवता, ऋषि या ब्रह्माहरूको पनि हुन सक्ला ? कसैको पनि हुँदैन ।

आमा, बाबुहरूले केवल यही लोकमा मात्र सुखी रहेको देख्न चाहान्छन् । त्यसभन्दा परको विषयमा उनीहरूको पनि सोच्ने विचार्ने क्षमता सामान्यतया नहुने भएकोले र आफू स्वयं पनि क्लेशग्रस्त भएकाले गर्दा बोधिसत्वहरूको तहबाट हित गर्न सक्दैनन् । त्यस्तै अन्य इन्द्र, वरुण, सोम आदि देवताहरूले या वसिष्ठ, गौतम आदि ऋषिहरूले पनि, सृष्टिकर्ता भनिने ब्रम्हा र अन्य ब्रम्हाहरूले पनि प्राणीहरूको त्यो तहबाट हित सोच्न सक्दैनन् किनभने उनीहरू पनि स्वयं त्रिधातुबाट मुक्त भएका छैनन् र त्यस्तो बोधिचित्त उत्पाद गरेका पनि छैनन् ।

तेषामेव च सत्वानां स्वार्थे ऽ प्येष मनोरथः ।
नोत्पनपूर्वः स्वप्ने ऽ पि परार्थे सम्भवः कुतः ॥२४॥

यी प्राणीहरूकै त्यस्तो सदिच्छा अघि स्वार्थमा
भएन सपनामा त के होला झन् परार्थमा ॥२४॥

अन्वयार्थ : तेषाम् एव च सत्वानां = ती प्राणीहरूको नै, एप मनोरथः = यस्तो इच्छा, स्वार्थे अपि = स्वार्थमा पनि, स्वप्ने अपि = सपनामा समेत, न उत्पन्नपूर्वः = पहिले उत्पन्न भएको थिएन भने, परार्थे = अरुका निमित्त त, कुतः = कहाँवाट, सम्भवः = सम्भव हुन्छ ?

ती मातापिता आदिको यस्तो सबै दुःखबाट तर्ने र सबै गुणहरू प्राप्त गर्ने इच्छा त आफ्नै लागि सपनामा समेत कहिल्यै आउन सकेन भने जागेको अवस्थामा, बुद्धिले काम गरेकै वेला झन् अरु प्राणीहरूका निमित्त त्यस्तो इच्छा उत्पन्न हुने सम्भावना छ त ? छैन । संसारमा सबभन्दा प्यारो आफै नै हो । त्यसमा त त्यस्तो इच्छा नभएपछि अरुका लागि त्यस्तो इच्छा कसरी हुन सक्छ ?

सत्वरत्नविशेषो ऽ यमपूर्वो जायते कथम् ।
यत्परार्थाशयो ऽ न्येषां न स्वार्थे ऽ प्युपजायते ॥२५॥

अपूर्व रत्न सत्वैको यो जन्मिन्छ कसो गरी
जस्को परार्थ अरुको स्वार्थभन्दा भयो वढी ॥ २५॥

अन्वयार्थ : अयम् = यो, अपूर्वः = पहिले नभएको, सत्वरत्नविशेपः = प्राणीहरूमा रत्नै समानको व्यक्ति, कथम् = कसरी, जायते = जन्मिन्छ ? वडो आश्चर्य छ ! यत्परार्थाशयः = जस्को अरुका निमित्तको आशय, अन्येपां = अरु सामान्य प्राणीहरूमा, स्वार्थे ऽ पि = आफ्ना निर्मित्त पनि, न उपजायते = उत्पन्न हुँदैन ॥

पहिले यस्ता व्यक्तिहरू न देखिएकाले यी बोधिसत्वहरू अपूर्व छन् । फेरि यिनीहरूको गुण अपार भएकोले प्राणीहरूमा रत्नै समानका हुन् । यस्ता व्यक्तिहरू जन्मिनु धेरै आश्चर्यको कुरा हो र प्रायः त्यस्ता महापुरुषहरू दुर्लभै जन्मिन्छन् । किनभने अरु सामान्य प्राणीहरूले या मानिसहरूले पनि आफ्नो निमित्त समेत लिन नसकेको त्यस्तो उत्तम आशय यिनीहरूले अरु प्राणीका निमित्त लिएर अघि बढेका छन् ॥

जगदानन्दबीजस्य जगद्दुःखौषधस्य च ।
चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्रमीयताम् ॥२६॥

जगत्कै सुखको बीज, औषधी लोकदु:खको
नापिन्छ कसरी पुण्य, यस्तो सुचित्तरत्नको ॥२६॥

अन्वयार्थ : जगदानन्दवीजस्य = जगत्कै आनन्दको वीजसमान भएको, जगद्दु:खौपधस्य च = जगत्कै दु:खको औपधिसमान भएको, चित्तरत्नस्य = चित्तको रत्न समानको वोधिचित्तको, यत् पुण्यं = जुन पुण्य हुन्छ, तत् = त्यो, कथं = कसरी. प्रमीयताम् = नाप्नं सकिन्छ ?

जगत्कै आनन्दको बीज र जगत्कै दु:खको औषधी भएको यो चित्तरत्नको जुन पुण्य हुन्छ त्यो कसरी नाप्न सकिन्छ ?

यो लोकको दु:खलाई हटाउने भएकोले त्यो दु:खको औषधि नै हो र लोककै सुखको बीज समानको छ। यस्तो चित्त ज्यादै मूल्यवान् र दुर्लभ भएकोले रत्न समानको छ। त्यसकारण यस्तो यो चित्तको जति पुण्य हुन्छ त्यो कसरी नाप्न सकिन्छ ? अर्थात् त्यो पुण्य यति धेरै हुन्छ कि त्यसलाई नाप्नै सकिंदैन। "बोधिचित्तबाट जुन पुण्य हुन्छ त्यो यदी देख्न सकिने भए यो सारा आकाश धातुलाई त्यसले भरेर त्यहाँभन्दा पनि माथि निस्कन्थ्यो" भनेर आर्यवीरदत्तपरिपृच्छामा बताइएको छ।

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते।
किं पुनः सर्वसत्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ॥२७॥

हितेच्छा मात्र बुद्धैको पूजाभन्दा बढी भए
महासुखी सबै सत्व पार्ने उद्यम झन् त के ? ॥२७॥

अन्वयार्थ : हिताशंसनमात्रेण = हित गर्छु भनेर प्रार्थना (प्रणिधान) मात्र गर्दा पनि, वुद्धपूजा = वुद्धको पूजा, विशिष्यतं = विशेप वनाईन्छ अर्थात् वुद्धपूजा भन्दा विशेप हुन पुग्छ भने, पुन: = फेरि, सर्वसत्वानां = सवै प्राणीहरूलाई, सर्वसौख्यार्थ = सत्रै प्रकारका सुख दिन्छु भनेर, उद्यमात् = प्रयास गरिरहनाले त, किम् = के भन्नु र !

'सवै सत्वहरूलाई दु:खबाट मुक्त पारी बुद्धपदमा पुऱ्याऊँ' भन्ने आशयले प्रार्थना अथवा प्रणिधान गर्नु मात्र पनि बुद्धपूजाभन्दा बढी पुण्यदिने हुन्छ भने सबै प्राणीलाई दु:खबाट मुक्त गराएर सबै किसिमका (लौकिक र लोकोत्तर) सुख दिन्छु भनेर उद्योगै गरिरहेका छन् भने त तिनीहरूको पुण्य झन् कति होला ? अर्थात् बोधिप्रणिधिचित्त उत्पादको मात्र पुण्य पनि बुद्धपूजाको पुण्यभन्दा धेरै हुन्छ भने बोधिप्रस्थानचित्तको त अति नै धेरै हुनु स्वाभाविकै हो।

यसरी बोधिचित्तको गुण बताएपछि, आफ्नो हित र अहित छुट्याउन प्राणीहरू स्वयं नै पोख्त हुन्छन् भने बोधिसत्वको यो उद्यमको के प्रयोजन रह्यो त भन्ने शंकालाई समाधान गर्न आचार्य भन्नुहुन्छ–

दु:खमेवाभिधावन्ति दु:खनि:सरणाशयाः।
सुखेच्छयैव सम्मोहात् स्वसुखं घ्नन्ति शत्रुवत् ॥२८॥

हटाउँछु दु:ख भन्ने दौडिन्छन् दु:खतर्फ नै
सुखेच्छाले सुखै नाश्छन् अज्ञानी भइ शत्रु झैं ॥२८॥

अन्वयार्थ : दु:खनि:सरणाशया: = दु:खलाई हटाउन चाहनेहरू, दु:खम् एव = दु:खतिर नै, अभिधावन्ति = दौडिन्छन् । सम्मोहात् = थाहा नपाएर (मोहले), सुखेच्छया = सुखको चाहनावाट पनि, स्वसुखं एव = आफ्नो सुखलाई नै, शत्रुवत् = शत्रुलेझैं गरी, घ्नन्ति = नाश गर्दछन् ।

प्राणीहरूले आफ्नो दुःख हटाउन चाहान्छन् तापनि दुःख कसरी हट्छ भन्ने कुरा थाहा नभएकोले गर्दा दुःखतर्फै दौडिरहेका हुन्छन् । त्यस्तै सुख चाहना गर्नेले पनि सुख पाउने तरीका नजानेर आफ्नै सुखलाई शत्रुले जसरी नष्ट पार्दछन् । जसरी एउटा पुतलीले बत्तीलाई देख्नासाथ त्यसप्रति आकर्षित भएर जाँदा त्यसमै जलेर मर्छ त्यस्तै दशा हामी सामान्य व्यक्तिहरूको छ ।

यस्तेषां सुखरङ्काणां पीडितानामनेकशः ।
तृप्तिं सर्वसुखैः कुर्यात् सर्वाः पीडाश्छिनत्ति च ॥२९॥
नाशयत्यपि सम्मोहं साधुस्तेन समः कुतः ।
कुतो वा तादृशं मित्रं पुण्यं वा तादृशं कुतः ॥३०॥

जस्ले ती सुख खोज्ने र अनेकौं दु:खपीडित
तृप्त गर्ला सबै सुख्ले पीडा सम्पूर्ण छिन्दछ ॥२९॥

सम्मोह नाश गरने त्योजस्तो साधु हुन्छ को
त्यस्तो मित्र कहाँ होला, त्यस्तो पुण्य कहाँ छ पो ॥३०॥

अन्वयार्थ : य: = जस्ले, तेषां = ती, सुखरङ्काणां = सुखको अभिलाषा गर्ने र, अनेकश: = अनेक प्रकारले, पीडितानां = दु:ख पाएकाहरूलाई, सर्वसुखै: = सबैप्रकारका सुखहरूले, तृप्तिं कुर्यात् = तृप्त (सन्तुष्ट) पार्छ, सर्वा:पीडा: = सवै पीडाहरूलाई, छिनत्ति च = टुक्र्याइदिन्छ (शान्त गराइदिन्छ) पनि ॥

सम्मोहं = अज्ञानलाई, अपि = पनि, नाशयति = नाश गरिदिन्छ भने, तेन समं = त्यो समानको, साधु: = सज्जन, कुत: = कहाँ पाउनु ?, वा = अथवा, तादृशं = त्यस्ता प्रकारको, मित्रं = मित्र (साथी), कुत: = कहाँ पाउनु ?, वा = अथवा, तादृशं = त्यस्तो प्रकारको, पुण्यं = पुण्य, कुत: = कहाँवाट हुन्छ ? ॥

त्यस्तो अवस्थामा, जस्ले यी अनेकथरिका दुःखले पीडित भैराखेका प्राणीहरूका सबै प्रकारका दुःख र पीडाहरू पनि शान्त गराउँछ, अनि सबै किसिमका सुखहरूले पनि सन्तृप्त पार्छ र अझै त्याग गर्नुपर्ने (हेय) र ग्रहण गर्नुपर्ने (उपादेय) कुराको उपदेशद्वारा हाम्रो अज्ञानलाई समेत नष्ट पार्छ त्यस्तो बोधिसत्वसमान अर्को सज्जन साधु कहाँ पाइन्छ ? त्यस्तो उत्तम मित्र कहाँ पाइन्छ ? त्यसबाट मिल्ने पुण्यसमानको पुण्य अरू केवाट मिल्छ ? अर्थात् कतैबाट पनि त्योभन्दा बढी पुण्य हुनै सक्दैन ।

यति भनेर आचार्यले त्यस्ता बोधिसत्वहरूको महिमा वताउन थाल्नुहुन्छ -

कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत् प्रशस्यते ।
अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्वः किमुच्यताम् ॥३१॥

गर्दिए वदला गर्ने पनि हुन्छ प्रशंस्य रे ।
विना व्यापारको साधु बोधिसत्व त भन्नु के ? ॥३१॥

सत्त्रदायक - भोजनदिनेव्यक्ति

अन्वयार्थ : यः = जस्ले, कृते = गरेका खण्डमा, प्रतिकुर्वीत = प्रत्युपकार गर्ला, सोऽपि = त्यो पनि, तावत् = त्यस अवस्थामा, प्रशस्यते = प्रशंसा गरिन्छ भने, अव्यापारितसाधुः = व्यापार नगर्ने सज्जन अर्थात् स्वार्थ र लिनु-दिनु केही नभएको सज्जन, बोधिसत्वः तु = बोधिसत्व त, किम् उच्यताम् = के भन्नु ? ॥

उपकार गर्दा प्रत्युपकार गर्ने व्यक्ति त प्रशंसनीय हुन्छ भने व्यापार रहित (लेनदेनको कुनै पनि अपेक्षा नभएको) साधु स्वरूप बोधिसत्वको त कुरै के गर्नु ?

जस्ले आफूलाई दुःख, भय, संकट आदि परेको अवस्थामा केही सहायता या उपकार गर्छ त्यसप्रति उसले पनि प्रत्युपकार गर्छ र उक्त सहायताको बदला चुकाउँछ । त्यसरी प्रत्युपकार गर्ने व्यक्तिलाई पनि मानिसले 'यो त सज्जन हो, राम्रो मानिस हो' भन्ने प्रशंसा गर्छन् र उ सबैको प्रशंसनीय नै हुन्छ भने जो बोधिसत्वले आफूलाई कुनै प्रकारको प्रार्थना नगरेको अवस्थामा या सहयोगै नमागेको अवस्थामा पनि प्राणीहरूलाई सुख र हित होस् र दुःखबाट मुक्त गराउँछु भनेर लागि पर्छन् र गर्छन् पनि, त्यस्ता कुनै प्रतिफलको आशा पनि नराखेरै अरूलाई हित गर्ने अव्यापारितसाधुहरूको बारेमा त झन् के बताइरहनु ? उनीहरूको प्रशंसा गरेर पनि सकिँदैन ।

> कतिपयजनसत्त्रदायकः कुशलकृदित्यभिपूज्यते जनैः ।
> क्षणमशनकमात्रदानतः सपरिभवं दिवसार्धयापनात् ॥३२॥

दिँदा पनि सत्त्र त केहिलाई पूजिन्छ पुण्यात्म भनी जनैले
छिन्‌मात्र खाना भनिँदो दिएमा आधा दिनै सम्म, गरेर हेला ॥३२॥

अन्वयार्थ : कतिपयजनसत्त्रदायकः = सीमित मानिसलाई भोजन दान गर्नेले, क्षणम् = एक छिन्‌मात्र, सपरिभवम् = तिरस्कार पूर्वक, दिवसार्धयापनात् = आधादिन बिताउनेसम्म, अशनकमात्रदानतः = अगतिलो भोजनमात्रै दिएर पनि, जनैः = मानिसहरूद्वारा, कुशलकृद् इति = कुशल कर्म गर्ने पुण्यात्मा भनेर, अभिपूज्यतेः = राम्ररी सम्मान गरिन्छ भने ॥

केही सीमित व्यक्तिलाई सत्त्र दिने दातालाई त मानिसद्वारा अतिपुण्यवान् मानिन्छ र सम्मान गरिन्छ, त्यो पनि एक छाकमात्र खान दिएको र तिरस्कार गर्दै एकछिनमात्र दिएको कारणले (भने-)

केही निश्चित संख्यामा गरीब, गुरुवा, अतिथिहरूलाई जलपान, या भोजन दिने व्यवस्थालाई 'सत्त्र' (भण्डारा) भनिन्छ । त्यसकारण सीमित जनालाई त्यो सत्त्रमा खान दिइन्छ । दाताले ल्याउने खाना नाउँमात्रको हुन्छ र उत्तम हुँदैन, तरकारी अचार आदि व्यञ्जनले परिपूर्ण हुँदैन । त्यो पनि निरन्तर नदिएर एकै छिनमात्र दिइन्छ । त्यसले दिनभरिलाई पनि पुग्दैन, आधादिन (एक छाक) मात्र हुन्छ । त्यस्तो दान दिनेवालाले त्यहाँ हेला, तिरस्कार गरेर दिएको हुन्छ । त्यस्तो अवस्थामा पनि त्यो सत्त्रपति (दानपति) 'अत्यन्त पुण्यवान् रहेछ' भनेर लोकले उसको सम्मान गरिराखेका हुन्छन्, उ सम्मानित हुन्छ भने बोधिसत्वले गर्ने दान त यसको ठीक उल्टो हुन्छ भन्ने कुरा तल देखाइन्छ -

> किमु निरवधिसत्वसंख्यया निरवधिकालमनुप्रयच्छतः ।
> गगनजनपरिक्षयाक्षयं सकलमनोरथसम्प्रपूरणम् ॥३३॥

असंख्यलाई अवधि नराखी
    आकाशवत् सत्त्व नसिद्धियून्जी
आशा सबैको गरदै त पूरा
    दिइरहेकाहरूको त के कुरा ॥३३॥

अन्वयार्थ : *निरवधिसत्वसंख्यया = सत्वहरूको संख्याको सीमा नै नराखेर, निरवधिकालम् = 'यति समय सम्म'भन्ने जस्तो समयको अवधि नै नराखेर, गगनजनपरिक्षयाक्षयं = आकाश समानका सत्वहरूको अन्त्य नहुँदासम्म दिइरहनाले गर्दा 'अक्षय' (कहिल्यै नाश नहुने) भएको, सकलमनो- थसम्प्रपूरणम् = सबैका सबै प्रकारका इच्छा आकांक्षाहरूलाई पूरा गर्ने भएको (दान), अनुप्रयच्छत: = दिइराख्ने (बोधिसत्व) को त, किमु = के नै भन्नु र ? ॥*

कुनै अवधि नतोकेर असंख्य एवं आकाशैसमान व्याप्त प्राणीहरू नसिद्धियुन्जेल सबैको आशा पूरा गर्ने गरी निरन्तर दान गरिरहनेहरूको त के नहोला ?

बोधिसत्वले यतिजनालाई दिन्छु भन्ने सीमा तोकेका छैनन् अर्थात् सयजना, हजारजना या लाखजनालाई दिन्छु भन्ने छैन । उनीहरूको दानकापात्रको सीमा नै हुँदैन । फेरि मैले यति वर्ष या यति दिनसम्म दिन्छु भन्नेजस्तो समयको अवधि पनि छैन । उनीहरूले त जबसम्म यो आकाश र आकाशै समानका प्राणीहरू पनि यहाँ हुन्छन् तबसम्म नै दान गरिराख्छु भन्ने प्रण गरेका हुन्छन् । परन्तु यथार्थमा न आकाश नै सिद्धिन्छ, न सत्वहरू नै सिद्धिन्छन् । त्यसो हुनाले बोधिसत्वले दिएको दानको पनि अन्त्य हुने भएन । अतः उनीहरूको दान अक्षय हुन्छ । अनि यो दिने, त्यो नदिने, यस्लाई दिने, त्यस्लाई नदिने भन्ने पनि कुनै निश्चित हुँदैन । जसलाई जे जे चाहिन्छ त्यसलाई त्यही त्यही उनीहरूले निरन्तर दिइरहन्छन् । अतः सबैका सबै प्रकारका मनोरथ पूर्ण गर्ने खालको दान बोधिसत्वहरूले गर्छन् । त्यस्तो गर्ने बोधिसत्वको के प्रशंसा, पूजा नगर्नु त ? नारायणपरिपृच्छा सूत्र अनुसार त उनीहरूले आफ्नो अंगै काटेर पनि दिन्छन् भन्ने बताएइको छ ।

यसरी गुणका खानि र अरूको सुखकै निमित्त आफू खट्ने एकमात्र महाब्रत लिएका त्यस्ता बोधिसत्वहरूको द्वेष गर्नुको फल निकै नराम्रो हुन्छ भन्ने देखाउन भन्नुहुन्छ-

इति सत्त्रपतौ जिनस्य पुत्रे कलुषं स्वे हृदये करोति यश्च ।
कलुषोदयसंख्यया स कल्पान् नरकेष्वावसतीति नाथ आह ॥३४॥

जो सत्वका मालिक बोधिसत्व यिन्लाई गर्ला यदि पापचित्त
विचार पाप्कै जति कल्पसम्म त्यो बस्ला नरक्मा भनि नाथ भन्नुभो ॥३४॥

अन्वयार्थ: *इति = यसप्रकार, य: = जस्ले, सत्त्रपतौ = सत्त्रदानका मालिक भएका, जिनस्य पुत्रे = बोधिसत्वहरूप्रति, स्वे हृदये = आफ्नो मनमा, कलुपं करोति = पापचित्तलाई पैदा गर्छ या पाप चिताउने काम गर्छ, स = त्यो, कलुपोदयसंख्यया = पापचित्त उदाएको क्षणका संख्या बराबरका, कल्पान् = कल्पहरूसम्म, नरकेपु = नरकहरूमा, आवसति इति = बस्छ भनेर, नाथ: = भगवान् बुद्धले, आह = भन्नुहुन्छ ॥*

यस्ता सत्रका मालिक समानका जिनपुत्र (बोधिसत्व)हरूप्रति जसले आफ्नो मनमा पाप चिताउँछ उ त्यो पाप पैदाभएको क्षणबराबरको कल्पसम्म नरकमा वास गर्नपुग्छ भनी नाथले बताउनुभएको छ ।

अर्थात् बोधिसत्वहरूप्रति खराब चिताउनेले जतिक्षणसम्म खराब चितायो त्यति कल्पसम्म नरकवास भोग्नुपर्छ भन्ने कुरा भगवान् बुद्धले प्रशान्तविनिश्चय प्रातिहार्य सूत्रमा बताउनुभएको छ। त्यस्तै श्रद्धाबलाधान अवतार सूत्रमा के बताइएको छ भने बोधिसत्वहरू नै बुद्धका मूल भएका हुनाले स्तूप, देवनिकाय आदि र सबै सुखहरू बोधिसत्वबाटै निस्कने हुन्छन्। त्यसैले बोधिसत्वको तिरस्कारले बुद्धहरूको नै तिरस्कार हुन पुग्छ, र नरकमा बस्नुपर्ने हुन्छ। त्यस्तै-

अथ यस्य मनः प्रसादमेति प्रसवेत्तस्य ततोऽधिकं फलम्।
महता हि बलेन पापकं जिनपुत्रेषु शुभं त्वयत्नतः ॥३५॥

अनि मन् जसको प्रसन्न हुन्छ त्यसभन्दा पनि धेर फल् त फल्छ
वल धेर लगाईंदा छ पाप शुभ होला जिनपुत्रमा सजीलै ॥३५॥

अन्वयार्थ : अथ = अनि, यस्य = जसको, मनः = मन, जिनपुत्रेपु = बोधिसत्वहरूप्रति, प्रसादम् एति = प्रसन्न हुन पुग्छ, तस्य = त्यसको, ततः = त्यो प्रसन्नताको भन्दा पनि, अधिकं फलं = धेरै फल, प्रसवेत् = फल्नेछ। (जिनपुत्रेपु = बोधिसत्वहरूप्रति), पापकं = पापकुरा त, महता बलेन हि = ठूलै प्रयत्नबाट मात्र हुन्छ, जब कि, शुभं तु = राम्रो चिताउने काम त, अयत्नतः = विना प्रयासै हुन्छ ॥

फेरि जसको मन उनीहरूप्रति प्रसन्न रहन्छ त्यसले पनि धेरै नै शुभ फल दिनेछ। जिनपुत्रहरूमा पाप चिताउन गाह्रो हुन्छ भने शुभ चिताउन बरु धेरै सजिलो छ।

बोधिसत्वहरूप्रति आफ्नो मन प्रसन्न हुन्छ भने त्यसको फल पनि सामान्य अवस्थाको भन्दा धेरै गुना हुन्छ। त्यसैले पनि बोधिसत्वहरूलाई सधै राम्रो चिताउनुपर्छ। फेरि बोधिसत्वहरूले हरेक प्राणीलाई मैत्री र करुणा नै गरिरहेका हुन्छन्। त्यसैले पनि उनीहरूप्रति कुभलो चिताउने प्राणी विरलै मात्र हुन्छन्। अतः बोधिसत्वप्रति खराब चिताउनु र त्यसबाट पापकर्म सञ्चय गर्नु धेरै गाह्रो छ। त्यस्तो हुँदाहुँदै पनि किन उनीहरूलाई जबर्जस्ती खराब सोच्नु ? बरु राम्रो चिताउनु र भलो गर्नु नै सजिलो छ। त्यसको निमित्त त प्रयत्न पनि गर्नुपर्दैन।

नियतानियतावतारमुद्रासूत्रमा के बताइएको छ भने सबै लोकधातुका सबै प्राणीहरूका आँखा नष्ट भए र कोही मैत्रीचित्त भएको व्यक्तिले उनीहरूलाई आँखा दिने काम गऱ्यो भने त्यसको पुण्यभन्दा कसैले बोधिसत्वलाई राम्रो दृष्टिले देख्यो भने पनि त्यसबाट आर्जन हुने पुण्य नै धेरै हुन्छ। त्यसकारण बोधिसत्व त पुण्यक्षेत्र नै हुन्।

अब त्यस्तो अमूल्य बोधिचित्त उत्पन्न भएका प्राणीहरूप्रति आफ्नो प्रणाम टक्र्याउँदै आचार्य शान्तिदेवले भन्नुहुन्छ :-

तेषां शरीराणि नमस्करोमि यत्रोदितं तद्वरचित्तरत्नम्।
यत्रापकारोऽपि सुखानुबन्धी सुखाकरांस्तान् शरणं प्रयामि ॥३६॥

गर्छु नमस्कार शरीर तिन्को, जहाँ त यो चित्तरत्नै उदायो
हेला गरेमा पनि ल्याउने सुखै, जान्छु शरणमा यि सुखाकरैको ॥३६॥

अन्वायार्थ : यत्र = जहाँ, तद् = त्यो, वरचित्तरत्नम् = श्रेष्ठ चित्तरूपी रत्न, उदितं = उदाएको छ, तेपां = ती व्यक्ति (प्राणी)

हरूको, शरीराणि = शरीरलाई, नमस्करोमि = प्रणाम गर्दछु । यत्र = जहाँ, अपकारः अपि = अपकार भयो भने पनि, सुखानुवन्धी = सुखलाई नै ल्याउने हुन्छ , तान् = त्यस्ता, सुखाकरान् = सुखका खानिहरूको, शरणं = शरणमा, प्रयामि = जान्छु ॥

चिन्तामणि समानको उत्तम चित्तरत्न (बोधिचित्त) उदाएका यी महापुरुषहरूको शरीरलाई वन्दना गर्छु। किनकि उहाँहरूमा कसैगरी अपकार भैहाल्यो भने पनि उहाँहरूको मैत्री र करुणाको प्रणिधानले गर्दा सुखै ल्याउँछ। फेरि उहाँहरूप्रति अपकार गर्ने विचारै आउन मुश्कील हुन्छ जुन अघिल्लो श्लोकमा बताइयो। कथं कदाचित् आयो भने पनि उहाँहरूको मैत्री, करुणाको बलले गर्दा पछि गएर उहाँहरू प्रति श्रद्धा नै उत्पन्न भएर आउँछ। त्यसैले सुखै ल्याउँछ भनिएको हो। किनभने उहाँहरूले त 'मलाई गाली गर्ने, मार्ने हतियार उठाउनेहरू पनि चाँडै नै उत्तम बोधि प्राप्त गरून् भनेर उद्यम गरिराख्नुभएको हुन्छ। त्यसैले सुखै दिइराख्ने त्यस्ता सुखाकर (सुखनिधि)हरूको शरणमा जान्छु।

बोधिचर्यावतारमा बोधिचित्तानुशंसा नामक प्रथम परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त।

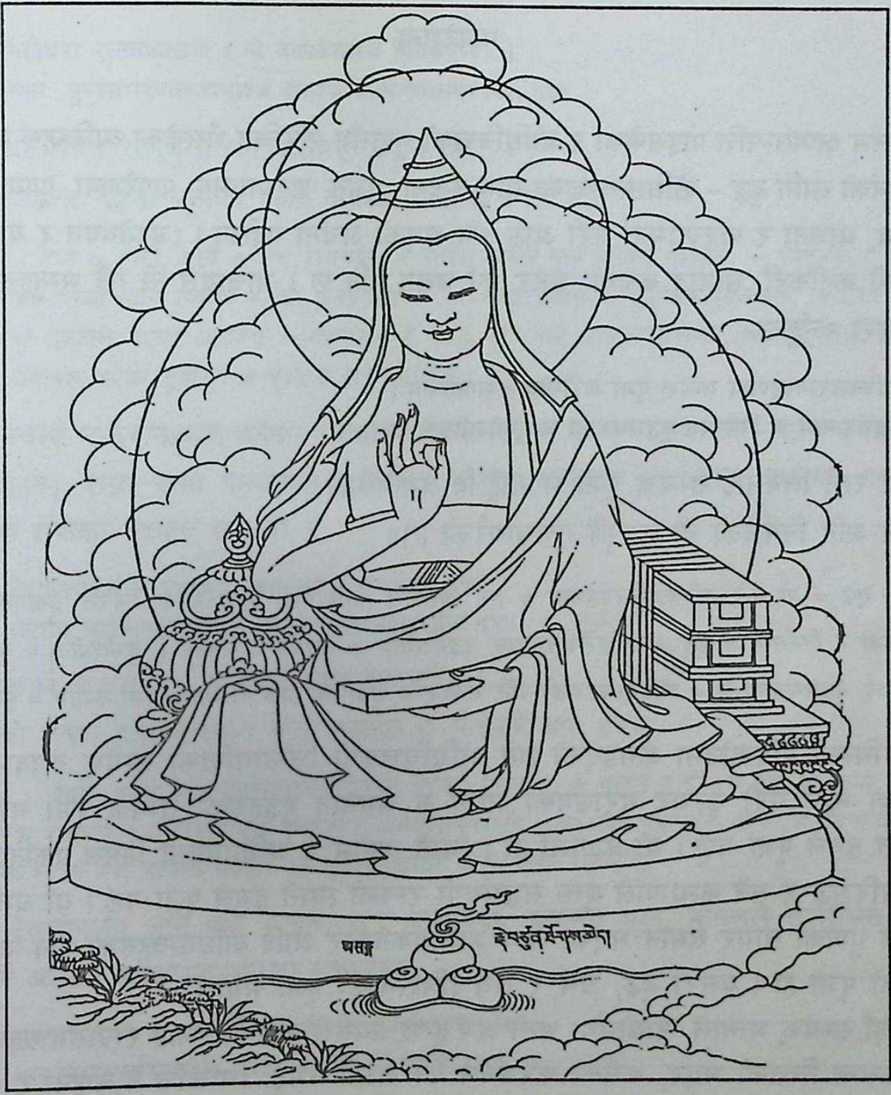

आर्य असङ्ग

[भारतको पेशावर क्षेत्रमा चौथो शताब्दीमा ब्राम्हण कुलमा जन्म लिएका आर्य असङ्ग । उहाँले मैत्रेयनाथ (अहिले तुषित भुवनमा रहनुभएका भावी तथागत) सँगै सिकेर महायानका अमूल्य पाँच ग्रन्थहरू सिकाउनुभएको थियो । ती ग्रन्थहरू महायान सूत्रालङ्कार, मन्ध्यान्तविभाग शास्त्र, धर्मधर्मताविभङ्ग, रत्नगोत्रविभाग शास्त्र (उत्तरतन्त्र) र अभिसमयालङ्कार हुन् । उहाँ वसुबन्धुका दाजु हुनुहुन्थ्यो र योगाचार माध्यमिक दर्शनका प्रवर्तक नै मानिनुहुन्छ ।]

द्वितीय परिच्छेद

पापदेशना

दुर्लभ क्षणसम्पत्ति पाइसकेका र बोधिचित्तको गुणसँग परिचित भैसकेका व्यक्तिहरू बोधिचित्त उत्पाद गर्नको लागि बुद्ध – बोधिसत्वहरूका सामु वन्दना, पूजन, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदना, अध्येषणा, याचना र परिणामना गरी आठ अंग भएको अर्चना गर्दछन्। (अध्येषणा र याचनालाई एकै सम्झी कहींकहीं 'सप्ताङ्ग वन्दना' भनेर गर्ने चलन पनि छ) आचार्यले ती गर्दै भन्नुहुन्छ जसमा पूजन यसरी गर्नुहुन्छ–

ताच्चित्तरत्नग्रहणाय सम्यक् पूजां करोम्येष तथागतानाम्।
सद्धर्मरत्नस्य च निर्मलस्य बुद्धात्मजानां च गुणोदधीनाम् ॥१॥

त्यो चित्त रत्नै लिनलाई सम्यक् पूजा म गर्छू यि तथागतैको
सद्धर्मरत्नै अनि निर्मलैको ती बुद्धपुत्रै गुणसागरैको ॥१॥

अन्वयार्थ : एष = यो मैले, तच्चित्तरत्नग्रहणाय = त्यो चित्तरत्न (बोधिचित्त) ग्रहण गर्नका निमित्त, तथागतानां = बुद्ध भगवान्हरूको र, निर्मलस्य = मल (खराबीहरू) नभएको, सद्धर्मरत्नस्य = सद्धर्मरूपी रत्नको र, गुणोदधीनां = गुणमा समुद्रै समान भएका, बुद्धात्मजानां च = बोधिसत्वहरूको पनि, सम्यक् = राम्रो (या ठीक तरीकाले), पूजां करोमि = पूजा गर्दछु ॥

अघिल्लो परिच्छेदमा बताइएको त्यो बोधिचित्तरूपी चिन्तामणिको सम्यक् रूपबाट अर्थात् फेरि नाश नहुने गरी उत्पाद गराउनको लागि म भगवान् बुद्धहरूको सम्यक् पूजा गर्छु अर्थात् अविपरीत ढंगले पूजा गर्छु। यो बुद्धपूजा हो। त्यस्तै आगम र अधिगमरूपी निर्मल प्रकृतिप्रभास्वर, त्रिकोटिपरिशुद्ध र सबै कल्याणले युक्त सद्धर्मरूपी रत्नको त्यस्तै ढंगले पूजा गर्छु। यो धर्मको पूजा हो। अनि गुणका सागर समान भएका आर्य अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्वहरूको पनि पूजा गर्छु। यो संघको पूजा हो। यसरी बुद्ध, धर्म र संघ (त्रिरत्न)को पूजा भयो।

यहाँ सम्यक् भन्नाले 'राम्रोसँग' भन्ने अर्थ हुन्छ, त्यसैले बोधिचित्तलाई राम्रोसँग ग्रहण गर्नुको मतलव प्रसन्न चित्तको भएर, कसैको करबलले गरे जस्तो नभई, भित्रदेखि नै चाहना र अभिरुचि लिएर, फेरि कहिल्यै कम हुन नदिने गरी ग्रहण गर्ने हो।

यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव भैषज्यजातानि च यानि सन्ति।
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके जलानि च स्वच्छमनोरमाणि ॥२॥

फूलै जती छन् फलहेरू त्यस्तै जती थरी औषधि छन् नि त्यस्तै
यो लोकमा रत्नहरू जती छन् मनोरम स्वच्छ जलैहरू नै ॥२॥

अन्वयार्थ : लोके = लोकमा, यावन्ति = जति पनि, पुष्पाणि = फूलहरू, फलानि च एव = फलहरू पनि छन्,(त्यस्तै) यानि च = जे जस्ता पनि, भैपज्यजातानि = औपधिप्रकारहरू, सन्ति = छन्, यावन्ति च = जति पनि, रत्नानि = रत्नहरू छन्, स्वच्छमनोरमाणि = सफा स्वच्छ र मनोहर, जलानि च = जलहरू पनि, सन्ति = छन् ॥

यो लोकमा जति पनि फल, फूल, औषधिहरू छन्, जति पनि रत्नहरू छन्, त्यस्तै यो लोकमा जति प्रकारका स्वच्छ जलहरू छन्,

महीधरा रत्नमयास्तथा ऽन्ये वनप्रदेशाश्च विवेकरम्याः ।
लताः सुपुष्पाभरणोज्ज्वलाश्च द्रुमाश्च ये सत्फलनम्रशाखाः ॥३॥

त्यस्तै अरु पर्वत रत्नयुक्त वनप्रदेशैहरू ध्यान योग्य ।
लता उज्याला गहना फूलैका फली झुकेका रुखहेरू सारा ॥३॥

अन्वयार्थ : तथा = त्यस्तै, अन्ये = अरु, रत्नमयाः = रत्नैरत्नहरूले युक्त भएका, महीधराः = पर्वतहरू र, विवेकरम्याः = चिन्तनमनन गर्नको लागि रमणीय भएका, वनप्रदेशाश्च = वनबाटिकाहरू र, सुपुष्पाभरणोज्ज्वलाः = राम्रा राम्रा फूलका गहनाहरूले उज्ज्वल भएका, लताश्च = लहराहरू र, ये = जति पनि, सत्फलनम्रशाखाः = राम्रा राम्रा फलहरू लाग्नाले झुकेका हाँगाहरू भएका, द्रुमाश्च = वृक्षहरू छन् तिनीहरू ॥

त्यस्तै रत्नैरत्नहरूले बनेका पर्वतहरू, चिन्तन मनन या एकान्तवासको लागि रमणीय भएका वनप्रदेशहरू, राम्रा राम्रा फूलहरूले सुशोभित भएका लहराहरू र उत्तम खालका फल फल्नाले हाँगाहरू झुकेका वृक्षहरू छन् ती र

देवादिलोकेषु च गन्धधूपाः कल्पद्रुमा रत्नमयाश्च वृक्षाः ।
सरांसि चाम्भोरुहभूषणानि हंसस्वनात्यन्तमनोहराणि ॥४॥

द्यौ-लोकका चन्दन धूप कल्पवृक्षै तथा रत्नवृक्षैहरू र
सरोजको भूषण हाँसको ध्वनि गूँज्ने तलाऊ त मनोरमै अति ॥४॥

अन्वयार्थ : देवादिलोकेपु च = देवताहरूका लोकमा भएका, गन्धधूपाः = चन्दन र धूपहरू एवं, कल्पद्रुमाः = कल्पवृक्षहरू र, रत्नमया वृक्षाश्च = रत्नहरूले युक्त वृक्षहरू र, अम्भोरुहभूषणानि = कमलका गहनाहरू भएका, हंसस्वनात्यन्तमनोहराणि = हाँसको स्वरले गर्दा अत्यन्त मनोहर हुन पुगेका, सराणि च = तलाउहरू पनि,

देवलोकका जति पनि चन्दन, धूप, कल्पवृक्ष, रत्नमय वृक्ष, कमलले सुशोभित र हाँसको ध्वनिले अत्यन्त मनमोहक भएका तलाउहरू,

अकृष्टजातानि च शस्यजातान्यन्यानि वा पूज्यविभूषणानि ।
आकाशधातुप्रसरावधीनि सर्वाण्यपीमान्यपरिग्रहाणि ॥५॥

धान्यादि जोतै नगरी फलेका यस्तै अरु भूषण पूज्य जन्का
आकाशधातु सरि फैलिएका सबै कसैले न ग्रहण् गरेका ॥५॥

अन्वयार्थ : अकृष्टजातानि = नजोतेरै फलेका (पैदाभएका), शस्यजातानि = धान आदि अन्नहरू (नावो अन्न), वा = अथवा, अन्यानि च = अरु पनि, पूज्यविभूपणानि = पूजा गर्न योग्य जनहरूका निमित्त आभूपण हुने खालका, इमानि = यी, अपरिग्रहाणि = कसैले नलिएका, आकाशधातु- प्रसरावधीनि = आकाशधातु समान फैलावट भएका, सर्वाणि अपि = यी सबै कुराहरू,

नजोतेरै फलेका (नावो) अन्नहरू, धानहरू एवं अन्य पूजा गर्न योग्य आभूषणहरू जति पनि छन् ती सबै कसैले नलिएका स्वच्छ र आकाशधातुलाई नै ढाक्ने परिमाणका,

आदाय बुद्ध्या मुनिपुङ्गवेभ्यो निर्यातयाम्येष सपुत्रकेभ्यः ।
गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया महाकृपा मामनुकम्पमानाः ॥६॥

लिई मनैले मुनिश्रेष्ठलाई चढाउँछु पुत्र समेतलाई
ग्रहण् गरुन् त्यो लिन योग्य उत्तम कृपालु तिन्ले त गरी कृपा ममा ॥६॥

__*अन्वयार्थ :*__ *बुद्धया आदाय = मनले लिएर, एष = यो मैले, सपुत्रकेभ्य: = पुत्रहरूले सहित भएका, मुनिपुङ्गवेभ्य: = मुनिहरूमा श्रेष्ठ भएका (बुद्ध) हरूलाई, निर्यातयामि = चढाउँछु, वरदक्षिणीया: = दक्षिणा गर्न(चढाउन)लाई उत्तम पात्र भएका, महाकृपा: = ठूलो करुणा भएका, माम् अनुकम्पमाना: = मलाई कृपा गर्ने भएका (उहाँहरूले), मे = मैले चढाएको, तत् = त्यो पूजा सामाग्रीलाई, गृह्णन्तु = ग्रहण गर्नुहोस्,*

यी सबै कुरालाई मनले लिएर पुत्रसहित मुनिश्रेष्ठहरू (बुद्धहरू) लाई चढाउँछु। दक्षिणा गर्न सबभन्दा उत्तम पात्र एवं ममाथि कृपा गर्ने भएका ती महाकारुणिकहरूले यसलाई ग्रहण गरुन् ।

अर्थात् माथि बताइएका अनन्त विशाल पूजा-सामग्रीहरूलाई मनले लिएर म बुद्ध र बोधिसत्वहरूलाई चढाई मानस पूजा गर्छु। साँच्चिकै ती वस्तु नलिएर किन मनले मात्र सोच्ने गरियो त ? भन्ने प्रश्नको उत्तर दिंदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित् ।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥७॥

अपुण्यवान् छु म महादरिद्र क्यै छैन मेरो अरु पूज्नलाई
मेरा निमित्तै त परार्थचित्त ! यै हो यथाशक्ति, लिनोस नाथ ! ॥७॥

__*अन्वयार्थ :*__ *अपुण्यवान् = पुण्य नभएको, महादरिद्र: = अत्यन्त दरिद्र, अस्मि = छु, पूजार्थं = पूजा गर्नका निमित्त, मम = मेरो, अन्यत् = अरु, किञ्चित् = केही पनि, नास्ति = छैन, अत: = त्यसकारणले, परार्थचित्ता: = अरुका निमित्त चित्तलाई लगाएका, नाथा: = हे नाथ हो, आत्मशक्त्या = आफ्नो शक्तिद्वारा दिइएको, इदम् = यो, गृह्णन्तु = ग्रहण गर्नुहोस् ॥*

बरु मेरो जीवन आफ्नो भएकोले त्यही नै नाथहरूलाई चढाउँछु भन्दै आचार्य लेख्नुहुन्छ कि म पुण्य नकमाएको अति दरिद्र हुँ, त्यसैले पूजा गर्ने सामग्रीहरू मसँग केही पनि छैनन् (भिक्षुसँग परिग्रह नहुने भएकोले) । अतः हे परहितकारी चित्त भएका नाथ हो, मेरो निमित्त यो आफ्नो शक्तिले अर्पण गरेको कुरालाई ग्रहण गर्नुहोस् ।

ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्यः ।
परिग्रहं मे कुरुताग्रसत्वा युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या ॥८॥

अर्पन्छु मैलाई म बुद्धलाई पूरा सवै नै जिनपुत्रलाई
लिनोस मेरो पुरुषोत्तमै हो ! म भक्तिले दास बनें तपाईको ॥८॥

__*अन्वयार्थ :*__ *अहम् = म, सर्वं आत्मानं = आफू सवैलाई, सर्वेण = सवै प्रकारले, जिनेभ्य: = बुद्धहरूका निमित्त र, तदात्मजेभ्यश्च = उहाँका पुत्रहरूका निमित्त अर्थात् वोधिसत्वहरूका निमित्त, ददामि = अर्पण गर्छु (दिन्छु), अग्रसत्वा: = हे पुरुषोत्तम हो ! (हे अग्रणी पुरुष हो), मे = मलाई, परिग्रहं कुरुत = ग्रहण गर्नुहोस्, युष्मासु = तपाईहरूको, भक्त्या = श्रद्धाभक्तिपूर्वक, दासत्वम् उपैमि = दासत्व ग्रहण गर्दछु ॥*

मैले आफूलाई पूर्णरूपमा जिन र जिनपुत्र (बुद्ध र बोधिसत्त्व)हरूको लागि चढाउँछु । हे अग्रसत्त्व हो, (उत्तम पुरुष हो,) मलाई स्वीकार गर्नुहोस् र म श्रद्धाभक्तिपूर्वक तपाईंहरूको दास बन्न स्वीकार गर्छु ।

परिग्रहेणास्मि भवत्कृतेन निर्भीर्भवे सत्वहितं करोमि ।
पूर्वं च पापं समतिक्रमामि नान्यच्च पापं प्रकरोमि भूयः ॥९॥

परिग्रहै गर्नुभए तपाईंले निर्भीक भै गर्दछु सत्वको हित
अतिक्रमण् गर्दछु पाप् अघीका फेरी अरु गर्दिन पाप् पछि त ॥९॥

अन्वयार्थ: भवत्कृतेन = तपाईंको, परिग्रहेण = ठूलो आश्रयद्वारा, निर्भीः = निडर भएर (भयमुक्त भएको म), भवे = यो संसारमा, सत्वहितं = प्राणीहरूको हित, करोमि = गर्नेछु, पूर्वं = पहिले गरेका, पापं च = पापलाई पनि, समतिक्रमामि = राम्रैसंग कटाउने काम गर्छु र, भूयश्च = फेरि पनि, अन्यत् पापं = अरु पाप, न प्रकरोमि = गर्नेछैन ।

तपाईहरूको ठूलो आश्रयले गर्दा सत्वहरूको हित गर्न निर्भय भएर लाग्छु । पहिलेका पापहरूलाई पनि विदूषणासमुदाचार आदि बलबाट क्षय गर्छु र फेरि कहिल्यै पापहरू गर्नेछैन भन्ने प्रतिज्ञा (संवर) ग्रहण गर्छु ।

अब फेरि विशेषरूपमा पूजा गर्नलाई आचार्य भन्नुहुन्छ –

रत्नोज्ज्वलस्तम्भ मनोरमेषु मुक्तामयोद्भासिवितानकेषु ।
स्वच्छोज्ज्वलस्फाटिककुट्टिमेषु सुगन्धिषु स्नानगृहेषु तेषु ॥१०॥

रत्नादिले उज्ज्वल स्तम्भ राम्रा मोती जडी उज्ज्वल छत् भएका
भूईं सफा उज्ज्वल छन् स्फटिक्का सुगन्धित स्नान घरैहरूका ॥१०॥

अन्वयार्थ : रत्नोज्ज्वलस्तम्भमनोरमेषु = रत्नहरूले गर्दा उज्ज्वल भएका खम्बाहरूले मनोरम हुनपुगेका, मुक्तामयोद्भासिवितानकेषु = मोतिहरूद्वारा उद्दीप्त भएको चँदुवा (शामियाना) अथवा छत भएका, स्वच्छोज्ज्वलस्फाटिककुट्टिमेषु = स्वच्छ र उज्याला स्फटिक जडेको भूईं भएका सुगन्धिषु = सुगन्धले युक्त भएका, तेषु स्नानगृहेषु = ती स्नानागारहरूमा,

तथागत र बोधिसत्वहरूलाई स्नान गराउन स्नानागारहरूको बयान गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ कि रत्नहरूले उज्याला खम्बा, मोतीहरूले गर्दा झकझक गर्ने छत र सफा एवं उज्ज्वल स्फटिक जडेको भूई भएका र कालो अगरु चन्दन आदिले सुगन्धित बनाइएका स्नानगृहहरूमा,

मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णैः कुम्भैर्महारत्नमयैरनेकैः ।
स्नानं करोम्येष तथागतानां तदात्मजानां च सगीतिवाद्यम् ॥११॥

मनोज्ञ पूर्ण जल गन्ध पुष्पले अनेक रत्नैहरूयुक्त कुम्भले
तथागतैलाई र पुत्रलाई नै गराउँछु स्नान बजाइ गाउँदै ॥११॥

अन्वयार्थ : मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णैः = मनपर्ने खालको गन्ध भएका पुष्प र फूलहरूले पूर्ण भएका, अनेकैः = सयौं हजारौं, रत्नमयैः = रत्नहरूले बनेका, कुम्भैः = घडाहरूबाट, सगीतिवाद्यं = गान बजानहरू गर्दै, एष = यो मैले, तथागतानां = तथागतहरूको र, तदात्मजानां च = उहाँका पुत्रहरूको (बोधिसत्वहरूको), पनि, स्नानं करोमि = स्नान गराउँछु ॥

मनपर्दो वासनालेयुक्त जल र फूलहरू भरिएका ती अनेकौं रत्नमय कलशहरूबाट मैले बुद्ध

एवं बोधिसत्वहरूलाई संगीतहरू बजाउँदै स्नान गराउँछु ।

प्रधूपितैर्धौतमलैरतुल्यैर्वस्त्रैश्च तेषां तनुमुन्मृषामि
ततः सुरक्तानि सुधूपितानि ददामि तेभ्यो वरचीवराणि ॥१२॥

अतुल्य सौगन्धित धोइएका लुगाहरूले पुछिदिन्छु गाथ
अनी सुवासित् र रंगाइएका अर्पन्छु तीन्लाई म श्रेष्ठ वस्त्र ॥१२॥

अन्वयार्थ : प्रधूपितैः = श्रेष्ठ किसिमका धूपहरूले र, धौतमलैः = मैलो सफा गरिएका (धोइएका) अर्थात् स्वच्छ, अतुल्यैः = अतुलनीय, वस्त्रैश्च = कपडाहरूले पनि, तेषां = तिनीहरूको, तनुं = शरीरलाई, उन्मृषामि = पुछिदिन्छु, ततः = अनि पछि, तेभ्यः = उहाँहरूलाई, सुरक्तानि = राम्रोसंग रँगाइएका र, सुधूपितानि = राम्रा धूप (अत्तर)हरूले सुवासित गराइएका, वरचीवराणि =उत्तम खालका चीवर (वस्त्र)हरू, ददामि = दान गर्छु ॥

त्यसपछि मयल सफा गरिएका र श्रेष्ठ किसिमका धूपहरूले सुवासित गरिएका अतुलनीय कपडाहरूले उहाँहरूको गाथलाई पुछिदिन्छु र उहाँहरूलाई राम्रोसँग रँगाइएका र धूप आदिले सुवासित गराइएका उत्तम चीवरहरू (फेर्ने लुगा) दिन्छु ।

दीव्यैर्मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभैः वस्त्रैरलङ्कारवरैश्च तैस्तैः ।
समन्तभद्राजितमञ्जुघोषलोकेश्वरादीनपि मण्डयामि ॥१३॥

विचित्रका कोमल दिव्य चिल्ला वस्त्रादि औ भूषणले त त्यस्ता
समन्तभद्राजित मञ्जुघोष लोकेश्वरैलाई म पार्छु भूषित ॥१३॥

अन्वयार्थ : दिव्यैः = दैवी, मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभैः = नरम र मसीना विचित्र (विभिन्नरंगका) थरीका शोभायमान देखिने, वस्त्रैः = कपडाहरूले र तैः तैः = त्यस्तै त्यस्तै सुहाउँदा, अलङ्कारवरैश्च = श्रेष्ठ गहनाहरूले पनि, समन्तभद्राजितमञ्जुघोपलोकेश्वरदीनपि = समन्तभद्र, अजित, मञ्जुघोष, लोकेश्वर अदिलाई पनि, मण्डयामि = अलङ्कृत गराउँछु ॥

दीव्य एवं नरम र विभिन्न रंगले शोभा दिएका कपडा र त्यस्तै खालका अति सुहाउँदा उत्तम अलङ्कारहरूले ती समन्तभद्र, अजितनाथ (मैत्रेय), मञ्जुघोष, लोकेश्वर आदि बोधिसत्वहरूलाई अलङ्कृत गराउँछु ।

सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धै र्गन्धोत्तमैस्ताननुलेपयामि ।
सूत्तप्तसून्मृष्टसुधौतहेमप्रभोज्ज्वलान् सर्वमुनीन्द्रकायान् ॥१४॥

सवै त्रिसाहस्र पुग्ने त वास चन्दन्हरू लेपन गर्छु गाथ
मुनीन्द्रका, राम्ररी गाली, माझी, धोई सक्या सूनसरी उज्याला ॥१४॥

अन्वयार्थ : सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धैः = सवै त्रिसाहस्र धोकधातुसम्म फैलिन सक्ने गन्ध भएका, गन्धोत्तमैः = उत्तम खालका चन्दनहरूले, सूत्तप्तसून्मृष्टसुधौतहेमप्रभोज्ज्वलान् = राम्रोसँग गालेर, राम्रोसँग माझेर, राम्रोसँग धोएको सुनको कान्ति समान उज्ज्वल, तान् = ती, मुनीन्द्र कायान् = मुनीन्द्र (तथागतहरूको) शरीरलाई, अनुलेपयामि = लेपन गर्दछु ॥

सम्पूर्ण त्रिसाहस्र लोकधातुसम्मै फैलिन सक्ने गन्ध भएका उत्तम चन्दनहरूद्वारा राम्रैसँग गालेर, राम्रैसँग माझेर राम्रोसँग धोएको सुन जस्ता उज्याला ती मुनीन्द्रहरूका काय (शरीर)हरूलाई

लेपन गराउँछु ।

यहाँ तथागतको शरीरको उपमा लौकिक प्रसिद्धिको हिसाबले मात्र दिइएको हो । अन्यथा तथागतकायको कुनै पनि लौकिक उपमा हुन सक्दैन ।

मन्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यैः सर्वैः सुगन्धैः कुसुमैर्मनोज्ञैः ।
अभ्यर्चयाम्यर्च्यतमान् मुनीन्द्रान् स्रग्भिश्च संस्थानमनोरमाभिः ॥१५॥

मन्दारवै उत्पल मल्लिकादी सवै मनोहर् जति फूल् सुगन्धी
मालाहरूले सुगठित् मनोरम् मुनीन्द्र पूज्यैवरलाई पूज्छु ॥१५॥

अन्वयार्थ : *मन्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यैः = मन्दारव, उत्पल, मल्लिका जस्ता, सुगन्धैः = राम्रो वासना भएका, सर्वैः = सवै, मनोज्ञैः = मनलाई रुचिकर लाग्ने, कुसुमैः = फूलहरूले र, संस्थानमनोरमाभिः = मनोहर ढंगले गुँथिएका, स्रग्भिः = मालाहरुले पनि, अर्च्यतमान् = पूजनीयहरूमा सर्वश्रेष्ठ भएका, मुनीन्द्रान् = मुनीन्द्रहरू (तथागतहरू)लाई, अभ्यर्चयामि = पूजा गर्दछु ॥*

मन्दारव, उत्पल, मल्लिका जस्ता अति वासना आउने मनोहर फूलहरूले र त्यस्तै प्रकारका फूलाई अति मनपर्ने ढंगले उनिएका मालाहरूले ती पूजनीय मुनिश्रेष्ठहरूलाई पूजा गर्छु ।

स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च तान् धूपमेघैरुपधूपयामि ।
भोज्यैश्च खाद्यैर्विविधैश्च पेयैस्तेभ्यो निवेद्यं च निवेदयामि ॥१६॥

फैलेर मुस्लो भई छन् मनोहर धूपका ती बादल्हरू नै चढाउँछु
भोज्यै तथा खाद्य र पेय धेरै नैवेद्य टक्र्याउँछु ती सवैमा ॥१६॥

अन्वयार्थ : *तान् = ती तथागतहरूलाई, स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च = मूस्लो निकाल्दै वासनाहरू फैलाउनाले मनोरम भएका, धूपमेघैः = धूपका बादलहरूले, उपधूपयामि = धूप हाल्छु (अर्थात् धूप चढाउँछु), तेभ्यः = ती तथागतहरूलाई, विविधैः = विभिन्न प्रकारका, भोज्यैः = मुखभरि राखिने किसिमका भोज्य पदार्थले, खाद्यैः = गास हालेर खाइने पदार्थहरूले र पेयैश्च = पेय झोल पदार्थहरूद्वारा पनि, निवेद्यं च = नैवेद्य पनि, निवेदयामि = निवेदन गर्दछु (टक्र्याउँछु) ॥*

उहाँहरूलाई वासनाको मुस्लो निकालेर सुन्दर देखिने धूपका बादलहरूले धूप दिन्छु। विभिन्न प्रकारका खाद्य एवं पेयहरूको नैवेद्य उहाँहरूलाई टक्र्याउँछु ।

रत्नप्रदीपाँश्च निवेदयामि सुवर्णपद्मेषु निविष्टपङ्क्तीन् ।
गन्धोपलिप्तेषु च कुट्टिमेषु किरामि पुष्पप्रकरान् मनोज्ञान् ॥१७॥

सुन्का कमल्मा लहरै मिलाई चढाउँछु रत्नमयै ती बत्ती
चन्दन्हरू लिप्त भूईहरूमा पुष्पै मनोरम्हरू छर्छु त्याहाँ ॥ १७॥

अन्वयार्थ : *सुवर्णपद्मेषु = सुनका कमलहरूमा, निविष्टपङ्क्तीन् = लहरहरू मिलाएर राखिएका, रत्नप्रदीपान् च = रत्नका दीपहरू पनि, निवेदयामि = अर्पण गर्दछु । गन्धोपलिप्तेषु = चन्दनहरूले पोतिएका, कुट्टिमेषु = भूईहरूमा, मनोज्ञान् = मनमोहक, पुष्पप्रकरान् = फूलका गुच्छाहरू, किरामि = छर्दछु ॥*

सुनका कमलहरूमा लहर मिलाएर राखिएका रत्नहरूका बत्ती चढाउँछु। चन्दनले पोतिएको भूईंमा मनमोहक फूलका गुच्छाहरू छरिदिन्छु ।

प्रलम्वमुक्तामणिहारशोभानाभास्वरान् दिङ्मुखमण्डनाँस्तान् ।
विमानमेघान् स्तुतिगीतरम्यान् मैत्रीमयेभ्योऽपि निवेदयामि ॥१८॥

लामा त मुक्ता, मणि, हार शोभित प्रदीप्त शोभा गरने दिशामुख
गीतादिले रम्य विमानमेघ यी अर्पन्छु मैत्रीमयहेरूलाई ती ॥१८॥

अन्वयार्थ : प्रलम्वमुक्तामणिहारशोभान् = लामालामा मोतिका हारहरूले शोभायमान भएका, आभास्वरान् = उज्याला, दिङ्मुखमण्डनान् = सवै दिशाहरूलाई विभूषित पारेका, तान् = ती, स्तुतिगीतरम्यान् = स्तुति र गायनले गर्दा रमणीय भएका, विमानमेघान् = विमानका वादल (समूह)हरूलाई, मैत्रीमयेभ्यः = मैत्रीले युक्त भएका ती मुनिन्द्रहरूलाई, निवेदयामि = अर्पण गर्दछु ॥

मैत्रीआदि गुणले युक्त भएका उहाँहरूलाई लामा लामा मोतीका हारहरूले सुशोभित भई अत्यन्त उज्याला र सबै दिशाहरूलाई भूषित गर्ने एवं स्तुति र गानले रमणीय भएका विमानमेघ (समूह) नै अर्पण गर्छु ।

सुवर्णदण्डैः कमनीयरूपैः संसक्तमुक्तानि समुच्छ्रितानि
प्रधारयाम्येष महामुनीनां रत्नातपत्राण्यतिशोभनानि ॥१९॥

दण्डी सुनैका अति रूप राम्रा मोती जडेका र उघारिएका ।
अत्यन्त राम्रा तिनी रत्नछाता ओढाइदिन्छू म महामुनीमा ॥१९॥

अन्वयार्थ : सुवर्णदण्डैः = सुनका दण्डी भएका, कमनीयरूपैः = राम्रो रूप भएका, संसक्तमुक्तानि = मोतीहरू जडेका, समुच्छ्रितानि = उघारिएका, अतिशोभनानि = अत्यन्तै राम्रा, रत्नातपत्राणि = रत्नले बनेका छाताहरू, महामुनीनां = महामुनि (तथागत)हरूका लागि, एष प्रधारयामि = म ओढाइदिन्छु ।

सुनको दण्डी भएका र राम्रो रूप भएका, उघारिएका, मोतिजडित एवं रत्न निर्मित छाताहरू म महामुनिहरूलाई ओढाउँछु ।

यसरी तथागतहरूको पूजा गरिसकेपछि त्यसको उपसंहार गर्दै भन्नुहुन्छ–

अतः परं प्रतिष्ठन्तां पूजामेघा मनोरमाः ।
तूर्यसंगीतिमेघाश्च सर्वसत्वप्रहर्षणाः ॥२०॥

अवदेखि मधै होऊन् पूजामेघ मनोरम
वाद्य संगीतका मेघ सत्व पार्ने खुशी सब ॥ २०॥

अन्वयार्थ : अतःपरं = अवदेखि उप्रान्त, मनोरमाः = मनमोहक, पूजामेघाः = पूजाका वादलहरू र, सर्वसत्वप्रहर्पणाः = सवै सत्वहरूलाई प्रसन्न पार्ने, तूर्यसंगीतिमेघाश्च = झ्याली जस्ता वाजा र संगीतका वादलहरू, प्रतिष्ठन्ताम् = रहिराखून् ॥

अबदेखि यी मनोरम पूजाका बादल र सबै प्राणीहरूलाई खुशी पार्ने झ्याली नगाडा आदि र अन्य संगीतहरूको बादल नै निरन्तर स्थित होस् ।

अब सद्धर्म आदिको पूजा गर्दै भन्नुहुन्छ –

सर्वसद्धर्मरत्नेषु चैत्येषु प्रतिमासु च ।
पुष्परत्नादिवर्षाश्च प्रवर्तन्तां निरन्तरम् ॥२१॥

सबै सद्धर्मरत्नैमा प्रतिमा अनि चैत्यमा
पुष्परत्नादिको वर्षा भइराखोस् निरन्तर ॥२१॥

अन्वयार्थ : सर्वसद्धर्मरत्नेषु = सबै सद्धर्मरूपी रत्नहरूमा, चैत्येषु = चैत्यहरूमा र, प्रतिमासु च = प्रतिमाहरूमा पनि, निरन्तरं = सदाकाल नै, पुष्परत्नादिवर्षाश्च = पुष्प, रत्न आदिको वर्षा, प्रवर्तन्ताम् = भइराखोस् ॥

सबै सद्धर्मरत्न, चैत्य, बुद्धप्रतिमा आदिमा निरन्तर फूल रत्न आदिको वर्षा भइराखोस् ।

मञ्जुघोषप्रभृतयः पूजयन्ति यथा जिनान् ।
तथा तथागतान् नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहम् ॥ २२॥

मञ्जुघोषादिहरूले जस्तो पूज्छन्, जिनैहरू
त्यस्तै पुत्रसहित् नाथ तथागत म पूज्दछु ॥२२॥

अन्वयार्थ : यथा = जसरी, मञ्जुघोषप्रभृतयः = मञ्जुघोष आदि बोधिसत्वहरूले, जिनान् = तथागतहरूलाई, पूजयन्ति = पूजा गर्दछन्, तथा = त्यस्तै, तथागतान् नाथान् = तथागत नाथहरूलाई र, सपुत्रान् = पुत्रहरूसमेतलाई (बोधिसत्वहरूलाई पनि), अहम् = मैले, पूजयामि = पूजा गर्दछु ।

जसरी मञ्जुघोष आदि बोधिसत्वहरूले तथागत नाथहरूलाई पूजा गर्नुहुन्छ म पनि त्यसरी नै बोधिसत्वहरू सहित ती नाथहरूलाई पूजा गर्छु ।

स्वराङ्गसागरैः स्तोत्रैः स्तौमि चाहं गुणोदधीन् ।
स्तुतिसंगीतिमेघाश्च सम्भवन्त्वेष्वनन्यथा ॥२३॥

स्वराङ्गका सागर स्तोत्रबाट नै स्तुती म गर्छु गुणका समुद्रको
स्तुती र गीत्का पनि बादलैहरू अनन्यरूप्ले उनमा त वर्षिऊन् ॥२३॥

अन्वयार्थ : अहं = मैले, स्वराङ्गसागरैः = स्वरका (गान्धार आदि) र अङ्गहरू (कामोद आदि)का समुद्रै समानका, स्तोत्रैः = स्तोत्रहरूले, गुणोदधीन् = गुणका सागरसमानका (बुद्धबोधिसत्वहरू)लाई, स्तौमि = स्तुति गर्दछु । एषु = यिनीहरूमा (बुद्धआदिमा), स्तुतिसंगीतिमेघाः = स्तुतिका संगीतहरू (अथवा संगीतिमय स्तुतिहरू)का बादल (समूह) नै, अनन्यथा = अन्यथा न भैकन (मैले सोचे बमोजिम नै), सम्भवन्तु = राम्रैसँग उत्पन्न होऊन् ॥

स्वरका अङ्गहरूको समुद्रसमान स्तुति र संगीति आदिद्वारा गुणका समुद्र समानका ती नाथहरूलाई म स्तुति गर्छु । ती स्तुति र संगीतिका मेघहरू मैले सोचे अनुसार अन्यथा नभैकन सिद्ध होउन् ।

सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च प्रणामैः प्रणमाम्यहम् ।
सर्वत्र्यध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ॥२४॥

गर्छु प्रणाम अणुकै संख्याले सब क्षेत्रका
सबै त्रिअध्वका बुद्ध धर्म संघ समेतमा ॥२४॥

अन्वयार्थ : अहम् = मैले, सर्वत्र्यध्वगतान् = सबै त्रिकालभरिका, बुद्धान्, = बुद्धहरूलाई र , सहधर्मगणोत्तमान् = धर्म र उत्तम संघ समेतलाई, सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च = सबै बुद्धक्षेत्रहरूका अणुको संख्या जति, प्रणामैः = प्रणामहरूद्वारा, प्रणमामि = प्रणाम गर्दछु ॥

मैले त्रिकालकै सम्पूर्ण बुद्धहरूलाई सम्पूर्ण बुद्ध क्षेत्रहरूका अणु-बराबरको संख्यामा प्रणाम गर्छु ।

सर्वचैत्यानि वन्दे ऽ हं बोधिसत्वाश्रयांस्तथा ।
नमस्करोम्युपाध्यायानभिवन्द्यान् यतींस्तथा ॥२५॥

वन्दना सव चैत्यैमा बोधिसत्वाश्रयै तथा
वन्दनीय, उपाध्याय, यतिमा गर्छु वन्दना ॥२५॥

अन्वयार्थ : अहं = मैले, सर्वचैत्यानि = सवैतिर रहेका चैत्यहरूलाई, तथा = त्यस्तै, वोधिसत्वाश्रयान् = वोधिसत्वहरूका आश्रयस्थलहरूलाई, वन्दे = वन्दना गर्छु, अभिवन्द्यान् = वन्दना गर्न योग्य (वृद्धआदि)हरूलाई, उपाध्यायान् = उपाध्यायहरूलाई र, तथा = त्यस्तै गरी, यतीन् = मुनिहरूलाई पनि, नमस्करोमि = नमस्कार गर्दछु ॥

सबै दिशा विदिशामा रहेका र शरीरधातु भएका वा नभएका सबै प्रकारका चैत्यहरूलाई वन्दना गर्छु । बोधिसत्त्वका आश्रयस्थलहरूको वन्दना गर्छु । त्यस्तै जातक, अवदान आदिमा उल्लिखित स्थान एवं तथागतका जन्मस्थानहरूको पनि वन्दना गर्छु । त्यस्तै वन्दना गर्न योग्य ती उपाध्यायलाई र मुनिहरूलाई पनि वन्दना गर्छु ।

यो पूजाविधि सबै आर्य त्रिसमयराजमा र आर्य रत्नमेघसूत्रमा पनि बताइएको छ । त्यसपछि त्रिरत्नको शरणमा जाँदै पापको देशना गर्नलाई आचार्य भन्नुहुन्छ -

बुद्धं गच्छामि शरणं यावदाबोधिमण्डतः ।
धर्मं गच्छामि शरणं बोधिसत्वगणं तथा ॥२६॥

वुद्धको जान्छु शरण बोधिको सारसम्म नै ।
धर्मको जान्छु शरण संघको जिनपुत्रकै ॥२६॥

अन्वयार्थ : आवोधिमण्डतः यावत् = जवसम्म वोधिको सार (सम्यक् सम्वुद्धता) प्राप्त हुँदैन तवसम्म, वुद्धं शरणं गच्छामि = वुद्धको शरणमा जान्छु, धर्मं शरणं गच्छामि = धर्मको शरणमा जान्छु, तथा = त्यस्तै, वोधिसत्वगणं = वोधिसत्व संघको शरणमा जान्छु ॥

जबसम्म बोधिमण्ड प्राप्त हुँदैन तबसम्म बुद्धको शरणमा जान्छु धर्मको शरणमा जान्छु र बोधिसत्व संघको शरणमा जान्छु ।

विज्ञापयामि सम्बुद्धान् सर्वदिक्षु व्यवस्थितान् ।
महाकारुणिकांश्चापि बोधिसत्वान् कृताञ्जलिः ॥२७॥

दशै दिशाका सम्वुद्ध र महाकरुणामय ।
वोधिसत्वसँगै गर्छु श्रद्धाञ्जली निवेदन ।२७॥

अन्वयार्थ : सर्वदिक्षु = सवै दिशाहरूमा, व्यवस्थितान् = अवस्थित भएका, संबुद्धान् = सम्यक् सम्वुद्धहरूलाई र, महाकारुणिकांश्च = महाकरुणामय, वोधिसत्वान् अपि = वोधिसत्वहरूलाई पनि, कृताञ्जलिः = अञ्जलि वाँधेर, विज्ञापयामि = निवेदन गर्दछु ॥

सबै दिशामा रहेका सम्यक् सम्बुद्धहरूलाई र महाकारुणिक बोधिसत्वलाई पनि अञ्जालि वाँधेर निवेदन गर्छु कि–

अनादिमति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः ।
यन्मया पशुना पापं कृतं कारितमेव वा ॥२८॥

यच्चानुमोदितं किञ्चिदात्मघाताय मोहतः ।
तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः ॥२९॥

अनादि जन्ममा त्यस्तै फेरि यो जन्ममा पनि
गरें म पशुले पाप, गराएँ वा जती पनि ॥२८॥
अनुमोदन वा केही स्वहत्यानिम्ति मोहले
गरें त्यो देशना गर्छु म पश्चात्ताप-तापले ॥२९॥

अन्वायार्थ : अनादिमतिं = आदि नभएको, संसारे = संसारमा, वा = अथवा, पुन: = फेरि, अत्र एव जन्मनि = यही जन्ममा नै, मया पशुना = म पशुले, यत्पापं = जुन पाप, कृतं = गरें, वा = अथवा, कारितम् एव = गराएँ नै ॥

यत् किञ्चित् = जो कुनै पनि, मोहत: = अज्ञानवश (न ज़ानेर), आत्मघाताय = आफ्नो नोक्सान गर्ने गरी, अनुमोदितं = अनुमोदन गरें, तद् अत्ययं = त्यो आपत्ति (पाप) लाई, पश्चात्तापेन तापित: = पछुतोले पीडित भएर, देशयामि = प्रकाशित गर्दछु ॥

आदि नै नभएको यो संसारमा घुम्दा अघिल्ला जन्महरूमा वा यही जन्ममा पनि म पशुले जे पापहरू गरें वा गर्न लगाएँ होला, फेरि अरुले त्यस्तो गरेकोमा मैले मोहित भएर आफ्नै विनाशको लागि अनुमोदन पनि गरें होला, त्यो सबै मैले पछुतो मानेर पीडित हुँदै प्रतिदेशना (प्रकाश गर्ने काम) गर्छु ।

अर्थात् अनादि संसारमा घुम्दा पहिलेका जन्महरूमा मात्र नभएर अहिलेको जन्ममा पनि म पशुले जे जति पापहरू काय वाक् चित्तद्वारा गरेँ अथवा गराएँ अथवा अरुले गरेकोमा अनुमोदन (समर्थन) गरें त्यो सबै मेरो आफ्नै नोक्सानका निमित्त हुँदोरहेछ । अतः अहिले त्यसको पछुतोले गर्दा अति पीडित भएर म तपाईं नाथहरूको सामु प्रकाशित गर्छु, छिपाउँदिन किनकि यसको फल त नरक भोग्नुजस्तो धेरै कष्टदायी हुँदो रहेछ ।

रत्नत्रये ऽपकारो यो मातापितृषु वा मया ।
गुरुष्वन्येषु वा क्षेपात् कायवाग्बुद्धिभिः कृतः ॥३०॥

अपकार त्रिरत्नैंमा आमा बाबु गुरुहरू
अरुमा अभिमानैले काय वाक् चित्तले गरें ॥३०॥

अन्वयार्थ : मया = मैले, रत्नत्रये = त्रिरत्नमा, वा = अथवा, मातापितृपु = आमावावुमा, वा = अथवा, अन्येपु गुरुपु = अन्य गुरुजनहरूमा, क्षेपात् = अभिमानले, कायवाग्वुद्धिभि: = शरीर, वचन र मनद्वारा, य: अपकार: = जुन अपकार (तिरस्कार), कृत: = गरें ॥

त्यस्तै मैले त्रिरत्नहरूमा या आमा बाबुमा या अन्य गुरुजनहरूमा आफूले घमण्ड गरेर कायले, वचनले या मनले जुन अपकार गरें, अर्थात्

यसरी अनुत्तरगुणक्षेत्र (त्रिरत्न)मा र उपकारिक्षेत्र (आमा-बाबु आदि)मा जुन अपकार मैले गरें,

अनेक दोषदुष्टेन मया पापेन नायकाः ।
यत्कृतं दारुणं पापं तत्सर्वं देशयाम्यहम् ॥३१॥

अनेक दोषले दुष्ट म पापीले भयङ्कर
गरें जो पाप हे नाथ, देशना गर्छु त्यो सब ॥३१॥

अन्वयार्थ : नायकाः = नायक (सुमार्गमा लैजानेवाला) हो !, अनेकदोषदुष्टेन = अनेक थरिका दोषहरूले दूषित भएको, मया पापेन = म पापीले, यत् = जुन, दारुणं पापं = भयङ्कर पाप, कृतं = गरेको छु, तत्सर्वं = त्यो सबै, अहम् = मैले, देशयामि = प्रकाशित गर्दछु ॥

धेरै दोषले दूषित भएको म पापीद्वारा गरेका त्यस्ता डरलाग्दा पापहरू सबै तपाईंहरूको सामु देशना गर्छु, हे नायक हो !

कथं च निःसराम्यस्मान्नित्योद्वेगो ऽस्मि नायकाः ।
मा भून्मे मृत्युरचिरादक्षीणे पापसञ्चये ॥३२॥

निस्कूँ यस्देखि कसरी नाथ ! उद्विग्न छू म त
मेरो मृत्यु नहोस् चाँडै नसकी पाप सञ्चित ॥३२॥

अन्वयार्थ : नायकाः ! = हे नायक हो !, अस्मात् = यो पापबाट, कथं = कसरी, निःसरामि = निस्किऊँ ? (यस्तो), नित्योद्वेगः = सधैं व्याकुल, अस्मि = छु , मे = मेरो, मृत्युः = मरण, पापसञ्चये = पापको राशी, अक्षीणे = क्षीण नहुँदा सम्म, मा भूत् = न होस् ॥

हे नाथ हो, यसबाट म कसरी मुक्त हुने होला भनेर व्याकुल भएको छु । यो पापको सञ्चय क्षीण नहोउञ्जेल त मेरो मृत्यु नहोस् । अन्यथा म नराम्रोसँग दुर्गतिमा फस्नेछु र फेरि मनुष्य जुनी पाउने र तर्ने सम्भावना हुनेछैन ।

कथं च निःसराम्यस्मात् परित्रायत सत्वरम् ।
मा ममाक्षीणपापस्य मरणं शीघ्रमेष्यति ॥३३॥

यस्देखि कसरी निस्कूँ ? रक्षागर्नुहवस् छिटै
नसकी पाप यी चाँडै मैले मर्नु हुँदैन है ॥३३॥

अन्वयार्थ : अस्मात् = यो अशुभबाट, कथं = कसरी, निःसरामि = निस्किऊँ, सत्वरम् = चाँडै, परित्रायत = रक्षा गर्नुहोस्, अक्षीणपापस्य = पाप क्षीण नभैसकेको, मम = मेरो, मरणं = मृत्यु, शीघम् = चाँडै, मा एष्यति = न आओस् ॥

चाँडै नै मेरो रक्षा गर्नुहोस्, म यसबाट कसरी उम्किने हो ? मेरा पाप क्षीण नहुँदासम्म मर्नु उचित छैन । मृत्यु चाँडै नआओस् ।

कृताकृतापरीक्षो ऽयं मृत्युर्विश्रम्भघातकः ।
स्वस्थास्वस्थैरविश्वास्य आकस्मिकमहाशनिः ॥३४॥

विश्वासघाती यो मृत्यु देख्दैन नगरे गरे
अकस्मात् झरने वज्र, स्वस्थ अस्वस्थ के भरे ? ॥३४॥

अन्वयार्थ : अयम् = यो, मृत्युः = मृत्यु, कृताकृतापरीक्षः = गरेको र नगरेको भन्ने परीक्षणै नगर्ने र, विश्रम्भघातकः = विश्वासघाती छ, स्वस्थास्वस्थैः = स्वस्थ छु र अस्वस्थ छु भन्ने कुराले, अविश्वास्यः = विश्वास गर्न नसकिने छ, आकस्मिकमहाशनिः = अकस्मात् आउने ठूलो वज्रपात नै हो ॥

यो मृत्यु त विश्वासघाती छ, यसले हामीले सुकर्म गरेको या नगरेको भन्ने जाँच गर्दैन, स्वस्थ छु या अस्वस्थ छु भनेर यसलाई विश्वास गर्नै सकिंदैन । यो त अकस्मात् वज्रिन आइपुग्ने ठूलो वज्रपात (चटचाङ्) हो ।

प्रियाप्रियनिमित्तेन पापं कृतमनेकधा ।
सर्वमुत्सृज्य गन्तव्यमिति न ज्ञातमीदृशम् ॥३५॥

प्रिय-अप्रियका निम्ति गरें पाप अनेकन
जानुपर्छ सबै छोडी भन्ने यस्तो त जानिन ॥३५॥

अन्वयार्थ : प्रियाप्रियनिमित्तेन = प्रिय (आफ्नो) र अप्रिय (अरुको) निमित्त, अनेकधा = अनेक प्रकारका, पापं कृतम् = पाप गरें, सर्वं = सबै कुरा, उत्सृज्य = त्याग गरेर, गन्तव्यम् = जानुपर्छ भन्ने, इतीदृशम् = यस्तो कुरा, न ज्ञातम् = जानिन ॥

मैले आफ्ना प्रिय व्यक्ति या वस्तुका निमित्त पनि धेरै पाप गरें । अप्रिय व्यक्ति या वस्तुको निमित्त पनि धेरै पाप गरें । त्यसबेला यो सबैलाई छोडेर एकदिन जानै पर्छ भन्ने यादै भएन ।

अप्रिया न भविष्यन्ति प्रियो मे न भविष्यति
अहं च न भविष्यामि सर्वं च न भविष्यति ॥३६॥

अप्रियै रहने छैनन् रहन्नन् प्रिय ती पनि
म आफै रहेन छैन रहन्नन् नि सबै अनि ॥३६॥

अन्वयार्थ : अप्रिया = अप्रियजनहरू, न भविष्यन्ति = रहने छैनन्, मे = मेरो, प्रियः = प्रियपात्र, न भविष्यति = रहेन छैन, अहं च = म पनि, नभविष्यामि = रहने छैन, सर्वं च = कुनै पनि, न भविष्यति = रहने छैन ॥

आखिरमा त न ती प्रिय भनाउँदाहरू यहाँ रहिराख्ने रहेछन् न अप्रिय भनिनेहरू । त्यतिमात्र नभएर मै पनि यहाँ रहिरहनेवाला होइन रहेछु । सबै कुरा एकदिन जानेरहेछ, केही बाँकी हुने रहेनछ ।

तात्पर्य के हो भने यहाँ चिरस्थायी नित्य कुरा केही पनि छैन । म, मेरा बान्धव या शत्रुहरू कोही पनि यहाँ रहिरहनेवाला छैनन् । यसरी छोड्नु पर्छ भन्ने पनि मैले नजानेर धेरै पाप गरें ।

तत्तत्स्मरणतां याति यद्यद्वस्त्वनुभूयते
स्वप्नानुभूतवत् सर्वं गतं न पुनरीक्ष्यते ॥३७॥

अनुभव्का कुरा सारा स्मृतिमा पुग्दछन् सबै
सपना झैं वितेका ती देखिँदैनन् पुनः कुनै ॥३७॥

अन्वयार्थ : यद् यद् वस्तु = जुन जुन वस्तु, अनुभूयते = अनुभव गरिन्छ, तत् तत् = त्यो त्यो, स्मरणतां याति = सम्झनाको रूपमा पुगिहाल्छ, स्वप्नानुभूतवत् = सपनामा अनुभव गरे झैं, गतं सर्वं = गएको कुरा कुनै पनि, पुनः = फेरि, न ईक्ष्यते = देखिँदैन ॥

आखिरमा जे जे अनुभूति गरियो तत्कालै त्यो हराएर केवल सम्झना मात्र बन्दो रहेछ । जसरी

सपनामा अनुभव गरिने घटनाहरू फेरि देख्न सकिन्न त्यस्तै यी सबै अनुभवहरू गएपछि फेरि कहिल्यै पनि देख्न नसकिने रहेछ ।

इहैव तिष्ठतस्तावद् गता नैके प्रियाप्रियाः ।
तन्निमित्तं तु यत् पापं तस्थितं घोरमग्रतः ॥३८॥

आफू हुँदाहुँदै सारा प्रिय-अप्रिय गैसके
तिन्का निमित्तका घोर पाप मात्र यहाँ वचे ॥३८॥

अन्वायार्थ : म, इह एव तावत् = यहीँ नै, तिष्ठतः = बसेको बस्यै, न एके = अनेकौं, प्रियाप्रियाः= प्रिय र अप्रिय जनहरू, गताः = गइसके । तन्निमित्तं = तिनीहरूका निमित्ति गरिएको, यत् पापं = जो पाप हो, तत् = त्यो, घोरं = डरलाग्दो भएर, अग्रतः = अघिल्तिर, स्थितम् = रहेको छ ।

म यहीँ हुँदाहुँदै कतिपय ती मेरा प्रिय या अप्रिय भनिनेहरू गैसके । बरु तिनीहरूका निमित्त मैले गरेको पाप मात्र अहिले मेरा अगाडि बच्चिराखेको छ र यसले पछि पनि त्यसै छोड्नेवाला छैन ।

एवमागन्तुको ऽस्मीति न मया प्रत्यवेक्षितम् ।
मोहानुनयविद्वेषैः कृतं पापमनेकधा ॥३९॥

थाहा भएन यसरी आगन्तुक म हूँ भनी
राग, द्वेष र मोहैले गरें पाप अनेक् थरी ॥३९॥

अन्वयार्थ : एवं = यस प्रकारले, आगन्तुकः अस्मि इति = आगन्तुक याने पाहुना हुँ भन्ने यस्तो, मया = मैले, न प्रत्यवेक्षितम् = विचारै गरिन, मोहानुनयविद्वेषैः = मोह, राग र द्वेषले गर्दा, अनेकधा = अनेक प्रकारका, पापं कृतम् = पाप गरें ॥

यसरी म एउटा केही समयको लागि आएको आगन्तुक जस्तो मात्र हुँ भन्ने पनि जानिन र राग, द्वेष, मोहले अनेकथरी पाप गरें ।

मेरो कोही पनि छैन र म पनि कसैको होइन भन्ने विचार गरेर आफूलाई यहाँ पाहुनाजस्तो ठान्न सकिन र 'आफू' एवं 'आफ्ना' भन्ने ठान्दै तिनीहरूका निमित्त राग, द्वेष र मोहमा परी अनेक किसिमका पापकर्महरू गरें । अब मरिँदैन कि भन्ने ठान्नु पनि ठीक छैन भन्ने देखाउन भन्नुहुन्छ –

रात्रिन्दिवमविश्राममायुषो वर्धते व्ययः ।
आयस्य चागमो नास्ति न मरिष्यामि किं न्वहम् ॥४०॥

नरोकिँदै रात दिन वढ्दैछ आयुको व्यय
आयको स्रोत क्यै छैन नमर्ने कसरी छु म ? ॥४०॥

अन्वयार्थ : रात्रिन्दिवं = रात दिन, अविश्रामम् = न रोकिएरै, आयुपः = आयुको, व्ययः = खर्च, वर्धते = वढिरहेको छ, आयस्य च = आयको याने थपिने, आगमः = स्रोत पनि, नास्ति = छैन (त्यसैले), अहं = म, किं नु नमरिप्यामि = किन नमरुँला न ? अर्थात् अवश्य मर्नेछु ॥

रात दिन नरोकिएर आयुको नाश भइरहेको छ, यो बढ्ने सम्भावना कतैबाट पनि छैन भने के म नमर्ने भन्ने कुरा आउँछ ?

जसका निमित्त पाप गरिएको हो उनीहरू पनि नरक आदिमा त्यसको फल भोगदा सँगै होलान् भने मलाई मात्र किन यस्तो हताश हुनुपर्‍यो भन्ने शङ्का छ कि भनेर आचार्य फेरि भन्नुहुन्छ -

इह शय्यागतेनापि बन्धुमध्ये ऽपि तिष्ठता
मयैवैकेन सोढव्या मर्मच्छेदादिवेदना ॥४१॥

शय्यामा बन्धु बिचमा यहाँ बस्दा पनि जव
सहनै पर्छ एक्लैले वेदना मर्म भेदक ॥४१॥

अन्वयार्थ : इह = यहाँ, शय्यागतेन = विछ्यौनामा परेको वेला, वन्धुमध्ये = भाइबन्धुहरूका बिचमा, तिष्ठतऽ पि = वसेर पनि, एकेन = एक्लै, मया एव = मैले नै, मर्मच्छेदादिवेदना = मर्माहत वनाउने खालका पीडा र कप्टहरू, सोढ्व्या = सहनु पर्छ भने ॥

यहाँ विमारी हुँदा आफू विछ्यौनामा परेपछि वरिपरि सबै बन्धु बान्धवहरूले शान्त्वना दिइरहेका हुन्छन् र पनि, भोक प्यास र शरीरको र्माहत बनाउने पीडा आफू एक्लैले सहनुपर्छ भने - (नरकको त के कुरा गर्ने भन्नुहुन्छ) -

यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत् ।
पुण्यमेकं तदा त्राणं मया तच्च न सेवितम् ॥४२॥

लिदाँ त यमदूतैले बन्धु, मित्र, कहाँ हुनु ?
पुण्य मात्रै थियो रक्षा त्यो नै मैले गरेनछु ॥४२॥

अन्वयार्थ : यमदूतैः = यमराजका दूतहरूले, गृहीतस्य = लिईएकाहरूको, कुतः वन्धुः = कहाँको वन्धु हुनु र, कुतः सुहृत् = कहाँको मित्र हुनु ? तदा = त्यसवेलामा, एकं पुण्यं = पुण्य मात्र एउटै, त्राणं = रक्षा गर्नेवाला हुन्छ, मया = मैले, तत् च = त्यही पुण्यको पनि, न सेवितम् = सेवन गरिन ।

यमदूतले समातेको बेला कहाँको वन्धु, कहाँको मित्र ? एउटा पुण्यमात्र रक्षा गर्ने साथी हो त्यो पनि मैले बनाइन ।

यमराजका दूतहरूले समातेर घाँटीमा पाशोले बाँधेर, गदाले पिट्दै असिपत्रको घना जंगल र धारिला ढुंगाहरू र काँडाहरूले भरिएर उवडखावड परेको जमीनमा लतार्दा छिन्नभिन्न भएका पाउहरूको कडा वेदनाले छटपटाउँदै असहाय भएर आफ्नो कर्मद्वारा पाइएको भूमिमा लगिँदाखेरि कहाँ मित्र हुन्छन् र कहाँ बन्धु बान्धव हुन्छन् ? त्यसवेलामा आफूलाई रक्षा गर्ने केवल आफ्नो पुण्य मात्र हुन्छ। अरु केहीले पनि त्यहाँ सहायता गर्न सक्दैन। परन्तु त्यो पुण्यको आर्जन मैले कहिल्यै गरिन।

अनित्यजीवितासङ्गादिदं भयमजानता
प्रमत्तेन मया नाथा वहु पापमुपार्जितम् ॥४३॥

अनित्य यो जीवनमा भई आसक्त यो भय ।
नजानेर र मातेर नाथ पाप गरें खुव ॥४३॥

अन्वयार्थ : नाथाः = हे नाथ हो !, मया = मैले, इदं भयं = यो डरलाई, अजानता = नजानेर, प्रमत्तेन = उन्मत्त भएर अर्थात् ख्याल, होश केही नगरेर, अनित्यजीवितासङ्गात् = अनित्य जीवनको आसक्तिले गर्दा, वहु पापं = धेरै पाप, उपार्जितम् = कमाउन पुगें ॥

यो अस्थायी जीवनमा आसक्त भएर मैले नरक आदिका दुःखहरूको डर पनि देखिन। रूप, यौवन, धन आदिको प्रमादले गर्दा उन्मत्त भएर मैले धेरै पापकर्महरू गरें।

यसरी किन आत्तिएको त भन्ने कुराको जवाफ दिंदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य नीयमानो विशुष्यति।
पिपासितो दीनदृष्टिरन्यदेवेक्षते जगत् ॥४४॥

अङ्ग काट्न भनी आज लग्दा पनि त सुक्दछ
तिर्खाले, दीन आँखाले अन्यत्रै हेर्न थाल्दछ ॥४४॥

अन्वयार्थ : *अद्य = आज, अङ्गच्छेदार्थं = अङ्ग काट्न भनेर, नीयमानः अपि = लगिँदै गरेको व्यक्ति पनि, पिपासितः = प्यासले सताइएर, विशुष्यति = सुक्दछ, दीनदृष्टिः = दयनीय आँखाले, अन्यत् जगत् एव = लोक नै अर्कै, ईक्षते = देख्दछ भने ॥*

आज हात पाउ काटिदिने भनेर लैजाँदा खेरि त तिर्खाले सारा जीउ सुक्छ र दीन भएर कातर आँखाले चारैतिर हेर्न थालिन्छ भने,

किं पुनर्भैरवाकारैर्यमदूतैरधिष्ठितः।
महात्रासज्वरग्रस्तः पुरीषोत्सर्गवेष्टितः ॥४५॥

कातरैर्दृष्टिपातैश्च त्राणान्वेषी चतुर्दिशम्।
को मे महाभयादस्मात् साधुस्त्राणं भविष्यति ॥४६॥

फेरि के : भैरवै जस्ता यमदूत्ले समाईंदो
जरोले डरको ठूलो गू-मुत् छोडेर पोतिँदो ॥४५॥

कातर भएका आँखाले रक्षा खोज्दो चतुर्दिशा
रक्षा को साधुले गर्ला, यो महाभयदेखि ता ॥४६॥

अन्वयार्थ : *पुनः = फेरि, भैरवाकारैः = डरलाग्दो आकार भएका, यमदूतैः = यमराजका दूतहरूले, अधिष्ठितः = समातिंदा, महात्रासज्वरग्रस्तः = ठूलो डरको ज्वरोले पीडित भएको छँदो, पुरीषोत्सर्गवेष्टितः = दिशा - पिसाव छोडेर त्यसैले पोतिएको छँदो, मे = मलाई, अस्मात् = यो, महाभयात् = महान् डरदेखि, कः साधु = कुन सज्जनले, त्राणं भविष्यति = रक्षा गर्ने काम गर्ला ? यस्तो सोचेर, कातरैः = कातर भएका, दृष्टिपातै = आँखाहरू घुमाउँदै, चतुर्दिशम् = चारै दिशातिर, त्राणान्वेषी = सुरक्षा खोज्दै गर्दा, किम् = के हालत होला ?*

डरलाग्दो ठूलो आकार भएका यमदूतहरूले समातेपछि ठूलो डररूपी ज्वरोले ग्रस्त भएर दिशा पिशाब छोड्दै, त्यसैले लपेटिएर 'कसले मलाई यो महाभयबाट बचाउला' भन्दै कातर दृष्टिले चारैतिर सुरक्षा खोज्दै हेर्नुपर्दा के हालत होला ?

यहाँ सामान्य विमारी लाग्दा हुने पीडालाई त अरुले साथ दिन सक्दैनन् भने नरक जाने क्रममा डरलाग्दा यमदूतले समातेर लैजाँदा महान् डर र त्रासले गू-मूत छोड्दै 'मलाई कसले बचाउला' भन्दै चारैतिर कातर आँखाले हेर्ने बेलामा कस्ले साथ दिनसक्छ ? त्यो त स्वयं एक्लैले नै खप्नुपर्ने महान् पीडा हो। त्यति मात्र कहाँ हो र ! अझै -

त्राणशून्या दिशो दृष्ट्वा पुनः सम्मोहमागतः ।
तदाहं किं करिष्यामि तस्मिन् स्थाने महाभये ॥४७॥

रक्षाहीन दिशा देखी फेरि पर्दा त मोहमा
गरुँला त्यसवेला के ? डरमर्दो त ठाउँमा ॥४७॥

अन्वयार्थ : दिशः = दिशाहरूलाई, त्राणशून्याः = सुरक्षा नभएको, दृष्ट्वा = देखेर, पुनः = फेरि, सम्मोहम् आगतः = मूर्च्छा परेको अवस्थामा, तदा = त्यसवेला, तस्मिन् = त्यो, महाभये = महान डरलाग्दो, स्थाने = स्थानमा, अहं = मैले, किं करिप्यामि = के गरुँला ?

चारैतिर हेर्दा पनि कतैबाट कसैले बचाउने नदेखेपछि म पुनः मूर्छित भएँ भने त्यस्तो प्रतापन जस्तो डरलाग्दो नरक भूमिमा कुनै पनि कुराको लागि असमर्थ मैले के गरुँला ? त्यसैले बरु अहिले नै त्यसको उपाय गर्नुपर्‍यो भन्दै आचार्य भन्नुहुन्छ -

अद्यैव शरणं यामि जगन्नाथान् महाबलान् ।
जगद्रक्षार्थमुद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान् ॥४८॥

आजै शरणमा जान्छु बलवान् लोकनाथको
लोक रक्षा गर्न खट्ने त्रास हर्ने ती बुद्धको ॥४८॥

अन्वयार्थ : अद्यैव = आज नै, जगद् रक्षार्थं = जगतको रक्षा गर्नको लागि, उद्युक्तान् = लागिपरेका, सर्वत्रासहरान् = सबै डरलाई नाश गराइदिने, महाबलान् = महान् सामर्थ्य भएका, जगन्नाथान् = जगत्का नाथ, जिनान् = बुद्धहरूको, शरणं यामि = शरणमा जान्छु ॥

बरु आजै म महान् सामर्थ्य भएका र लोकलाई रक्षा गर्न र सबै डरबाट मुक्त गर्न भनेर खटेका ती जगत्का नाथ बुद्धहरूको शरणमा जान्छु ।

तैश्चाप्यधिगतं धर्मं संसारभयनाशनम् ।
शरणं यामि भावेन बोधिसत्वगणं तथा ॥४९॥

उन्ले बुझेका धर्मैको संसार भय नाशने
गणको बोधिसत्वैका जान्छु शरण भावले ॥४९॥

अन्वयार्थ : तैः = ती भगवान्हरूले, अधिगतं = साक्षात् गरिएको, संसारभयनाशनं = संसारको डरलाई नाश गराउने, धर्मं = धर्मको र, तथा = त्यस्तै, बोधिसत्वगणं = बोधिसत्त्वका संघ (गण) को पनि, भावेन =श्रद्धाको भाव सहित, शरणं यामि = शरणमा जान्छु ॥

समन्तभद्रमात्मानं ददामि भयविह्वलः ।
पुनश्चमञ्जुघोषाय ददाम्यात्मानमात्मना ॥५०॥

भयले विह्वल भई समन्तभद्रमा तथा
आफैले आफुलाई नै अर्पन्छु मञ्जुघोषमा ॥५०॥

अन्वयार्थ : भयविह्लः = भयले विह्वल (आकुल व्याकुल) भएको छँदो, आत्मानं = आफूलाई, समन्तभद्रं = समन्तभद्र बोधिसत्वमा, ददामि = समर्पण गर्दछु, पुनश्च = फेरि पनि, आत्मानं = आफूलाई, आत्मना= आफैले नै, मञ्जुघोपाय =

मञ्जुघोषलाई, ददामि = अर्पण गर्दछु (दिन्छु) ॥

संसरको यो भयले व्याकुल भएर म समन्तभद्रलाई आफूलाई सुम्पिदिन्छु । फेरि मञ्जुघोषलाई पनि म आफूलाई समर्पण गर्छु ।

तं चावलोकितं नाथं कृपाव्याकुलचारिणम् ।
विरौम्यार्तरवं भीतः स मां रक्षतु पापिनम् ॥५१॥

कृपाव्याकुल भै हिंड्ने अवलोकित नाथको
पुकार्दै डरले रुन्छु गरून् रक्षा म पापिको ॥५१॥

अन्वयार्थ : कृपाव्याकुलचारिणं = करुणाले गर्दा व्याकुल भएर विचरण गरिराख्ने, तं अवलोकितं नाथं = ती नाथ अवलोकितेश्वरको सामु, भीतः =डरले युक्त भएको छँदो, आर्तरवं = दुःखी स्वरमा, विरौमि = विलौना गर्दछु (रुन्छु), स = ती नाथले, मां पापिनम् = म पापीलाई, रक्षतु = रक्षागरून् ॥

त्यस्रै गरी करुणाले व्याकुल भएर हिंडिराख्ने अवलोकितेश्वर नाथसँग पनि डरले पुकार्दै रुन्छु । उनले म पापीको रक्षा गरून् ।

आर्यमाकाशगर्भं च क्षितिगर्भं च भावतः ।
सर्वान् महाकृपाँश्चापि त्राणान्वेषी विरौम्यहम् ॥५२॥

आर्य आकाशगर्भै र क्षितिगर्भ तथा सबै
महाकृपालुमा रुन्छु भावले त्राण खोजदैं ॥५२॥

अन्वयार्थ : अहम् = म, आर्यं आकाशगर्भं = आर्य आकाशगर्भ र, क्षितिगर्भं च = क्षितिगर्भसँग र, सर्वान् = सबै, महाकृपाँश्च = महाकारुणिकहरूसँग पनि, त्राणान्वेषी = सुरक्षाको माग गर्दै, भावतः = भाव विभोर हुँदै, विरौमि = रुन्छु (विलौना गर्दछु) ।

अनि आर्य आकाशगर्भ र क्षितिगर्भसँग तथा अन्य सबै महाकारुणिक बोधिसत्त्वहरूसँग पनि रक्षा खोज्दै रुन्छु ।

यं दृष्ट्वैव च सन्त्रस्ताः पलायन्ते चतुर्दिशम् ।
यमदूतादयो दुष्टास्तं नमस्यामि वज्रिणम् ॥५३॥

जस्लाई देख्दा डरले यमदूतादि दुष्ट ता
भाग्छन् चारैदिशा त्यस्ता प्रणाम, वज्रपाणिमा ॥५३॥

अन्वयार्थ : यं = जसलाई, दृष्ट्वा एव = देखेर मात्रै पनि, यमदूतादयः = यमदूत आदि, दुष्टाः = दुष्टहरू, सन्त्रस्ताः = भयभीत भएर, चतुर्दिशम् = चारै दिशामा, पलायन्ते = भाग्दछन्, तं वज्रिणम् = ती वज्रधारी (वज्रपाणि)लाई, नमस्यामि = प्रणाम गर्दछु ॥

जसलाई देख्दा सम्पूर्ण दुष्ट यमदूतहरू समेत डरले चारै दिशातिर भाग्छन् त्यस्ता वज्रधारी (वज्रपाणि)लाई प्रणाम गर्छु ।

यसरी उहाँहरूको शरण जानु पापक्षय गर्नाका निमित्त आश्रयबल लिएको हो । चतुर्धर्मकसूत्रमा पनि बताइएको छ कि "आश्रयबल भनेको बुद्ध, धर्म र संघको शरण जानु र बोधिचित्तलाई ग्रहण गरिराख्नु हो । त्यस्ता बलवान्को आश्रय लिइएकोले गर्दा पापले पराजित गर्न सक्दैन ।"

अब अन्यथा नहोस् भनेर पश्चात्ताप गर्दै बताइन्छ -

अतीत्य युष्मद्वचनं साम्प्रतं भयदर्शनात् ।
शरणं यामि वो भीतो भयं नाशयत द्रुतम् ॥५४॥

वचन् तपाईंको नाघ्दा देखेर अहिले भय
डराएर शरण् आएँ नाश गर्नौस् छिटै भय ॥५४॥

अन्वयार्थ : युष्मद्वचनं = तपाईंहरूको आज्ञा (उपदेश)लाई, अतीत्य = अतिक्रमण गर्नाले (न मानेर), साम्प्रतं = अहिले, भयदर्शनात् = डर देखिसकेको हुनाले, भीतः = डराएर, वः = तपाईंहरूको, शरणं यामि = शरणमा जान्छु, भयं = त्यो डरलाई, द्रुतं = चाँडै, नाशयत = नाश गरिदिनुहोस् ॥

पहिले तपाईंहरूले भनेका वचनहरू (उपदेशहरू) लाई उल्लङ्घन गरेर अहिले डर देखिसकेको हुँदा म शरणमा आएको छु । त्यो डरलाई नाश गरिदिनुहोस् ।

यस्तो हुँदा पनि कसैगरी तपाईंहरूको वचन नाघिएला कि भन्ने शङ्काले फेरि दृढता गराउनलाई भन्नुहुन्छ -

इत्वरव्याधिभीतोऽपि वैद्यवाक्यं न लङ्घयेत् ।
किमु व्याधिशतैर्ग्रस्तैश्चतुर्भिश्चतुरुत्तरैः ॥५५॥

नाशवान् व्याधिको डर्ले नाघ्दैनन् वैद्य वाक्य ता
के कुरा चार सौ चार सयौं व्याधि ग्रसित् हुँदा ॥५५॥

अन्वयार्थ : इत्वर-व्याधिभीतः अपि = नाश भइहाल्ने(सञ्चो हुने) रोगको डरले त, वैद्यावाक्यं = डाक्टरको वचनलाई, न लङ्घयेत् = उल्लङ्घन गर्दैनन् भने, चतुरुत्तरैः = चारले बढी भएको, चतुर्भिः व्याधिशतैः = चार सय व्याधि (रोग)हरूले, ग्रस्तैः = ग्रस्त भएकाहरूले त, किमु = के कुरा गर्नु ?

धेरै समयसम्म नटिक्ने र सञ्चो भईहाल्ने सामान्य विमारी लाग्दा त डराएर मानिसले डाक्टर (वैद्य)को आज्ञालाई नटालेर भनेबमोजिं गरिराख्छन् भने चारसय चार किसिमका महाव्याधिले ग्रस्त भएकाहरूले कसरी उल्लङ्घन गर्ने कुरा आउँछ ? अकाल मृत्यु सय थरीका हुन्छन्, कालमृत्यु एउटा भयो । यसरी एकसय एक थरी मृत्यु भए । यी पनि वात-कफ-पित्त र यिनीहरूको मिश्रणले गर्दा चार किसिमका हुन्छन् । अतः चारसय चार किसिमका कारणहरूले गर्दा हुने कार्य (मृत्यु) पनि चारसय चार थरीका हुनपुग्छन् ।

एकेनापि यतः सर्वे जम्बूद्वीपगता नराः ।
नश्यन्ति येषां भैषज्यं सर्वदिक्षु न लभ्यते ॥५६॥

एउटैले मात्र संबै मानिसै जम्बुद्वीपका
नाशिन्छन् औषधी तीन्को पाईदैन दशै दिशा ॥५६॥

अन्वयार्थ : एकेन अपि = एउटै व्याधिले मात्रै पनि, यतः = जुन कारणले, सर्वे = सबै, जम्बूद्वीपगताः = जम्बूद्वीपमा भएका, नराः = मानिसहरू, नश्यन्ति = नाश हुन्छन्, येषां = जस्का निम्तिमा, भैषज्यं = औषधी, सर्वदिक्षु = कुनै दिशातिर पनि, न लभ्यते = पाइदैन ।

चारसय चार थरीका महाव्याधिहरूमध्ये कुनै एकथरी व्याधिमात्रै पनि कुपित भयो र महामारीको रूपमा आयो भने सारा मनुष्यलाई खतम पार्दछ। र त्यसको औषधी दशै दिशा खोजे पनि नपाइने हुन्छ। यसको दृष्टान्त एउटा 'काशिराज पद्मजातक' भन्ने जातक कथामा पाइन्छ। यस्तो सुनिन्छ– अघि भगवान्ले बोधिसत्वचर्या गरेको वेलामा 'पद्म' नाम गरेका काशिका राजा हुनुभएको थियो। त्यसवेला जम्बूद्वीपका मनुष्यहरू ठूलो रोगले विकलाङ्ग हुँदै मर्दै गरेका थिए। उनीहरूले सोचे–"हाम्रा स्वामी यी राजा अत्यन्त कारुणिक छन् र यिनैले नै केही उपाय निकाल्लान्। अतः यिनीकहाँ निवेदन गर्नुपर्‍यो।" यस्तो सोचेर उनीहरू मिली, "हे महाराज! परमहितैषी स्वामी हजूर हुँदाहुँदै पनि हाम्रो यस्तो अवस्था भयो" भनेर दुःख प्रकट गरे। राजाले पनि अत्यन्त करुणाको कारणले उनीहरूको दुःख सहन नसकेर "चाँडै नै यिनीहरूको रोग पीडालाई भगाइदिनू" भनी वैद्यहरूलाई आज्ञा दिए। उनीहरूले पनि चिकित्साशास्त्रहरू पल्टाएर खोज्दा त्यसको औषधी केवल भर्खरको ताजा 'रोहित' भन्ने माछाको मासु बाहेक अरू केही पनि नभेट्टाए पछि राजालाई निवेदन गरेका थिए र मुश्कीलले उक्त व्याधिलाई शान्त पार्न सकेका थिए।

तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य सर्वशल्यापहारिणः।
वाक्यमुल्लङ्घयामीति धिङ् मामत्यन्तमोहितम् ॥५७॥

सर्वज्ञ वैद्यको त्यस्मा सबै रोग हटाउने
वाक्य नाघ्छु भने धिक्कार् मलाई अति मोहितै ॥५७॥

अन्वयार्थ : तत्र = त्यस्तो हुँदा पनि, सर्वशल्यापहारिणः = सबै (कायिक, मानसिक) दुःखरूपी रोगहरूलाई नाश गरिदिने, सर्वज्ञवैद्यस्य = सर्वज्ञवैद्य (सबै जान्ने तथागत आदिको), वाक्यम् = वचनलाई, उल्लङ्घयामि इति = उल्लङ्घन गर्छु भने त, अत्यन्तमोहितम् = अति नै मूढ भएको, माम् = मलाई, धिक् = धिक्कार छ ॥

सम्पूर्ण दुःखको काँडो समानको रोगलाई हटाउने सर्वज्ञवैद्य (सबै जान्ने तथागतरूपी वैद्य)को वाक्य पनि उल्लङ्घन गर्ने हो भने त त्यस्तो मलाई धिक्कार छ! म अत्यन्त मोहित भएको रहेछु!

अत्यप्रमत्तस्तिष्ठामि प्रपातेष्वितरेष्वपि।
किमु योजनसाहस्रे प्रपाते दीर्घकालिके ॥५८॥

रहन्छु अति होशैले साधारण खसाइमा!
भने हज्जार योजन्को दीर्घकालिक् खसाइमा! ॥५८॥

अन्वयार्थ : इतरेषु = अरु सामान्य, प्रपातेषु = भीर या छाँगामा, अपि = पनि, अति अप्रमत्तः = अति नै सचेत भएर (होशपूर्वक), तिष्ठामि = रहन्छु भने, योजनसाहस्रे = हज्जारौं योजनको गहीरो, दीर्घकालिके = लामो समयसम्म रहनु पर्ने, प्रपाते = छाँगामा, किमु = के (सावधान नहुनु) ?

जहाँबाट खस्दा सामान्य हात खुट्टा भाँचिने वा मर्ने हुन्छ, त्यस्ता छाँगाहरूमा त म अति सावधान भएर हिंड्छु भने, हज्जारौं योजन गहीरा अवीचि आदि नरकहरूका छाँगामा कसरी ढुक्क भएर रहन सक्छु? जहाँ खसेपछि कल्पौं कल्पसम्म त्यहीं रहेर आयु बिताउनुपर्ने हुन्छ।

अद्यैव मरणं नैति न युक्ता मे सुखासिका।
अवश्यमेति सा वेला न भविष्याम्यहं यदा ॥५९॥

आजै मर्दिन कि भन्दै सुखले बस्नु छैन ठिक्
मेरो नरहने वेला अवश्य आउला पछि ॥५९॥

अन्वयार्थ : *अद्य एव = आजै नै, मरणं = मृत्यु, न एति = आउँदैन भनेर, मे = मेरो, सुखासिका = आरामले बसिराख्नु, न युक्ता = ठीक हुँदैन, यदा = जुनवेला, अहं = म, न भविष्यामि = हुने छैन, सा वेला = त्यो वेला पनि, अवश्यम् = निश्चित रूपमै, एति = आउँनेछ ।*

म आजै त मर्दिन नि भन्ने ठानेर सुखपूर्वक बस्नु ठीक छैन। त्यो बेला पनि अवश्य आइपुग्नेछ जुनवेला म यहाँ रहने छैन ।

अभयं केन मे दत्तं निःसरिष्यामि वा कथम् ।
अवश्यं न भविष्यामि कस्मान्मे सुस्थितं मनः ॥६०॥

दियो मलाई अभय कस्ले, कसरि निस्कुँला ?
अवश्य रहने छैन, किन मेरो छ मन् स्थिर ? ॥६०॥

अन्वयार्थ : *केन = कस्ले, मे = मलाई, अभयं दत्तं = अभयदान गरेको छ र ? वा = अथवा, कथं = कसरी, निःसरिष्यामि = निस्कुँला (यो दुःखसागरबाट) ?, अवश्यं = अवश्य पनि, न भविष्यामि = रहने छैन, (र पनि), कस्मात् = के कारणले, मे = मेरो, मनः = मन, सुस्थितम् = ढुक्क भएर रहेको छ ?*

हैन, मलाई कसले अभयदान दिएको छ ? या यहाँबाट कसरी निस्कुँला ? आखिर म यहाँ रहनेछैन भने किन मेरो मन अझै स्थिर छ ?

कुनै सत्पुरुषले तिमी नडराउ भनेर मलाई अझै पनि अभयदान गरेको छैन। यो दुःखसागर बाट उम्किने उपाय मेरो पनि केही छैन। जन्मेका जति सबै मर्नैपर्ने भएकोले म पनि अवश्य मर्नेछु र यहाँ रहनेछैन। यस्तो हुँदाहुँदै पनि किन र कसरी मेरो मन आरामसँग बस्न सक्छ ? म त आत्तिएर बुद्ध बोधिसत्वहरूको शरणमा जानै पर्छ ।

पूर्वानुभूतनष्टेभ्यः किं मे सारमवस्थितम्
येषु मेऽभिनिविष्टेन गुरूणां लङ्घितं वचः ॥६१॥

पहिलेका अनुभव नष्ट छन् सार के वच्यो ?
जस्मा भएर आसक्त गुरुका बोली नाघियो ॥६१॥

अन्वयार्थ : *पूर्व-अनुभूत-नष्टेभ्यः = पहिले अनुभव गरेर नष्ट भैसकेका कुराहरूबाट, मे = मेरा निमित्त, किं सारम् = के सार, अवस्थितम् = वचेको छ र ? येषु = जुन कुराहरूमा, मे = मेरो, अभिनिविष्टेन = आसक्ति हुनाले, गुरूणां = गुरुहरूको, वचः = वचनलाई, लङ्घितम् = उल्लङ्घन गरियो ?*

विभिन्न राग, द्वेष आदिले युक्त जे जति कुरा पहिले अनुभव गरिए ती सबै नष्ट भैसके र अब मेरा निमित्त तिनीहरूको सार नै के बाँकि छ ? यस्तो हुँदाहुँदै पनि फेरि म तिनै राग, द्वेषसम्बन्धी कुराहरूको स्मृतिप्रति आसक्त भइराखेर गुरु, बुद्ध, बोसधसत्व, कल्याणमित्र आदिले वताएको सद्धर्मको मार्गमा हिंड्न छोडी उहाँहरूको वचन उल्लङ्घन गरेको छु ? यस्तो ठीक भएन ।

जीवलोकमिमं त्यक्त्वा बन्धून् परिचिताँस्तथा ।
एकाकी क्वापि यास्यामि किं मे सर्वैः प्रियाप्रियैः ॥६२॥

यो जीवलोक छोडेर बन्धु परिचितै तथा
प्रिय अप्रियले के भो एक्लै जान्छु कता कता ॥६२॥

अन्वयार्थ : इमं = यो, जीवलोकम् = प्राणीको जगत्लाई र, बन्धून् = वन्धुवान्धवहरूलाई, तथा = त्यस्तै, परिचितांश्च = परिचित मित्र आदिलाई पनि, त्यक्त्वा = छोडेर, एकाकी = एक्लै, क्व अपि = कहीं पनि (अनिश्चित स्थानमा), यास्यामि = जानेछु, (त्यसैले), मे = मलाई, सर्वैः = सवै, प्रियाप्रियैः = प्रिय र अप्रिय जनहरूवाट, किम् = के प्रयोजन भयो र ?

यी सबै बन्धु, बान्धव, परिचित, इष्टमित्र आदि सहितको यो जीवलोकलाई छोडेर म एक्लै जाने नै छु । आखिरमा यी प्रिय अप्रियले के गरे त ?

इयमेव तु मे चिन्ता युक्ता रात्रिन्दिवं तदा ।
अशुभान्नियतं दुःखं निःसरेयं ततः कथम् ॥६३॥

यस्तै चिन्तन राम्रो छ गर्नु रातदिनैभरी ।
पापले दुःख निश्चित् छ निस्कूँ योदेखि के गरी ॥६३॥

अन्वयार्थ : मे = मलाई, इयम् एव = यस्तै नै, चिन्ता = चिन्तन गर्नु, रात्रिन्दिवं = रातदिन, युक्ता = ठीकै छ (युक्तिसंगत छ), (किनकि), अशुभात् = पापकर्मबाट, दुःखं = दुःख, नियतम् = निश्चित छ, ततः = त्यसबाट, कथं = कसरी, निःसरेयम् = निस्कुला ?

मजस्तो पापीले त रातदिन यस्तै चिन्तन गरिराख्नु नै उपयुक्त छ । अशुभ (पापकर्म) ले दुःख हुने कुरा निश्चितै रहेछ । अब कसरी यसबाट निस्किने ?

यसरी गरेको कर्मफल-सम्बन्ध पक्का भएपछि ठूलो श्रद्धा विश्वासकासाथ प्रायश्चित गर्न आचार्य बताउनुहुन्छ -

मया बालेन मूढेन यत्किञ्चित् पापमाचितम् ।
प्रकृत्या यच्च सावद्यम् प्रज्ञप्त्यावद्यमेव च ॥६४॥

तत्सर्वं देशयाम्येष नाथानामग्रतः स्थितः ।
कृताञ्जलिर्दुःखभीतः प्रणिपत्य पुन : पुनः ॥६५॥

मूर्ख अज्ञानी मैले जे, जति पाप गरें तिनी
सवै प्रकृति सावद्य, प्रज्ञप्तिका त पाप् पनि ॥६४॥

ती सवै देशना गर्छु, अगाडि बसि नाथका
डराई अञ्जली वाँधी बारम्बार गरी प्रणाम् ॥६५॥

अन्वयार्थ : मया = म, वालेन = वालकले (अज्ञानीले), यत् किञ्चित् = जुन कुनै पनि, पापं = पाप, आचितम् = सञ्चय गरें अर्थात् कमाएं, यत् = जुन, प्रकृत्या सावद्यं = स्वाभाविक रूपमै पाप हुने खालको कर्म र, प्रज्ञप्त्यावद्यम् एव च = प्रज्ञप्तिद्वारा पाप हुने कर्महरु पनि छन् ॥

तत्सर्वं = त्यो सवै नै, नाथानाम् = नाथहरूको, अग्रत: स्थित: = अगाडि वसेर, एप = मैलेक्कृताञ्जलि: = अञ्जिलि वाँधेर, दु:खभीत: = यो दु:खले डराएको छँदो, पुन: पुन: प्रणिपत्य = वारम्वार प्रणाम गर्दै, देशयामि = देशना गर्दछु ॥

म बालक अन्जान भएको हुनाले मैले दुबै किसिमका पाप कर्महरू कमाएको छु। तीमध्ये पहिलो त प्रकृतिसावद्य कर्म हुन् जसभित्र हिंसा, चोरी, ठगी, ढाँट्ने जस्ता स्वाभाविक अकुशल कर्महरू पर्दछन् भने अर्का थरी कर्महरू प्रज्ञाप्तिसावद्य हुन्। त्यसभित्र भगवान्का सामु यसो गर्नेछु वा यसो गर्नेछैन भनी प्रतीज्ञा गरेर ग्रहण गरेको सम्वरलाई तोड्ने जस्ता शीलभङ्ग गर्ने, समयत्रुटि गर्ने खालका कर्महरू पर्दछन्। यी दुवै कर्महरू मैले गरेको छु। त्यसकारण नाथहरूको अगाडि मैले काय वाक् चित्तबाटै अञ्जलि बाँधी डरले त्रस्त भएर वारम्वार प्रणाम गर्दै देशना गर्दछु।

अञ्जलि वाँधेर, प्रणाम गरिरहनु कायविज्ञप्ति हो, देशना गर्नु वाग्-विज्ञप्ति हो भने वारम्वार यसो गरिरहनु चित्तको संवेगलाई दर्शाउने भएकोले चित्तविज्ञप्ति हो। यस प्रकार काय, वाक्, चित्तबाटै प्रतिदेशना अर्थात् प्रायश्चित्त गरिएको कुरा आचार्यले दर्शाउनुभएको छ।

अत्ययमत्ययत्वेन प्रतिगृह्णन्तु नायकाः।
अभद्रकमिदं नाथा न कर्तव्य पुनर्मया ॥६६॥

नाथ हो ! पाप यो मेरो पापकै रूपमा लिनोस्
अभद्र कर्म यस्तो त फेरि गर्दिन नाथ हो ॥६६॥

अन्वयार्थ : नायका: = हे नायक हो !, अत्ययं = अशुभ कर्मलाई, अत्ययत्वेन = दोपकै रूपमा, प्रतिगृह्णन्तु = लिइदिनोस्, नाथा: = हे नाथ हो, इदं = यो, अभद्रकम् = अकल्याणकारी काम, मया = मैले, पुन: = फेरि, न कर्तव्यम् = गर्ने छैन ॥

हे नायक हो, यो पापलाई पापकै रूपमा ग्रहण गर्नुहोस् र यस्तो अभद्र काम मैले फेरि गर्ने छैन। आर्यहरूद्वारा अहित र निन्दित देखिएको त्यस्तो अकुशल कर्मलाई मैले नछिपाइकन प्रकाशित गर्दछु र हजूरहरूका अघि बताइदिएको छु। त्यसकारण यसलाई जान्नुहोस् र मेरो प्रायश्चित होस्। अबदेखि त्यस्ता निन्दित कर्महरू गर्नेछैन र होशपूर्वक चल्नेछु।

बोधिचर्यावतारमा पापदेशना नामक द्वितीय परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त।

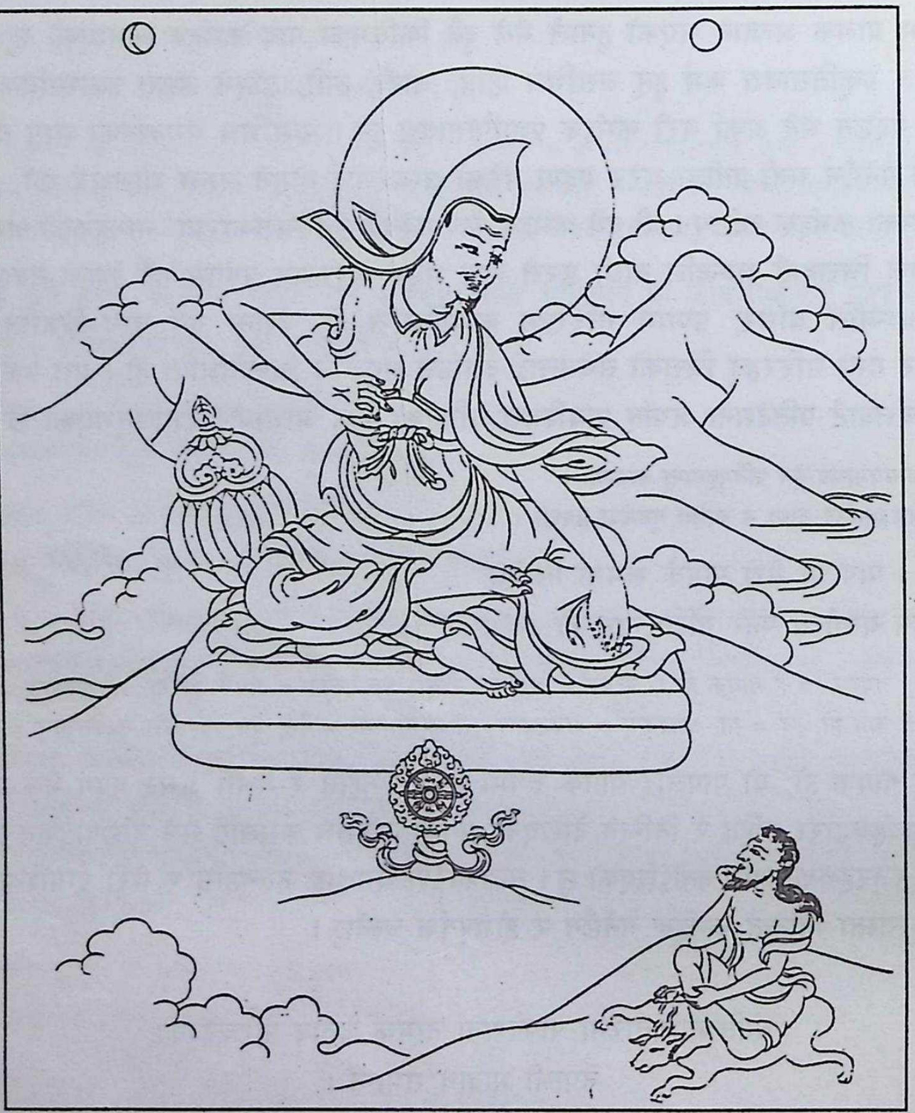

आचार्य वसुबन्धु

[आर्य असङ्गका भाई अत्यन्त विद्वान र बहुश्रुत पण्डित भिक्षु वसुबन्धु । उहाँ शुरुमा वैभापिक मतानुयायी हुनुहुन्थ्यो र सर्वास्तिवादीहरुको अमूल्य ग्रन्थ "अभिधर्मकोष" लेख्नुभएको थियो । पछि दाजुसँग शास्त्रार्थ भएपछि महायानमा लाग्नुभयो र अमूल्य ग्रन्थ "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" लेख्नुभएको हो ।]

१२, १७, १३, २६ ३१

तृतीय परिच्छेद

बोधिचित्त परिग्रह

पापदेशना गरिसकेपछि पुण्यको अनुमोदन गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ -

अपायदुःखविश्रामं सर्वसत्वैः कृतं शुभम्
अनुमोदे प्रसादेन सुखं तिष्ठन्तु दुःखिताः ॥१॥

भोगी अपाय विश्राम गरेका सर्वसत्वको
शुभको मोदना गर्छु दुःखी ती सुखले बसून् ॥१॥

अन्वयार्थ : अपायदुःख विश्रामं = नरकहरूमा दुःख भोगिसकेर प्राणीहरूले गरेको त्यो विश्रामको र, सर्वसत्वैः = सर्वसत्वहरूले, कृतं = गरिएको, शुभम् = शुभ कर्मको, प्रसादेन = प्रसन्न चित्तले अर्थात् खुशी भएर, अनुमोदे = अनुमोदना गर्छु, दुःखिताः = दुःख पाएका प्राणीहरू, सुखं तिष्ठन्तु = सुखले रहून् ॥

नरक आदिको दुःखपछि पनि पुण्य बाँकी हुनाले गर्दा केही समय दुःखबाट विश्राम पाइन्छ। प्राणीहरूको यसप्रकारको विश्रामलाई म काय, वाक् र चित्तबाटै अनुमोदन गर्दछु। त्यस्तै दुःखीजनहरूले जे अभिप्रायले शुभकर्म गर्छन् र गरेका छन् ती सबै कर्मका फलहरू आरामसँग प्राप्त गरुन् र सुखपूर्वक रहून्। यसरी लौकिक अनुमोदन गरेपछि लोकोत्तर पुण्यको अनुमोदन गर्नको लागि उहाँ भन्नुहुन्छ -

संसारदुःखनिर्मोक्षमनुमोदे शरीरिणाम्।
बोधिसत्वत्व-बुद्धत्वमनुमोदे च तायिनाम् ॥२॥

संसारदुःखमोक्षैको देहीको अनुमोदना
बोधिसत्वत्व बुद्धत्व तायीको अनुमोदना ॥२॥

अन्वयार्थ : शरीरिणाम् = शरीरधारीहरूको, संसारदुःखनिर्मोक्षं = संसाररूपी दुःखबाट भएको मुक्तिको, अनुमोदे = अनुमोदन गर्दछु, तायिनाम् = तायीहरूको, बोधिसत्वत्व-बुद्धत्वम् = बोधिसत्वत्व र बुद्धत्वको, अनुमोदे = अनुमोदना गर्दछु ॥

संसारको दुःखबाट मुक्त हुने श्रावक र प्रत्येकबुद्धहरूको मुक्तिप्रति अनुमोदना गर्छु, त्यसैगरी जुनमार्गबाट बुद्धत्वफलको प्राप्ति हुन्छ त्यसको उपदेश गर्ने तायीहरूको बोधिसत्ववृत्ति र बुद्धताको पनि अनुमोदना गर्दछु।

चित्तोत्पादसमुद्रांश्च सर्वसत्वसुखावहान्।
सर्वसत्वहिताधानान् अनुमोदे च शासिनाम् ॥३॥

पुऱ्याउने सत्व सबैकहाँ सुख गराउने ती सब सत्वको हित
जो चित्त उत्पाद समुद्र नै छ रे शास्ताहरूको अनुमोदना गरें ॥३॥

अन्वयार्थ : शाशिनाम् = शास्ताहरूको, सर्वसत्वसुखावहान् = सबैसत्वहरूलाई सुख पुऱ्याउने, सर्वसत्वहिताधानान् = सबै सत्वहरूलाई हित गर्ने, चित्तोत्पादसमुद्रांश्च = चित्तोत्पादको सागरलाई नै, अनुमोदे = अनुमोदना गर्दछु ॥

शास्ताहरू (बुद्धहरू)ले गरेको बोधिचित्तोत्पादको समुद्रले सबै प्राणीहरूलाई सुख पुऱ्याउने र परमार्थ हित गर्ने भएकोले त्यो चित्तोत्पाद सागरको अनुमोदना गर्दछु। शास्ता अथवा शासिन् भनेको शासक हो। शासकमा दुई मुख्य गुणहरू हुन्छन्। ती हुन् 'अनुशासन' गर्नु र 'रक्षा' गर्नु। त्यसकारण क्लेशरूपी शत्रुहरूलाई अनुशासित पार्ने र दुर्गतिबाट र भयदेखि पनि रक्षा गर्नेलाई 'शास्ता' भन्छन्। त्यस्तै बुद्धताका उपायहरू करुणा र प्रज्ञा हुन् र यिनको अभ्यास बुद्धाताको प्राप्तिमा स्वतः नै पर्न जान्छ। अतः कार्योपचारबाट यिनै उपायको अभ्यासलाई पनि शास्तृत्व भनेर बुझिने गरेको छ। "उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्यात् शासनं मतम्" (प्रमाणवार्तिक १: १४०)

सर्वासु दिक्षु सम्बुद्धान् प्रार्थयामि कृताञ्जलिः।
धर्मप्रदीपं कुर्वन्तु मोहाद् दुःखप्रपातिनाम्॥४॥

सबै दिशाका बुद्धैमा प्रार्थी छु बाँधि अञ्जलि
मोहले दुःख पर्नेमा धर्मको दीप बाल्नु होस्॥४॥

अन्वयार्थ : सर्वासु दिक्षु = सबै दिशाहरूमा भएका, सम्बुद्धान् = सम्यक् संबुद्धहरूलाई, कृताञ्जलि: = अञ्जलि वाँधेर, प्रार्थयामि = प्रार्थना गर्दछु। मोहाद् = अज्ञानले गर्दा, दुःखप्रपातिनाम् = दुःखमा पर्ने भएका सत्वहरूको निमित्त, धर्मप्रदीपं = धर्मको वत्ती, कुर्वन्तु = वालिदिनुहोस्॥

हामी अज्ञानको अन्धकारले ढाकिएका र त्यसैकारणले गर्दा दुःख पाएका प्राणीहरूको लागि धर्मको प्रकाश फैलाएर मार्गामार्ग ज्ञान गराउनुहोस् भनी दशैदिशाका बुद्धहरूमा प्रार्थना गर्दछु। सबै दिशाका बुद्धहरूमा अञ्जलि बाँधेर प्रार्थना गर्छु कि अज्ञानले दुःखमा परेकाहरूका निमित्त धर्मको बत्ती बालिदिनुहोस्। यो अध्येषणा हो।

निर्वातुकामाँश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः
कल्पाननल्पाँस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत्॥५॥

निर्वाणेच्छुक बुद्धैमा मार्छु बाँधेर अञ्जलि
अनन्त कल्प रहनोस् यो जगत् अन्धकार् नहोस्॥५॥

अन्वयार्थ : निर्वातुकामान् = निर्वाणमा जान चाहने, जिनान् च = जिनहरूलाई पनि, कृताञ्जलि: = अञ्जलि वाँधेर, प्रार्थयामि = प्रार्थना गर्दछु, (कि उहाँहरू), अनल्पान् कल्पान् = धेरै कल्पसम्म पनि, तिष्ठन्तु = रहनु होस्, इदं जगत् = यो जगत्, अन्धम् = अन्धकारमय, मा भूत् = नहोस्।

निर्वाणमा जान चाहने तथागतहरूलाई धेरै कल्पसम्म यहाँ नै रहेर धर्म देशना गरी यो जगत्लाई अज्ञानको अँध्यारो छाउनबाट बचाउनुहोस् भनी याचना गर्दछु। यो याचना हो। अब पुण्यपरिणामना गर्दै भन्नुहुन्छ –

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम्।
तेन स्याम् सर्वसत्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥६॥

यसरी यो सबै गर्दा जो गरें पुण्य आर्जन
त्यस्ले सम्पूर्ण सत्वैको हटाऊँ सब दुःख म॥६॥

__अन्वयार्थ :__ एवम् = यसरी, इदं सर्वं = यो सबै, कृत्वा = गरेर, मया = मैले, यत् शुभम् = जुन पुण्य, आसादितं = प्राप्त गरें, तेन = त्यसले, सर्वसत्वानाम् = सम्पूर्ण प्राणीहरूको, सर्वदु:खप्रशान्तिकृत् = सबै दु:खलाई शान्त पार्ने, स्याम् = होऊँ ।

यसरी वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्य-अनुमोदना आदि शुभकर्महरू गरेर जुन पुण्य मैले कमाएँ त्यसले गर्दा सबै प्राणीहरूका सम्पूर्ण दु:खहरूलाई शान्त पार्न सक्ने होऊँ ।

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च ।
तदुपस्थायकश्चैव यावद्रोगापुनर्भवः ॥७॥

रोगीका निम्ति होऊँ म औषधी वैद्य नै पनि
रोग सञ्चो न होउञ्जेल परिचारक नै पनि ॥७॥

__अन्वयार्थ :__ ग्लानानाम् = रोगीहरूका निमित्त, भैषज्यं = औषधी, अस्मि = होऊँ, वैद्य एव च = वैद्य नै पनि, भवेयम् = होऊँ, त्यति मात्र होइन, यावत् = जवसम्म, रोगापुनर्भव: = रोग फेरी नआउने अवस्थासम्म पुग्दैन तबसम्म अर्थात् रोग निको नहुँदासम्म नै, तदुपस्थायकश्चैव = ती रोगीको परिचारक बनेर नै रहूँ ।

रोगीहरूका निमित्त रोग सञ्चो नहुँदासम्म औषधी, बैद्य र सेवक समेत बनिरहूँ ।

क्षुत्पिपासाव्यथां हन्यामन्नपानप्रवर्षणैः ।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ॥८॥

भोक प्यास व्यथा नाशूँ वर्षाई अन्नपान नै
दुर्भिक्षान्तरकल्पैमा बनूँ पान र भोजनै ॥८॥

__अन्वयार्थ :__ क्षुत्पिपासाव्यथां = भोक र प्यासको पीडालाई, अन्नपानप्रवर्पणै: = अन्न र पानीको राम्रोसंग दान वर्पाएर, हंन्याम् = नाशगर्न सकूँ । दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु = अनिकाल परेर कल्प अन्त्य हुने बेलामा, पानभोजनम् = पेय र भोजन नै, भवेयम् = बनूँ ।

अनिकालबाट कल्प सिद्धिन लाग्दा अन्न पानी आदिको वर्षा गरेर प्राणीहरूको भोक प्यासको पीडालाई शान्त पारूँ र त्यसवेला भोजन पानी स्वयं मै बन्नुपरे पनि बनूँ ।

कल्पहरूको अन्त्य हुनुलाई संवर्तकल्प भन्छन् । संवर्तकल्प शुरु हुँदा मनुष्यको आयु दश वर्षको हुन्छ । त्यसवेलमा शस्त्र आदिको (युद्ध) र रोगको कारणले र अनिकाल परेर प्राणीहरूको क्षय हुँदै कल्पको अन्त हुनथाल्छ ।

"कल्पस्य शस्त्ररोगाभ्यां दुर्भिक्षेण विनिर्गमः
दिवसान् सप्तमासाँश्च वर्षांश्चैव यथाक्रमम्"

यो प्रक्रिया सात वर्ष, सात महिना, सात दिनसम्म भइरहन्छ । त्यस मध्ये शस्त्रबाट सात दिन, रोगबाट सात महीना र अनिकालबाट सात वर्ष चल्छ । त्यसबेलाको महा-अनिकालमा खानेपिउने केही नभएर एकले अर्काको मासु खाने स्थिति आउँछ । त्यो पनि नपाएर कतिपय प्राणीहरू त्यसै मर्न थाल्छन् । त्यस्तो बेलामा म अन्न पानी वर्षाएर र अन्त्यमा त्यो भोजन पानी (मांस) नै म स्वयं बनेर ती पीडितहरूको भोक प्यासको व्यथालाई शान्त पारूँ ।

दरिद्राणां च सत्वानां निधिः स्यामहमक्षयः ।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ॥९॥

दरिद्र प्राणीका निम्ति म होऊँ कोष अक्षय
वनेर नाना सामग्री होऊँ अघि उपस्थित ॥९॥

अन्वयार्थ : दरिद्राणा = गरीव, सत्वानां = सत्वहरूका निमित्त, अहम् = म, अक्षयः = कहिल्यै नाश नहुने, निधिः = कोष, स्याम् = होऊ, अग्रतः= अगाडि (तिनीहरूको), नानोपकरणाकारैः = विभिन्न वस्तुहरूको आकार लिएर, उपतिष्ठेयम् = समीपमा खडा होऊं ।

ती गरीव र दरिद्र प्राणीहरूलाई खान, पिउन, लुगा र अन्य जे जे वस्तुहरूको आवश्यकता पर्छ, ती सबै वस्तुहरूको रूप लिएर म उनीहरूका अगाडि प्रस्तुत भै रहूँ ।

आर्य वज्रध्वजसूत्रमा विस्तृतरूपमा यो परिणामना बताइएको छ । त्यहाँ भनिएको छ "यो कुशलमूलले गर्दा म सबै सत्वहरूको सबै दुःखस्कन्ध-हरूलाई राम्ररी हटाउने भएको छँदो विश्रामस्थल बनूँ । सबै सत्वहरूका सबै क्लेशहरू हटाइदिएर त्राण (रक्षा) बनूँ, सबै सत्वहरूलाई सबै भयहरूबाट सुरक्षित गराउनाले सबैको शरणयोग्य बनूँ, सबै भूमिहरूमा जान सक्नाले गर्दा सबै सत्वहरूको गति बनूँ, अत्यन्त योगक्षेमको कुशलता प्राप्त गर्नाले सबै सत्वहरूको परायण बनूँ, अन्धकारले रहित शुद्ध ज्ञानको ज्योति देखाइदिनाले गर्दा सबै सत्वहरूको आलोक (बत्ती, प्रकाश) बनूँ, अविद्यारूपी अन्धकारलाई नष्ट पारिदिनाले सबै सत्वहरूको मशाल बनूँ ।" त्यस्तै फेरी भनिएको छ "बोलिले मात्र नभएर आशय समेत शुद्ध राखेर मन लगाएर, प्रसन्न भएर, खुशी मनले, मैत्री चित्तले, प्रेम चित्तले परिणामना गर्नू ।"

अब आत्मभावलाई त्यागछु भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ –

आत्मभावाँस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम् ।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्वार्थसिद्धये ॥१०॥

आतमभाव तथा भोग कुशले तीन अध्वका
त्यागछु अपेक्षा नगरी सर्वसत्वार्थ सिद्धिमा ॥१०॥

अन्वयार्थ : आत्माभावान् = आत्मभावहरूलाई, तथा = त्यस्तै, भोगान् = उपभोगहरूलाई, सर्वत्र्यध्वगतं = तीनै अध्व (काल)का सवै, शुभम् = कुशल कर्मलाई, निरपेक्षः = कुनै पनि अपेक्षा नगरिकन, सर्वसत्वार्थसिद्धये = सवै सत्वहरूको हित सिद्ध गर्नको लागि, एप = मैले, त्यजामि = त्याग गरिदिन्छु ।

आत्मभावहरू (शरीर आदि) र उपभोग्य एवं तीनै कालका शुभहरूलाई कुनै इच्छा आकांक्षा नराखी सबै सत्वहरूको हितका लागि त्यागिदिन्छु ।

सबै किसिमका योनिहरूमा जन्मिँदाका र च्युति एवं उपपत्ति कालका आफ्ना सबै काय (शरीर= जीव)हरूलाई 'म' भन्ने ठानिएको हुन्छ । त्यसकारण त्यो आत्मभाव हो । ती सबै आत्मभावहरूलाई र धनसम्पत्ति हात्ती, घोडा, दर्बार, लुगा, आभूषण, वाहन आदि उपभोग्य वस्तुहरूलाई एवं अतीत (भूत), अनागत (भविष्य), प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) कालमा सञ्चित भएका पुण्यकर्महरूलाई कुनै पनि आशा प्रत्याशा नराखी सबै सत्वहरूको दुई अर्थ सिद्ध गर्नमा लागोस् भनी त्याग या समर्पण गर्दछु ।

यहाँ भविष्यको पुण्य त सञ्चय भएकै छैन भने त्यो कसरी समर्पण हुन सक्छ भन्ने प्रश्न उठ्ला । परन्तु अहिलेदेखि नै त्यागभाव पैदा गरेमा भविष्यमा असङ्ग हुन सजिलो हुन्छ र आशय विशुद्धि पनि धेरै बढ्दै जान्छ । त्यसकारण अहिलेदेखि नै अर्पण गर्नुपर्छ भनिएको हो । आर्य अक्षयमतिनिर्देशसूत्रमा यसको विस्तृत विधि पनि बताइएको छ ।

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः ।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्वेषु दीयताम् ॥११॥

निर्वण सर्वत्यागै हो त्यो नै चाहान्छ यो मन
त्यागने भए सवै मैले सत्वमा दिनु उत्तम ॥११॥

अन्वयार्थ : सर्वत्यागः = सवै कुराको त्यागं नै, निर्वाणं = निर्वाण हो, मे मनश्च = मेरो मन पनि, निर्वाणार्थि = निर्वाण चाहान्छ, चेत् = यदि, मया = मैले, सर्वं = सवै नै, त्यक्तव्यं = त्यागनुपर्छ भने, सत्वेपु = सत्वहरूका निम्तिमा, दीयताम् = दिनू, (यही नै), वरं = श्रेष्ठ छ ।

यदि मैले निर्वाण नै चाहिरहेको छु र निर्वाण भनेको नै यी सबै आत्मभाव आदि साम्रव कुराहरूको पूर्णरूपमा त्याग हो भने त मलाई यसै पनि यी सबै कुरा एक पटक नत्यागी नहुने नै रहेछ । त्यसोभए किन मैले यी कुरा अरूलाई नदिने त ? त्यसै त्यागनुभन्दा त अरूलाई नै दिनु धेरै राम्रो हो नि ।

यश्चासुखीकृतश्चात्मा मयायं सर्वदेहिनाम् ।
घ्नन्तु निन्दन्तु वा नित्यमाकिरन्तु च पांसुभिः ॥१२॥

क्रीडन्तु मम कायेन हसन्तु विलसन्तु च ।
दत्तस्तेभ्यो मया कायश्चिन्तया किं ममानया ॥१३॥

देह यो सर्ब सत्वैमा जव मैले त अर्पिएँ
मारुन् सधै धुलो फेकून्, निन्दा वा जेसुकै गरून् ॥१२॥

खेलून् मेरो शरीरैले हाँसून् वा ती विलासिऊन्
तीन्लाई दीसकें देह केको चिन्ता पुन: गरुँ ॥१३॥

अन्वयार्थ : मया = मैले, यः अयम् आत्मा = जो यो शरीरलाई, सर्व देहिनां = सवै प्राणीहरूको निमित्त, असुखीकृतः = नियुक्त गरिसकेको छु, (त्यसैले अव चाहे), घ्नन्तु = मारुन्, वा = अथवा, निन्दन्तु = निन्दा गरून्, वा = अथवा, नित्यम् = सधैं, पांसुभिः = धूलो, आकिरन्तुं = फ्याँकून् ॥

मम कायेन = मेरो शरीरसँग, क्रीडन्तु = खेलून्, हसन्तु = उपहास गरून्, विलसन्तु च = विलास पनि गरुन्, मया = मैले, तेभ्यः = तिनीहरूलाई, कायः = शरीर, दत्तः = दिइसकें, (अव) अनया = यो, मम चिन्तया = मेरो चिन्ताले, किं = के प्रयांजन ?

मैले मेरो आत्मभाव (शरीर आदि) सबै नै अरूको हितका निमित्त सुम्पिसकेको हुनाले मेरो यो शरीरलाई उनीहरूले गाली, निन्दा, उपहास, आदि जे जस्तो गरे पनि मैले चिन्ता गर्नुपर्ने कुरै के रह्यो त ? म निश्चिन्त भएर बसे भैहाल्यो ।

कारयन्तु च कर्माणि यानि तेषां सुखावहम् ।
अनर्थः कस्यचिन्मा भून्मामालम्ब्य कदाचन ॥१४॥

गराऊन् काम उनको जसरी सुख आउँछ
अनर्थ नबनोस् मैले गर्दा कहीँ कसैसँग ॥१४॥

अन्वयार्थ : तेषां = तिनीहरूका निमित्त, यानि कर्माणि = जुन कर्महरू गर्दा, सुखावहं = सुख हुन्छ (सो यसलाई), कारयन्तु = गराऊन् , माम् आलम्व्य = मलाई अवलम्वन गरेर अर्थात् मैले गर्दा, कस्यचित्= कसैको पनि, अनर्थ = अहित, कदाचन = कहिल्यै पनि, मा भूत्= नहोस् ।

यसरी काय अरुलाई नै समर्पण गरिसकेको हुनाले उनीहरूलाई जसरी सुख हुन्छ त्यसरी नै राम्रोसँग यो उपयोगमा आओस् । यही मेरो चाहना छ र यो कायबाट कसैको पनि अनर्थ नहोस् ।

येषां क्रुद्धा ऽ प्रसन्ना वा मामालम्ब्य मतिर्भवेत् ।
तेषां स एव हेतुः स्यान्नित्यं सर्वार्थसिद्धये ॥१५॥

मैले गर्दा मति जस्को अप्रसन्न र क्रुद्ध भो
तीन्का निमित्त सर्वार्थ साधने हेतु त्यै बनोस् ॥१५॥

अन्वयार्थ : मामालम्व्य = मलाई निमित्त बनाएर अर्थात् मैले गर्दा, येषां = जस्को, मतिः = वुद्धि, क्रुद्धा = क्रोधयुक्त, वा = अथवा, अप्रसन्ना = अप्रसन्न, भवेत् = हुन्छ, तेषां = तिनीहरूको, सर्वार्थसिद्धये = सर्वाथ सिद्ध गर्नका निमित्त, नित्यं = सधै, स एव = त्यो नै, हेतुः स्यात् = कारण बनोस् ।

मैले गर्दा जसको चित्त क्रुद्ध र दुःखी भएको छ, त्यही चित्त नै उनीहरूको सर्वार्थ सिद्ध गराउने कारण बनोस् ।

अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्ये ऽ प्यपकारिणः ।
उत्प्रासकास्तथान्ये ऽ पि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः ॥१६॥

लगाउने दोष मिथ्या अपकारी तथा अरु
हिस्सी उडाउने मेरो बोधिलाभ सबै गरून् ॥१६॥

अन्वयार्थ : मां = मलाई, ये = जस्ले, अभ्याख्यास्यन्ति = झूटो दोषारोपण गर्लान्, अन्ये ऽ पि च ये = अरु पनि जो जो, अपकारिणः = अपकार गर्नेहरू होलान्, तिनीहरू र, तथा = त्यस्तै उत्प्रासकाः = उपाहास गरेर उडाउनेहरू जति सवै र, अन्ये अपि = अन्य जनहरू पनि, सर्वे = सबै, वोधिभागिनः = वोधिका भागीदार, स्युः = होऊन् ॥

मलाई मिथ्या दोषलगाउने, अपकार गर्ने, खिल्ली उडाउने जस्ता काम गर्ने र अन्य तटस्थ एवं प्रसन्न हुने व्यक्तिहरू पनि सवैले वोधिलाभ गरून् ।

अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम् ।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ॥१७॥

अनाथको वनूँ नाथ जानेको सार्थवाहक
डुंगा नै तर्न खोज्नेको वनूँ तुइन, पूल त ॥१७॥

अन्वयार्थ : अहं = म, अनाथानां = अनाथहरूका निमित्त, नाथ: = सहारा वनूँ, यायिनां = वटुवाहरूका निमित्त, सार्थवाह: = मार्ग दर्शक (नाइके) वनूँ, पारेप्सूनां = नदी पार गर्न खोज्नेहरूका निमित्त, नौभूत: = डुँगा वनूँ, सेतु: = पूल वनूँ, संक्रम एव च = तुइन (फेरी) पनिवनूँ ।

अनाथहरूको नाथ बनूँ र व्यापार आदिको लागि बाटो लाग्नेहरूको मार्गदर्शक साथी (सार्थवाह) बनूँ । नदी, समुद्र आदि पार गर्न चाहनेको लागि डुँगा, पुल, तुइन (या फेरी) बनूँ ।

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥१८॥

दीपार्थिको बनूँ दीप शय्या शय्यार्थिको अनि
दासार्थिको बनूँ दास जोसुकै प्राणिको पनि ॥१८॥

अन्वयार्थ : अहं = म, दीपार्थिनां = बत्ती चाहनेहरूका निमित्त, दीप: = बत्ती वनूँ, अहं = म, शय्यार्थिनाम् = शय्या चाहनेहरूको निमित्त, शय्या = शय्या वनूँ, दासार्थीनां = दास खोज्ने, सर्वदेहिनां = सवै प्राणीहरूका निमित्त, दासो भवेयम् = दास होऊँ ।

बत्ती चाहनेलाई बत्ती बनूँ, ओछ्यान चाहनेलाई ओछ्यान बनूँ, दास चाहनेहरूको दास बनूँ । यसरी सबै प्राणीलाई चाहिने कुरा बनूँ ।

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः ।
भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनाम् ॥१९॥

चिन्तामणि भद्रघडा सिद्धविद्या महौषधि
कामधेनु कल्पवृक्ष होऊँ मै देहधारिको ॥१९॥

अन्वयार्थ : देहिनाम् = प्राणीहरूका निमित्त, चिन्तामणि = चिताएको पुऱ्याउने मणि, भद्रघट: = जे सोच्यो त्यही हातमा आउने घडा, सिद्ध विद्या = जे पनि सिद्ध पारिदिने मन्त्र, महौषधि: = जुन रोगमा पनि कामदिने औषधि, कल्पवृक्ष = चिताएको कुरा जे पनि दिने रूख र, कामधेनुश्च = जे इच्छायो त्यही दुहुन सकिने गाई पनि, भवेयम् = होऊँ ।

प्राणीहरूका निमित्त म चिन्तामणि, भद्रकलश, सिद्धविद्या, महौषधि, कामधेनु गाई, कल्पवृक्ष नै बनूँ ।

पृथिव्यादीनि भूतानि निःशेषाकाशवासिनाम् ।
सत्वानामप्रमेयाणां यथाभोगान्यनेकधा ॥२०॥

एवमाकाशनिष्ठस्य सत्वधातोरनेकधा ।
भवेयमुपजीव्यो ऽहं यावत् सर्वे न निर्वृताः ॥२१॥

आकाशव्यापि सम्पूर्ण असंख्यै देहधारिका
पृथिवी आदि जो भूत जस्तै हुन् उपभोग्य ता ॥२०॥

त्यस्तै आकाशमै व्याप्त सत्व धातु अनेकका
वनूँ म बाँच्ने सामग्री सवै मुक्त हुँदा तक ॥२१॥

अन्वयार्थ : यथा =जस्तै, नि:शेपाकाशवासिनाम् = सम्पूर्ण आकाशमै व्याप्त भई वसेका, अप्रमेयाणां = नाप्नै नसकिने

(असंख्य), सत्वानां = सत्वहरूका निमित्त, पृथिव्यादीनि भूतानि = पृथिवी आदि चार महाभूतहरू, अनेकधा = अनेक प्रकारका, भोगानि = उपभोग्य वस्तुहरू बनेका छन् ।

एवं = यस्तै प्रकारले, अहम् = म, आकाशनिष्ठस्य = आकाशभरि व्याप्त भई रहेको, सत्वधातोः = प्राणीलोकको निमित्त, यावत् = जवसम्म, सर्वे = सबै, न निर्वृताः = दुःखबाट मुक्त हुँदैनन् तवसम्म, अनेकधा = अनेक प्रकारले, उपजीव्यः = उपभोग्य, (बाँच्ने साधन), भवेयम् = होऊँ ।

अर्थात् जसरी असंख्य प्राणीहरूका निमित्त खाने, बस्ने, सुत्ने, हिंड्ने आदि सम्पूर्ण कुराको आधार र हेतु बनेर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु यी चार महाभूतहरूले उपभोग्य वस्तुको निर्वाह गरेका छन् त्यस्तै गरी म स्वयं नै ती आधारभूत सामग्रीको रूपमा आएर सबै प्राणीहरू मुक्त नहुँदासम्म नै जीवन सामग्री बनिरहूँ ।

यसरी आफ्नो आत्मभाव आदिलाई अरुका निमित्त त्याग गर्नु बोधिसत्वको कर्तव्य हुन जान्छ । यस्तो दान (त्याग)को बारेमा शिक्षासमुच्चयमा धेरै विस्तारमा बताइएको छ । त्यस्तै बोधिसत्वप्रातिमोक्ष सूत्रमा बताइएको छ, "फेरि पनि हे शारिपुत्र, बोधिसत्वले सम्पूर्ण धर्महरूमा अर्काको भन्ने संज्ञाको उत्पाद गर्दछ, कुनै भावलाई पनि आफूले ग्रहण गर्दैन, त्यो किन ? किनकि ग्रहण (ग्राह) गर्नु नै भय हो ।" त्यहीं यस्तो पनि भनिएको छ, "हे शारिपुत्र, त्यस्तै बोधिसत्वहरू चित्तबाट पनि शूरा नै हुन्छन् । आफ्नो हात त्यागिदिने, खुट्टा त्यागिदिने, नाक त्यागिदिने, टाउको त्यागिदिने, अङ्गप्रत्यङ्ग त्यागिदिने र सर्वस्व समेत त्याग गरिदिन सक्ने हुन्छन् ।"

त्यस्तै नारायणपरिपृच्छामा पनि त्यागचित्त उत्पन्न नहुने, त्यागबुद्धि नआउने कुनै पनि वस्तु ग्रहण गर्नुहुँदैन र बोधिसत्वले त 'मेरो यो आत्मभावलाई सर्वसत्वहरूको निमित्त उत्सर्ग गरिसकेको छु भने वस्तु त पहिले नै त्याग भैसकेका हुन्', भन्ने भावको चित्त उत्पन्न गराउनुपर्छ भनिएको छ ।

आर्य अक्षयमतिमा पनि यस्तो बताईएको छ "मेरो यो शरीरलाई सर्वसत्वहरूका निमित्त जेमा उपयोग हुन्छ त्यसको लागि त्याग गरिदिएको छु । यी चार महाभूतहरू (पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु, वायुधातु) विभिन्न रुपमा, विभिन्न आलम्बनले, विभिन्न उपकरणको रूपले, विभिन्न सुख दिएर, विभिन्न उपभोग बनेर सत्वहरूका उपभोग्य वस्तु बनेजस्तै मेरो यो चारमहाभूतको कायलाई पनि त्यही त्यही रूपमा विस्तारपूर्वक उपभोग्य वस्तु बनाउने छु ।"

"तच्चित्तरत्नग्रहणाय (बो. च. २.१)" देखी यहाँसम्मको प्रयोग बोधिचित्तसंवर ग्रहण गर्नका निमित्त हो । यस प्रकार पूजा आदि गरेर आत्मभाव आदि दान गरेर, बोधिचित्तको अनुशंसालाई बुझेर, क्षणसम्पदाको परम दुर्लभतालाई जानेर, दृढरूपमा श्रद्धामूललाई ल्याएर (बलियो श्रद्धा गरेर) अनाथ र रक्षाहीन सत्वहरूलाई करुणा गर्दै, आफ्नो सुखको वास्तै नगरेर, अरुको दुःखबाट दुःखी भएर त्यसबाट उनीहरूलाई उद्धार गर्ने आशय र अभिप्रायबाट बुद्धत्व नै त्यसको उपाय रहेछ भन्ने देख्दै, त्यसमा रहेर सम्यक्सम्बोधिचित्तको उत्पाद गर्नुपर्छ । जस्तै – शिक्षासमुच्चयमा आचार्यले भन्नुभएको पनि छ –

> यदात्मनः परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।
> तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥(शि. स. १)

अर्थात्, "जब आफूलाई र अरुलाई पनि भय र दुःख मन पर्दैन भने आफ्नो बढी के विशेषता छ र मैले आफूलाई रक्षा गर्ने अरुलाई नगर्ने त ?"

दुःखान्तं कर्तुकामेन सुखान्तं गन्तुमिच्छता ।
श्रद्धामूलं दृढीकृत्य बोधौ कार्या मतिर्दृढा ॥ (शि. स. २)

अर्थात्, "आफ्नो र अरुको लागि पनि दुःखको अन्त गर्न चाहने र सुखको चरम सीमासम्म जान चाहनेले श्रद्धामूललाई बलियो बनाएर मतिलाई बोधिमा दृढतापूर्वक लगाउनु पर्छ ।

बोधिचित्त उत्पादको उपक्रम यसरी शुरु हुन्छ -

यथा गृहीतं सुगतैर्बोधिचित्तं पुरातनैः ।
ते बोधिसत्वशिक्षायामानुपूर्व्या यथा स्थिताः ॥२२॥

अघिका बुद्धले बोधिचित्त यो जसरी लिए
ती वोधिसत्व शिक्षामा जसरी क्रमले रहे ॥२२॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै गरी, पुरातनैः = पहिलेका, सुगतैः = बुद्धहरुले, बोधिचित्तं = वोधिचित्तलाई, गृहीतं = ग्रहण गरेका थिए, यथा = जसरी, ते = तिनीहरू, बोधिसत्वशिक्षायां = बोधिसत्वले पालन गर्नुपर्ने शिक्षाहरूमा, आनुपूर्व्या = क्रमले, स्थिताः = रहेका थिए ।

तद्वदुत्पादयाम्येष बोधिचित्तं जगद्धिते ।
तद्वदेव च ताः शिक्षाः शिक्षिष्यामि यथाक्रमम् ॥२३॥

त्यस्तै उत्पत्ति यो बोधि - चित्तको लोक निम्तिमा
गर्छु शिक्षा पनि लिन्छु क्रमपूर्वक ती यहाँ ॥२३॥

अन्वयार्थ : तद्वत् = त्यसै गरी, एष = मैले, जगद्धिते = लोकको हित गर्नका निमित्तमा, बोधिचित्तं = वोधिचित्तलाई, उत्पादयामि = उत्पन्न गराउँछु, तद्वदेव = त्यसरी नै, ताः शिक्षाः च = ती शिक्षाहरू पनि, यथाक्रमम् = क्रमैसँग, शिक्षिप्यामि = सिक्नेछु ।

जसरी अघिका सुगतहरूले बोधिचित्त उत्पाद गरेर बोधिसत्व शिक्षामा क्रमशः स्थित हुँदै गएका थिए त्यसरी नै मैले पनि लोकको हित गर्नको लागि बोधिचित्त उत्पाद गरेर तिनै शिक्षाहरूमा क्रमशः रहँदैजानेछु ।

बोधि भनेको सम्पूर्ण क्लेशावरण र ज्ञेयावरणलाई प्रहाण गरेर सबै धर्महरूको निःस्वभावताको साक्षात्कार हुनु हो । त्यो बोधिलाई प्राप्त गर्नको निमित्त लागेको चित्त 'बोधिचित्त' हो । अतः त्यो बोधिलाई अध्याशय (विश्वास)पूर्वक मनमा लिनु नै बोधिचित्त भयो । यसको स्वरूपलाई संक्षेपमा वताउने हो भने 'सबै प्राणीहरूलाई दुःखबाट मुक्त गराउन बुद्ध बनूँ' भन्ने भाव उत्पन्न भएको चित्त नै बोधिचित्त हो ।

बोधिसत्वशिक्षा भनेको बोधिचित्त उत्पाद भैसकेपछि के के गर्नुपर्छ भन्ने कुराहरूको शिक्षा हो । यस प्रकारको बोधिचित्त उत्पाद गरेपछि गर्ने ब्रतहरूमा पृथग्जनहरूले आफूले सजिलै पालन गर्न सक्ने र सम्पन्न गर्न सकिने खालका क्रियाकलापहरूको प्रण गर्नुपर्छ । पछि पछि गर्दै जाँदा क्षमता पनि बढ्दै गएपछि जब करुणाबाट चित्त धेरै शुद्ध भैसक्छ अनि मात्र कायत्याग, शिरस्त्याग,

अङ्गत्याग आदि कठोर व्रतहरू लिनुपर्छ। शुरुमै त्यस्ता प्रणहरू गर्नु हुँदैन। त्यसकारण क्रम भनेको सरल देखि जटिलतिर उन्मुख हुँदै गएको हुन्छ।

बोधिसत्वसंवर लिँदाखेरि र बोधिसत्वसंवर लिइसकेपछि पनि मनमा यस्तो विचार गरिरहनु पर्छ – मैले यी शिक्षा अनुसारको आचरण गर्नेछु। यदि यसको विपरीत गरें भने म झुठो हुनेछु, गुरु, बुद्ध र धर्मकै ठगी गर्ने दुष्कर्मी हुनेछु। अतः मैले कदापि त्यस्तो गर्ने छैन। भगवान् बुद्धको यो निर्मल ज्ञानको कुललाई कलंक लगाउने काम मबाट हुनेछैन र नहोस्।

बोधिसत्त्वको संवर ग्रहण गर्नको लागि मनमा तीव्र अभिलाषा एवं उत्कण्ठा लिएर गुरु, आचार्य या कल्याणमित्रको सम्मुखमा उपस्थित भई आफ्नो नाम उच्चारण गर्दै संवरको निमित्त प्रार्थना गर्नुपर्छ र मनमा यस्तो भावना गर्नुपर्छ –

"जबसम्म यो संसार रहन्छ, जवसम्म आकाश रहन्छ, तवसम्म प्राणीहरूको कल्याणको निमित्त विभिन्न चर्याहरूको अनुष्ठान गर्नेछु। मैले यो सम्पूर्ण जगत्लाई नै सेवा गर्नको लागि निमन्त्रणा गरेको छु। संसारलाई मैले दरिद्रता, बुढ्याइ, व्याधि, कलह, अज्ञान आदिले ग्रसित भएको अवस्थाबाट माथि उठाउनेछु। आजदेखि उप्रान्त ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, कञ्जूस्याइ जस्ता अकुशल विचारहरूलाई चित्तमा कुनै स्थान दिनेछैन। शील र संवरले युक्त भएर बुद्धका शिक्षाहरूलाई हृदयदेखि नै पालन गर्नेछु" इत्यादि।

यदि बोधिचित्तको संवर दिने कल्याणमित्र आदि पनि उपलबध भएनन् भने दशै दिशामा स्थित बुद्ध र बोधिसत्वहरूको उपस्थिति छ भन्ने भावना गरेर उहाँहरूको सामु आफूले संवर लिन सकिन्छ। बोधिचित्त संवर ग्रहण गर्नलाई स्त्री, शूद्र आदि सवै योग्य र समान अधिकारी हुन्छन्।

बोधिचित्त उत्पाद गर्नलाई सर्वप्रथम कुशल धर्मको इच्छा उत्पन्न गर्नु आवश्यक हुन्छ। बोधिसत्व गोत्र विद्यमान हुँदाहुँदै पनि बोधिचित्त उत्पन्न न गरिराखेका व्यक्तिहरूलाई देखेर एवं श्रावक मार्गमा प्रेरित भएका व्यक्तिहरूलाई देखेर बोधिसत्वलाई दुःख हुन्छ। बोधिसत्त्वको प्रशंसा सुन्दाखेरि बोधिसत्व प्रसन्न हुन्छन्। अनाथ, आश्रयहीन, एवं अशरण र दुःखी सत्वहरूलाई देखेर बोधिसत्वमा करुणा जागदछ। तथागतका लक्षण र अनुव्यञ्जनले परिपूर्ण भएको कायलाई देख्दा बोधिसत्वमा अनुत्तर बोधिलाई प्राप्त गर्ने अभिलाषा उत्पन्न हुन्छ। संक्षेपमा, यिनीहरू नै बोधिसत्वमा बोधिचित्त उत्पन्न भएका लक्षणहरू हुन्। यसरी बोधिचित्त उत्पन्न भएपछि मात्र कुनै व्यक्तिलाई बोधिसत्व भनिन्छ।

एवं गृहीत्वा मतिमान् बोधिचित्तं प्रसादतः।
पुनः पृष्ठस्य पुष्टचर्यं चित्तमेवं प्रहर्षयेत् ॥२४॥

यसरी मतिमान् बोधिचित्त पाई प्रसन्न भै
पूर्वको पुष्टिका निम्ति गरोस् चित्त प्रहर्षणै ॥२४॥

__अन्वयार्थ :__ एवं = यस प्रकार, मतिमान् = बुद्धिमान व्यक्तिले, प्रसादतः = प्रसन्नतापूर्वक, वोधिचित्तं गृहीत्वा = वोधिचित्तलाई ग्रहण गरेर, पुनः = फेरि, पृष्ठस्य = पहिलेको (अघिको कुराको), पुष्टचर्थं = पुष्टिका निमित्त, एवं = यसरी, चित्तं = चित्तलाई, प्रहर्षयेत् = प्रसन्न वनाऊन्।

यसरी प्रसन्न भएर बोधिचित्त ग्रहण गरेपछि त्यसको पुष्टि गर्नको लागि र अझै उत्तरोत्तर विकास गरिरहन यसरी चित्तमा आनन्द मनाउनु पर्छ जो अर्को श्लोकदेखि बताइँदैछ।

बोधिचित्त उत्पाद भएपछि बोधिसत्व कहलाइन्छ। अनि त्यो अनुत्तम आनन्द एवं श्रद्धा र उक्त बोधिचित्तप्रति सत्कार एवं गौरवको महसूस हुनाले गर्दा बोधिसत्व प्रसन्न भएको हुन्छ। त्यो नघटोस् र बढ्दै जाओस् भन्नुको तात्पर्य नै बोधिचित्तप्रति आस्थाहीनता र उपेक्षाभाव आउन नदिनु र त्यही उत्साह-उमङ्गलाई निरन्तरता दिइरहनु भनेको हो। त्यसो गरिएन भने बोधिचित्तको विस्तार हुँदैन। त्यसकारण बोधिचित्तको रक्षा, शुद्धि र वृद्धिको लागि प्रयास गरिराख्नुपर्छ।

अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भवः।
अद्य बुद्धकुले जातो बुद्धपुत्रोऽस्मि साम्प्रतम् ॥२५॥

आज भो जन्म सफल चोला सुलब्ध मानव
म जन्में बुद्धकुलमा जिनपुत्र भएँ अब ॥२५॥

अन्वयार्थ : अद्य = आज, मे = मेरो, जन्म = जन्म, सफलं = सफल भयो। मानुषः भवः = मनुष्यको जुनी, सुलब्धः = उत्तम लाभयुक्त भयो, अद्य = आज, बुद्धकुले = वुद्धकुलमा, जातः = जन्मिएको छु, साम्प्रतम् = अहिले, वुद्धपुत्रः अस्मि = वुद्धपुत्र भएको छु।

मेरो जन्म आज सफल भयो। म मनुष्य योनिमा जन्मेको पनि सार्थक भयो। आज म बुद्धकुलमा जन्मेको छु। अब म जिनपुत्र भएकोछु। यस्तो विचार गर्नुपर्छ। चित्तलाई प्रसन्न पार्ने यही तरीका हो। किनभने अनादिकालदेखिको यो जन्म संसारको परम्परामा आइरहँदा मैले कहिल्यै पनि यस्तो विचार गरिन। आज यो पवित्र चित्त उत्पन्न भएकोले म अति नै भाग्यशाली रहेंछु। म अब बुद्धपुत्र (बोधिसत्व) भैसकेको छु।

तंथा ऽ धुना मया कार्यं स्वकुलोचितकारिणाम्।
निर्मलस्य कुलस्यास्य कलङ्को न भवेद् यथा ॥२६॥

आफ्नो कुलोचित अब कार्य मैले छ गर्नु नै
कलङ्क न हवोस् जस्ले निर्मल् यो कुलको कतै ॥२६॥

अन्वयार्थ : तथा = त्यस्तै, अधुना = अहिलें, मया = मैले, स्वकुलोचितकारिणाम् = आफ्नो कुलको मर्यादा बमोजिम उचित हुने काम गर्ने पुरुषहरूले जस्तै, कार्यं = गर्नु छ, यथा = जसबाट, अस्य = यो, निर्मलस्य = निर्मल, कुलस्य = कुलको, कलङ्कः = दाग, न भवेत् = नहोस्।

बोधिचित्त उत्पन्न भैसकेपछि म बुद्धकुलमा उत्पन्न भैसकेको छु। अतः बुद्धकुलभित्रका पावनतम रत्नहरू बुद्ध, धर्म र संघमा कुनै लाञ्छना लाग्न न पाओस् भन्ने हेतुले त्यस्ता कुनै पनि कार्यहरू अब मैले गर्नुहुँदैन। जसरी कुलीन पुरुषहरूले आफ्नो कुलको मर्यादालाई हमेशा पालन गरिराख्छन् त्यसरी नै मैले पनि मेरो कुल (बुद्धकुल)को मर्यादालाई पालन गर्नुपर्छ। यही गौरवले गर्दा हीन चित्तको पनि परित्याग गर्नुपर्छ।

स्वकुलोचित भन्नाले यहाँ 'बुद्धको शिक्षा बमोजिम' भनेको हो, 'निर्मल कुलको' भन्नुको

तात्पर्य आदि, मध्य र अन्तमा समेत सर्वथा परिशुद्ध भइरहेको हो ।

अन्धः संकारकूटेभ्यो यथा रत्नमवाप्नुयात् ।
तथा कथंचिदप्येतत् बोधिचित्तं ममोदितम् ॥२७॥

अन्धोले रत्न पाए झैं रद्दी टोकरीबाट नै
त्यस्तै कसैगरी मेरो उदायो बोधिचित्त नै ॥२७॥

अन्वयार्थ : *यथा = जस्तै, अन्धः = अन्धोले, संकारकूटेभ्यः = फोहोरका टुक्राटाक्रीको थुप्रोवाट, रत्नं = रत्न, अवाप्नुयात् = पाउला, तथा = त्यस्तै, कथंचित् = कुनै प्रकारले, मम अपि = मेरोपनि, एतद् बोधिचित्तं = यो बोधिचित्त, उदितं = उदाएको छ ।*

जसरी टुक्राटाक्रीको थुप्रोमा कुनै अन्धाले कथंकदाचित् रत्न भेटाउला त्यस्तै मेरो पनि यो बोधिचित्तरत्न अचानक उदाइहालेको छ ।

भन्न खोजिएको के हो भने बोधिचित्त यहाँ रत्नसमान अमूल्य कुरा हो र जहाँतहीँ भेटिने कुरा होइन । यो अति मूल्यवान् र दुर्लभ हुन्छ । जसरी अन्धाले फोहोरको टोकरीमा रत्न भेटाउने सम्भावना विल्कुलै न्यून छ त्यसरी नै व्यक्तिमा बोधिचित्त उत्पाद हुने सम्भावना पनि ज्यादै कम हुन्छ । संसारमा फसेको यो अनादिकालदेखिको जन्मपरम्परामा आज आएर मेरो चित्तमा रत्न फेला परेको छ, अतः म धन्य भएँ भन्ने विचार गर्नुपर्छ । यो ठूलो सौभाग्यको कुरा हो ।

संसारको यो जन्ममृत्युको परम्परामा घुम्दा यी जागतिक कुराहरू, लौकिक पदार्थहरू सबै निःसार र दुःख नै हुनेभएकोले रद्दीको राश भनी उपमा दिइएको हो ।

बोधि अथवा प्रज्ञा नभै संसारको दुःखबाट भुक्त भईदैन । फेरि बोधिचित्त उत्पाद भैसकेका बोधिसत्वले आफ्नो व्यक्तिगत मुक्ति मात्र चाहँदैनन्, बरु समस्त प्राणीहरूलाई नै दुःखबाट मुक्त गराउन चाहन्छन् । उनीहरूमा दुःख प्रति संवेदनशीलता र सत्वप्रति करुणा जागिसकेको हुन्छ । जसरी आफूलाई दुःख मन पर्दैन त्यसरी नै अरुलाई पनि दुःख अप्रिय नै हुन्छ । म आफूमात्र दुःखमुक्त हुन खोज्नु कुन ठूलो पुरुषार्थ भयो र ? यस्तो त केवल स्वार्थभाव मात्र भयो र आफ्नो मसिनो 'अहं' भाव याने आत्मभाव त कायमै रह्यो । यस्तो सोचेर बोधिसत्वहरूले करुणार्द्र भएर सबै प्राणीलाई दुःखबाट तार्ने सङ्कल्प लिएका हुन्छन् । यस्तो उच्चतम लक्ष्य बोधिचित्तबाट मात्र सम्भव हुन्छ, अरूबाट हुँदैन । त्यसैले बोधिचित्त भनेको रत्न समान दुर्लभ र अमूल्य हुन गएको हो ।

जगन्मृत्युविनाशाय जातमेतद् रसायनम् ।
जगद्दारिद्र्यशमनं निधानमिदमक्षयम् ॥२८॥

जगत्को मृत्यु नाश् गर्न यो रसायन झैं भयो
दारिद्र्य लोकको हर्न कोष अक्षय यो भयो ॥२८॥

अन्वयार्थ : *जगन्मृत्युविनाशाय = जगत्को मृत्युलाई नाश गर्न, एतद् = यो, रसायनम् जातम् = रसायन नै भएको छ । जगद्दारिद्र्यशमनं = जगत्को दरिद्रतालाई शमन गर्ने, इदम् = यो, अक्षयम् = अक्षय (कहिल्यै नसिद्धिने), निधानम् = निधि (कोप) या खानि हो ।*

जगत्को मृत्यु नाश गर्ने यो उत्तम रसायन नै हो र लोकलाई दरिद्रताबाट मुक्ति दिलाउने अक्षय कोष हो।

आयुर्वेद शास्त्रमा विभिन्न किसिमका रसायनहरूको विधि पाइन्छ जसले बुढचाइँ र मृत्युबाट पनि बचाउँछ। तैपनि अनादिकालदेखिको यो जन्म-मरणबाट छुटकारा दिलाउन भने केहीले पनि सकेको छैन। त्यसको एक मात्र उपाय नै यही बोधिचित्त हो। अतः यो अनुत्तम रसायन हो। त्यस्तै दरिद्रतालाई नाश गर्न पनि यो कहिल्यै नसिद्धिने अक्षयकोष समानको हो।

जगद्व्याधिप्रशमनं भैषज्यमिदमुत्तमम्।
भवाध्वभ्रमणश्रान्तजगद्विश्रामपादपः ॥२९॥

जगत्‌को व्याधि शान्तिमा औषधी यो छ उत्तम
भव-मार्ग घुमी थाक्ने लोक्‌को विश्रान्तिको रुख ॥२९॥

अन्वयार्थ : इदं = यो बोधिचित्त, जगद्व्याधिप्रशमनम् = लोकको व्याधिलाई शान्त गर्ने, उत्तमम् = उत्तम, भैषज्यम् = औषधी हो, (त्यस्तै), भवाध्वभ्रमणश्रान्तजगद्विश्रामपादपः = भवरूपी मार्गमा हिंड्नाले थाकेको यो लोकले विश्राम गर्ने रुख हो।

जगत्को दरिद्रतालाई नाश गर्ने यो उत्तम औषधि हो। भवरूपी मार्गमा हिंड्दाखेरि थाकेका लौकिक व्यक्तिहरूले आराम गर्ने रुख हो।

व्याधिहरू दुई प्रकारका हुन्छन्। १. शारीरिक र २. मानसिक। जरो, आउँ, वमन आदि शारीरिक व्याधि तथा राग, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि मानसिक व्याधि हुन्। वैद्यका औषधिहरूले शारीरिक रोगलाई नाश गरे जस्तै बोधिचित्तले मानसिक रोगलाई नाश गर्ने भएकोले यो उत्तम औषधि हो। बाटामा हिँड्दा हिँड्दै यदि कुनै बटुवा थाक्यो भने उसले कुनै ठूलो रुखको छहारीमा थकाई मार्न आराम गर्न सक्छ। त्यस्तै जीव पनि च्युति, अन्तराभव, उपपत्ति, नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य, देव आदि योनिहरूमा घुम्दा घुम्दा थाकिसके पछि यदि बोधिचित्त उत्पाद गऱ्यो भने त्यस्तै विश्रान्ति पाउँछ। यात्रा पनि समाप्त हुन्छ। त्यसैले बोधिचित्त पनि त्यस्तो महावृक्ष जस्तै हो, जसको आश्रयमा आराम लिईन्छ।

दुर्गत्युत्तरणे सेतुः सामान्यः सर्वयायिनाम्।
जगत्क्लेशोष्मशमन उदितश्चित्तचन्द्रमाः ॥३०॥

सामन्य पुल हो तर्ने दुर्गती बटुवा सब
जगत्क्लेश शान्त गर्न उदायो चित्तचन्द्रमा ॥३०॥

अन्वयार्थ : सर्वयायिनां = सम्पूर्ण पथिकहरूलाई, दुर्गत्युत्तरणे = दुर्गतिबाट तर्नको लागि, सामान्यः = सामान्य, सेतुः = पुल हो, जगत्क्लेशोष्मशमने = जगत्का क्लेशहरूबाट भैराखेको सन्तापलाई शान्त पार्नमा, उदितः = उदाएको, चित्तचन्द्रमाः = बोधिचित्तरूपी चन्द्रमा हो।

दुर्गतिरूपी यो संसारको समुद्रबाट तर्नलाई बटुवाहरूको नदी तर्ने पुल जस्तै यो बोधिचित्त पनि पुल हो। त्यस्तै यसले क्लेशहरूबाट पीडित भएका हामी सत्वहरूको सन्तापलाई शीतल पार्ने हुनाले बोधिचित्तरूपी चन्द्रमा उदाए जस्तै हो।

जगदज्ञानतिमिरप्रोत्सारणमहारविः ।
सद्धर्मक्षीरमथनान्नवनीतं समुत्थितम् ॥३१॥

सूर्य नै लोक - अज्ञान - अन्धकार हटाउनै
सद्धर्मको दूध मथ्दा निस्केको नवनीत नै ॥३१॥

__अन्वयार्थ :__ जगदज्ञानतिमिरप्रोत्सारणमहारवि: = जगत्को अज्ञानरूपी अन्धकारलाई हटाउन महान् सूर्यसमान छ । सद्धर्मक्षीर मथनात् = सद्धर्मरूपी दूधलाई मथन गरेवाट, समुत्थितम् = निस्केको, नवनीतं = नौनी घिउ हो ॥

अज्ञान भनेको अन्धकार जस्तै हो। जसरी अन्धकार छाएपछि त्यहाँ विद्यमान वस्तु पनि देख्न सकिँदैन त्यस्तै अज्ञानको कारणले गर्दा यथार्थ विद्यमान तत्व पनि देखा पर्दैन। माथिल्लो श्लोकमा बोधिचित्तरूपी चन्द्रमाले क्लेशहरूबाट मुक्ति दिलाउँछ भनी बताइएको थियो । त्यो क्लेश आवरणबाट मुक्ति दिलाएको भयो। परन्तु बोधिचित्तले त ज्ञेयावरण पनि प्रहाण गर्दछ। त्यसैले यहाँ अज्ञान भनेर ज्ञेयावरणलाई जनाइएको हो। यी दुवै आवरणहरू सर्वज्ञतापद या बुद्धतालाई प्राप्त गर्न बाधक हुन्छन्। बोधिचित्त प्रज्ञाले युक्त हुने भएकोले र प्रज्ञा नै अज्ञानको नाशक भएको हुनाले यो तीव्र सूर्य समानको छ भनी बताइएको छ।

त्यस्तै सद्धर्मलाई दूध जस्तो बताइएको छ । जसरी दूध पवित्र र सेतो सफा (कालिमा नभएको) हुन्छ त्यस्तै सद्धर्म पनि निर्मल र पावन हुन्छ। यहाँ सद्धर्म भनेको बुद्धवचनलाई हो। मन्थन भन्नाले ती बुद्ध वचनहरूलाई श्रवण, चिन्तन र भावनाद्वारा क्रमशः अभ्यास गर्नु हो। जबसम्म बोधिचित्त उत्पन्न हुँदैन तबसम्म त संसारबाट मुक्त हुन र बुद्धत्व प्राप्त गर्न सकिँदैन। त्यसकारण बुद्धवचनरूपी दूधको सागरलाई मथन गर्दा निस्केको नौनी यही बोधिचित्त हो।

सुखभोगबुभुक्षितस्य वा जनसार्थस्य भवाध्वचारिणः ।
सुखसत्त्रमिदं ह्युपस्थितं सकलाभ्यागतसत्वतर्पणम् ॥३२॥

भोकाएका सुखको भोग गर्न या जनसमूहै भवको मार्ग घुम्ने ।
तीनका निम्ति सुखसत्रै खडा छ सारा अतिथि सत्वको तृप्ति गर्छ ॥३२॥

__अन्वयार्थ :__ सुखभोगवुभुक्षितस्य = सुखभोग गर्न भोकाइराखेका, वा = अथवा, भवाध्वचारिण: = संसाररूपी मार्गमा हिँड्ने, जनसार्थस्य = जनसमूहको लागि, इदं = यो, सुखसत्त्रं = सुखसत्त्र (भण्डारा) उपस्थितं = उपस्थित छ र, सकलाभ्यागतसत्वतर्पणम् = सम्पूर्ण आगन्तुक सत्वहरूलाई तृप्त गर्नेवाला छ ।

सुखको भोग गर्न भोकाएका, संसारको बाटो हिंड्ने जनसमूहलाई यो सुखभण्डारा (सत्त्र) नै प्राप्त भएको छ र यसले सम्पूर्ण यी आगन्तुकहरूलाई तृप्त पार्छ।

तीर्थयात्रीहरूको सुविधाको लागि सेठ-महाजनहरूले धर्मशाला र भोजनालयको बन्दोवस्त गरिदिएका हुन्छन्। त्यहाँ अभ्यागत, तीर्थयात्रीहरू सबैलाई खाने, पिउने, लुगा, फाटो, पात्र आदि सबैको बन्दोवस्त हुन्छ र यात्रीलाई सुखसुविधा हुन्छ। यसलाई नै 'सुखसत्त्र' भन्दछन्।

यहाँ पनि बोधिचित्त त्यस्तै खालको 'सुखसत्त्र' हो भन्न खोजिएको हो। सुखभोग चाहाने प्राणी भनेका देवलोकको सुख एवं भोग र मनुष्यलोकका सुख एवं भोगहरूको अभिलाषा राख्ने र

साथै निर्वाणको सुख पनि चाहने प्राणी हुन्। त्यस्तै संसारमा घुमिराख्ने प्राणीहरू पनि अन्य यात्री समान भए। यसरी यी दुवै थरीका यात्रीहरूलाई सुखभोग दिने यही बोधिचित्त हो। त्यसकारण सम्पूर्ण ती अभ्यागतहरूलाई यसले नै तृप्त गर्दछ। लौकिक सुखभोग पनि यसले दिन सक्छ किनकि बोधिचित्त उत्पाद भएपछि पुण्यवृष्टि हुन थाल्दछ र पुण्य नै लौकिक सुखको आधार हो। त्यस्तै लोकोत्तर सुख याने निर्वाण, बुद्धता आदि पनि यसैले नै दिने हो। अतः बोधिचित्तलाई दृढतापूर्वक ग्रहण गर्नाले प्राणीहरूका सम्पूर्ण इच्छाहरू पूरा भई तृप्त हुन्छन्।

> जगदद्य निमन्त्रितं मया सुगतत्वेन सुखेन चान्तरा।
> पुरतः खलु सर्वतायिनामभिनन्दन्तु सुरासुरादयः ॥३३॥

बुद्धत्व अन्तिम तथा विचमा सुखैले
    युक्तै बनाउन निमन्त्रण लोकको गरें।
सम्पूर्ण बुद्ध जिनपुत्र अगाडि राखी
    द्यौता र दानव गरुन् अभिनन्दना ती ॥३३॥

अन्वयार्थ : अद्य = आज, मया = मैले, जगत् = जगत्लाई नै, सुगतत्वेन = सुगतकै रूपमा ल्याउन र, अन्तरा च = त्यस विचमा पनि, सुखेन = देवता आदिको सुख दिलाउने हिसावले, सर्वतायिनाम् = सबै बुद्धबोधिसत्व आदि नाथहरूको, पुरतः = अगाडि, निमन्त्रितं = निमन्त्रणा गरेको छु, सुरासुरादयः = देव र असुर गण आदिले, अभिनन्दन्तु = अभिनन्दन गरुन् ॥

सवै बुद्ध बोधिसत्वहरूको सामु मैले लोकका समस्त प्राणीहरूलाई सुख दिने र बुद्धपदसम्म पुऱ्याउने हिसावले आज आमन्त्रण गरेको छु। यो कुशल कार्यको देव असुर आदि सबैले अनुमोदन गरुन् ॥

बोधिचर्यावतारमा बोधिचित्त परिग्रह नामक तृतीय परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त भयो।

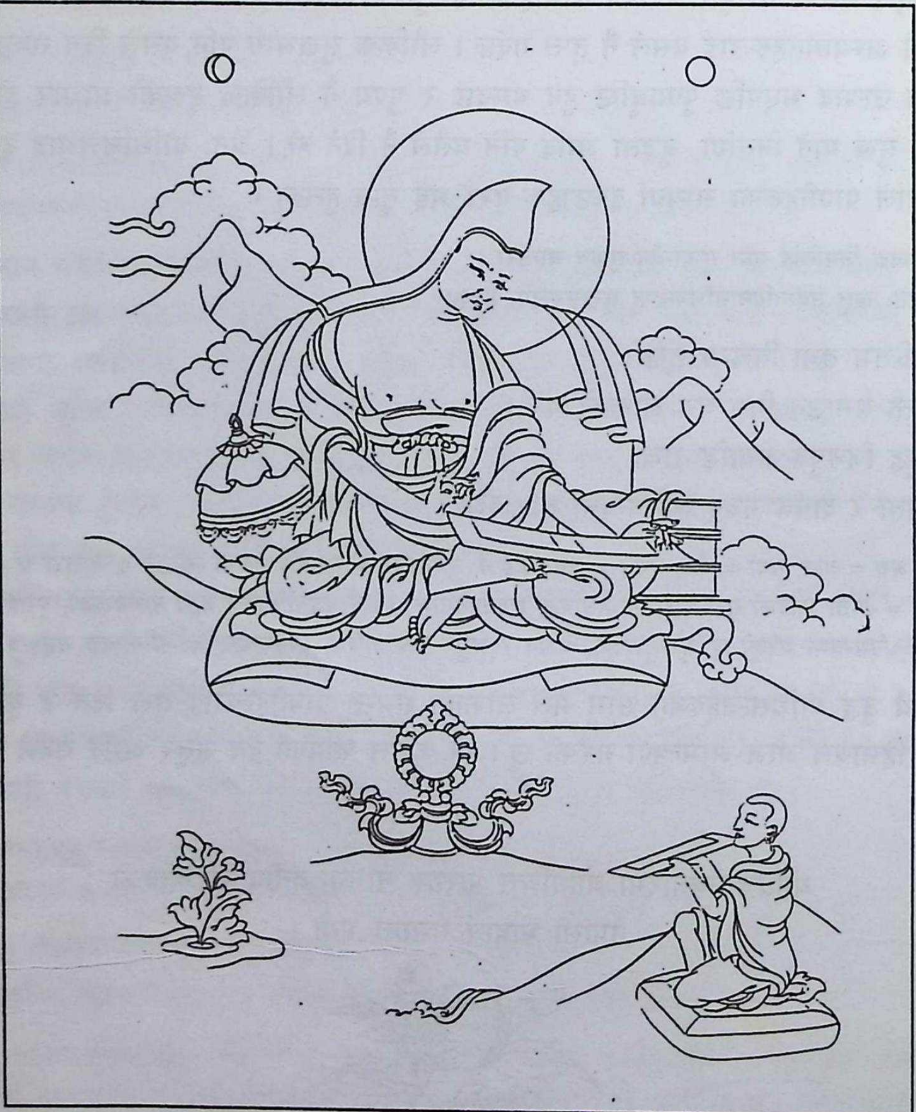

आचार्य दिङ्नाग

[दक्षिण भारतमा ब्राम्हणकुलमा **पाँचौं शताब्दीमा** जन्मिएका आचार्य दिङ्नाग शास्त्रार्थ मुद्रामा । उहाँ आचार्य वसुवन्धुका शिष्य हुनुहुन्थ्यो र न्याय शास्त्रका अद्वितीय विद्वान् हुनुहुन्थ्यो । उहाँलाई मन्जुश्रीको अधिष्ठान प्राप्त थियो र तीर्थिक ईश्वरकृष्णले धेरै विघ्न गरे पनि उनलाई शास्त्रार्थ र ऋद्धिवलमा समेत परास्त गरी "प्रमाणसमुच्चय" भन्ने ग्रन्थ लेख्नुभएको थियो । धेरै विद्वान्हरूले सांख्यकारिकाको रचयिता यिनै ईश्वरकृष्ण हुन् भन्ने मान्दछन् ।]

चतुर्थ परिच्छेद

बोधिचित्त अप्रमाद

यो परिच्छेदमा प्रज्ञा र उपायद्वारा बोधिचित्तको रक्षा, परिशुद्धि एवं बृद्धि कसरी गर्ने भन्ने बारे बताइँदैछ -

एवं गृहीत्वा सुदृढं बोधिचित्तं जिनात्मजः
शिक्षानतिक्रमे यत्नं कुर्यांन्नित्यमतन्द्रितः ॥१॥

यसरी दृढले बोधि-चित्त लिएर होशले
शिक्षा ननाघ्न गर्नु है प्रयत्न बोधिसत्वले ॥१॥

अन्वयार्थ : एवं = यस प्रकार, जिनात्मजः = बोधिसत्वले, बोधिचित्तं = बोधिचित्तलाई, सुदृढं = वलियोसँग, गृहीत्वा = ग्रहण गरेर, नित्यं = सधै, अतन्द्रितः = सावधानीपूर्वक (सचेत भएर), शिक्षानतिक्रमे = शिक्षाको उल्लङ्घन नगर्नमा, यत्नं कुर्यात् = प्रयत्न गर्नू ॥

यसप्रकार दृढतापूर्वक बोधिचित्त ग्रहण गरिसकेपछि बोधिसत्वले सावधान भएर बोधिसत्वले पालन गर्नुपर्ने शिक्षाहरूको राम्रोसँग पालन होस् र कदापि उल्लङ्घन नहोस् भनेर मिहेनत गरिराख्नुपर्ने हुन्छ। यसको लागि उ सधै सावधान र आलस्यरहित भैरहनुपर्दछ।

बोधिसत्वका शिक्षाहरू भनेका छ पारमिताको अभ्यास, चार ब्रह्मविहारको भावना, चार संग्रहवस्तुको अनुशीलन आदि नै हुन्। त्यसको अलावा प्रज्ञापारमिताद्वारा त्रिकोटिपरिशुद्ध दान, शील आदिको अनुष्ठान गरिराख्नु जस्ता कुराहरूले बोधिप्राप्ति गराउँछन्। माथिका मैत्री आदि ब्रह्मविहार, संग्रहवस्तु र अन्य पारमिताले अपरिमित जनकल्याण, सत्वपरिपाक एवं क्षेत्रपरि-शुद्धि गराउँछन् र पुण्यसम्भार पूरा गर्छन् भने प्रज्ञापारमिता स्वयंले ज्ञानसम्भार पूरा गराउँछ र अन्तमा बुद्धता प्राप्ति हुन्छ।

बोधिसत्वका सबै कार्यहरू परोपकारको भावनाबाट प्रेरित भएको हुनुपर्छ। परहितमा बाधक हुने कुनै पनि कार्य बोधिसत्वले गर्नुहुँदैन। यी शिक्षाहरूको पालनमा कुनै आनाकानी नगरी सावधानीपूर्वक लागिरहनुपर्छ।

सहसा यत् समारब्धं सम्यग् यदविचारितम्।
तत्र कुर्यान्न वेत्येवं प्रतिज्ञायापि युज्यते ॥२॥

थालिएमा अकस्मात नविचारेर राम्ररी
सन्देह गर्नु राम्रै हो प्रतिज्ञा नै भए पनि ॥२॥

अन्वयार्थ : यत् = जुन, सहसा = ड्वाट्टै (अकस्मात्), समारब्धं = प्रारम्भ गरिएको छ, यद् = जुन, सम्यक् = राम्रोसंग, अविचारितम् = विचार गरिएको छैन भने, तत्र = त्यहाँ, प्रतिज्ञाय अपि = प्रतिज्ञा गरेको भए पनि, कुर्यात् = गर्ने हो कि, न वा = अथवा गर्ने होइन, इति एवं = भन्ने यस्तो सोच्नु, युज्यते = युक्तिसंगत नै हुन्छ।

जुनकाम थाल्दा राम्ररी विचार गर्नै नपाएर अचानक थालिएको हुन्छ त्यस्तो काममा भने अघि बढ्दै जाने कि नजाने भन्ने शंका उठाउनु युक्तिसंगत हुन्छ, चाहे त्यो काम प्रतिज्ञा गरिएको नै किन नहोस् । परन्तु,

विचारितं तु यद् बुद्धैर्महाप्राज्ञैश्च तत्सुतैः ।
मयापि च यथाशक्ति तत्र किं परिलम्ब्यते ॥३॥

बुद्धले र महाप्राज्ञ पुत्रले जो विचारियो
मैले पनि यथाशक्ति, भने किन हुने ढिलो ॥३॥

__अन्वयार्थ :__ यत् = जुन कुरा, बुद्धैः = बुद्धहरूले र, महाप्राज्ञैः = महाप्रज्ञावान्, तत्सुतैश्च = बुद्धपुत्रहरूले पनि, विचारितं = विचार गरिएको छ र, मयापि च = मैले पनि, यथाशक्ति = आफ्नो शक्ति अनुसार, (विचारितम् = विचार गरेको हो भने,) तत्र = त्यहाँ, किं = किन, परिलम्ब्यते = ढिलाई गर्ने त ?

यो बोधिचित्त पहिले कसैले विचार नगरी थालिएको कुरा होइन । यो त पहिलेका सबै बुद्धहरूले र महाप्रज्ञावान् बोधिसत्वहरूले पनि अति राम्ररी विचार गरेरै ठहराइएको कुरा हो भने आफ्नो क्षमता अनुसार मैले पनि बिचार गरेरै थालिएको हो । अतः यो बोधिसत्वशिक्षा पालन गर्ने विषयमा ढिलाइ गर्ने कुरै के रह्यो त !

भद्रबाहुपरिपृच्छा सूत्रमा बुद्धले बोधिचित्तको प्रशंसा गर्नुभएको छ । त्यस्तै आर्य मैत्रेयनाथ आदि बुद्धपुत्रहरूले पनि गण्डव्यूह आदि सूत्रहरूमा बोधिचित्तको पर्याप्तमात्रामा प्रशंसा गर्नुभएको छ । त्यसकारण पूर्वप्रतिज्ञा अनुसार आचरण गर्न मैले अविलम्ब आरम्भ गर्नुपर्छ । अर्थात् प्रणिधिबोधिचित्तपछि अब प्रस्थानबोधिचित्तको अवस्था प्राप्त भएको छ । अतः मलाई महायान मार्गमा अविलम्ब यात्रा आरम्भ गर्नु आवश्यक छ ।

यदि चैवं प्रतिज्ञाय साधयेयं न कर्मणा ।
एतान् सर्वान् विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥४॥

गरी प्रतिज्ञा यसरी कर्मले नगरे पछि
ढाँटेर यी सवैलाई मेरो होला नि के गति ? ॥४॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, एवं = यस प्रकारले, प्रतिज्ञाय च = प्रतिज्ञा गरेर पनि, कर्मणा = कार्यबाट, न साधयेयं = सिद्ध गरिन भने, एतान् सर्वान् = यी सवैलाई, विसंवाद्य = ढाँटेर, मे = मेरो, का गतिर्भविष्यति ? = के गति होला ?

माथि यसरी मैले प्रतिज्ञा गरिसकें । अब कर्मद्वारा त्यो पूरा गरेर देखाइन भने म बुद्धबोधिसत्वहरूसँग ढाट्ने ठग हुनेछु । त्यसपछि मेरो के गति होला ?

मैले प्रतिज्ञा गरेको "जगत्लाई नै दुःखबाट मुक्त पार्न बुद्धत्व प्राप्ति गर्नेछु" भन्ने थियो । यदि मैले अबदेखि दुर्गति र अभावको दुःखबाट पीडित भएका सत्वहरूको, क्लेशहरूलाई नाश गर्न आतुर भएका श्रावकहरूको र ज्ञेयावरणबाट पनि परिशुद्ध हुन खोज्ने बोधिसत्वहरूको हितका निमित्त काम गरिन भने बुद्ध, बोधिसत्व, देव, मनुष्य सबैलाई ढाँट्ने धोखेबाज हुनेछु । त्यसो गरेमा मेरो गति नरक बाहेक अरु केही पनि हुन सक्दैन । यो त भोजन गराउन अतिथिलाई आमन्त्रण गरेर

बोलाइसकेपछि पनि भोजन तयार नगर्नु जस्तै धोखा हुने छ ।

> मनसा चिन्तयित्वापि यो न दद्यात् पुनर्नरः ।
> स प्रेतो भवतीत्युक्तमल्पमात्रे ऽपि वस्तुनि ॥५॥

चिताई मनले फेरि सानै वस्तु भए पनि
नदिए प्रेत त्यो हुन्छ भन्ने छ सूत्रमै पनि ॥५॥

__अन्वयार्थ :__ यः नरः = जुन मानिसले, मनसा = मनले, अल्पमात्रे = सानै, वस्तुनि अपि = वस्तुको मामलामा पनि, चिन्तयित्वा ऽपि = चिताएर पनि, पुनः = फेरि, न दद्यात् = दिँदैन भने, सः = त्यो मानिस, प्रेतः भवति = प्रेत हुन्छ, इति उक्तम् = यस्तो बताइएको छ ।

यदि सानै कुरा पनि मनले दिन्छु भन्ने सोचिसकिएको छ भने दिइहाल्नु पर्छ । यदि दिइएन भने प्रेत भएर जन्मिन्छ । यो कुरा आगमहरूमा बताइएको छ । मनले सोचिने सामान्य विषयमा त त्यस्तो हुन्छ भने मैले त –

> किमुतानुत्तरं सौख्यं उच्चैरुद्घुष्य भावतः ।
> जगत्सर्वं विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥६॥

दिने अनुत्तर सुखै चिच्याई भावले गरी
घोषणा जगतै ढाँट्दा होला मेरो नि के गति ॥६॥

__अन्वयार्थ :__ किम् उत = अझ, भावतः = भावसहित भएर, अनुत्तरं सौख्यं = अनुत्तर सुखको, उच्चैः = उच्चस्वरमा, उद्घुष्य = उद्घोषणा गरेर, सर्व जगत् = सबै जगतलाई, विसंवाद्य = झुक्याएर, मे = मेरो, का गतिः = कस्तो गति, भविष्यति = होला ?

बुद्ध, बोधिसत्व, देव, मनुष्य आदि सबैको सामु सबै सत्वलाई अनुत्तर सुख दिनेछु भन्ने उद्घोषणा गरिसकें । अब यदि त्यो पालन गर्नबाट पछि हट्दै गएँ भने त ती सबैका अगाडि ढाँटेको भयो र सङ्कल्प गरेर मनले चिताइसकेको कुरा पूरा नगर्दा त नरकबाहेक अरु स्थान प्राप्त हुने कुरा नै भएन । सानो कुरा दिन्छु भनेर पूरा नगर्दा समेत प्रेत आदि प्राप्त हुन्छ । अनुत्तर सुख भनेको त सानो कुरा होइन । जोभदा श्रेष्ठ अरु केही हुँदैन त्यसलाई अनुत्तर भनिन्छ । अनुत्तर सुख भनेको तात्पर्य लौकिक अभ्युदय (उन्नति) र निःश्रेयस् (मोक्ष) हो, जुन बुद्धताबाहेक अर्को होइन । यस्तो कुरामा ढाँट्दा फल पनि ठूलै मिल्छ ।

> वेत्ति सर्वज्ञ एवैतामचिन्त्यां कर्मणो गतिम् ।
> यद् बोधिचित्तत्यागे ऽपि मोचयत्येव तान् नरान् ॥७॥

अचिन्त्य गति कर्मैको सर्वज्ञै मात्र जान्दछन्
त्याग्नेलाई पनि बोधि-चित्त ती मुक्त पार्दछन् ॥७॥

__अन्वयार्थ :__ कर्मणः = कर्मको, एतां = यो, अचिन्त्यां = अचिन्त्य, गतिम् = गतिलाई, सर्वज्ञ एव = सर्वज्ञ तथागतले नै, वेत्ति = जान्नुहुन्छ, यद् = जो, वाधिचित्तत्यागेऽपि = = बोधिचित्तको त्याग गरे पनि, तान् नरान् = ती मानिसहरूलाई, मोचयत्यंव = मुक्त गराएरै छाड्नुहुन्छ ॥

कर्मको अचिन्त्य गतिलाई सर्वज्ञ तथागतहरूले मात्र जान्दछन् र बोधिचित्तलाई त्यागेकाहरूलाई समेत मोक्ष दिलाएका छन्। यो त धेरै आसाधारण कुरा हो।

एकपटक शारिपुत्रले बोधिचित्तको त्याग गर्नुभएको थियो। परन्तु माथि नरक जाने फलको उल्लेख गरियो। शारिपुत्रले पनि बुद्ध, बोधिसत्वहरूको सामु सवै प्राणीहरूलाई दुःखबाट मुक्त गराउँछु भन्ने सङ्कल्प लिनुभएको थियो र त्यसको त्याग गरेर बोधिचित्तको प्रतिज्ञाविरुद्ध आचरण भएको थियो। तैपनि उहाँलाई नरक आदि जन्म त मिलेनन्, बरु श्रावकयानीय परमपद अर्हत्वको प्राप्ति भयो। यस्तो किनभयो त भन्ने शङ्काको समाधानको लागि भनिएको हो कि कर्मको गति सामान्य जनलाई बोध हुँदैन सर्वज्ञ भगवान् बुद्धहरूले मात्र जान्नुहुन्छ। त्यो प्रसङ्गको अर्को समाधान के पनि बताइएको छ भने उहाँले बोधिचित्त त्यागे पनि मोक्षचित्तलाई त्यागनुभएको थिएन। त्यसैले श्रावकबोधि अर्थात् अर्हत्वप्राप्ति भएको हो। त्यसैले उक्त सौभाग्य सबैले प्राप्त गर्ने सम्भावना हुँदैन।

बोधिसत्वस्य तेनैवं सर्वापत्तिर्गरीयसी।
यस्मादापद्यमानोऽसौ सर्वसत्वार्थहानिकृत् ॥८॥

त्यसैले बोधिसत्वैको ठूलो आपत्ति त्याग हो
यही आपत्तिले ग़र्दा सत्वको हित हानि भो ॥८॥

अन्वयार्थ : तेन = त्यसले गर्दा, बोधिसत्वस्य = बोधिसत्वको, एवं = यस प्रकारको त्याग, गरीयसी = सवभन्दा वढी गम्भीर, सर्वापत्तिः = सवै प्रकारबाट आपत्ति हुन्छ, यस्मात् = जसबाट, आपद्यमानः = आपत्ति परिरहेको, असौ = यो बोधिसत्व, सर्वसत्वार्थहानिकृत् = सम्पूर्ण प्राणीहरूलाई हित गर्ने कुराको हानि गर्नेवाला हुन पुग्छ।

त्यसरी बोधिसत्वले बोधिचित्त त्याग्यो भने मूल आपत्ति हुन्छ। किनकि बोधिसत्वका १८ मूल आपत्तिहरूमध्ये बोधिचित्तत्याग सबभन्दा ठूलो हो र यही आपत्तिले गर्दा संवर नष्ट हुन्छ किनकि त्यसले सबै सत्वको हितमा हानि हुनपुग्छ।

योऽप्यन्यः क्षणमप्यस्य पुण्यविघ्नं करिष्यति।
तस्य दुर्गतिपर्यन्तो नास्ति सत्त्वार्थघातिनः ॥९॥

क्षणमात्रै विघ्न गर्ला जस्ले यो पुण्यमा यदि
सर्वसत्वार्थघातीको असीमै हुन्छ दुर्गति ॥९॥

अन्वयार्थ : योऽप्यन्यः = अर्को जुन कुनैले पनि, अस्य = यो बोधिसत्वको, क्षणं अपि = एक क्षणमात्र पनि, पुण्यविघ्नं = पुण्यको लागि बाधा आउने काम, करिष्यति = गर्ला, तस्य = त्यो, सत्वार्थघातिनः = सत्वको हितलाई हानि गर्नेको त, दुर्गतिपर्यन्तः = दुर्गति यतिसम्म हुन्छ भन्ने सीमा नै, नास्ति = छैन।

जस्ले त्यस्ता सत्वहितकारी बोधिसत्वका चर्यामा बाधा हालेर एकक्षण पनि पुण्यमा विघ्न गर्छ त्यो सत्वार्थघातीको दुर्गतिको त अन्त्यै हुँदैन अर्थात् अनन्त कालसम्म अनन्त पीडा भोगिरहन्छ।

एकस्यापि हि सत्त्वस्य हितं हत्वा हतो भवेत्।
अशेषाकाशपर्यन्तवासिनां किमु देहिनाम् ॥१०॥

एउटै पनि सत्वैको हित नाशे हतै हुने
आकाशपर्यन्त सवै सत्वको त कुरै छ के ॥१०॥

अन्वयार्थ : एकस्य अपि = एउटै पनि, सत्वस्य = प्राणीको, हितं = हितलाई, हत्वा = नाश गरेमा, हत: भवेत् = मरेको समान हुन्छ भने, अशेपाकाशपर्यन्तवासिनां = सम्पूर्ण आकाशको सीमासम्म व्याप्त भई वसेका, देहिनां = प्राणीहरूको हितलाई विगारेर त, किमु = के होला ?

कुनै एउटा सामान्य प्राणीको हितलाई बाधा गर्‍यो भने पनि त्यो व्यक्ति मरेसमान हो र अधम नै हो भन्ने मानिन्छ भने यत्रा असंख्य प्राणीहरूको हितलाई विथोल्ने त कति नीच र पापीष्ठ होला ? वास्तवमा बोधिसत्वको कार्यमा बाधा गर्नु घोर पाप हो ।

एवमापत्तिबलतो बोधिचित्तबलेन च ।
दोलायमानः संसारे भूमिप्राप्तौ चिरायते ॥११॥

अत: आपत्तिबलले बलले बोधिचित्तको
संसारमा झुलेकाको भूमिप्राप्ति ढिला भयो ॥११॥

अन्वयार्थ : एवम् = यसप्रकार, आपत्तिबलत: = आपत्तिको वलले र, वोधिचित्तवलेन च = बोधिचित्तको वलले पनि, संसारे = संसारमा, दोलायमान:= तल माथि गरिरहँदो व्यक्तिको, भूमिप्राप्तौ = भूमि प्राप्त गर्ने काममा, चिरायते = विलम्व हुन जान्छ ।

यदि कसैले बोधिचित्त उत्पाद गरेको छ र फेरि बोधिचित्त उत्पाद गरेका बोधिसत्वहरूको कार्यमा बाधा पनि हाल्छ भने पहिलोले गर्दा पुण्यले उसको गति उत्थान हुने र दोस्रोले गर्दा उसको पतन हुने हुन्छ यदि यस्तै गरिराख्यो भने संसारमा उ तल माथि झुलिराख्ने हुन्छ र उल्लेखनीय प्रगति कहिल्यै नहुने हुन्छ । त्यसैले उसले बोधिसत्त्वका प्रथमभूमि (प्रमुदिता) आदिमा चढ्न कहिल्यै नसक्ने हुन्छ र भूमिलाभ गर्न ढीलो हुन पुग्छ ।

तस्माद् यथा प्रतिज्ञातं साधनीयं मयादरात् ।
नाद्य चेत् क्रियते यत्नस्तलेनास्मि तलं गतः ॥१२॥

त्यसैले जो प्रतिज्ञा छ श्रद्धाले सिद्ध गर्नुछ
आजै प्रयत्न नगरे गिरैँ तल तलै अझ ॥१२॥

अन्वयार्थ : तस्माद् = त्यसैले, मया = मैले, यथा प्रतिज्ञातं = जस्तो प्रतिज्ञा गरिएको हो त्यस्तै, आदरात् = वडो श्रद्धाका साथ, साधनीयं = सिद्ध गर्नुछ । अद्य = आजै, यत्न: = प्रयत्न, न क्रियते चेत् = गरिएन भने, तलेन = तलवाट, तलं गत: अस्मि = तलै पुगें भने पनि भयो ।

त्यसकारण पहिले जस्तो प्रतिज्ञा गरेको थिएँ त्यसलाई मैले बडो श्रद्धाका साथ पूरा गर्नुपर्छ । त्यसको लागि यदि आजैदेखि थालिन भने झन झन म तलतलै गिर्दै रसातल, पाताल गर्दै दुर्गतिका तल्ला तहहरूमा परें भन्ने निश्चित छ ।

अप्रमेया गता बुद्धाः सर्वसत्वगवेषकाः ।
नैषामहं स्वदोषेण चिकित्सागोचरं गतः ॥१३॥

गए असंख्य बुद्धै ती खोज्दै सत्वहरू सबै
आफनू दोषले गर्दा चिकित्सा पाइएन खै ॥१३॥

अन्वयार्थ : सर्वसत्वगवेपका: = सवै सत्वहरूलाई खोज्ने भएका, अप्रमेया: = असंख्य, वुद्धा: = वुद्धहरू, गता: = गइसके, तैपनि, स्वदोपेण = आफ्नै दोपले गर्दा, अहम् = म, एपां = तिनीहरूको, चिकित्सागोचरं न गत: = उपचार पाउन योग्य भइन ।

असंख्य बुद्धहरू सत्वको हित गर्न खोजखबर गर्दै आएर गए, परन्तु म उनीहरूको उपचार पाउन योग्य भइनछु । त्यो मेरो आफ्नै दोषले गर्दा भएको हो । त्यसैले अहिलेसम्म मेरो यस्तो गति छ ।

बुद्धहरूले त सबै प्राणीमा समानरूपले कृपा गर्दछन् । परन्तु मेरो उद्धार अहिलेसम्म किन भएन भने म स्वयं नै अयोग्य रहेछु । जसरी बादलबाट समानरूपले वृष्टि हुँदाहुँदै पनि सबै बीज अङ्कुरित हुँदैनन्, कमजोर बीजमा अङ्कुर आउन सक्दैन त्यसै गरी बुद्धहरू माहाकरुणावान् भए पनि मैले आफ्नो कर्म आफैले सुधारिन भने उहाँहरूबाट मैले केही पनि पाउन सक्ने छैन । फेरि बुद्धले हातै समातेर तान्ने पनि होइन, पुरुषार्थ आफैले गर्नुपर्छ भन्ने यसैबाट देखिन्छ ।

अद्यापि चेत् तथैव स्यां यथैवाहं पुनः पुनः ।
दुर्गतिव्याधिमरणच्छेदभेदाद्यवाप्नुयाम् ॥१४॥

पहिले भैँ आज पनि भएमा फेरि फेरि नै
दुर्गति, व्याधि, मृत्यु र छेद भेदादि मिल्छ है ॥१४॥

अन्वयार्थ : चेत् = यदि, अद्य अपि = आज पनि, यथा एव अहं = जस्तो म पहिले थिएँ तथा एव स्यां = त्यस्तै नै भएँ भने त, पुन: पुन: = फेरि फेरि पनि, दुर्गति-व्याधि-मरण-च्छेद-भेदादि = दुर्गति, रोग, मृत्यु, काटिनु, भेदिनु जस्ता दु:खहरू मात्र, अवाप्नुयाम् = पाउने छु ।

आज पनि पहिलेका जन्महरूमा जस्तै प्रमादले गर्दा शिक्षाको उल्लङ्घन गर्दैरहें भने त फेरि त्यस्तै दुर्गति आदि नराम्रा अवस्थामा नै म पुग्ने भएँ ।

कदा तथागतोत्पादं श्रद्धां मानुष्यमेव च ।
कुशलाभ्यासयोग्यत्वमेवं लप्स्ये ऽ अति दुर्लभम् ॥१५॥

कहाँ तथागतोत्पाद श्रद्धा मानवको जुनी
योग्यता कुशलाभ्यास्मा दुर्लभ् यी पाउँला पछि ॥१५॥

अन्वयार्थ : कदा = कहिले, एवं = यसरी, अति दुर्लभं = अत्यन्तं दुर्लभ, तथागतोत्पादं = तथागतको उत्पाद, श्रद्धां = श्रद्धा, मानुष्यम् = मनुष्य जुनी र, कुशलाभ्यासयोग्यत्वं = कुशलकर्मको अभ्यास गर्ने योग्यतालाई, लप्स्ये = पाउँला ?

तथागतको उत्पाद, त्रिरत्नप्रति श्रद्धा, मनुष्य जुनि प्राप्त हुनु, सद्धर्म अभ्यास गर्न इन्द्रिय आदि सहीसलामत भएको अवस्था हुनु जस्ता कुरा अत्यन्त दुर्लभ कुरा हुन् जसलाई क्षणसम्पत्ति भनिन्छ । यी कुरा अहिले त सौभाग्यले पाइएको छ । यदि यहाँ पनि मैले लापरवाही नै गरिराखें भने त फेरि यस्तो कहिले पाउँला ?

आरोग्यं दिवसं चेदं सभक्तं निरुपद्रवम् ।
आयुः क्षणं विसंवादि कायो याचितकोपमः ॥१६॥

आरोग्य, भोज्यले युक्त दिन यो निरुपद्रव
आयु क्षणिक धोखेवाज्, उधारो भै छ देह त ॥१६॥

अन्वयार्थ : आरोग्यं = आरोग्य र, इदं = यो, दिवसं = दिन, सभक्तं = भोजन आदिले सम्पन्न र, निरुपद्रवं च = उपद्रवले रहित पनि छ, (परन्तु) आयुःक्षणं = आयु (जीवनकाल) त, विसंवादि = धोखेवाज छ, कायः = यो शरीर, याचितकोपमः = उधारो मागेर ल्याएजस्तो छ ।

सबै कार्य गर्नलाई सक्षम नीरोगी स्वास्थ्य खाद्यसामग्रीको सम्पन्नताले युक्त पनि छ र अरुहरूले दुःख पीडा नदिएर आरामसँग चलेको यो दिन पनि राम्रो छ तापनि आयु चाहिँ विजुलीसमान धोखेवाज भएकोले र यो शरीर पनि उधारो लिएको जस्तो हुनाले यसमा प्रमाद या हेलचक्र्याइँ गरिराख्नुहुँदैन । थाहै नपाई त्यो दिन पनि आउँछ जसवेला यी सबै कुरा अचानक खोसिनेछन् । आयुले धोका दिनेछ र शरीरले पनि झुक्याउनेछ ।

न हीदृशैर्मच्चरितैर्मानुष्यं लभ्यते पुनः ।
अलभ्यमाने मानुष्ये पापमेव कुतः शुभम् ॥१७॥

यस्ता चरित्रले फेरि जन्म पाइन्न मानुष
नपाए मानुषी चोला पाप नै छ, कहाँ शुभ ? ॥१७॥

अन्वयार्थ : ईदृशै : यस्ता, मच्चरितैः = मेरा चरित्रहरूले त, पुनः = फेरि, मानुष्यं = मनुष्य जुनी, न हि लभ्यते = पाइँदैन नै । मानुष्ये = मनुष्यको चोला, अलभ्यमाने = न पाएमा, पापम् एव = पाप नै भइहन्छ, कुतः शुभम् = कहाँवाट शुभ हुन्छ ?

मैले यस्तै अल्छी गरिराखें भने मोक्ष त परै जावस्, मनुष्यकै जन्म पनि फेरि पाइनेछैन। अनि मनुष्य जन्मविना कुशल कर्म गर्ने अवसर नै हुँदैन । त्यसैले पापै मात्र बढी सञ्चय हुने भयो । त्यसकारण कसरी शुभकर्म हुन सम्भव छ ?

यदा कुशलयोग्योऽपि कुशलं न करोम्यहम् ।
अपायदुःखै संमूढः किं करिष्याम्यहं तदा ॥१८॥

कुशल् गर्न योग्य हुंदा गर्दिन कुशलै भने
अपायदुःखले मूढ हुंदा के गरुँला भरे ॥१८॥

अन्वयार्थ : यदा = जव, कुशलयोग्योऽ पि = कुशल कर्म गर्न सक्षम हुंदा पनि, अहं = मैले, कुशलं = कुशल (पुण्य) कर्म, न करोमि = गरिन भने, अपायदुःखैः = दुर्गतिका दुःखले, संमूढः = विमूढ भएको, अहं = मैले, तदा = त्यतिखेर, किं करिष्यामि = के गरुँला ?

कुशल कर्मको अभ्यास गर्न योग्य हुँदा हुँदै पनि मैले कुशल कर्म गरिन भने अपायदुःखहरूबाट मूच्छित भइराखेको बेला झन् के गरूँला ?

अकुर्वतश्च कुशलं पापं चाप्युपचिन्वतः ।
हतः सुगतिशब्दो ऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥१९॥

न गरी कुशलै कर्म भैरहे पापसञ्चय
नाशियो 'सुगति'शव्दै करोडौं कल्पसम्म त ॥१९॥

अन्वयार्थ : कुशलं च = कुशल कर्म पनि, अकुर्वत: = न गर्ने र, पापं च = पाप पनि, उपचिन्वत: = सञ्चय गरिराख्नेहरूको त, सुगतिशव्द: अपि = 'सुगति' भन्ने शव्द समेत पनि, कल्पकोटिशतै: = सयौं करोडौं कल्पसम्मलाई नै, हत: = नाश भयो ।

स्पष्टै छ कि पाप मात्र जम्मा गर्ने र कुशल कर्म चाहिं अलिकति पनि नगरिबस्ने हो भने त्यस्ताको सुगति त कहिल्यै पनि हुने कुरा आएन । सयौं कल्पसम्म दुर्गतिको वास हुन्छ । 'सुगति' शब्द समेत उसको लागि नाश हुनेछ ।

अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभम् ।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ॥२०॥

भन्नुभो भगवान्ले छ मनुष्य दुर्लभै अति
समुद्रमा जुवाभित्र कछुवा अड्किनु सरी ॥२०॥

अन्वयार्थ : अत एव = त्यसैले नै, भगवान् = भगवान् तथागतले, मानुष्यम् = मनुष्यको जन्मलाई, महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् = महासमुद्रका जुवाको प्वालभित्र कछुवाको घाँटी पस्नु जस्तै, अति दुर्लभम् = अत्यन्त दुर्लभ, आह = वताउनुभएको छ ।

भगवान्ले मनुष्यजन्म कति दुर्लभ छ भन्ने कुरा स्पष्ट पार्न एउटा दृष्टान्त दिनुभएको छ । मानौं महासमुद्रमा एउटा काठको जुवा तैरिराखेको छ । फेरि हावा लागिरहनाले त्यो अस्थिर भएर हल्लिरहन्छ । अनि त्यो समुद्रको पींधमा एउटा अन्धो कछुवा बस्छ । त्यो पनि सय वर्षमा एकपटक माथि आएर टाउको पानी बाहिर निकाल्छ । अब त्यो जुवामा रहेको एउटा प्वालमा त्यो कछुवाको टाउको छिर्ने सम्भावना जति हुन्छ मनुष्य भएर कुनै प्राणी जन्मिने सम्भावना पनि त्यस्तै नै हुन्छ । त्यसैले मनुष्यको जन्म धेरै कठीन कुरा हो भनिएको छ ।

एकक्षणकृतात् पापादवीचौ कल्पमास्यते ।
अनादिकालोपचितात् पापात् का सुगतौ कथा ॥२१॥

एक् छिन्का पापले कल्पौं वास हुन्छ अवीचिमा
अनादिकालको पापले सुगति त भयो कथा ॥२१॥

अन्वयार्थ : एकक्षणकृतात् = एक क्षणमा गरिएको, पापात् = पापले पनि, अवीचौ = अवीचि नरकमा, कल्पं = कल्पसम्मै, आस्यते = वसिन्छ भने, अनादिकालोपचितात् = अनादिकालदेखि सञ्चय गरिराखिएको, पापात् = पापवाट पनि, सुगतौ = सुगति हुनमा, का कथा = के कुरा गर्नु ? अर्थात् कथा मात्रै हुनेछ ।

एकक्षण मात्रै पनि पाप गर्नाले अवीचिमा कल्पौंसम्म वस्नुपर्ने हुन्छ भने अनादिजन्मदेखि जम्मा भएको र गरिएको पापले सुगति प्राप्त होला, देव मनुष्य आदि जुनी पाइएला भन्ने कुरा त कथा मात्र हुन्, के कुरा गर्नु ?

न च तन्मात्रमेवासौ वेदयित्वा विमुच्यते ।
यस्मात् तद्वेदयन्नेव पापमन्यत् प्रसूयते ॥२२॥

भोगेर त्यतिमात्रै त छुट्कारा पाइँदैन हैं
किनकि पाप भोग्दा त निस्कन्छन् अरू पाप नै ॥२२॥

__अन्वयार्थ :__ असौ = त्यो पापी, तन्मात्रं एव = त्यति मात्रै, वेदयित्वा = वेदना भोगेर, न विमुच्यते = मुक्त हुदैन, यस्मात् = किनकि, तद्वेदयन् एव = त्यो वेदना भोग्दा भोग्दै नै, अन्यत् पापं = अरू पाप, प्रसूयते = जन्मिन्छ ।

कुनै पनि पाप भोग्दाखेरि नयाँ कर्महरू पनि त्यहाँ भैरहेका हुन्छन्। फेरि पाप भोग्दा गरिने कर्म प्राय अशुभ नै हुन्छन् किनभने त्यसवेला चित्त दुःख, कष्ट र क्लेशहरूले आकुल व्याकुल भइरहेको हुन्छ। शुभकर्मको त स्मरण हुन पनि हुन गाहो हुन्छ। त्यसैले फेरि पनि पापै जम्मा भइरहेको हुन्छ। फलस्वरूप पापको चक्रव्यूहबाट उम्कने नभएर झन् झन् फस्दै जाने कुरा हुन्छ।

अतः दुःखबाट छुटकारा पाउन आजैदेखि नै प्रयत्नपूर्वक कुशल धर्ममा दृढ भएर लाग्नुपर्छ र पापकर्म गर्न तुरुन्तै बन्द गरिहाल्नुपर्छ। जसले भविष्यको दुःखको लागि आजै उपाय गर्छन् ती मात्र बुद्धिमान् ठहरिन्छन् । पापीले केवल त्यो वेदना भोगर मात्र मुक्त हुँदैन किनभने त्यो वेदना भोग्दाभोग्दै अरू पाप पैदा हुन जान्छ ।

**नातः परा वञ्चनास्ति न च मोहोस्त्यतः परः ।
यदीदृशं क्षणं प्राप्य नाभ्यस्तं कुशलं मया ॥२३॥**

योभन्दा ठगिनु धेरै, मूर्खता पनि के छ र ?
न गरे कुशलाभ्यास पाएपछि पनि क्षण ॥२३॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, ईदृशं = यस्तो, क्षणं = क्षणसम्पत्ति, प्राप्य = पाएर पनि, मया = मैले, कुशलं = कुशल धर्मको, न अभ्यस्तं = अभ्यास गरिन भने, अत: परा = यहाँभन्दा बढी, वञ्चना = ठगिनु, नास्ति = छैन, अत: पर: = यहाँभन्दा धेरै, मोह: च = मूर्खता पनि, नास्ति = हुदैन ।

त्यसकारण, यस्तो दुर्लभ क्षण सम्पत्ति याने मनुष्य जुनी आदि पाएर पनि कुशल धर्मलाई बृद्धि गर्ने अभ्यासहरू गरिन भने त्यहाँभन्दा ठूलो आत्मवञ्चना अर्थात् आफैले आफैलाई ठग्नु र मूर्खता अरू के हुनसक्छ ?

**यदि चैवं विमृष्यामि पुनः सीदामि मोहितः ।
शोचिष्यामि चिरं भूयो यमदूतैः प्रचोदितः ॥२४॥**

यो विचार गरी फेरी मोहले त्यत्तिकै रहे
पछुताउनु पर्नेछ यमदूतले पिटे भरे ॥२४॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, एवं = यसप्रकार, विमृष्यामि = विचार गर्छु र, पुन: = फेरि, मोहित: = अज्ञानले ढाकेर, सीदामि = डुबेरै बसें भने त, भूय: = फेरि, यमदूतै: = यमराजका दूतहरूले, प्रचोदित: = पिटिएको छँदो, चिरं = धेरै कालसम्म, शोचिष्यामि = शोक गरिरहने छु ।

यस्तो सबै विचार गरेर पनि फेरि अझैं मूढताले गर्दा केही नगरेर त्यस्तै डुबीरहें भने पछि आएर यमदूतले प्रताडन गर्ने बेलामा पछुताउनु पर्नेछ र त्यस्तो पछुतो पनि धेरै लामो समयसम्म भोग्नुपर्नेछ ।

चिरं धक्ष्यति मे कायं नरकाग्निः सुदुःसहः ।
पश्चात्तापानलश्चित्तं चिरं धक्ष्यत्यशिक्षितम् ॥२५॥

असह्य नारकी अग्नि मेरो काय जलाउला
पश्चात्तापाग्निले चित्त अशिक्षित जलाउला ॥२५॥

अन्वयार्थ : मे = मेरो, कायं = शरीरलाई, सुदुःसहः = सहन अत्यन्तै कठीन, नरकाग्निः = नरककोअग्निले, चिरं = धेरै कालसम्म, धक्ष्यति = जलाउनेछ, अशिक्षितम् = अशिक्षित, चित्तं = चित्तलाई, पश्चात्तापानल : = पश्चात्तापको अग्निले, चिरं = धेरै कालसम्म, धक्ष्यति = जलाउनेछ ।

नरकमा मेरो नारकीय शरीरलाई नरकाग्निले जलाइरहेको बेला मेरो अशिक्षित चित्तलाई पनि तथागतका उपदेशहरूको र शिक्षाहरूको पालन नगरेको पछुतोले जलाइरहने छ ।

कथञ्चिदपि सम्प्राप्तो हितभूमिं सुदुर्लभाम् ।
जानन्नपि च नीयेऽहं तानेव नरकान् पुनः ॥२६॥

कसैगरी पाइएको हितभूमि छ दुर्लभ
जानेर पनि लाग्दैछु तिनै नरकमा पुनः ॥२६॥

अन्वयार्थ : अहं = म, कथञ्चिद् अपि = कुनै उपायले (सौभाग्यवश), सुदुर्लभां = अत्यन्तै दुर्लभ, हितभूमिं = हितभूमि (मनुष्य लोक) लाई, सम्प्राप्तः = प्राप्त गरेको छु, जानन् अपि = थाहा पाएको छु तापनि, पुनः = फेरि, तान् नरकान् एवः = ती नरकमा नै, नीये = आफूलाई लग्दैछु ।

यस्तो दुर्लभ हितभूमि मनुष्य चोलालाई मैले प्राप्त गरें । भाग्यले यस्तो मौका मलाई मिलेको छ । यहाँबाट नै कल्याणमित्र, गुरु आदिको सम्पर्कबाट सबै किसिमका लौकिक एवं लोकोत्तर हित र सुखको सम्पादन गर्न सकिन्छ । यो मलाई थाहा हुँदाहुँदै पनि अल्छी गरेर आफैले आफैलाई फेरी नरकतिर लैजान खोज्दैछु !

अत्र मे चेतना नास्ति मन्त्रैरिव विमोहितः ।
न जाने केन मुह्यामि कोऽत्रान्तर्मम तिष्ठति ॥२७॥

मेरो त चेतना छैन मन्त्रले झैं विमोहित
भएको छु छैन ज्ञान को बसेछ मभित्र र ॥२७॥

अन्वयार्थ : अत्र = यहां, मे = मेरो, चेतना नास्ति = चेतना नै छैन, मन्त्रैः इव = मन्त्रहरूले झैं, विमोहितः = मोहित भएको छु, केन = केले गर्दा, मुह्यामि = मोहित भएको हुँ, मम = मेरो, अन्तर् = भित्र, कःतिष्ठति = को वसेको छ , न जाने = जान्दिन ।

मन्त्रहरूले मोहित पारे झैं मेरो अहिले चेतना नै भैरहेको छैन, मभित्र के त्यस्तो कुरा बसेको छ जस्ले मलाई यस्तो विमोहित पारेको छ ? केही पनि जान्न सकिन !

हस्तपादादिरहितास्तृष्णाद्वेषादिशत्रवः ।
न शूरा न च ते प्राज्ञा कथं दासीकृतोऽस्मि तैः ॥२८॥

हात पाऊ रहित छन् तृष्णा, द्वेपादि शत्रु त
न हुन् शूर न हुन् प्राज्ञ दास तीन्को भएँ किन ॥२८॥

अन्वयार्थ : तृष्णाद्वेषादिशत्रवः = तृष्णा, द्वेष जस्ता शत्रुहरू, हस्तपादादिरहिताः = हात, पाउ आदिले रहित छन्, ते = तिनीहरू, न शूराः = न त शूरवीर छन्, न च प्राज्ञा = न त विद्वान् वुद्धिमान् नै हुन् (र पनि), कथं = कसरी, तैः = तिनीहरूद्वारा, दासीकृतोऽस्मि = दास समान बनाइएको छु ?

तृष्णा, राग, द्वेष आदि क्लेशरूपी शत्रुहरूका हात खुट्टा पनि छैनन्, तिनीहरू कुनै शूरवीर पनि होइनन्, कुनै बुद्धिमान पनि होइनन् । त्यस्तो हुँदा हुदै पनि म तिनीहरूले समातिए जस्तै दाससमान किन भइरहेको छु अर्थात् कसरी तिनीहरूले मलाई पापकर्म गर्न बाध्य गराई राख्छन् ?

मच्चित्तावस्थिता एव घ्नन्ति मामेव सुस्थिताः ।
तत्राप्यहं न कुप्यामि धिगस्थानसहिष्णुताम् ॥२९॥

रहेर मेरै मनमा नाश्छन् मैलाई नै तर
रिसाउन्न म, धिक्कार ! कुठाऊँको सहिष्णुता ॥२९॥

अन्वयार्थ : मच्चित्तावस्थिताः = मेरो चित्तमा रहेका, सुस्थिताः = राम्रैसँग आसन जमाएर बसेका (यी क्लेशहरू)ले, मामेव = मलाई नै, घ्नन्ति = मार्दैछन् । तत्र अपि = त्यसो हुँदा पनि, अहं = म, न कुप्यामि = रिसाउंदिन भने, अस्थानसहिष्णुतां = कुठाउँमा भएको सहनशीलतालाई, धिक् = धिक्कार छ !

मेरै चित्तमा राम्ररी अड्डा जमाएर बसेका यी क्लेशले मलाई नै नष्ट पारिराख्दा पनि यीनीहरूप्रति क्रोधित नभएर सहनशील भैरहेको छु भने यस्तो कुठाउँमा गरिएको सहिष्णुतालाई धिक्कार छ !

जुन भाँडामा खायो त्यसैमा थुक्नु विश्वासघात मानिन्छ । यी राग, द्वेष आदिले यस्तै गरिराखेका छन् । ठगनमा यिनीहरू साह्रै सिपालु छन् । राग (काम) उत्पन्न भयो भने घनिष्ट मित्र जस्तो लाग्छ र हामीलाई प्रशस्त सुखसामग्री जुटाउन लागेको हो कि भन्ने भ्रम परिदिन्छ । त्यस्तै क्रोध उत्पन्न हुँदाखेरि पनि हामीलाई अन्य खतराबाट बचाउन चेष्टा भएर आएको हो कि भन्ने भ्रम पार्दछ । फलस्वरूप हामीले यिनै राग, द्वेष आदिलाई नै आफ्नो इष्ट सम्भन पुगेर यीनकै वशमा पर्छौं र अनन्त दुःखका कारणसामग्रीहरू जुटाउन पुग्छौं । यसरी नजानिंदो किसिमले हामीलाई यिनीहरूले छलेर धोका दिइरहेका छन् । त्यसकारण यिनीहरूप्रति सहनशील भएर यीनलाई पालिराख्नु कुनै बुद्धिमानी होइन ।

सर्वे देवा मनुष्याश्च यदि स्युर्मम शत्रवः ।
तेऽपि नावीचिकं वह्निं समुदानयितुं क्षमाः ॥३०॥
१८७

सवै देव मनुष्यै ती मेरा शत्रु बने पनि
अवीचिको अग्नि पैदा सक्दैनन् गर्न तै पनि ॥३०॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, सर्वे देवा = सम्पूर्ण देवताहरू र, मनुष्याश्च = मनुष्यहरू पनि, मम = मेरो, शत्रवः = शत्रुहरू, स्युः = होउन् (बनून्) तापनि, तेऽपि = तिनीहरुले पनि , अवीचिकं = अवीचि नरकको, वह्निं = अग्निलाई, समुदानयितुं = उत्पन्न गराउन, न क्षमाः = सक्दैनन् ।

सम्पूर्ण देवता र मनुष्यहरू मेरा शत्रु बनेपनि अवीचिको अग्नि उत्पन्न गराई मलाई त्यहाँ

पुऱ्याउन सक्दैनन् ।

मेरोरपि यदासङ्गात् न भस्माप्युपलभ्यते ।
क्षणात् क्षिपन्ति मां तत्र बलिनः क्लेशशत्रवः ॥३१॥

जस्ले छुँदा सुमेरुको भस्मै पनि नभेटिने
त्यहाँ छिटै फालिदिन्छन् बलिया क्लेशशत्रुले ॥३१॥

अन्वयार्थ : यदासङ्गात् = जसमा परेपछि, मेरोरपि = सुमेरु पर्वतको पनि, भस्म अपि = खरानी समेत, न उपलभ्यते = पाइदैन, तत्र = त्यस्ता स्थानमा, मां = मलाई, बलिनः = बलिया, क्लेशशत्रवः = क्लेशरूपी शत्रुहरूले, क्षणात् = एक क्षणमै, क्षिपन्ति = फ्याँकिदिन्छन् ।

अवीचिको अग्नि यति कडा हुन्छ कि सुमेरु पर्वत पनि एक छिनमै खरानी हुन्छ र त्यो खरानी समेत भेटिंदैन । त्यस्तो ठाउँमा यी क्लेशहरूले मलाई तुरुन्तै फ्याँकिदिन्छन् । यसरी यति ठूलो परिणाम दिने यी शत्रुसँग वैरभाव नगरेर सांसारिक छोटा-मोटा शत्रुहरूसँग वैरभाव गर्नु कहाँसम्म उचित होला त ? त्यसकारण साना तिना शत्रुहरूसँग बदला लिने प्रवृत्तिलाई त्यागेर चित्तको दमन गर्नु न्यायसंगत हुन्छ ।

न हि सर्वान्यशत्रूणां दीर्घमायुरपीदृशम्
अनाद्यन्तं महादीर्घं यन्ममक्लेशवैरिणाम् ॥३२॥

अरू सबै शत्रुको त लामो आयु हुँदैन त
यी मेरा क्लेशशत्रुको अति लामो अनादि छ ॥३२॥

अन्वयार्थ : सर्वान्यशत्रूणां = अन्य सबै शत्रुहरूको, ईदृशम् = यस्तो, अनाद्यन्तं = आदि र अन्त्य नै नभएको, महादीर्घं = ज्यादै लामो, आयुः = आयु, न हि = छैन, यत् = जति, मम = मेरा, क्लेशवैरिणाम् = क्लेशरूपी शत्रुहरूको छ ।

बाहिरी शत्रुहरू त केही वर्षका लागि हुन्छन् र अति भएभने पनि एक जीवनभरिका होलान् परन्तु यी भित्री क्लेशरूपी शत्रुहरूले त अनादिकालदेखि पीडा गर्दै आइराखेका छन् । यदि यिनीहरूको राम्रो उपाय गरिएन भने अनन्त कालसम्म पीडा भोग्नुपर्ने छ ।

सर्वे हिताय कल्पन्ते आनुकूल्येन सेविताः ।
सेव्यमानास्त्वमी क्लेशाः सुतरां दुःखकारकाः ॥३३॥

भनेजस्तै गरे सेवा सबैले हित गर्दछन्
यी क्लेशको गरे सेवा सधै दुःख गराउँछन् ॥३३॥

अन्वयार्थ : सर्वे = सबै शत्रुहरू, आनुकुल्येन सेविताः = अनुकूल बनेर सेवा गरिएमा, हिताय = हितको लागि, कल्पन्ते = इच्छा गर्दछन्, अमी क्लेशाः तु = यी क्लेशहरू त, सेव्यमानाः = सेवा गरिएका खण्डमा पनि, सुतरां = अत्यन्त, दुःखकारकाः = दुःख नै गराउँछन् ।

देवता, मनुष्य जस्ता बाहिरी शत्रुहरूको अनुकूल बनेर सेवा गरियो भने यिनीहरूले शत्रुतालाई त्यागेर हाम्रो हित गरिदिन पनि थाल्छन् र सुख दिन्छन् परन्तु यी क्लेशरूपी शत्रुहरूलाई आफ्नो हृदयमा स्थान दिएर यिनको सेवा सुरक्षा गरिराख्ने हो भने पनि नरक आदि महाकष्टकारक दुःख

बाहेक अरू केही दिदैंनन् ।

त्यसैले धर्माचरण गर्नुको अर्थ नै यस्ता क्लेशहरूलाई पहिचान गरेर प्रयत्नपूर्वक तिनीहरूलाई नाश गर्नु हो न कि सधैं केही वेर भगवान्को नाम, स्तुति, पूजा, जप आदि गर्नु ।

इति सन्ततदिर्घवैरिषु व्यसनौघप्रसवैकहेतुषु ।
हृदये निवसत्सु निर्भयं मम संसाररतिः कथं भवेत् ॥३४॥

समूह पैदा गरने त पापका
निरन्तरै शत्रु यि दीर्घकालिक
मन्मा रहेसम्म कसोरि निर्भय
भई गरूँ प्रेम जगत् प्रति म त ॥३४॥

अन्वयार्थ : *इति = यसप्रकारका, व्यसनौघप्रसवैकहेतुषु = पापको समूह नै उत्पन्न गराउने हेतु भएका, सन्ततदीर्घवैरिपु = निरन्तर लामो समयसम्मका शत्रुहरू, हृदये = हृदयमा, निवसत्सु = वसे छँदामा, मम = मेरो, निर्भयं = निर्भीकतापूर्वक, संसार रतिः = संसारप्रति प्रेम, कथं भवेत् = कसरी होला ?*

यसरी क्लेशरूपी यी शत्रुहरूले हृदयमा बसेर पापैपापको खोलो बगाउञ्जेल कसरी संसारमा निर्भयतापूर्वक प्रेम गरिरहन सकिन्छ ? बोधिसत्वहरूलाई संसारका प्राणीहरूप्रति आफ्नै पुत्रसमानको अनुराग हुन्छ परन्तु त्यसको लागि निर्भीक भएर खट्न यी क्लेशरूपी शत्रुहरूलाई पहिले खतम पार्नुपर्ने हुन्छ । अनि मात्र करुणाको परिपाक गराउँदै संसारका सत्वको हित गर्ने काममा उनीहरू सक्षम हुन्छन् ।

भवचारकपालका इमे नरकादिष्वपि बध्यघातकाः ।
मतिवेश्मनि लोभपञ्जरे यदि तिष्ठान्ति कुतः सुखं मम ॥३५॥

संसारका जेलर यी नरक्मा हुन्छन् सबै घातक बध्यका त्यहाँ
बस्छन् भने यी मतिका घरैमा, लोभ पिञ्जडामा तब सुख काहाँ ? ॥३५॥

अन्वयार्थ : *इमे = यी, भवचारकपालकाः = संसाररूपी जेलका द्वारपालहरू नै, नरकादिषु अपि = नरक जस्ता ठाउँहरूमा पनि, बध्यघातकाः = पीडा दिइनुपर्ने व्यक्तिका निमित्त हानिकारक (कष्ट दिने तत्वहरू) बनेका हुन्छन्, यदि = यदि, (यिनीहरू) मतिवेश्मनि = बुद्धिरूपी घरमा, लोभपञ्जरे = लोभरूपी पिञ्जडामा, तिष्ठन्ति = वस्छन् भने, मम=मेरो, सुखम्= सुख, कुतः = कहाँवाट हुनु ?*

यहाँ जे जति कुकर्म गरिन्छ त्यो सबै यिनै क्लेशहरूले गर्दा गरिएको हो । त्यसैले हामीलाई नरकमा जानुपर्छ । त्यहाँ पनि यिनै क्लेशहरू नै कठोर परिस्थितिको रूपमा अनुभूत हुन्छन् र नारकीय पीडाको अनुभव गराइरहन्छन् । त्यसकारण यहाँको यो संसाररूपी जेलमा पनि यिनीहरूले नै बाँधिराखे, नरकमा पनि यिनीहरूले नै पीडा दिइराखे । यस्ता जहाँ गयो त्यहीं घोच्ने कुतत्त्वहरू जब आफ्नै बुद्धि (मन)मा लोभ, मोह, आदिको पिंजडामा बसिराखेका छन् भने मलाई सुख हुने त कुरै भएन । मैले मनबाट यिनीहरूलाई ननिकाली भएन । क्लेशहरू रहँदासम्म सुखको आशा गर्नु बेकार हो ।

तस्मान्न तावदहमत्र धुरं क्षिपामि
यावन्न शत्रव इमे निहताः समक्षम् ॥
स्वल्पे ऽपि तावदपकारिणि बद्धरोषा
मानोन्नतास्तमनिहत्य न यान्ति निद्राम् ॥३६॥

मेरा समक्ष यिनी शत्रु ननाशिउन्जेल्
मैले त फाल्दिन यहाँ धुर यो लिएको ।
थोरै पनि यि अपकारिप्रति त रोषी
को स्वाभिमानि त निदाउँछ यी न मारी ॥३६।

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, यावत् = जबसम्म, इमे = यी, शत्रवः = शत्रुहरू, समक्षम् = आफ्नै अघि, न निहताः = नाशिदैनन्, तावत् = तबसम्म, अहम् = मैले, अत्र = यहाँ, धुरं = प्रतिज्ञा, न क्षिपामि = छोड्ने छैन ।

तावत् = किनकि, स्वल्पे = थोरै नै, अपकारिणि अपि = अपकार गर्नेप्रति पनि, बद्धरोषा = क्रोधले बाँधिएका, मानोन्नताः = स्वाभिमानले उच्च भएका पुरुषहरू, तम् = त्यो अपकारीलाई, अनिहत्य = नाशन जगरुञ्जेल, निद्रां न यान्ति = सुत्न सक्दैनन् ।

स्वाभिमानी पुरुषहरूले आफूप्रति अलिकति पनि कसैले नराम्रो गऱ्यो भने क्रोधले गर्दा त्यसलाई उचित प्रतिकार नगरेसम्म राम्ररी निदाउन पनि सक्दैनन् भने मेरा यी शत्रु त झन् धेरै नै कडा र खतर्नाक भएकोले गर्दा यिनीहरूलाई प्रत्यक्ष रूपमा नष्ट नपारुञ्जेलसम्म मैले यो व्रत (प्रतिज्ञा) छोड्ने त कुरै आएन र एक बुद्धिमान् पुरुषले त्यस्तै गर्नै पर्छ ।

प्रकृतिमरणदुःखितान्धकारान् रणशिरसि प्रसभं निहन्तुमुग्राः ।
अगणितशरशक्तिघातदुःखा न विमुखतामुपयान्त्यसाधयित्वा ॥३७॥

स्वभावले मरणशील र दुःखीलाई
मार्ने भनेर रणमा बलले त उग्र ।
असंख्य बाणहरूको पनि चोट खाई
हट्दैन कार्य नसकी कहिल्यै त वीर ॥३७॥

अन्वयार्थ : प्रकृतिमरणदुःखितान्धकारान् = स्वभावले नै मरणशील, दुःखी एवं अज्ञानीलाई, प्रसभं = बलपूर्वक, रणशिरसि = युद्धमैदानमा, निहन्तुं = नाश गर्न, उग्राः = उग्रभएका पुरुषहरू, अगणितशरशक्तिघातदुःखाः = असंख्य शर र शक्ति लाग्नाले पीडितभएका हुन्छन् र पनि, असाधयित्वा = काम सिद्ध नगरेसम्म, विमुखतां = युद्धवाट फर्किने काम, न उपयान्ति = गर्दैनन् ॥

स्वभावले नै मरणशील, त्यसैले गर्दा दुःखी र अज्ञानी शत्रुहरूलाई पनि युद्धक्षेत्रमा जबर्जस्ति नाश गर्नलाई उद्यत भएका तेजस्वी वीर पुरुषहरू असंख्य बाण र शक्तिका आघतले उत्पन्न गराएको पीडालाई सहेर आफुले पनि आफ्नो कार्य सिद्ध नगरुञ्जेलसम्म त्यहाँबाट विमुख हुँदैनन् भने –

किमुत सततसर्वदुःखहेतून् प्रकृतिरिपूनुपहन्तुमुद्यतस्य ।
भवति मम विषाददैन्यमद्य व्यसनशतैरपि केन हेतुना वै ॥ ३८॥

सम्पूर्ण दु:खहरूका जब हेतु यी हुन्
स्वभाविकै रिपु हुँदा यिनलाई मार्न ।
लाग्दैछु आज र पनि छ विषाद दैन्य
के कारणै छ ? यति दु:ख सयौं हुँदा पनि ॥३८॥

अन्वयार्थ : किमुत = फेरि किन, सततसर्वदु:खहेतून् =सधैं सवैप्रकारका दु:हरूको कारण भएका, प्रकृतिरिपून् = विनाकारण सहज रूपमै भइरहेका शत्रुहरूलाई, उपहन्तुं = विनाश गर्न, उद्यतस्य = लागिपर्ने, मम = मेरो, अद्य = आज, व्यसनशतैरपि = सयौं दु:ख भए पनि, केन हेतुना = कुन कारणले गर्दा, विपाददैन्यम् = विषाद र खिन्नता, भवति = हुने त ?

त्रिकालमै दु:ख दिने क्लेशशत्रुलाई नाश गर्न कस्सिएको हुनाले किन म खिन्न र दु:खी भइरहने ? चाहे सानातिना सयौं दु:खहरू किन झेल्न न परोस्, मैले हार खानु ठीक छैन किनकि यी क्लेशहरू त सम्पूर्ण दु:खका सदाकालको लागि हेतु हुन् र स्वाभाविकरूपमै भइरहेका शत्रु हुन् जसलाई नाश गर्न लागेको छु । यस्तो कुरामा पनि म खिन्न हुने के कारण हो ?

**अकारणेनैव रिपुक्षतानि
गात्रेष्वलङ्कारवदुद्वहन्ति
महार्थसिद्धयै तु समुद्यतस्य
दु:खानि कस्मान् मम बाधकानि ॥३९॥**

शरीरमा शत्रुले घाउ गर्दा
धारण् गर्छन् गहना झैं त्यसै नै ।
महार्थको सिद्धिका निम्ति लाग्दा
बन्छन् त बाधक् किन दु:ख मेरा ॥३९॥

अन्वयार्थ : रिपुक्षतानि = शत्रुले गराएका घाउहरूलाई, गात्रेपु = शरीरमा, अकारणेन एव = कुनै कारण विना नै, अलङ्कारवत् = गहना जस्तै गरी, उद्वहन्ति = धारण गर्छन्, भने, महार्थसिद्धयै = महान् अर्थको सिद्धिका लागि, समुद्यतस्य = प्रयत्न गर्नलागेको, मम = मेरा, दु:खानि = दु:खहरु, कस्मात् =, किन, वाधकानि = वाधाजनक हुने ?

कोही महापुरुषहरूले शत्रुद्वारा लगाइएका घाउहरूलाई अलंकार समान सम्झेर धारण गर्छन् यद्यपि ती शत्रुहरू यो लोक या परलोक कुनै प्रयोजनका बाधक पनि नहुन सक्छन् । परन्तु मैले त निर्वाण र सम्पूर्ण प्राणीहरूलाई हित गर्ने बुद्धपदलाई सिद्ध गर्न यी क्लेशरूपी शत्रुहरूलाई खतम गर्न आँटेको हुँ । यस्तो महान् अर्थसिद्धिका निमित्त लाग्दाखेरि पनि कसरी यी दु:खहरूले मलाई बाधा दिइरहन सक्छन् ? यस्ता दु:खलाई म महा-अलङ्कार सम्झेर धारण गर्छु ।

**स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ताः
कैवर्त-चण्डालकृषीवलाद्याः ।
शीतातपादिव्यसनं सहन्ते
जगद्धितार्थं न कथं सहेऽहम् ॥४०॥**

आफू बाँच्ने मात्र सोच्ने भएका
माझी र चण्डाल किसान सारा ।

जाडो र गर्मीहरू खुब् सहन्छन्
सहन्न मैले किन लोक निम्ति त ॥४०॥

अन्वयार्थ : स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ता: = आफ्नो जीविकाप्रति मात्र मनलाई लगाएका, कैवर्त - चण्डाल - कृपीवलाद्या: = माझी, चण्डाल, किसान आदिहरू पनि, शीतातपादिव्यसनं = चीसो र तातो जस्ता दु:खहरू, सहन्ते = सहन्छन् भने, अहं = मैले, जगद्धितार्थं =जगत्कै हितका निमित्त, कथं = किन, न सहे = नसहूँ ?

आफ्नो र आफ्नो परिवारको मात्र जीविका चलाउने विचार गर्ने खालका संकुचित मनवाला माझी, पोढे, कृषक जस्ता व्यवसायीहरूले पनि आफ्नो कामको सिलसिलामा जाडो, गर्मी, भय जस्ता कष्टहरू सहेकै हुन्छन् भने मैले जगत्लाई नै दु:खबाट मुक्ति दिलाउँछु भन्ने सङ्कल्पले काम गरिराख्दा त्यस्ता दु:ख नसहने के कुरा आयो ?

दशदिग्व्योमपर्यन्तजगत्क्लेशविमोक्षणे ।
प्रतिज्ञाय मदात्मापि न क्लेशेभ्यो विमोचितः ॥४१॥

आकाश दश् दिशाव्यापी जगत्को क्लेश नाशन
गरे पनि प्रतिज्ञा नै क्लेशमुक्त भईन म ॥४१॥

अन्वयार्थ : दशदिग्व्योमपर्यन्तजगत्क्लेशविमोक्षणें = दशै दिशाको आकाश समानका सत्वहरूलाई क्लेशबाट मुक्ति दिलाउने, प्रतिज्ञाय अपि = प्रतिज्ञा गरेर पनि, मदात्मा = मेरो आत्मा, क्लेशेभ्य: = क्लेशहरूबाट, न विमोचित: = मुक्त भएको छैन ।

समस्त प्राणीहरूलाई दु:खबाट मुक्ति दिलाउनको लागि डट्ने प्रतिज्ञा त गरें परन्तु म स्वयं पनि क्लेशहरूबाट मुक्त हुन सकेको छैन भने तं यो साह्रै दु:खंद स्थिति भयो । अत: यदि आफैलाई त दु:खमुक्त पार्न सकेको छैन भने अरूलाई कसरी दु:खमुक्त पार्न सकूँला ? के आफ्नो सामर्थ्यलाई विचारै नगरी त्यत्रो प्रतिज्ञा गर्नु पागलपन होइन ? मुखले मात्र बोलेर त केही लाभ भएन । अत: मजस्ताले परकल्याणको कुरा गर्नु नितान्त पागलपन हुनेछ । त्यसैले म अहिलेका यी आलस्य, आदि क्लेशहरूलाई पन्छाएरै मेरो प्रतिज्ञा सफल पार्न र कार्यरूपमा परिणत गराउन नलागी छोड्दिन ।

आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ब्रुवन्नुन्मत्तकस्तदा ।
अनिवर्ती भविष्यामि तस्मात् क्लेशवधे सदा ॥४२॥

आफ्नो सीमा न जोनर बोलें उन्मत्त झैं गरी
त्यसैले क्लेश नाश् गर्न लाग्छु नफर्किने गरी ॥४२॥

अन्वयार्थ : तदा = त्यतिखेर आत्मप्रमाणं = आफ्नो क्षमतालाई, अज्ञात्वा = नजानेर, उन्मत्तक: = पागल झैं गरेर, ब्रुवन् = वोल्दैछु, तस्मात् = त्यसकारणले, क्लेशवधे = क्लेशहरूलाई नाश गर्नमा, सदा = निरन्तर,अनिवर्ती = नफर्किने, भविष्यामि = हुनेछु ।

मेरो क्षमता स्वयंले थाहा पाइन र ठूलै प्रतिज्ञा गरें भनेर बक बक गर्दै हिंडें र हिंड्छु, मानौं एउटा पागल फतफताइरहेछ । त्यसकारण मैले क्लेशहरूलाई नाश गर्न अबदेखि कहिल्यै पनि हार नखाने गरी लाग्नेछु ।

अत्र ग्रही भविष्यामि बद्धवैरश्च विग्रही ।
अन्यत्र तद्विधात् क्लेशात् क्लेशघातानुबन्धिनः ॥४३॥

आग्रही यसमा हुन्छु शत्रुताले त विग्रही
क्लेशको नाश गर्नेको बाहेक अरु क्लेशमा ॥४३॥

अन्वयार्थ : अत्र = यस मामलामा, ग्रही = आग्रह गर्ने (हठी), भविप्यामि = हुनेछु, वद्धवैरश्च = शत्रुताले युक्त पनि हुनेछु, विग्रही च = विद्रोह गर्ने पनि हुनेछु । तद्विधात् = त्यस्ता प्रकारका (लौकिक), क्लेशात् = क्लेशहरूदेखि, अन्यत्र = अरु मामलामा त, क्लेशघातानुवन्धिन: = क्लेशलाई नै नाश गर्नमा लाग्ने भएकोले ।

यी क्लेशहरूलाई नाश गर्ने मामलामा म हठी पनि हुन्छु, त्यस्तै यी क्लेशहरूसँग वैरभाव पनि खुबै गर्छु र यिनीहरूसँग लडाई र जुध्ने काम पनि गर्नेछु किनकी यिनीहरूको विरुद्ध वैरभाव गर्नु अर्को क्लेश होइन । यस्तो वैरभावले स्वयं क्लेशहरूलाई नाश नै गर्ने भएकोले यो पनि क्लेश हुने भन्ने कुरै आउँदैन । बरु क्लेशघात गर्ने भएकोले राम्रो पक्ष हो ।

गलन्त्वन्त्राणि मे कामं शिरः पततु नाम मे ।
न त्वेवावनतिं यामि सर्वथा क्लेशवैरिणाम् ॥४४॥

वरु मेरा गलून् आन्द्रा मेरो बरु गिरोस् शिर
यी क्लेशशत्रुका सामु झुक्नेछैन कदापि त ॥४४॥

अन्वयार्थ : कामं = वरु, मे = मेरा, अन्त्राणि = आन्द्राहरू, गलन्तु = गलून्, मे = मेरो, शिरो नाम = शिसन्ने कुरा, पततु = खसिजाओस्, (परन्तु) क्लेशवैरिणाम् = क्लेशरूपी शत्रुहरूको सामु, अवनतिं = झुक्ने स्थितिमा, सर्वथा = कुनै अवस्थामा पनि, न तु यामि = जाने छैन ।

मेरो शिरै खसे पनि खसोस्, आन्द्रहरू नै गले पनि गलून् परन्तु यी क्लेशहरूलाई खतम नगरी छोड्ने छैन र यिनका सामु कहिल्यै पनि झुक्ने छैन ।

निर्वासितस्यापि हि नाम शत्रो
देशान्तरे स्थानपरिग्रहः स्यात् ॥
यतः पुनः सम्भृतशक्तिरेति
न क्लेशशत्रोर्गतिरीदृशी तु ॥४५॥

निकालिए तापनि शत्रुलाई
अन्यत्र मिल्ला बरु आश्रयै र
जहाँ पुन: शक्ति लिएर आउला
यी क्लेशको छैन त्यस्तो गति ता ॥४५॥

अन्वयार्थ : निर्वासितस्य नाम = निकाला गरिएको भनिने, शत्रो: अपि = शत्रुको पनि, देशान्तरे = अर्को देशमा, स्थानपरिग्रह: = आश्रय लिने काम, स्यात् = होला, यत: = जहाँबाट, सभृतशक्ति: = शक्ति सञ्चय गरेको छँदो, पुन: = फेरि, एति = आउला, क्लेशशत्रोस्तु = क्लेशरूपी शत्रुहरूको त, ईदृशी = यस्ता प्रकारको, गति: न = गति हुँदैन ॥

साधारण शत्रुलाई एकपटक निर्वासित गरिदिएपछि पनि उसले अर्को स्थानमा शरण लिन सक्छ र पुन: शक्ति सञ्चय गरेर आफ्नो सामर्थ्य बढेपछि आक्रमण गर्नको लागि आउन सक्छ । परन्तु यी क्लेशरूपी शत्रुहरूको गति त्यस्तो नहुने भएकोले एक पटक चित्तबाट यिनीहरूलाई निकालिदिएपछि फेरि चित्तमा आउन सक्दैनन् ।

क्वासौ यायान्मन्मनस्तो निरस्तः
स्थित्वा यस्मिन् मद्‌वधार्थं यतेत ।
नोद्योगो मे केवलं मन्दबुद्धेः
क्लेशाः प्रज्ञादृष्टिसाध्या बराकाः ॥४६॥

जाला कहाँ यो मनबाट निस्किँदा
मलाई मार्ने अनि यत्न गर्ला ।
म मन्दबुद्धी भई यत्न गर्दिन
प्रज्ञा भए पुग्छ यस्ता विचारा ! ॥४६॥

अन्वयार्थ : मन्मनस्तः = मेरो मनबाट, निरस्तः = निकालिएको, असौ = यो शत्रु, क्व यायात् = कहाँ जाला ? यस्मिन् = जहां, स्थित्वा = रहेर, मद्वधार्थं = मलाई नाश गर्नको लागि, यतेत = प्रयत्न गर्ला ? केवलं = केवल, मन्दवुद्धेः = मन्दवुद्धिवाला, मे = मेरो नै, उद्योगः न = उद्योग भएन । बराकाः = विचरा, क्लेशाः = क्लेशहरू त, प्रज्ञादृष्टिसाध्याः = प्राज्ञाको दृष्टिहुने वित्तिकै नाश भइहाल्छन् ।

मेरो चित्तबाट क्लेशरूपी शत्रु निस्केपछि फेरि कहाँ आश्रय पाउला ? त्यस्तो स्थान कहीं पनि छैन जहाँ यी रहेर पुनः मलाई नष्ट पार्नको लागि प्रत्याक्रमण गर्न सकून् । किनकि यिनीहरू त प्रज्ञादृष्टिले मात्र नाश भै हाल्छन् । त्यसैले यिनीहरू मेरो प्रज्ञादृष्टि उदय हुनासाथ भस्म हुनेछन् र फेरि उत्पन्न हुन असम्भव हुनेछ । विचरा यी क्लेश त परमार्थतः तत्व दर्शन मात्रैले पनि नाश भैहाल्छन् । बरु म स्वयं नै मूढबुद्धि भएको हुनाले आवश्यक मात्रामा प्रयत्न गर्न सकेको छैन ।

न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे नाप्यन्तराले स्थिताः
नातो ऽन्यत्र कुह स्थिताः पुनरमी मथ्नन्ति कृत्स्नं जगत् ।
मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय ! त्रासं भजस्वोद्यमं
प्रज्ञार्थं किमकाण्ड एव नरकेष्वात्मानमाबाधसे ॥४७॥

छैनन् इन्द्रियमा, न छन् विषयमा या मध्यमा, क्लेश त
अन्यत्रै त कहाँ रहे ? तर पनि मथ्छन् जगत् यो सब ॥
माया नै बुझ त्याग हे मन डरै, उद्योग प्रज्ञातिर
गर्दै जाउ न, व्यर्थमा नरकमा पीर्छौ स्वयंले किन ? ॥४७॥

अन्वयार्थ : क्लेशाः = क्लेशहरू, विषयेषु = विषयहरू (ज्ञेय रुप, शव्द आदि)मा, न = छैनन्, इन्द्रियगणे न = इन्द्रियहरूको समूहमा छैनन्, अन्तराले ऽ पि न स्थिताः = अन्तराल याने ती दुईको विचमा पनि छैनन् । अतः अन्यत्र = यहाँ भन्दा वाहिर पनि, न स्थिताः = रहेका छैनन् । पुनः = फेरि पनि, अमी = यिनीहरूले, कृत्स्नं जगत् = सम्पूर्ण जगत्लाई, मथ्नन्ति = मथ्दछन् (हॉडलिरहन्छन्) , अतः = त्यसो हुनाले, हृदय ! = हे मन ! इयम् = यो, माया एव = माया नै हो, त्रासं = डरलाई, विमुञ्च = छोडिदेऊ ! प्रज्ञार्थं = प्रज्ञाको लागि, उद्यमं = प्रयत्नको, भजस्व = सेवन गर । किम् = किन, अकाण्डे एव = विना कारणै, आत्मानम् = आफूलाई, नरकेषु = नरकहरूमा, आवाधसे = बाधा गरिराख्छौ (याने पीडा दिइराख्छौ) ?

माथि बताइएका राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशहरू रूप, शब्द, गन्ध जस्ता विषयहरू (बाह्य आयतन)मा पनि भेटिँदैनन् । त्यस्तै, खोज्ने हो भने तिनीहरू अध्यात्मआयतन याने इन्द्रियहरूमा पनि भेटिदैनन् । फेरि बाह्य आयतन र अध्यात्म आयतनको बिचमा पनि अवस्थित छैनन् । त्यस्तै

यीभन्दा बाहिर पनि यी क्लेशरू कतै छैनन्। त्यसकारण यी मूलरहित, तत्वतः शून्य र आगन्तुक मल मात्र हुन् र केवल मिथ्याविकल्पबाट उत्पन्न भइरहन्छन्। यस्ता निःसार हुँदाहुँदै पनि यिनीहरूले सम्पूर्ण जगत्लाई नै विथोलिराखेका छन्, हानि गरिराखेका छन्। त्यसकारण यिनीहरू केवल माया नै हुन्। जसरी मायाकार याने जादूगर (चटके)ले निर्माण गरेका हात्ती, घोडाहरू पनि वास्तविकरूपमा त्यहाँ नहुँदा नहुँदै पनि विभिन्न मन्त्र, औषधि र अन्य जुक्ति आदिका प्रभावले गर्दा हात्ती, घोडाजस्ता आकृतिको रूपमा देखा पर्दछन् त्यसरी नै यी क्लेशहरू पनि देखा परेका मात्र हुन्। जादूगरले पनि मन्त्र आदिको प्रभावले गर्दा काठ, कागज, रस्सी आदि अवयवको समूहलाई चल्तापुर्जा हात्ती, घोडाजस्तो देखा पार्छ भने यी क्लेशहरूले पनि मिथ्या ज्ञान, विपरीत ज्ञान आदिले गर्दा तत्वरहितता पनि विभिन्न रूपमा प्रतीत भैरहन्छ। अतः ए मेरो मन ! क्लेशहरूबाट तँ डराउनुपर्दैन, प्रज्ञाको लागि याने तत्व साक्षात्कार गर्नलाई उद्यम गर। किन आफूलाई बेफ्वाँकमा संघात, रौरव, अवीचि आदि नरकहरूमा लगेर आफैलाई पीडित पार्दछस् ?

> एवं विनिश्चित्य करोमि यत्नं
> यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहोतोः।
> बैद्योपदेशाच्चलतः कुतो ऽस्ति
> भैषज्यसाध्यस्य निरामयत्वम् ॥४८॥

गरेर यो निश्चय यत्न गर्छु
यथोक्त शिक्षाहरू पालनामा।
बैद्योपदेशै नगरेर पालना
कहाँ हुने रोगविमुक्त नै यहाँ ॥४८॥

अन्वयार्थ : एवं = यस प्रकार, विनिश्चित्य = निश्चय गरेर, यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहेतोः = वताइएका शिक्षा अनुसार अघि वढ्न, यत्नं करोमि = प्रयत्न गर्छु। वैद्योपदेशात् = वैद्यको उपदेशवाट, चलतः = विचलित हुने तर, भैषज्यसाध्यस्य = औषधिद्वारानै सञ्चो हुनुपर्ने व्यक्तिका लागि, निरामयत्वम् = नीरोगिता या आरोग्य, कुतः अस्ति ? = कहाँवाट हुन्छ ?

माथि गरिएका सबै कुराहरूलाई राम्ररी विचार गर्दा ती बुद्धद्वारा उपदेश गरिएका सूत्र र आचार्यहरूले रचेका शास्त्रहरूमा बोधिसत्वलाई जसरी आचरण गर्नुपर्ने बताइएको छ त्यसरी नै आफूले आचरण गर्नुपर्ने र व्यवहारमा उतार्नुपर्ने निश्चय गरेर त्यसको लागि प्रयत्न गर्नेछु। वैद्यको औषधि खाएर नै स्वास्थ्यलाभ हुने अवस्थाको व्यक्तिले वैद्यको भनाइ अनुसार चलेन भने कसरी उ निरोगी बन्न सक्छ ? वैद्यको सल्लाह अनुसार औषधी सेवन गर्नैपर्ने हुन्छ। नत्र मुखले भनेर मात्र दुःखशान्ति हुँदैन। बैद्यले भने अनुसार औषधि खाए मात्र रोग निको हुन्छ। 'खान्छु' भनेर मात्र केही हुँदैन। यहाँ पनि सर्वज्ञमहावैद्य भगवान् तथागतद्वारा उपदेश गरिएका शिक्षाहरू बमोजिमको आचरण नगर्ने हो भने कर्म-क्लेशहरूबाट उत्पन्न भएको दुःखरूपी महाव्याधिबाट मुक्ति पाउने सम्भावना नै हुँदैन।

बोधिसत्वका शिक्षाहरू सूत्रहरूमा विस्तारसँग बताइएको हुन्छ। हामीजस्ता मन्दबुद्धिवालाहरूले सबै बुझ्न र जान्न कठीन हुने भएकोले मुख्य कुरा के हो भन्ने बुझिराख्नुपर्ने हुन्छ। त्यो मर्म भनेको

नै सबै सत्त्वहरूको हितका निमित्त आफ्नो सर्वस्वलाई त्याग गर्नु हो। त्यसो गर्ने क्रममा कुन कुरा आपत्तिजनक हुन्छ कुन हुँदैन भन्ने आफूले स्पष्टसँग जान्नुपर्छ र भ्रममा पर्नुहुँदैन। संक्षेपमा भन्ने हो भने सम्पूर्ण सत्वहरूका वर्तमान र अनागत (भविष्यका) सम्पूर्ण दुःख दौर्मनस्यहरूको शान्ति र वर्तमान एवं अनागत सम्पूर्ण सुख सौमनस्यको उत्पादका निमित्त जुन बोधिसत्वले शठतालाई त्यागेर, कायवाक्चित्तको पराक्रमबाटै प्रयत्न गर्दैन, त्यसका प्रत्ययसामग्रीहरूलाई जम्मा गर्न खोज्दैन, त्यस कार्यका विघ्नबाधाहरूलाई पन्छाउन लागिपर्दैन, धेरै दुःख दौर्मनस्यको प्रतीकार गर्न थरै दुःख दौर्मनस्य उत्पाद गर्न सक्दैन, ठूलो अर्थ सिद्ध गर्न सानो हानि गर्दैन, एकछिन पनि बेवास्ता गर्छ त्यो सबै उसको लागि आपत्ति हुन्छ र बोधिसत्त्वसंवरमा त्रुटि हुन्छ। तर आफ्नो क्षमताले नभ्याउने कुरामा भने अनापत्ति नै हुन्छ अर्थात् केही आपत्ति मानिँदैन। संक्षेपमा यही नै बोधिसत्त्वले बुझ्नु पर्ने मर्म हो। यस बारेमा विस्तारमा बताउन अप्रमेयकल्पसम्ममा पनि सकिँदैन।

अर्को किसिमले भन्ने हो भने संक्षेपमा बोधिसत्त्वका दुई किसिमका आपत्तिहरू हुन्छन्। आफ्नो शक्ति अनुसार युक्त र अयुक्त केही विचार नगरी शुरू गर्ने र थाहा पाएपछि पनि नसक्नेमा नफर्किने या सक्ने कुरामा बेवास्ता गर्ने हो भने आपत्ति हुन्छ। निरूपण गरिसकेपछि पनि सक्नेभन्दा बढीमा हातहाल्नु आपत्ति हुन्छ चाहे त्यो चण्डालको पनि नोकरले नै प्रेरणा गरेको किन नहोस्। जसले राम्रोसँग बढाउँदै जान चाहान्छ उसले शिक्षा समुच्चयमा बताइएजस्तै शुरुमा चर्याको मुखमा प्रवेश गर्ने शिक्षाहरूबाट मात्र प्रयास गर्दै जानुपर्छ किनकि बोधिसत्त्वशिक्षामा प्रवेश गर्नुमात्र पनि निकै ठूलो पुण्यफल दिने हुन्छ।

बोधिचर्यावतारमा बोधिचित्त अप्रमाद नामक चौथो परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त भयो।

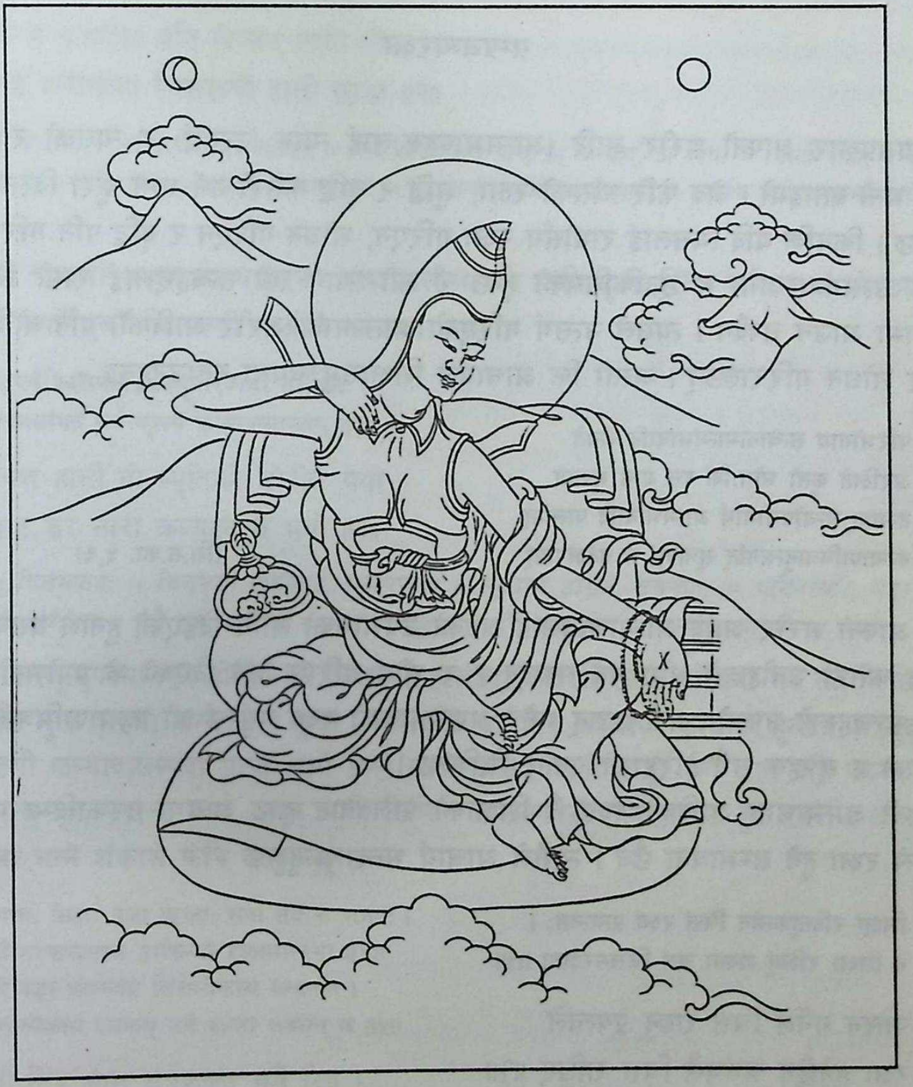

आर्य चन्द्रकीर्ति

[भारतको दक्षिण क्षेत्रमा सातौं शताव्दीमा ब्राम्हणकुलमा जन्म लिएका र नालन्दामै उपसम्पदा प्राप्त गरी अध्ययन गरेका नागार्जुनकै परम्पराका शिष्य मानिने प्रासङ्गिक माध्यमिक विद्वान् एवं सिद्ध आर्य चन्द्रकीर्ति शास्त्रार्थ मुद्रामा । उहाँले मध्यमक शास्त्रको प्रसन्नपदा टीका र आफ्नै स्वतन्त्र रचना “मध्यमकावतार” भन्ने अति अमूल्य ग्रन्थ लेख्नुभएको छ ।]

४८, ४९, ४३, ५०, ५१, ५२, ६३

८५

८२ ६५

६३
७१,६२,

पञ्चम परिच्छेद

सम्प्रजन्यरक्षा

यसप्रकार आफ्नो शरीर आदि (आत्मभावहरू)लाई त्याग (उत्सर्ग) र त्यसको रक्षा पनि गर्नुपर्छ भन्ने बताइयो। अब फेरि त्यसको रक्षा, शुद्धि र वृद्धि कसरी गर्ने भन्ने कुरा विस्तारपूर्वक बताइँदैछ। किनकि यदि त्यसलाई राम्रोसँग रक्षा गरिएन, शोधन गरिएन र बृद्धि पनि गरिएन भने त्यसको उत्सर्ग (त्याग) त छुद्रकिसिमको हुन्छ र त्यो त्याग सबै सत्वहरूलाई राम्रो किसिमले उपभोगमा आउन सक्दैन। त्यसैले उत्सर्ग गरिएका आत्मभाव (शरीर आदिको) पनि बोधिसत्वले रक्षा र शोधन गरिराख्छन्। जस्तो कि आचार्यले शिक्षासमुच्चयमा बताउनुहुन्छ –

परिभोगाय सत्वानामात्मभावादि दीयते
अरक्षिते कुतो भोगःकिं दत्तं यन्न भुज्यते
तस्मात् सत्वोपभोगार्थ आत्मभावादि पालयेत्
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणां च सदेक्षणात् (शि.स.का. ५,६)

आफ्नो शरीर आदि आत्माभावलाई अरुको उपभोगको लागि दिइएको हुनाले यसको रक्षा नगरेमा कसरी उनीहरूले भोग गर्न सक्छन् ? र भोग गरिएन भने दिएको के प्रयोजन भयो ? त्यसैले सत्त्वहरूले उपभोग गर्न पाऊन् भनेर आत्मभावको रक्षा गर्नुपर्छ जो कल्याणमित्रसँग सङ्गत गरिराख्ने र सूत्रहरू सधैं हेरिराख्ने गर्नाले सिकिन्छ।

ती आत्माभाव आदिको रक्षा नै शिक्षाको पालनबाट हुन्छ अन्यथा नरकादिमा पतन हुने भएकोले रक्षा हुने सम्भावना छैन। त्यसैले आचार्य भन्न थाल्नुहुन्छ –

शिक्षां रक्षितुकामेन चित्तं रक्ष्यं प्रत्यत्नतः।
न शिक्षा रक्षितुं शक्या चलं चित्तमरक्षता ॥१॥

शिक्षा पालन गर्नेले चित्त राख्नू प्रयत्नले
शिक्षा रक्षा हुनेछैन चञ्चलै चित्त राखिए ॥१॥

अन्वयार्थ : शिक्षां = शिक्षालाई, रक्षितुकामेंन = रक्षा गर्न खोज्नेले, चित्तं = चित्तलाई, प्रयत्नतः = प्रयत्नपूर्वक, रक्ष्यं = रक्षा गर्नुपर्छ। चलं चित्तं = चञ्चल चित्तलाई, अरक्षता = न बचाउनेले, शिक्षा = शिक्षालाई, रक्षितुं न शक्या = पालना गर्न सकिँदैन।

बोधिसत्वको संवर ग्रहण गरिसकेकाहरूले गर्नुपर्ने कुराहरू गर्नु र गर्न नहुने कुराहरू नगर्नुलाई 'शिक्षा' भनिन्छ। त्यस्ता शिक्षाहरूको पालना गर्न खोज्नेले सर्वप्रथम आफ्नो चित्तलाई प्रयत्नपूर्वक रक्षा गर्नुपर्छ। किनभने यदि चित्त नै चञ्चल र अस्थिर छ भने त्यसमा शिक्षाहरू कसरी स्थिर हुन सक्छन् ? त्यसैले चित्तलाई स्थिर नगर्नेहरूले शिक्षाको पालन गर्न कदापि सक्दैनन्। अतः चित्तरक्षा नै मूल कुरा हुनआउँछ।

अदान्ता मत्तमातङ्गा न कुर्वंन्तीह तां व्यथाम् ।
करोति यामवीच्यांदौ मुक्तश्चित्तमतङ्गजः ॥२॥

मत्ताहात्ती न दाइएका पनि दिन्नन् त्यति पीडा
जति दिन्छ अवीचीमा चित्तरूपी हात्ती छाडा ॥२॥

अन्वयार्थ : अदान्ता = नदाइएका, मत्तमातङ्गाः = मत्ता हात्तीहरूले पनि, इह = यहाँ, तां व्यथां = त्यस्तो पीडा, न कुर्वन्ति = गराउँदैनन्, यां = जति, मुक्तः = छाडा, चित्तमतङ्गजः = चित्तरूपी हात्तीले, अवीच्यादौ = अवीचि आदि नरकमा, करोति = गर्दछ ।

यो लोकमा अंकुश नलगाइएको मत्ता हात्तीले पनि त्यति दुःख दिँदैन जति दुःख यो छाडा र नियन्त्रण नगरिएको चित्तरूपी हात्तीले नरकमा दिन्छ ।

बद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्ज्वा समन्ततः ।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम् ॥३॥

बाँधिए चित्त-हात्ती यो स्मृतिको डोरीले गयो
सबैतिरबाट डर सारा कल्याण नै भयो ॥३॥

अन्वयार्थ : चित्तमातङ्गः = चित्तरूपी हात्तीलाई, स्मृतिरज्ज्वा = स्मृतिको डोरीले, समन्ततः = चारैतिरवाट, वद्धश्चेत् = वाँधियो भने, सर्वं भयं = सबै डर, अस्तंगतं = अस्तायो, कृत्स्नं = धेरै, कल्याणम् = कल्याण, आगतम् = आयो ।

यदि स्मृत्युपस्थानको डोरीले यो चित्तरूपी हात्तीलाई चारैतिरबाट बाँधियो भने सबै किसिमका भयहरूबाट मुक्त भइयो भन्ने जाने हुन्छ । त्यसपछि चारैतिर कल्याणै कल्याण हुन्छ । अभ्युदय र नैःश्रेयसरूपी कल्याणसम्पदा प्राप्त भयो भन्ने सम्झे हुन्छ । पानी पऱ्यो भने धान पनि फल्यो ।

परन्तु मृग, स्याल, बाघ, भालू आदि निभिन्न उपद्रवकारी तत्वहरूबाट हुने डरदेखि त कसरी रक्षा होला भन्ने शंकाले फेरि बताउनुहुन्छ –

व्याघ्राः सिंहाः गजा ऋक्षाः सर्पा सर्वे च शत्रवः ।
सर्वे नरकपालश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा ॥४॥
सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात् ।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति च ॥५॥

वाघ हात्ती सिंह भालू सर्पजस्ता सवै रिपु ।
सवै नरकका द्वारे डाकिनी राक्षसैहरू ॥४॥
चित्त मात्रै बाँधिएमा बद्ध हुन्छन् सवै यिनी
दमन् हुँदा चित्तमात्रै दमित् हुन्छन् सवै यिनी ॥५॥

अन्वयार्थ : व्यघ्राः = वाघहरू, सिंहाः = सिंहहरू, गजाः = हात्तीहरू, ऋक्षाः = भालूहरू, सर्पाः = सर्पहरू, सर्वे = सवै, शत्रवश्च = शत्रुहरू पनि, सर्वे = सवै, नरकपालाश्च = नरकका पालेहरू, डाकिन्यः = डाकिनीहरू, तथा = त्यस्तै, राक्षसाः = राक्षसहरू, एतें = यिनीहरू, चित्तस्यैकस्य = एक मात्र चित्तको, वन्धनात् = बन्धनले गर्दा, सर्वे = सवै, वद्धा भवन्ति = वाधिन्छन्, एकस्य चित्तस्य = एक मात्र चित्तको दमनात् = दमन गर्नाले, सर्वे = सवै, दान्ता भवन्ति = दमित हुन्छन् ।

बाघ, सिंह, भालू सर्प जस्ता जन्तुहरू, मनुष्यको रूपमा भएका अन्य शत्रुहरू, नरकका

पालेहरू या अन्य अमानुष यक्ष राक्षस, डाकिनीहरू सबै नै चित्त शान्त भयो भने वास्तवमा शान्त हुन्छन् । किनभने –

यस्माद् भायानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च ।
चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्ववादिना ॥६॥

सबै भयहरू त्यस्तै अनन्त दुःख छन् जती
चित्तबाटै भएका हुन् भन्नुभो तत्ववादिले ॥६॥

अन्वयार्थ : यस्मात् = किनकि, तत्ववादिना = तत्ववादी तथागतले, भयानि = डरहरू र, अप्रमितानि च दुःखानि = मापन गर्न नसिकने जति दुःखहरू, सर्वाणि = सबै नै, चित्ताद् एव = चित्तबाट नै, भवन्ति इति = हुंन्छन् भन्ने यस्तो, कथितम् = भन्नुभएको छ ।

तत्ववादी भगवान्ले के बताउनुभएकों छ भंने चित्तबाट नै सबै प्रकारका भय र असंख्य दुःखहरू पैदा हुन्छन् । त्यसैले चित्तलाई दमन गर्दा सबै कुरा दमित हुंन्छन् भनिएको हो ।

यो सम्पूर्ण जगत् नै कर्मद्वारा खडाभएको हो र अनिष्ट गर्ने सबै कुराहरू आफ्नो कर्मको आक्षेपबाट भएका हुन् । कर्म भनेको चित्त नै हो । किनकि 'चेतना कर्म' भनेर चित्तले गर्ने कर्मलाई बताइएको छ । त्यस्तै वाक्का कर्म र कायका कर्म पनि चित्तबाटै हुन्छन् । यिनीहरुलाई 'चेतयित्वा कर्म' भनिएको हुनाले यी पनि एक प्रकारले चित्तकै कर्म हुन् । त्यसकारण कुनै कुरा पनि चित्तभन्दा बाहेकको होइन भनिएको हो । चन्द्रकीर्तिले भन्नुभएको छ –

सत्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम् ।
कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय च नास्ति ॥ **(मध्यमकावतार – ६.८९)**

अर्थात् सत्वलोक (प्राणीहरू) र भाजनलोक (बाहिरी पदार्थहरू) दुवै नै चित्तबाट रचना हुन्छन् । किनकि यो सम्पूर्ण जगत् नै कर्मबाट भएको भनिएको छ र कर्म भनेकै चित्तभन्दा बाहेक अर्को होइन ।

भगवान्कै वचन पनि त्यही बताउँछन् –

"चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम्" **(धर्मपद – ३.३)**

चित्तको दमन नै राम्रो हो र चित्त दमित भयो भने सुख दिन्छ ।

शस्त्राणि केन नरके घटितानि प्रयत्नतः ।
तप्तायःकुट्टिमं केन कुतो जाताश्च ताः स्त्रियः ॥७॥

कस्ले नरकमा शस्त्र बनायो ती प्रयत्नले ?
तातो फलामको भूमि, स्त्रीहरू कसरी भए ? ॥७॥

अन्वयार्थ : नरके = नरकमा, केन = कसले, प्रयत्नतः = प्रयत्नपूर्वक, शस्त्राणि = शस्त्रहरू, घटितानि = निर्माण गऱ्यो, केन कसले, तप्तायःकुट्टिमं = तातो फलामको भूई निर्माण गऱ्यो, ताः स्त्रियः = ती स्त्रीहरू, कुतः जाताः = कहाँवाट = पैंदा भए ?

नरकमा नरकपालहरूका हातमा देखिने तरवार, भाला, मुसल आदि अनेक प्रकारका शस्त्रहरू कसले बनाएका हुन् ? ईश्वरले बनाएका त होइनन् किनकि ईश्वर त वास्तवमा छँदैछैन

भनेर बौद्ध शास्त्रहरूमा प्रशस्त खण्डन गरिएको छ भने यहीं पनि पछि प्रज्ञापारमिता परिच्छेदमा गरिनेछ । त्यस्तै तातो फलामले बनेको भूई कसले बनायो ? परस्त्रीगमन गर्नेहरूलाई नरकमा शाल्मलीवृक्षमा स्त्रीहरू तलमाथि देखा पर्छन् । ती स्त्रीहरू कहाँबाट आए ? त्यो शाल्मलीवृक्ष पनि कहाँबाट आयो ? त्यसकारण चित्तबाहेक अन्य कुनै कारण छैन । सबै चित्त स्वयंले नै देखेको हो ।

पापचित्तसमुद्भूतं तत्तत् सर्वं जगौ मुनिः ।
तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये चित्तादन्यो भयानकः ॥८॥

पापचित्तबाट सबै भएका भन्नुभो मुनि
अतः छैन तीनै लोकमा चित्तभन्दा भयानक ॥८॥

अन्वयार्थ : तत्तत् सर्वं = ती ती सबै, पापचित्तसमुद्भूतं = पापचित्तबाट पैदा भएका हुन् भन्ने, मुनिः = मुनिले, जगौ = भन्नुभयो । तस्मात् = त्यसकारणले, चित्ताद् अन्यत् =चित्तभन्दा अर्को, त्रैलोक्ये = तीनै लोकमा पनि, भयानकः = डरलाग्दो कुरा, कश्चित् न = केही पनि छैन ।

भगवान्ले बताउनुभएको छ कि पापकर्मले युक्त भएको चित्तबाट नै ती सबै दुःखदायी तत्वहरू बनेका हुन् । त्यसकारण त्रिलोकमै चित्तभन्दा अर्को भयको हेतु कुनै पनि छैन । त्यसैले चित्तलाई नै वशमा ल्याउनुपर्छ । आर्यरत्नमेघमा बताइएको छ, "चित्तपूर्वंगमा सर्वधर्माः । चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति ।" अर्थात चित्तबाट नै सबै धर्महरू आउँछन् र चित्तलाई जानेमा सबै धर्महरूलाई जानिन्छ । त्यस्तै -

चित्तेन नीयते लोकश्चित्तं चित्तं न पश्यति
चित्तेन नीयते कर्म शुभं वा यदि वा ऽ शुभम् ॥

अर्थात् चित्तले नै लोकलाई चलाउँछ चित्तले चित्तलाई देख्दैन । शुभ या अशुभ कर्म पनि चित्तले नै गर्ने हो ।

"चित्त अलातचक्रजस्तै घुमिरहन्छ । चित्त तरंग जस्तै चलिरहन्छ । चित्तले डढेलो (दावाग्नि)ले जस्तै जलाइरहन्छ । चित्तले महासमुद्र जस्तै हरण गर्छ ।" यस प्रकार जसको स्मृति उपस्थित भइरहन्छ त्यो चित्तको वशीभूत न भएर उसको वशमा चित्त हुन्छ र चित्त वशीभूत भयो भने सबै धर्म वशीभूत हुन्छन् ।

त्यस्तै दानपारमिता आदिमा पनि चित्त नै मूल हो भन्ने कुरा देखाउन शङ्का उठाउनुहुन्छ -

अदरिद्रं जगत् कृत्वा दानपारमिता यदि ।
जगद् दरिद्रमद्यापि सा कथं पूर्वतायिनाम् ॥९॥

अदरिद्र जगत् पार्दा दानपारमिता भए
आजै पनि दरिद्रै छ अघिका बुद्ध के गरे ? ॥९॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, जगत् = जगत्लाई, अदरिद्रं = दरिद्रताले रहित, कृत्वा = गराएर मात्र, दानपारमिता = दानपारमिता हुने भए, अद्यापि = आज पनि जगद् = जगत्, दरिद्रं = दरिद्र छ, (त्यसो भए), पूर्वतायिनाम् = पहिले पहिलेका बुद्धहरूको, मा = त्यो (दानपारमिता), कथम् = कसरी भयो त ?

सास्रवसुख अर्थात् कृत्रिम सुखभोगको तिर्सनाको कारणले चित्तमा व्याप्त भइराखेको छुचो र संकुचित पन नै 'दारिद्र्य' हो। यस्तो दारिद्र्यबाट यो समस्त लोकलाई मुक्त गराउँछु भन्ने प्रतिज्ञा पहिलेका बुद्धहरूले गर्नुभएको थियो र यदि त्यस्तो दरिद्रतालाई लोकबाट पूर्णरूपमा हटाएपछि मात्र दानपारमिता पूरा हुने भए त अझै पनि लोकमा दरिद्रता हटेको छैन। त्यसैले उहाँहरूको दानपारमिता पूरा भएन भन्ने कुरा आयो। अतः उहाँहरूको कसरी दानपारमिता भयो त ? यो प्रश्न उठ्न सक्छ। त्यसैले दानपारमिता भनेको त्यस्तो होइन, बरु यस्तो हो –

फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जने ऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥१०॥

फलै सहित सर्वस्व त्याग चित्त भयो भने
दानपारमिता हुन्छ त्यसैले त्यो त चित्त भो ॥१०॥

अन्वायार्थ : अखिले = सम्पूर्ण, जने = प्राणीहरूमा, फलेन सह = फल समेत, सर्वस्वत्यागचित्तात् = सर्वस्व त्याग गर्ने चित्तवाटै ,न दानपारमिता प्रोक्ता = दानपारमिता हुन्छ भनी वताइएको छ। तस्मात् = त्यसो हुनाले, सा तु = त्यो त, चित्तमेव = चित्त नै हो।

सम्पूर्ण बाहिरी कुरा, जस्तै :- भूमि, सुन, रत्न, अन्न आदि र आध्यात्मिक कुरा, जस्तै :- शरीर, मन आदि समस्त वस्तुहरूलाई सम्पूर्ण प्राणीहरूको हितका निमित्त त्याग गर्ने र त्यसको फललाई समेत उनीहरूकै हितका निमित्त अर्पण गर्ने चित्तबाट नै दान पारमिता हुन्छ भनिएको छ। त्यसैले त्यो दानपारमिता भनेको पनि चित्तबाट भएको हो र चित्त नै मूल कुरा हो। उक्त दानको अभ्यासलाई त्रिकोटिपरिशुद्धरूपमा गर्न सक्ने भएपछि दानपारमिता भनिन्छ। त्रिकोटिपरिशुद्ध भनेको दाता, दान र देय यी तीनै कोटिबाट मुक्त भई गरिएको त्याग हो।

मत्स्यादयः क्व नीयन्तां मारयेयं यतो न तान्।
लब्धे विरतिचित्ते तु शीलपारमिता मता ॥११॥

माछा आदि कहाँ लग्नु जस्ले ती त नमारिऊन्
पाए विरतिचित्तै ता शीलपारमिता भयो ॥११॥

अन्वयार्थ : मत्स्यादयः = माछा आदि पशुहरूलाई, क्व =कहाँ, नीयन्तां = लैजानु, यतः = जसले गर्दा, तान् = तिनीहरूलाई, न मारयेयम् = नमार्न सकुँ : विरतिचित्ते = विरत भएको चित्त, लब्धे = प्राप्त भएमा नै , शीलपारमिता मता = शीलपारमिता हुन्छ भनिएको छ ॥

प्राणातिपात आदि पाप कर्महरूबाट विमुख भएको चित्त नै शील हो न कि त्यो हिंसा आदि कर्मका विषयहरू। अर्थात् माछा, बाखा आदि बाह्य वस्तुहरूप्रतिको हिंसा आदि पापकर्मबाट विरत भएको चित्त पो 'शील' हो। त्यसका आश्रयस्वरूप ती माछा आदि विषयहरू त शील होइनन्। यदि तिनीहरूले शील हुने भए त तिनीहरूलाई कहाँ लग्ने जसले गर्दा उनीहरूको दर्शन नै नभएर हिंसा आदि पापकर्म नगरियोस् भन्ने त ? (किनकि देखा परेकाले गर्दा मार्ने इच्छा लागेको भन्ने कुरा होला) परन्तु त्यस्तो त हुन सक्दैन। त्यसकारण यी विषयहरू हुँदाहुँदै पनि तिनीहरूप्रतिको हिंसा जस्ता अकुशल चित्त उत्पन्न भएनन् भने मात्र शीलपारमिता निष्पन्न हुन्छ। अतः यो पनि चित्त नै हो।

कियतो मारयिष्यामि दुर्जजनान् गगनोपमान् ।
मारिते क्रोधचित्ते तु मारिताः सर्वशत्रवः ॥१२॥

कति दुर्जन पो मारूँ आकाशै जति छन् तिनै
क्रोधचित्तै मारिएंमा मारिन्छन् सव शत्रु नै ॥१२॥

अन्वयार्थ : कियत: = कति, गगनोपमान् = आकाशै जति धरै, दुर्जनान् = दुर्जनहरूलाई, मारयिष्यामि = मारूँला त ? ।वरु। क्रोधचित्ते = क्रोधचित्त नै, मारिते तु = मारियो भने त, सर्वशत्रव: = सवै शत्रुहरू नै, मारिता: = मारिन्छन् ।

दुर्जनहरूको संख्या त असीम छ अर्थात् आकाश समानै छ । त्यसैले ती अपकारी दुर्जनहरूलाई कोही पनि बाँकी नरहने गरी मार्न सम्भव नै हुँदैन भने मैले कतिलाई मारेर साध्य हुन्छ त ? बरु आफ्नै क्रोधचित्तलाई नै मारें भने त वास्तवमा कोही पनि मेरा शत्रु हुँदैनन् । त्यसो गर्नु नै सवै शत्रुहरू मारे सरह भयो । क्षान्तिपारमिता पनि यसबाटै हुन्छ किनकि अपकार गर्नेवालाप्रति पनि क्रोधचित्त पैदा नहुनु नै क्षान्ति हो ।

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति ।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी ॥१३॥

सवै भूईं ढाक्न भनी कहाँ छाला हुनेछ र
जुत्ताभरि मात्र भए ढाकिन्छ पृथिवी सब ॥१३॥

अन्वयार्थ : सर्वां = सवै, भूमिं = भूईंलाई, छादयितुं = ढाक्नको लागि, चर्म = छाला, कुत: भविष्यति = कहाँवाट होला र ? उपानच्चर्ममात्रेण = जुत्ताको छाला मात्रैले पनि, मेदिनी = पृथिवी, छन्ना भवति = ढाकिन्छ ।

काँडा, कंकड आदिबाट बच्नलाई पृथिवीलाई ढाक्न खोजेर कसरी सम्भव हुन्छ ? किनकि त्यति मात्रामा छाला त पाइँदैन । बरु जुक्तिले उपाय लगाउने हो भने यो सम्भव छ । जुत्ता नै छालाको बनाएमा जुत्ताभरिको छालाले पनि सम्पूर्ण पृथिवीलाई नै ढाक्छ ।

बाह्या भावा मया तद्वच्छक्या वारयितुं न हि ।
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः ॥१४॥

त्यस्तै सकिन्न बारेर बाहिरी जति छन् कुरा
आफ्नै चित्त रोक्छु अरू रोकेर के छ फाइदा ॥१४॥

अन्वयार्थ : तद्वद् = त्यस्तै, मया = मैले, बाह्या भावा: = वाहिरी कुरा, वारयितुं = रोक्न, न शक्या = सकिदैन, । वरु । स्वचित्त = आफ्नो चित्तलाई, वारयिष्यामि = रोक्नेछु, अन्यै: = अरुलाई, निवारितै: = रोक्नाले, मम = मलाई, किं = के फाइदा ?

त्यसै गरी बाहिरी कुराहरू याने शत्रुहरूलाई मैले रोकेर रोक्न साध्य नुहुने भएकोले आफ्नै चित्तलाई नै रोक्नेछु । अरुलाई रोक्छु भनेर क्रोधचित्त उत्पन्न गरेर केही उपलब्धि हुँदैन । त्यसैले क्षान्तिपारमिता पनि चित्त नै हो ।

सहापि वाक्शरीराभ्यां मन्दवृत्तेर्न तत्फलम् ।
यत्पटोरेककस्यापि चित्तस्य ब्रह्मतादिकम् ॥१५॥

मिले पनि देह वाणी अल्छिको हुन्न त्यो फल
जो एक्लै पनि उत्साही चित्तको ब्रह्मतादि छ ॥१५॥

अन्वयार्थ : वाक्शरीराभ्यां = वचन र शरीरका साथ हुँदा पनि, मन्दवृत्तेः = मन्दवृत्ति (अल्छी पारा) भएका चित्तको, तत्फलम् न = त्यो फल हुँदैन, यत् = जो, एककस्यपि = एक्लो मात्रै पनि, पटोः = चलाख याने उत्साही, चित्तस्य = चित्तको, ब्रह्मतादिकम् = ब्रह्मताको प्राप्ति जस्तो फल हुन्छ ।

वीर्य भनेको कुशल पक्षमा भएको उत्साह हो । शरीर र वचन सहित भएर चित्तले काम गऱ्यो भने पनि यदि त्यो अल्छी, अनुत्साही किसिमको छ भने त्यति राम्रो फल हुन सक्दैन । किनकि यदि चित्त उत्साहपूर्ण छ भने त्यहाँ वचन र शरीर विना केवल त्यस्तो चित्त मात्रैबाट पनि ब्रह्मता (ब्रह्मलोक) जस्ता फल मिल्न सक्छन् । तर उत्साहपूर्ण चित्त भएन भने काय, वाक्, चित्त मिलेरै अघि बढे पनि त्यो वरावरको फल मिल्न सक्दैन । अतः वीर्य पारमिता भनेको पनि उत्साही चित्त नै हो ।

जपास्तपांसि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि ।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित् ॥१६॥

सबै जप तपहरू धेरैवेर गरे पनि
भए अन्यत्र यो चित्त व्यर्थ हो भन्नुभो मुनि ॥१६॥

अवयार्थ : सर्वाणि = सवै, जपाः = जपहरू (मालामन्त्रजप), तपांसि = इन्द्रिय दमनका शरीरिक तपस्याहरू, दीर्घकालकृतानि अपि = लामो समयसम्म गरिएका भए पनि, अन्यचित्तेन = अन्यत्र गएको चित्तले वा, मन्देन = ढीलो, अल्छी, तन्द्रामा डुवेको चित्तले गरेको भए, वृथा एव = वेकार नै हो, इति = यस्तो, सर्ववित् = सर्वज्ञ भगवान्ले, आह = भन्नुभएको छ ।

एकै आलम्वनमा चित्त निरन्तर लागिरहनुलाई ध्यान भनिन्छ । सर्वज्ञ भगवान् बुद्धले वताउनुभएको छ कि यदि चित्तलाई अन्यत्रै डुलाएर या मन्द भएर अर्थात् तन्द्रा, अल्छी आदि सहित भएर गरिएका जप, तप आदि क्रिया छन् भने जति लामो अवधिसम्म गरिएका भए पनि केही लाभ हुँदैन । त्यो सबै वेकार हो । त्यसैले ध्यानपारमिता पनि चित्त नै हो ।

यहाँ जप भनेको वाणीले गर्ने मन्त्र दाहोऱ्याइराख्ने प्रक्रिया हो भने तप भनेको शरीरले गर्ने इन्द्रियदमन आदिको प्रक्रिया हो । त्यस्तै सर्वविद्को तात्पर्य के हो भने हेय (त्याग्नुपर्ने) र उपादेय (ग्रहण गर्नुपर्ने) कुरालाई राम्ररी थाहा पाइसकेको र हान, एवं हानोपाय अर्थात् त्यो त्याग र त्यसका उपायहरू समेतको पनि पूर्ण जानकारी भैसकेको व्यक्ति भन्ने हो । सबै कुरा जान्ने भनेर 'सर्वविद्' भनिएको होईन । त्यस्तो त कोही पनि हुँदैन भनेर स्वयं तथागतले आज्ञा भएकोछ । यहाँ त चार आर्य सत्यको परिपूर्ण ज्ञातालाई सर्वविद् भनिएको हो । जस्तो कि प्रमाणवार्तिकको प्रमाणसिद्धिमा ३४ श्लोकमा धर्मकीर्तिले भन्नुहुन्छ –

हेयोपादेयतत्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥

अर्थात् "हेय र उपादेय तत्वको उपाय सहित सबै जान्ने जुन प्रमाण हो त्यही नै सर्वज्ञ हो न

कि सबै जान्ने ।" त्यस्ता व्यक्ति केवल तथागत बुद्ध मात्र हुन सक्छन् ।

दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे ।
यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं गुह्यं न भावितम् ॥१७॥

दु:ख नाशी सुख खोज्ने व्यर्थ आकाशमा घुम्छन्
धर्मसर्वस्व यो गुह्य चित्तको भावना गर्दैनन् ॥१७॥

अन्वयार्थ : यैः = जसले, एतद् =यो, धर्मसर्वस्वं = सबै लौकिक र लोकोत्तर धर्मको सारस्वरूज्ञप, गुह्यं चित्तं = गुह्य चित्तलाई, न भावितम् = भावना गर्दैनन्, ते = तिनीहरू, दु:खं हन्तुं = दु:खलाई नाश गर्न र, सुखं प्राप्तुं = सुखलाई प्राप्त गर्न, मुधा = बेकारमा (व्यर्थैमा) अम्वरे = आकाशमा, भ्रमन्ति = घुम्छन् ।

संसारको दु:खदेखि भयभीत भएर सुख चाहनेहरूले त सम्पूर्ण धर्म कर्महरूको सारभूत एवं सामान्य पृथग्जनहरूले जान्न नसकिने खालको यो गुह्य चित्तलाई भावना गर्नुपर्छ । परन्तु तिनीहरूले त्यसो गर्नुको साटो अन्य अन्य लौकिक कुराहरूमा मन लगाएर व्यर्थै परिश्रम गर्छन् जसको फलस्वरूप यिनीहरू आकाशसमानको यो संसारमा वेमतलवसँग घुमिरहन्छन् ।

यसरी चित्तको यथाभूत स्वरूपको भावना गर्नु नै प्रज्ञापारमिताको भावना हो । त्यसैले यो पनि चित्तभन्दा बैग्लै होइन । अतः -

तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितम् ।
चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः ॥१८॥

त्यसैले चित्त आफ्नो नै रक्षा मैले त गर्नु छ
चित्तरक्षाव्रतै छोडी गर्नु धेरै अरु किन ? ॥१८॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, मया = मैले, स्वधिष्ठितं = कुशल कर्ममा कुशल ढंगवाट अधिष्ठान गरिएको, चित्तं = चित्तलाई, सुरक्षितम् = सुरक्षित, कार्यम् = गराउनु पर्छ । चित्तरक्षा- व्रतं = चित्तको रक्षा गर्ने ब्रतलाई, मुक्त्वा = छोडेर, मम = मेरा, वहुभिः व्रतैः = अरु धेरै ब्रतहरूले, किम् = के फाइदा ?

अतः बोधिचित्त प्रणिधान गरिसकिएको कुशलमूलले युक्त यो मेरो चित्तलाई खिइन या घट्न नदिएर स्मृति र सम्प्रजन्यद्वारा सुरक्षा गर्नुपर्छ किनभने यो चित्तको रक्षा गर्नुमा नै सबै कुरा अन्तर्निहित हुन्छन् । त्यसैले यो चित्तको रक्षा गर्नु नै प्रमुख धर्म हो । यो चित्तरक्षारूपी ब्रतलाई छोडेर अरु किसिमका तिथी र वार सम्बन्धी नानाथरि ब्रतहरू पालन गर्नाले के प्रयोजन हुन्छ र ? किनभने यो विनाका अन्य ब्रतहरूबाट कुनै पनि लोकोत्तर फल प्राप्त हुँदैनन् । बोधिसत्वको शिक्षा नै यही चित्तपरिकर्म हो । सबै सत्वहरूको हित सिद्ध गर्नको लागि यही चित्त नै मूल हुन्छ ।

धर्मसंगीति सूत्रमा पनि बताइएको छ, "मतिविक्रम बोधिसत्त्व भन्नुहुन्छ - यो धर्मलाई नै धर्म भन्छन्, यो कहीं देश या प्रदेशमा छैन, आफ्नै चित्तको अधीनमा छ । त्यसैले मैले आफ्नै चित्तलाई नै सम्यक् रूपमा आराधना गर्नुपर्छ, सम्यक् रूपमा अधिष्ठित गर्नुपर्छ, राम्ररी यसमा विजय गर्नुपर्छ, राम्ररी नै यसको प्रारम्भ गर्नुपर्छ, राम्ररी नै यसलाई निग्रह गरिराख्नु पर्छ । किन त्यसो गर्ने ? किनकि जहाँ चित्त छ त्यहीं नै गुण र दोषहरू हुन्छन् । बोधिसत्त्वले दोषहरूबाट चित्तलाई हटाएर

गुणहरूमा प्रवृत्त गराउनुपर्छ । त्यसैले नै भनिएको छ कि 'बोधि त चित्तकै अधीनमा हुन्छ ।"

यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात् ।
एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ॥१९॥

चञ्चलेहरूका बीच घाउ रक्षा गरे सरी
दुर्जन्सँगै चित्तघाऊ रक्षा गर्नु त्यसै गरी ॥१९॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, चपलमध्यस्थः = चञ्चल मानिसहरूका भाझमा रहेको व्यक्तिले, व्रणम् = घाउलाई, आदरात् = होशियारी साथ, रक्षति = रक्षा गर्दछ, एवं = यसै प्रकारले, दुर्जनमध्यस्थः = दुर्जनहरूको विचमा रहनेले, सदा = सधैं, चित्तव्रणं = चित्तरूपी घाउलाई, रक्षेत् = रक्षा गरोस् ॥

जसरी कुनै होशियारी व्यक्ति (अप्रमादी याने लापरवाही नगर्ने व्यक्ति)ले चंचल व्यक्तिहरूको भीडभाडमा हुँदाखेरि बडो सावधानीपूर्वक आफ्नो घाउलाई बचाइराख्छ त्यसैगरी दुर्जनहरूको बीचमा रहँदाखेरि पनि अप्रमादी बोधिसत्वको कर्तव्य हुन आउँछ कि उसले आफ्नो चित्तरूपी घाउलाई निरन्तर सुरक्षा गरिराखोस् ।

व्रणदुःखलवाद्भीतो रक्षामि व्रणमादरात् ।
सङ्घात - पर्वताघाताद् भीतश्चित्तव्रणं न किम् ॥२०॥

दुःखले घाउ सानैको रक्षा गर्छु डराउँदै
संघात पर्वताघात - भयले चित्तको न के ? ॥२०॥

अन्वयार्थ : व्रणदुःखलवाद् = घाउको सानोतिनो दुःखले, भीतः = डराएको छँदो, व्रणम् = घाउलाई, आदरात् = आदरपूर्वक याने होशीयारी पूर्वक, रक्षामि = रक्षा गर्दछु भने, संघात- पर्वताघाताद् = संघातनरकमा पर्वतहरूको चपेटामा पर्ने चोटवाट, भीतः = डराए पछि, किं = के, चित्तव्रणं = चित्तरूपी घाउलाई, न = रक्षा नगरुँ ?

आफूलाई घाउ चोटपटक लाग्दाखेरिको सानोतिनो दुःखबाट डराएर त्यो घाउमा फेरि कुनै ठेस नलागोस् भनेर सावधानी अपनाउँछु भने, पछि संघात नरकमा फलामे पर्वतहरूको ठक्करबाट चूर्ण हुनुपर्छ भन्ने जस्ता कठोर दुःखकष्टहरूबाट भयभीत भएर त्यहाँ जानबाट बच्नको लागि चित्तरूपी घाउलाई अहिलेदेखि सुरक्षित पार्न किन नलागूँ त ?

अनेन हि विहारेण विहरन् दुर्जनेष्वपि ।
प्रमदाजनमध्ये ऽपि यतिर्धीरो न खण्डयते ॥२१॥

रही विहारमा यस्तै धीर साधु कहीं पनि
दुर्जनै अथवा स्त्रीका विच खण्डित हुन्न नि ॥२१॥

अन्वयार्थ : अनेन = यही, विहारेण हि = विहारले अर्थात् आचरणको तरीकाले, विहरन् = विहार गर्दै, धीरः = धैर्यले युक्त, यतिः = साधुले, दुर्जनेषु अपि = दुर्जनहरूको माझमा पनि, प्रमदाजनमध्ये ऽपि = युवतीहरूको माझमा पनि, न खण्डयते = आफ्नो व्रतलाई खण्डित गर्दैन ।

माथि वताइएको चित्तको रक्षा गर्ने व्रतलाई पालन गर्ने क्रममा होशियारीसाथ रहँदै जीवन विताउने र चर्या गर्ने धीर बुद्धिमान् साधुले आफू दुर्जनहरूको विचमा हुँदाखेरि या युवतीहरूको

विचमा हुँदाखेरि पनि उक्त व्रतलाई नटुटाएर रहन्छ अर्थात् चित्तलाई बोधिप्रणिधिबाट विचलित र खिन्न या प्रमादी बन्न नदिएर होशियारीपूर्वक नै रहिरहन्छ।

> लाभा नश्यन्तु मे कामं सत्कारः कायजीवितम्।
> नश्यत्वन्यच्च कुशलं मा तु चित्तं कदाचन ॥२२॥

लाभ, सत्कार, यो देह, जीवनै पनि नाशियोस्
नाशियून् वा अरु कुशल् तर चित्त ननाशियोस् ॥२२॥

__अन्वयार्थ :__ मे = मेरा, लाभाः = लाभहरू, कामं = वरु, नश्यन्तु = नाश होऊन्, सत्कारः = पूजासत्कार, कायजीवितम् = शरीर, जीवन र, अन्यच्च = अरु पनि, कुशलं = राम्रो कुरा, नश्यतु = नाश भैजाओस् परन्तु, कदाचन = कहिल्यै पनि, चित्तं तु = चित्त ता, मा = नाश नहोस्।

मेरा लाभका वस्तुहरू :- जस्तैः- चीवर, भिक्षा, पिण्डपात आदि नाश भए पनि ठीकै छ, मेरा सम्मानहरू जस्तैः- पादसेवन, वन्दन आदि नाश भए पनि, मेरो शरीर र जीवन नै नाश भए पनि या अरु जेजति सुख सौमनस्यका कुशल साधनहरू मसँग छन् ती सबै नाश होऊन् तापनि ठीकै छ। परन्तु कुनै हालतमा पनि मेरो यो बोधिप्रणिधिले युक्त चित्त नाश नहोस्।

यसको महत्त्व बुझेको हुनाले अरूलाई पनि आचार्यले भित्री मनले प्रार्थना गर्दै अनुरोध गर्नुहुन्छ -

> चित्तं रक्षितुकामानां मयैष क्रियते ऽञ्जलिः।
> स्मृतिं च सम्प्रजन्यं च सर्वयत्नेन रक्षत ॥२३॥

चित्तरक्षा चाहनेमा हात जोडेर विन्ति है
स्मृति र समप्रजन्यैको गर्नू रक्षा प्रयत्नले ॥२३॥

__अन्वयार्थ :__ चिंत्तं = चित्तलाई, रक्षितुकामानां = रक्षा गर्न चाहनेहरूलाई, मया = मैले, एप अञ्जलिः क्रियते = यो अञ्जलि वाँधी प्रार्थना गर्छु कि, स्मृतिं च = स्मृतिलाई र, सम्प्रजन्यं च = सम्प्रजन्यलाई पनि, सर्वयत्नेन = सम्पूर्ण प्रयत्नले, रक्षत = रक्षा गर्नू।

चित्तको रक्षा गर्न चाहनेहरूलाई मेरो हातजोडी विन्ती छ कि उनीहरूले स्मृति र सम्प्रजन्यलाई पनि सम्पूर्ण प्रयासबाट रक्षा गर्नुपर्छ।

यहाँ स्मृति भनेको द्वारपाल जस्तो हो। यसले कुनै पनि अकुशल धर्मलाई चित्तभित्र प्रवेश गर्न दिँदैन। आर्य रत्नचूडसूत्रमा भनिएको छ, *“यया स्मृत्या सर्वक्लेशानां प्रादुर्भावो न भवति, यथा स्मृत्या सर्वमारकर्मणामवतारं न ददाति, यया स्मृत्या दौवारिकभूतया सर्वेषामकुशलानां चित्तचैतसिकानां धर्माणामवकाशं न ददाति, इयमुच्यते सम्यक्स्मृतिरिति”* अर्थात् जुन स्मृतिले कुनै क्लेशहरूलाई प्रादुर्भाव हुन दिँदैन, जुन स्मृतिले गर्दा कुनै मारकर्महरूलाई आइलाग्न दिँदैन, जुन स्मृतिले द्वारे जस्तो भएर कुनै अकुशल चित्तचैतसिकहरूलाई स्थान दिँदैन त्यसलाई सम्यक् स्मृति भनिन्छ। अतः के गर्नुपर्ने कर्तव्य हो र के निषेध गरिएको कर्म हो भन्ने कुराको स्मरण भइराख्नु नै स्मृति हो। सम्प्रजन्य भनेको काय र चित्तको अवस्थाको प्रत्येक क्षण होश भंइरहनु या त्यसको जागरुकता हो। सम्प्रजन्यको सन्दर्भमा प्रज्ञापारमितामा भनिएको छ, *“चरँश्चरामीति प्रजानाति। निषण्णो*

निषण्णो ऽस्मीति प्रजानाति । यथा यथास्य कायः स्थितो भवति तथा तथैनं प्रजानाति पेयालं ...... सो ऽतिक्रामन् वा प्रतिक्रामन् वा सम्प्रजानचारी भवति ।" अर्थात् हिँड्दा हिँड्दैछु भन्ने जान्दछ । बस्दा बस्दैछु भन्ने जान्दछ । सुत्दा, सुत्दैछु भन्ने जान्दछ । जसरी जसरी उसको शरीर रहन्छ त्यसरी त्यसरी नै त्यसलाई जान्दछ ...... पाइला उठाउँदा या पाइला टेक्दा पनि सम्प्रजन्यमै रहन्छ...... ।" चित्तरक्षाको लागि यी स्मृति र सम्प्रजन्य दुवैको आवश्यकता पर्छ । एउटाले मात्र पुग्दैन ।

व्याध्याकुलो नरो यद्वन्न क्षमः सर्वकर्मसु ।
तथाभ्यां विकलं चित्तं न क्षमं सर्वकर्मसु ॥२४॥

व्याधिग्रस्त मानिसले सक्दैन काम गर्न क्यै
त्यस्तै यी दुईले हीन चित्त गर्दैन कर्म क्यै ॥२४॥

अन्वयार्थ : यद्वत् = जसरी, व्याध्याकुलः = रोगव्याधिले आकुल व्याकुल भएको, नरः = मानिस, सर्वकर्मसु = कुनै काम गर्न पनि, न क्षमः = सक्षम हुँदैन, तथा = त्यस्तै, आभ्यां = यी दुईवाट, विकलं = रहितभएको, चित्तं = चित्त पनि, सर्वकर्मसु = कुनै कार्य गर्नमा पनि, न क्षमम् = सक्षम हुँदैन ।

जसरी कुनै मानिसलाई रोगले ग्रस्त पारेको छ भने उसले त्यसवेलामा केही काम पनि गर्न नसक्ने हुन्छ त्यस्तै हाम्रो चित्त पनि स्मृति र सम्प्रजन्यबाट रहित भएको छ भने त्यस्तो चित्तले कुनै कर्म जस्तैः ध्यान, अध्ययन आदि केही पनि गर्न सक्दैन ।

असम्प्रजन्यचित्तस्य श्रुतचिन्तितभावितम् ।
सच्छिद्रकुम्भजलवन्न स्मृतावुवतिष्ठते ॥२५॥

असम्प्रजन्य चित्तैको श्रुत, चिन्ता र भावना
रहन्न स्मृतिमा जस्तै पानीको चुहिने घडा ॥२५॥

अन्वयार्थ : असम्प्रजन्यचित्तस्य = सम्प्रजन्यले रहित हुने चित्तको, श्रुतचिन्तितभावितम् = सुनेको, चिन्तन गरेको र भावना गरेको कुरा, सच्छिद्रकुम्भजलवत् = प्वाल परेको भाँडामा भएको पानी जस्तै, स्मृतौ = स्मृतिमा, न अवतिष्ठते = रहँदैन ।

सम्प्रजन्यले रहित भएको चित्तले गरेको श्रवण, चिन्तन र भावना त चुहिने प्वाल भएको भाँडोमा राखेको पानी झैं स्मृतिपटलमा अडिँदैन ।

अनेके श्रुतवन्तो ऽपि श्राद्धा यत्नपरा अपि ।
असम्प्रजन्यदोषेण भवन्त्यापत्तिकश्मलाः ॥२६॥

मिहेनती, पढेका र श्रद्धावानहरू तर
असम्प्रजन्यदोषैले हुन्छन् आपत्तिदूषित ॥२६॥

अन्वयार्थ : अनेकं = अनेकौं, श्रुतवन्तः = पढे-लेखेका, सुने जानेकाहरू, श्राद्धा = श्रद्धाले युक्त भएका र, यत्नपरा अपि = प्रयत्नशील व्यक्तिहरू पनि, असम्प्रजन्यदोषेण = सम्प्रजन्य नहुने दोषको कारणले गर्दा, आपत्तिकश्मलाः = आपत्तिहरुवाट दूषित, भवन्ति = हुन्छन् ।

धेरै संख्यामा मिहेनती, शिक्षाहरूप्रति सधै आदरभाव राख्ने खालका, श्रद्धाले युक्त भएका र श्रवण र अध्ययन प्रशस्त गरेका बहुश्रुत व्यक्तिहरू पनि सम्प्रजन्य नहुनाले गर्दा आफ्नो काय र चित्तलाई प्रत्यवेक्षण (प्रत्येक क्षण होश राख्ने) नगरेर आपत्तिमा परेका हुन्छन्। अर्थात् कर्तव्यको आचरण नगर्ने र निषेधितको आचरण गर्ने खालका आपत्तिजनक कुराबाट दूषित हुन पुगेका हुन्छन् र उनीहरूको बोधिसत्वसंवरमा आपत्ति भइरहेको हुन्छ।

असम्प्रजन्यचौरेण स्मृतिमोषानुसारिणा।
उपचित्यापि पुण्यानि मुषिता यान्ति दुर्गतिम् ॥२७॥

हराए झैं स्मृति चल्ने असम्प्रजन्य चोरले
लुटिँदा पुण्यसम्भार जान्छन् दुर्गतिमा कठै ॥२७॥

अन्वयार्थ : *स्मृतिमोषानुसारिणा = स्मृति नै हराएको जस्तो गरी व्यवहर गर्ने, असम्प्रजन्यच ौरेण = असम्प्रजन्यरूपी चोरले, मुपिता: = लुटिएका व्यक्तिहरू, पुण्यानि = पुण्यहरूलाई, उपचित्य अपि = सञ्चय गरेर पनि, दुर्गतिं = दुर्गतिमा, यान्ति = जान्छन्।*

असम्प्रजन्य भनेको एक प्रकारको चोर हो। यसले सधैं स्मृति नभएको जस्तो गरी आचरण गर्छ। त्यसकारण यदि पुण्यहरू प्रशस्त जम्मा गरेर पनि त्यो चोरले चोरिदिएको छ भने केही काम लाग्दैन, आखिरमा दुर्गतिमा नै जने हुन्छ। त्यसकारण असम्प्रजन्यरूपी चोरलाई चित्तमा पस्न दिनुहुँदैन।

क्लेशतस्करसंघोऽयमवतारगवेषकः।
प्राप्यावतारं मुष्णाति हन्ति सद्गतिजीवितम् ॥२८॥

क्लेश तस्करको संघ पस्ने मार्ग त खोज्दछ
बाटो भेटे चोरिहाल्छ मास्छ सद्गति जीवन ॥२८॥

अन्वयार्थ : *अयम् = यो, क्लेशतस्करसंघः = क्लेशरूपी तस्करहरूका समूह, अवतारगवेपक: = प्रवेश गर्ने मार्गको खोजी गरिरहने गर्छ, अवतारं = प्रवेशमार्ग, प्राप्य = पाएपछि, सद्गतिजीवितम् = सद्गतिले युक्त भैराखेका जीवनलाई, मुष्णाति = चोर्दछ र, हन्ति = नष्ट पार्दछ।*

जसरी पिशाचले र चोरले सधै प्रवेशमार्गको खोजी गरिरहेको हुन्छन्.त्यसैगरी यी क्लेशहरूको समूह पनि चोरकै समूह जस्तो भएकोले प्रवेश गर्ने छिद्र खोजिरहेको हुन्छ। जब चित्तमा अलिकति पनि खिन्नता हुन्छ र क्लेशहरू प्रवेश गर्नलाई अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हुन्छ तब तुरुन्तै यी क्लेशहरू प्रवेश गरिहाल्छन् र सद्गतितिर लागिरहेको, कुशल कर्म गरिरहेको जीवनलाई हरण गर्दछन्। त्यतिमात्र नभएर त्यसलाई नष्ट पनि पारिदिन्छन्। त्यसैले उ दुर्गतिमा फँस्न पुग्छ।

तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारान्नापनेया कदाचन।
गतापि प्रत्युपस्थाप्या संस्मृत्यापायिकीं व्यथाम् ॥२९॥

त्यसैले न भगाए है ! स्मृतिलाई कदापि त
गएपनि फेरि ल्याऊ ! संझी दुर्गतिको दु:ख ॥२९॥

अन्वयार्थ : *तत्मत् = त्यसकारणले, मनोद्वारात् = मनको ढोकाबाट, कदाचन = कहिल्यै पनि, स्मृतिः = स्मृतिलाई, न अपनेया = हटाउनु हुँदैन, गता अपि = गएकोलाई पनि, आपायिकीं = अपाय अर्थात् नरक आदि दुर्गतिको, व्यथां = कष्टलाई, संस्मृत्य = याद गरेर, प्रत्युपस्थाप्या = फेरि अगाडि ल्याउनु पर्छ ॥*

स्मृति भएन भने दोषमात्र आइलाग्ने भएकोले मनको ढोकाबाट स्मृतिलाई भाग्न दिनुहुँदैन। स्मृति भनेको आलम्बनलाई नविर्सनु हो अर्थात् मनलाई जे कुरामा राख्नु पर्ने हो या जुन कुरा मनमा रहनुपर्ने हो त्यसलाई नविर्सनु या विर्सन नदिनु नैं 'स्मृति' को लक्षण हो। यदि प्रमादले गर्दा त्यो हरायो या विर्सियो भने त्यसलाई फेरि ल्याइहाल्नुपर्छ। अर्थात् मनलाई पुनः आफ्नो ठाउँमा फर्काउनुपर्दछ। त्यो कसरी सम्भव हुन्छ ? नरक आदि दुर्गतिहरूमा हुने तीव्र कष्टलाई संझिने गर्नुपर्छ। त्यसको डरले स्मृतिलाई जोगाउनुपर्छ । तथागतको आज्ञालाई उल्लङ्घन नगर्ने, पालन गर्ने आदि स्मृतिहरू बाह्र प्रकारका छन् र फलदायी नहुने कृयाकलाप नगरियोस् भनेर यिनीहरूको देशना गरिएको हो जसको बारेमा शिक्षासमुच्चयमा दिइएको छ। त्यो स्मृति पनि तीव्र आदर भयो भने उत्पन्न हुन्छ। त्यो आदर पनि शमथको महिमा जानेपछि राम्रोसँग आउँछ। त्यसको बारेमा यथास्थानमा नै बताइने छ। कसैको अरु उपायले पनि स्मृति उत्पन्न हुन्छ। जस्तै :-

> उपाध्यायानुशासन्या भीत्याप्यादरकारिणाम्।
> धन्यानां गुरुसंवासात् सुकरं जायते स्मृतिः ॥३०॥

गुरुसँगै बसेमा र उपाध्यायसँगै सिकी
विनीत धन्यहरूको डरले सजिलो स्मृति ॥३०॥

अन्वयार्थ : *आदरकारिणां = आदर गर्ने खालका, धन्यानां = पुण्यवान्हरूको, गुरुसंवासात् = गुरुजनहरूको सामीप्यमा रहनाले, उपाध्यायानुशासन्या = उपाध्यायहरूले दिएको उपदेशहरूले, भीत्या अपि = डरले पनि, स्मृति = स्मृति, सुकरं = सजिलै, जायते = उत्पन्न हुन्छ।*

गुरुजनहरूसँग नजिकिएर रहनाले, उपाध्यायहरूबाट हित र अहित सम्बन्धी नियम र प्रतिषेधहरूको उपदेश (अनुशासनी) सिकेर र डरले पनि श्रद्धालु एवं पुण्यात्माहरूको स्मृति संजिलोसँग उत्पन्न हुन्छ। अर्को उपाय पनि छ-

> बुद्धाश्च बोधिसत्वाश्च सर्वत्राव्याहतेक्षणाः।
> सर्वमेवाग्रतस्तेषां तेषामस्मि पुरः स्थितः ॥३१॥

वुद्ध एवं वोधिसत्व देख्छन् सर्वत्र स्पष्ट नै
सवै उनैको अघि छ तिनैको अघि छु म नै ॥३१॥

अन्वयार्थ : *वुद्धाश्च = वुद्धहरू र, वोधिसत्वाश्च = वोधिसत्वहरू पनि, सर्वत्र = सवैतिर, अव्याहतेक्षणाः = निर्वाधरूपले देख्ने आंखा भएका हुन्छन्। तेपां = तिनीहरूको, अग्रतः = अगाडि, सर्वम् एव = सवै कुरा नै हुन्छ, तेपां = तिनीहरूको, पुरः = अगाडि, स्थितः अस्मि = अवस्थित छु।*

बुद्ध र बोधिसत्त्वहरूले त जहाँ पनि जे पनि देख्न सक्छन् किनभने उनीहरूको त प्रज्ञाचक्षु, दिव्यचक्षु आदि अनेक कुरा हुन्छन्। उनीहरूका अगाडि सबै कुरा छर्लङ्गै हुन्छ। म उनीहरूको सामु छु।

इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् त्रपादरभयान्वितः ।
बुद्धानुस्मृतिरप्येवं भवेत् तस्य मुहुर्मुहुः ॥३२॥

वसोस् ध्यान गरी यस्तो मानी लाज र आदर
बुद्धानुस्मृति यस्तो नै होला त्यस्को पुनः पुनः ॥३२॥

अन्वयार्थ : इति = यस्तो, ध्यात्वा = सोचेर, त्रपादरभयान्वित: = लज्जा, आदर र डरले युक्त भएर, तथा तिष्ठेत् = त्यसरी नै रहोस्, एवं = यस प्रकार, मुहुर्मुहु: = वारम्वार, वुद्धानुस्मृतिरपि = वुद्धानुस्मृति पनि, भवेन् = होला ।

यस्तो भावना गरेर बुद्ध बोधिसत्त्वहरूको डर र लाज मानेर आदर सहित रहने गर्नुपर्छ । त्यसो गरेमा स्मृति कायम रहन सक्छ भने यसको अर्को फाइदा पनि छ । त्यो के हो भने बुद्धानुस्मृतिजस्ता अभ्यासमा यसले राम्रो फाइदा हुन्छ र बुद्धानुस्मृति बारम्बार हुन थाल्छ ।

सम्प्रजन्यं तदायाति न च यात्यागतं पुनः ।
स्मृतिर्यदा मनोद्वारे रक्षार्थमवतिष्ठते ॥३३॥

स्मृति बस्छ मनोद्वारमा रक्षाका निम्तिमा जब
सम्प्रजन्य आइहाल्छ आएको जान्न फेरि त ॥३३॥

अन्वयार्थ: यदा = जब, मनोद्वारे = मनको ढोकामा, स्मृति: = स्मृति, रक्षार्थं = रक्षा गर्नको लागि, अवतिष्ठते = खडा हुन्छ, तदा - त्यसवेलामा, सम्प्रजन्यं = सम्प्रजन्य, आयाति = आइहाल्छ, आगतं च = आएको सप्रजन्य पनि, पुन: = फेरि, न याति = जादैन ।

यदि मनको ढोकामा क्लेशरूपी चोरहरूको समूहलाई प्रवेश गर्नबाट रोक्ने यो स्मृति द्वारपालझैं खडा छ भने सम्प्रजन्य स्वतः नै सजिलो गरी आउँछ । त्यस्तो भैराखेमा आएको सम्प्रजन्य पनि फेरि भागेर जान पाउँदैन ।

पूर्वं तावदिदं चितं सदोपस्थाप्यमीदृशम् ।
निरिन्द्रियेणेव मया स्थातव्यं काष्ठवत् सदा ॥३४॥

पहिले यो चित्तलाई यसरी स्थापना गर
इन्द्रियै नभए जस्तै काठ झै रहनू सदा ॥३४॥

अन्वयार्थ : पूर्वं तावत् = पहिले त, इदं चित्तं = यो चित्तलाई, सदा = सधैं, ईदृशम् = यस्तो प्रकारको भनी, उपस्थाप्यम् = उपस्थान गर्नू अर्थात् सम्झिराख्नुपर्छ (अनि), सदा = सधैं, मया = मैले, निरिन्द्रियेण = इन्द्रिय नभएको, इव = जस्तो गरी, काष्ठवत् = काठको मूढोझैं, स्थातव्यम् = रहनु पर्छ ।

सर्वप्रथम त माथि भनिएअनुसार आफ्नो चित्तलाई सम्झिराख्नु पर्छ याने यो यस्तो चित्त हो भनी त्यसको याद गरिराख्नुपर्छ । अनि अनावश्यक क्रियाकलापहरू नहोऊन् भनेर रूप आदि विषयतर्फ लाग्ने विचार विकल्पहरूलाई संहार गरेर एउटा काठको मूढो ठडिए झैं शान्त र निश्चल भई रहनुपर्छ । मानौं मेरा कुनै इन्द्रियहरू नै त्यहाँ छैनन् । भन्न खोजेको कुरा के हो भने अनावश्यकरूपमा आफ्नो जीउलाई या कुनै अङ्ग जस्तैः- खुट्टा, घुँडा, टाउको आदि हल्लाइराख्ने, काँधहरू मिलाई राख्ने जस्ता कामहरू गर्नुहुँदैन किनकि यसो गरिरहनाले चित्तमा विक्षेप, विचार-विकल्पहरू आइराख्छन् र स्मृति जान्छ ।

निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्तव्या कदाचन ।
निध्यायन्तीव सततं कार्या दृष्टिरधोगता ॥३५॥

आँखा बेकारमा चञ्चल पार्नु हुन्न कदापि नै
गरेझैं ध्यान आँखा यी तल झारेर् राख्नु है ॥३५॥

अन्वयार्थ : निष्फला = कुनै प्रयोजनविनाको, नेत्रविक्षेपा = आँखा चलाउने काम, कदाचन = कहिल्यै पनि, न कर्तव्या = गर्नुहुँदैन, सततं = निरन्तर, नियध्यान्ती इव = ध्यान गरेको हो कि भनेजस्तो गरी, दृष्टिः = आँखालाई, अधोगता कार्या = तलतिर गराइराख्नुपर्छ ।

आँखालाई अनावश्यकरूपमा यताउता पल्याक् पुलुक् गराई हेरिराख्ने गर्नु हुँदैन । जतिखेर पनि ध्यान गरेको जस्तो गरी दृष्टिलाई नाकको टुप्पाको सामु राखी आधा आँखा खोलेर स्थिर गरी राख्नुपर्छ । त्यसो गर्दा केवल दुई हात पर मात्र देख्ने किसिमले हेरेर शान्तसँग रहनुपर्छ ।

दृष्टिविश्रामहेतोस्तु दिशः पश्येत् कदाचन ।
आभासमात्रं दृष्ट्वा च स्वागतार्थं विलोकयेत् ॥३६॥

विश्राम दिन आँखामा अन्त हेर्नू यदाकदा
अभास मात्र देखेमा हेर्नू स्वागत गर्नमा ॥३६॥

अन्वयार्थ : दृष्टिविश्रामहेतोः = आँखालाई आराम दिनको लागि, कदाचन = कहिले काहीँ, दिशः पश्येत् = अन्यत्र दिशामा हेर्नू याने खुला ठाउँतिर हेर्नू, आभासमात्रं तु = आभासमात्र पनि, दृष्ट्वा = देखेर, स्वागतार्थं = स्वागत गर्नको लागि, विलोक्येत् = हेर्नू ॥

आँखाको थकाइलाई मेट्न कहिलेकाहीँ खुला दिशातिर हेर्ने पनि गर्नुपर्छ । त्यस्तै कोही व्यक्ति आएको आभास मिल्नासाथ उसलाई हेर्नुपर्छ जसले उसको स्वागत होस् । त्यसो नगरेमा अकुशल चित्त उत्पाद हुने सम्भावना रहन्छ किनकि उसको अपमान हुन्छ ।

मार्गादौ भयबोधार्थं मुहुः पश्येत् चतुर्दिशम् ।
दिशो विश्राम्य वीक्षेत परावृत्यैव पृष्ठतः ॥३७॥

वाटामा खतरा जान्न हेरिराख्नू यता उता
अडिएर अघि हेर्नु फर्किएर पछि पनि ॥३७॥

अन्वयार्थ : मार्गादौ = वाटो आदिमा, भयवोधार्थं = खतराको जानकारीको लागि, मुहुः = वारंवार, चतुर्दिशम् = चारै दिशातर्फ, पश्येत् = हेर्ने गर्नू, विश्रम्य = रोकिएर, दिशः = दिशातर्फ, वीक्षेत = हेर्नू, पृष्ठतः पछाडि तर्फ, परावृत्य एव = फर्केर नै, वीक्षेत = हेर्नू ।

बाटामा या यस्तै अन्यत्र हिँड्दाखेरि चारैतिर हेरेर सडकको अवस्था या चोर चकारहरूको कारणले कुनै डर छ कि भन्ने थाहा पाउनुपर्छ किनकि यो शरीर आदिलाई अरुको हितका निमित्त लगाइसकिएको छ । अतः यसको जतनले रक्षागर्नु नै कर्तव्य हुन आउँछ । त्यसमा अगाडि या दायाँ-बायाँ हेर्दा औद्धत्य (चञ्चलता) आदिबाट चोटपटक नलागोस् भन्ने हेतुले अडिएर हेर्नु पर्छ भने पछाडि हेर्दाखेरि फर्केरै हेर्नुपर्छ ।

सरेदपसरेद् वापि पुरः पश्चान्निरूप्य च ।
एवं सर्वास्ववस्थासु कार्यं बुद्ध्वा समाचरेत् ॥३८॥

हिँड्दा, भाग्दा अगाडि र पछि पनि बुझेर नै
सवै अवस्थाहरूमा कार्य जानेर गर्नु है ॥३८॥

अन्वयार्थ : पुरः= सरेद् = अघि वढोस्, वा अपि = अथवा, पश्चाद् अपसरेद् = पछाडि हटोस् तापनि, निरूप्य = निरूपण गरेर मात्र गरोस्, एवं = यस्ता प्रकारले, सर्वासु अवस्थासु = सवै अवस्थाहरूमा, कार्यं वुद्ध्वा = कामलाई वुझेर, समाचरेत् = आचरण गरोस् ।

अघि बढ्दा या कुनै खतरा, खाडल आदि देखेर पछि हट्दा पनि राम्रोसँग हेरेर निश्चित गरेर मात्र हिँड्ने गर्नुपर्छ । यसरी जेजस्तो परिस्थितिमा पनि आफ्नो र अरुको हित-अहित विचार गरेर कस्तो गर्नुपर्ने हो, त्यो बमोजिस गर्नुपर्छ ।

कायेनैवमवस्थेयमित्याक्षिप्य क्रियां पुनः ।
कथं कायः स्थित इति द्रष्टव्यं पुनरन्तरा ॥३९॥

शरीर यस्तो हुनु छ भनी काम गरी पुन:
कस्तो शरीर छ भनी विचमा हेर्नु पर्दछ ॥३९॥

अन्वयार्थ : कायेन = शरीर, एवम् = यसरी अवस्थेयम् = अवस्थित हुनुपर्छ भन्ने, इति = यस्तो गरी, क्रियां आक्षिप्य = काम काज थालेपछि, पुन: = फेरि, काय: = शरीर, कथं स्थित: = कसरी रहेकोछ भन्ने, इति = यस्तो कुरा, पुन: अन्तरा = फेरि फेरि विचविचमा, द्रष्टव्यं = हेर्नुपर्छ ।

शरीरका मुख्य चार ईर्यापथ (अवस्था) हुन्छन् । तिनीहरू बस्नु, उभिनु, हिंड्नु र सुत्नु हुन् । यिनीहरूमध्ये शरीर कुन ईर्यापथमा छ भन्ने कुराको होश राखी आफ्ना अन्य क्रियाकलाप अर्थात् पढ्नु, लेख्नु आदि गर्न थाल्नुपर्छ । त्यसो गरेपछि फेरि बिचबिचमा आफ्नो शरीरको होश राखेर त्यो अघिको ईर्यापथमै छ कि छैन याद गर्नुपर्छ । यदि रहेनछ भने त्यसलाई त्यही ईर्यापथमै ल्याउनुपर्छ या जुन ईर्यापथमा पाईयो त्यसकै होश राख्न थाल्नु पर्छ । यसरी बीचबिचमा आफ्नो कायको प्रत्यवेक्षण (याद गर्ने काम) गरिराख्नु पर्छ ।

निरूप्यः सर्वयत्नेन चित्तमत्तद्विपस्तथा ।
धर्मचिन्तामहास्तम्भे यथा बद्धो न मुच्यते ॥४०॥

चित्तरूपी मत्ता हात्ती बाँध्नू हेरी प्रयत्नले
धर्मचिन्तन खम्बामा जसबाट न उम्कियोस् ॥४०॥

अन्वयार्थ : चित्तमत्तद्विप: = चित्तरूपी मत्ता हात्ती, सर्वयत्नेन = सम्पूर्ण प्रयत्नले, तथा निरूप्य: = त्यसरी निरूपण गरिनु पर्छ (निरीक्षण गरिनुपर्छ), यथा = जसरी, धर्मचिन्तामहास्तम्भे = धर्मको चिन्तन गर्नुरूपी ठूलै खम्वामा, वद्ध: = वाँधिएर, न मुच्यते = मुक्त हुँदैन, अर्थात् छुट्न पाउदैन ।

चित्त एक मत्ताहात्तीजस्तै हो । जसरी मत्ताहात्तीलाई ठूलै खम्बामा बाँधेपछि मात्र उम्किन सक्दैन अन्यथा भागिहाल्छ, त्यस्तै यो चित्तलाई पनि सबै किसिमको प्रयासबाट धर्मचिन्तनरूपी ठूलो

खम्बामा बाँधेर राख्नुपर्छ तब मात्र उम्किन पाउँदैन। त्यो भनेको धर्मको चिन्तनद्वारा चित्तलाई हरेक क्षण हेरिराख्नु हो जसले गर्दा यो अकुशल पथमा भागेर जान नपाओस्। यहाँ धर्म भनेको आफनो र अरुको हित गर्नु नै हो।

कुत्र मे वर्तत इति प्रत्यवेक्ष्यं तथा मनः।
समाधानधुरं नैव क्षणमप्युत्सृजेत् यथा ॥४१॥

कहाँ छ मेरो मन यो भनी हेर्नु त्यसैगरी
एक् छिन पनि समाधिको धुरो छोड्दैन जेगरी ॥४१॥

अन्वयार्थ : मे मन: = मेरो मन, कुत्र वर्तते इति = केमा छ भन्ने यस्तो, तथा प्रत्यवेक्षं = त्यसरी अवलोकन गर्नुपर्छ कि, यथा = जसरी, क्षणम् अपि = एक क्षण पनि, समाधानधुरं = समाधिको धुरलाई, नैव उत्सृजेत् = छोड्दै नछोडोस्।

मेरो मन अहिले कुन आलम्बनमा छ भन्ने कुरा बारम्बार हेरिराख्नुपर्छ। यदि पहिलेकै आलम्बनमा छैन र अर्कै आलम्बनमा पुगेको छ भने त्यसलाई पहिलेकै आलम्बनमा फर्काउनुपर्छ। यसरी बारम्बार यस्तो प्रयासपूर्वक स्मृति र सम्प्रजन्यको प्रयोग गरिराख्नुपर्छ कि चित्त एक छिन पनि समाधिको धूरबाट बाहिर जान नपाओस्। त्यसकारण साधकले समाधिको लागि जतिखेर पनि स्मृति-सम्प्रजन्यशील भैरहनुपर्छ।

भयोत्सवादि सम्बन्धे यद्यशक्तो यथासुखम्।
दानकाले तु शीलस्य यस्मादुक्तमुपेक्षणम् ॥४२॥

भय, उत्सवका वेला नसके सजिलो गर
दान गर्दा शीलको त उपेक्षा गर्नु उक्त छ ॥४२॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, भयोत्सवादिसम्बन्धे = भयको या उत्सवको अवस्थामा, अशक्त: = सकेन भने, यथासुखम् = आफ्नो सुविधा अनुसार गरे हुन्छ, यस्मात् = किनकि, दानकाले तु = दान गर्ने वेलामा त, शीलस्य = शीलको, उपेक्षणम् = उपेक्षा हुन्छ भन्ने, उक्तम् = वताइएको छ।

आगोले डढाउनेजस्ता भयावह परिस्थितिमा अथवा त्रिरत्नको पूजा गर्ने खालका महोत्सवहरूमा या यस्तै सत्वहरूको हितका निमित्त गरिएको कुशल कार्यमा उत्साहले गर्दा चित्तलाई समाधि या आफ्नो आलम्बनबाट हट्न नदिई रोक्न नसक्ने भएमा कुनै आपत्ति छैन। त्यसवेला जे सजिलो छ त्यही गरे हुन्छ। किनकि शील भन्दा दान तल्लो हो तापनि दान गरेको क्षणमा शीलको ख्याल नगरे पनि हुन्छ। एकै क्षणमा दुवैको या धेरैको अभ्यास गर्ने क्षमताको अभावले गर्दा त्यसमा केही आपत्ति हुँदैन। आर्य अक्षयमतिसूत्रमा भनिएको छ, *"दानकाले शीलोपसंहारस्योपेक्षा।"*

यद् बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ततोऽन्यन्न विचिन्तयेत्।
तदेव तावन्निष्पाद्यं तद्गतेनान्तरात्मना ॥४३॥

जे जानी गर्न शुरु भो त्यहाँ अर्को नसोच्नु है
त्यो नै सक्नु पर्छ तव मन त्यस्मै दिएर नै ॥४३॥

अन्वयार्थ : यद् वुद्ध्वा = जे जानेर, कर्तुं आरव्धं = गर्न शुरु गरियो, ततः = त्यसभन्दा, अन्यत् = अर्को, न विचिन्तयेत् = सोच्ने काम नगर्नू, तावत् = त्यतिञ्जेल, तदेव = त्यसैलाई नै, तद्गतेन = त्यसमै लगाइएको, अन्तरात्मना = मनले, निष्पाद्यम् = सम्पन्न गर्नुपर्छ ।

युक्ति (तर्क), आगम (बुद्धवचन), कल्याणमित्र या गुरुको वचन र आफ्नो क्षमतालाई विचार गरेर ठीक लागेपछि जुन कर्म गर्न शुरु गरिन्छ, त्यसपछि अर्को कुरा सोच्नुहुँदैन । यहाँ ती कर्म भनेका ध्यान, अध्ययन आदि हुन् । त्यो सम्पन्न नहोउञ्जेल पूरापूर त्यसमै मन लगाएर गर्नुपर्छ । त्यो समाप्त नहुँदै अर्को कार्यमा मन लग्नु र त्यसलाई त्यत्तिकै छोड्नुहुँदैन ।

एवं हि सुकृतं सर्वमन्यथा नोभयं भवेत् ।
असम्प्रजन्यक्लेशोऽपि वृद्धिं चैवं गमिष्यति ॥४४॥

यसरी मात्र सब् हुन्छ नत्र हुन्न दुबै पनि
असम्प्रजन्यक्लेशै नै बढ्दै जानेछ बेसरी ॥४४॥

अन्वयार्थ : एवं हि = यसरी नै, सर्वम् = सबै, सुकृतं भवेत् = राम्रोसँग सम्पन्न हुन्छ, अन्यथा = नत्र भने त, उभयं = दुवै नै, न भवेत् = हुदैन । एवं = त्यसरी त, असम्प्रजन्यक्लेशोऽ पि = असम्प्रजन्यक्लेश पनि, वृद्धिं गमिष्यति = वढ्दै जानेछ ।

यसरी मात्र सबै कामहरू सिद्ध हुन्छन् । अन्यथा एउटा पनि पूरा नहुँदै अर्कोतिर मन लैजाने र अर्को थाल्ने, त्यो पनि पूरा नगर्दै अर्को थाल्ने हो भने थालिएको काम पनि सिद्ध हुँदैन भने थालिनेवाला काम पनि पूरा हुँदैन । बरु झन् असम्प्रजन्य क्लेश (बेहोशी) बढ्दै जान्छ किनकि यस्तो प्रवृत्ति चञ्चलताको हो र त्यसले बेहोशी बढाउँछ ।

नानाविधप्रलापेषु वर्तमानेष्वनेकधा ।
कौतूहलेषु सर्वेषु हन्यादौत्सुक्यमागतम् ॥४५॥

विभिन्न गफ गर्दाको कुतूहल अनेकन
हुँदा सबै अवस्थामा औत्सुक्य शान्त पार्नु है ॥४५॥

अन्वयार्थ : सर्वेषु = सबै, नानाविधप्रलापेषु = विभिन्न प्रकारका गफगाफहरू भएका ठाउँमा, अनेकधा = अनेक प्रकारका, कौतूहलेषु = कौतूहलहरू, वर्तमानेषु = भएका वेलामा, आगतम् = आएको, औत्सुक्यं = उत्सुकतालाई, हन्यात् = शान्त पार्नू याने नाश गर्नू ।

विभिन्न प्रकारका गफगाफ चलेका वेलामा या देख्ने सुन्ने आदि अनेक प्रकारका कौतूहल पैदा गर्ने खालका परिस्थितिमा आफू हुँदाखेरि यदि उत्सुकता या चञ्चलपन आयो भने त्यसलाई रोकिहाल्नु पर्छ । आफू त्यस्ता परिस्थितिमा संलग्न हुने तारतम्यलाई नै आउन दिनुहुँदैन ।

मृन्मर्दन-तृणच्छेद-रेखाद्यफलमागतम् ।
स्मृत्वा ताथागतीं शिक्षां भीतस्तत्क्षणमुत्सृजेत् ॥४६॥

माटो मिच्ने, झार् उखेल्ने, कोर्ने वेकामका कुरै
संझी शिक्षा तथागत्का डराई त्यागनु तत्क्षणै ॥४६॥

अन्वयार्थ : मृन्मर्दनतृणच्छेदरेखादि = माटो मल्नु, झार उखेल्नु, रेखाहरू कोर्नु जस्ता खालका, अफलम् = कुनै फल नदिने

कुरा, आगतम् = आएको छ भने (गर्न लागिएको हो भने), ताथागतीं शिक्षां = तथागतको शिक्षालाई, स्मृत्वा = सम्झेर, भीत: = डराएर, तत्क्षणम् = त्यही क्षणमै, उत्सृजेत् = त्याग गरिहाल्नू ।

भूईंमा या फलियाहरूमा विनाकामै रेखाहरू कोर्ने, माटो मिचिराख्ने या खोद्ने, झारहरू उखेलिराख्ने जस्ता कुनै प्रयोजन नभएका कार्यहरूमा हात हाल्न या अन्य काठ आदिका टुक्रालाई प्रयोग गर्न लगियो भने भगवान् तथागतले यी कुराको निषेध गर्नुभएको छ भन्ने संझिनुपर्छ र त्यसको उल्लङ्घन गर्नाले नराम्रो फल भोग्नुपर्छ भन्ने डरले तुरुन्तै छोडिहाल्नुपर्छ ।

अब सम्प्रजन्य बढाउने तरीका निम्न ७ श्लोकद्वारा आचार्य बताउनुहुन्छ-

यदा चलितुकामः स्याद् वक्तुकामो ऽ पि वा भवेत् ।
स्वाचितं प्रत्यवेक्ष्यादौ कुर्याद् धैर्येण युक्तिमत् ॥४७॥

सार्थक सम्प्रजन्य

हिँड्ने इच्छा भएमा या बोल्ने इच्छा भए पनि
आफ्नो चित्त विचारेर धैर्यले युक्त काम् गरोस् ॥४७॥

अन्वयार्थ : यदा = जब, चलितुकाम स्याद् = हिँड्ने इच्छा भएको होस्, वा = अथवा, वक्तुकामो ऽ पि भवेत् = बोल्ने इच्छा भएको होस्, आदौ = सर्वप्रथम, स्वचितं = आफ्नो चित्तलाई, प्रत्यवेक्ष्य = अवलोकन गरेर, धैर्येण = धीरतापूर्वक, युक्तिमत् = युक्तिसंगत कार्य, कुर्याद् = गरोस् ।

आफूलाई हिंड्ने, बोल्ने जस्ता कृयाकलापहरू गर्न इच्छा भयो भने सर्वप्रथम आफ्नो चित्तलाई प्रत्यवेक्षण (हेर्ने, विचार्ने काम) गर्नुपर्छ । अनि मात्र धैर्यपूर्वक के गर्नु युक्तिसंगत हुन्छ, कसरी गर्नु युक्तिसंगत हुन्छ अनि आफूले कसरी गर्न लागियो, त्यो के कति कारणले ठीक या बेठीक छ, सबै विवेकपूर्वक देखेर मात्र त्यही विवेकका आधारमा हिंड्ने आदि कार्यहरू गर्नुपर्छ । यस्तो सम्प्रजन्यलाई सार्थक सम्प्रजन्य भन्दछन् ।

अनुनीतं प्रतिहतं यदा पश्येत् स्वकं मनः ।
न कर्तव्यं न वक्तव्यं स्यातव्यं काष्ठवत्तदा ॥४८॥

आफ्नो चित्त रागयुक्त द्वेषयुक्त भयो भने
गर्नु हुन्न, बोल्नु हुन्न काठझैं रहनु भरे ॥४८॥

अन्वयार्थ : यदा = जहिले, स्वकं = आफ्नो, मन: = मनलाई, अनुनीतं = रागभएको, प्रतिहतं = द्वेषभएको, पश्येद् = देखिन्छ; तदा = त्यसवेला, न कर्तव्यं = केही काम नगर्नू, न वक्तव्यं = केही पनि नवोल्नू, काष्ठवत् = काठको मूढोझैं, स्यातव्यम् = रहनू ।

यदि आफ्नो चित्त रागले मुछिएको या द्वेषले युक्त भएको देखियो भने त्यसवेला हात पाउ चलाउने काममात्र पनि नगर्नू, त्यस्तै एक शब्द पनि नबोल्नू । नत्रभने कायविज्ञप्ति (शरीरको अभिव्यक्ति, हाउ-भाउ आदि) र वाग्विज्ञप्ति (बोलेर बताइने कुरा) दुवै नै क्लेशले युक्त हुनेछन् । त्यसकारण बाहिरी इन्द्रियका व्यापार (कार्य)हरू र विकल्पहरूलाई उपसंहार गरी काठको मूढो ठडिएझैं रहनुपर्छ ।

उद्धतं सोपहासं वा यदा मानमदान्वितम् ।
सोत्प्रासातिशयं वक्रं वञ्चकं च मनो भवेत् ॥४९॥

यदात्मोत्कर्षणाभासं परपंसनमेव वा ।
साधिक्षेपं ससंरम्भं स्यातव्यं काष्ठवत् तदा ॥५०॥

जब चञ्चल,हाँसो, या मद, मानं समेतको
ठगी, कुटिल, ठट्टाको मनमा भाव नै उठ्यो ॥४९॥
त्यस्तै आत्मप्रशंसा या परनिन्दा र गालिको
झगडाको मन भयो भने बन्नू नि काठ झैं ॥५०॥

अन्वयार्थ : *यदा = जव, मनः = मन, उद्धतं = चञ्चल, सोपहासं = उपहासले युक्त, मानमदान्वितं = घमण्ड र मातले युक्त, सोत्प्रासातिशयं = शारीरिकरूपमा अत्यन्तै मजाक गर्ने खालको, वक्रं = वाङ्गो याने कुटिल, वञ्चकं च = ठग्ने प्रवृतिको पनि, भवेत् = होला ।*

यदा = जव, आत्मोत्कर्षणाभासं = आफ्नो गुणको वखानले युक्त, परपंसनमेव = अर्काको दोप देख्ने खालको, साधिक्षेपं = अरुको तिरस्कार (वचनले) गर्ने खालको र, ससंरम्भं = विवाद र झैंझगडाले युक्त होला, तदा = त्यस वेलामा, काष्ठवत् = काठझैं (निश्चल), स्यातव्यम् = रहनुपर्छ ।

जुनवेला चित्तमा सद्धर्म आदिको श्रवण गर्नलाई पनि औद्धत्य याने चञ्चलता या विक्षेप हुन्छ, चित्त ठट्टा गर्ने खालका कुरा गर्नमा उत्सुक छ या गर्व, घमण्ड आदिबाट चित्त फूलेको छ या आफ्नो धर्ममा मात्तिएको छ र ग्राह (पकड) गरेको छ, शरीरद्वारा अरुको खिल्ली उडाउने मूडमा छ, या बाङ्गोटिङ्गो सोच्दैछ या ठग्ने, धोखा दिने प्रवृतिको उदय भएको छ,

अथवा जब चित्तले आफ्ना गुणहरूलाई धेरै देखेर गजक्क परेको छ या अरुको दोष केलाएर निन्दा गर्ने मूडमा छ अथवा अरुलाई तिरस्कारको वचन बोल्ने भावमा छ, या विवाद, झैं-झगडा गर्ने खालको छ भने त्यसवेलामा काठझैं निश्चल भएर रहनुपर्छ ।

लाभसत्कारकीर्त्यर्थि परिवारार्थि वा पुनः ।
उपस्थानार्थिं मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ॥५१॥

लाभ सत्कार या कीर्ति अथवा परिवारको
त्यस्तै सेवा खोज्छ चित्त अतः बस्छु म काठझैं ॥५१॥

अन्वयार्थ : *मे = मेरो, चित्तं = चित्त, लाभसत्कारकीत्यर्थि = लाभ, सत्कार र कीर्ति चाहने, वा = अथवा, परिवारार्थि = परिवारको चाहना गर्ने, वा = अथवा, पुनः = फेरि, उपस्थानार्थि = सेवा सुश्रूपा गराउन चाहने छ, तस्मात् = त्यसो हुंदा, काष्ठवत् = काठझैं, तिष्ठामि = वस्दछु ।*

मेरो चित्तले लाभ खोज्छ, सत्कार चाहान्छ, कीर्तिको अभिलाषा राख्छ, दासदासी आदिले सहित भएको परिवार खोज्दैछ, त्यस्तै उपस्थान अर्थात् तेल मालिश गरिदिने, पाउ दबाउने जस्ता सेवा सुश्रूषा खोज्दछ । त्यसैले म अचेतन काठको मूढोझैं भएर रहन्छु ।

परार्थरुक्षं स्वार्थार्थि परिषत्काममेव वा ।
वक्तुमिच्छति मे चित्तं तस्मात् तिष्ठामि काष्ठवत् ॥५२॥

परार्थमा भई रूखो खोजी स्वार्थ समाजमा
चाहान्छ वोल्न यो चित्त अतः वस्छु म काठझैं ॥५२॥

अन्वयार्थ : मे = मेरो, चित्तं = चित्त, परार्थरुक्षं = परहित गर्नमा रुखो छ, स्वार्थार्थि = आफ्नो हित मात्र गर्नखोज्ने खालको छ, वा= अथवा, परिपत्काम् एव = जनसमूहको चाहना राखेर नै, वक्तुं मिच्छति = वोल्न चाहान्छ, तस्मात् = त्यसो हुनाले, काष्ठवत् = काठको मूढोझैं निश्चल, तिष्ठामि = रहन्छु ।

मेरो चित्त परहितविमुख र स्वार्थपरायण छ, त्यसैले अरूको हित गर्ने कुरामा रूखो बन्छ र आफ्नो स्वार्थ मात्र पूरा गर्न खोज्छ। फेरि जनसमूहको अभिलाषा राखेर धेरैलाई पिछलग्गु बनाउन बोल्न चाहान्छ। त्यसैले म काठझैं अचेतन भएर रहन्छु।

असहिष्ण्वलसं भीतं प्रगल्भं मुखरं तथा।
स्वपक्षाभिनिविष्टं च तस्मात् तिष्ठामि काष्ठवत् ॥५३॥

असहिष्णु र अल्छी छ चोथाले डरपोक नै
ढीठ आफ्नो जिद्दिवाला अतः वस्छु म काठझैं ॥५३॥

अन्वयार्थ : (मे मनः = मेरो मन) असहिष्णुः = सहन नसकने, अलसं =अल्छी, भीतं = भयभीत, प्रगल्भं = धृष्ट (ढीठ) स्वभावको, मुखरं = बढी बोल्ने, तथा = त्यस्तै, स्वपक्षाभिनिविष्टं च = आफ्नो पक्षको बढी आग्रह गर्ने याने जिद्दी गर्ने खालको छ। तस्मात् = त्यसो हुनाले, काष्ठवत् = काठको मूढोझैं, तिष्ठामि = रहन्छु ।

मेरो मन असहनशील, अल्छी, डरपोक, धृष्ट, ढीठ स्वभावको, चोथाले र आफ्नै पक्षको मात्र जिद्दी गर्ने खालको छ। त्यसैले म काठझैं अचल भएर रहन्छु।

एवं संक्लिष्टमालोक्य निष्फलारम्भि वा मनः।
निगृह्णीयाद् दृढं शूरः प्रतिपक्षेण तत् सदा ॥५४॥

यसरी क्लेशले युक्त, व्यर्थकारी भए मन
शूरले प्रतिपक्षैले सधै गर्नू नियन्त्रण ॥५४॥

अन्वयार्थ : शूरः = शूरले, एवं = यस प्रकार, मनः = मनलाई, संक्लिष्टं = क्लेशहरूले ग्रस्त, वा = अथवा, निष्फलारम्भि = निष्फल कुरा गर्न लागेको, आलोक्य = देखेपछि, तत् = त्यसलाई, सदा = सधै, प्रतिपक्षेण = प्रतिपक्षद्वारा, दृढं = दृढतापूर्वक, निगृह्णीयात् = जित्नू या वशमा लिनु पर्छ ।

शूर बोधिसत्वले जुन वेला आफ्नो चित्त क्लेशले भरिन्छ या बेमतलवका क्रियाकलापमा संलग्न हुनथाल्छ त्यही वेला तिनका प्रतिपक्षहरू प्रयोग गरेर ती क्लेश आदिलाई परास्त गर्नुपर्दछ। जस्तै :- राग उत्पन्न भए अशुभभावना त्यसको प्रतिपक्ष हुन्छ। त्यस्तै द्वेष या उपनाह आदिमा मैत्री आदि प्रतिपक्ष हुन्छन्।

उग्रपरिपृच्छासूत्रमा गृहस्थबोधिसत्वलाई बताइएको छ कि "त्यस्ता बोधिसत्वले सुरा-मैरेय-मद्य जस्ता प्रमादस्थान (मात लाग्ने कुरा) हरूसँग अलग भएर रहनुपर्छ। उन्मत्त, मत्त, चपल, चञ्चल, भ्रान्त, बढी बोल्ने, ठाडो (उत्ताउलो) हुने आदिबाट रहित भएर स्मृतिउपस्थान सहित सम्प्रजन्यले युक्त भएर ......।" प्रवजित बोधिसत्वका निमित्त त्यहाँ नै भनिएको छ, "स्मृति भनेको सम्प्रजन्यमा विक्षेप नहुनु हो।" आर्य तथागतगुह्यसूत्रमा देखाइएको छ,"फेरि हे कुलपुत्र, बोधिसत्वको वचन रागयुक्त वा द्वेषयुक्त वा मोहयुक्त वा क्लेशग्रस्त वा क्षणव्याकरण गर्ने वा आफ्नो पक्षको

राम्रो बखान गर्ने वा अरुको पक्षको घटाएर बोल्ने वा आफ्नो वर्णन गर्न अनुकूल भएको वचन वोल्ने या अरुको वर्णन गर्दा प्रतिकूल वचन बोल्ने या प्रतिज्ञा भङ्ग गरेको बताउने या अभिमानका कुरा बताउने खालको हुनुहुँदैन ।" यसरी निष्फल कुराबाट बचेर अनर्थ हुनुबाट आत्मभाव (शरीर आदि) को रक्षा गर्नुपर्छ । त्यसकारण शीलमा राम्रोसँग रहेर त्यसमा धरमरं या हलचल नभएर, शिथिल पनि नभएरै रहनुपर्छ ।

यो सबै एकाग्रचित (समाहित चित्तवाला) को लागि मात्र सम्भव हुन्छ । त्यसकारण शमथ (चित्तको एकाग्रता)को महिमालाई जानेर तात्पर्य बुझी भावना गर्नुपर्छ । यसले शिक्षाहरूमा तीव्र आदर पैदा गर्छ । त्यसले पनि स्मृति राम्रोसँग अडिन्छ । स्मृति उपस्थित छ भने निष्फल कर्महरू गरिंदैन । त्यस्तो व्यक्तिका अनर्थहरू हुँदैनन् । त्यसकारण आत्मभावको रक्षा गर्न खोज्नेले स्मृतिको जरो पत्ता लगाएर सधै स्मृतिउपस्थान सहित रहनुपर्छ । शिक्षासमुच्चयमा पनि बताइएको छ –

तत्रात्मभावे का रक्षा यदनर्थविवर्जनम्
केन तल्लभ्यते सवं निष्फलस्पन्दवर्जनात् ।
एतत् सिध्येत् सदा स्मृत्या स्मृतिस्तीव्रादराद् भवेत्
आदरः शममहात्म्यं ज्ञात्वाऽतापेन जायते (शि.क्ष.का. ७-८.)

त्यसमा आत्मभावको रक्षा भनेको के हो ? अनर्थ हुन नदिनु । त्यो कसरी प्राप्त हुन्छ ? सबै व्यर्थका क्रियाकलापहरू त्यागेर । त्यो कसरी सकिन्छ ? सधै स्मृतिबाट मात्र हुन्छ । स्मृति फेरि तीव्र आदर (श्रद्धा)बाट हुन्छ । त्यस्तो श्रद्धा त शमथको माहात्म्य (गुण) बुझेपछि सजिलै आउँछ ।

शमथको माहात्म्य चाहिं आवश्यकता अनुसार यहीं नै पछि बताइनेछ । अब अनर्थ नगर्न के गर्नुपर्छ भन्ने देखाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ –

सुनिश्चितं सुप्रसन्नं धीरं सादरगौरवम् ।
सलज्जं सभयं शान्तं पराराधनतत्परम् ॥५५॥
परस्परविरुद्धाभिर्बालेच्छाभिरखेदितम् ।
क्लेशोत्पादादिदं ह्येतदेषामिति दयान्वितम् ॥५६॥
आत्मसत्ववशं नित्यमनवद्येषु वस्तुषु ।
निर्माणमिव निर्मानं धारयाम्येष मानसम् ॥५७॥

सुनिश्चित सुप्रसन्न धीर सादर गौरव
लज्जा-भय युक्त शान्त, पर सेवामा तत्पर ॥५५॥
वालका स्वविरोधी ती इच्छा बाट नपीडित
'क्लेशले यिनको यस्तो भयो' भन्दै दयान्वित ॥५६॥
पाप रहित कर्मैमा आफ्नै अधिन जो सधैं
बनोटसरि निर्मान त्यस्तो चित्त म लिन्छु है ॥५७॥

अन्वयार्थ : सुनिश्चितं = सन्देह, विपर्यास आदिले रहित भएको, सुप्रसन्नं = सधै प्रीति सौमनस्यले युक्त भएको, धीरं = चञ्चलता नभएको, सादरगौरवम् = आदरले एवं आराध्यहरूमा चित्तको नम्रताले युक्त भएको, सलज्जं = लाजले युक्त, सभयं = डरले युक्त, शान्तं = शान्त, पराराधनतत्परं = अरुको सेवा गर्नको लागि तत्पर ॥

परस्परविरुद्धाभिः = आपसमा विरोध हुने, बालेच्छाभिः = वाल (अज्ञानी) जनहरूका इच्छा आकांक्षाहरू द्वारा, अखेदितम् = पीडित नभएको, एषां = यिनीहरूको, इदं एतद् = यो यस्तो भएको, क्लेशोत्पादाद् इति = क्लेशहरूको उत्पत्तिले गर्दा हो भन्ने यस्तो सोची, दयान्वितम् = दयाले युक्त भएको ॥

नित्यं = सधैं, अनवंद्येषु = पापरहित, वस्तुषु = कुराहरूमा (कर्ममा), आत्मसत्ववशं = आफ्नै अधीन (स्वाधीन) भएको, निर्माणम् इव = वनाइएको जस्तो, निर्मानम् = मानले रहित भएको, मानसंम् = चित्तलाई, एष = मैले, धारयामि = धारण गर्दछु ॥

सन्देह, विचिकित्सा, या विपरीत बुद्धि नभएको, सधै आनन्द र प्रेम एवं सौमनस्य धेरै भइरहेको, धैर्यताले युक्त, आदर र गौरवले युक्त, कुकर्म र शील संवर आदिको त्रुटिप्रति लज्जा भएको, त्यसमै स्खलित भइन्छ कि या चुकिन्छ कि भन्ने डरले युक्त भएको, शान्त याने इन्द्रियहरू नियन्त्रणमा भएको, सत्वहरूको आराधना (सेवा) गर्नमा प्रयत्नशील,

एउटाको मनपर्दो कुरा अर्काको निमित्त विपरीत हुन पुग्ने गरी आपसमा नमिल्ने इच्छा र त्यस अनुसारको मत भएका बाल (अज्ञानी) पृथग्जनहरूको कुराले आफूलाई सन्देहमा या सन्तापमा नपारेको, ती बाल एवं पृथग्जनहरूको त्यस्तो अवस्था पनि क्लेशहरूले गर्दा भएको हो भन्ने ठानी उनीहरूप्रति सधै करुणाले आर्द्र (भिजेको) भएको,

सधै प्रकृति–अवद्य र प्रज्ञप्ति–अवद्य कर्म (दुवै थरीका पापकर्म) बाट रहित भई पुण्य विषयमा पूर्णरूपमा स्वाधीन भएर लाग्न सक्ने, निर्माण गरिएको वस्तु जस्तै सवैतिरबाट मिल्ने गरी निरभिमान अर्थात् मानरहित भएको चित्तलाई म धारण गर्दछु।

यसरी बोधिसत्त्वले मनमा धारण गर्नुपर्छ। अझै तीव्रताकासाथ चित्तरक्षाको लागि यसरी सोच्नुपर्छ –

चिरात् प्राप्तं क्षणवरं स्मृत्वा स्मृत्वा मुहुर्मुहुः।
धारयामीदृशं चित्तमप्रकम्प्यं सुमेरुवत् ॥५८॥

धेरै पछि प्राप्त क्षण सम्झी सम्झी पुनः पुनः
यस्तो निश्चल मेरु झैं गर्छु धारण चित्त म ॥५८॥

अन्वयार्थ : चिरात् = धेरै समयपछि, प्राप्तं = पाइएको, क्षणवरं = उत्तम क्षणलाई, स्मृत्वा स्मृत्वा = सम्झी सम्झी, मुहुःमुहुः = वारम्बार, ईदृशं = यस्ता (माथि बताइएका) गुणहरूले युक्त भएको, सुमेरुवत् = सुमेरु पर्वतझैं, अप्रकम्प्यं = हल्लाउन (विचलित गराउन) नसकिने, चित्तं = बोधिचित्तलाई, धारयामि = धारण गर्दछु ॥

कति समय लगाएर पाएको उक्त उत्तमक्षणलाई मनमा राखेर फेरि फेरि पनि त्यो चित्तलाई राम्रोसँग स्थिर बनाइराख्छु। जसरी पर्वतराज सुमेरुलाई वायु, आँधी जस्ता कुराले हलचल गराउन सक्दैनन् त्यसै गरी ममा उत्पन्न भएको यो चित्तरत्नलाई पनि काम आदि वितर्करूपी वायुहरूले हल्लाउन नसक्ने गरी स्थिर पार्दछु।

यसरी यी शील र समाधिद्वारा चित्तकर्मको परिनिष्पत्ति हुन्छ अर्थात् सिद्धि हुन्छ। यी शील र समाधि एक आपसमा बढावा दिने खालका हुन्छन्। चित्तपरिकर्मलाई नै बोधिसत्वशिक्षा भनिएको हो। चित्तपरिकर्म भनेको चित्तलाई अधीनमा पार्नु हो।

फेरि त्यसलाई निश्चित गर्न कायप्रत्यवेक्षाकै कुरा आचार्यले गर्नुहुन्छ–

गृध्रैरामिषसंगृद्धैः कृष्यमाण इतस्ततः ।
न करोत्यन्यथा कायः कस्मादत्र प्रतिक्रियाम् ॥५९॥

मासुका लोभी गिद्धैले लुछिँदा त सवैतिर
गर्दैन केही यो काय, अहिले किन गर्नु र ? ॥५९॥

__अन्वयार्थ :__ आमिपसंगृद्धैः = मासुका लोभी, गृध्रैः = गिद्धहरूले, इतस्ततः = चारैतिरवाट, कृष्यमाणः = लुछिइराखेको, कायः = शरीरले, अन्यथा = अरु कुनै प्रतिक्रिया, न करोति = गर्दैन भने, कस्मात् = के कारणले, अत्र = अहिले यहां, प्रतिक्रियाम् = प्रतिक्रियां गर्नुपर्‍यो त ?

शरीरको त कहीं पनि व्यापार हुँदैन किनभने यसको आफैमा कुनै सामर्थ्य नै हुँदैन । अन्यथा, चित्तरहित भएको मृतकाय (लाश)ले पनि लोभी गिद्धहरूले चारैतिरबाट लुछिराख्दा कुनै प्रतिक्रिया गर्नुपर्थ्यो । तर केही पनि गर्दैन किनकि त्यसको सामर्थ्य नै छैन । त्यसो हुनाले चित्तको परिकर्म नै मूल साध्य कुरा हो । त्यो सिद्ध भए पछि शरीर त विना प्रयासै ठेगानमा आइहाल्छ किनकि त्यो परतन्त्र छ ।

यसरी सर्वथा अनुपयोगी यो कायमा किन सापेक्षता (आफ्नो भन्ने भाव) कायम राख्नुपर्‍यो भन्ने देखाउन भन्नुहुन्छ –

रक्षसीमं मनः कस्मादात्मीकृत्य समुच्छ्रयम् ।
त्वत्तश्चेत् पृथगेवायं तेनात्र तव को व्ययः ॥६०॥

किन गर्छस् मन रक्षा यो थुप्रो आफनू भनी
तँभन्दा भिन्न यो हो त हुन्छ तेरो र के खति ? ॥६०॥

__अन्वयार्थ :__ मनः = हे मन, इमं = यो, समुच्छ्रयम् = थुप्रो (एक ठाउंमा चुली लगाएको)लाई कस्माद् = के कारणले, आत्मीकृत्य = आफ्नैजस्तो बनाएर, रक्षसि = रक्षा गर्छस् ? चेद् = यदि, अयं = यो, त्वत्तः = तँदेखि, पृथग् एव = भिन्दै नै हो भने, तेन = त्यसले, तव = तेरो, अत्र = यहां, कः व्ययः = के हानि हुन्छ र ?

हे मन, तैँले यो हड्डी, मासु आदिको थुप्रोलाई 'आफू' अर्थात् आत्मा – आत्मीय संझेर किन रक्षा गर्छस् । यो त अनात्म हो । जब तँदेखि यो भिन्दै हो भने तेरो के विग्रिन्छ यसले ? र यसलाई आफ्नो सम्झेर यसरी मरिमेट्ने गर्छस् ?

न स्वीकरोषि हे मूढ काष्ठपुत्तलकं शुचिम् ।
अमेध्यघटितं यन्त्रं कस्माद् रक्षसि पूतिकम् ॥६१॥

स्वीकार्दैनस् मूर्ख ! किन काठको पुतली सफा
फोहोरले बनेको यो यन्त्रलाई बचाउँछस् ॥६१॥

__अन्वयार्थ :__ हे मूढ = हे मूर्ख मन ! शुचिम् = सफा, काष्ठपुत्तलकं = काठको पुतली (कठपुतली) लाई त, न स्वीकरोपि = (आफ्नो भनी) स्वीकार्दैनस् भने, अमेध्यघटितं = फोहोर मयलले बनेको, पूतिकम् = दुर्गन्धयुक्त, यन्त्रं = यो यन्त्रलाई, कस्मात् = के कारणले, रक्षसि = रक्षा गर्दछस् ?

हे मूर्ख मन ! तँ त यति अन्धकारमा फसिस् कि सफा कठपुतलीलाई आफू र आफ्नो भनेर स्वीकार्न सक्दैनस् परन्तु मयल र फोहरबाट बनेको सड्ने स्वभाववाला गन्हाउने यो यन्त्रलाई 'म' र 'मेरो' भन्ने भावले रक्षा गरिराखेको छस्, त्यसमा के कारण छ ?

इमं चर्मपुटं तावत् स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु ।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥६२॥

छालाको खोल यो आफ्नै बुद्धिले अलगै गर
अस्थिपञ्जरदेखि मासु छुट्याउ प्रज्ञाशस्त्रले ॥६२॥

अन्वयार्थ : तावत् = पहिले, इमं = यो, चर्मपुटं = छालाको खोललाई, स्वबुद्ध्या एव = आफ्नै बुद्धिद्वारा, पृथक् कुरु = अलग गरेर त हेर, मांसं = मासुलाई, अस्थिपञ्जरतः = अस्थिपञ्जरदेखि, प्रज्ञाशस्त्रेण = प्रज्ञारूपी हतियारले, मोचय = मुक्त गराउत ।

अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः ।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय ॥६३॥

हाडलाई अलग्याई हेर मज्जा त भित्र छ,
के छ त्यस्तो सार कुरा गर आफै विचार त ॥६३॥

अन्वयार्थ : अस्थीनि अपि = हाडहरूलाई पनि, पृथक् कृत्वा = अलग गरेर, अन्ततः =भित्रतिर, मञ्जानं = मज्जालाई, पश्य = हेर, अत्र = यहाँ, किं सारं = के सार, आस्ति इति = छ भन्ने यस्तो स्वयं एव = आफै नै, विचारय = चिन्तन गर ।

पहिले आंफ्नो बुद्धिले चिन्तन गर्दै शरीरबाट छालाको थैलो निकालेर हेर । त्यो छाला नै हो, कुनै तत्वसार त्यसमा छैन । अब बच्यो मासुको शरीर । त्यसलाई पनि प्रज्ञारूपी शस्त्रले छुट्याएर अस्थिपञ्जरबाट भिन्दै गराउं । मासुको थुप्रो त 'तिमी' या 'तिम्रो' भन्ने केही होइन । रह्यो अस्थिपञ्जर ! अस्थिपञ्जरमा पनि, हाडभित्र मासी छ, त्यसलाई हेर । यसरी आफै विचार गर कि सारभूत कुरा तिमीले के भेटायौ त ? विज्ञजनलाई यहाँ उपलबध हुने युक्तिसंगत तत्व केही पनि छैन । अतः स्वयंले यस्तो विचार गर ।

एवमन्विष्य यत्नेन न दृष्टं सारमत्र ते ।
अधुना वद कस्मात् त्वं कायमद्यापि रक्षसि ॥६४॥

यसरी यत्नले खोज्दा पनि देखिन्न सार क्यै
वताऊ अब के कारण गर्छौं रक्षा त कायकै ॥६४॥

अन्वयार्थ : एवम् = यसरी, यत्नेन = प्रयत्नपूर्वक, अन्विष्य = खोजेर पनि, ते = तिम्रो, सारम् = सारभूत वस्तु, अत्र = यहाँ, न दृष्टं = देखिएन । अधुना = अब, वद = भन कि, कस्मात् = के कारणले, त्वम् = तिमीले, अद्य अपि = आज पनि, कायं = शरीरलाई, रक्षसि = रक्षा गर्दछौ ?

यसप्रकार मिहेनत गरेर अन्वेषण गर्दा पनि तिम्रो सारभूत कुरा त केही भेटिएन । अब पनि तिमीले त्यसैगरी यो कायको रक्षा किन गर्छौं, लौ भन ? यसैगरी विद्वान्ले पनि यो शरीरमा म, मेरो भन्ने भ्रमले यसको देखभाल गर्दैनन् ।

त्यसो भएपनि यसको केही उपादेयता त छ भन्ने ठान्ने हो भने-

न खादितव्यमशुचि त्वया पेयं न शोणितम् ।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यति ॥६५॥

फोहोर यो खानु हुन्न, रगतै पेय छैन रे
न आन्द्रा चूस्न लायक् छन् के गर्ला यो शरीरले ॥६५॥

अन्वयार्थ : अशुचि = अपवित्र (फोहोर) कुरा; त्वया = तिमीले, न खादितव्यम् = खान लायक छैन, शोणितं = रगत पनि, न पेयम् = पिउन लायक छैन, अन्त्राणि = आन्द्राहरू, न चूषितव्यानि = चुस्न लायक छैनन्, (अनि) कायेन = शरीरले, किं करिष्यति = के गर्ला त ?

शरीरको उपयोगिता केही छैन । तिमीले यस्तो फोहर, मयल खान सक्दैनौ । यो रगत पनि पीउन मिल्दैन । त्यस्तै आन्द्राहरू पनि तिमीले चुस्ने कुरा आएन । अनि के कामको रह्यो त यो शरीर ? यसले भरें तिमीलाई के देला त ?

अन्य प्रयोजन नभए पनि यसको रक्षा गर्नै पर्ने देखियो त ? होइन --

युक्तं गृध्रशृगालादेराहारार्थं तु रक्षितुम् ।
कर्मोपकरणं त्वेतन्मनुष्याणां शरीरकम् ॥६६॥

रक्षा गर्नु त स्यालै र गिद्धको भोजनै न हो
मनुष्यको यो शरीर कर्मसाधन मात्र हो ॥६६॥

अन्वयार्थ : मनुष्याणां = मनुष्यहरूको, एतत् = यो, शरीरकम् तु = शरीर त, कर्मोपकरणं = कर्मको साधन हो, (नत्रभने यसलाई) रक्षितुं तु = रक्षा गर्नु त, गृध्रशृगालादे : = गिद्ध र स्याल आदि पशुहरूको, आहारार्थं = भोजनका निमित्त, युक्तम् = उपयुक्त छ ।

मनुष्यको यो शरीर कर्मसाधन भएकोले त्यसको सिद्धिका निमित्त याने उत्तम कर्मद्वारा आफ्नो र अरूको हित सिद्ध गर्नको लागि नै यसको बचावट गर्नुपर्ने हो । अन्यथा यसको रक्षा गरिराख्नु त केवल गिद्ध र स्यालको आहारको लागि मात्र उपयोगी हुन्छ । त्यसमा पनि त्यति आसक्ति गर्नुहुँदैन । किनकि -

एवं ते रक्षतश्चापि मृत्युराच्छिद्य निर्दयः ।
कायं दास्यति गृध्रेभ्यस्तदा त्वं किं करिष्यसि ॥६७॥

त्यसैगरी बचाए नि निर्दयी मृत्युले चुँडी
देला गिद्धहरूलाई अनि के गर्दछौ तिमी ॥६७॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी, रक्षत: = रक्षागर्ने भएका, ते = तिम्रो, कायं = शरीरलाई, निर्दय: = दया नभएको, मृत्यु: = मृत्युले, आच्छिद्य = चुंडालेर, गृध्रेभ्य: = गिद्धहरूलाई, दास्यति = दिने छ । तदा = त्यसवेला (तिमीले), किं करिष्यसि = के गरौला ?

त्यही सोचेर रक्षा गरिराख्यौ भने पनि निर्दयी कठोर मृत्युले कुनै दिन थाहै नपाइने गरी तिम्रो भनिएको शरीरलाई छिनेर तिनै गिद्ध र स्यालहरूलाई दिइहाल्नेछ । अनि त्यसवेला तिमीले के गर्न सक्छौ ? केही लाग्दैन । अतः त्यसरी रक्षा गर्दा पनि धेरै जोड दिएर गरिराख्नु बेकार हो ।

त्यो पनि ठीकै छ परन्तु भोजन र ढाक्ने एकसरो लुगोले मात्र भए पनि बचाउनु त पर्‍यो नि किनकि यसले भृत्यले (नोकर या सेवक) झैं साधनको काम गरेको छ भन्ने सोच्ने हो भने-

न स्थास्यतीति भृत्याय न वस्त्रादि प्रदीयते ।
कायो यास्यति खादित्वा कस्मात् त्वं कुरुषे व्ययम् ॥६८॥

नटिक्ने नोकरैलाई दिँदैनन् वस्त्र आदि त
काय जानेछ खाएर किन गर्छौ तिमी व्यय ॥६८॥

अन्वयार्थ : न स्थास्यति = रहने छैन (स्थायी रूपले नवसिराख्ने), इति = यस्तो खालको, भृत्याय = नोकरलाई, वस्त्रादि = लुगाफाटा आदि, न प्रदीयते = दिइदैन भने, कायः = यो शरीरले त, खादित्वा = खाएर, यास्यति = जानेछ (छोडेर), त्वं = तिमीले, कस्मात् = के कारणले, व्ययम् कुरुषे = खर्च गर्दछौ ?

यदि नोकरजस्तो ठानेर यो कायबाट आफूले केही सेवा लिइने (कर्मसाधन भएकोले) भएको हुँदा खान लाउन त दिनै पर्‍यो भन्ने हो भने पनि पछि छोडेर जाने, धेरै समयसम्म नबस्ने खालको नोकर हो भन्ने थाहा पाएपछि बुद्धिमान्हरूले पहिले नैं त्यही बमोजिमको होशियारी अपनाइहाल्छन् याने त्यस्तो नोकरलाई वस्त्र आदि दिंदैनन् । यो कायले त खाउञ्जेल तर मारेर एकदिन सुट्टुक्कै आफूलाई छोडिहाल्छ । यो त निश्चित छ । त्यसो भएपछि पनि किन यसका निम्तिमा व्यर्थ खर्च गरिराख्छौ त, हे मन ?

त्यसोभए के यसलाई अबदेखि विदा दिइहाल्ने र अहिल्यै त्यागिदिने त ? भन्ने प्रश्न छ भने त्यसो गर्नु त हुँदैन -

दत्त्वास्मै वेतनं तस्मात् स्वार्थं कुरु मनो ऽधुना ।
न हि वैतनिकोपात्तं सर्वं तस्मै प्रदीयते ॥६९॥

ज्यालादारी गराएर स्वार्थ पूरा गरेस् मन !
सवै कमाई नोकरको दिंदैनन् त्यसलाई नै ॥६९॥

अन्वयार्थ : मनः = हे मन, अधुना = अहिले, अस्मै = यसलाई (कायलाई), वेतनं दत्त्वा = तलव दिएर, तस्मात् = त्यसवाट, स्वार्थं कुरु = आफ्नो कार्य सिद्ध गर, हि = किनकि, वैतनिकोपात्तं = ज्यालादारले कमाएको, सर्वं = सम्पूर्ण कुरा, तस्मै = त्यसलाई नै, न प्रदीयते = दिने गरिंदैन ॥

अतः हे मन, यो शरीरलाई मजदूरजस्तो गराएर तलब दिने गरी राख । अर्थात् यसको कर्मको मूल्य जति हो त्यति मात्र यसलाई दिएर आफ्नो प्रयोजन सिद्ध गर । यसले नै सबै कमाएको हुनाले सबै यसलाई नै दिनुपर्‍यो भन्ने ठान्नु पनि मिल्दैन । किनकि काम गर्ने मजदूरले कमाएको जति सबै त्यसलाई नै दिने चलन छैन । त्यस बिचको कमिशन त अर्कै काम मिलाउने व्यक्तिले खान्छ । अथवा त्यसको आयकर उसले राज्यलाई तिर्नुपर्छ । त्यस्तै यो शरीरलाई तैंले काममा लगाएकोले यसको केही अंशले यसलाई धानिराखेर बाँकी कमिशन अंशले अथवा आयकर अंशले तेरो र अरुको लोकोत्तर हित सम्पादन गर्ने कार्यमा लगा । यही नै न्याय हो । अतः -

काये नौबुद्धिमाधाय गत्यागमननिश्चयात् ।
यथाकामङ्गमं कायं कुरु सत्त्वार्थसिद्धये ॥७०॥

कायलाई डुंगा ठानी आधारै वारपारको
इच्छानुसार चल्ने नै बना सत्वार्थसिद्धिको ॥७०॥

अन्वयार्थ : (हे मन) गत्यागमननिश्रयात् = जाने आउने आधार जस्तो भएको हुनाले, काये = शरीरमा, नौवुद्धिम् आधाय = नाउ (डुंगा)को दृष्टि लिएर, कायं = यो कायलाई, सत्वार्थसिद्धये = सत्वहरूको हित गर्नका निमित्त, यथाकामङ्गमं = इच्छा अनुसार चल्ने, कुरु = बना ।

हे मन, यो शरीर भनेको प्रवृत्ति र निवृत्तिको याने संसारमा आइराख्ने र संसारबाट पार लाग्ने यात्राको आधारभूत साधनजस्तो हो । अतः यसलाई संसारबाट तार्ने डुँगा जस्तो मात्र सम्झेर सत्वहरूको हितका निमित्त आफ्नो इच्छा अनुसार यो डुँगालाई जता लग्नुपर्ने हो त्यतैतिर जानसक्ने बना ।

यसरी काय प्रत्यवेक्षाद्वारा त्यसको स्वभाव र उपयोग पनि विचार गरिसकेपछि कायको प्रयोजन निश्चित भैसकेकोले उपसंहारको रूपमा आचार्य भन्नुहुन्छ -

**एवं वशीकृतस्वात्मा नित्यं स्मितमुखो भवेत् ।
त्यजेद् भृकुटिसंकोचं पूर्वभाषी जगत्सुहृत् ॥७१॥**

यसरी वशमा ल्याई आफूलाई हँसिलो गरा ।
नखुम्च्याई आँखिभौं र आफै सोध्ने, जगंत्सखा ॥७१॥

अन्वयार्थ : एवम् = यसरी, वशीकृतस्वात्मा = आफ्नो काय र चित्तलाई वशमा लिएको छंदो, नित्यं = सधै, स्मितमुखः भवेत् = हँसमुख हुनू, भृकुटिसंकोचं = आँखीभौं खुम्च्याउने काम, त्यजेत् = त्यागिदिनू, पूर्वभापी = पहिले नै सोध्ने वन्नू, जगत्सुहृत् = जगत्कै मित्र बन्नू ।

यसप्रकार आफ्नो काय र चित्तलाई वशमा गरिसकेंकाले सधै आफ्नो मुहारलाई प्रसन्न राख्नुपर्छ। त्यस्तै आँखिभौ खुम्च्याउने जस्ता कार्य गर्नुहुँदैन, जसले आफ्नो र अरुको पनि प्रसन्नतालाई हानि पुऱ्याउँछ । अन्य अतिथि आदि आफ्नो सामु आउँदा आफैले नै उसलाई सोध-पुछ गर्नुपर्छ, स्वागत भलाकुसारी आदि बोल्नु पर्छ र उसलाई सन्तोष दिलाउनुपर्छ। उसले सोधेपछि मेरो वाक्य फुटाउँला भन्ने ठान्नुहुँदैन। आफू सम्पूर्ण जगत्कै अकारणमित्र याने विना कुनै कारण पनि अरुको हित गर्ने कल्याणमित्र बन्नुपर्छ ।

त्यस्तै अनर्थक कुराहरू नगरियोस् भन्ने सन्दर्भमा आचार्य भन्नुहुन्छ -

**सशब्दपातं सहसा न पीठादीन् विनिक्षिपेत् ।
नास्फालयेत् कपाटं च स्यान्निःशब्दरुचिः सदा ॥७२॥**

हतारमा शव्द गर्दै पीर्का आदि न फ्याँकनू
त्यस्तै ढोका नलाउनू शान्तिकामी सदा हुनू ॥७२॥

अन्वयार्थ : पीठादीन् = पीर्का आदि वस्तुहरूलाई, सशब्दपातं = आवाज आउने गरी, सहसा = हतारमा या झ्वाट्टै, न विनिक्षिपेत् = फ्याँक्ने (या राख्ने) काम नगर्नू, कपाटं च = ढोका पनि, न आस्फालयेत् = खोल्ने, लगाउने नगर्नू (शव्द आउने गरी या हतारमा), सदा =सधै, निः शव्दरूचिः = शव्द नभएको मनपराउने, स्यात् = हुनू ।

आफू बसेका पीर्का या यस्तै अन्य सामानहरू राख्दा या ओसार्दा पनि आवाज नआउने गरी विस्तारै गर्नुपर्छ । ढोका खोल्ने बन्द गर्ने पनि त्यसै गरी शान्तपूर्वक गर्नुपर्छ । अर्थात् सधैं शब्द, होहल्ला आदि नभएको शान्त वातावरण र व्यवहारको पारखी बन्नुपर्छ । यसो गर्नाले के गुण हुन्छ त भन्ने हो भने –

वको विडालश्चौरश्च निःशब्दो निभृतश्चरन् ।
प्राप्नोत्यभिमतं कार्यमेवं नित्यं यतिश्चरेत् ॥७३॥

विरालो, चोर बकुलो नबोली शान्त भै हिँडी
खोंजेको पाउँछन् त्यस्तै व्रतीले पनि गर्नु है ॥७३॥

अन्वयार्थ : वक: = वकुला, विडाल = विरालो र चौरश्च = चोर पनि, नि:शब्द: = आवाज न निकालीकन, निभृत: = शान्तपूर्वक, चरन् = घुम्दै, अभिमतं कार्यं = खोजेको कुरा, प्राप्नोति = प्राप्त गर्दछन्, यति: = कार्य सिद्ध गर्ने व्रत लिएको सज्जनले पनि, नित्यं = सधै, एवं = यस्तै प्रकारले, चरेत् = विहार गर्नुपर्छ ।

जसरी बकुलो, बिरालो, चोर आदिले आफ्नो कार्यलाई चुपचाप शान्त र अनुद्धत भई विचरण गरेर मात्र सिद्ध गर्नसकेका हुन्छन् त्यस्तै ब्रतधारी साधु सज्जन (बोधिसत्त्व) ले पनि त्यसैगरी शान्त र मौन रही आचरण गर्नुपर्छ र मात्र कार्य सिद्ध हुन्छ ।

परचोदनदक्षाणामनधीष्टोपकारिणाम् ।
प्रतीच्छेच्छिरसा वाक्यं सर्वशिष्यः सदा भवेत् ॥७४॥

उपदेश दिने दक्ष हितैषी नभने पनि
तिन्को वाक्य लिनू शिर्मा सवैको शिष्य नै बनी ॥७४॥

अन्वयार्थ : परचोदनदक्षाणां = अरुलाई प्रेरणा दिन सिपालु भएका, अनधीष्टोपकारिणाम् = नभने पनि अरुलाई उपकार गरिदिने स्वभाव भएकाहरूको, वाक्यं = वचनलाई, शिरसा = शिरोपर गरी, प्रतीच्छेत् = ग्रहण गर्नू, सदा = सधै, सर्वशिष्य: = सवैको शिष्यजस्तो, भवेत् = हुनू ।

अरूका शंका–उपशंका हटाई पछुतो, पश्चात्तापलाई शान्त पार्दै उपदेश र शिक्षा, विनय आदि बुझाउन र प्रेरणा दिनसक्ने, एवं अरुले विन्ती नगर्दै पनि तिनीहरूको उपकार गरिराख्ने स्वभाव भएका पुरुषहरूको हितैषी वचनलाई सधैं शिरले धारण गर्नू । उनीहरूप्रति आफ्नो चित्तलाई कलुषित गराउने या अपमान गर्ने काम कहिल्यै नगर्नू । सबै सत्वहरूमा गुरुको गौरव देखेर सबैबाट सबै उत्तम कुरा सिक्नू ।

सुभाषितेषु सर्वेषु साधुकारमुदीरयेत् ।
पुण्यकारिणमालोक्य स्तुतिभिः सम्प्रहर्षयेत् ॥७५॥

हित बोल्ने सवैमा नै साधुवाद दिनू सधै
पुण्य गर्नेलाई देखी स्तुतिले खुशि पार्नु है ॥७५॥

अन्वयार्थ : सर्वेषु सुभाषितेषु = सवै सुभाषितहरूमा, साधुकारम् = साधु, साधु भन्ने साधुवाद (धन्यवाद), उदीरयेत् = उच्चारण गर्नू, पुण्यकारिणम् = पुण्य गर्नेलाई, आलोक्य = देखेपछि स्तुतिभि: = स्तुति प्रशंसाहरूले, सम्प्रहर्षयेत् = प्रसन्न पार्नू ।

अर्काको गुण बढाउने र हित गर्ने खालका वचनलाई सुभाषित भन्दछन्। कसैले त्यस्ता वचनहरू बोल्यो भने उसले राम्रो बोल्यो, धन्य हो, साधु, साधु भनी त्यसको अनुमोदन गर्ने शब्दहरू दिलदेखि नै उच्चारण गर्नू। त्यस्तै कुनै कुशल कर्म गर्नेलाई देखियो भने पनि 'तपाइं धन्य हुनुहुन्छ, राम्रो गर्नुभयो' भनी उसको प्रशंसा र स्तुति गरेर उसलाई प्रोत्साहन गर्नू।

परोक्षं च गुणान् ब्रूयादनुब्रूयाच्च तोषतः।
स्ववर्णे भाष्यमाणे च भावयेत्तद्गुणज्ञताम् ॥७६॥

परोक्षमा भन्नु गुण, अनुवाद त खूशि भै
आफ्नो गुण भनेमा त सोच्नू गुण बुझ्यो भनी ॥७६॥

अन्वयार्थ : गुणान् = गुणहरूलाई, परोक्षं = उ सामु नभएको वेला, ब्रूयात् = वताउने गर्नू, तोषतः = प्रसन्नतापूर्वक, अनुब्रूयात् च = अनुवाद त गरे हुन्छ , स्ववर्णे = आफ्नो गुण, भाष्यमाणे = भनिनलागेको छ भने, तद्गुणज्ञताम् = त्यो भन्नेवालाले गुण जानेको रहेछ भन्ने कुराको मात्र, भावयेत् = भावना गर्नू, (आफू नफुल्नू)।

अरुका गुणहरू साँच्चिकै छन् भने पनि उसको सामुन्ने ती गुणहरू धेरै नबताउनू, उसको अनुपस्थितिमा मात्र बताउनू अन्यथा कसैले काउलो पारेको या फुर्क्याएको या वकवास मात्र गरेको भन्ने सम्झिन्छन्। त्यस्तै अरुले उसको सामु उसका गुणहरू बताइरहेको हो भने त उसकै अनुवाद (सही थाप्ने) गरेर उसकै साम्‌ पनि गुण बताए हुन्छ। त्यसो नगर्ने हो भने यसलाई मन परेनछ भन्ने ठानेर उसले आफ्नो चित्तमा दोष पैदा गर्न पनि सक्छ। फेरि कसैले आफ्नो सम्‌ या परोक्षमा गुणको पक्षपाती भएर प्रसन्नतापूर्वक आफ्नो गुण बखान गरिदिनथाल्यो भने आफ्नो चित्तलाई फुल्न र घिरौंला जत्रो नाक हाल्न नदिई त्यो गुणग्रही व्यक्तिकै गुणको अनुरागलाई मनमा लिइराख्नुपर्छ। भन्न खोजेको के हो भने उसले गुण बुझ्छेछ भन्ने मात्र सोच्नुपर्छ।

सर्वारम्भा हि तुष्टयर्थाः सा वित्तैरपि दुर्लभा।
भोक्ष्ये तुष्टिसुखं तस्मात् परश्रमकृतै र्गुणैः ॥७७॥

तुष्टिका निम्ति हुन् सारा धनले पाइँदैन त
अतः तुष्टिसुखै भोग्छु अर्काको गुणबाट म ॥७७॥

अन्वायार्थ : सर्वारम्भाः = सबै उपक्रमहरू, तुष्टयर्था हि = तुष्टिका निमित्त नै हुन्, सा = त्यो, वित्तैरपि = धनहरूवाट पनि, सुदुर्लभा = प्राप्त गर्न सकिँदैन, तस्मात् = त्यसकारणले, परश्रमकृतैः = अरुले गरेको परिश्रमबाट आएका, गुणैः = गुणहरूद्वारा नै, तुष्टिसुखं = तुष्टिको सुखलाई, भोक्ष्ये = भोग्नेछु।

सबै प्रकारका सत्वहरूका अर्थात् हीन, मध्यम र उत्तम सबै दर्जामा पर्ने प्राणीहरूका जेजस्ता कार्यहरू प्रारम्भ गरिन्छन् ती सबै खालका कार्यहरूको एक मात्र लक्ष्य निश्चय पनि आत्मसन्तुष्टि प्राप्त गर्नु हो जाहाँ सबै दुःखहरूको प्रहाण (नाश) हुन्छ। फेरि जति धन सम्पत्ति खर्च गरे पनि त्यस्तो सन्तुष्टि प्राप्त गर्न सकिँदैन। अतः अरुको गुण थाहा पाएर, सुनेर पनि मैले त्यो सन्तुष्टिको भोग गर्न पाउनु त धेरै नै सजिलो भयो, किनकि ती गुणहरू आर्जन गर्न मैले कहिल्यै कुनै प्रयास गरिन। अरुले प्रयासबाटै ती गुणहरू प्राप्त गरेका हुन्। तिनीहरूको श्रवण गर्नाले मात्रै पनि मैले त्यो सन्तोष

प्राप्त गर्न पाए अरु के चाहियो ? त्यति अमूल्य सन्तुष्टि आफ्नो हात लागिसक्यो ।

यसरी अर्काको गुण सुनेपछि रूखो बन्ने, जल्ने गर्नुभन्दा त्यसबाटै झन सन्तोष लिन सिक्नुपर्छ । किनकि –

न चात्र मे व्ययः कश्चित् परत्र च महत् सुखम् ।
अप्रीतिदुःखं द्वेषैस्तु महद् दुःखं परत्र च ॥७८॥

यहाँ कुनै खर्च छैन, ठूलो सुख परत्रमा
अप्रीति दुःख द्वेषैले ठूलै दुःख परत्रमा ॥७८॥

अन्वयार्थ : अत्र = यहाँ, मे =मेरो, कश्चित् = कुनै, व्ययः = खर्च, नास्ति = हुँदैन भने, परत्र च = परलोकमा पनि, महत् सुखं = ठूलै सुख हुन्छ, द्वेषैस्तु = (अरुको गुण देखेर) द्वेष गर्नाले त, अप्रीतिदुःखं = मसँग प्रेमभाव नहुने दुःख (यहाँ भैरहन्छ भने), परत्र च = परलोकमा पनि, महद् दुःखं = ठूलो दुःख हुन्छ ।

अरुको गुणानुमोदन गर्नाले यहाँ कुनै नोक्सानी या खर्च व्यहोर्नुपर्ने पनि होइन भने परलोकमा पनि त्यो कुशलमूलले गर्दा धेरै सुख हुन्छ । परन्तु यहाँ त्यसको डाड र इर्ष्याले गर्दा द्वेष गरें भने यहीं पनि मेरो मित्रता र प्रीति भन्ने कुरा कसैसँग बन्न सक्दैन र कष्टै भैरहेको हुन्छ भने परलोकमा पनि त्यो अकुशलमूलले गर्दा निकै ठूलो दुःख भोग्नुपर्ने हुन्छ ।

अब बोली, हेराइ आदि कस्तो हुनुपर्छ भन्ने कुरा बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ –

विश्वस्तविन्यस्तपदं विस्पष्टार्थं मनोरमम् ।
श्रुतिसौख्यं कृपामूलं मृदुमन्दस्वरं वदेत् ॥७९॥

विश्वस्त, सुव्यवस्थित पद, स्पष्टार्थका मिठा
सुन्न राम्रो, कृपायुक्त, बोल्नू मन्द मृदुस्वर ॥७९॥

अन्वयार्थ : विश्वस्तविन्यस्तपदं = विश्वस्त र व्यवस्थित पद भएको, विस्पष्टार्थं = स्पष्टसँग अर्थ बुझिने, मनोरमम् = मनोहर, श्रुतिसौख्यं = सुन्दाखेरि आनन्द लाग्ने, कृपामूलं = करुणाले सारभूतरूपमा प्रभावित गरेको, मृदुमन्दस्वरं = क़ोमल र मन्दस्वरको वचन, वदेत् = वोल्नू ।

छल कपट आदि केही नहुनाले विश्वास गर्न योग्य खालका, पदहरूको क्रम पनि सुव्यवस्थित ढंगले मिलेका, अर्थ पनि स्पष्टसँग बुझिने खालका, मनलाई आनन्द दिने र सुन्दाखेरि पनि तृप्ति आउने, रागआदि पैदा गर्नुको साटो करुणाको सारले भरिएका कोमल शब्दहरू मधुर स्वरले बोल्ने गर्नुपर्छ । कडा स्वरमा पनि बोल्नुहुँदैन भने कठोर शब्दहरू पनि प्रयोग गर्नुहुँदैन । त्यस्तै –

ऋजु पश्येत् सदा सत्वाँश्चक्षुषा सम्पिबन्निव ।
एतानेव समाश्रित्य बुद्धत्वं मे भविष्यति ॥८०॥

सोझै हेर्नु सत्वलाई आँखाले नै पिए सरी
यिन्कै आश्रयले मेरो होला वुद्धत्व नै भनी ॥८०॥

अन्वयार्थ : सदा = सधै, सत्वान् = प्राणीहरूलाई, एतानेव = यिनीहरूलाई नै, समाश्रित्य = आश्रय गरेर, मे = मेरो, वुद्धत्वं = वुद्धता, भविष्यति = हुनेछ भनेर चक्षुपा = आँखाले, सम्पिवन् इव = पिउँदै गरेको हो कि जस्तो गरेर, ऋजु = सोझै

हिसावले, पश्येत् = हेर्नुपर्छ,

सत्वहरूलाई तिर्खाएको व्यक्तिले जल ग्रहण गरे जसरी सधै प्रेमले भरिएका आँखाले सजिलो र सरल भावले हेर्नुपर्छ। हेराइमा राग, द्वेष, मोह आदि हुनुहुँदैन। यी सत्वहरू अत्यन्त उपकारक हुन् किनभने यिनीहरूको आश्रय लिएर मात्र दुर्लभ बोधिलाई प्राप्त गर्न सक्नेछु। त्यो सोचेर हेर्नुपर्छ।

वोधिसत्वले गर्ने एकमात्र काम सत्वहरूको अर्चना गर्नु हो अर्थात् सत्वहरूलाई हृदयदेखि नै खुशी पार्नु हो। धर्मसंगीतिसूत्रमा पनि बताइएको छ कि सत्वहरूलाई प्रसन्न पार्ने किसिमले हेर्नुपर्छ याने हेर्दा नै उनीहरू प्रसन्न होऊन्। किनकि सत्वाराधन बाहेक बोधिसत्वले गर्नुपर्ने अर्को कुनै कर्म छैन। बोधिसत्वको धर्मसंगीति भनेकै सत्वपरिपाक हो। यिनीहरुको हितगर्दा फल पनि ठूलो हुन्छ।

सातत्याभिनिवेशोत्थं प्रतिपक्षोत्थमेव च।
गुणोपकारिक्षेत्रे च दु:खिते च महच्छुभम् ॥८१॥

श्रद्धाविश्वासले होस् या, आएको प्रतिपक्षले
गुणोपकारि क्षेत्रैमा, दु:खीमा छ ठूलो शुभ ॥८१॥

अन्वयार्थ : सातत्याभिनिवेशोत्थं = निरन्तरको श्रद्धा र विश्वासवाट गरिएको, प्रतिपक्षोत्थं च = प्रतिपक्षभावनावाट उत्पन्न भएको, गुणोपकारिक्षेत्रे = गुणक्षेत्र र उपकारिक्षेत्रमा गरिएको, दु:खिते च = दु:खीहरूमा गरिएको (पुण्य कर्म) पनि, महच्छुभम् = धेरै नै शुभ (कुशल) हुनपुग्छ।

निरन्तर गरिएको, भित्रदेखि नै श्रद्धा जागेर गरिएको या तीव्र प्रसन्नताले गरिएको, क्लेशहरूको प्रतिपक्षस्वरूप शून्यता आदिको भावनाबाट उत्पन्न भएको, बुद्ध – वोधिसत्व आदि गुणक्षेत्रहरूमा गरिएको, माता पिता आदि उपकारिक्षेत्रहरूमा गरिएको र दीन दु:खीआदि दु:खक्षेत्रप्रति गरिएको सानोतिनो शुभकर्म पनि अति धेरै कुशल अर्थात् धेरै पुण्यको हेतु हुनपुग्छ। त्यसकारण यस्ता उत्तम अप्रमेय पुण्यकर्महरू गर्नु बोधिसत्वको लागि निकै लाभदायी हुन्छ र त्यही नै सत्वाराधन पनि हो। त्यस्तै –

दक्ष उत्थानसम्पन्नः स्वयङ्कारी सदा भवेत्।
नावकाशः प्रदातव्यः कस्यचित् सर्वकर्मसु ॥८२॥

सिपालु र जाँगरिलो आफै गर्ने सधै हुनू
गर्ने मौका कसैलाई नदिनू काम आफनू ॥८२॥

अन्वयार्थ : सदा = सधै, दक्ष: = सिपालु, उत्थानसम्पन्न: = जाँगरले युक्त, स्वयंकारी = आफैले नै गर्ने, भवेत् = हुनू, सर्वकर्मसु = सवै कर्महरूमा, कस्यचित् = कसैलाई पनि, अवकाश: = मौका, न प्रदातव्य: = दिनुहुँदैन॥

सधै आफू उत्साहसम्पन्न एवं उद्योगी भएर काम गर्न सिपालु बन्नुपर्छ। प्रत्येक काम आफैले नै गर्न सक्नुपर्छ र गर्ने बानी हुनुपर्छ। आफ्ना कुनै काम पनि अरुलाई गर्ने मौका दिनुहुँदैन, स्वयं आफै गर्नुपर्दछ।

उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः।
नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुतः ॥८३॥

दान पारमिता आदि पछिका अझ श्रेष्ठ छन्
त्यसै नत्यागनु श्रेष्ठै त नत्र आचार सेतु हुन् ॥८३॥

अन्वयार्थ : दानपारमितादय: = दान आदि पारमिताहरू, उत्तरोत्तरत: = झन् झन् पछाडिका, श्रेष्ठा: = उत्तम दर्जाका हुन्छन्, इतरार्थं = अन्य तल्लो तहका पारमिताको निमित्त, श्रेष्ठाम् = उच्चतहका पारमितालाई, नत्यजेत् = त्याग नगर्नू, अन्यत्र = अरु अवस्थामा त, आचारसेतुत: = आचारको बाँध सम्झेर काम गर्नू।

दान आदि छ पारमिताहरूमा दानपारमिताभन्दा शीलपारमिता श्रेष्ठ हुन्छ र शीलपारमिताभन्दा क्षान्तिपारमिता श्रेष्ठ हुन्छ। यसैगरी पछाडिका झन् झन् श्रेष्ठ हुँदै जान्छन्। त्यसकारण अगाडिको पारमिता पूरा गर्न लागेको निहुँमा पछाडिका श्रेष्ठतर पारमिताहरूलाई त्यागनुहुँदैन। परन्तु सधैं त्यस्तो मात्र हुनुपर्छ भन्ने छैन। अगाडिको पारमिता भ्रष्ट हुने या त्यसको विपरीत आचरण हुने स्थानमा भने पछाडिकोभन्दा त्यसलाई त्रुटि हुन नदिनुमा जोड दिनुपर्छ। किनकि बोधिसत्वहरूका निमित्त आचारको रक्षा गर्नु नै महत्त्वपूर्ण हुन्छ। बोधिसत्वको आचार नै शिक्षाहरूको संवर लिनु र त्यसबाट कुशलरूपी जलको बाँध बाँधेर संरक्षण गर्नु हो। त्यो पूरा गर्न र त्यसको क्षय हुन नदिन जे उपयुक्त हुन्छ त्यो बुझेर ती पारमिताहरूको पूरण र संवरको संरक्षण गर्नुपर्छ।

यसरी सम्भार पूरा गर्न खोज्नेले करुणापरक बनेर सबै काम गर्नुपर्छ। जस्तै -

एवं बुद्ध्वा परार्थेषु भवेत् सततमुत्थित:।
निषिद्धमप्यनुज्ञातं कृपालोरर्थदर्शिन: ॥८४॥

यो बुझेर परार्थैमा सधैं उद्यत नै हुनू
कृपालु अर्थदर्शीले निषिद्धै पनि गर्दछन् ॥८४॥

अन्वयार्थ : एवं = यसप्रकार, बुद्ध्वा = बुझेर, परार्थेषु = परार्थको निमित्त, सततम् = निरन्तर, उत्थित: = खडा तत्पर, भवेत् = हुनू, कृपालो: = करुणाले युक्त भएका, अर्थदर्शिन: = सत्वहरूको यथार्थ हित देख्नेहरूका निमित्त, निषिद्धम् अपि = निषेध गरिएको कुरा पनि, अनुज्ञातम् = आज्ञा दिइएको छ (अर्थात् गर्न हुन्छ भन्ने आज्ञा छ)।

यसरी कृपालु बोधिसत्वहरूले अरुको हित गर्नको लागि निरन्तर उद्यत भैरहनु पर्छ। त्यसो गर्ने क्रममा यदि निषेध गरिएको कुरा गर्नुपरे पनि गर्नुहुन्छ भन्ने भगवान्को आज्ञा छ। परन्तु त्यो सबैलाई होइन। जसको करुणा र प्रज्ञाको बल धेरै भैसकेको छ उनीहरूले सत्वहरूको अर्थ सिद्ध गर्न प्रज्ञाको माध्यमबाट उचित देखेपछि करुणाको बलले प्रतिषेध गरिएको आचरण गरे पनि दोष लाग्दैन भन्ने तात्पर्य हो। किनकि त्यस अवस्थामा गरिएको आचरण करुणाकै अभ्यास र बोधिचित्तकै संरक्षण हुनजान्छ। त्यसैले संवरमा त्रुटि पनि हुँदैन। भगवान् बुद्धको शासन गतिशील हुन्छ। परन्तु सबैका लागि त्यस्तो नभएर करुणाको अत्यन्त प्रकर्षमा पुगनाले भएको परतन्त्रताबाट एकरस देख्ने र स्वार्थको प्रयोजनबाट पूर्णरूपले विमुख भैसकेका एवं प्रज्ञा र करुणाको बलले परार्थ सिद्ध गर्न उपायकुशल बोधिसत्वहरूको निमित्त मात्र हुन्छ र त्यहाँ कुनै आपत्ति हुँदैन। उपालिपरिपृच्छामा आपत्ति र अनापत्तिको व्यवस्था स्पष्ट पारिएको छ। त्यस अनुसार बुझ्नुपर्छ। त्यस्तै उपायकौशल्य सूत्रमा ज्योतिष्कमाणवाधिकारमा पनि त्यो कुरा बताइएको छ।

अब शिक्षा समुच्चयकारिकामा *"एषा रक्षात्मभावस्य भैषज्यवसनादिभिः"* अर्थात् "आत्मभावको रक्षा औषधि र कपडाबाट गर्नुपर्छ" भने जस्तै भोजन आदि कसरी गर्ने भन्ने बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ –

विनिपातगतानाथव्रतस्थान् सम्विभज्य च ।
भुञ्जीत मध्यमां मात्रां त्रिचीवरवहिस्त्यजेत् ॥८५॥

पतितै र अनाथैको व्रतीको भाग वेगलै
गरी खानू मध्यमात्रा त्रिचीवर बढी दिनू ॥८५॥

अन्वयार्थ : *विनिपातगतानाथव्रतस्थान् = पतित, अनाथ र ब्रह्मचर्य आदिले युक्त व्रतीहरूका निमित्त, सम्विभज्य = भाग छुटयाइसकेर, मध्यमां मात्रां = मध्यम मात्रा, भुञ्जीत = खानू, त्रिचीवरवहिः = त्रिचीवरभन्दा वढी भएको कपडा, त्यजेत् = दिइहाल्नू ॥*

शरीर आदि आत्मभावलाई परार्थमा संलग्न बनाइएकोले औषधी वस्त्र आदिले यसको संरक्षण गर्नुपर्छ । जस्तैः– आर्य रत्नमेघमा बताइएको छ–"भैषज्य (औषधी) दुई प्रकारका हुन्छन् १. सततभैषज्य २. ग्लानप्रत्ययभैषज्य । सततभैषज्य भनेको जीउलाई धान्न आवश्यक पर्ने पौष्टिक पदार्थयुक्त भोजन भात, रोटी आदि हो । ग्लानप्रत्ययभैषज्य भनेको शरीरमा विकार पैदा भएर कार्यसञ्चालन गर्न गाहो भएको बेला उक्त विकारलाई हटाउन प्रयोग गरिने औषधि नै हो । सततभैषज्यको खोजीमा गाउँमा पिण्डपातका निमित्त (भिक्षाटन गर्न) जाँदा पनि बताइएका शिक्षाअनुसार स्मृतिसम्प्रजन्यसहित जानुपर्छ र जो प्राप्त हुन्छ त्यसलाई चारभाग लगाएर एक भाग पतितहरूका निमित्त, दोस्रो भाग अनाथहरूका निमित्त र तेस्रो भाग बह्मचर्य व्रतमा रहनेहरूका निमित्त छुट्याउनु पर्छ । अनि चौथो भाग आफूले खानुपर्छ । त्यसमा पनि धेरै पनि होइन थोरै पनि होइन, मध्यम मात्रामा खानुपर्छ । त्यसरी खाँदा रागसहित भएर खानुहुँदैन, द्वेषसहित भएर खानुहुँदैन, लोभी भएर खानुहुँदैन, केवल यो कायको स्थिति र यसलाई चलाइराख्नको लागि भनेर खानुपर्छ । थोरै खाएमा दुब्लो, कमजोर र रोगी हुने भएकोले कुशल धर्मको अभ्यासबाट पराङ्मुख हुनुपर्ने स्थिति आउँछ भने धेरै मात्रामा खानाले मोटो, अल्छी केही गर्न नसक्ने हुनपुगिन्छ । अतः ठीक मात्रामा पिण्डपात खाएर कुशल पक्षहरूको अभ्यासमा लागिरहनु पर्छ ।"

आर्य रत्नराशिमा पनि बताइएको छ, "खाँदाखेरि यस्तो मनसिकार उत्पाद गर्नुपर्छ कि यो शरीरमा किराका अस्सी हजार कुलहरू छन् । तिनीहरू सबैले यही ओजबाटै सुख आहार प्राप्त गरून् । अहिले यिनीहरूलाई भोजनद्वारा संग्रह गर्छु । बोधि प्राप्त भएपछि फेरि धर्मद्वारा संग्रह गर्नेछु ।" यसप्रकार सम्पूर्ण उपभोग गरिने वस्तुहरूलाई सत्वको निमित्त अधिष्ठित गर्नुपर्छ । नत्रभने –

'आत्मतृष्णोपभोगात्तु क्लिष्टापत्तिः प्रजायते" (शि.स.का. १३)

अर्थात् "आफ्नो तृष्णालाई मेटाउन भोग गर्ने हो भने क्लेशले भरिएको आपत्ति हुन जान्छ ।"

ग्लान (शरीरमा विकृति आई रोग लागेको अवस्था) पनि तीन प्रकारका हुन्छन् – १. यामिक, २. साप्ताहिक, ३. यावज्जीविक । तिनीहरू सबै भिक्षुविनयमा प्रतिपादित गरिएको छ ।

भिक्षुका तीन चीवरहरू र एक पात्र हुनुपर्छ। तीन चीवरमा १. अधोवस्त्र २. उत्तरासङ्ग ३. संघाटी हुन्छन्। तीभन्दा बढी वस्त्र आफूसँग छन् भने कसैले माग्नेवित्तिकै दिइहाल्नुपर्छ। बोधिसत्त्वप्रातिमोक्षमा पनि यही बताइएको छ। परन्तु भगवान्ले तीन चीवरमात्र आफूले सधै राख्नुपर्ने र त्यो पनि दिनु चाहिं नमिल्ने बताउनु भएको छ। किनकि त्यसको पनि त्याग गर्ने हो भने आफ्नो आवश्यकता रहिराख्ने भएकोले अल्पेच्छताको सिद्धि हुन पाउँदैन।

क्षमताभन्दा बढी अतित्याग मात्र पनि गर्नुहुँदैन र आत्मरक्षा पनि गर्नुपर्छ भन्ने देखाउन आचार्य भन्नुहुन्छ –

सद्धर्मसेवकं कायमितरार्थं न पीडयेत्।
एवमेव हिं सत्वानामाशामाशु प्रपूरयेत् ॥८६॥

सद्धर्मसेवकै काय त्यसै पीडा नगर्नु है
यसरी सत्वको आशा चाँडै पूरा छ गर्नु है ॥८६॥

__अन्वयार्थ :__ सद्धमसेवकं = सद्धर्मको सेवा गर्ने, कायं = शरीरलाई, इतरार्थं = अन्य कुराको लागि, न पीडंयेत् = पीडा नदिनू, एवम् एव = यसरी नै, सर्वसत्त्वाना = सम्पूर्ण प्राणीहरूको, आशां = आशालाई, आशु = चाँडै नै, प्रपूरयेत् = राम्रोसँग पूरा गर्नू ॥

सत्पुरुष बोधिसत्त्वहरूको धर्म नै सद्धर्म हो। यो धर्म भनेको प्राणीहरूको लौकिक र लोकोत्तर हित एवं सुखको सम्पादन गर्नु हो। यो शरीर चाहीँ त्यही सद्धर्मलाई पालन गर्ने सेवक भएको हुनाले अन्य सामान्य छोटा मोटा खालका उद्देश्य पूर्तिका निमित्त-यसलाई पीडा दिनु, घोटाउनु राम्रो हुँदैन र त्यसो गर्नु हुँदैन किनकि त्यसो गरियो भने उक्त महान् उद्देश्यपूर्तिमा बाधा आउँछ। यसरी कुरा बुझेर आचरण गर्दै सबै सत्त्वहरूका इच्छा–आकांक्षा र उनीहरूको परम कल्याणको कार्यलाई चाँडै चाँडै पूरा गर्दै जानुपर्छ।

त्यजेन्न जीवितं तस्मादशुद्धे करुणाशये।
तुल्याशये तु तत्त्याज्यमित्यं न परिहीयते ॥८७॥

अत: नत्याग्नु है जीवन दया शुद्ध नभैकन
योग्य आशयमा त्याग्न हुन्छ बिग्रिन्न क्यै तब ॥८७॥

__अन्वयार्थ :__ तस्मात् = त्यसकारणले, करुणाशये = करुणाको आशय, अशुद्धे = अशुद्ध रहँदा सम्म, जीवितं = जीवनलाई, न त्यजेत् = त्याग नगर्नू, तुल्याशये तु = आशय तुल्य याने योग्य भयो भने त, तत् = त्यसलाई (जीवनलाई), त्याज्यम् = त्याग गर्नु हुन्छ, इत्थं = यसो गर्नाले, न परिहीयते = हीन याने भ्रष्ट भइदैन।

अतः यदि करुणाको आशय अशुद्ध छ भने अर्थात् यदि आफ्नो करुणाबाट त्यो त्याग आदि गर्ने सामर्थ्य आइसकेको छैन या आफूले त्यसरी त्याग गर्दा अरु धेरैको परम हित हुने अवस्था छैन भने जीवनलाई त्याग गर्नुहुँदैन।

दान पारमिताको अभ्यासको वेलामा बोधिसत्वले शरीर दान, शिर दान, हात पाउ आदि दान पनि गर्नुपर्छ भनिएको छ। परन्तु यो शरीरले धेरै सत्वराशीहरूको हित गर्न संकिन्छ। अतः

अनावश्यक जोश र उत्साहले गर्दा अपरिपक्व अवस्थामै या आफ्ना आफन्तहरूका निमित्त सानोतिनो स्वार्थमा नै या थोरै व्यक्तिको मामूली हितका निमित्त यो अमूल्य शरीरलाई त्याग गर्नु हुँदैन। त्यसो गर्नाले धेरै प्राणीहरूको हितमा बाधा पुग्नजान्छ। परन्तु यदि आशय शुद्ध भैसकेको छ र आफ्नो त्यागले बहुजनको हित गर्न सक्छ भन्ने पक्का भएको छ भने शरीर आदि त्याग गरे हुन्छ। त्यसो गर्दा आत्महत्या आदिको दोषले बोधिसत्वलाई पतित हुनुपर्दैन। अतः आफ्नो करुणा, बोधिचित्त आदिको परिपाक राम्रो भएको या धेरै प्राणीहरूको परम कल्याण हुने अवस्था छ भने बोधिसत्वले आफ्नो शरीरै पनि दान गर्नुपर्छ। यो त उपायकौशल हो। यसो गर्दा बोधिसत्व सम्वरमा त्रुटि हुँदैन, बोधिमार्गबाट परिभ्रष्ट पनि होइँदैन। यसै पनि यो शरीर आदि (आत्मभाव)लाई पहिले नै सर्वसत्त्वका निमित्त अर्पण गरिसकिएको हो। तर पनि अरुले यसको उपभोग गर्नलाई यसको परिपाक नहोउन्जेलसम्म त यसलाई आफैले नै संरक्षण गरिदिनु पर्छ। यही अभिप्राय हो।

धर्मं निर्गौरवे स्वस्थे न शिरोवेष्टिते वदेत्।
सच्छत्रदण्डशस्त्रे च नावगुण्ठितमस्तके ॥८८॥

गौरव नगर्ने, स्वस्थै भै शिर ढाक्ने र शस्त्र या
छाता, लौरो लिनेलाई नभन्नू धर्मको कुरा ॥८८॥

अन्वयार्थ : निर्गौरवे = गौरव नै नभएकाहरूलाई, स्वस्थे = स्वस्थ हुँदा पनि, शिरोवेष्टिते = शिरलाई वेरेको (फेटा गुथेको), सच्छत्रदण्डशस्त्रे च = छाता, लौरो र हतियार लिएको व्यक्तिलाई, अवगुठितमस्तके = टाउको लपेटेर बसेकालाई पनि, धर्मं = यो सद्धर्म, न वदेत् = नवताउनू ॥

भगवान्‌को धर्म देव र मनुष्यद्वारा पूजित धर्म हो। अतः यदि गौरव बुद्धि नभएकालाई यो धर्म प्रकाश गर्ने हो भने देवताहरूले राम्रो मान्दैनन्। त्यसैले ज्यथाभावी तरीकाले यो सद्धर्मको मर्यादा नराखी उपदेश गर्न भगवान्‌ले निषेध गर्नुभएको छ। अतः त्यसरी धर्मोपदेश गर्ने हो भने भगवान्‌को आज्ञा उल्लङ्घन गरेको आपत्ति पनि आइलाग्छ। त्यस्तै स्वस्थ हुँदाहुँदै पनि टाउको बाँध्ने, छाता ओढ्ने, लौरो लिने या हातहतियार बोक्ने व्यक्तिलाई यो धर्म बताउनुहुँदैन। अनि कुनै कपडाले आफ्नो कपाल ढाकेको व्यक्तिलाई पनि सुनाउनुहुँदैन। यदि अस्वस्थ व्यक्ति हो भने त टाउको बाँध्ने, लौरो टेक्ने आदि गरेकै व्यक्ति भए पनि सुनाउँदा दोष हुँदैन। यसैबाट अन्य कुरा पनि उपलक्षित हुन्छन्। जस्तैः उठेको व्यक्तिले सुतेकालाई या बसेकालाई धर्म सुनाउनुहुँदैन। बसेकाले सुतेकालाई या आसनमा नबसेकाले आसनमा बसेकालाई, बाटो छोडेर हिंडेकाले बाटामा हिंडेकालाई, पछाडि हिंडेकाले अगाडि हिंडेकालाई, त्यस्तै अलंकार नलगाएकाले अलंकार पहिरेकालाई पनि धर्म सुनाउनुहुँदैन।

गम्भीरोदारमल्पेषु न स्त्रीषु पुरुषं विना।
हीनोत्कृष्टेषु धर्मेषु समं गौरवमाचरेत् ॥८९॥

उदार गम्भीर यो धर्म छोटामा, पुरुषै विना
स्त्रीमा न भन्नु, हीनै र महा धर्म बराबर ॥८९॥

__अन्वयार्थ :__ गम्भीरोदारं = गम्भीर र उदार भएको यो धर्म अल्पेपु = छोटो वुद्धिवालाहरूमा, न = नवताउनू, पुरुपं विना = पुरुप नभएकावेला, स्त्रीपु = स्त्रीहरूमा, न = नवतछनू , हीनोत्कृष्टेपु धर्मेपु = हीनयान धर्म र महायान धर्म दुवैमा, समं = वरावर, गौरवं = गौरव, आचरेत् = गर्नू ।

यो सद्धर्म अल्पबुद्धि भएकाहरूले र दुर्बुद्धि भएकाहरूले थाहा पाउन नसकिने किसिमले गहिरो भएको हुनाले ‘गम्भीर’ छ भनिएको हो । त्यस्तै अति विस्तृत र व्यापक भएकोले ‘उदार’ छ भनिएको हो । यस्तो गम्भीर र उदारधर्मलाई अल्पबुद्धिभएका असंस्कृत याने असभ्य जनलाई र सीमित उद्देश्य राख्ने याने आफ्नो मुक्ति मात्रलाई जोड दिन चाहने व्यक्तिलाई बताउनुहुँदैन । त्यस्तै एक्लै पुरुषबिना नै बसेका स्त्रीजनहरूलाई पनि नसुनाउनू । परन्तु यदि पुरुष पनि त्यहाँ छ भने केही दोष हुँदैन ।

श्रावकयान (हीनयान) मा बताइएका धर्म र महायानमा बताइएका धर्महरूमा समान किसिमले गौरव गर्नु र चित्तलाई प्रसन्नता दिलाउनुपर्छ । त्यसो नगर्ने हो भने सद्धर्मको अवहेलना हुन्छ ।

नोदारधर्मपात्रं च हीने धर्मे नियोजयेत् ।
न चाचारं परित्यज्य सूत्रमन्त्रैः प्रलोभयेत् ॥९०॥

महायानपात्रलाई नपार्नू हीनयानमा
आचार त्यागी नदिनू सूत्र मन्त्र प्रलोभन ॥९०॥

__अन्वयार्थ :__ उदारधर्मपात्रं = महायानधर्मको अधिकारीलाई, हीने धर्मे = हीनयान धर्ममा, न नियोजयेत् = लगाउने काम नगर्नू (त्यस्तै), आचारं च = आचार (संवर) लाई पनि, परित्यज्य = परित्याग गरेर, सूत्रमन्त्रैः = सूत्र र मन्त्रद्वारा, न प्रलोभयेत् = प्रलोभन दिने काम नगर्नू ।

गम्भीर र उदार महायान धर्मको उपदेश दिन योग्य पात्रलाई लक्षण निमित्त आदिबाट बुझेर श्रावकयान धर्मतिर नलगाउनू याने महायान धर्मकै उपदेश गर्नू । त्यस्तै शिक्षा र संवर अनुसार चल्ने कामलाई त्यागेर सूत्र आदिको पाठ गरेपछि शुद्धि भैहाल्छ या मन्त्र जपे पुगिहाल्छ भन्ने जस्ता प्रलोभनपरक कुरा गरेर धर्म गराउने प्रभाव पार्ने पनि हुँदैन ।

रत्नकूटमा यस्तो भनिएको छ –“अपरिपक्व (समय नआइपुगेका) सत्वहरूमा विश्वास गर्नु (धर्म बताउने काममा) बोधिसत्वको स्खलन हो। पात्रताको रूपमा नआइसकेका अपात्र या कुपात्रहरूलाई यो गम्भीर र उदार बुद्धधर्मको प्रकाश गर्नु बोधिसत्वको स्खलन हो। उदार महायानधर्मका निमित्त योग्य पात्रहरूलाई हीनयानधर्म प्रकाश गर्नु बोधिसत्वको स्खलन हो ।”

आर्य सर्वधर्मवैपुल्यसंग्रहमा सूक्ष्म अनर्थलाई पनि बताइएको छ–“हे मञ्जुश्री ! सद्धर्मको प्रतिपक्षरूपी कर्मावरण ज्यादै सूक्ष्म हुन्छ। हे मञ्जुश्री, जसले तथागतले बताएको धर्ममध्ये कसैलाई राम्रो र कसैलाई नराम्रो संज्ञा दिन्छ त्यसले सद्धर्मलाई आक्षेप गर्दछ, सङ्घ अपवादित हुन पुग्छ । जस्ले ‘यो ठीक छ’ ‘यो बेठिक छ’ भन्छ त्यसबाट स्वयं तथागतको अवमानना हुनजान्छ ।”

दन्तकाष्ठस्य खेटस्य विसर्जनमपावृतम् ।
नेष्टं जले स्थले भोग्ये मूत्रादेश्चापि गर्हितम् ॥९१॥

दतीऊन या खकार खुला फाल्नु छ निन्दित
त्यस्तै भोग्य जल स्थलमा मूत्रादि गर्नु वर्जित ॥९१॥

अन्वयार्थ : *दन्तकाष्ठस्य = दतीउन (काठको), खेटस्य = खकार (थुक) आदिको, अपावृतम् = खुला या नढाकिने गरी गरिएको, विसर्जनम् = विसर्जन, न इष्टं = राम्रो हुँदैन, भोग्ये = चलन चल्तीमा आइरहेको (भोग गर्न योग्य), जले = जलमा र, , स्थले = स्थलमा, मूत्रादेः अपि = पिसाव दिसा आदि गर्नु पनि, गर्हितम् = निन्दित हो ।*

दतीउन गरेको काठ, खकार, थुक, सिंगान आदिलाई खुलारूपमा कहिल्यै पनि विसर्जन गर्नुहुँदैन । त्यसैगरी उपभोग गर्न लायक र चलनमा ल्याइराखिएको जमीनमा एवं पानीमा पिसाव, दिसा आदि गर्नु पनि निन्दित काम हो किनकि यसो गर्दा पनि देवता आदिको अपमान हुने भएकोले अपुण्य नै फल्छ भने मनुष्यमा रोगव्याधि फैलिने हुँदा अनिष्ट नै हुन्छ ।

मुखपूरं नभुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननम् ।
प्रलम्बपादं नासीत न बाहू मर्दयेत् समम् ॥९२॥

मुखभर्दै न खानू है शब्द गर्दै र बाउँदै
नबस्नू खुट्टा फैलाई नमल्नू दुइ बाहु नै ॥९२॥

अन्वायर्थ : *मुखपूरं = मुखभरि कोचेर, सशब्दं = आवाज निकाल्दै, प्रसृताननं = मुख धेरै फैलाएर न भुञ्जीत = नखानू, प्रलम्बपादं = खुट्टा फैलाएर, न आसीत = न वस्नू, बाहू = दुवै हातलाई, समम् = एकैसाथ, न मर्दयेत् = मर्दन (माड्ने काम) नगर्नू ।*

मुखभरिको ठूलो गास हालेर आवाज निकाल्दै मुख फैलाएर खानु हुँदैन। त्यस्तै खुट्टा फैलाई बस्नुहुँदैन । खाट आदिमा बसेको बेला भूईंमा नटेकेर खुट्टा फैलाई बस्नुहुँदैन । दुबै हातलाई सँगसँगै मालिश गर्नुहुँदैन । पालैसँग मालिश गरे केही दोष छैन ।

नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद् यानं शयनमासनम् ।
लोकाप्रसादकं सर्वं दृष्ट्वा पृष्ट्वा च वर्जयेत् ॥९३॥

एक्ली परस्त्रीसँग नै हिंड्ने बस्ने नगर्नू है
लोक प्रसन्न नहुने देख्दा, सोधी नगर्नू है ॥९३॥

अन्वयार्थ : *एकया = एक्ली, अन्यस्त्रिया = अर्काकी स्त्रीसँग, यानं = यात्रा, शयनं = सुत्ने काम, आसनम् = बस्ने काम, नकुर्याद् = नगर्नू, लोकाप्रसादकं = लोकलाई अप्रसन्न पार्ने कुरा, सर्वं = सबै, दृष्ट्वा = देखेर, या पृष्ट्वा च = सोधेर भए पनि, वर्जयेत् = त्यागिदिनू ।*

अर्काकी स्त्री एक्लै छिन् भने उनीसँग सहयात्रा गर्नु (सँगै यात्रा गर्नु) सहशयन गर्नु (सँगै सुत्नु) या सहवास गर्नु आदि कार्यहरू वर्जित छन् । यो प्रव्रजित भिक्षु आदिलाई पनि र गृहस्थलाई समेत उत्तिकैरूपमा लागू हुन्छ । संक्षेपमा भन्दाखेरि मूल आशय के हो भने लोकलाई जुन जुन कुराले अप्रसन्न तुल्याउँछ ती ती कुराहरू बोधिसत्वले यत्नपूर्वक त्यागिदिनुपर्छ । त्यस्ता कर्महरू या त शास्त्र आदिमा र व्यवहारमा के कस्तो गरिन्छ त्यसको आधार लिएर थाहा पाउनुपर्छ या त विज्ञजनहरूसँग सोधपुछ गरेर थाहा पाउनुपर्छ र त्यसबाट बच्ने प्रयत्न गर्नुपर्छ । शिक्षासमुच्चयमा लेखिएको छ –

रत्नमेघे जिनेनोक्त स्तेन संक्षेपसंवरः
येनाप्रसादः सत्त्वानां तद्यत्नेन परित्यजेत् ॥ (शि.स.का. १२)

रत्नमेघमा जिन (बुद्ध) ले छोटकरीमा संवरको बारेमा बताउनुभएको छ। त्यस अनुसार जे गर्दा अरूलांई बेखुशी हुन्छ त्यो सबै त्यागिदिनुपर्छ।

जस्तैः "बोधिसत्वका समुदाचारहरू (आचरणहरू) के के हुन् त ? न बोधिसत्व तल्लो स्थानमा विहार गर्छ न त कुवेंलामा विहार गर्छ। न उसले कुवेलामा चल्छ, न काल(समय) लाई नजान्ने हुन्छ, न स्थान (देश) लाई नजान्ने हुन्छ जसले गर्दा सत्वहरूले उसको नजीकमा अप्रसन्नता (दुःख) अनुभूति गरुन्। उसले त सर्वसत्वहरूको अनुपालन (रक्षा) द्वारा आफ्ना बोधिसम्भारहरूलाई पूरा गर्नको लागि उत्तमरूपको ईर्यापथद्वारा आचरण गर्ने हुन्छ। उ कोमल र मिठो शब्द बोल्ने, विस्तारै बोल्ने, धेरै संसर्ग नगर्ने, विवेकपूर्णभई चल्ने, प्रसन्नताले युक्त मुहार भएको हुन्छ।"

नाङ्गुल्या कारयेत् किञ्चिद् दक्षिणेन तु सादरम्।
समस्तेनैव हस्तेन मार्गमप्येवमादिशेत् ॥९४॥

न बताउनु औंलाले दाहिने हातले पूरा
गरी आदरले मार्ग आदि देखाउनू सदा ॥९४॥

अन्वयार्थ : किञ्चित् = केही कुरा पनि, अङ्गुल्या = एउटा औंलाले, न कारयेत् = नबताउनू, सादरम् = आदरपूर्वक, समस्तेन = पूरै, दक्षिणेन हस्तेन एव = दाहिने हातले नै (बताउनू), एवं = यसै गरी नै, मार्गम् अपि = बाटोलाई पनि, आदिशेत् = देखाउने गर्नू ॥

चोर औंलाजस्तै एक औंलाले कुनै कुरालाई पनि बताउने गर्नुहुँदैन। त्यस्तै देब्रे हातले पनि बताउनुहुँदैन। दाहिने हात पूरै उठाएर आदरपूर्वक बताउने गर्नुपर्छ। बाटो देखाउने काममा पनि यसैगरी नै बताउनुपर्छ। अन्य कुनै गौरवपूर्ण वस्तुलाई देखाउँदा त झन् भन्नै किन पर्‍यो र !

न बाहूत्क्षेपकं कञ्चिच्छब्दयेदल्पसम्भ्रमे।
अच्छटादि तु कर्तव्यमन्यथा स्यादसंवृतः ॥९५॥

सानो कुरामै हातैले उठाई न बोलाउनू
चुड्की, ताली गरे हुन्छ नत्र संवरहीन भो ॥९५॥

अन्वयार्थ : कञ्चित् = कसैलाई पनि, अल्पसम्भ्रमे = सानो प्रयोजनको लागि, बाहूत्क्षेपकं = हातै हल्लाएर, न शब्दयेत् = नबोलाउनू, अच्छटादि तु = चुड्की या तालिको शब्द त, कर्तव्यम् = गराउनै पर्छ, अन्यथा = त्यति पनि नगर्ने हो भने, असंवृतः स्यात् = संवर नै नभएको ठहरिन पुग्नेछ।

सानो तिनो कुरामा कसैलाई बोलाउनुपर्दा हातै झड्काएर बोलाउने चिच्याउने त गर्नुहुँदैन। परन्तु ठूलै प्रयोजन छ र जोड दिएरै बोलाउनुपर्ने नै छ भने त केही दोष छैन। फेरि चुड्की बजाउने, ताली बजाउने जस्ता सांकेतिक रूपबाट कुनै संकेत त दिनै पर्छ, अन्यथा उ संवरहीन हुनपुग्छ र असभ्य एवं असंस्कृत ठहरिन्छ। यसरी गर्नाले औद्धत्य (चञ्चलता)को नियन्त्रण हुनजान्छ किनकि सम्प्रजन्यले आफूलाई नियन्त्रण गरिरहेको हुन्छ।

नाथनिर्वाणशय्यावच्छयीतेप्सितया दिशा ।
सम्प्रजानँल्लघूत्थानः प्रागवश्यं नियोगतः ॥९६॥

नाथ निर्वाण जाँदाझैं शिरानी चाहिए तिरै
गरी सुत्नू होशसहित् छिटै उठ्नू नभन्दिँदै ॥९६॥

अन्वयार्थ : नाथनिर्वाणशय्यावत् = नाथको निर्वाण जाने शय्याको जस्तै गरी, ईप्सितया दिशा = इच्छाएको दिशातिर (शिरानी गरी), जम्प्रजानन् = होश राखेर (सम्प्रजन्यसहित भै), अवश्यं = अवश्यै पनि, नियोगतः प्राग् = कसैले भन्नुभन्दा पहिले नै, लघूत्थानः = चाँडै उठ्ने गरी, शयीत = सुत्नू ।

सुत्ने वेलामा, भगवान्ले महापरिनिर्वाण हुँदाखेरि लिएको मुद्रामा लेटेर आफूले चाहेको दिशातिर शिरानी बनाई सुत्नुपर्छ । यसलाई सिंहासन भन्छन् । यसमा दायाँतर्फ कोल्टो फर्केर याने दाहिने हात तल पर्नेगरी पल्टेर, दाहिने हातलाई खुम्च्याई गालामा राखेर देब्रे हातलाई सीधा तन्काई जाँघमाथि अड्याएर, दाहिने खुट्टामाथि देब्रे खुट्टा खप्टयाई सीधा पसारेर चीवरले शरीरलाई राम्रोसँग ढाकेर स्मृति-सम्प्रजन्यले युक्त भई सुत्नुपर्छ । सुत्दा निद्राको सुख लिनु या पल्टेको सुख लिनु पनि हुँदैन । गढा आलस्य (तन्द्रामा) रहनु पनि हुँदैन । उठ्दाखेरि पनि ढीलो, हाई गर्दै, जीउ तन्काउँदै, अल्छि गर्दै नउठेर तुरुन्तै उठ्ने र कसैले नबोलाउँदै आफै पहिले नै उठिहाल्ने गर्नुपर्छ ।

आचारो बोधिसत्वानामप्रमेय उदाहृतः ।
चित्तशोधनमाचारं नियतं तावदाचरेत् ॥९७॥

आचार बोधिसत्वका असंख्यै छन् भनिन्छ र
चित्त-शोधन आचार अवश्यै पालना गर ॥९७॥

अन्वयार्थ : वोधिसत्वानां = वोधिसत्वहरूका, आचारः = आचरण गर्नुपर्ने कुरा, अप्रमेयः = असंख्य या वताइनसकिने छन् भनी, उदाहृतः = देखाइएको छ, तावत् = त्यसमा, चित्तशोधनम् = चित्तको शोधन गर्ने, आचारं = आचर नै, नियतं = निश्चित छ (त्यही नै), आचरेत् = आचरण गर्नू ।

बोधिसत्वको प्रातिमोक्ष सूत्र आदिमा बोधिसत्वले पालन गर्नुपर्ने आचरणहरू अपरिमित छन्, गनेर साध्य छैन भन्ने देखाइएको छ । त्यसकारण साररूपमा बुझ्दाखेरि चित्त जसरी शुद्ध हुन्छ त्यसरी नै आचरण गर्नुपर्छ । निश्चित रूपमा पालन गर्नुपर्ने आचार त्यही नै हो ।

रात्रिन्दिवं च त्रिस्कन्धं त्रिष्कालं च प्रवर्तयेत् ।
शेषापत्तिशमस्तेन बोधिचित्तजिनाश्रयात् ॥९८॥

दिन रात ती-तीन पल्ट त्रिस्कन्ध सूत्र पढ्नु है
दोप घट्ला भर परे बोधिचित्त र बुद्धकै ॥९८॥

अन्वयार्थ : रात्रिन्दिवं = रातमा र दिनमा, त्रिष्कालं = तीन तीन पटक, त्रिस्कन्धं = त्रिस्कन्ध सूत्र, प्रवर्तयेत् = प्रवर्तन गर्नू, शेपापत्तिशमः = अन्य वाँकी आपत्ति (दोष) हरूको शमन त, तेन = त्यसवाट (त्रिस्कन्ध आवृत्ति वाट) र, वोधिचित्तजिनाश्रयात् = वोधिचित्त र जिनहरूको आश्रयवाट हुन्छ ।

त्रिस्कन्ध भनेका पापदेशना, पुण्यानुमोदना र बोधिपरिणमना हुन् । यिनीहरूलाई दिनमा तीन्

पटक र रातमा पनि तीन पटक दोहोऱ्याउनुपर्छ। विर्सेर, सम्प्रजन्य नभएर या नजानेर गरिने अन्य सामान्यआपत्ति (दोष)हरूको शोधन त त्यसैबाट र बोधिचित्त एवं बुद्धहरूको आश्रय लिनाले हुन्छ।

यसबाट पाप आदि दोषहरूको शोधन कसरी हुन्छ भन्ने वारेमा चतुर्धर्मक सूत्रमा भनिएको छ "हे मैत्रेय, चार कुराबाट बोधिसत्वले जम्मा गरेका पापहरूको शोधन गर्छ। कुन कुन चार कुराबाट ? विदूषणासमुदाचारबाट, प्रतिपक्षसमुदाचारबाट, प्रत्यापत्तिबलबाट र आश्रयबलबाट । त्यसमध्ये, १. अकुशल कर्म गरेपछि त्यसको नराम्रो सार देखेर त्यसलाई निन्दित र घृणित ठान्दै पापदेशना गर्ने काम विदूषणासमुदाचार हो । २. अकुशलको प्रतिपक्ष कुशल कर्म हो, त्यही कुशल कर्म गर्नु प्रतिपक्षसमुदाचार हो अर्थात् पहिले अकुशल गरेको भए पनि कुशल कर्म गर्नको लागि अत्यन्त लागिपर्नु नै प्रतिपक्ष समुदाचार हो। ३. संवरको त्रुटि गर्नेछैन भन्ने प्रतिज्ञा धारण गर्नु प्रत्यापत्तिबल हो । ४. बुद्ध-धर्म-संघको शरणमा जानु र बोधिचित्त नत्याग्नु आश्रयबल हो । बलवान्हरूको भरपर्ने हो भने पापले जित्न सक्दैन । हे मैत्रेय, यी चार धर्महरूद्वारा युक्त भएको बोधिसत्व महासत्वले आफूले जम्मा गरेको पापलाई जित्न सक्छ ।"

बोधिसत्वका गम्भीर(ठूला) र सांना आपत्तिहरूको देशना आर्य उपालिपरिपृच्छासूत्रमा बताइएको छ । त्यसमा पैंतीस बुद्धहरूको सामु आफ्नो पापदेशना आदि गरिन्छ । यस्ता देशनाहरूमा चारै कुराहरूको संयोजन हुन्छ। यी सबै कुराहरू राम्रोसँग विस्तारमा बुझ्नको लागि शिक्षासमुच्चय, गण्डव्यूहसूत्र, सूकरिकावदान् आदिमा हेर्नुपर्छ ।

या अवस्थाः प्रपद्येत स्वयं परवशोऽपि वा ।
तास्ववस्थासु याः शिक्षाः शिक्षेत् ता एव यत्नतः ॥९९॥

स्वाधीन या पराधीन जे अवस्था भए पनि
जे सिक्नुपर्छ यत्नैले सिक्नू शिक्षा जति पनि ॥९९॥

अन्वयार्थ : स्वयं = आफै, वा = अथवा, परवशः अपि = अर्काको अधीनमा भएको भए पनि, या अवस्थाः = जुन अवस्थामा, प्रपद्येत = पुगिन्छ, तासु अवस्थासु = ती अवस्थाहरूमा, याः शिक्षाः = जुन जुन शिक्षाहरू हुन्छन्, ता एव = तिनीहरू नै, यत्नतः = प्रयत्नपूर्वक, शिक्षेत् = सिक्नू ।

परहितको कर्ममा लागदाखेरि आफू स्वाधीन या पराधीन भई जस्तोसुकै अवस्थामा पुगे पनि त्यहाँ जे कुरा सिक्नु र आचरण गर्नुपर्ने हो त्यसलाई बडो प्रयत्नले सिक्ने र पालन गर्ने गर्नुपर्छ ।

न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यन्न शिक्ष्यं जिनात्मजैः ।
न तदस्ति न यत् पुण्यमेवं विहरतः सतः ॥१००॥

कुनै कुरा छैन कहीं नसिक्ने जिनपुत्रले
नहुने पुण्य क्यै छैन यसरी व्यवहारले ॥१००॥

अन्वयार्थ : जिनात्मजैः = जिनपुत्र (बोधिसत्वहरूले), यद् न शिक्ष्यं = जो सिक्नै पर्दैन, तत् किञ्चित् = त्यस्तो केही पनि, न हि विद्यते = छँदै छैन, एवं = यस्ता प्रकारले, विहरतः सतः = विहार गर्ने व्यक्तिको, तद् न अस्ति = त्यस्तो कुरा छैन, यत् न पुण्यम् = जो पुण्य हुँदैन ॥

सर्वाकारज्ञता र सर्ववस्तुज्ञता तत्त्वलाई साक्षात्कार गरेर सबैको हित र सुख सम्पादन गर्न तीव्र उद्योग गर्ने बोधिसत्वहरूका निमित्त सिक्नु नपर्ने कुरा केही पनि हुँदैन। नत्र भने सबै सत्वहरूको हित गर्न सकिँदैन । यसरी व्यवहार गर्ने बोधिसत्वलाई पुण्य नमिल्ने कुनै कृयाकलाप हुँदैन अर्थात् उसले जहाँ जे गर्दा पनि पुण्यसम्भार नै भैरहन्छ ।

पारम्पर्यण साक्षाद् वा सत्वार्थं नान्यदाचरेत् ।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत् ॥१०१॥

परम्पराले सीधै या सत्वार्थ नहुने नगर
सत्वकै निम्तिमा सारा बोधिमा नामना गर ॥१०१॥

अन्वयार्थ : पारम्पर्येण = परम्पराले, वा = अथवा, साक्षात् = प्रत्यक्षै, सत्वार्थं अन्यत् = सत्वको हितभन्दा अर्को, न आचरेत् = आचरण नगर्नू, सर्वं = सबै, सत्त्वानां अर्थाय एव = सत्वहरूको निमित्त नै, बोधाय = बोधप्राप्ति होस् भनी, नामयेत् = परिणामना गर्नू ।

स्वयं आफैले वा अरुको प्रेरणाले वा अरुलाई प्रेरणा दिएर पनि सत्वहरूको हिन नहुने काम नगर्नू। फेरि जे गरिन्छ त्यो सबै सत्वहरूको बोधिप्राप्ति होस् भनी परिणामना गर्नुपर्छ। कुशलमूललाई अनुत्तर सम्यक् सम्बोधिमा परिणामना गर्ने भनेको यही हो। यसले अक्षय अनुत्तर पुण्यसम्भार हुन्छ जो कहिल्यै नाश हुँदैन र अन्तमा बुद्धताप्राप्ति गराएरै छाड्छ ।

सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थे ऽपि न त्यजेत् ।
बोधिसत्वव्रतधरं महायानार्थकोविदम् ॥१०२॥

महायानज्ञ विद्वान बोधिसत्व व्रती भए
त्यस्तो कल्याणमित्रै त नत्याग्नू जीवनै गए ॥१०२॥

अन्वयार्थ : सदा = सधै, बोधिसत्वव्रतधरं = बोधिसत्वव्रत लिएको, महायानार्थकोविदम् = महायानको तात्पर्य राम्रोसँग जानेको, कल्याणमित्रं = कल्याणमित्रलाई, जीवितार्थे ऽपि = जीवनकै निमित्त भने पनि, न त्यजेत् = त्याग नगर्नू ।

अभ्युदय (लौकिक उन्नति) र निःश्रेयस् (मोक्ष) प्राप्ति गराउन सक्ने असाधारण किसिमको बन्धुलाई कल्याणमित्र भन्छन् । अतः बोधिसत्वको व्रत लिएका महायान धर्मको मर्म जान्ने कल्याणमित्रलाई कुनै हालतमा पनि छोड्नुहुँदैन चाहे जीवनै जान्छ कि भन्ने डर किन नहोस् । किनकि कल्याणमित्रको आश्रय लिएकाहरूलाई दुर्गतिमा जानुपर्दैन ।

चतुर्धर्मक सूत्रमा बताइएको छ,"हे भिक्षु हो ! बोधिसत्वले कल्याणमित्रलाई बाँचुञ्जेल कहिल्यै पनि छोड्नुहुँदैन, चाहे जीवनकै प्रश्न किन नउठोस्।" आर्य गण्डव्यूहसूत्रमा आर्य श्रीसम्भवले भन्नुभएको छ,"हे कुलपुत्र, कल्याणमित्रमा आधारित बोधिसत्वहरू दुर्गतिमा खस्दैनन् ।" त्यसमा कल्याणमित्रको बारेमा अति विस्तृत रूपमा प्रशंसा गरिएको छ र आफूलाई रोगी, कल्याणमित्रलाई वैद्य, शिक्षानुशासनलाई औषधि र प्रतिपत्ति(समाधि आदि)लाई रोग निर्मूल भएको संज्ञा दिनू (सम्झिनू) भनिएको छ ।

श्रीसम्भवविमोक्षाच्च शिक्षेद्यद्गुरुवर्तनम् ।
एतच्चान्यच्च बुद्धोक्तं ज्ञेयं सूत्रान्तवाचनात् ॥१०३॥

श्रीसम्भवविमोक्षैमा सिक्नू है गुरुका कृया
यो र वुद्धोक्त अरु ता जान्नू सूत्रान्त नै पढी ॥१०३॥

अन्वयार्थ : श्रीसम्भवविमोक्षात् च = श्रीसम्भवविमोक्ष सूत्रबाट पनि, यद् गुरुवर्तनम् = कल्याणमित्र (गुरु)सँग गर्ने व्यवहारको वारेमा, शिक्षेत् = सिक्नू । एतत् = यो र, अन्यत् = अरु , वुद्धोक्तं च = वुद्धले वताएका कुराहरू पनि, सूत्रान्तवाचनात् = सूत्रान्तहरू पढेर, पढ्न लगाएर, ज्ञेयं = जान्नू ।

आर्य गण्डव्यूहसूत्रमा श्रीसम्भवविमोक्ष नामक सूत्र छ । त्यसमा हेरेर कल्याणमित्रे (गुरु) सँग गर्ने कर्तव्याचारको वारेमा सिक्नू र त्यसबाहेक पनि बुद्धले बताएका अरु धेरै कुराहरू सिक्नुपर्ने हुन्छ । ती कुराहरू सूत्रान्तहरूको अध्ययन गरेर जान्नुपर्छ । जस्तैः- श्रीसम्भवविमोक्ष सूत्रमा *"संचोदकाः कल्याणमित्रा अकरणीयानाम् । सन्निवारकाः प्रमादस्थानात् । निष्कासयितारः संसारपुरात् । तस्मात्तर्हि, कुलपुत्र, एवं मनसिकाराप्रतिप्रस्रब्धेन कल्याणमित्राण्युपसंक्रमितव्यानि । पृथिवीसमचित्तेन सर्वभारोद्वहननापरितसनतया । वज्रसमचितेन अभेद्याशयतया । चक्रवालसमचित्तेन सर्वदुःखसम्प्रवेधनतया । लोकदाससमचित्तेन सर्वकर्मसमादानाविजुगुप्तसनतया । रजोहरणसमचित्तेन मानाभिमानविवर्जनतया । यानसमचित्तेन गुरुभारनिर्वाहनतयां । अश्वसमचित्तेन अक्रुध्यनतया । नौसमचित्तेन गमनागमनापरितसनतया । सुपुत्रसदृशेन कल्याणमित्रमुखवीक्षणतया ।"* भनिएको छ ।

अर्थात् "कल्याणमित्रहरूले गर्न नमिल्ने कुरा नगर्न प्रेरणा दिन्छन्, प्रमादस्थानबाट मुक्त गराउँछन् । संसाररूपी नगरबाट बाहिर निकाल्छन् । त्यसैले हे कुलपुत्र, कल्याणमित्रकहाँ जाँदाखेरि खुशीसाथ यस्तो मन गराएर जानुपर्छ कि सम्पूर्ण भार बोक्नुपर्ने हुनाले पृथिवीसमानको चित्त बनाएर, आशयलाई टुटाउनं नहुने भएकोले वज्रसमानको चित्त बनाएर, सबै दुःखहरूलाई राम्रोसँग वेधन गर्नुपर्ने भएकोले चक्रवाल जस्तो चित्त गराएर, गराएका सबै कामहरू गर्न हिचकिचाउन नहुने भएकोले लोककै दास जस्तो चित्त बनाएर, मान र अभिमानले रहित हुनुपर्ने हुँदा धोबी जस्तो चित्त बनाएर, गह्रौं भार ढुवानी गर्नुपर्ने हुनाले यान (गाडी) जस्तो चित्त बनाएर, रिसाउन नहुने हुनाले घोडाजस्तो चित्त बनाएर, आउने जाने गर्नुपर्ने हुनाले डुँगासमानको चित्त बनाएर, कल्याणमित्रको मुख हेर्नुपर्ने भएकोले सुपुत्रजस्तो भएर जानुपर्छ ।" इत्यादि ।

शिक्षाः सूत्रेषु दृश्यन्ते तस्मात् सूत्राणि वाचयेत् ।
आकाशगर्भसूत्रे च मूलापत्तीर्निरूपयेत् ॥१०४॥

देखिन्छन् सूत्रमा शिक्षा त्यसैले सूत्र वाचनू
आकाशगर्भ सूत्रैमा मूलापत्ति बुझीलिनू ॥१०४॥

अन्वयार्थ : सूत्रेषु = सूत्रहरूमा, शिक्षाः = शिक्षाहरू, दृश्यन्ते = भेटिन्छन्, तस्मात् = त्यसकारणले, सूत्राणि = सूत्रहरू, वाचयेत् = वाचन गराउनू । आकाशगर्भसूत्रे = आकाशगर्भ सूत्रमा, मूलापत्तीः = मूल आपत्तिहरूको, निरूपयेत् = निरूपण गर्नू ।

शिक्षाहरू सूत्रमा भेटिन्छन् । त्यसैले सूत्रहरू वाचन गर्न लगाइराख्नुपर्छ या आफूले पढिराख्नुपर्छ । आकाशगर्भसूत्रमा बोधिसत्वका मूल आपत्तिहरूको बारेमा दिइएको छ, त्यसअनुसार आफूले निरूपण गर्नुपर्छ, बुझ्नुपर्छ र आचरणमा ल्याउनुपर्छ ।

शिक्षासमुच्चयो ऽ वश्यं दृष्टव्यश्च पुनः पुनः ।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः ॥१०५॥

अवश्य नै फेरि फेरि हेर्नू शिक्षासमुच्चय
विस्तारमा सदाचार त्यहाँ देखाइएको छ ॥१०५॥

अन्वयार्थ : पुनः पुनः = फेरि फेरि, शिक्षासमुच्चयः = शिक्षासमुच्चय, अवश्यं = अवश्य पनि, दृष्टव्यः = हेर्नुपर्छ, यस्मात् = किनकि, तत्र = त्यहाँ, सदाचारः = सदाचार (बोधिसत्वको आचार), विस्तरेण = विस्तारपूर्वक, प्रदर्शितः = देखाइएको छ ।

शिक्षासमुच्चलाई बारम्बार हेरिराख्नुपर्छ । किनभने त्यहाँ सदाचारको बारेमा विस्तारमा दर्शाइएको छ ।

सैक्षेपेणाथवा तावत् पश्येत् सूत्रसमुच्चयम् ।
आर्यनागार्जुनबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः ॥१०६॥

अथवा छोटकरीमा हेर्नू सूत्रसमुच्चय
या आर्यनागार्जुनको दोस्रो पनि प्रयत्नले ॥१०६॥

अन्वयार्थ : अथवा = अथवा, तावत् = त्यसको वदला, संक्षेपण = संक्षेपमा, सूत्रसमुच्चयं = सूत्रसमुच्चय, पश्येत् = हेर्नू, आर्यनागार्जुनबद्धं = आर्य नागार्जुनद्वारा रचिएको, द्वितीयं च = दोस्रो (शिक्षासमुच्चय) पनि, प्रयत्नतः = आदरपूर्वक (पश्येत् = हेर्नू) ।

शिक्षासमुच्चय हेर्ने अभ्यास गर्न सकिएन भने पनि छोटकरीमा सबै सूत्रहरूको सार खिचेको 'सूत्रसमुच्चय' भन्ने ग्रन्थ हेर्नू । (त्यो पनि शान्तिदेवले नै लेखेको हो) अनि नागार्जुनले पनि शिक्षासमुच्चय लेख्नुभएको छ, त्यो पनि आदरका साथ हेर्नू किनकि यहाँ नपाइएका कुरा त्यसमा पाइन सक्छन् ।

यतो निवार्यते यत्र यदेव च नियुज्यते ।
तल्लोकचित्तरक्षार्थं शिक्षां दृष्ट्वा समाचरेत् ॥१०७॥

जहाँ निषेध जसको विधान जसको छ त्यो
लोकको चित्त रक्षार्थ गर्नु शिक्षानुसारको ॥१०७॥

अन्वयार्थ : यत्र = जहाँ, यतः = जे कुरावाट, निवार्यते = हटाइन्छ, यद् एव च = जुन कुरा, नियुज्यते = गर्न दिइन्छ, तत् = त्यो, लोकचित्तरक्षार्थं = लोकको चित्तको रक्षा गर्नका निमित्त, शिक्षां दष्ट्वा = शिक्षाहरूलाई हेरी समाचरेत् = आचारण गर्नू ।

सूत्रसमुच्चय या शिक्षासमुच्चयहरूमा जे जे कुराहरूबाट बच्न लगाइएको हुन्छ या जुन कुरा निषेध गरिएको छ, गर्नुहुँदैन भनी बताइएको छ त्यो त्यो नगर्नू । त्यस्तै जे जे गर्नू भनी विधान गरिएको छ ती सबै लोकको चित्त अर्थात् आशयको रक्षा गर्नका निमित्त हो र तिनै शिक्षासमुच्चय जस्ता ग्रन्थहरूमा प्रतिपादित गरेको हेरी त्यस बमोजिमकै आचरण गर्नू । अन्यथा प्रयोजन थाहा नपाएर मूढले जस्तो व्यवहार गर्दाखेरी आपत्तिबाट दूषित भइने हुन्छ ।

यसरी आत्मभाव आदिको शुद्धि कसरी गर्ने भन्ने कुरा बताइयो । जस्तै संक्षेपमा भन्दा शिक्षासमुच्चयमा यसरी बताइएको छ –

आत्मभावस्य का शुद्धिः पापक्लेशविशोधनम्
सम्बुद्धोक्त्यनुसारेण यत्नाभावे त्वपायगः ॥ (शि.स.का. १९)

आत्मभावको शुद्धि भनेको के हो ? पाप र क्लेशहरूको शोधन गर्नु नै हो, जुन सम्बुद्धको आज्ञा अनुसार चलेमा सम्भव हुन्छ । त्यसमा प्रयत्न गरिएन भने अपायगतिमा जानु नैछ ।

फेरि के बताइएको छ भने *'सदास्मृतिसम्प्रजन्यचारिणा भवितव्यंम्'* याने सधैं स्मृति र सम्प्रजन्य सहित भई आचरण गर्नुपर्दछ । स्मृति भनेको त नामले नै स्पष्ट बुझिन्छ । अब सम्प्रजन्य कस्तो हो त भन्ने स्पष्ट पार्न फेरि उपसंहार गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ–

एतदेव समासेन सम्प्रजन्यस्य लक्षणम् ।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः ॥१०८॥

संक्षेपमा यही नै हो लक्षणै समप्रजन्यको
जो काय चित्तावस्थाको होश हो वारवारको ॥१०८॥

अन्वयार्थ : समासेन = समग्रमा (संक्षेपमा), एतद् एव = यही नै, सम्प्रजन्यस्य = सम्प्रजन्यको, लक्षणम् = चिन्ह (लक्षण) हो, यत् जुन, कायचित्तावस्थायाः = काय र चित्तको अवस्थाको, मुहुर्मुहुः = बारम्बार, प्रत्यवेक्षा = होश राखेर हेरिराख्नु हो ।

संक्षेपमा सम्प्रजन्यको लक्षण यही हो कि प्रत्येक ईर्यापथमा काय र चित्तको अवस्था कस्तो छ अवलोन गरिराख्ने । ईर्यापथ भनेका मुख्यरूपमा चार किसिमका हुन्छन् । त्यसमध्ये हिंड्नु, उठ्नु (उभिनु), वस्नु र सुत्नु (पल्टिनु) पर्छन् । यसै भित्र हाम्रा सबै दिनचर्याहरू पर्छन् । छोटकरीमा भन्दाखेरि यसमा आफ्नो शरीर र चित्तको स्थितिलाई होशसहित याद गरिराख्नु नै सम्प्रजन्य हो ।

यी सबै माथि बताइएका कुराहरू अभ्यास गरेर जीवनमा उतार्नका लागि हुन्, केवल रमाइलो भन्दै पढ्नका निमित्त मात्र होइनन् । त्यसैले शान्तिदेव भन्नुहुन्छ–

कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति ॥१०९॥

वोलेर मात्र के हुन्छ ! कायले नै म पढ्छु त्यो
वैद्यशास्त्र पढी मात्रै रोगीको हुन्छ के निको ? ॥१०९॥

अन्वयार्थ : कायेन एव = शरीरद्वारा नै, पठिंष्यामि = पढ्नेछु, वाक्पाठेन तु = वोलीले पढेर मात्र त, किं भवेत् = के हुन्छ र !, रोगिणः = रोगीको निमित्त, चिकित्सापाठमात्रेण = वैद्यशास्त्र पढेर मात्र, किं भविष्यति = के होला ?

यी सबै कुराहरू आफ्नो मनद्वारा बुझेर त्यसपछि तिनीहरूको कायबाटै आचरण गर्न सिकिराख्नु पर्छ । मुखले मात्र ठिक्क पारेर के फल प्राप्त हुन्छ र ? यदि कोही रोगी छ भने उसले औषधिशास्त्र पढेर मात्र उसको रोग निको हुँदैन । यसको लागि त उसले स्वयं नै औषधि खानुपर्छ ।

भन्न खोजेको के हो भने माथिका कुरा धेरै सुनियो र गर्नुपर्छ भनेर बोलियो पनि। परन्तु त्यसलाई आचरणमा नल्याएसम्म केही लाभ हुँदैन। व्यवहारमा पनि उतार्नुपर्छ।

बोधिचर्यावतारमा सम्प्रजन्य रक्षा नामक पाँचौ परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त।

(१०८ क्र १०९ अष्टवर्षी)

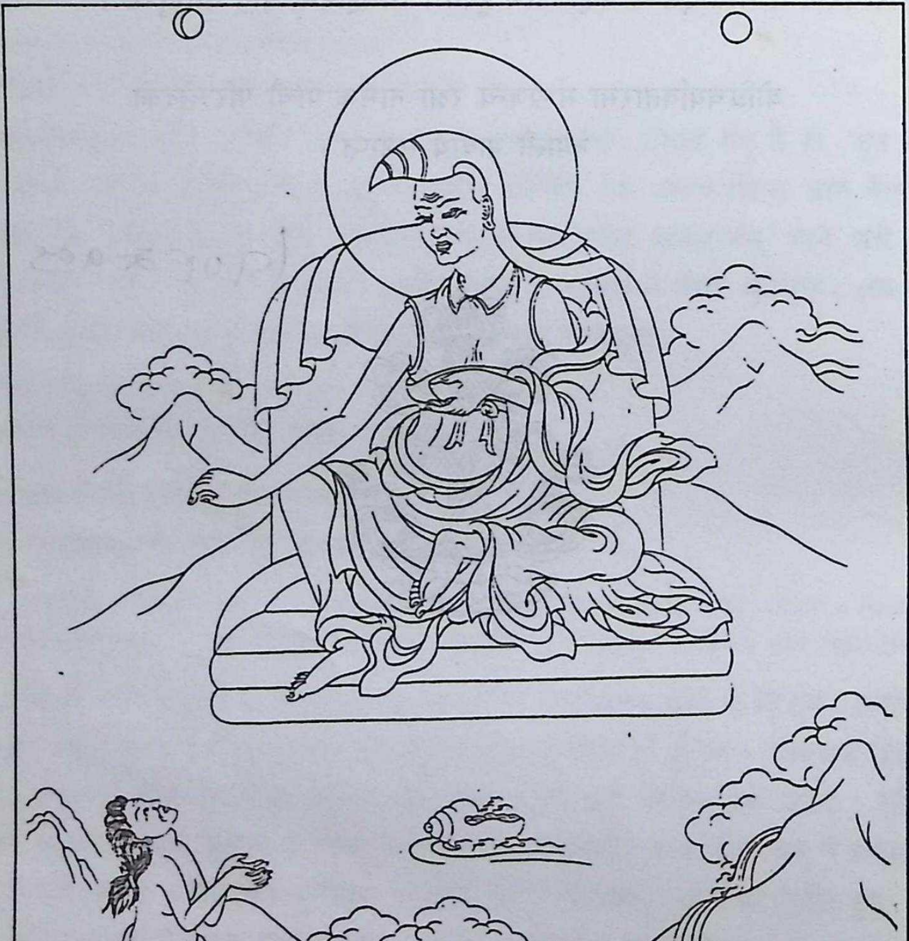

आचार्य धर्मकीर्ति

[दक्षिण भारतको त्रिमलयमा सातौ शताब्दीमा ब्राम्हण कुलमा जन्मिएका तीनै वेदका ज्ञाता ब्राम्हण पछि बुद्धशासनमा दीक्षित भई प्रमाणशास्त्रमा मूर्धन्य विद्वान् भएर प्रख्यात भएका आचार्य धर्मकीर्ति । तिव्वती स्रोत अनुसार उहाँले शङ्कराचार्यलाई तीन जन्मसम्म शास्त्रार्थमा हराएर छाड्नु भएको थियो । उहाँको सबभन्दा गहन न्याय ग्रन्थ "प्रमाणवार्तिक" हो जुन अहिलेसम्म पनि तिव्वती परम्पराहरूमा पाचीन शैलीमा नै वृहद्रूपमा पढाइ भइरहन्छ ।]

छैठौं परिच्छेद

क्षान्ति पारमिता

यसप्रकार शीलविशुद्धिको कुरालाई धेरै प्रकारले प्रतिपादन गरेर आत्मभाव (शरीर) आदिको रक्षा र शुद्धिको प्रक्रियालाई वर्णन गरिसकेपछि शुभविशुद्धि अर्थात् कुशलको विशुद्धि कसरी गर्ने भन्ने कुरालाई बताउनको लागि आचार्य भन्नुहुन्छ –

सर्वमेतत् सुचरितं दानं सुगतपूजनम् ।
कृतं कल्पसहस्रैर्यत् प्रतिघः प्रतिहन्ति तत् ॥१॥

राम्रो चरित्र यो सारा दान या बुद्धपूजन
हज्जारौं कल्पसम्मैको पनि नाशिन्छ द्वेषले ॥१॥

अन्वयार्थ : कल्पसहस्रैः = हज्जारौं कल्पसम्म, कृतं = गरिएको, यत् = जो, एतत् = यो सुचरितं = उत्तम चरित्रको अभ्यास, दानं = दान, सुगतपूजनम् = सुगतको पूजा आदि छ , तत् = त्यो, सर्वं = सबै, प्रतिघः = द्वेषले, प्रतिहन्ति = तुरुन्तै नष्ट पार्दछ ।

हज्जारौं कल्प लगाएर जुन पुण्य सम्भार (सञ्चय), शील संवर आदिको पालन, तीन किसिमका दान, तीन किसिमका बुद्धपूजा आदि सत्कर्महरू गरिन्छ ती सबैलाई प्रतिघ अर्थात् सत्वप्रतिको क्रोध र द्वेषले तुरुन्तै नष्ट पारिदिन्छ। जसरी आगोको सानो झिल्कोले पनि घाँसको ठूलै थुप्रोलाई जलाएर भस्म पारिदिन्छ त्यसरी नै क्रोध र द्वेषले पनि सारा पुण्यलाई एकछिनमै भस्म गरिदिन्छ।

आर्यमञ्जुश्रीविक्रीडित सूत्रमा भनिएको छ – "प्रतिघ प्रतिघ भन्छन् हे मञ्जुश्री, सयौं कल्पसम्म जम्मा गरेको कुशललाई पनि प्रतिघात गर्ने या नष्ट पार्ने भएकोले प्रतिघ भनेको हो"। आर्य सर्वास्तिवादीमा बताइएको छ "हेर, हे भिक्षु हो, यी भिक्षुले केश नङ्को स्तूपमा सर्वाङ्गले दण्डवत् गर्दै चित्तलाई प्रसन्न पार्दैछन्। यसरी, हे भिक्षु हो, भिक्षुले जति जमिन ओगटेका छन् त्यसको तल (चौरासी हज्जार योजन सम्म) सुवर्णवज्रमण्डलपर्यन्त जति बालुवाका कणहरू हुन्छन् त्यति हजार चक्रवर्ती राज्यहरूको भोग गर्छन्। ...... अनि आयुष्मान् उपालिले भगवानको सामु गएर प्रणाम गर्दै भगवान्सँग यस्तो भने, "हजूरले यो भिक्षुको यस्तो धेरै कुशलमूल हुन्छ भन्नुभयो भने हे भगवन्, यी कुशलमूलहरू कहाँबाट घट्ने, क्षय हुने, सिद्धिने हुन्छन् त ?" "हे उपालि, सब्रम्हचारीले सब्रम्हचारीको सामु दुष्टचित्त उत्पाद गर्दाखेरि जति क्षति र विनाश भएको देखेकोछु त्यति मैले अरु देखेको छैन। त्यसमा, हे उपालि, यी महान् कुशलमूलहरू पनि खिइन्छन् र विनाश हुन सिद्धिन पुग्छन्। त्यसो हुनाले, हे उपालि, यस्तो सिक्नुपर्छ कि एउटा जलेको ठूटोप्रति पनि चित्तमा द्वेष पैदा गर्नेछैनौं। विज्ञान (चित्त) सहितको कायमा त के भन्नू" ।

न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः ।
तस्मात् क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः॥२॥

द्वेपजस्तो पाप छैन तपस्या छैन क्षान्ति झैं
अत: प्रयत्नले क्षान्ति भावना गर्नु है सधैं ॥२॥

अन्वयार्थ : द्वेपसमं = द्वेपसमानको, पापं = पाप, न = छैन , क्षान्तिसमं = क्षान्ति समानको, तपो न = तपस्या छैन, तस्मात् = त्यसकारणले, विविधैर्नयैः = विभिन्न उपायबाट, प्रयत्नेन = प्रयत्नपूर्वक, क्षान्तिं भावयेत् = क्षान्तिको भावना गर्नू ।

द्वेषसमानको पाप या अशुभ अर्थात् पुण्यलाई खतम पार्ने हेतु अरु केही हुँदैन । त्यस्तै क्षान्ति याने 'सहनु' समानको अर्को तपस्या केही हुँदैन । किनकि क्षान्तिको अभ्यास गर्न धेरै परित्याग गर्नुपर्छ र मात्र त्यो सिद्ध हुन्छ । त्यसकारण क्षान्तिलाई ठूलो तपस्या भनिएको हो । अतः जे-जसरी भए पनि प्रत्येक उपायबाट प्रयास गर्दै 'क्षान्ति'को भावना गर्नुपर्छ । ती उपायहरू अब बताइन्छन् -

**मनः शमं न गृह्णाति न प्रीतिसुखमश्नुते ।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते ॥३॥**

मनले शान्ति पाउन्न न प्रीति सुख पाउँछ
न निद्रा न भयो धैर्य द्वेषकाँडो छ मुटुमा ॥३॥

अन्वयार्थ : द्वेपशल्ये = द्वेपरूपी काँडो, हृदि स्थिते = हृदयमा भएको खण्डमा, मनः = मनले, शमं = शान्ति, न गृह्णाति = लिन सक्दैन, प्रीतिसुखं = प्रीतिसुख, न अश्नुते = भोग गर्न सक्दैन, निद्रां न याति = निद्रा लाग्दैन, धृतिं न याति = धैर्य लिन सक्दैन ।

द्वेषरूपी काँडो हृदयमा गढेको छ भने मनले शान्ति कदापि पाउँदैन, न त उसले प्रीति र सुख नै प्राप्त गर्न सक्छ । उसलाई राम्रोसँग निद्रा पनि लाग्दैन र स्वयं धैर्यले रहन पनि सक्दैन ।

द्वेष भनेको नै चित्तको रुखो याने कर्कश या कठोर अवस्था हो जहाँ आफूलाई केही कुरा मन नपरेको हुन्छ । यही द्वेष अरूमाथि विभिन्न प्रकारले जाइलाग्ने अवस्थामा छ भने त्यसलाई व्यवहारमा 'क्रोध' भन्छन् । यो जाइलाग्ने काम कायिक, वाचिक र मानसिक तीनै प्रकारबाट हुन सक्छ । अतः यस्तो द्वेष आफ्नो हृदयमा छ भने उसलाई कहिल्यै कसैबाट पनि शान्ति हुँदैन । अन्तर्दाह र छटपटी एवं बेचैनीले उसलाई छायाँले नछोडे जस्तै छोड्दैनन् ।

**पूजयत्यर्थमानैर्यान् ये ऽपि चैनं समाश्रिताः ।
ते ऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम् ॥४॥**

सम्मान धनमानैले गर्छ, आश्रय नै छ त्यो
तापनि द्वेपवाला त्यो स्वमी मार्न त खोज्दछन् ॥४॥

अन्वयार्थ : यान् = जुन व्यक्तिहरूलाई, अर्थमानैः = धन र मानले, पूजयति = पूजा गर्दछ र, ये = जो, एनं समाश्रिताः = यसलाई नै आश्रय वनाएर वसेका छन्, ते ऽपि = तिनीहरूले पनि, एनं = यो, द्वेपदुर्भगं = द्वेपवाट युक्त, स्वामिनं = मालिकलाई, हन्तुम् इच्छन्ति = हानि गर्न (मार्न) चाहान्छन् ।

जुन व्यक्तिलाई कुनै मालिकले धन र मानबाट सम्मान गरिरहेको हुन्छ, जसको आश्रय लिएर उनीहरू बचे - बाँचेका हुन्छन्, उही स्वामी पनि यदि द्वेषी छ भने त्यसलाई उनीहरूले नै हनन गर्न खोज्छन् ।

सुहृदो ऽप्युद्विजन्ते ऽस्माद् ददाति न च सेव्यते ।
संक्षेपान्नास्ति तत्किञ्चित् कोपनो येन सुस्थितः ॥५॥

मित्रै पनि त आत्तिन्छन्, सेवा हुन्न दिए पनि
सारांशमा क्रोध भए केही हुन्न व्यवस्थित ॥५॥

अन्वयार्थ : अस्मात् = यसदेखि, सुहृदो ऽपि = मित्रहरू पनि, उद्विजन्ते = आत्तिन्छन्, ददाति च = दिन्छ तापनि, न सेव्यते = सेवा गरिदैन, संक्षेपात् = सारांशमा भन्दाखेरि, कोपनः = क्रोधी व्यक्ति, येन = जसले गर्दा, सुस्थितः = आरामसँग रहोस्, तत् = त्यस्तो, किञ्चित् = केही पनि, नास्ति = छैन ।

यस्तो द्वेषबुद्धिवाला क्रोधी व्यक्तिका मित्रहरू पनि आत्तिन्छन् र दुःखी हुन्छन् । उसले आफ्नो सेवा गराउन खोज्छ र धन आदि दिन खोज्छ तापनि उसको सेवा गर्ने कोही निस्कँदैन । यसरी उ सबैतिरबाट एक्लो हुन्छ । सारांशमा भन्ने हो भने त्यस्तो क्रोधीको लागि कुनै पनि चिज पाईदैन जसले गर्दा उ आनन्दसँग रहन सकोस् ।

एवमादीनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया ।
यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च ॥६॥

यस्ता दुःखहरू दिन्छ, शत्रु हो यो भनी बुझी
क्रोध नाश गर्छ जस्ले दुवै लोक्मा छ त्यो सुखी ॥६॥

अन्वयार्थ : एवम् आदीनि = यस्ता प्रकारका, दुःखानि = दुःखहरू, करोति इति = गराउँछ भन्ने यस्तो जानी, यः = जस्ले, क्रोधं = क्रोधलाई, अरिसंज्ञया = शत्रुसमान नै जानेर, निर्बन्धात् = गढेको अवस्थावाट, हन्ति = नाश गर्दछ, स = त्यो, इह = यो लोकमा र, परत्र च = परलोकमा पनि, सुखी = सुखी हुन्छ ।

क्रोधले यस्ता दुःख गराउँछ भन्ने बुझेर यसलाई शत्रुको संज्ञा दिएर जसले गहिराइदेखि नै यसलाई नाश गर्छ त्यो नै इहलोक र परलोकमा पनि सुखी हुन्छ ।

अनिष्टकरणाज्जातमिष्टस्य च विघातनात् ।
दौर्मनस्याशनं प्राप्य द्वेषो दृप्तो निहन्ति माम् ॥७॥

अनिष्ट गर्दा, इष्टैको घात गर्दा मनै दुखी
हुन्छ, खाई त्यही मार्छ मलाई द्वेष भै बली ॥७॥

अन्वयार्थ : अनिष्टकरणत् = अनिष्ट गर्नाले र, इष्टस्य विघातनात् च = इष्टको नाश गर्नाले पनि, जातम् = उत्पन्न भएको, दौर्मनस्यं = दुःखी मनको, अशनं = भोजन, प्राप्य = पाएर, दृप्तः = पुष्ट (वलियो) भएको, द्वेषः = द्वेषले, माम् = मलाई नै, निर्हन्ति = नाश गर्दछ ॥

अनिष्ट गर्नाले वा इष्टविनाश गर्नाले यो मन दुःखी हुन्छ । त्यही दुःखी मन (दौर्मनस्य)लाई भोजनको रूपमा द्वेषले ग्रहण गर्छ र हृष्ट पुष्ट एवं बलियो हुन पुग्छ, अनि मलाई विनाश गर्न थाल्छ ।

यदि आफूमा आत्मग्राह र आत्मीयग्राह छ भने त्यसकै आधारमा इष्ट (चाहिएको) र अनिष्ट (न चाहिएको) उत्पन्न हुन्छन् । जुन कुरा आत्मग्राह आदिलाई सुखदायी र समर्थन गर्ने हुन्छन्, तिनीहरूलाई इष्ट याने आफूलाई चाहिएका, मनपर्ने भनिन्छ । जुनकुरा आत्मग्राह आदिसँग विरोध

हुन्छन् तिनीहरूलाई अनिष्ट याने 'मन नपरेका' या 'अवाञ्छित' भनिन्छ । त्यसकारण कसैले आफूलाई अनिष्ट गऱ्यो या आफ्नो इष्टको विनाश गरिदियो भने यो चित्त दुःखी हुनपुग्छ । त्यही नै दौर्मनस्य या खिन्नताको अवस्था हो । यो 'दौर्मनस्य'ले नै 'द्वेष'लाई चित्तमा ठूलो सहारा दिन्छ । अर्थात् दौर्मनस्यरूपी भोजन पाएर द्वेष मोटाउन र बलियो हुन थाल्छ । त्यसैले यसरी बलियो भएको कडा द्वेषले आखिरमा मलाई नै नाश गर्न पुग्छ ।

तस्माद् विघातायिष्यामि तस्याशनमहं रिपोः ।
यस्मान्न मद्वधादन्यत् कृत्यमस्यास्ति वैरिणः ॥८॥

अतः त्यो शत्रुको खाना नष्ट गर्नेछु वैरिको
छैन मेरो नाशभन्दा अर्को कार्य यहाँ कुनै ॥८॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, अहम् = मैले, तस्य रिपोः = त्यो त्रशुको, अशनं = खानेकुरालाई, विघातयिष्यामि = नाश गर्नेछु, यस्मात् = किनकि, अस्य वैरिणः = यो वैरिको, मद्वधात् = मेरो नाश गर्नुवाहेक, अन्यत् = अर्को, कृत्यम् = कार्य, नास्ति = छैन ।

त्यसकारण मैले उक्त शत्रुको खानेकुरालाई नै नष्ट पारिदिन्छु किनकि त्यो शत्रु (द्वेष)का निमित्त मेरो नाश गर्नुबाहेक अर्को कुनै काम छैन ।

यसरी, द्वेषका दोषहरूलाई थाहा पाएर उसको प्रतिपक्ष स्वरूप क्षान्तिको भावना गर्नुपर्छ । क्षान्ति पनि तीन प्रकारका हुन्छन् १) दुःखाधिवासना क्षान्ति २) परापकारमर्षणा क्षान्ति ३) धर्मनिध्र्याना क्षान्ति ।

यो वर्गीकरण धर्मसंगीतिसूत्रमा बताइएको छ । त्यस मध्ये दुःखाधिवासना क्षान्तिलाई लिएर आचार्य भन्नुहुन्छ –

अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया ।
दौर्मनस्ये ऽ पि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहीयते ॥९॥

अनिष्टै अति आए नि त्यागिदन मुदिता म त
दुःखी हुँदा इष्ट हुन्न, पुण्यै हुन्छ विनाश त ॥९॥

अन्वायार्थ : मया = मैले, अत्यनिष्टागमेनापि = अत्यन्तै अनिष्ट आइलागे पनि, मुदिता = प्रसन्न हुने भावना (मुदिता भानवा), न क्षोभ्या = विचलित गराउनु हुँदैन, दौर्मनस्ये तु = मन खिन्न भयो भने त, इष्टं नास्ति = इष्ट प्राप्ति हुँदैन नै, कुशल अपि = कशलकर्म पनि, अवहीयते = नाश हुन पुग्छ ।

आफूलाई अनिष्ट आइलाग्ने भए पनि मुदितालाई कम हुन या विक्षिप्त हुन दिनुहुँदैन । किनकि मन खिन्न भयो भने आफूले खोजेको लक्ष्य (इष्ट) प्राप्ति त हुँदैन नै अपितु गरिसकेका कुशल कर्महरू पनि नाश हुन पुग्छन् ।

अनिष्ट प्राप्ति हुँदाखेरि हुने दुःखको भय र इष्टको विनाश होला भनेर सुखप्रति हुने आसक्ति यी दुई कुराले दौर्मनस्य अर्थात् खिन्नता पैदा गर्छन् । त्यो दौर्मनस्यबाट द्वेष या लीनचित्तता पैदा हुन्छ, त्यसैले चन्द्रदीप सूत्रमा भनिएको छ, "सुखमा अनासक्त हुनु र दुःखमा विमुख नहुनू" । रत्न सूत्रमा

पनि बताइएको छ, "जुन यी आध्यात्मिक (भित्री) शोक, पीडा, दुःख, दौर्मनस्य आयास र उपायास आदि छन् तिनीहरूलाई सहन्छ अधिवासन गर्दछ।"

त्यसकारण यदि मेरो शिरै काटिन्छ भने पनि मैले मुदितालाई त्याग्नु या क्रोध आदि पैदा गराउनु हुँदैन। मुदिता नै दौर्मनस्यको प्रतिपक्ष हो। दुःख आइलागे पनि प्रमुदित मन भएका व्यक्तिमा दौर्मनस्यले स्थान पाउँदैन। अतः दौर्मनस्यलाई हटाउनको निमित्त मुदितालाई प्रयत्नपूर्वक रक्षा गर्नुपर्छ। किनकि दौर्मनस्य छ भने इष्टविनाश हुने मात्र नभएर कुशल कर्मको पनि नाश हुन पुग्छ।

मुदिताको बारेमा आर्य अक्षयमतिसूत्रमा वर्णन गरिएको छ, "त्यसमा मुदिता भनेको के हो ? बुद्ध र धर्महरूको अनुस्मरण गर्नाले जुन प्रीति, प्रसाद, प्रामोद्य (खुशी, हर्ष, प्रेम), चित्तको अनवलीनता, अनवमृद्यता, अपरितर्षणता, सबै कामरतिहरू हटेर सबै धर्मरतिको प्रतिष्ठापन, चित्तको आनन्द, शरीरको स्फूर्ति, बुद्धिको खुशीयाली, मनको हलुकापन, तथागतको कायप्रति अभिनन्दन गर्नमा प्रीति पैदा हुन्छन् त्यही नै मुदिता हो।' यसरी विस्तारपूर्वक जान्नु पर्छ ।

यद्यस्त्येव प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम्।
अथ नास्ति प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम् ॥१०॥

हटाउने विधि भए दौर्मनस्य लिएर के ?
हटाउने विधि नभा दौर्मनस्य लिएर के ? ॥१०॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, प्रतीकारः = हटाउने (समाधानको) उपाय, आस्ति एव = छ भन्ने पक्का हो भने, तत्र = त्यहाँ, दौर्मनस्येन किम् = दौर्मनस्य लिएर के लाभ हुन्छ ? अथ = यदि, प्रतीकारः = समाधानको उपाय, नास्ति = छैन भने, तत्र = त्यहाँ, दौर्मनस्येन किम् = दौर्मनस्य लिएर के लाभ ?

यदि आफ्नो इष्टकुरालाई नाश हुनबाट बचाउने या अनिष्ट आइलाग्ने कुराबाट बचाउने कुनै उपाय पक्कै छ भने दौर्मनस्य (मनमा दुःख) लिएर के काम ? बरु त्यो उपाय अपनाउने तर्फ लाग्नु ठीक होला। यदि त्यसको कुनै उपाय नै छैन भने फेरि दौर्मनस्य केको लागि गरिराख्नु ? त्यसको त कुनै प्रयोजन नै भएन। उपाय केही नभएपछि त त्यो सर्वथा सिद्धिसक्यो, अतः जे भयो भयो भन्ने ठानेर दौर्मनस्यलाई हटाउनु नै उत्तम हुन जान्छ।

अभ्यास गर्दै जानाले दुःख पनि बाधाजनक हुन छोड्छ भन्ने कुरा दर्शाउन अब आचार्य भन्नुहुन्छ –

दुःखं न्यक्कारपारुष्यमयशश्चेत्यनीप्सितम्।
प्रियाणामात्मनो वापि शत्रोश्चैतद्विपर्ययात् ॥११॥

दुःख धिक्कार कटुता निन्दा यी हुन् नचाहिने
आफू र आफ्नो प्रियको, उल्टो जान्नू त शत्रुको ॥११॥

अन्वयार्थ : दुःखं = दुःख, न्यक्कारपारुष्यम् = धिक्कार र मर्म छेड्ने कटुवचन, एवं अयशश्च = निन्दा (बदनाम), इति = यिनीहरू, प्रियाणाम् = आफ्ना प्रियपात्रहरू (आफन्तहरू) का निर्मित्त र आत्मनो वापि = आफ्ना निमित्त पनि, अनीप्सितम् = नचाहिएका कुरा हुन्, शत्रोश्च = शत्रुको निमित्त त, एतद्विपर्ययात् = यसको विपरीत तरीकाले हुन्छ।

दुःख, धिक्कार, कटुवचन, बदनाम यीनीहरू आफूलाई र आफ्ना प्रियपात्रहरूलाई आइलागेको अनीष्ट हुन्छ अर्थात् नचाहने कुरा हुन् भने फेरि यिनै कुरा आफ्नो शत्रुलाई आइलागेको अभीष्ट हुन्छ अर्थात् चाहने कुरा हुन्छ।

वास्तवमा दुःख दुई प्रकारका हुन्छन्। कायिक र मानसिक। दण्ड आदिले पिटिनाले हुने जस्ता खालका शरीरिक वेदनाहरू कायिक दुःख हुन्। मानसिक दुःख भनेका धिक्कार, कटुवचन, बदनाम आदिको कारणले हुने दुःख हुन्। मानिसहरूले आफूलाई यी कुराहरू भएको चाहँदैनन्, आफ्ना आफन्तहरूमा यस्तो भएको मन पराउन्नन्, परन्तु शत्रुहरूमा यस्तो आइलागेको भने मनपराउँछन्।

कथंञ्चिल्लभते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः।
दुःखेनैव च निःसारश्चेतस्तस्माद् दृढीभव ॥१२॥

प्रयत्नले मिल्छ सुख सजिलै दुःख मिल्दछ
दुःखले नै मुक्ति मिल्छ अतः चित्त दृढै बन ॥१२॥

अन्वयार्थ : सौख्यं = सुख, कथंचित् = मुश्किलले कथं कदाचित् मात्र, लभ्यते = पाइन्छ, दुःखं = दुःख त, अयत्नतः = प्रयात्नविना नै, स्थितम् = उपस्थित भएकै छ, निःसारश्च = संसारदेखि मुक्ति पनि, दुःखेन एव = दुःखले नै हुन्छ, तस्मात् = त्यसकारण, चेतः = हे चित्त, दृढी भव = बलियो भएर रहू।

धेरै प्रयासले कुशल पक्षको सेवन गर्दा कथंकदाचित् मात्र लौकिक (सास्रव) सुख मिल्दछ। परन्तु दुःख त सधै नै सुलभ छ, किनकि यो विनाप्रयासै आइरहन्छ अर्थात् दुःख पाउने अभ्यास गर्न कुनै कठीनाई हुँदैन। फेरि संसारदेखि मुक्त हुने उपाय अपनाउँदा पनि त दुःखै हुन्छ र त्यतिउञ्जेल त्यो पनि दुःख नै हो तैपनि मार्गमा हिंड्दाखेरि हुने दुःखको रूपमा त्यसलाई स्वीकार गर्नु नै उपयुक्त हुन्छ। त्यसकारण हे चित्त ! दुःखको अनुभव गर्नको लागि दृढ र बलियो भएर बस, कातर नबन।

दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदनाम्।
वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थं अहं कस्मात्तु कातरः ॥१३॥

दुर्गापुत्र र कर्णाटी दाह- छेदादि वेदना
व्यर्थै सहन्छन् मुक्तिका निम्ति मै किन कातर ॥१३॥

अन्वयार्थ : दुर्गापुत्रककर्णाटा = दुर्गापुत्रहरू र कर्णाटकदेशवासीहरूले, दाहच्छेदादिवेदनाम् = शरीरलाई जलाउने, काट्ने आदिको पीडालाई, वृथा = व्यर्थै, सहन्ते = सहन्छन्, अहम् तु = म त, मुक्त्यर्थं = मुक्तिका निमित्त पनि, कस्मात् = किन, कातरः = कातर हुने ?

महानवमी जस्ता पर्वहरूमा तीन रात या एक रातको उपवास वसेर शरीरलाई जलाउने, काट्ने जस्ता विधिहरू अपनाएर दुःखको वेदनालाई कुनै फल विना नै व्यर्थमा अनुभव गर्ने चण्डीपुत्रहरू (दुर्गाका उपासक) हुन्छन्। त्यस्तै कर्णाटक क्षेत्रवासीहरूले आफ्नो नाम माथि लेखियोस् भन्ने अभिमानले मात्र पनि परस्पर प्रतिस्पर्धा गरेर अनेक क्रियाहरूबाट दुःख अनुभव गर्दै जीवनलाई समेत त्याग गर्न पुग्दछन्। म त आफ्नो र अरुको लागि परम दुर्लभ बुद्धतालाई सिद्ध गर्नको लागि

उत्साहका साथ लागेको व्यक्ति हुँ। किन दुःखहरूबाट कातर हुने ?

ठीकै छ, अति सानो तिनो दुःख त म सहन पनि सकुँला। हात, पाउ, शिर काटेर दान गर्ने जस्ता दुःख या नरकआदिका दुःख त मुक्तिका निमित्त कसरी सहन सकिन्छ भन्ने हो भने आचार्य भन्नुहुन्छ –

न किञ्चिदस्ति तद्वस्तु यदभ्यासस्य दुष्करम्।
तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा ॥१४॥

अभ्यासले नसकिने वस्तु छैन कुनै पनि
सानो दुःखको अभ्यासले ठूलै पीडा सहिन्छ नै ॥१४॥

अन्वयार्थ : तद्वस्तु = त्यस्तो कुरा, किञ्चिद् नास्ति = कुनै पनि छैन, यद् = जुन, अभ्यासस्य = अभ्यासवाट पनि, दुष्करम् = सिद्ध गर्न नसकिने होस्, तस्मात् = त्यसकारण, मृदुव्यथाभ्यासात् = नरम खालको पीडाको अभ्यासवाट, महाव्यथा अपि = ठूलै पीडा पनि, सोढव्या = सहनु पर्छ।

संसारमा यस्तो वस्तु कुनै पनि छैन जो अभ्यास गरेपछि पनि सिद्ध गर्न कठीन होओस्। त्यसकारण सामान्य दुःख सहँदा सहँदै ठूलै दुःख पनि सहन सक्ने भइन्छ।

शास्त्रहरूको अध्ययन, कलाकौशलको अभ्यास, सानो, अन्तरे र ठूलो दुःखको अनुभव गर्ने काम आदि जेजस्ता कुरा पनि अभ्यास गरेर सिद्ध नहुने केही छैन। सबै कुरा अभ्यासगोचर नै छन्। त्यसैले अभ्यास गर्दै क्रमशः अघिबढ्ने हो भने ठूलो पीडा पनि सहन सकिन्छ। त्यसकारण भनिएको छ–

थोरै दुःखको अभ्यास गर्दै जानाले अति कष्टतर अभ्यास पनि सिद्ध हुन्छन्। अभ्यासकै बलले प्राणीहरूमा सुख या दुःख भन्ने व्यवहार हुन्छ। सबै दुःखमा सुख हो भनेर अभ्यास गर्दै जानाले सुखसंज्ञा नै उत्पन्न हुन पुग्छ। यसको निष्यन्दफलको रुपमा 'सर्वधर्मसुखाक्रान्त' नामक समाधिको प्राप्ति हुन्छ। यो कुरा पितापुत्रसमागम सूत्रमा बताइएकै छ –

"हे भगवन्, सर्वधर्मसुखाक्रान्त नाम गरेको समाधि छ। जुन समाधिको लाभ गरेपछि बोधिसत्वले सबै आलम्बन (बस्तु)हरूमा सुखा वेदनालाई नै जान्दछ, दुःखा या असुखादुखा वेदनालाई होइन। उसलाई नरकको वेदना गराइयो भने पनि सुखसंज्ञा नै प्रत्युपस्थित हुन आउँछ। अर्थात् सुख नै अनुभव गर्दछ। मनुष्यका कार्यहरू गराउँदा, हात काटिदिँदा, पाउ काटिदिँदा, कान, नाक, आदि काटिदिँदा पनि सुखसंज्ञा नै आउँछ। वेतले पीट्दा, फुटेको वेतले पीट्दा, कोर्राले पीट्दा पनि सुखसंज्ञा नै आउँछ। जेलमा हाल्दा, तेलमा पकाउँदा, उखुझैं पेल्दा, तेलको बाती झैं जलाइँदा, पिठो पकाएझैं पकाइँदा पनि, हात्तिहरूले कुल्चाएर माड्दाखेरि पनि सुखसंज्ञा नै उत्पन्न हुन्छ।" यसरी विस्तारमा बताइएको छ।

उद्दंशदंशमशकक्षुत्पिपासादिवेदनाम्।
महत् कण्ड्वादिदुःखं च किमनर्थं न पश्यसि ॥१५॥

डाँस, मच्छर, माखा र भोक प्यासादि वेदना
चिलाउने ठूला दुःख हेर्दैनौ यी अनर्थक ॥१५॥

अन्वयार्थ : उद्दंशदंश - मशक - क्षुत्पिपासादिवेदनां = डाँस, मच्छर, झिंगा आदिले गराएको र भोक प्यास आदिवाट भएको वेदनालाई, महत् = ठूलै, कण्ड्वादिदु:खं = चिलाउने जस्ता खालका दु:खहरू र, अनर्थ च = ठूलै अनर्थहरू (आपत् विपत्हरू) पनि, किम् = किन, न पश्यसि = देख्दैनौ ?

हाम्रो दैनिक जीवनमा डाँस, मच्छर, झिंगा आदि किरा काँटीले टोकेर वा भोक या तीर्खा आदिले सताएर हुने वेदनाहरू, त्यस्तै चिलाउने, दुख्ने जस्ता रोगहरूले गर्दा हुने ठूलै दु:खकष्ट र अन्य अनर्थ (आपद् विपद्)हरू पनि त अभ्यासले सहिराखिएका हुन्छन्। त्यो कुरा किन देख्दैनौ र सहन डराउँछौ ? यी नरम खालका पीडाहरूको अभ्यास विनाप्रयासै भैरहेकै छ। अब त अलि कडा दु:ख खप्न तयार हुनुपर्छ।

शीतोष्णवृष्टिवाताध्वव्याधिबन्धनताडनैः ।
सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा ॥१६॥

ठण्डी, गर्मी, हवा, पानी, बाटो, रोग पिटाइले ।
सुकुमार न होऊ है पीडा बढ्दछ नत्र ता ॥१६॥

अन्वयार्थ : शीतोष्णवृष्टिवाताध्वव्याधिवन्धनताडनैः = ठण्डी-गर्मी-वर्षा-हावा-वाटो-रोगव्याधि-वन्धन र पिटाइ जस्ता कुराहरूले गर्दा, सौकुमार्यं = सुकुमार जस्तो पन, न कर्तव्यम् = गर्नु हुँदैन । अन्यथा = नत्र भने, व्यथा = पीडा (दु:ख), वर्धते = वढ्दछ ।

सर्दी, गर्मी, वर्षा, वायु मार्गमा हिंड्नु, रोग, बन्धन, ताडन जस्ता सामान्य पीडाहरूबाट आत्तिएर आफूलाई बढी सुकुमार, कोमल नबनाउनू अन्यथा यस्ता पीडाहरू झन् झन् बढ्दै जानेछन्।

केचित् स्वशोणितं दृष्ट्वा विक्रमन्ते विशेषतः ।
परशोणितमप्येके दृष्ट्वा मूर्च्छां व्रजन्ति यत् ॥१७॥

आफ्नो रगत देखेर कोंही हुन्छन् पराक्रमी
अरुको रगतै देखी कोही मूर्छा त पर्दछन् ॥१७॥

अन्वयार्थ : केचित् = कोही, स्वशोणितं = आफ्नो रगत, दृष्ट्वा = देखेर पनि, विशेषतः = अझ विशेष रूपमा, विक्रमन्ते = पराक्रम गर्दछन् भने, एके = एक थरीका व्यक्ति, परशोणितं दृष्ट्वापि = अरुको रगत देखेर पनि, यत् = जुन, मूर्च्छां व्रजन्ति = मूर्च्छा पर्न पुग्छन् ॥

कोही व्यक्तिहरू आफ्नो रगत देख्दा पनि झन् बढी साहसले अघि बढ्छन् भने कोही व्यक्तिहरू झन् अरुको रगत देख्दा समेत सहन नसकी मूर्च्छा पर्छन्। युद्धमा प्रायः कोही वीर पुरुषहरू माथिल्लो दर्जाका या साहसी भेटिन्छन् भने कोही कातरहरू तल्लो दर्जाका देखिन्छन्। त्यो नै चित्तसन्तति (मन) कति दृढ (बलियो) छ भन्ने जनाउ हो, किनकि –

तच्चित्तस्य दृढत्वेन कातरत्वेन चागतम् ।
दुःखदर्योधनस्तस्माद् भवेदभिभवेद् व्यथाम् ॥१८॥

त्यो चित्तको दृढत्वैले आयो या कातरत्त्वले
दु:खले जित्न नसक्ने हुनू जित्नू व्यथा पनि ॥१८॥

अवन्यार्थ : तत् = त्यो, चित्तस्य = चित्तको, दृढत्वेन = दृढताले या, कातरत्वेन च = कातरताले पनि, आगतम् = आएको हो, तस्माद् = त्यसकारणले, दुःखदुर्योधनः = दुःखले जित्न नसकिने, भवेत् = हुनुपर्छ, दुःखं = दुःखलाई, अभिभवेत् = पहिल्यै हराइदिनु पर्छ ।

माथि बताइएको जस्तो दुई थरीको परिणाम देखिनमा मूल कारण नै चित्तको दृढता र कातरता हुन् । त्यसकारण चित्तलाई दृढ बनाएपछि दुःखले जित्न सक्दैन र आफूले दुःखलाई जित्न सकिन्छ । त्यसैले आफू दुःखदुर्योधन नै बन्नुपर्छ अर्थात् दुःखले नजितिने बन्नुपर्छ । दुःखबाट हार्नु हुँदैन, जितेरै छोड्नुपर्छ ।

दुःखे ऽपि नैव चित्तस्य प्रसादं क्षोभयेद् बुधः ।
संग्रामो हि सह क्लेशैर्युद्धे च सुलभा व्यथा ॥१९॥

दुःखमा पनि चित्तैको विगार्दैनन् प्रसन्नता
पर्‍यो क्लेशसँगै युद्ध दुःखै हुन्छ त युद्धमा ॥१९॥

अन्वयार्थ : बुधः = विद्वान्ले, दुःखे ऽपि = दुःखमा पनि, चित्तस्य = चित्तको, प्रसादं = प्रसन्नतालाई, नैव क्षोभयेत् = विचलित नपारोस्, हि = किनकि, क्लेशैः सह = क्लेशहरूका साथ, संग्रामः = युद्ध छेडिएको छ, युद्धे = युद्धमा, व्यथा = दुःख त, सुलभा = सजिलै भैहाल्छ ।

विद्वान्हरूले दुःख भयो भनेर चित्तको प्रसन्नतालाई मलीन या विचलित पार्नु हुँदैन । किनकि क्लेशरूपी शत्रुहरूसँग युद्ध शुरू भैसकेको छ । अतः दुःख नहुने भन्ने त कुरै आएन, युद्धमा दुःख हुनु स्वाभाविक नै हो । विना दुःखको युद्ध त विरलै होला ।

उरसा ऽरातिघातान् ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन् ।
ते ते विजयिनः शूराः शेषास्तु मृतमारकाः ॥२०॥

छातीमा शत्रुको घात स्वीकारी शत्रु जित्दछ
विजयी त्यही हो शूरो बाँकी हुन् मृतमारक ॥२०॥

अन्वयार्थ : ये = जसले, उरसा = छातीले, अरातिघातान् = शत्रुको आघातलाई, प्रतीच्छन्तः = स्वीकार गर्दै, अरीन् = शत्रुहरूलाई, जयन्ति = जित्दछन्, ते ते = ती ती, शूराः = शूरवीर, विजयिनः = विजयी पनि हुन् । शेपात्तु = बाँकी त, मृतमारकाः = मरेकालाई मार्ने मात्र हुन् ।

जसले शत्रुको सामु उसले दिएको चोटलाई छातीमा थाप्न स्वीकार गरी उसलाई जित्दछन् उनी मात्र शूरा वीरपुरुष हुन् र पराया शत्रुमाथि विजय प्राप्त गरेका मानिन्छन् । जसले लुकी छिपी शत्रुलाई प्रहार गर्न खोज्छन् ती त मृतमारक अर्थात् मरेकालाई मार्ने मात्र हुन् । उनीहरूले केही पनि गर्न सक्दैनन् । त्यस्तालाई 'मरेका बाघको जुँगा उखेल्ने वाला' भन्दछन् । तिनीहरूलाई शूरवीरका सामु मुख देखाउन लाज हुन्छ ।

गुणो ऽपरश्च दुःखस्य यत्संवेगान्मदच्युतिः ।
संसारिषु च कारुण्यं पापाद्भीतिर्जिने स्पृहा ॥२१॥

दुःखकै गुण हो जस्को वेगले शेखि झर्दछ
संसारीमा दया, श्रद्धा बुद्धमा, पापाको भय ॥२१॥

अन्वयार्थ : दुःखस्य = दुःखको, अपरश्च = अर्को पनि, गुणः = गुण या विशेपता छ, यत्संवेगात् = जसको संवेगले, मदच्युतिः = शेखी झर्छ, संसारिपु = संसारी जनहरूमा, कारुण्यं = करुणाको भाव आउँछ, पापाद् = पापदेखि, भीतिः = भय पैदा हुन्छ, जिने = बुद्धमा, स्पृहा = श्रद्धा र रुचि जाग्छ ।

दुःखको अर्को विशेषता के हो भने यसको तीव्र वेगले गर्दा घमण्ड तोडिन्छ, सांसारिक प्राणीहरूमा करुणा जाग्छ र पापदेखि डर लाग्न थाल्छ, बुद्धप्रति श्रद्धा उत्पाद हुन्छ ।

दुःख धेरै भयो भने मात्र सम्बोधिको मार्गको अनुकूल हुने कुरामा प्राणीहरू जान्छन् । मनमा दुःख छ भने मात्र उसमा एक प्रकारको संवेग (emotion) पैदा हुन्छ, जसले यौवन-धन-मान आदिको कारणबाट हुने शेखीलाई तोडिदिन्छ । त्यसैले उसले अरु सांसारिक मानिसहरूप्रति पनि करुणाले हेर्न सक्ने हुन्छ अन्यथा उसमा करुणा हुन गाह्रो हुन्छ । त्यस्तै पापको फल यस्तो हुँदो रहेछ भन्ने मनमा पस्न थाल्छ र पाप गर्नदेखि बच्ने र हिचकिचाउने प्रवृत्ति आउन थाल्छ । अनि भागवान् बुद्ध नै दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदाको उपदेष्टा हुनुहुँदो रहेछ भन्ने जानेर उहाँप्रति रूचि, श्रद्धा र चित्तप्रसाद उत्पन्न हुन सक्छ ।

अब अरुले दिएको दुःखलाई कसरी हेर्ने भन्ने कुरा बताउँदै भन्नुहुन्छ-

पित्तादिषु न मे कोपो महादुःखकरेष्वपि ।
सचेतनेषु किं कोपः ते ऽपि प्रत्ययकोपिताः ॥२२॥

पित्तादिमा रिसाउन्न दुःख धेरै दिए पनि
सचेतन्मा रिस किन ? प्रत्ययैले ती रुष्ट छन् ॥२२॥

अन्वयार्थ : महादुःखकरेष्वपि = धेरै दुःख दिने खालका, पित्तादिपु = पित्त आदि दोषमा पनि, मे = मेरो, न कोपः = रिस छैन भने, सचेतनेपु = सचेतनहरूमा, किं = किन, कोपः = रिस गर्ने ? तेऽपि = तिनीहरू पनि, प्रत्ययकोपिताः = प्रत्ययको आधारमा रिसाएका त हुन् नि ।

धेरै दुःख दिने खालका पित्त-वात-कफ जस्ता निर्जीव दोषहरूप्रति मेरो रिस छैन भने सचेतनहरूमा मात्र किन रिस गर्ने ? किनकि तिनीहरू पनि विभिन्न प्रत्ययसामग्रीको कारणले रिसाएका जस्ता भएका त हुन् ।

यो शरीर वात-कफ-पित्तको संयोजनबाट चलेको छ । यिनीहरू आहार र विहारमा दोष आएपछि विषम अवस्थामा पुगेर विभिन्न व्याधिहरूलाई जन्म दिंदै सबै दुःखको कारण बनिरहेका हुन्छन् । तैपनि यी सबै अचेतन भएको हुनाले यिनीहरू प्रति मेरो कुनै रिस हुँदैन । यिनीहरूले आफैले सोचेर दुःख दिएका होइनन् । आफ्नै कारणसामग्रीहरूको बलले गर्दा प्रकुपित भएका हुन् भने सचेतन प्राणीहरूप्रति पनि किन रिस (द्वेष) पैदा गर्ने त ? यिनीहरू पनि त आफ्ना पूर्वकर्महरूको अपराधले गर्दा आफ्नै कारण सामग्रीहरूको वशमा परेर प्रकुपित हुन पुग्छन् । यसप्रकार पित्त आदिमा जस्तै यी प्राणीहरूमा पनि मेरो क्रोध हुनु निरर्थक छ ।

अनिष्यमाणमप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा ।
अनिष्यमाणो ऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा ॥२३॥

न चाहे पनि यो शूल पैदा हुन्छ जसै गरी
न चाहे पनि त्यो क्रोध पैदा हुन्छ त्यसै गरी ॥२३॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, अनिष्यमाणम् अपि = नचाहँदा नचाहँदै पनि, एतत् = यो, शूलम् = शूल (दर्द), उत्पद्यते = उत्पन्न हुन्छ, तथा = त्यस्तै, अनिष्यमाण: अपि = नचाहँदा नचाहँदै पनि, वलात् = प्रत्ययका वलले, क्रोध: = क्रोध, उत्पद्यते = उत्पन्न हुन्छ ।

जसरी आफ्ना हेतुप्रत्ययका सामर्थ्यले गर्दा नचाहेर पनि पित्त, वात, कफ आदिबाट शूल उत्पन्न भइछाड्छ र हामीलाई पेट दुख्ने जस्ता पीडा हुन्छन् त्यसैगरी आफ्ना हेतु-प्रत्यय सामग्रीको फलस्वरूप शक्तिशाली भएका दौर्मनस्य आदिबाट क्रोध आफै उत्पन्न भइहाल्छ, त्यहाँ विशेषरूपले चाहनु पर्दैन । किनकि सामान्य चित्त हेतुप्रत्ययाधीन हुन्छन् ।

कुप्यामीति न सञ्चिन्त्य कुप्यति स्वेच्छया जन: ।
उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च ॥२४॥

रिसाउँछु भनी सोची रिसाउन्नन् यहाँ कुनै
पैदा हुन्छु भनी त्यस्तै क्रोध पैदा हुँदैन नै ॥२४॥

अन्वयार्थ : जन: = मानिसहरू (लोक), कुप्यामि इति = रिसाउँछु भन्ने यस्तो, सञ्चिन्त्य = सोचेर, स्वेच्छया = आफ्नै इच्छाले, न कुप्यति = रिसाउँदैनन्, क्रोधश्च = रिस पनि, उत्पत्स्ये इति = उत्पन्न हुनेछु भन्ने यस्तो, अभिप्रेत्य = इच्छा राखेर, न उत्पद्यते = उत्पन्न हुँदैन ।

मानिसहरू रिसाउँछु भन्ने विचार गरेर आफ्नै स्वेच्छाले रिसाउँदैनन् । त्यस्तै क्रोध पनि अब म उत्पन्न हुन्छु भन्ने अभिप्राय राखेर उत्पन्न हुँदैन । यी सबै आ-आफ्ना प्रत्ययसामग्रीका अधीनमा परेर मात्र उत्पन्न हुने गर्छन् ।

ये केचिदपराधाश्च पापानि विविधानि च ।
सर्वं तत्प्रत्ययबलात् स्वतन्त्रं न तु विद्यते ॥२५॥

जति छन् अपराधै र पाप कर्म थरी थरी
सबै प्रत्ययका बल्ले हुन्छन् आफै हुँदैन क्यै ॥२५॥

अन्वयार्थ : ये केचित् = जुन कुनै पनि, अपराधा: = अपराधहरू र, विविधानि = विभिन्न प्रकारका, पापनि च = पापहरू पनि छन्, तत्सर्वं = त्यो सबै, प्रत्ययबलात् = प्रत्ययका वलले मात्र हुन्छ, स्वतन्त्रं = स्वतन्त्र कुरा, न विद्यते = केही हुँदैन ।

संसारमा जति पनि अपराध र विभिन्न प्रकारका पापकर्महरू छन् ती सबै आ-आफ्ना प्रत्ययका बलले मात्र हुन्छन् । स्वतन्त्र रूपमा हुने केही कुरा पनि छैन । सबै कुरा 'इदम्प्रत्ययता' स्वभावका छन् अर्थात् अन्य कसैका आधारमा देखापर्छन्, स्वतन्त्र रूपले देखापर्ने वस्तु केही छैन ।

न च प्रत्ययसामग्र्या जनयामीति चेतना ।
न चापि जनितस्यास्ति जनितोऽस्मीति चेतना ॥२६॥

न प्रत्यय सामग्रीको छ जन्माउने चेतना
न त्यो उत्पादको हुन्छ जन्मेको छु भन्ने चेतना ॥२६॥

अन्वयार्थ : प्रत्ययसामग्र्या: = प्रत्ययसामग्रीहरूको, जनयामि इति = उत्पाद गर्छु भन्ने यस्तो, चेतना न = चेतना छैन, जनितस्य च = जन्मेका (उत्पाद) को पनि, जनितोऽस्मि इति = उत्पन्न भएको छु भन्ने यस्तो, चेतना न अस्ति = चेतना छैन ।

प्रत्ययसामग्रीहरूले पनि आफ्नो कार्यलाई जन्माउँदाखेरि विचार गरेर चेतनासहित भई जन्माउँदैनन् । केवल आफ्नो हेतु - फलसँग सम्बन्धित हुने धर्म अनुसार त्यस्तै कार्यलाई जन्म दिन्छन्, विचार गरेर होइन । त्यस्तै उत्पाद (उत्पन्न भएको कार्य) ले पनि 'म उत्पन्न भएको कार्य हुँ' भन्ने जानेको हुँदैन ।

त्यसकारण सबै धर्महरूको व्यापाररहितताले नै यो जगत् चलेको छ । *'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादाद् इदमुत्पद्यते'* भन्ने इदम्प्रत्ययता मात्र हो यो सम्पूर्ण जगत् । यसको अर्थ के हो भने 'यो भए त्यो हुन्छ, यसको उत्पादबाट त्यो उत्पन्न हुन्छ' भन्ने सम्बन्धको जो नियम सबैधर्महरूमा देखिन्छ त्यसैलाई नै 'इदम्प्रत्ययता' भनिन्छ । यहाँ यही इदम्प्रत्ययताबाहेक अर्को केही पनि छैन । त्यसैले स्वतन्त्र कुरा केही पनि सम्भव हुँदैन ।

यदि स्वतन्त्र कुरा छ, जस्तै सांख्यहरूको प्रधानतत्त्व, वेदान्तको आत्मा र नैयायिकहरुको आकाश आदि त स्वतन्त्र छन् भन्ने शंका उठाउने हो भने आचार्य भन्नुहुन्छ-

यत् प्रधानं किलाभीष्टं यत्तदात्मेति कल्पितम् ।
तदेव हि भवामीति न सञ्चिन्त्योपजायते ॥२७॥

जो 'प्रधान' अनि 'आत्मा' गर्न खोजिन्छ कल्पना
त्यो नै 'हुन्छु' भनी सोची देखापर्दैन खै यहाँ ॥२७॥

अन्वयार्थ : यत् = जो, प्रधानं = प्रधानतत्व भनी, किल अभीष्टं = त्यसै भन्न खोजिन्छ, यत् तद् = जो त्यो, 'आत्मा' इति = आत्मा भनेर, कल्पितम् = कल्पना गरिएको छ, तदेव हि = त्यो नै, भवामि इति = 'हुन्छु' भन्ने यस्तो, सञ्चिन्त्य = सोचेर, न उपजायते = उत्पन्न हुने गर्दैन

'प्रधानतत्त्व' या 'आत्मा' लाई स्वतन्त्र पदार्थ भनेर कल्पना गर्न खोजिएको छ तापनि यो समेत 'म हुन्छु' भन्ने सोचेर देखा परेको या उत्पन्न भएको छैन ।

सांख्यहरूले सत्व-रज-तम यी गुणहरूको साम्यावस्थालाई प्रकृति या 'प्रधान' भनेर स्वतन्त्र तत्त्व मान्न खोज्छन् परन्तु त्यो प्रमाण र युक्तिसंगत नभएकोले अभिरुचि नभएको कुरा देखाउन आचार्यले 'किल' भन्ने शब्द प्रयोग गर्नुभएको छ । त्यस्तो कल्पना गरिए पनि त्यसलाई आफू छु, अब हुन्छु, भन्ने चेतना हुँदैन । त्यस्तै वेदान्त आदिले पनि 'आत्मा' भनेर त्यस्तै स्वतन्त्र वस्तु कल्पना गरेका हुन्छन् । त्यसको पनि प्रमाण उपलब्ध नहुने भएकोले अध्यवसित अर्थात् 'परिकल्पित' मात्र हो । उसलाई समेत पनि अन्य कारण सामग्रीको अभावमा स्वयं 'उत्पन्न हुन्छु' या 'हुनेछु' भन्ने चेतना पैदा हुँदैन । किन ? किनकि-

अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितुं तदा ।
विषयव्यापृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते ॥२८॥

अनुत्पन्न छँदै छैन, को चाहान्छ त्यहाँ हुन ?
विषयैमा भए चालू चाहँदैन नि रोकिन ॥२८॥

अन्वयार्थ : अनुत्पन्नं = उत्पन्न नभएको कुरा, तत् = त्यो, हि = निश्चय नै, नास्ति = छैन, (त्यसो भए),कः = कस्ले, तदा = त्यसवेला, भवितुं = हुन, इच्छेद् = इच्छा गर्ला ? विपयव्यापृतत्वाच्च = विपयहरूमा लिप्त छ भने पनि, निरोद्धुं= निरोध हुन, न ईहते = चाहँदैन ।

सांख्यहरूले भन्छन्- 'कुनै पनि असत् कुरा उत्पन्न नहुने भए पनि सत्कार्यवादको सिद्धान्त अनुसार सबै पदार्थहरू उत्पन्न हुनुभन्दा अघि पनि 'सत्' नै हुन्छन्। परन्तु त्यसवेलामा अव्यक्तरूपमा हुन्छन्। पछि कारण सामग्रीको आधार लिएर व्यक्त हुनपुग्छन् र यसैलाई नै हामी 'परिणाम' पनि भन्दछौं' । यसमा आचार्य शान्तिदेवले भन्नुहुन्छ कि, त्यसोभए त्यो अभिव्यक्ति या परिणामभन्दा पहिले पनि त्यो 'सत्' (ontologically existing) नै हुनुपर्‍यो किनकि तपाईहरूको सत्कार्यवाद अनुसार जो अभिव्यक्ति या परिणामजस्ता कार्य छन् ती पहिलेदेखि नै सत् हुन्। त्यसवेला तपाइंले कसरी यो पहिले अव्यक्त थियो, पछि व्यक्त हुनपुग्यो भन्न सक्नुहुन्छ ? 'वस्तु' र उसको 'अभिव्यक्ति' यी दुईको स्वभाव एउटै हुन सक्दैन । यदि एउटै हो भने त अभिव्यक्ति कारण सामग्री भएपछि उत्पन्न भएकोले 'वस्तु' पनि कारणसामग्री भएपछि उत्पन्न हुन्छ भन्ने मान्नु पर्‍यो जो तपाईको सत्कार्यवादबिरुद्ध भयो र असदुत्पत्ति मान्नु पर्ने स्थिति आयो । यदि वस्तु र उसको अभिव्यक्ति अलग स्वभावका हुन्छन् भन्ने मान्नुहुन्छ भने ती दुईको बिचमा कुनै सम्बन्ध नै हुने भएन । त्यस वेलामा अभिव्यक्ति उत्पन्न भएपछि पनि वस्तु अभिव्यक्त हुन नसक्ने हुन्छ । अनि त तपाईको वस्तु स्वतः असत् हुनपुग्छ । यदि वस्तु र उसको अभिव्यक्तिको बिचमा सम्बन्ध स्थापित गर्नको लागि तेस्रो संयोजनको परिकल्पना गर्नुहुन्छ भने यो प्रसङ्ग पुनः उपस्थित हुन्छ र अनवस्था दोष आइलाग्छ । त्यसकारण परिणामभन्दा अघि पनि त्यो 'सत्' हो भन्नु सर्वथा अयुक्त हुन्छ ।

यदि फेरि सांख्यहरूले 'तपाईहरूले माथि दिएको दोष त प्रकृति (प्रधान) को बारेमा हो परन्तु हाम्रो पुरुषपक्षमा उक्त दोष लागू हुँदैन, किनकि पुरुष या आत्मा त नित्य हुन्छ र कदापि उत्पन्न हुँदैन त्यो अनुत्पन्न नै छ।' भन्ने मान्दछन् भने आचार्य भन्नुहुन्छ - त्यसो भए त नित्य आत्मा (पुरुष) त शशविषाण (खरायोको सींङ्) या बन्ध्यापुत्र समान असत् कुरा हो र त्यसको हेतुप्रत्यय आदिबाट समेत उत्पाद सम्भव छैन। आफै नै उत्पन्न नभएको छैन भने कस्ले त्यहाँ चाहना गर्छ ? त्यसको मात्र क्षणिक अस्तित्व देखिन्छ जो हेतु प्रत्ययबाट उत्पन्न हुन्छ । थोरै समयको लागि त्यसको अस्तित्वलाई स्वीकार गर्ने हो भने पनि उसको स्वयं सामर्थ्य केही हुँदैन र आफ्माथि त्यसको कुनै प्रभुत्व रहँदैन, किनकि उसले प्रकृतिद्वारा ल्याइएको विषयको मात्र भोग गर्छ । यसको मतलव के हुन्छ भने प्रकृतिद्वारा ल्याइएको विषयभोग गर्नुभन्दा अघि उसमा भोक्तृत्व (भोग गर्नेपन) पनि थिएन। पछि मात्र भोक्तृत्व उत्पन्न भयो। फेरि त्यो भोक्तृत्व र पुरुषको स्वभाव एउटै हो भन्ने मान्नुपर्ने हुन्छ। नत्र त्यो पुरुष भोक्ता नै हुँदैन । फलस्वरूप भोक्तृत्व र पुरुष पनि सँगसँगै उत्पन्न भएको मान्नुपर्ने हुन्छ। अनि कसरी तपाइंले त्यो नित्य भएकोले त्यसको उत्पाद हुँदैन भन्नुहुन्छ ?

यदि तपाईंले प्रकृतिद्वारा ल्याइएका विषयहरूको उपभोगका निमित्त पुरुष प्रवृत्त हुन्छ भन्ने मान्नुहुन्छ भने, जो पहिले प्रवृत्त थिएन त्यो पछि प्रवृत्त हुन्छ भन्नु युक्तिसंगत भएन किनकि स्वभावमा परिवर्तन हुनजान्छ। यस्तो मानियो भने पनि जो विषयभोगमा प्रवृत्त भइराखेको छ त्यो फेरि कसरी भोगबाट निवृत्त हुन्छ। त्यो त नित्य छ, परिवर्तन हुँदैन। विषयभोगमा प्रवृत्त हुने

स्वभाव नै स्थिररूपमा रहिरहने हुन्छ। प्रवृत्ति स्वभावबाट निवृत्ति स्वभावमा परिवर्तन हुनलाई अनित्य मान्नुपर्ने हुन्छ। नित्यवस्तुमा परिवर्तन संभवै हुँदैन। न्यायवैशेषिकहरूको आत्माका सम्बन्धमा पनि यही कुरा लागू हुन्छ। सांख्यको विस्तृत खण्डनको लागि यही ग्रन्थको नवौं परिच्छेदमा १२७ देखि १३८ सम्मका श्लोकहरूमा हेर्नुपर्दछ।

नैयायिकको आत्माका सम्बन्धमा आचार्य भन्नुहुन्छ –

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत् स्फुटमक्रियः ।
प्रत्ययान्तरसङ्गे ऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ॥२९॥

आत्मा नित्य अचेतन् छ व्योम भ‍ै स्पष्ट निष्कृय
अन्य प्रत्ययका साथ निर्विकारको के क्रिया ? ॥२९॥

अन्वयार्थ : आत्मा = आत्मा, नित्यः = नित्य छ, अतेचनः = अचेतन छ, व्योमवत् = आकाश भ‍ैं, स्फुटम् = स्पष्ट छ, अक्रियः = निष्क्रिय छ (त्यसैले त्यस्तो), निर्विकारस्य = निर्विकार (विकारले रहित) को, प्रत्ययान्तरसंगे ऽपि = अरु प्रत्ययहरूको संसर्ग हुँदा पनि, का क्रिया = के क्रिया हुन्छ ?

नैयायिकहरूको आत्मा नित्य छ, अचेतन छ, आकाश भ‍ैँ स्पष्ट र निष्क्रिय छ। त्यस्तो निर्विकार कुरामा अन्य प्रत्ययहरूको संसर्गपछि पनि कुनै क्रिया पैदा हुन कसरी सम्भव हुन्छ ?

सांख्यदर्शनमा आत्मा (पुरुष) 'चिद्' याने चेतनतत्त्व हो भने न्याय वैशेषिक अनुसार आत्मा अचेतन मानिन्छ। अरु कुरा दुबैमा समान छन्, यही एउटा विशेषता हो। अतः यिनीहरूले माने अनुसार अर्को चैतन्यसँग संयोग भएपछि आत्मामा पनि चेतनता आउँछ। स्वभावले यो जड नै हो। यसप्रकार यो आत्मा नित्य, अचेतन, आकाशभ‍ैं व्यापक र स्पष्ट एवं निष्कृय तत्व हो र यो क्रियारहित हुन्छ।

यहाँ नित्यको अर्थ नै भूत भविष्य सबै कालमा एकै स्वभावले रहिरहने गुण भएको हो। त्यसैले यदि त्यो आत्मा नित्य छ भने उसमा कुनै क्रिया अर्थात् व्यापार सम्भवै हुँदैन र कुनै पनि कार्यमा त्यो उपकारी हुन सक्दैन। यदि नैयायिकले अन्य सहकारी प्रत्ययहरूको माध्यमले निष्कृय कुरामा पनि क्रियासामर्थ्य आउँछ भन्ने मान्छन् भने त्यो झन् युक्त छैन किनकि नित्य र क्रियारहित स्वभाव भएको वस्तुमा फेरि विकार आएर क्रियासामर्थ्य देखिँदै उसको निर्विकारधर्म नै नष्ट हुन्छ भने त्यो नित्य हुनै सक्दैन। अतः त्यो निर्विकार आत्मामा क्रिया मान्नु कसैगरी पनि उपयुक्त हुँदैन।

यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृतम्।
तस्य क्रियेति सम्बन्धे कतरत् तन्निबन्धनम् ॥३०॥

पहिले भ‍ैं क्रियाकालमा छ भने के क्रिया गऱ्यो ?
'त्यस्को क्रिया' यसो भन्दा के सम्वन्ध त्यहाँ रह्यो ? ॥३०॥

अन्वयार्थ : यः = जुन, क्रियाकाले = क्रिया (काम) गर्ने समयमा, पूर्ववत् = पहिले भ‍ैं (अक्रिय) छ भने, तेन = त्यसले, क्रियायाः = क्रियाको, किं कृतम् = के गऱ्यो ? तस्य क्रिया ='त्यसको क्रिया', इति = यस्तो, सम्वन्धे = सम्वन्ध राख्नमा, तन्निवन्धनम् = त्यस्तो निमित्त, कतरत् = कस्तो खालको होला ?

जो आत्मा क्रिया हुनुभन्दा अगाडि अक्रिय (क्रियाले रहित) थियो, त्यो आत्मा क्रियाकालमा पनि त्यस्तै अक्रिय नै छ भने (नित्य भएको हुनाले) सहकारी प्रत्ययहरूसँग संयोग भए पनि उसले क्रिया गर्न नसक्ने भयो । अतः 'क्रिया नै के गऱ्यो?' भन्ने प्रश्न उठ्ने भयो र क्रिया सम्भव नै नहुने भयो । फेरि क्रिया र आत्मामा कुनै सम्बन्ध नै नभएपछि कसरी 'आत्माको क्रिया' भन्ने सम्बन्धकारक प्रयोग गर्न सकिने हुन्छ त ? त्यस्तो सम्बन्ध स्थापित हुनलाई के निमित्त बन्छ ? केही पनि निमित्त बन्न सक्दैन । त्यसकारण स्वतन्त्र-नित्य तर क्रियासामर्थ्य पनि भएको भन्ने वस्तु कुनै पनि छैन । स्वतन्त्र आत्माको र ईश्वरको निराकरणको लागि यही ग्रन्थको ९ परिच्छेदमा ५८-६० र ११९-१२६ श्लोकहरू हेर्नुपर्छ ।

यसरी सबै कुरा परतन्त्र भएकाले रिसाउनुपर्ने ठाउँ कहीं पनि छैन भन्दै हुनुहुन्छ -

एवं परवशं सर्वं यद्वशं सोऽपि चावशः ।
निर्माणवदचेष्टेषु भावेष्वेवं क्व कुप्यते ? ॥३१॥

सबै पराधीन हुन्छन् अन्याधीन तिनै पनि
निर्मित झैं अचेष्टैका भावमा के रिसाउने ? ॥३१॥

अन्वयार्थ : *एवं = यसंप्रकार, सर्वं = सबैकुरा, परवशं = अरुका अधीनमा छन्, यद्वशं = जसको अधीनमा तिनी थिए, सोऽपि = त्यो पनि, आवशः = चारैतिरबाटअरुको वशमा हुन्छ, एवं = यसप्रकारका, निर्माणवद् = निर्माण (माया) समान, अचेष्टेषु = चेष्टा नभएका, भावेषु = भाव(पदार्थ)हरूमा, क्व कुप्यते = कहाँ रिसाउने ?*

यसरी सबै चिज (आध्यात्मिक एवं बाह्य पदार्थहरू) अरुका अधीनमा परतन्त्ररूपले उत्पन्न हुन्छन् । जसका अधीनमा ती छन् उनीहरू पनि फेरि आफ्नै अरु हेतुप्रत्ययका अधीनमा छन् । यस प्रकार जे चिज पनि निर्माण (माया) समान अचेष्ट छन्, अर्थात् चेष्टाले रहित छन् । त्यस्ता निश्चेष्ट पदार्थहरूमा किन र कहाँ रिसाउने ? परमार्थतः सबै धर्महरू व्यापाररहित नै छन् । अतः कसले के अपराध गरेको छ र कोसँग किन रिसाउने । सबै धर्महरू निरीह भएका हुनाले बुद्धिमान् प्रज्ञावान्हरूका निमित्त कहीं पनि रिसको, द्वेषको स्थान छैन भन्ने भाव हो ।

यस्तो मान्ने हो भने त अर्को आपत्ति आइलाग्दैन र ? भन्ने शंका स्वयं उठाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

वारणपि न युक्तैवं कः किं वारयतीति चेत् ।
युक्ता प्रतीत्यता यस्माद् दुःखस्योपरतिर्मता ॥३२॥

निषेध पनि मिल्दैन को केलाई नकार्छ त ?
प्रतीत्यता त युक्तै छ त्यस्बाटै दुःखमुक्ति छ ॥३२॥

अन्वयार्थ : *एवं = यसरी, कः = कस्ले, किं = केलाई, वारयति इति = निषेध गर्छ भने त, वरणा अपि = निषेध गर्नु पनि, न युक्तम् = उपयुक्त छैन, चेत् = यदि त्यसो भन्ने हो भने पनि, प्रतीत्यता = प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म, युक्ता = ठीकै छ, यस्मात् = जसले गर्दा, दुःखस्य = दुःखदेखि, उपरतिः = मुक्ति (छुटकारा), मता = मानिएको छ ।*

माथि बताइएजस्तो सबै कुरा निरीह निर्व्यापार हुन् भनेर कोसँग किन रिसाउने ? भन्ने हो

भने त 'कसले केलाई निषेध गर्ने ? अर्थात् नरिसाउने को छ र केसँग नरिसाइएको छ ? वास्तवमा प्रवृत्ति नै स्वतन्त्र छैन भने निवृत्ति पनि कसरी हामीले चाहेर त्यस बमोजिम हुन सक्छ त ? यो स्थितिमा क्रोध आदि नगर, क्षान्ति गर भन्नु पनि अयुक्त भएन त ? यस्तो शंका उठ्छ भने-उत्तर यस्तो छ-

सबै पदार्थ मायासमान निर्मित र निर्व्यापार भए पनि इदम्प्रत्ययता अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद हुँदै नभएको चाहिँ होइन। बरु सबै धर्महरू इदम्प्रत्ययता मात्र हुन् र 'यो भए त्यो हुन्छ, यसको उत्पत्ति भए त्यसको उत्पाद हुन्छ' भन्ने स्वरूपका छन्। यो त युक्ति संगत नै छ। यही नियमले दुःख पनि देखापर्छ र त्यसबाट मुक्ति पनि सम्भव छ।

माथिको श्लोकमा 'एवं परवशं सर्वम्' भनिएकोले 'अविद्याको कारणले संस्कार, संस्कारबाट विज्ञान, विज्ञानबाट नामरूप ...... यसरी द्वादश निदानले संचालन गरिएको यो भवचक्र संञ्चालित छ र यही नै दुःखको अनादिकालदेखि चलिरहेको प्रवाह हो। त्यस्तै निवृत्ति हुँदा पनि अविद्याको निवृत्ति भएपछि संस्कारको निवृत्ति हुन सक्ने भयो किनकि अविद्याले गर्दा संस्कार हुन्छन्। यसैगरी सबै चक्र उन्मूलन हुन सक्छ र दुःखको आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव छ। त्यसकारण निर्व्यापार भए पनि द्वेष आदिसँग व्यावहारिकरूपमा मुक्ति हुन सम्भव छ र युक्तिसंगत पनि छ। अभ्युदय र नैःश्रेयस पनि यही आधारमा सम्भव हुन्छ। परमार्थतः स्वभावहीन भएता पनि व्यवहारतः यी सबै सम्भव कुरा हुन्। दुःख पनि व्यवहारसत्य हो परमार्थसत्य होइन।

तस्मादमित्रं मित्रं वा दृष्ट्वाप्यन्यायकारिणम्।
ईदृशाः प्रत्यया अस्येत्येवं मत्वा सुखी भवेत् ॥३३॥

अत: शत्रु, मत्रिलाई देखी अन्यायी छन् तर
यिनै प्रत्ययले यस्तो भयो भन्दै सुखी हुनू ॥३३॥

__अन्वयार्थ :__ तस्मात् = त्यसकारणले, अन्यायकारिणं = अन्याय गर्ने, अमित्रं = अमित्रलाई, वा = अथवा, मित्रं = मित्रलाई पनि, दृष्ट्वा = देखेर, अस्य = यसका, प्रत्यया: = प्रत्ययहरू, ईदृशा: इति = यस्तै छन् भन्ने, एवं = यस्तो, मत्वा = मानेर, सुखी भवेत् = सुखी हुनू।

यसकारण अन्याय गर्ने खालका शत्रु या मित्र जो भए पनि उनीहरूलाई देख्ने वित्तिकै 'यिनीहरूको त्यो अन्याय प्रवृत्ति उनीहरूकै आफ्नो हेतुप्रत्ययको कारणले भएको हो अन्यथा उनीहरूको पनि आफ्नो के दोष थियो र ?' भन्ने सोचेर दोष नदेख्ने प्रयत्न गर्नुपर्छ। यसरी आफूले दुःखको आलम्बनलाई त्यागेर सुखको आलम्बनलाई ग्रहण गर्नुपर्छ।

यदि तु स्वेच्छया सिद्धिः सर्वेषामेव देहिनाम्।
न भवेत् कस्यचिद् दुःखं न दुःखं कश्चिदिच्छति ॥३४॥

स्वेच्छैले सव प्राणीको यदि सिद्धि हुने भए
हुँदनथ्यो दु:ख कहीँ कोही चाहन्न दु:ख ए ! ॥३४॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, सर्वेपाम् एव = सबै, देहिनाम् = प्राणीहरूको, स्वेच्छया = आफ्नो इच्छाले मात्र, सिद्धि: = सिद्धि हुने

भए, कस्यचिद् = कसैलाई पनि, दुःखं न भवेत् = दुःख हुने थिएन । कश्चिद् = कसैले पनि, दुःखं = दुःख, न इच्छति = चाहँदैन ।

कसैले पनि इच्छा गरेर मात्र आफ्नो इष्ट सिद्धि गर्न सक्दैन। यदि त्यसो गर्न सम्भव भएको भए त कसैलाई पनि दुःख हुने थिएन किनकि दुःख त कसैले पनि चाहँदैन र सबैले सुखै चाहन्छन्।

यसरी दुःखाधिवासनाक्षान्तिको प्रतिपादन गरिसकेपछि अब परापकारमर्षणा क्षान्तिलाई बताउन आचार्य भन्नुहुन्छ –

प्रमादादात्मनात्मानं बाधन्ते कण्टकादिभिः ।
भक्तच्छेदादिभिः कोपाद् दुरापस्त्र्यादिलिप्सया ॥३५॥
उद्बन्धनप्रपातैश्च विषापथ्यादिभक्षणैः ।
निघ्नन्ति केचिदात्मानमपुण्याचरणेन च ॥३६॥
यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् घ्नन्त्यात्मानमपि प्रियम् ।
तदैषां परकायेषु परिहारः कथं भवेत् ॥३७॥

मातेर काँडाहरूले पिर्दछन् आफुलाई नै
खान छोडेर रिसले, परस्त्री आदि चाहँदै ॥३५॥
पाशोले, हामफालेर, खानाले विष-विकृति
कोही गर्छन् आत्महत्या पाप आचरणै गरी ॥३६॥
क्लेशका वशले मार्छन् प्रिय आफै पनि जब
कसरी परकायैमा रोक्ने यिन्लाई हो तब ? ॥३७॥

__अन्वयार्थ :__ केचित् = कसैले, प्रमादाद् = प्रमादले गर्दा,, आत्मानं = आफूलाई, कण्टकादिभिः = काँडा आदिले, बाधन्ते = पीडा दिन्छन्, कोपात् = रिसले र, दुरापस्त्र्यादिलिप्सया = पाउन नसकिने (या नमिल्ने) केटी (स्त्री) हरूको चाहनाले गर्दा, भक्तच्छेदादिभिः = भोजन पानी छोडेर (पीडागर्छन्)

केचित् = कसैले उद्बन्धनप्रपातैश्च = पाशो लगाएर (झुण्डिएर) या छाँगोबाट हाम फालेर, विपापथ्यादिभक्षणैः = विप या अपथ्य आदि खाएर या, अपुण्याचरणेन च = पापको आचरण गरेर पनि, आत्मानं = आफूलाई, निघ्नन्ति = हत्या गर्दछन् ।

एवं = यस प्रकार, यदा = जब, क्लेशवश्यत्वात् = क्लेशका वशमा पर्नाले गर्दा, प्रियम् = प्यारो लाग्ने, आत्मानं अपि = आफूलाई समेत पनि, घ्नन्ति = हत्या गर्दछन् भने, तदा = त्यस अवस्थामा, एपां = यिनीहरूको, परकायेपु = अरुको शरीरमा, परिहारः = त्यस्तो गर्नबाट बचाउने कुरा, कथं भवेत् = कसरी होला ?

सोचविचार या ख्याल नगरीकनै गर्नु प्रमाद हो। कसैले काँडा, गिर्खा, पत्थर, चट्टान आदिले हिंड्न गाह्रो हुने बाटोमा हिंड्दा होश नपुर्‍याएर प्रमादवश आफूलाई काँडा, पत्थर आदिले पीडा दिन्छन्, त्यस्तै खान-पान सब छोडेर पनि पीडा दिन्छन्, त्यो पनि या त रिसले गर्दा या त प्राप्त गर्न नहुने र नसकिने परस्त्री, परधन आदिको लालसाले गर्दा पीडित भएर।

कसैले झुण्डिएर आत्महत्या गर्छन् भने कसैले अग्लो भीर, पत्थर आदिबाट हामफालेर आत्महत्या गर्छन्। त्यस्तै, कसैले आगो लगाउने, पानीमा डुब्ने आदि पनि गर्दछन्। अथवा विष खाएर, अतिआहार या अतिपान गरेर पनि मूर्खहरूले आत्महत्या गर्दछन्। कसैले अर्कालाई मार्ने,

लडाइं आदिमा अरुलाई मार्ने जस्ता पापकर्मको अभिप्रायले अपुण्य आचरण गर्दै स्वयंलाई नष्ट पार्ने काम गर्दछन् ।

यसरी क्लेशका वशमा परेर यिनीहरूले अति प्यारो आफ्नो शरीर (आत्मभावादि)लाई त मार्न छोड्दैनन् भने यस्ताले अरुको शरीर आदिलाई हत्या नगर्लान् भन्न कसरी सकिएला ? अर्थात् यिनीहरूले अरूको शरीर आदिलाई अहित नगर्ने कुरा आउँदैन ।

त्यसो हुनाले यिनीहरू त कृपाका पात्र हुन्, द्वेषका स्थान होइनन् किनकि –

क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेषु प्रवृत्तेष्वात्मघातने ।
न केवलं दया नास्ति क्रोध उत्पद्यते कथम् ॥३८॥

भई उन्मत्त क्लेशैले स्वहत्यामै प्रवृत्तमा
'दया छैन' मात्र हैन क्रोधै कसरी आउँछ ? ॥३८॥

अन्वयार्थ : एषु = यी, क्लेशोन्मत्तीकृतेषु = क्लेशद्वारा उन्मत्त गराइएर, आत्मघातने प्रवृत्तेषु = आत्मघातमै लागिरहेकाहरूप्रति, केवलं = केवल, दया नास्ति न = दया छैन होइन कि, (वरु) क्रोध: = रिस नै, कथं उत्पद्यते = कसरी उत्पन्न हुन सक्छ ?

क्लेशहरूले उन्मत्त गराइएका हुनाले आत्महत्यामा लागिरहेका यस्ता मानिस(प्राणी)हरू प्रति 'दया छैन' भनेर चुप लाग्नु त ठीक छैन । बरु बोधिसत्वले त ती विचराहरूप्रति दया गर्नु पर्छ, उदासीनता होइन । ती त दायाका पात्र हुन् र दया नगर्ने त के कुरा, तिनीहरूप्रति रिस पनि कहीँ आउन सक्ला र ? यो त सम्भवै छैन ।

यदि स्वभावो बालानां परोपद्रवकारिता ।
तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके ॥३९॥

यदि वालकको बानी परोपद्रव गर्नु हो
तिनीमा रीस ठीक् छैन, आगोमा झैं जलाउने ॥३९॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, वालानां = बालकहरूको (अज्ञानीहरूको), स्वभाव: = स्वभाव नै, परोपद्रवकारिता = अरुको उपद्रव गर्ने बानी (अर्काको स्वार्थमा हानि पुर्‍याउने) हो भने, तेषु = तिनीहरूमा, मे = मेरो, कोप: = रिस, न युक्त: = उपयुक्त छैन, यथा = जस्तै, दहनात्मके = जलाउने स्वभाववाला, अग्नौ = आगोमा, (रिस गर्नु ठीक छैन ।)

यदि अज्ञानी बाल पृथग्जनहरूको स्वभाव नै अरुलाई दुःख दिइराख्नु हो भने पनि उनीहरूमाथि रिस राख्नु उचित हुँदैन किनकि आगोको स्वभाव नै जलाउनु हो भने आगोले डढायो भनेर आगोसित रिसाउनु त कुनै बुद्धिमानी होइन । नडढाए त आगो नै भएन नि ।

यदि उनीहरूको स्वभाव नै त्यो नभएर पछि आइलागेको लेप अर्थात् आगन्तुक हो भने –

अथ दोषो ऽ यमागन्तुः सत्वाः प्रकृतिपेशलाः ।
तथाप्ययुक्तस्तत्कोपः कटुधूमे यथाम्बरे ॥४०॥

सत्त्व प्रकृतिले स्वच्छ, दोष आगन्तुकै भए
युक्त छैन रिस पीरो धुवाँले नभमा सरी ॥४०॥

अन्वयार्थ : अथ = अव, अयम् दोषः = यो दोष, आगन्तुः = आइलागेका कुरा (द्वेष आदि)को हो, सत्वाः = प्राणीहरू त, प्रकृतिपेशलाः = स्वभावले नै सरल छन् भने, तथापि = त्यसो भए पनि, तत्कोपः = तिनीहरूप्रतिको उक्त रिस, अयुक्त : = उपयुक्त छैन, यथा = जस्तै, कटुधूमे = पीरो धुवाँले युक्त भएको, अम्वरे = आकाशप्रति (रिसाउनु ठीक छैन) ।

यदि दोषहरू (क्रोध, द्वेष आदि) आगन्तुक मलका हुन् र प्राणीहरू त प्रकृतिले नै सरल र शुद्ध छन् अर्थात् चित्त त प्रकृतिप्रभास्वर, परिशुद्ध एवं निर्मल छ, केवल आगन्तुक क्लेशहरू मात्र दोषी हुन् भन्ने हो भने झन् ती निर्दोष र स्वभावैले परिशुद्ध प्राणीहरूप्रति क्रोध पैदा गर्नु कसरी उपयुक्त हुन्छ । जसरी आकाशमा पीरो धुवाँ भरियो भनेर आकाशसँग रिसाउने कुरा आउँदैन त्यसरी यहाँ पनि प्राणीहरूसँग क्रोध गर्ने कुरा आउँदैन । सबैलाई थाहै छ कि पीरोपन आकाशको स्वभाव होइन, धूवाँको स्वभाव हो । त्यसकारण धूवाँ नै दोषी हो, आकाश होइन । क्लेशहरू नै दोषी हुन्, प्राणीहरू होइनन् ।

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते ।
द्वेषेण प्रेरितः सो ऽ पि द्वेषे द्वेषो ऽ स्तु मे वरम् ॥४१॥

मुख्य दण्डादि छोडेर प्रेरकैमा रिसाइए
द्वेषले प्रेरितै त्यो हो, द्वेषैसँग सिरसाउँछु ॥४१॥

अन्वयार्थ : मुख्यं = मुख्य कारण, दण्डादिकं = दण्ड आदिलाई, हित्वा = छोडेर, यदि = यदि, प्रेरके = प्रेरणा गर्नेवालासँग, कुप्यते = रिसाइन्छ भने, सो ऽ पि = त्यो प्राणी पनि, द्वेषेण = द्वेषले, प्रेरितः = प्रेरित गरिएको हो, वरम् = बरु, मे = मेरो, द्वेषे = द्वेषसँग नै, द्वेषः अस्तु = द्वेष होस् ।

दुःखको मूल कारण जे हो त्यसप्रति क्रोध गर्नु उपयुक्त हो र गौण कारणप्रति क्रोध गर्नु उपयुक्त हुँदैन । तर पनि लट्ठी, भाला, शस्त्र आदि दुःखका मूल (प्रधान) कारण हुन् र ती लट्ठी आदिलाई चलाउनेवाला अप्रधान (गौण) कारण हुन् तापनि लट्ठीका प्रेरक शस्त्रधारीहरूप्रति रिस गर्नु उपयुक्त छ भन्ने हो भने पनि कुरा मिल्दैन । किनकि ती व्यक्तिहरूले पनि भित्रका क्लेशहरूले (द्वेष आदिले) प्रेरित गरेर नै लट्ठी आदि समातेका हुन् । त्यस हिसाबले पनि बरु द्वेष आदि क्लेशहरूसँग द्वेष गर्नु ठीक हुन्छ परन्तु द्वेषी (प्राणी)हरूसँग रिस गर्नु ठीक छैन ।

मयापि पूर्वसत्वानामीदृश्येव व्यथा कृता ।
तस्मान्मे युक्तमेवैतत् सत्त्वोपद्रवकारिणः ॥४२॥

मैले पनि त प्राणीमा यस्तै दुःख दिएँ अघि
सत्वलाई दुःख दिने मेरो ठीक् छ दशा यही ॥४२॥

अन्वयार्थ : मयापि = मैले पनि, पूर्वं = पहिले, सत्वानां = प्राणीहरूलाई, ईदृशी एव = यस्तै नै, व्यथा कृता = दुःख दिएको थिएं, तस्मात् = त्यसकारणले, सत्वोपद्रवकारिणः = सत्वहरूलाई उपद्रव गर्ने, मे = मेरा निमित्त, एतत् = यही अवस्था, युक्तम् एव = ठीकै छ ।

मैले पनि पहिले पहिलेका जन्महरूमा सत्वहरूलाई यस्तै पीडा दिएको थिएँ किनकि आफ्नो पूर्वकर्मविना यहाँ सुख, दुःख केही पनि हुँदैनन् । त्यसकारण अरुलाई पीडा दिनेवाला भएकोले मैले

पनि अरूबाट द्वेष आदि गरिएर पीडा भोग्नु उपयुक्त नै छ। यसमा उनीहरूको केही दोष छैन। दोष त मेरो नै थियो। यस्तो सोचेर अरुले गरेको अपकारलाई सहेर पचाउनुपर्छ।

तच्छस्त्रं मम कायश्च द्वयं दुःखस्य कारणम्।
तेन शस्त्रं मया कायो गृहीतः कुत्र कुप्यते ॥४३॥

मेरो 'देह' र त्यो 'शस्त्र' दुवै हुन् दुःखकारण
'देह' मैले 'शस्त्र' त्यस्ले लिएमा क्रोध कोसँग ? ॥४३॥

अन्वयार्थ : तच्छस्त्रं = त्यो हतियार र, मम कायश्च = मेरो शरीर पनि, द्वयं = यी दुई, दुःखस्य = दुःखका, कारणम् = कारण हुन्, तेन = त्यस (आफूसँग द्वेष गर्नेवाला) ले, शस्त्रं = हतियार लिएको छ, मया = मैले, कायः गृहीतः = शरीर लिएको छ, (अब) कुत्र = कोसँग, कुप्यते = रिसाउने त ?

अपकारी व्यक्तिको शस्त्र र मेरो शरीर यी दुई नै दुःखका कारण हुन्। एउटाले शस्त्र लियो भने अर्कोले शरीर लिएँ। त्यसकारण कोसँग रिसाउने त ? आखिर दुःखका कारणसामग्री त हामी दुवैले नै लिइसक्यौं भने उसँग मात्रै मैले किन द्वेष गरिराख्ने आफूसँग किन नगर्ने ? आफूसँग द्वेष नगर्ने हो भने उसँग पनि गर्नुभएन।

गण्डो ऽयं प्रतिमाकारो गृहीतो घट्टनासहः।
तृष्णान्धेन मया तत्र व्यथायां कुत्र कुप्यते ॥४४॥

मूर्तिजस्तो लिएँ फोडा सहने घोचपेचना
पीडा हुँदा भई अन्धो तृष्णाले किन रिस् कहाँ ? ॥४४॥

अन्वयार्थ : अयं = यो, घट्टनासहः = घोचपेचलाई सहने, प्रतिमाकारः = प्रतिमाको आकार भएको, गण्डः = फोडा (पीलो), मया = मैले, गृहीतः - लिएँ (धारण गरिसकें), तत्र = त्यसमा, व्यथायां = पीडा हुँदाखेरि, तृष्णान्धेन = तृष्णाद्वारा अन्धो भएर कुत्र = केसँग, कुप्यते = रिसाउने ?

विभिन्न किसिमका घोचपेचहरूलाई पनि सहन सक्ने शरीरको जस्तो आकृति भएको यो पीलोलाई बोकेर बसेको छु। अब दुःख हटोस् र सुख मिलोस् भन्ने चाहनाको तृष्णाले गर्दा प्रज्ञानेत्रलाई नष्ट पारेको म अन्धोले यो पीलोमा दुःख कष्ट भयो भनेर कोसँग रिस गर्ने ? पीलोमा ढोका, भित्ता आदिबाट ठेस लाग्यो भनेर ढोका पर्खाल आदिसँग रिसाउनु कुनै बुद्धिमानले गर्ने काम होइन।

'कार्य नचाहनेले त्यसको कारणलाई नै हटाउनुपर्छ। म त त्यसको विपरीत चल्दैछु' भन्ने बुझाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

दुःखं नेच्छामि दुःखस्य हेतुमिच्छामि बालिशः।
स्वापराधागते दुःखे कस्मादन्यत्र कुप्यते ? ॥४२॥

दुःख चाहन्न दुःखैको हेतु चाहान्छु मूर्खले
दुःखमा गल्तीले आफ्नू अरुसँग रिसाउने ? ॥४५॥

अन्वयार्थ : वालिशः = वालवुद्धिवाला (मूर्ख) मैले, दुःखं = दुःखलाई, न इच्छामि = चाहन्न, दुःखस्य = दुःखको, हेतुं = कारणलाई त, इच्छामि = चाहान्छु, स्वापराधागते = आफ्नै अपराधले आएको, दुःखे = दुःखमा, कस्माद् = किन, अन्यत्र = अरुसग, कुप्यते = रिसाउने ?

विपरीत बुद्धिभएको म मूर्खले दुःख त चाहन्न परन्तु दुःखको कारण फेरि चाहान्छु भने त मलाई दुःख भएरै छोड्छ किनकि दुःखको कारण मैले चाहेरै राखेको छु। अब आफ्नै गल्तीले दुःख भयो भने अरूसँग रिसाएर मिल्छ ?

यी शरीर आदि आत्मभाव दुःखका कारण हुन्। यी मलाई प्रिय छन् र 'मेरा' हुन् भनी यिनको ममतामा अरुलाई धेरै कष्ट दिने काम गरें। अब त्यसको परिपाक हुँदा यस्तै शरीर आदि आत्मभावमा दुःख भइरहेको छ भने अरुसँग रिसाएर के लाभ हुन्छ ? जब यो दुःख आदि फल नै मलाई मन नपर्ने हो भने त त्यसको हेतुलाई नै त्याग गर्नु पो उचित हुन्छ, म मूर्खले उल्टो मात्र गर्छु त कसरी शान्ति हुन्छ ?

असिपत्रवनं यद्वद् यथा नरकपक्षिणः ।
मत्कर्मजनिता एव तथेदं कुत्र कुप्यते ॥४६॥

असिपत्रवनै जो छ, त्यस्तै नरकमा चरा
निस्कन्छन् कर्मले मेरै कस्माथि म रिसाउने ॥४६॥

अन्वयार्थ : यद्वद् = जस्तो, असिपत्रवनं = असिपत्रवन छ, यथा = जस्ता, नरकपक्षिणः = नरकका चराहरू छन् (ती), मत्कर्मजनिता एव = मेरो कर्मले गर्दा उत्पन्न भएका मात्र हुन् , इदं तथा = यस्तो हो भने, कुत्र = कोसंग, कुप्यते = रिसाउने ?

असिपत्रवन भन्ने नरक र त्यसै गरी नरकमा रहने गीद्ध, लाटोकोसेरो, कौवा जस्ता चराहरू सबै मेरा दुःखका कारण हुन पुग्छन्। परन्तु ती सबै त्यो रूपमा देखा परेको मेरै कर्मले मात्र हो। अर्को दोस्रो कुनै पनि कारण छैन। यसैगरी यो लोकमा शत्रु आदिले हातमा लिएका हतियारहरू पनि मेरै कर्मद्वारा उत्पन्न भएका हुन्। त्यसकारण कोसँग रिसाउने ?

असि भनेको तरवार हो। तरवारको जस्तो पात भएका वृक्षहरूले भरिएको वन भएकोले 'असिपत्रवन' भनिएको हो। यो एक किसिमको नरक हो। यहाँ यसको उल्लेख गर्नाले सबै नरकहरूको प्रतिनिधित्व गर्छ। सबै नरक र त्यहाँ हुने सबै प्रकारका दुःखदायी अस्त्रहरूका सम्बन्धमा पनि यही कुरा लागू हुन्छ। ती सबै आफ्नै कर्मले उत्पन्न हुन्छन्।

मत्कर्मचोदिता एव जाता मय्यपकारिणः ।
येन यास्यन्ति नरकान् मयैवामी हता ननु ॥४७॥

अपकारी यिनी मेरै कर्मले छन् नि प्रेरित
जस्ले नरक जाने छन्, भए मैबाट आहत ॥४७॥

अन्वयार्थ : मत्कर्मचोदिता एव = मेराकर्मले प्रेरित भएर नै, मयि अपकारिणः = ममाथि अपकार गर्ने यिनीहरू, जाताः = उत्पन्न भएका छन्, येन = जसले गर्दा, नरकान् = नरकहरूमा, यास्यन्ति = जानेछन्, मया एव = मद्वारा नै, अमी = यिनीहरू, हताः = नष्ट भएका हुन् ।

मलाई अपकार गर्ने यिनीहरू मेरा कर्मले गर्दा नै यस रूपमा प्रेरित भएर अपकारी हुन पुगेका हुन्। यसले गर्दा उनीहरू पनि नरकमा जान्छन् र दुःख पाउँछन्। त्यसको उत्तरदायी म नै हूँ। यिनीहरूले मलाई अपकार गरेको नभएर वास्तवमा त मैले पो यिनीहरूलाई आहत(पीडित) बनाएको रहेछु। यदि मैले यस्तो कर्म नै नगरेको भए आज यिनीहरू मेरो अपकारी बन्दैनथे र नरक जानबाट पनि बच्ने थिए। यो सब मेरै कर्मको धोका हो।

एतानाश्रित्य मे पापं क्षीयते क्षमतो बहु।
मामाश्रित्य तु यान्त्येते नरकान् दीर्घवेदनान्॥४८॥
अहमेवापकार्येषां ममैते चोपकारिणः।
कस्माद् विपर्ययं कृत्वा खलचेतः प्रकुप्यसि ?॥४९॥

यिनैका भरले पाप नाशिन्छ सहँदा निकै
मैले गर्दा त यी जान्छन् नरकैमा व्यथा निकै ॥४८॥
म यिन्को अपकारी हुं यी मेरा उपकारी हुन्
उल्टो सोचेर किन हे मूर्ख बुद्धू रिसाउँछस् ॥४९॥

अन्वयार्थ : एतान् आश्रित्य = यिनीहरूको आश्रयले, क्षमतः = सहन गर्दो छुँदो (क्षमा गर्ने), मे = मेरो, बहु पापं = धेरै पाप, क्षीयते = नाश हुन्छ। माम् आश्रित्य तु = मेरो आश्रयले त, एते = यिनीहरू, दीर्घवेदनान् = ठूलो कष्ट सहनुपर्ने, नरकान् = नरकहरूमा, यान्ति = जान्छन्।

अहम् एव = म नै, एषां = यिनीहरूको, अपकारी = अपकारी हूँ, एते च = यिनीहरू त, मम = मेरा, उपकारिणः = उपकारी हुन्, खलचेतः = हे मूर्खबुद्धिवाला ! कस्मात् = के कारणले, विपार्ययं कृत्वा = उल्टो बुझेर, प्रकुप्यसि = रिसाउँछस् ?

यिनको आश्रयले गर्दा यिनीहरूलाई क्षमा गर्दाखेरि मेरा सारा पापहरू काटिन्छन्। परन्तु मेरो कारणले गर्दा यिनीहरू तीव्रवेदना दिने नरकहरूमा जान्छन् (किनकि यिनीहरूले ममा द्वेष गरेका छन्)। यसरी हेर्दा यिनीहरू मेरा उपकारी भए, बरु म पो यिनीहरूको अपकारी रहेँछु। अतः (आफ्नै मनलाई सम्बोधन गर्नुहुन्छ) हे मूर्खमते ! यस्तो सोझो कुरालाई पनि उल्टो ठानेर किन यिनीहरूसँग क्रोध गर्छस् ? बरु तँ नै क्रोध गरिन योग्य छस्। यिनीहरू छैनन्।

यदि म नै अपकारी हूँ भने त म नरकमा जानुपऱ्यो। यिनीहरू किन ? भन्ने प्रश्न उठ्ला। त्यसकारण आचार्य भन्नुहुन्छ –

भवेन्ममाशयगुणो न यामि नरकान् यदि।
एषामत्र किमायातं यद्यात्मा रक्षितो मया॥५०॥

यदि म जान्न नरकै त्यो मेरो आशयै महान्
के ल्याएको छु यिनको आफ्नो रक्षा गरें यहाँ ॥५०॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, नरकान् = नरकमा, न यामि = जाँदिन भने, मम = मेरो, आशयगुणः = आशयको महानता, भवेत् = होला, यदि = यदि, मया = मैले, आत्मा रक्षितः = आफ्नो रक्षा गरें भने, एषाम् = यिनीहरूको, अत्र = यहाँ, किम् आयातम् = के ल्याइयो त ?

यदि म नरकमा जान्न भने त त्यो मेरो चित्तको महानता अर्थात् गुण हो। यसले यिनीहरूको

कुनै हानि छैन। त्यो त मैले आफू नरकमा जानबाट सुरक्षा गरेको हुँ। कसरी ? म अपकारी भए पनि क्षान्तिरूपी उपायकौशल्य अपनाएर म नरक नजाने भएँ भने मेरो आफ्नो बचाउ भयो। यसमा यिनीहरूको के हानि छ र ? यिनीहरूको दोष-गुण बढ्ने घट्ने केही पनि हुँदैन। त्यो त मेरो आफ्नो चित्तको अनुशासनले गर्दा मेरो सुरक्षा भएको हो।

अथ प्रत्यपकारी स्यां तथाप्येते न रक्षिताः।
हीयते चापि मे चर्या तस्मान्नष्टास्तपस्विनः ॥५१॥

वने प्रत्यपकारी म पनि छैनन् सुरक्षित
मेरो चर्या पनि जान्छ, विचरा झन् हताहत ॥५१॥

__अन्वयार्थ :__ अथ = अब यदि, प्रत्यपकारी स्यां = बदलामा अपकार गर्ने बनूँ भने, तथापि = त्यस अवस्थामा पनि, एते = यिनीहरू, न रक्षिताः = बच्दैनन्, तस्मात् = त्यसबाट त, मे चर्या अपि = मेरो चर्या पनि, हीयते = त्यागिन पुग्छ, तपस्विनः = यी विचराहरू पनि, नष्टाः = झन् हताहत नै हुन्छन्।

मैले क्षान्तिको उपाय अपनाउनाले यिनीहरूले दुःख पाए भनेर बदलामा प्रत्यपकारी भएर द्वेष गर्न थालूँ भने पनि यिनीहरूको कुनै कल्याण हुने छैन, किनकि यिनीहरूको द्वेष त्यसबाट झन् बढ्दैजानेछ र अझै कडा नरकमा फस्ने छन्। त्यतिमात्र होइन त्यसो गरें भने त मेरो बोधिसत्वचर्या नै नष्ट हुन पुग्नेछ किनभने 'जलेको काठको मूढो माथि पनि द्वेष चित्त उत्पन्न गर्ने छैन' भन्ने प्रतिज्ञा गरेको छु। मैले त कुनै प्राणीहरूप्रति पनि मैत्री चित्तको त्याग गर्नुहुँदैन। त्यसकारण बरु अहिले कुनै पनि उपाय नभएकोले यी विचराहरूलाई नरक जानबाट रोक्न सकिएन र उपेक्षा जस्तो गर्नुपर्‍यो तापनि पछि उपाय पत्ता लगाएर आफू समर्थ भएपछि लेश मात्र पनि दुःख नदिने जुक्ति गर्नेछु। नत्र त यी विचरा डुबेका डुब्यै हुन्छन्।

यसरी परापकारमर्षणा क्षान्तिको प्रतिपादन गरिसकेपछि अब धर्मनिध्याना क्षान्तिको बारेमा बताउन आचार्य भन्नुहुन्छ -

मनो हन्तुममूर्तत्वान्न शक्यं केनचित् क्वचित्।
शरीराभिनिवेशात्तु चित्तं दुःखेन बाध्यते ॥५२॥

अमूर्त हो मन कहीँ कोही सक्दैन मार्न यो
देहासक्ति हुनाले नै दुःखले चित्त पीरियो ॥५२॥

__अन्वयार्थ :__ क्वचित् = कहीँ पनि, केनचित् = कसैले पनि, मनः = मनलाई, हन्तुं = प्रतिघात गर्न, अमूर्तत्वात् = अमूर्त भएको हुनाले, न शक्यं = सकिंदैन, शरीराभिनिवेशात् = शरीरमा आसक्ति भएको हुनाले, चित्तं = चित्त, दुःखेन = दुःखले, वाध्यते = पीडित हुन्छ।

दुःख दुई प्रकारका हुन्छन्। कायिक र मानसिक। ती मध्ये मनमा कुनै पनि हात-हतियार आदिले प्रतिघात गर्न सकिँदैन किनकि मन अमूर्त (रूप, रंग, आकारले रहित) हुन्छ। तैपनि 'यो मेरो शरीर' भन्ने कल्पनाको बारम्बार अभ्यास भैरहेको र त्यसमा आसक्ति भएको हुनाले कायका दुःखबाट चित्त पनि दुःखी हुन्छ। चित्तलाई दुःखी गराउने नै यही आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध (अभिनिवेश) हो।

न्यक्कारः परुषं वाक्यमयशश्चेत्ययं गणः ।
कायं न बाधते तेन चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि ॥५३॥

धिक्कार, कटुवाक्यै र वदनाम अनेकन
देहपीडा त गर्दैनन् ! किन चित्त रिसाउँस् ॥५३॥

अन्वयार्थ : न्यक्कारः = तिरस्कार (धिक्कार), परुषं वाक्यं = कठोर वचन, अयशश्च इति = वदनाम यस्ता, अयं गणः = यिनको समूह नै भएपनि, कायं = शरीरलाई, न बाधते = पीडा दिदैनन्, चेतः = हे मन ! कस्मात् = के कारणले, प्रकुप्यसि = रिसाउछस् ?

शरीरलाई तिरस्कार, गाली–गलौज, बदनाम, कटुवचन जस्ता जति सुकै कुराले पनि पीडा दिन सक्दैनन् । त्यसकारण हे चित्त ! यी कुराबाट तँलाई कुनै हानि छैन तापनि किन व्यर्थमा रिसाउँछस् ?

यदि तिरस्कार आदिले कायलाई पीडा नदिए पनि अरुले मलाई तिरस्कृत, अपमानित भएको जानेर मप्रति अप्रसन्न हुन्छन्, जो मलाई मन पर्दैन भन्ने हो भने आचार्य भन्नुहुन्छ –

मय्यप्रसादो यो ऽन्येषां स मां किं भक्षयिष्यति ।
इह जन्मान्तरे वापि येनासौ मे ऽनभीप्सितः ॥५४॥

ममा जो अरुको ग्लानि भयो किन अवाञ्छित ?
यहाँ वा परलोकैमा मलाई खाइहाल्छ र ? ॥५४॥

अन्वयार्थ : मयि = मप्रति, अन्येपां = अरुको, यः अप्रसादः = जुन अप्रसन्नता छ, स = त्यसले, इह = यहीं (यस लोकमा), वाऽ पि = अथवा, जन्मान्तरे = अर्को जन्ममा पनि, मां = मलाई, भक्षयिप्यति किम् = खान्छ कि क्या हो, येन = जसले गर्दा, असौ = यो (अप्रसन्नता), मे = मलाई, अनभीप्सितः = प्रिय छैन ?

मेरो निन्दा, तिरस्कार आदि सुनेर अरुमा अप्रसन्नता हुन्छ भने के बिग्रियो ? त्यसले मलाई यो लोकमा या परलोकमा खाइहाल्छ र जसले गर्दा मलाई त्यो अप्रिय लाग्नुपर्ने ? यस्तो सोचेर यस विषयमा चिन्तारहित हुनुपर्दछ ।

लाभान्तरायकारित्वात् यद्यसौ मे ऽनभीप्सितः ।
नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवम् ॥५५॥

लाभमा विघ्न गर्नाले मन पर्दैन यो भने
लाभ हुन्छ यहीं नाश, पाप टिक्नेछ धेर नै ॥५५॥

अन्वयार्थ : असौ = यो (अप्रसन्नताले), यदि = यदि, लाभान्तरायकारित्वात् = लाभ हुन नदिने (लाभमा विघ्न गर्ने) भएकोले, मे = मलाई, अनभीप्सितः = अप्रिय छ भने, मे लाभः = मेरो लाभ त, इह एव = यहीं नै, नङ्क्ष्यति = नाश भइहाल्नेछ, पापं तु = पाप त, ध्रुवम् = स्थायीरूपमा (चिरकाल सम्म) स्थास्यति = रहने छ ।

यदि मानिसहरू मप्रति अप्रसन्न भए भने मेरो सबै कुरामा घाटा लाग्छ अर्थात् मेरो लाभमा यो विघ्नजस्तो हुन आउँछ, त्यसकारण यो मलाई मन पर्दैन, भन्ने हो भने त्यस्तो सोच्नु पनि ब्यर्थ छ । किनकि संसारका सबै चिजहरू अनित्य र नाशवान् छन् । केही दिनमै लाभ स्वतः नै नष्ट हुनेछ

र परलोकमा पनि त्यो लाभ जाने छैन। बरु तिरस्कार आदिसँग प्रतिक्रिया गर्ने सिलसिलामा जुन पाप कर्महरू गरिन्छन् ती त यहाँ मात्र होइन लोकलोकान्तरसम्म पनि आफूसँगै जान्छन् र चिरस्थायी भएर रहन्छन्। अभिप्राय के हो भने जबसम्म भोगेर सिद्धयाइदैन तब सम्म सिद्धिदैनन्।

वरमद्यैव मे मृत्युर्न मिथ्याजीवितं चिरम्।
यस्माच्चिरमपि स्थित्वा मृत्युदुःखं तदेव मे ॥५६॥

वरु आजै मृत्यु होओस् मिथ्याजीवन दीर्घता
नहोस् रहे पनि धेरै, त्यही हो मृत्यु दुःखता ॥५६॥

अन्वयार्थ : अद्य एव = आजै नै, मे = मेरो, मृत्युः = मृत्यु हुनु, वरम् = उत्तम छ, चिरम् = धेरैकालसम्म, मिथ्याजीवितम् = मिथ्या जीवन बाँच्नु त, न = ठीक छैन, यस्मात् = किनकि, चिरं = धेरै समयसम्म, स्थित्वा अपि = रहेर पनि , मे = मेरो, मृत्युदुःखं = मृत्युको दुःख, तदेव = त्यही नै हो।

मिथ्या आजीविका गरेर अरुको अपकारबाट गलत कमाई गरेर लामो समयसम्म बाँचिरहनुभन्दा त लाभ आदि केही नभए पनि अहिल्यै मर्नु ठीक हुन्छ। किनकि धेरै दिन बाँचेर पनि मेरो मर्नेवेलाको दुःख त जतिको त्यति नै हुनेछ, कमी हुनेवाला छैन।

स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं भुक्त्वा यश्च विबुध्यते।
मुहूर्तमपरो यश्च सुखी भूत्वा विबुध्यते ॥५७॥
ननु निवर्तते सौख्यं द्वयोरपि विबुद्धयोः।
सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनोः ॥५८॥

सयवर्ष सुखै भोगी सपनमा छ व्यूँझिने
मुहूर्त मात्र भोगेर फेरि अर्को छ व्यूँझिने ॥५७॥
सुख निश्चय जानेछ जाग्ने यी दुई व्यक्तिको
मर्दा यही हो उपमा चिर या अल्प जीविको ॥५८॥

अन्वयार्थ : यः = जो, स्वप्ने = सपनामा, वर्षशतं = सय वर्षसम्म, सौख्यं भुक्त्वा = सुख भोगेर, विबुध्यते = जाग्दछ, अपरो यश्च = अर्को जो छ त्यो, मुहूर्तम् = एकै छिनमात्र, सुखी भूत्वा = सुखी भएर, विबुध्यते = जाग्दछ भने।

विवुद्धयोः = जागेका, द्वयोः अपि = दुवै जनाको नै, सौख्यं = सुख, ननु निवर्तते = हराइहाल्छ (निवृत हुन्छ यो निश्चित छ)। चिरजीव्यल्पजीविनोः = धेरै बाँच्ने र थोरै बाँच्नेहरूको, मृत्युकाले = मृत्यु हुनेवेलामा, सा एव उपमा = त्यही नै उपमा हो।

सपनामा सय वर्षसम्म सुख भोगेर जाग्ने व्यक्ति र त्यहाँ एक छिनमात्र सुख भोगेर जाग्ने व्यक्तिमध्ये दुवै जनाको सुख जाग्दाखेरि नष्ट भइहाल्छ। त्यसमा सन्देहै छैन। त्यस्तै धेरै समयसम्म बाँच्ने र थोरै समयसम्म बाँच्नेहरूका बिचमा पनि मर्दाखेरि त त्यही दृष्टान्त लागू हुनआउँछ। मृत्यु-दुःख दुवैका निमित्त समान हुन्छ। त्यसैले मिथ्या जीविकाबाट सधै बचेर रहनुपर्छ।

लब्ध्वापि च बहूँल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ॥५९॥

पाए पनि निकै लाभ सुखी धेरै भए पनि
खालि हात र नाङ्गै नै जानेछु लुटिए सरी ॥५९॥

अन्वयार्थ : *वहून् लाभान् = धेरै लाभहरू, लव्ध्वा अपि = पाएर पनि, सुखानि च = सुखहरू पनि, चिरं भुक्त्वा = धेरै कालसम्म भोगेर पनि, मुषितः यथा = लुटिएको जस्तै गरी, रिक्तहस्तः = रित्तै (खालि हात) र, नग्नश्च = नाङ्गै नै, यास्यामि = जाने छु ।*

यहाँ जति लाभ आर्जन गरेपनि, जति सुख भोग गरेपनि आखिरमा सबै कुरा चटक्कै छोडेर नाङ्गै खालिहात नै परलोमा जानेछु । त्यहाँ जानको लागि यहाँका लाभ र सुखको लेशमात्र पनि बाटो खर्च पाइने छैन । कम्मरको डोरी समेत पनि यहीँ राखिदिन्छन्, हाडमासु समेत पनि यहीँ छोडिन्छ । मानौ लुटेराहरूले सारा चिज लुटेर पठाएका हुन् कि जसरी जानु पर्नेछ ।

लाभको विशेषता छ किनकि यदि खाने, पीउने, चीवर, वस्त्र आदि राम्रोसँग जोगाएँ र उपभोग गरेँ गर्नपाएँ भने संस्कारवशात् आयुवृद्धि हुन सक्ला । त्यसो भयो भने फेरि पहिलेका पापहरूको विदूषणासमुदाचार आदिको माध्यमबाट प्रायश्चित्त गर्दै शिक्षासंवरहरूको संरक्षण र बोधिचित्तको सेवन गर्नाले कुशलपक्षको वृद्धि गर्नेछु । भनिएको पनि छ –

'यावच्चिरं जीवति धर्मचारी तावत्प्रसूते कुशलप्रवाहम्' अर्थात् धर्म गर्ने व्यक्ति जति जति लामो समयसम्म बाँच्यो उति उति कुशलकर्मको प्रवाह पैदा गरिराख्छ । त्यसकारण लाभ हुन नदिने विघ्नहरूप्रति द्वेष गर्नु र लाभ बढाउन प्रयत्न गर्नु ठीकै छ भन्ने सोच्ने हो कि भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ –

**पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जीवन् करोमि चेत् ।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु ॥६०॥**

गर्छु पुण्य, पापनाश, लाभले बाँचियो भने
रिसाई पुण्यको नाश, पाप लाभार्थमा गरे !! ॥६०॥

अन्वयार्थ : *चेत् = यदि, लाभात् = लाभवाट, जीवन् = वाँच्दै, पापक्षयं = पापको क्षय र पुण्यं च = पुण्य पनि, करोमि = गर्छु भन्ने हो भने, लाभार्थं = लाभका निमित्त, क्रुध्यतः = रिसाउने वालाको, ननु = निश्चय पनि, पुण्यक्षयश्च = पुण्यको क्षय र पापश्च = पाप पनि (न होला र !)*

लाभका निमित्त आसक्त भएर लाभका विघ्नहरूलाई द्वेष गर्न थालेर पुण्यवृद्धि र पापक्षय गर्छु भन्दा उल्टै क्रोधले गर्दा पुण्यक्षय र पापवृद्धि हुने निश्चित छ । त्यसकारण त्यस्तो सोच्नु पनि व्यर्थ छ ।

यदि जसरी भए पनि दीर्घ जीवन त पाइने नै छ यही पनि त लाभै हो, त्यसकै निमित्त पनि द्वेष आदि ठीकै छन् भन्ने हो भने आचार्य पुनः सम्झाउनु हुन्छ–

**यदर्थमेव जीवामि तदेव यदि नश्यति ।
किं तेन जीवितेनापि केवलाशुभकारिणा ॥६१॥**

जस्का निमित्त वाँच्दैछु त्यही नै यदि नाशिए
त्यस्तो खराव कर्मैले, खालि बाँचेर हुन्छ के ? ॥६१॥

अन्वयार्थ : यदर्थम् एव = जसका निमित्त नै, जीवामि = बाँच्दैछु, तदेव = त्यही नै, यदि = यदि, नश्यति = नाश हुन्छ भने, केवलाशुभकारिणा = केवल अशुभकारक, तेन जीवितेन अपि = त्यो जीवनले पनि, किं = के हुन्छ र ?

जेको लागि यो जीवन स्वीकारिएको छ त्यही नै नाश हुन पुग्छ भने पाप कर्म गर्ने जीवन बाँचेर मात्र के लाभ हुन्छ त ?

बोधिसत्वहरू प्रयोजनविना बाँच्दैनन् । अरु प्राणीहरूको हित सिद्ध गर्नको लागि जीवन ग्रहण गर्छन् । त्यो काम नै पुण्यवृद्धि र पापक्षय हो । यदि त्यही नै खतम हुने हो भने बोधिसत्वको सर्वस्वै गयो । उनीहरूले किन लामो समयसम्म बाँचिरहने ? त्यसबाट त निन्दित कर्म गर्नुबाहेक अरु केही हुने छैन ।

निन्दा गर्नेहरूप्रति लाभ हुन दिएनन् भनेर द्वेष गरेको होइन अपितु गुणलाई ढाकी प्रकट हुन दिइएन भनेर दु:खको कारण भएको हो भन्ने हो भने–

अवर्णवादिनि द्वेषः सत्त्वान्नाशयतीति चेत् ।
परायशस्करेऽप्येवं कोपस्ते किं न जायते ॥६२॥

यदि निन्दकमा द्वेष सत्त्वको हानिले भए
परनिन्दकमा त्यस्तै तिम्रो क्रोध भएन के ? ॥६२॥

अन्वयार्थ : चेत् = यदि, अवर्णवादिनि = दोष बताउने (निन्दा गर्ने) व्यक्तिप्रति, द्वेषः = द्वेष भएको, सत्त्वान् नाशयति इति = सत्वहरूलाई विगार गर्छ भनेर हो भने, (अथवा सः = त्यसले, त्वाम् = तिमीलाई, नाशयति इति = हानि पुऱ्याउँछ भनेर हो भने), परायशस्करे अपि = अरुको अपकीर्ति (निन्दा) गर्नेहरूप्रति पनि, एवं = यसै गरी, ते = तिम्रो, कोपः = रिस, किं = किन, न जायते = उत्पन्न हुदैन त ?

यदि तिम्रो निन्दकप्रति तिमीलाई द्वेष पैदा हुन्छ भने त्यो किन ? यदि त्यसले तिम्रो गुणको बखान नगरेर दोषमात्र केलाइदियो र दु:ख भयो या सत्वहरूको निन्दा गर्नाले त्यसबाट उनीहरूको हानि (दु:ख) हुने भयो भनेर हो भने त्यस्ता परनिन्दक अरु पनि थुप्रै छन्, ती सबैप्रति किन तिम्रो क्रोध पैदा हुदैन त ?

परायत्तप्रसादत्वादप्रसादिषु ते क्षमा ।
क्लेशोत्पादपरायत्ते क्षमा नावर्णवादिनि ॥६३॥

क्षमा छ अप्रसन्नैमा अर्काबाट भयो भनी
क्लेशबाट हुँदा तिम्रो निन्दकैमा भएन नि ? ॥६३॥

अन्वयार्थ : अप्रसादिषु = अप्रसन्न हुनेहरूप्रति, ते = तिम्रो, क्षमा = सहनशीलता, परायत्ताप्रसादत्वात् = अरुमा आश्रित भएर अप्रसन्न भएकाले (स्वयंले चाहेर होइन) हो भन्छौ भने, क्लेशोत्पादपरायत्ते = क्लेशको उत्पाद स्वरूप अर्कामा आश्रित भएको, अवर्णवादिनि = निन्दा गर्नेवालाप्रति, ते = तिम्रो, क्षमा न = सहनशीलता छैन नि ? (किन ?)

'अरुमा आश्रित भएको अप्रसन्नता तिनीहरूमा छ' भनेर ती अप्रसन्नहरू (परनिन्दक) मा तिमीले क्षमा गऱ्यौ र मतलब राखेनौ भने तिम्रो निन्दक पनि त क्लेशहरूमा आश्रित भएर अप्रसन्न भएको छ, त्यसप्रति फेरि किन क्षमा गर्दैनौ त ? आखिर तिम्रो आफ्नो निन्दक पनि त पराश्रयी

भएर निन्दा गर्दैछ (स्वयं उसको चाहना त केही छैन, केवल क्लेशहरूबाट पराधीन भएकोले गरेको हो)। यी दुवैका हेतु त समानै छन्, पराधीनताले गर्दा अप्रसन्न हुनु।

यसरी विचार गर्दै क्रोधलाई उपशमन गर्दै क्षान्तिको अभ्यास गर्नुपर्छ। अब प्रतिमाजस्ता कुरामा कसैले हानि गरेको देखेर श्रद्धावश पनि त्यसप्रति द्वेष उत्पाद गर्नुहुँदैन भन्ने कुरा बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ–

प्रतिमास्तूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च।
न युज्यते मम द्वेषो बुद्धादीनां न हि व्यथा ॥६४॥

प्रतिमा स्तूप सद्धर्म नाश्ने आतङ्ककारीमा
मेरो द्वेष उचित् हुन्न बुद्धमा हुन्न क्यै व्यथा ॥६४॥

__अन्वयार्थ :__ प्रतिमा-स्तूप-सद्धर्म-नाशक-आक्रोशकेषु च = प्रतिमा (वुद्धमूर्ति), स्तूप, सद्धर्म (वुद्धधर्म) लाई नाश गर्ने र आक्रोश गर्नेहरूप्रति पनि, मम = मेरो, द्वेषः = द्वेष, न युज्यते = उपयुक्त हुदैन, हि = किनकि, वुद्धादीनां = वुद्ध, (प्रतिमा आदिमा), व्यथा न = पीडा हुदैन।

प्रतिमा, स्तूप, सद्धर्म आदिलाई विगार्ने, नष्ट पार्ने या यिनीहरूप्रति आक्रोश देखाउनेसँग पनि मैले द्वेष गर्नु हुँदैन किनकि बुद्ध, स्तूप आदिलाई हाम्रो जस्तो पीडा हुँदैन।

बुद्ध, बोधिसत्व, आर्य, प्रत्येकबुद्ध आदिमा असत्य कुरा प्रति आसक्ति भएर उत्पन्न हुने आत्मग्राहको अभाव हुने भएकोले हाम्रो जस्तो चित्त पीडा हुने लक्षण उनीहरूमा झन् हुँदैन। प्रतिमा, वुद्ध वचन आदिलाई निन्दा गर्ने विगार्ने काम गरेपनि त्यसले उनीहरूको चित्तमा पीडा पैदा गर्ने कुरा आउँदैन। त्यसकारण साधुहरूले (सज्जनहरूले) धर्मको विरोध गर्नेहरूप्रति पनि करुणा नै कायम राखिराख्नु पर्छ। अन्यथा केवल पाप मात्र हुन पुग्छ। यदि धर्मद्वारा निवारण गर्न सकिने अवस्था सहितको विशेष प्रयोजन छ भने त केही दोष भएन।

गुरुसालोहितादीनां प्रियाणां चापकारिषु।
पूर्ववत् प्रत्ययोत्पादं दृष्ट्वा कोपं निवारयेत् ॥६५॥

गुरु, प्रेमी र साखैका अपकारीहरूप्रति
पहिले झैं प्रत्यय बुझी क्रोधलाई हराउनू ॥६५॥

__अन्वयार्थ :__ गुरुसालोहितादीनां = गुरु र साखै (सहोदर) नाता पर्नेहरूका र, प्रियाणां च = प्रियजनहरूका पनि, अपकारिपु = अपकारीहरूप्रति, पूर्ववत् = पहिले झैं, प्रत्ययोत्पादं = हेतुप्रत्ययवाट उत्पन्न भएको भन्ने, दृष्ट्वा = देखेर, कोपं = क्रोधलाई, निवारयंत् = हटाउनू।

गुरुजन भनेका ती हुन् जसले धर्मको उपदेश गर्छन् र पापबाट बचाउँछन्। उनीहरूलाई र साखै नाता पर्ने सहोदर दाजुभाई, कुटुम्बहरूलाई र मित्र, हितैषी जस्ता प्रियजनहरूलाई पनि जसले अपकार गर्छ त्यस व्यक्तिप्रति पनि पहिले बताइएझैं (ये केचिदपराधाश्च......बोधि. च. ६.२५) 'सबै हेतु प्रत्ययद्वारा उत्पन्न भएको हो' भन्ने सोचेर सबै आफ्नो पूर्वकर्मको फलले गर्दा यस्तो भएको भन्ने वुझ्नुपर्छ र क्रोधलाई उत्पन्न हुनबाट बचाउनुपर्छ।

कुनै मतमा देव, गुरु, ब्राह्मण, माता, पिता आदिका निमित्त त पाप गरे पनि केही दोष हुँदैन भन्ने पाइन्छ। परन्तु यहाँ (बौद्धमतमा) त्यस्तो हुँदैन। गरेको कर्मको फल भोग्नै पर्ने हुन्छ।

चेतनाचेतनकृता देहिनां नियता व्यथा।
सा व्यथा चेतने दृष्टा क्षमस्वैनां व्यथामतः ॥६॥

मजीव - निर्जीव दुवैबाट छन् जीव पीडित
त्यो पीडा चेतनैमा छ त्यसैले नै क्षमा गर ॥६६॥

अन्वयार्थ : देहिनां = प्राणीहरूको, चेतनाचेतनकृता = चेतन र अचेतनवाट गराइएको, व्यथा = पीडा, नियता = निश्चितै छ, सा व्यथा = त्यो पीडा, चेतने दृष्टा = चेतनहरूमा मात्र देखिन्छ, अत: = त्यसकारण, एनां = यो पीडालाई, क्षमस्व = क्षमा गर (सहन गर)।

देहधारीहरूलाई हुने पीडाहरू दुई कुराबाट हुन्छन् भन्ने निश्चित छ। या त्यो सचेतन प्राणीबाट हुन्छ जस्तैः- हात, पाउ आदिको प्रहारबाट, गाली गर्ने, कटु वचन बोल्ने जस्ता कुराबाट या रोग, प्राकृतिक प्रकोप, शस्त्र आदि अन्य अचेतन (निर्जीव कुरा)बाट हुन्छ। यो निश्चित छ। यी दुवै सकसिमले गराइने पीडा केवल सचेतनहरूमा मात्र भएको देखिन्छ। किनकि अचेतनमा वेदना-इन्द्रिय हुँदैन। जो जेका निमित्त उपयुक्त स्थान हो त्यो त्यहीँ हुनु स्वाभाविकै हो। अतः पीडा भयो भनेर किन रिसाउने ? त्यसलाई सहन गर्न (क्षमा) सिक्नु पर्छ। यस्तो सोचेर दुबै प्रकारले भएका पीडालाई सहन गर्नुपर्छ। अखिर कमल हिलोमा पैदा हुन्छ, स्थलमा (सुखा जमीनमा) त पैदा हुन सक्दैन।

मोहादेके ऽ पराध्यन्ति कुप्यन्त्यन्ये विमोहिताः।
ब्रूमः कमेषु निर्दोषं कं वा ब्रूमो ऽ पराधिनम् ॥६७॥

मोहले अपराधी छन्, मोहितै भै रिसाउँछन्
दुईमा को छ निर्दोष अपराधी छ को भनम् ? ॥६७॥

अन्वयार्थ : एके = कोही, मोहात् = मोहले गर्दा (अज्ञानले गर्दा), अपराध्यन्ति = अपराध गर्छन् भने, अन्ये = अर्का थरी, विमोहिता: = मोहित भएर, कुप्यन्ति = रिसाउँछन्, एपु = यिनीहरूमा, कं = कसलाई, निर्दोपं = निर्दोपी, ब्रूम: = भनौं ? वा = अथवा, कं = कसलाई, अपराधिनम् = अपराधी, ब्रूम: = भनौं ?

मोहको कारणले गर्दा कसैले अपराध गर्छन्। कसरी ? मोह भनेको अज्ञान हो र अज्ञान भनेको 'आत्मा' र 'आत्मीय' ग्राहले सहित भएको विपरीत बुद्धिको देखाइ हो। त्यसले गर्दा दण्ड, शस्त्र, आदिद्वारा अपराध गर्छन्। कसैले मोहित भएकै कारणले रिसाउने काम गर्छन्। कसरी ? आफूलाई त्यस्ता प्रहारहरू आइलागे भनेर आफ्नो कर्मको फलस्वरूप यस्तो भएको हो भन्ने नजानेर अज्ञानवश उनीहरूप्रति रिसाउँछन्। आखिर दुवै थरी व्यक्तिहरू (प्रहार गर्ने र त्यसप्रति द्वेष गरी रिसाउने) नै अज्ञान (मोह)का कारणले त्यसो गर्दैछन् भने कसलाई अपराधी भन्ने, कसलाई निर्दोषी भन्ने ? दोष दुवैको उस्तै छ।

कूस्मादेवं कृतं पूर्वं येनैवं बाध्यसे परैः।
सर्वे कर्मपरायत्ताः को ऽ हमत्रान्यथाकृतौ ॥६८॥

किन पहिले गरिस् यस्तो, परपीडनको क्रिया ?
सबै छन् कर्मका वश्मा, गर्ने को हूँ म अन्यथा ॥६८॥

अन्वयार्थ : पूर्वं = पहिले, कस्माद् = के कारणले, एवं = यस्तो, कृतं = गरेका थियौ (हे चित्त !) येन = जसले गर्दा, एवं = यसरी, परैः = अरुद्वारा, बाध्यसे = पीडित भएका छौ ?

(आफैलाई सम्झाउदै) सर्वे = सबै, कर्मपरायत्ताः = कर्मका अधीनमा छन्, अहम् = म मात्र, अत्र = यहाँ, अन्यथाकृतौ = अन्यथा गर्न आँट्ने, कः = को हुँ र ?

हे चित्त, पहिलेका जन्महरूमा यस्तै कर्म किन गरेका थियौ जसले गर्दा यहाँ अरुबाट बारम्बार पीडित हुनुपरिराखेको छ ? किनकि दुःखका सबै कारणहरू कर्मबाट नै उत्पन्न हुन्छन्। कर्मफलको यो नियमलाई तोडेर अन्यथा गर्न खोज्ने ममात्र यहाँ को हुँ र ? फल दिनको लागि तयार भइराखेका कर्महरूलाई फल दिनबाट रोक्न कसैको पनि सामर्थ्य हुँदैन।

एवं बुद्ध्वा तु पुण्येषु तथा यत्नं करोम्यहम्।
येन सर्वे भविष्यन्ति मैत्रचित्ताः परस्परम् ॥६९॥

यस्तो जानेर पुण्यैमा यत्न गर्छु त्यसै गरी
जसरी सबमा होला मैत्री चित्त परस्परै ॥६९॥

अन्वयार्थ : एवं = यस्तो, बुद्ध्वा = जानेर, अहम् = मैले, पुण्येषु = पुण्यकर्महरूमा, तथा = त्यसरी, यत्नं करोमि = प्रयत्न गर्छु कि, येन जसले गर्दा, सर्वे = सबै, परस्परम् = परस्परमा, मैत्रचित्ताः = मैत्रीचित्तले युक्त, भविष्यन्ति = हुनेछन्।

सबै प्राणीहरू क्लेश र कर्मका अधीनमा छन् भन्ने जानेर बुझेर मैले पुण्य कर्म गर्न बेसरी प्रयत्न गर्छु जसले गर्दा सबै प्राणीहरू परस्परमा मैत्रीचित्तले युक्त भई आपसमा हित र सुखको सम्पादन गर्दै रहनेछन्।

दह्यमाने गृहे यावदग्निर्गत्वा गृहान्तरम्।
तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते ॥७०॥
एवं चित्तं यदासङ्गाद् दह्येत द्वेषवह्निना।
तत्क्षणं तत्परित्याज्यं पुण्यात्मोद्दाहशङ्कया ॥७१॥

आगो लाग्दा त घरमा घाँस आदि छिमेकिका
न टिपोस भनी तानी हटाइन्छ सबै त्यहाँ ॥७०॥
त्यस्तै संगतले जस्को जल्छ द्वेषाग्निले मन
तत्कालै त्यो त्याग्नु पर्छ, पुण्यात्मा जल्छ की भनी ॥७१॥

अन्वयार्थ : गृहे = घर, दह्यमाने = जलिरहेको बेलामा, यावत् = त्यसबेलामा नै, अग्निः = आगो, गृहन्तरं गत्वा = अर्को घरमा, गएर, यत्र = जहाँ, तृणादौ सज्येत = घाँस आदिमा सल्किन सक्छ भनेर, तत् = त्यो घाँस आदिलाई, आकृष्य = तानेर, अपनीयते = हटाइन्छ।

एवं = यस प्रकारले, यदासङ्गात् = जसको संगतले, चित्तं = चित्त, द्वेषवह्निना = द्वेषरूपी आगोले, दह्येत = जल्ला जल्ने सम्भावना छ), तत् = त्यसलाई, पुण्यात्मोद्दाहशङ्कया = पुण्यको आत्मा अर्थात् आत्मभाव (शरीर) आदि जल्छ कि भन्ने शङ्काले, तत्क्षणं = तत्कालमै, परित्याज्यं = त्याग गर्नुपर्छ।

जसरी घरमा आगो लागेपछि त्यो आगो गएर अर्को घरमा जहाँ घाँस, काठ आदि राखिएको हुन्छ तिनीहरूलाई जलाउला भन्ने सोचेर तुरुन्तै ती काठ, घाँस आदिलाई तानेर त्यहाँबाट हटाउने काम गरिन्छ, त्यसरी नै जसप्रति (पदार्थै होस् या व्यक्ति) आसक्ति हुनाले चित्त द्वेषरूपी अग्निबाट जल्न थाल्छ त्यो व्यक्ति या पदार्थ (आसक्तिको निमित्त) लाई पनि त्याग गरिहाल्नु पर्छ। किनकि पुण्यको आत्मा अर्थात् पुण्यको मूल आधार नै यो शरीर आदि आत्माभाव हो र यसलाई पनि उक्त द्वेषाग्निले टिपेर जलाउने सम्भावना हुन्छ।

मारणीयः करं छित्त्वा मुक्तश्चेत् किमभद्रकम्।
मनुष्यदुःखैर्नरकान्मुक्तश्चेत् किमभद्रकम् ॥७२॥

मारिने हात काटेर मुक्त भो त अभद्र के
मानिस्‌को दुःखले नर्क - मुक्त भो त अभद्र के ॥७२॥

अन्वयार्थ : मारणीयः = मारिनु पर्ने व्यक्ति, करं छित्त्वा = हात काटेर नै, मुक्तश्चेत् = मुक्त हुन्छ भने, किम् अभद्रकम् = नराम्रो के भयो त ? मनुष्यदुःखैः = मनुष्यका दुःखहरू खपेर, नरकात् = नरकका दुःखबाट, मुक्तश्चेत् = मुक्त हुन्छ भने, किम् अभद्रकम् = नराम्रो के भयो ?

मारिनुपर्ने व्यक्तिलाई केवल हात काटेर छोडिदिने हो भने उसलाई नराम्रो के भयो त ? उसको भाग्यै खुलेको सम्झिनु पर्छ। किनकि 'मर्नुभन्दा बहुलाउनु निको' भन्ने उखानै छ। त्यस्तै मनुष्ययोनिका ताडन, पीडन, घोच, पेच, अपयश, निन्दा, गाली जस्ता सजिला दुःखहरू सहेर नरकका अत्यन्त कठोर र तीव्र वेदना दिने खालका दुःखबाट मुक्त भइन्छ भने त ठूलै लाभ भएको सम्झिनु पर्छ। यसमा हानि नै के छ र ? नरकका दुःको तुलनामा यी त केही पनि होइनन्।

यद्येतन्मात्रमेवाद्य दुःखं सोढु न पार्यते।
तन्नारकव्यथाहेतुः क्रोधः कस्मान्न वार्यते ॥७३॥

यदि आज त यी दुःख सकिन्न सहनै भने
नारकी कष्टको हेतु छोड्दैनौ किन क्रोध हे ॥७३॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, अद्य = आज, एतन्मात्रम् एव = यति मात्रै, दुःखं = दुःख पनि, सोढुं = सहन, न पार्यते = पार पाइदैन भने (सकिदैन भने), तन्नारकव्यथाहेतुः = त्यो नरकको पीडाको कारणस्वरूप, क्रोधः = क्रोध, कस्मात् = किन, न वार्यते = हटाइदैन ?

यदि मनुष्यलोकमा भोग्नुपर्ने खालका यस्ता सानातिना गाली-गलौज र लाठी मुङ्ग्री या रोगव्याधिबाट हुने दुःखहरू पनि सहन सक्ने क्षमता छैन भने ती नरकका पीडाहरूबाट किन बच्न खोज्दैनौ ? ती नरकका दुःख निम्त्याउने त यही क्रोध हो। त्यसकारण यो क्रोधलाई नै हटाउने प्रयास किन गर्दैनौ ? दुःखदेखि डराउने व्यक्तिले त भीषण नारकीय दुःखको हेतु क्रोधलाई हटाउन प्रयास गर्नैपर्छ।

कोपार्थमेवमेवाहं नरकेषु सहस्रशः।
कारितो ऽस्मि न चात्मार्थः परार्थो वा कृतो मया ॥७४॥

रिसका निम्ति नै मैले नर्कमा नै सयौंथरी
भोग्छु पीडा न स्वार्थै भो मबाट न परार्थ भो ॥७४॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी, अहम् = म , कोपार्थम् एव = रिसका निमित्तले मात्र (अरु कसैको कारणले होइन), नरकेपु = नरकहरूमा, सहस्रश: = हज्जारौं तरीकाबाट, कारित: अस्मि = गराइएको छु (पीडा भोगाईरूपी कारणहरूद्वारा युक्त गराइएं), मया = मैले, न च आत्मार्थ: कृत: = न त स्वार्थ सिद्ध गरें, वा= अथवा, परार्थ: = न परार्थ सिद्ध गरें ।

क्रोधको कारणले मात्रै मैले व्यर्थमा नरकहरूमा हज्जारौ थरीका पीडा एवं यातनाहरू भोगेको छु । त्यसबाट मैले न स्वार्थ सम्पादन गरें न त परार्थसम्पादन गर्न सकें । त्यसकारण क्षान्तिको अभ्यास नगर्नु मेरो लागि घातक कुरा हुनेछ ।

न चेदं तादृशं दु:खं महार्थं च करिष्यति ।
जगद् दु:खहरे दु:खे प्रीतिरेवात्र युज्यते ॥७५॥

यो त त्यस्तो दु:ख हैन, महार्थ सिद्ध गर्दछ
जगद्दुख हरण गर्ने दु:खमा प्रीति नै ठीक ॥७५॥

अन्वयार्थ : इदं च = यो त, तादृशं = त्यस्तो (कडा), दु:खं = दुख, न = होइन, (यसले) महार्थं च = ठूलो हित पनि, करिष्यति = गर्नेछ , जगद्दु:खहरे = जगत्कै दु:ख हरण गर्ने, दु:खे = दु:खमा, अत्र = यहाँ त, प्रीतिरेव = प्रेम गर्नु नै, युज्यते = उपयुक्त हुन्छ ।

यो लौकिक दु:ख नरकको दु:ख जस्तो कडा दु:ख पनि होइन, बरु सहन गर्ने अभ्यास (क्षान्तिको अभ्यास) राम्रो भयो भने त कालान्तरमा यसले ठूलै हित गर्छ, किनकि यसबाट सबै जगत्को हित हुने बुद्धता प्राप्त हुन सक्छ । त्यसकारण जगत्कै हितकारक दु:खमा प्रेम गर्नु र यसलाई सजिलै स्वीकार्नु नै उपयुक्त हुन्छ । अरुचि राख्नु ठीक छैन ।

यदि प्रीतिसुखं प्राप्तमन्यैः स्तुत्वा गुणोर्जितम् ।
मनस्त्वमपि तं स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि ? ॥७६॥

गुणको महिमा गाई प्रीतिलाभी अरु भए
किन हे मन ! हुन्नस् तँ गुण गाई सुखी खुशी ॥७६॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, अन्यै: = अरुले, गुणोर्जितम् = गुंणको महिमालाई, स्तुत्वा = स्तुति गरेर (गाएर), प्रीतिसुखं = प्रसन्नताको सुख, प्राप्तम् = प्राप्त गरेका छन् भने, मन: = हे मन ! त्वम् अपि = तँ पनि, तं स्तुत्वा = त्यसलाई स्तुति गरेर कस्माद् = किन, एवं = त्यस्तै प्रकारले, न हृष्यसि ? = खुशी हुँदैनस् त ?

कैयौं व्यक्तिले अरुको गुणगान गाउने सुन्ने गरेर पनि निकै आनन्द र प्रीतिको सुख अनुभव गरेकै छन् भने हे मन ! तैंले पनि किन तिनीहरूको (आफ्ना द्वेषीहरूको) गुणको स्तुति गरेर बखान गरेर, हर्ष सुखको अनुभव गर्दैनस् । किन व्यर्थमा ईर्ष्यारूपी अग्निको ज्वालामा आफूलाई जलाइरहन्छस् ?

इदं च ते हृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदयम् ।
न वारितं च गुणिभिः परावर्जनमुत्तमम् ॥७७॥

यस्तो तोरो हर्ष सुख निष्पाप सुखदायक
गुणीले यो त रोकेनन्, परावर्जन उत्तम ॥७७॥

अन्वयार्थ : इदं = यो, ते = तिम्रो, हृष्टिसुखं = हर्षसुख, निरवद्यम् = पापले रहित छ, सुखोदयम् = सुखको कारण हो, गुणिभिः = गुणी पुरुषहरूद्वारा, न वारितम् = निषेध गरिएको पनि छैन, उत्तमम् = उत्तम कोटिको, परावर्जनम् = अरुलाई आफूतर्फ आकर्षण गर्न तरीका पनि (आवर्जन) हो ।

अरुको गुण वर्णन गर्नाले हुने यो हर्षसुखमा कुनै पाप छैन र सुखदायी हुन्छ । बुद्ध भगवान्‌को अनुशासनमा बोधिसत्व महासत्वहरूले पापले युक्त हर्ष सुखको मात्र निषेध गर्नु भएकोछ । जसमा कुनै पाप छैन त्यस्तो हर्ष सुखलाई गुणी महात्माहरूले कुनै निषेध गरेका छैनन् । फेरि यो उत्तम खालको परावर्जन हो । आवर्जन भनेको अरुलाई आफूसँग आकर्षित गराउनु हो । अरुको गुणानुवर्णनले गर्दा उनीहरू पनि आफूतर्फ द्वेष गर्नुको साटो आकर्षित हुन्छन् किनकि यो गुणग्राही मानिस हो भन्ने उनीहरूले बुझ्दछन् । यसबाट अन्य सत्वहरू पनि आकृष्ट हुन्छन् । त्यसकारण क्षान्तिको अभ्यासकोरूपमा अरुको गुणवर्णनबाट प्रसन्नता हासिल गर्नु निकै महत्वपूर्ण कुरा हो ।

अरुको गुण त सहन गर्ने थिएँ परन्तु त्यसले त उनीहरूलाई नै सुख हुन्छ, मलाई त सुखहर्ष हुँदैन त्यसकारण मैले त्यो कुरा सहन सक्दिन भन्ने हो भने –

तस्यैव सुखमित्येनं तदेवं यदि न प्रियम् ।
भृतिदानादिविरतेर्दृष्टादृष्टं हतं भवेत् ॥७८॥

"उसैको सुख हो यो त" भनी मन परेन ता
पारिश्रमिक नदिँदा नाशिन्छन् दुईलोक ता ॥७८॥

अन्वयार्थ : एवं = यसप्रकारको कुरा, तस्य एव = त्यसको लागि नै, सुखं = सुख हो, इति = यस्तो भनेर, तत् = त्यो, प्रियं न = प्रिय भएन भने, भृतिदानादिविरतः = पारिश्रमिक दिने जस्ता कामबाट विमुख हुनाले, दृष्टादृष्टं = देखिएको (इहलोक) र नदेखिएको (परलोक) दुवै नै, हतं भवेत् = नष्ट होला ।

गुणगान गर्नाले जसको स्तुति-प्रशंसा हुन्छ उसैलाई नै सुख हुन्छ भनेर तिमीलाई त्यो सुख मन परेन भन्छौ भने पनि मिलेन । किनभने तिमीले राखेका नोकर आदिलाई पारिश्रमिक दिँदा या कुनै तिम्रो उपकारीलाई तिमीले प्रत्युपकार गर्दा पनि त उनीहरू सुखी र खुशी हुन्छन् । त्यसकारण त्यो पनि तिमीलाई मन नपर्ने भयो र त्यसबाट तिमी विमुख हुनेछौ । यसको फलस्वरूप तिम्रो यो लोकमा पनि सबै व्यवहार विग्रिन्छ, कसैबाट काम लिन नसक्ने हुन्छौ भने तिम्रो परलोक पनि विग्रिन्छ ।

किन्तु यो तिम्रो उत्तर गलत नै हो भन्ने देखाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ–

स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यमपीच्छसि ।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि ॥७९॥

आफ्नो गुण वखानेमा परसौख्य पनि ठिकै
अर्काको गुण भन्दामा स्वसौख्य पनि वेठिकै ? ॥७९॥

अन्वयार्थ : स्वगुणे = आफ्नो गुण, कीर्त्यमाने = वयान गरिएको वेला, परसौख्यम् अपि = अर्काको सुख पनि, इच्छसि =

इच्छा गर्छौ (मनपराउँछौ), परगुणे = अर्काको गुण, कीर्त्यमाने = बयान गरिएको बेला, स्वसौख्यम् अपि = आफ्नो सुख पनि, न इच्छसि = चाहँदैनौ ।

जब कसैले तिम्रा गुणको बखान गर्छ तब तिमीले अरुले पनि सुख पाऊन् भन्ने त चाहान्छौ परन्तु जब कसैले तिम्रा सामु अर्काको गुणगान गाउँछ तब तिमी ईर्ष्याले यति जल्छौ कि अरुले सुख अनुभव गरोस् भन्ने त कता कता, आफ्नै सुखलाई समेत तिमीले लात मार्नपुग्छौ । यो त स्तुतिकर्ताको सुखप्रति असहिष्णुता मात्र होइन अपितु अरुको सुखप्रतिको इर्ष्या नै हो । ७८ औं श्लोकमा असहिष्णुता मात्र मानिएको थियो ।

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सर्वसत्वसुखेच्छया ।
स्वयं लब्धसुखेष्वद्य कस्मात् सत्वेषु कुप्यसि ॥८०॥

सबै सत्व सुखी पार्न जगाई बोधिचित्त नै
आफै सुखी भएकामा तिमी किन रिसाउँछौ ? ॥८०॥

अन्वयार्थ : सर्वसत्वसुखेच्छया = सबै सत्वहरूलाई सुख होस् भन्ने इच्छाले, वोधिचित्तं समुत्पाद्य = बोधिचित्त उत्पाद गरेर पनि, स्वयं लब्धसुखेषु = आफै सुख पाएका, सत्त्वेपु = प्राणीहरूप्रति, कस्मात् = के कारणले, कुप्यसि = रिसाउँछौं ?

विशेष गरेर बोधिचित्त उत्पाद गरेकाहरूलाई अरुको सुख सम्पत्तिको सहन गर्न नसक्नु अत्यन्तै गर्हित (निन्दित) ;र नराम्रो कुरा हुन आउँछ । किनकि त्रिधातुकै सम्पूर्ण प्राणीहरूलाई हित र सुख दिनको लागि बुद्धता प्राप्त गर्न सकूँ भन्ने आशय राखी बोधिचित्त उत्पाद गरिन्छ । त्यसकारण त्यस्तो बोधिचित्त उत्पाद गरेर पनि यदि कसैले आफै अलिकति सुख शान्ति पाएका छन् भने त राम्रो भयो भनेर खुशी हुनुपर्नेमा झन् तिनीहरूप्रति के कारणले रिसाउँछौ, हे चित्त !

त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्त्वानां किल वाञ्छसि ।
सत्कारमित्वरं दृष्टवा तेषां किं परिदह्यसे ॥८१॥

त्रैलोक्य पूज्य बुद्धत्व पाउन् सत्त्व उता भन्यौ
उन्को क्षणिक सत्कार देखी किन जलीरह्यौ ॥८१॥

अन्वयार्थ : सत्वानां = सत्त्वहरूको निमित्त, त्रैलोक्यपूज्यं = तीनै लोकमा पूज्य, बुद्धत्वं = बुद्धता, किल वाञ्छसि = इच्छा त गर्छौ, तेषां = तिनीहरूको, इत्वरं = नाशवान्, सत्कारं = सत्कार, दृष्ट्वा = देखेर, किं = किन, परिदह्यसे = डाहले जल्दछौ ?

सत्वहरूका निमित्त तीनै लोक (कामधातु, रूपधातु र अरूपधातु)मा पूज्य भएको बुद्धपद प्राप्त गर्ने इच्छा पनि राख्छौ परन्तु केही छिन पछि नाश भइहाल्ने खालको सत्वप्रतिको सत्कार, प्रशंसा, लाभ आदिलाई देखेर फेरि किन ईर्ष्याले जल्छौ ? यो त परस्पर विरोधाभास भयो । तिम्रो बुद्धताप्राप्तिको चाहना नै कतै झूटो देखावटी मात्र त होइन ?

पुष्णाति यस्त्वया पोष्यं तुभ्यमेव ददाति सः ।
कुटुम्बजीविनं लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि ॥८२॥

तिमीले पाल्नुपर्नेको पालना गर्छ, दिन्छ, त्यो
कुटुम्बपोषी पाएर खुशी हुन्नौ, रिसाउँछौ ? ॥८२॥

अन्वयार्थ : यः = जस्ले , त्वया पोष्यं = तिमीले पालन पोषण गर्नुपर्ने व्यक्तिलाई, पुष्णाति = पालन पोषण गर्छ, स = त्यसले, तुभ्यम् एव = तिमीलाई नै, ददाति = फाइदा दिन्छ, कुटुम्वजीविनं = त्यस्तो कुटुम्वलाई जीवन दिनेवालालाई, लव्ध्वा = पाएर पनि, न हृप्यसि = खुशी हुन्नौ ? र, प्रकुप्यसि ? = रिसाउँछौ ? (द्वेष गर्छौ ?)

सबै सत्वहरूलाई सुख दिन्छु, दुःखबाट उद्धार गर्छु भनेर तिमीले ग्रहण गरेकाले सबै सत्वहरू तिम्रा कुटुम्बसमान हुन् । अब यदि तिमीले पालन पोषण गर्नुपर्नेहरूलाई अरुले लाभ पुऱ्याइदियो, पोषणगरिदियो भने त तिम्रै फाइदा भयो, तिमीलाई नै त्यो कुरा उसले दियो । अतः त्यस्तो कुटुम्बजीवी (कुटुम्बं जीवयतीति) अर्थात् कुटुम्बलाई पालन गर्ने प्रति खुशी नभएर द्वेष गर्छौ । त्यसलाई त आफ्नै मान्छे भन्ने ठानेर सुखी हुनुपर्छ, तिमी ।

यदि तिनीहरूलाई बुद्धतासम्म पुऱ्याउने प्रतिज्ञा मात्र गरेको हुँ, अरु किसिमका सुख दिने मेरो सोचाइ होइन भन्ने हो भने –

स किं नेच्छति सत्त्वानां यस्तेषां बोधिमिच्छति ।
बोधिचित्तं कुतस्तस्य यो ऽन्यसम्पदि कुप्यति ॥८३॥

सत्त्वैको बोधि खोज्नेले के खोज्दैन अरु कुरो ?
परसम्पत्तिमा द्वेष भए के बोधिचित्त भो ॥८३॥

अन्वयार्थ : यः = जसले, सत्त्वांनां = सत्वहरूको निमित्त, बोधिम् इच्छति = बोधि चाहान्छ, स = त्यसले, तेषां = तिनीहरूका निमित्त, किं न इच्छति = के चाहदैन ! यः = जो, अन्यसम्पदि = अरुको सुखसम्पत्तिमा, कुप्यति = द्वेष गर्छ, तस्य = त्यसको, वोधिचित्तं = बोधिचित्त, कुतः = कहाँबाट भयो ?

जसंले सत्वहरूको लागि बोधि नै दिलाउँछु भन्ने कामना गरेको छ उसले उनीहरूका निमित्त नचाहने कुरा पनि केही हुन्छ र ? जसले अरुको उन्नति प्रगति, खुशियाली सहन नसकेर द्वेष गर्छ त्यसको कस्तो खालको बोधिचित्त हो ? उसको बोधिचित्त उत्पाद व्यर्थ भएको भन्नुपर्छ ।

यदि तेन न तल्लब्धं स्थितं दानपतेगृहे ।
सर्वथापि न तत्ते ऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किम् ॥ ८४॥

पाएन त्यो लाभ भने दाताकै घरमा रह्यो
दिए वा नदिएमा त्यो हैन तिम्रो त के भयो ? ॥८४॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, तेन=उसले, तन्न लब्धं =त्यो (लाभ) पाएन भने पनि, दानपतेः = दताको, गृहे =घरमा, स्थितम् = रह्यो, तत् = त्यो, सर्वथापि= जसरी पनि , ते = तिम्रो,न अस्ति = होइन, तेन = त्यो, दत्तादत्तेन = दिएपनि नदिए पनि, किम् = के भयो ?

जसको लाभ हर्ष आदि देखेर तिमीलाई ईर्ष्या हुन्छ उसको दाताले उसलाई त्यो सुखसम्पति दिएन भने पनि त्यो उक्त दाताकै घरमा रहन्छ, तिम्रो त त्यो कदापि हुँदैन । अतः उसले दिए पनि नदिए पनि आखिरमा त्यो अर्कैको हो भने तिमीलाई व्यर्थमा ईष्याको आगोमा किन जलिरहनु पऱ्यो ? विद्वानहरूले यस्ता कुरामा स्वयंलाई तटस्थ र उपेक्षित राख्नु नै उत्तम ठान्दछन् ।

किं वारयतु पुण्यानि प्रसन्नान् स्वगुणानथ ।
लभमानो न गृह्णातु वद केन न कुप्यसि ॥८५॥

हटाओस् उसले पुण्य, या प्रसन्न, गुणै कि वा ?
न लेओस् प्राप्त, भन लौ? केले उठदैन त्यो रिसं ॥८५॥

अन्वयार्थ : (उसले) किं = के, पुण्यानि = पुण्यको, वारयतु = निवारण गरोस् या, प्रसन्नान् = प्रसन्न हुने *व्यक्तिहरूलाई निवारण गरोस्, अथ = अथवा, स्वगुणान् = आफ्ना गुणहरूलाई निवारण गरोस् कि, लभमान: = पाएको कुरालाई, न गृह्णातु = न लोओस् त ? वद = भन, केन = केले, नकुप्यसि = रिसाउदैनौ ?*

ती लाभ, सत्कार आदि पाएको व्यक्तिले अब के गर्नुपर्‍यो त ? के उसले आफ्ना पुण्यहरूलाई नै निवारण गर्नुपर्‍यो कि, आफ्ना गुणहरूलाई नै निवारण गर्नुपर्‍यो कि, उनीहरूले दिएको कुरालाई समेत अस्वीकार गर्नुपर्‍यो त ? लौ भन्, हे चित्त ! के गरेर तँ द्वेषी हुँदैनस् ? केले तेरो रिस उठ्दैन ?

पूर्वजन्ममा गरेका कुशल कर्महरूको पुण्यले गर्दा उसले लाभ, सत्कार पाएको हो । त्यसमा तेरो के हानि छ ? यदि लाभ सत्कार आदि सबै अरुका हुन् मेरा छैनन् भनेर, मेरा नभए पछि अरुका पनि नहोऊन् भन्ने हिसाबले तेरो असन्तुष्टि हो भने–

न केवलं त्वमात्मानं कृतपापं न शोचसि ।
कृतपुण्यैः सह स्पर्धामपरैः कर्तुमिच्छसि ॥८६॥

पाप गर्ने आफू मा तँ गर्दैनस् शोक नै कुनै
पुण्य गर्ने अरुसँग ईर्ष्या गर्नु पर्‍यो खुबै ? ॥८६॥

अन्वयार्थ : *त्वम् = तँ, केवलं = केवल, कृतपापं = पाप गरेको, आत्मानं आफूप्रति, न शोचसि न = चिन्ता नगर्ने मात्र होइन, (अपितु) कृतपुण्यै: = पुण्य गर्ने, अपरै: सह = अरुका साथ, स्पर्धां कर्तुं = इर्ष्या गर्न, इच्छसि = चाहान्छस् ?*

यहाँ लाभ, सत्कार आदि सुखसम्बन्धी कुराहरू जे पाइन्छन् ती पहिलेका पुण्यका बलले पाइन्छन् । त्यस्तो नपाउनु पुण्य नभएकोले हुन्छ । अतः आफूले पहिले पुण्य गर्नुको बदला पाप धेरै गरेकोमा तँलाई कुनै शोक सुर्ता नहुने मात्र होइन उल्टै पुण्य गरेकाहरूसँग ईर्ष्या पो गर्न चाहान्छस् ? यो त झन खराव कुरा हो । प्रतिस्पर्धा त शुभकर्ममा अघिबढ्नको लागि मात्र उपयुक्त हुन्छ । आफू अकुशलमा लागेर कुशल गर्नेहरूसँग स्पर्धा गर्नु त मिथ्या आडम्बर र ढोंगीपन हो ।

जातं चेदप्रियं शत्रोस्त्वत्तुष्ट्या किं पुनर्भवेत् ।
त्वदाशंसनमात्रेण न चाहेतुर्भविष्यति ॥८७॥

शत्रुको अप्रिय भए तेरो के हुन्छ हर्षले
इच्छाले मात्र के हुन्छ विना हेतु कुनै कुरा ॥८७॥

अन्वयार्थ : *शत्रो: = शत्रुको, अप्रियं जातं चेद् = अप्रिय घटना भयो भने, त्वत्तुप्ट्या = तेरो खुशीले, पुन: = फेरि, किं भवेत् = के होला र ? त्वदाशंसनमात्रेण = तेरो अभिलापाले मांत्र (तैंले भन्दैमा), अहेतु: = हेतु नै नभएको कुरा, न भविष्यति = हुने छैन ।*

यदि शत्रुलाई अनिष्ट भयो भने, हे मन ! तँ खुशी हुन्छस् परन्तु त्यसले तँलाई के भयो त ? तैंलै चाहेर मात्रै त उसलाई पनि केही अनिष्ट हुँदैन किनकि उसको पनि हेतु हुनुपर्छ । अहेतुक त केही पनि हुँदैन । त्यसले फेरि तेरो कुनै पनि प्रयोजन सिद्ध हुने होइन । उसलाई अनिष्ट होस् या नहोस्

त्यो तेरो इच्छाले मात्रै हुने कुरा होइन।

अथ त्वदिच्छया सिद्धं तद्दु:खे किं सुखं तव।
अथाप्यर्थो भवेदेवमनर्थ:को न्वत: पर: ॥८८॥

चाही तैले हुँदा उस्को दु:खमा तँ सुखी किन ?
यदि "अर्थ छ" भन्दा त योभन्दा के अनर्थ छ ? ॥८८॥

अन्वयार्थ : अथ = अब, त्वदिच्छया = तेरो इच्छाले नै, सिद्धम् = त्यो सिद्ध भएको हो भने त, तद्दु:खे = उसको दु:खमा, तव = तेरो, किं सुखम् = के सुख हुन्छ ? अथ = यदि, अर्थो भवेद् = अर्थ छ, एवं = यस्तो हो भने, अत: पर: = यो भन्दा पर (बढी), अनर्थ: = अनर्थ कुरा, को नु = के छ र ?

यदि हे मन ! तँले चाहेर नै तेरो शत्रुको अनिष्ट भएको हो भन्ने मान्छस् भने त्यो शत्रु दुखी हुँदा तँलाई कसरी सुख होला त ? विचार गर त ! यदि तेरो प्रयोजन नै त्यत्ति हो भने त, त्यहाँभन्दा बढी अनर्थक कुरा त केही हुँदैन। अर्कालाई अनिष्ट होस् भन्ने चाहनाले त आफू ठाडै डुबिन्छ। कसरी ? यसरी–

एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशिकार्पितम्।
यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥८९॥

यो घोर बल्छी हालेको क्लेशका बल्छीधारिले
त्यस्बाट यमले किन्दै भुट्लान् तिम्लाई कुम्भिमा ॥८९॥

अन्वयार्थ : एत् = यो, घोरं = डरलाग्दो, बडिशं हि = बल्छि नै हो र, क्लेशबाडिशिकार्पितम् = क्लेशरूपी बल्छीवालाहरूले थापेको हो, यत: = जसवाट (बल्छीवालाबाट), त्वाम् = तिमीलाई, नरकपाला: = यमदूतहरूले, क्रीत्वा = किनेर, कुम्भिपु = कुम्भिपाकजस्ता नरकहरूमा, पक्षन्ति = पकाउने छन्।

अरुलाई नराम्रो कामना गर्नु त ठूलो डरलाग्दो बल्छी (बडिश) हो। त्यसलाई क्लेशरूपी बाडिशिकहरूले (बल्छीवालाहरूले) हालेका हुन्। यदि तिमी त्यसमा फँस्यौ भने उनबाट यमदूतहरूले किनेर तिमीलाई कुम्भिपाक जस्ता नरकहरूमा लगेर पकाउने छन्। त्यसकारण त्यस्तो अभिलाषा गर्नु हुँदैन।

स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे।
न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय मे ॥९०॥

स्तुति, कीर्ति र सत्कार न त पुण्य न आयुको
न आरोग्य, कायसुख, बलका निम्ति हुन्छ त्यो ॥९०॥

अन्वयार्थ : स्तुति: = स्तुति, यश: = कीर्ति र, सत्कार: = सत्कार पनि, मे = मेरो, न पुण्याय = पुण्यका निम्ति होइन, न च आयुपे = आयुका निमित्त पनि हुँदैन, न वलार्थं = वलका निमित्त पनि होइन, न च आरोग्ये = नीरोगिताका निमित्त पनि होइन, कायसुखाय च न = कायसुखका निमित्त पनि होइन।

स्तुति, कीर्ति, सत्कार जस्ता कुराले मेरो न आयु, न पुण्य, न बल, न आरोग्य, न काय सुख प्राप्त हुन्छ। मैले किन ती खोज्ने ?

विद्वान्हरूले पाँच प्रकारका अर्थलाई पुरूषार्थ भनेर गन्ने गरेका छन्। ती हुन् १. पुण्यबृद्धि २. आयुबृद्धि, ३. बलवृद्धि, ४. आरोग्य लाभ ५. कायसुख। स्तुति, कीर्ति, सत्कार जस्ता कुरा त यी पाँचै पुरुषार्थका निमित्त काम लाग्दैनन्।

एतावाँश्च भवेत् स्वार्थो धीमतः स्वार्थवेदिनः।
मद्यद्यूतादिसेव्यं स्यान्मानसं सुखमिच्छता ॥९१॥

यिनै हुन् स्वार्थविद् धीमान्हरूका निम्ति स्वार्थ त
जूवा रक्सी लिए भैगो मानसै सुख चाहँदा ॥९१॥

अन्वयार्थ : धीमतः = बुद्धिमान्, स्वार्थवेदिनः = स्वार्थ जान्नेहरूको, स्वार्थः = स्वार्थ, एतावान् भवेत् = यति भए पुग्छ, मानसं = मनको, सुखम् = सुखलाई, इच्छता = चाहनेले त, मद्यद्यूतादि = जाँड, रक्सी, जूवा आदिको, सेव्यम् स्यात् = सेवन गरे भैहाल्छ।

स्वार्थ भनेको के हो भन्ने कुरा बुझ्ने विज्ञ धीमान्हरूका निमित्त यति पाँच कुरा नै स्वार्थ हुन्। अरुले त जेलाई पनि स्वार्थ मान्न सक्छन्। त्यसैकारणले यहाँ 'धीमान्'हरूका निमित्त भनिएको छ। नीचहरूले मानसिक सुखलाई पनि स्वार्थ मान्न सक्छन्। त्यस्तो मनोविनोद त बुद्धिहीनहरूको लागि मात्र हो जहाँ जूवा, तास, जाँड, रक्सी, रण्डीवाजी, परस्त्री, परपुरुष आदिको सेवनबाट पनि उनीहरूले मानसिक सुख प्राप्त गर्न सक्छन्।

यशोर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि।
किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य च तत्सुखम् ॥९१॥

'कीर्ति' भनी धनै छर्छन् आफूलाई मराउँछन्
के अक्षर तिनी खान्छन् ? मरे त्यो सुख पाउँछन् ? ॥९२॥

अन्वयार्थ : यशोर्थ = यशका निमित्त, अर्थं = धनसम्पत्तिलाई, हारयन्ति = लुटाउँछन् , आत्मानं = आफूलाई, मारयन्ति अपि = मार्दछन् पनि, किं = के, अक्षराणि = अक्षरहरू, भक्ष्याणि = खाइन्छन् ? मृते = मरेपछि, कस्य = कसलाई, तत्सुखम् =त्यो सुख हुन्छ र ?

कसैले यश, कीर्तिका निमित्त आफ्नो धन-सम्पत्ति लुटाउने काम गर्छन्। जस्तै - आफ्नो गुणगान गाउने, आफ्नो नाम फैलाइदिने जस्ता काम गर्ने प्रशंसक चम्चाहरूलाई हार, पारितोषिक, रत्न, पैसा आदि बाँड्ने गर्छन् र यस्ता काममा थुप्रै धन खर्च पनि गर्छन्। त्यति मात्र नभएर नाम र कीर्तिकै खातिर आफ्नो ज्यान समेत दिने मानिस पनि हुन्छन्। तिनीहरूले के त्यो गुणगान, वखान, स्तुति लेखिएका अक्षरहरू खान सक्छन् ? होइन भने मरेपछि त त्यो यश, कीर्तिको सुख आफ्नो साथ जाँदैन। अनि किन त्यसको निमित्त त्यत्रो जोड जुलुम गर्नुपर्‍यो ? यो त केटाकेटी खेलेजस्तो फजूल कुरा हो-

यथा पांशुगुहे भिन्ने रोदित्यार्तरवं शिशुः।
तथा स्तुतियशोहानौ स्वचित्तं प्रतिभाति मे ॥९३॥

धूलोको घर भत्केमा रुन्छ वच्चा जसैगरी
स्तुतिकीर्ति विनाशैमा मेरो चित्त त्यसै गरी ॥९३॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, पांशुगृहे = माटाको धुले घर, भिन्ने = भत्किएमा, शिशु: = वालक, आर्तरवं = पुकारी पुकारी, रोदिति = रुन्छ, तथा = त्यस्तै, स्तुति-यशो-हानौ = स्तुति र कीर्तिको हानि हुंदा खेरि, स्वचित्तं = आफ्नो चित्त पनि, प्रतिभाति मे = मलाई उस्तै लाग्छ ।

जसरी बच्चाले खेल्दाखेरि बनाएको घरलाई कसैले भत्काइदियो भने 'मेरो घर भत्क्यो' भन्दै नाना तरहका विलौना गरेर उ रुन्छ त्यस्तै मेरो मन पनि आफ्नो स्तुति, कीर्तिको हानि हुँदाखेरि 'मेरो सर्वस्व गयो, मेरो नाम मेटियो' भनेर चिन्तित भएको जस्तो मलाई लाग्छ। तात्पर्य के हो भने यी दुःख सुख आदि लौकिक कुरा केटाकेटीका धूले घरजस्तै निःसार हुन्। यिनीहरूको तलमाथि हुनु कुनै महत्वपूर्ण कुरा होइन भन्ने बुझ्रेर क्षान्तिलाई बढाउनुपर्छ।

शब्दस्तावदचित्तत्वात् स मां स्तौतीत्यसम्भवः ।
परः किल मयि प्रीत इत्येतत् प्रीतिकारणम् ॥९४॥

जड हो शब्द त्यसले मेरो स्तुति हुँदैन है
त्यस्को प्रीति ममा रैछ यो नै हो हेतु प्रीतिको ॥९४॥

अन्वयार्थ : शब्दस्तांवत् = यदि शब्द हो भने, अचित्तत्वात् = अचित्त (जड) भएको हुनाले, स = त्यसले, मां = मलाई, स्तौतीति = स्तुति गर्छ भन्ने कुरा, असम्भव: = सम्भव छैन । पर: = अरु (अर्को व्यक्ति), मयि = ममाथि, किल प्रीत: = प्रसन्न रहेछ भन्ने, इति एतत् = यो नै, प्रीतिकारणम् = प्रसन्नताको कारण हो ।

स्तुति वर्णन गर्ने शब्दहरू जड हुन्, त्यसैले तिनीहरू बाहिरी कुरा हुन्। अतः तिनीहरूबाट मेरो स्तुति हुन सम्भव छैन। किनकि जडले स्वयं चेष्टाद्वारा व्यापार (कार्य) गर्न सक्दैन। बरु 'त्यो शब्द उच्चारण गर्ने व्यक्ति मसँग प्रसन्न रहेछ' भन्ने बुझाई नै मेरो प्रसन्नताको कारण हुन सक्छ। परन्तु यो पनि मेरो भ्रान्ति मात्र हो र बच्चाको चेष्टाजस्तो मात्र हो। किनकि शब्दद्वारा त्यो व्यक्तिप्रति उत्पन्न भएको दृष्टिकोण सधैं यथार्थ भएको पाईंदैन। जस्तै : काउलो (लोकाचार) पार्ने व्यक्तिको वचनले पनि कहीं सौमनस्य पैदा गर्नसक्छ भने कहीं गर्न सक्दैन। हितैषीको कटुवचनले कहीं पनि सौमनस्य पैदा गर्न सक्दैन।

अन्यत्र मयि वा प्रीत्या किं हि मे परकीयया ।
तस्यैव तत्प्रीतिसुखं भागो नाल्पो ऽपि मे ततः ॥९५॥

मप्रति अरुको प्रीति भए उस्कै छ त्यो सुख
थोरै भाग पनि मेरा हैन के भो मलाई र ॥९५॥

अन्वयार्थ : मयि = मप्रतिको,वा = अथवा, अन्यत्र = अरुमा भएको, परकीयया = अर्काको, प्रीत्या = प्रीतिले, मे = मलाई, किम् = के भयो ? तत्प्रीतिसुखं = त्यो प्रीतिसुख, तस्यैव = त्यसकै हो, ततः = त्यसवाट, अल्पो भागोऽपि = थोरै भाग पनि, मे न = मेरो होइनं ।

यदि अरु कसैको मनमा मप्रति प्रीति छ भने त्यो प्रीतिजन्य सुख त उसकै हुन्छ, मेरो त हुँदैन। त्यसबाट अलिकति पनि मेरो अंशमा पर्न आउँदैन। त्यसकारण त्यो प्रीतिले मलाई के भयो र ?

तत्सुखेन सुखित्वं चेत् सर्वत्रैव ममास्तु तत् ।
कस्मादन्यप्रसादेन सुखितेषु न मे सुखम् ॥९६॥

सुखी त्यो सुखले भा त मेरो सर्वत्र होस् सुख
अरुको हर्षमा सुखी हुनेमा किन छैन म ॥९६॥

अन्वयार्थ : तत्सुखेन = त्यो सुखले, सुखित्वं चेत् = सुखी भइन्छ भने, मम = मेरो, सर्वत्र एव = जतासुकै नै, तत् अस्तु = त्यो सुख होस् , अन्यप्रसादेन = अरुको प्रसन्नताबाट, सुखितेषु = सुखी हुनेहरूप्रति, कस्मात् = के कारणले, मे = मलाई, सुखं न = सुख हुदैन ?

यदि उसको त्यो सुखले आफू सुखी भइने भए त अरुहरूका सुखले पनि मलाई सुख हुनुपर्ने हो जसले गर्दा मलाई सर्वत्र सुखैसुख हुनुपर्ने हो। मेरो शत्रुको प्रसंसा गर्ने व्यक्तिले पनि त्यसबाट सुखै अनुभव गर्छ। त्यो देखेर पनि म सुखी हुनुपर्ने, परन्तु मलाई त्यसबाट सुख अनुभव हुन किन नसकेको ?

तस्मादहं स्तुतो ऽस्मीति प्रीतिरात्मनि जायते।
तत्राप्येवमसम्बन्धात् केवलं शिशुचेष्टितम् ॥९७॥

अत: 'मेरो प्रशंसा भो' भन्ने सन्तोष आफूमा
हुनु नमिल्दा यसरी, चेष्टा हो शिशुको त यो ॥९७॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, अहं = म, स्तुतो ऽस्मीति = स्तुति गरिएको छु भनेर, आत्मनि = आफूमा, प्रीति: जायते = खुशी पैदा हुन्छ, तत्र अपि = त्यहाँ पनि, एवं = यस प्रकारले, असम्बन्धात् = कुनै सम्बन्ध (कारण) न भएकोले, केवलम् = केवल, शिशुचेष्टितम् = बच्चाको जस्तो चेष्टा भएको मात्र हो।

त्यसकारण 'मेरो प्रशंसा र स्तुति भयो' भनेर आफूमा जुन प्रसन्नता उत्पन्न हुने गर्छ त्यो केवल बालकहरूको जस्तै फजूलको चेष्टा हो किनकि त्यस्तो प्रसन्नता उत्पन्न हुनको लागि त्यहाँ कुनै कारण देखिँदैन। त्यसको सम्बन्ध नै त्यहाँ छैन। केवल भ्रान्तिले गर्दा त्यस्तो भान पर्छ र हामीमा बालबुद्धि जागछ।

स्तुत्यादयश्च मे क्षेमं संवेगं नाशयन्त्यमी।
गुणवत्सु च मात्सर्यं सम्पत्कोपं च कुर्वते ॥९८॥

स्तुति जस्ता कुराले त क्षेम, संवेग मास्दछन्
गुणीलाई नगन्ने र सम्पत्तिमा रिसाउँछन् ॥९८॥

अन्वयार्थ : अमी = यी, स्तुत्यादयश्च = स्तुति, प्रशसा आदिले त, मे क्षेमं = मेरो कल्याणलाई र, संवेगं = संवेगलाई पनि, नाशयन्ति = नाश पारिदिन्छन्, गुणवत्सु = गुणवान्‌हरूप्रति, मात्सर्यं = अभिमान भाव पैदा गर्छन् भने, सम्पत्कोपं च = सम्पत्तिप्रतिको रिस पनि, कुर्वते = गराउंछन् ।

स्तुति, प्रशंसा जस्ता कुराले मेरो कल्याणलाई पनि नाश गर्छन् किनकि मेरो आफ्नो हितवचन सुन्न मन नपर्ने हुन थालेपछि मेरो कल्याण हुने सम्भावना छैन। त्यस्तै संवेगलाई पनि नाश गरिदिन्छन्। संवेग भनेको संसारको दु:ख देखेर त्यसप्रति तीव्र वैराग्यको भाव हो। त्यसलाई पनि नाश गरिदिन्छन्। त्यतिमात्र होइन, गुण भएको व्यक्तिप्रति मात्सर्य पनि पैदा गराउँछन्। यहाँ मात्सर्य भनेको अरुको गुणभन्दा मेरै गुण धेरै छन् भन्ने वृथा अभिमानले गर्दा अरुको गुणलाई गुणकै रूपमा नदेख्ने र नदेखाउन खोज्ने प्रवृत्ति हो। फेरि यिनीहरूले अरुले प्राप्त गरेका लाभ सत्कार र अन्य सम्पत्तिप्रति

डाड र असहिष्णुता पनि पैदा गराउँछन्। अतः स्तुति प्रशंसा भनेका घातक कुरा हुन्।

तस्मात् स्तुत्यादिघाताय मम ये प्रत्युपस्थिताः।
अपायपातरक्षार्थं प्रवृत्ता ननु ते मम ॥९९॥

स्तुति आदि विगार्नेमा जो जो छन् यी उपस्थित
अपायमा खस्नबाट मलाई छन् बचाउँदै ॥९९॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारण, मम = मेरो, स्तुत्यादिघाताय = स्तुति, प्रशंसा आदिको नाश गर्नको लागि, ये = जुन व्यक्तिहरू, प्रत्युपस्थिताः = अघि सरेका छन्, ते = तिनीहरू, मम = मेरो, अपायपातरक्षार्थं = अपायगतिमा खस्नबाट रक्षा गर्नका निमित्त, ननु प्रवृत्ताः =लागि परेका पो हुन् त !

त्यसैले जसले मेरो स्तुति प्रशंसा आदि हुने काममा रोक लगाउँछन् उनीहरू वास्तवमा मलाई नरक आदि अपाय गतिमा जानबाट बचाउनका निमित्त लागिपरेका रहेछन्। मेरा अपकारी हुनुको बदला उनीहरू त कल्याणमित्र नै हुन्। मैले त त्यसरी पो बुझ्नुपर्ने हो त।

मुक्त्यर्थिनश्चायुक्तं मे लाभसत्कारबन्धनम्।
विमोचयन्ति मां बन्धाद् द्वेषस्तेषु कथं मम ॥१००॥

मुमुक्षुलाई मिल्दैन लाभसत्कार - बन्धन
वन्धन् तोड्नेहरूमाथि कसरी द्वेष गर्छु म ॥१००॥

अन्वयार्थ : मुक्त्यर्थिनः = मुक्ति चाहने, मे = मेरो निमित्त, लाभसत्कारबन्धनम् = लाभ, सत्कारको बन्धन, अयुक्तम् = उपयुक्त हुँदैन (जसले), मां = मलाई, बन्धात् = बन्धनबाट, विमोचयन्ति = मुक्त गराउँछन्, तेषु = तिनीहरूप्रति, मम = मेरो, द्वेषः = द्वेष, कथं = कसरी हुन सक्छ ?

मजस्ता मुक्ति चाहने मुमुक्षुहरूका निमित्त लाभ र सत्कार भनेका बन्धन समान हुन्। यिनीहरू मेरा निमित्त उपयुक्त कुरा होइनन्। त्यसमाथि पनि जसले मलाई बन्धनबाट मुक्त पार्छन् उनीहरूप्रति मेरो द्वेष हुन कसरी मिल्छ ? प्रेम गर्नुपर्ने ठाउँमा द्वेष गर्नु उपयुक्त हुँदैन। यही अभिप्राय हो।

दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ये कपाटत्वमागताः।
बुद्धाधिष्ठानत इव द्वेषस्तेषु कथं मम ॥१०१॥

दुखःमा पस्न लाग्नेको जो तगारो बनी रहे
मानौं वुद्धानुभावैले, तिनीमा द्वेष पो गरें ? ॥१०१॥

अन्वयार्थ : दुःखं प्रवेष्टुकामस्य = दुःखमा पस्न लागेको, मम = मेरो लागि, बुद्धाधिष्ठानत इव = बुद्धको अनुभावले हो कि जस्तो गरी, यः = जो, कपाटत्वमागताः = ढोका बन्न पुगेका छन् (तगारो बन्न आएका छन्), तेषु = तिनीहरूप्रति, मम = मेरो,कथं द्वेषः = कसरी द्वेष हुन सक्छ ?

माथि बताइएका लाभ, सत्कार जस्ता कुरामा आसक्त भएको कारणले दुःखकै सागरमा पस्न लागेको मलाई रोक्न बुद्धको अनुभाव (कृपा)ले हो कि जस्तो गरी जो तगारो (ढोकाको पल्ला) बनेर आइपुगेका छन् (किनकि यिनीहरूले मेरो सत्कार, लाभ आदिको विरोध गरेका छन्) त्यस्ता

उपकारीहरूप्रति पनि मेरो कसरी द्वेष हुन सक्छ ?

पुण्यविघ्नः कृतो ऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते ।
क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत् तदुपस्थतम् ॥१०२॥

पुर्ण्यविघ्न गऱ्यो यस्ले भनी क्रोध अयुक्त छ
क्षान्तितुल्य तपस्या त छैन, त्यो यही हैन र ? ॥१०२॥

अन्वयार्थ : अनेन = यसले, पुण्यविघ्नः कृतः = पुण्यकाममा विघ्न गऱ्यो, इति अत्र = यस्तो भनेर त्यसमाथि, कोपो न युज्यते = क्रोध गर्नु उपयुक्त हुँदैन, क्षान्त्या समं = (सहनु) समानको, तपः नास्ति = तपस्या छैन, एतत् = यो, ननु तदुपस्थितम् = त्यो मौका नै उपस्थित भएको होइन र !

जसले आफ्नो पुण्यकर्ममा विघ्न गरिदिन्छन् उनीहरूप्रति पनि 'यसले पुण्य गर्न दिएन' भनेर द्वेष र वैरभाव गर्नुहुँदैन । किनकि क्षान्ति समानको अर्को तपस्या नै छैन *(न च क्षान्ति समं तपः)* क्षान्तिको अभ्यास गर्नको लागि यस्तो परिस्थितिकै आवश्यक पर्छ, नत्रभने केको क्षान्ति अभ्यास हुन्छ र द्वेष आदिको प्रतिपक्षद्वारा द्वेष अनुशयलाई काट्ने अभ्यास बढाइरहन सकिन्छ ? अतः कसैले त्यस्तो गऱ्यो भने त खुशीसाथ यो क्षान्तिअभ्यासको सुअवसर प्राप्त भएको हो भनेर अभ्यासमा जुट्नु परेन ? त्यसकारण यो त क्षान्तिको अभ्यास अघि आएको हो, पुण्यविघ्न भएको होइन । बरु पुण्यको हेतु नै उपस्थित भएको हो ।

अथाहमात्मदोषेण न करोमि क्षमामिह ।
मयैवात्र कृतो विघ्नः पुण्यहेतावुपस्थिते ॥१०३॥

यदि आफ्नै दोषले नै नगरूँ त क्षमा भने
पुण्यहेतु प्राप्त हुँदा मैले नै विघ्न पो गरें ॥१०३॥

अन्वयार्थ : अथ = अब यदि, अहम् = मैले, आत्मदोषेण = आफ्नै दोपले गर्दा, इह = यहाँ (यसमा पनि), क्षमां न करोमि = क्षमा नगरुँ भने त, अत्र = यहाँ, पुण्यहेतौ उपस्थिते = पुण्यको हेतु उपस्थित हुँदा पनि, मया एव = मबाट नै, विघ्नः कृतः = विघ्न गरिएको हो ।

अब यदि आफ्नै असहिष्णुताको दोषले गर्दा ती पुण्यविघ्नकारीहरूप्रति मैले क्षमा गर्न सकिन र गरिन भने त वास्तवमा मैले नै पुण्यको हेतु (क्षान्ति) पाइएको सुअवसर उपस्थित हुँदाहुँदै पनि पुण्य गर्न नसकेर पुण्यमा विघ्न हालेको ठहरिने छ ।

जसले पुण्यमा विघ्न गऱ्यो फेरि त्यही नै कसरी पुण्यको हेतु हुन्छ भन्ने प्रशन उठ्ला भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ कि -

यो हि येन विना नास्ति यस्मिँश्च सति विद्यते ।
स एव कारणं तस्य स कथं विघ्न उच्यते ॥१०४॥

न हुँदा जे हुँदैन त्यो, जे भए मात्र हुन्छ त्यो
त्यही हो त्यसको हेतु, कसरी विघ्न हुन्छ त्यो ॥१०४॥

अन्वयार्थ : यः = जुन, येन विना = जोविना, नास्ति हुँदैन र, यस्मिन् सति = जे भएमा नै, विद्यते = हुन्छ, स एव = त्यो नै,

तस्य = त्यसको, कारणम् = कारण (हेतु) हो, सः = त्यो, कथं = कसरी, विघ्न उच्यते = विघ्न भन्न सकिन्छ ?

कुनै पनि कार्य जे नभएपछि उत्पन्न हुन सक्दैन र जे भएपछि मात्र उत्पन्न हुन सक्छ त्यस्तो कुरालाई त्यस कार्यको कारण अथवा 'हेतु' भन्दछन्। त्यसकारण ती पुण्यविघ्नकारीलाई कसरी पुण्यको विघ्न भन्न मिल्छ ? किनकि त्यसले गरेको कार्यबाट नै मेरो क्षान्तिअभ्यास हुन सक्छ र क्षान्तिअभ्यास भनेको वास्तवमा सबै पुण्यको हेतु हो। क्षान्ति भएन भने पुण्य हुन पनि सक्दैन, क्षान्तिले मात्र सबै किसिमका पुण्यहरू सम्भव हुन्छन्। अतः बाहिरबाट झ्वाट्ट हेर्दा पुण्यविघ्न गरेजस्तो देखिए पनि वास्तवमा त्यो पुण्यको हेतु नै हो। अब कसरी त्यसलाई विघ्न भन्न मिल्छ ?

न हि कालोपपन्नेन दानविघ्नः कृतो ऽर्थिना।
न च प्रव्राजके प्राप्ते प्रव्रज्याविघ्न उच्यते ॥१०५॥

समयमा आइपुग्ने माग्ने हो दानविघ्न र ?
परिव्राजक आएमा प्रव्रज्याविघ्न हुन्छ र ? ॥१०५॥

अन्वयार्थ : कालोपपन्नेन = समयमा आइपुगेको, अर्थिना = माग्नेवालाले, दानविघ्नः = दानमा विघ्न, न हि कृतः = निश्चय पनि गरेको छैन, प्रव्राजके प्राप्ते = प्रव्रज्या दिनेवाला आइपुगेमा, प्रव्रज्याविघ्नः = प्रवज्यामा विघ्न, न उच्यते = भनिंदैन।

यदि आफूलाई दान दिने इच्छा लागेको छ भने त्यो पुण्य कर्म हुन आँट्यो भन्नुपऱ्यो। जब त्यहीबेला कोही भिक्षार्थी त्यहाँ आइपुग्यो भने त्यसलाई दानमा विघ्न गर्ने व्यक्ति भनिंदैन। त्यो त दान कर्मको हेतु भित्रै गनिन्छ। त्यस्तै कसैले प्रव्रज्या (भिक्षुत्व) ग्रहण गर्न चाहेको छ भने त्यहाँ कुनै प्रव्राजक (भिक्षशील दिनेवाला) आइपुग्यो भने त्यसलाई प्रव्रज्याको विघ्न भन्न मिल्दैन। त्यसैगरी यहाँ पनि क्षान्ति नै सबै पुण्यको मूल हेतु भएकोले त्यसको अभ्यास हुने वेलामा पुण्यविघ्नकारी उपस्थित भयो भने पनि उ पुण्यको विघ्न भनिंदैन पुण्यको हेतु भनिन्छ। क्षान्तिको हेतु पाउनु त सौभाग्यको कुरा हो। त्यसकारण उप्रति प्रेम र सौमनस्य (राम्रो मन) हुनु राम्रो हो।

सुलभा याचका लोके दुर्लभास्त्वपकारिणः।
यतो मे ऽनपराधस्य न कश्चिदपराध्यति ॥१०६॥

माग्ने त सुलभै हुन्छन् अपकारी त दुर्लभ
मैले विगार नगरे मेरो गर्छ विगार को ? ॥१०६॥

अन्वयार्थ : लोके = लोकमा, याचकाः = माग्नेहरू, सुलभा = सजिलै पाइन्छन्, अपकारिणस्तु = अपकारीहरू त, दुर्लभाः = दुर्लभै हुन्छन्, यतः = किनकि, अनपराधस्य = अपराधै नगर्ने, मे = मलाई, कश्चिद् = कसैले पनि, न अपराध्यति = अपराध गर्दैन।

लोकमा याचक (मगन्ते)हरू त जाहाँ पनि सजिलै पाइन्छन्। परन्तु अपकारी व्यक्ति त निकै दुर्लभ हुन्छन्। किनभने जसलाई आफूले कुनै अपराध गरिंदैन त्यसले त आफूलाई कुनै अपराध गर्दैन। त्यसकारण यदि म अपराधी व्यक्ति होइन र सज्जन हुँ भने त मेरो अपकार गर्ने व्यक्ति त्यति सजिलै भेटाउन सकिंदैन। त्यसकारण मैले क्षान्तिको अभ्यास गर्ने मौका पाउन दुर्लभ हुन्छ।

अश्रमोपार्जितस्तस्माद् गृहे निधिरिवोत्थितः ।
बोधिचर्यासहायत्वात् स्पृहणीयो रिपुर्मम ॥१०७॥

विना प्रयास घरमा निधि झैं निस्किने रिपु
बोधिचर्या सहायक् हो मेरो प्रशंसनीय छ ॥१०७॥

__अन्वयार्थः__ तस्मात् = त्यसकारणले, गृहे = घरमा, निधिः = खानि, उत्थितः इव = निस्केझैं, अश्रमोपार्जितः = कुनै परिश्रम नगरेरै पाइएको, मम = मेरो, रिपुः = शत्रु त, बोधिचर्यासहायत्वात् = बोधिचर्या गर्न सहयोगी भएकोले, स्पृहणीयः = मनपराउन योग्य छ ।

त्यसकारण कुनै परिश्रमै नगरीकन आफै घरमा निधि भेटिए झै गरी भेटिएको यो अपकारी व्यक्ति मेरो बोधिचर्यामा सहायक नै भएकोले मैले यसको चाहना गर्नु र प्रशंसा गर्नु नै उपयुक्त हुन्छ। वास्तवमा यो अपकारीले मेरो उपकार नै गरेको हुनाले म कृतज्ञ हुनु बेस हुन्छ ।

मया चानेन चोपात्तं तस्मादेतत् क्षमाफलम् ।
एतस्मै प्रथमं देयमेतत्पूर्वा क्षमा यतः ॥१०८॥

मैले उसले मिली पायौं क्षमाको फल यो अझ
पहिलो व्यक्ति 'उ' नै हो, पैले उस्लाई नै दिने ॥१०८॥

__अन्वयार्थ :__ तस्मात् = त्यसकारणले, मया = मैले र, अनेन च = यसले पनि, एतत् क्षमाफलम् = यो क्षमाको फल, उपात्तम् = आर्जन गरेका छौं, यतः = किनकि, एतत्पूर्वा = 'उ' नै पहिले भएको, क्षमा = क्षमा छ, (त्यसकारण), प्रथमं = पहिले, एतस्मै = उसलाई नै, देयम् = दिनुपर्छ ।

'उ' विना क्षमा हुन नसक्ने भएकोले र क्षमा गर्नेवाला म भएको हुनाले त्यो क्षमाको फल उसले र मैले मिलेर आर्जन गरेका छौं। त्यसमा पनि क्षमा हुनको लागि सर्वप्रथम त त्यो शत्रु (उ) कै आवश्यकता पर्ने भएकोले क्षमाको पूर्वगामी हेतु त उ नै हो। अर्थात् क्षमाफल पैदा हुनमा मभन्दा पनि पहिले उ आवश्यक छ त्यसकारण प्राथमिकताको दृष्टिले त्यो फल मैलेभन्दा पहिले उसले पाउनु पर्छ, अनिमात्र म लिउँला ।

क्षमासिद्ध्याशयो नास्य तेन पूज्यो न चेदरिः ।
सिद्धिहेतुरचित्तो ऽपि सद्धर्मः पूज्यते कथम् ॥१०९॥ '

क्षमाको नहुँदा इच्छा शत्रु पूज्य भएन ता
किन पूज्य भयो 'धर्म' सिद्धिको हेतु हो जड ॥१०९॥

__अन्वयार्थ :__ अस्य = यसको, क्षमासिद्ध्याशयः नास्ति = क्षमाफल सिद्धि गर्ने इच्छा छैन, तेन = त्यसो हुनाले, अरिः = शत्रु, पूज्यो न चेत् = पूज्य छैन भन्ने हो भने त, सिद्धिहेतुः = सिद्धिको हेतु, अचित्तः = जड (अचेतन), सद्धर्मः अपि = सद्धर्म पनि, कथम् पूज्यते = किन पूजित हुन्छ त?

यदि शत्रुले क्षमा (क्षान्ति)मा सिद्धि प्राप्त गर्ने इच्छा राखेको त थिएन त्यसकारण उसलाई त्यत्रो सम्मान किन गर्ने भन्ने हो भने सद्धर्मको पनि किन महिमा र श्रद्धा गर्ने भन्ने कुरा आउँछ। किनकि ज्ञानको सिद्धि दिलाउने हेतु त धर्म हो र त्यो पनि जड अचेतन छ। त्यसले पनि 'म सिद्धि

दिलाउँछु भनेर त सोच्दैन। यसरी त्यो पुण्य, कुशल कर्म आदिको हेतुलाई पनि पूजा, श्रद्धा गर्नुपर्दैन भन्ने मान्नुपर्ने हुन्छ।

यदि सद्धर्ममा त उपकार गर्ने चाहना पनि छैन अपकार गर्ने चाहना पनि छैन, परन्तु शत्रुमा त अपकार गर्ने चाहना छ, त्यसकारण कसरी त्यो पूज्य हुन्छ त भन्ने शंका उठाउने हो भने आचार्य भन्नुहुन्छ –

अपकाराशयो ऽस्येति शत्रुर्यदि न पूज्यते ।
अन्यथा मे कथं क्षान्तिर्भिषजीव हितोद्यते ॥११०॥

'इच्छा छ अपकारैको' भनी शत्रु न पूजदा
हितैषी वैद्यजस्तामा क्षान्ति मेरो कहाँ होला ॥११०॥

अन्वयार्थ : अस्य = यसको, अपकाराशयः = अपकार गर्ने आशय छ, इति = यस्तो सोचेर, यदि = यदि, शत्रुः = शत्रु, न पूज्यते = पूजिँदैन भने, अन्यथा = अरु उपायले त , हितोद्यते = हित गर्न लागिपरेका, भिषजि इव = वैद्यजस्ता व्यक्तिहरूप्रति, मे = मेरो, क्षान्तिः = क्षान्ति, कथं भवेत् = कसरी होला त ?

'शत्रुको आशय अपकार गर्ने थियो' भनेर शत्रुलाई दान, सत्कार आदिले पूजा नगर्ने हो भने त कस्माथि मैले क्षान्ति गर्ने ? अपकारीप्रति द्वेष नत्यागिकन पनि कहीँ क्षान्ति सम्भव हुन्छ र ? के वैद्यजस्तो हितकारक व्यक्तिमा क्षान्ति अभ्यास गर्न सम्भव हुन्छ ? क्षान्ति भनेकै अपकारीप्रति पनि द्वेष उत्पन्न हुन नदिनु हो। उपकारीमा त द्वेष उत्पन्न हुने गन्ध समेत हुँदैन।

'तद्दुष्टाशयमेवातः प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा ।
स एवातः क्षमाहेतुः पूज्यः सद्धर्मवन्मया ॥१११॥

त्यो दुष्टाशयबाटै यो प्रतीत्योत्पन्न छ क्षमा
त्यो नै क्षमाको हेतु हो पूज्य सद्धर्मझैं छ त्यो ॥१११॥

अन्वयार्थ : अतः = त्यसकारण, तद्दुष्टाशयम् एव = त्यसको (शत्रुको) दुष्ट आशयलाई नै, प्रतीत्य = आधार बनाएर (निमित्त बनाएर), क्षमा उत्पद्यते = क्षमा उत्पन्न हुन सक्छ, अतः = त्यसैले, स एव = त्यो दुष्टाशयवाला नै, क्षमाहेतुः = क्षमाको हेतु हो, मया = मैले, सद्धर्मवत् = सद्धर्मलाई जस्तै गरी, पूज्यः = पूजा गर्नु योग्य छ।

हितकर वैद्यजस्ता व्यक्तिप्रति क्षमा गर्ने अवसर आउनै नसक्ने भएकोले ती क्षमाका हेतु हुन सकेनन्। त्यसकारण अनिष्ट गर्ने दुष्ट आशय भएका शत्रुहरूको त्यो दुराशयको कारणले क्षमा उत्पन्न हुन सक्छ। क्षमाको निमित्त त्यही दुराशय नै हो। अतः दुराशयवाला व्यक्ति नै क्षमाको हेतु हो। त्यसैले सद्धर्मलाई जस्तै त्यो वैरीलाई पनि पूजा (सम्मान) गर्नुपर्छ।

यहाँ अर्को कुरा पनि छ, यदि मेरो प्रयोजन सिद्ध गर्नमा कुनै कुरा उपयोगी छ भने मलाई कसैको आशय कस्तो छ भनेर विचार विमर्श किन गरिराख्नुपर्‍यो ? यदि मप्रति उसको दुराशय छ भने त्यसको फल त उसले नै भोग्छ। परन्तु मेरो निमित्त उ त कल्याणकै हेतु हो। मैले किन उसलाई सम्मान नगर्ने ?

सत्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रमित्यतो मुनिनोदितम् ।
एतानाराध्य बहवो सम्पत्पारं यतो गताः ॥११२॥

'सत्वक्षेत्र' 'जिनक्षेत्र' मुनिले भन्नुभो अत:
धेरैले सम्पत्ति लिए यिन्कै आराधना त हो ॥११२॥

अन्वयार्थ : अत: = त्यसैले, सत्त्वक्षेत्रं = सत्त्वक्षेत्र र, जिनक्षेत्रम् इति = जिनक्षेत्र भनेर, मुनिना = मुनिले, उदितम् = बताउनु भएको छ, यत: = किनकि, एतान् = यिनै क्षेत्रहरूलाई, आराध्य = आराधना गरेर, वहव: = धेरै मनीपीहरूले, सम्पत्पारं गता: = सम्पत्तिको पार पाएका छन् ।

भगवान्ले 'सत्वक्षेत्र' र 'जिनक्षेत्र' भनेर दुई किसिमका क्षेत्र (खेत)हरूको प्रशस्त बयान गर्नुभएको कारण पनि त्यही हो। किनकि सत्त्वहरू पनि सम्भार पूरा गर्दै जानको लागि खेत (क्षेत्र) समानका हुन् जहाँ पुण्य फलाउने काम गरिन्छ। त्यस्तै बुद्धहरू पनि पुण्य फलाउने क्षेत्रहरू हुन्। त्यसैले यिनलाई क्षेत्र भनिएको हो। क्षेत्र भनेको खेत हो। यिनै दुई क्षेत्रहरूको आश्रयले गर्दा अनकौं प्राणीहरू(सत्व)ले बुद्धपद प्राप्त गरी सबै लौकिक र लोकोत्तर सम्पत्ति फलाएर पराकाष्ठामा पुगेका छन् ।

सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे ।
जिनेषु गौरवं यद्वन्न सत्त्वेष्विति क: क्रम: ॥११३॥

सत्त्वबाट बुद्धबाट बुद्धगुण समान छन्
जिनमा झैं सत्वामा पो नहुने किन गौरव ॥११३॥

अन्वयार्थ : सत्त्वेभ्य: = सत्त्वहरूवाट र, जिनेभ्यश्च = वुद्धहरूवाट पनि, वुद्धधर्मागमे = वुद्धगुणहरू प्राप्त हुने काम, समे = समानरूपमा हुँदाहुँदै पनि, जिनेपु = जिनहरूमा, यद्वद् गौरवं = जस्तो गौरव गरिन्छ, सत्त्वेपु न = सत्त्वहरूमा त्यति गरिँदैन, इति = भन्ने यस्तो, क: क्रम: = कस्तो क्रम हो ?

बुद्धगुणहरू उत्पाद गर्नमा बुद्ध र सत्त्वहरू समानरूपमै हेतु हुन्छन्। बुद्धगुण भनेका दश बल, चार वैशारद्य जस्ता खालका बुद्धगुण हुन्। वास्तवमा बुद्धका गुण अनन्त हुन्छन् तापनि काय, वाक्, चित्त, गुण र कर्मको हिसावले बुद्धका गुणहरूको वर्गीकरण शास्त्रमा गरएको हुन्छ । ती गुण उत्पाद गर्नमा सत्त्व र बुद्धमध्ये दुवै नै समानरूपले समर्थ हेतु हुन् । त्यसकारण बुद्धप्रति जस्तो गौरव आदरभाव राखिन्छ सत्त्वहरूप्रति पनि त्यस्तै राख्नुपर्नेमा सत्त्वप्रति गौरव नगर्नु कस्तो बुद्धिमानी हो ? के किसिमको क्रम हो ?

यहाँ बुद्ध र सत्त्वहरूलाई समान भनेर तुलना गरियो । बुद्धको राग आदि मल नहुनाले चित्तको स्थिति, आशय जस्ता कुराले गर्दा बुद्धभन्दा सत्त्वहरूलाई नै हीन भन्नुपर्ने हो । त्यसैले बुद्धको कसैसँग तुलना नहुनु पर्ने भन्ने प्रश्न छ भने -

आशयस्य च माहात्म्यं न स्वत: किन्तु कार्यत: ।
समं च तेन माहात्म्यं सत्त्वानां तेन ते समा: ॥११४॥

महत्ता त आशयको कार्यले हुन्छ, न स्वत:
उहाँ र सत्वको कार्य समानै भो अत: सम ॥११५॥

अन्वयार्थ : आशयस्य = आशयको, माहात्म्यं = माहात्म्य (महानता) त, न स्वत: = आफै हुँदैन, किन्तु = परन्तु, कार्यत:

= कार्यवाट हुन्छ, तेन = त्यसो हुनाले, सत्वानां = सत्वहरूको, माहात्म्यं च = माहात्म्य पनि, समं = समानै छ, तेन = त्यसकारण, ते = ती सत्वहरू पनि, समा: = समानै छन् ।

यद्यपि भगवान्‌को पुण्य र ज्ञान द्वारा उत्पन्न गुणको माहात्म्य अनुत्तर नै छ र कसैसँग तुलना हुन सक्दैन तापनि आशयको माहात्म्य त कार्यबाट हेरिन्छ । आफै स्वतः हुँदैन । सत्त्वहरूमा पुण्य सम्भार उत्पाद गराउने हेतुको दृष्टिले हेर्दा सत्वाराधन र बुद्धाराधनबाट उस्तै पुण्य (कार्य) पैदा हुने भएकोले दुवै नै समान सकसिमका हेतु हुन् । यस दृष्टिले दुवैको माहात्म्य समान हुन्छ । त्यसकारण सत्त्व र बुद्ध बराबर रूपमा आराध्य र श्रद्धेय छन् ।

मैत्र्याशयश्च यत्पूज्यः सत्त्वमाहात्म्यमेव तत् ।
बुद्धप्रसादाद् यत् पुण्यं बुद्धमाहात्म्यमेव तत् ॥११५॥

मैत्र्याशय भएकोले पूज्य माहात्म्य सत्वको
बुद्धप्रसादको जो छ पुण्य माहात्म्य बुद्धको ॥११५॥

अन्वयार्थ : मैत्र्याशय: = मैत्री चित्त भएको व्यक्ति, यत्पूज्यते = जुन पूजा सम्मान गरिन्छ, तत् = त्यो, सत्त्वमाहात्म्यमेव = सत्वको माहात्म्य नै हो, बुद्धप्रसादात् = बुद्धप्रति प्रसन्नता उत्पन्न गर्नाले, यत् पुण्यं = जुन पुण्य उत्पाद हुन्छ, तत् = त्यो, वुद्धमाहात्म्यम् एव = बुद्धको माहात्म्य नै हो ।

मैत्रीभावले युक्त व्यक्तिलाई अरुले जुन सत्कार प्रदान गर्दछन् त्यसमा सत्वहरूकै माहात्म्य हुन्छ भने बुद्धको सम्मान आदिमा चित्त प्रसन्न गराउनाले जुन पुण्य उत्पन्न हुन्छ त्यो फेरि बुद्धकै माहात्म्य हो किनकि भगवान्‌को माहात्म्य असाधारण हुन्छ, अरुमा त्यो गुण हुँदैन ।

बुद्धधर्मागमांशेन तस्मात् सत्त्वा जिनैः समाः ।
न तु बुद्धैः समाः केचिदनन्तांशैर्गुणार्णवैः ॥११६॥

बुद्धधर्मागमांशैले सत्त्व बुद्ध समान छन्
अनन्त गुणसिन्धुका बुद्धतुल्य त को हुनन् ? ॥११६॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, बुद्धधर्मागमांशेन = वुद्धका गुणहरूको प्राप्ति (साक्षात्कार) गराउने पक्षवाट हेर्दा, सन्त्वा: = प्राणीहरू, जिनै: समा: = वुद्धसग समानै छन् (परन्तु), अनन्तांशै: = अंशमात्रको पनि अन्त भेटाउन नसकिने, गुणार्णवै: = गुणका सागर समानका, बुद्धै: = वुद्धहरूसँग, केचिद् = कोही पनि, न तु समा: = समान (वरावर त) हुँदैनन् ।

अतः बुद्धगुणहरूको प्राप्तिका हिसावले विचार गर्दा सत्त्व र बुद्ध समान नै ठहरिन्छन् किनकि दुवै नै समान सामर्थ्यवाला हेतुहरू हुन् । परन्तु स्वयं बुद्धका गुण र सत्त्वका गुणका आधारमा हेर्ने हो भने बुद्धसँग सत्त्वको तुलना गर्नै मिल्दैन । किनकि बुद्धहरूका गुणको एक अंश पनि अनन्त हुन जान्छ भने त्यस्ता अनन्तांशहरूको सागर समानका बुद्धको गुण बराबर अरु कसैको पनि हुन सक्दैन ।

गुणसारैकराशीनां गुणो ऽ णुरपि चेत् क्वचित् ।
दृश्यते तस्य पूजार्थं त्रैलोक्यमपि न क्षमम् ॥११७॥

गुणकै सारका राशीहरूको अणुमात्र नै
गुण भेट्दा पूज्नलाई सक्दैनन् तीन लोक नै ॥११७॥

अन्वयार्थ : चेत् = यदि, क्वचित् = कहीं, गुणसारैकराशीनां = गुणका सारहरूको एकीकृत राशीसमानका बुद्धहरूको, अणुरपि गुण: = अणु बराबरको गुण पनि, दृश्यते = देखिन्छ भने, तस्य = त्यसको, पूजार्थं = पूजा गर्नका निमित्त, त्रैलोक्यमपि = तीनै लोकले पनि, न क्षमम् = सक्दैन् ।

भगवान्हरूमा गुणका सारहरूमात्र एकमुष्ट भएर रहेका हुन्छन् । अतः उहाँहरू गुणसारका राशी हुनुहुन्छ । त्यस्ता बुद्धहरूको गुणको एक अणुबराबर गुण कहीं अन्य सत्वहरूमा देखियो भने पनि त्यसलाई पूजा सम्मान गर्नलाई तीनै लोक मिलेर पनि सक्दैनन् भने बुद्धहरूको त के कुरा गर्नु ? तात्पर्य के हो भने बुद्धगुण अलिकति पनि कुनै सत्वमा देखापर्‍यो भने उसको तीनै लोकले पूजा गर्दा पनि कमी हुन्छ । तीनै लोकका रत्न आदिले पनि उसको पूजा गरेर सकिँदैन भने बुद्धको पूजा वास्तवमा लोकबाट कसरी सम्भव हुन्छ ? उहाँहरूको को त अनुत्तर (लोकोत्तर) पूजा मात्र हुन सक्छ । त्यसकारण बुद्धसँग सत्वको तुलना हुन सक्दैन । यदि त्यसो हो भने किन सत्वको आराधन गर्न भनियो त भन्ने शंका उठ्ला भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ –

बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते ।
एतदंशानुरूप्येण सत्त्वपूजा कृता भवेत् ॥११८॥

सत्त्वमा बुद्धगुण नै निस्किने श्रेष्ठ अंश छ
त्यो अंशको कारणले सत्त्वपूजा गरिन्छ त ॥११८॥

अन्वयार्थ : सत्त्वेषु = सत्त्वहरूमा (प्राणीहरूमा), श्रेष्ठः = उत्तम, बुद्धधर्मोदयांशः = बुद्धगुण उदाउने अंश, विद्यते = विद्यमान छ, एतदंशानुरूप्येण = यो अंशको अनुरूप नै, सत्त्वपूजा = सत्त्वको पूजा, कृता भवेत् = गरिनु पर्दछ ।

प्राणीहरूमा पनि बुद्धगुणहरूको उदय हुन सक्ने त्यो उत्तम अंश छ अर्थात् 'सुगतगर्भ' छ । त्यसकारण त्यही अंश भए अनुसार नै प्राणीको पनि पूजा हुनुपर्ने नै हो । त्यसले मात्र नभए यसरी पनि सत्त्वाराधन उपयुक्त नै छ–

किं च निश्छद्मबन्धूनामप्रमेयोपकारिणाम् ।
सत्त्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत् ॥११९॥

अपकार अप्रमेय गर्ने निश्छल बन्धुको
संत्त्वाराधन छोडेर हुन्छ के बदला अरु ॥११९॥

अन्वयार्थ : अप्रमेयोपकारिणाम् = अपरिमित उपकार गर्ने, निश्छद्मबन्धूनाम् = छलकपटले रहित भएका बन्धुहरूको, सत्त्वाराधनम् उत्सृज्य = सत्त्वको आराधनालाई छोडेर, परा = अर्को निष्कृतिः = बदला (ऋण तिर्ने काम), का भवेत् = के होला ?

प्राणीहरूका निश्छल र स्वार्थरहित बन्धु बुद्ध–बोधिसत्त्वहरूले हाम्रा निमित्त गरेको अपरिमित उपकारको बदला तिर्न सत्त्वहरूकै आराधना गर्नुबाहेक अरु कुनै कुरा हुन सक्ला र ? किनकि बुद्धबोधिसत्त्वहरूलाई चाहिने अरु कुनै कुरा छैन जो हामीले बदलामा दिन सकौं । उहाँहरूको अभीष्ट कुरा नै सत्त्वहित हो । त्यसकारण सत्त्वहरूकै आराधनाबाहेक उहाँहरूको ऋण चुक्ता गर्ने अर्को कुनै पनि उपाय छैन ।

भिन्दन्ति दहे प्रविशन्त्यवीचिमेषां कृते तत्र कृते कृतं स्यात् ।
महापकारिष्वपि तेन सर्वं कल्याणमेवाचरणीयमेषु ॥१२०॥

पस्छन् अवीचि र शरीर काट्दछन्
जस्का निमित्तै, तिनमा गरे हित ।
अत: महानै अपकारिमा पनि
कल्याणको आचरणै छ है ठिक ॥१२०॥

अन्वयार्थ : येषां कृते = जसका निमित्त, देहं = शरीरलाई, भिन्दन्ति = छिनाल्छन्, अवीचिं = अवीचिमा, प्रविशन्ति = पस्छन्, तत्र = ती प्राणीमा, कृते = राम्रो गरेमा, कृतं स्यात् = गरेको (कुशल) होला, तेन = त्यसो हुनाले, एषु = यी, महापकारिषु अपि = महान् अपकारीहरूप्रति पनि, सर्वं कल्याणम् एव = सबै कल्याण नै, आचरणीयम् = आचरण गर्नुपर्छ ।

जसका निमित्त बुद्ध बोधिसत्त्वहरूले आफ्नो शरीरको अंग काट्दछन्, अवीचि जस्ता नरकमा समेत प्रवेश गर्दछन्, त्यस्ता सत्त्वहरूप्रति केही कुशल गरियो भने पो त्यो कुशल 'गरेको' ठहर्छ । त्यसकारण यी ठूला अपकारी हरूप्रति पनि सबैतिरबाट कल्याण हुने कुराको मात्र आचरण गर्नुपर्छ ।

स्वयं मम स्वामिन एव तावद् यदर्थमात्मन्यपि निर्व्यपेक्षाः ।
अहं कथं स्वामिषु तेषु तेषु करोमि मानं न तु दासभावम् ॥१२१॥

जस्का निमित्तै पनि स्वामि मेरा
गर्छन् स्वयंलाई पनि उपेक्षा ।
ती-ती-प्रति, स्वामिप्रति घमण्ड
गर्छु म मात्रै किन हुन्न दास ॥१२१॥

अन्वयार्थ : यदर्थं = जसका निमित्त, स्वयं मम स्वामिन एव = मेरा स्वामीहरू आफै पनि, आत्मनि अपि = आफूप्रति समेत, निर्व्यपेक्षा: = वेवास्ता गरेर रहेका छन्, तावत् = त्यस्तो हुँदा पनि, अहं = म, तेषु तेषु = ती ती, स्वामिषु = स्वामीहरूप्रति, कथं = कसरी, मानं करोमि = अभिमान गर्छु, न तु दासभावं = दासभाव गर्दिन ?

स्वयं मेरा स्वामी बुद्ध बोधिसत्त्वहरूले पनि यी सत्त्वहरूका निमित्त आफ्नो सर्वस्व त्याग गरेर आफ्नै शरीर (आत्मभावादि)लाई पनि वेवास्ता गरेका हुन्छन् भने म उनीहरूको अनुयायी दास भएर पनि किन तिनीहरूको सामु आफ्नो अभिमान प्रकट गरिरहेको छु त ? किन दासजस्तै बनेर रहन सकेको छैन ?

बुद्ध बोधिसत्त्वका प्रिय पुत्रसमानका यी प्राणीहरूप्रति मैले अभिमान गर्नु त बुद्ध आदि स्वामीहरूकै अपमान हो । त्यसकारण मैले किन यी प्राणीहरूप्रति पनि आफू दासभावले नरहने ? मालिकका छोरा पनि त मालिक नै हुन् ! त्यसैले सत्त्वप्रतिको प्रतिकूल आचरण गर्नुभएन ।

येषां सुखे यान्ति मुदं मुनीन्द्रा
येषां व्यथायां प्रविशन्ति मन्युम् ।
तत्तोषणात् सर्वमुनीन्द्रतुष्टि
स्तत्रापकारे ऽपकृतं मुनीनाम् ॥१२२॥

मुनीन्द्र जस्को सुखमा खुशी छन्
जस्को व्यथामा उनि खिन्न हुन्छन् ।
तीन्को खुशी नै मुनिको खुशी हो
अपमान तीन्को पनि हो उनैको ॥१२२॥

__अन्वयार्थ :__ *येषां = जसको, सुखे = सुखमा, मुनीन्द्राः = मुनीन्द्र (बुद्धहरू), मुदं यान्ति = खुशी हुन पुग्छन्, येषां = जसको, व्यथायां = पीडामा, (उनीहरू) मन्युम् प्रविशन्ति = खिन्न हुन पुग्छन् , तत्तोषणात् = ती सत्त्वहरूको तुष्टिवाट नै, सर्वमुनीन्द्रतुष्टिः = सबै मुनीन्द्रहरूको तुष्टि हुन्छ, तत्र = ती प्राणीहरूमा, अपकारे = अपकार गरिएमा, मुनीनाम् = मुनिहरूको (बुद्धहरूको), अपकृतम् = अपकार गरिएको हुन्छ ।*

भगवान् बुद्धहरू यी सत्त्वहरूको दुःखमा दुःखी हुने र यिनीहरूको सुखमा प्रसन्न हुने गर्दछन् । त्यसकारण यिनै सत्त्वहरूलाई सन्तुष्ट पार्नु नै बुद्धलाई सन्तुष्ट पार्नु हो र यिनीहरूको अपकार गर्नु नै बुद्धहरूको अपकार गर्नु हो । त्यसैले पनि सत्त्वाराधन नै श्रेष्ठ कुरा हो ।

आदीप्तकायस्य यथा समन्ता -
न्न सर्वकामैरपि सौमनस्यम् ॥
सत्त्वव्ययायामपि तद्वदेव
न प्रीत्युपायो ऽस्ति दयामयानाम् ॥१२३॥

शरीर जल्दा जसरी वरीपरी
सवै कुराले पनि दिन्न शान्ति त ।
त्यसै गरी सत्त्वहरू दुःखी हुँदा
दयामयैको पनि हुन्न प्रीति त ॥१२३॥

__अन्वयार्थ :__ *यथा = जत्तै, आदीप्तकायस्य = शरीरमा आगो लागेर जलिरहेकाको, समन्तात् = चारैतिर, सर्वकामैः अपि = इच्छाएका सवै कुरा राखेर पनि, सौमनस्यं न = सुख अनुभव हुन सक्दैन, तद्वद् एव = त्यस्तै नै, दयामयानां = करुणाले भरपूर भएका बुद्धबोधिसत्त्वहरूको, सत्त्वव्यथायां अपि = सत्वहरूले पीडा पाएको अवस्थामा पनि, प्रीत्युपायः नास्ति = प्रसन्न भएर रहने उपाय हुँदैन ।*

जसरी शरीरमा चारैतिरबाट आगोले जलाइरहेको वेला त्यस व्यक्तिको वरिपरि जे जस्ता उत्तम सुखदायी चीजवीज ल्याएर थुपारिदिए पनि उसले सौमनस्य (आनन्द सुख) प्राप्त गर्न सक्दैन त्यसैगरी करुणाले भरपूर भएका त्यस्ता दयामय बुद्धबोधिसत्त्वहरू पनि सत्त्वहरूको दुःख र पीडा देखेपछि आरामसँग रहने उपाय हुँदैन, अर्थात् उनीहरू चुपचाप नबसेर उद्धार कार्यमा जुटि हाल्छन् ।

तस्मान्मया यज्जनदुःखदेन
दुःखं कृतं सर्वमहाकृपाणाम् ।
तदद्य पापं प्रतिदेशयामि
यत्खेदितास्तन्मुनयः क्षमन्ताम् ॥१२४॥

दिएँ नि दुःखै ज़नदुःखदायिले
सवै महाकारुणिकलाई मैले ।

त्यो पाप आजै प्रतिदेशना गरें
क्षमा गरुन् हे मुनि ती सबैले ॥१२४॥

__अन्वयार्थ :__ तस्मात् = त्यसकारणले, मया = म, जनदुःखदेन = सत्त्वहरूलाई दुःख दिनेवालाले, सर्वमहाकृपाणाम् = महाकृपालु ती सबैलाई, यद् दुःखं कृतं = जुन दुःख दिएँ, तत्पापं = त्यो पापलाई, अद्य = आज नै, प्रतिदेशयामि = प्रतिदेशना गर्दछु, यत्खेदिता: = जसले गर्दा खिन्न बनाइएका, तन्मुनयः = ती मुनिहरूले, क्षमन्ताम् = (मलाई) क्षमा गरुन् ।

त्यसकारण प्राणीहरूलाई दुःख दिने मैले ती सबै महाकारुणिक भगवान्हरूलाई पनि दुःख दिन पुगें। त्यसबाट जुन पाप मैले कमाएँ त्यसको आजै प्रतिदेशना गर्छु र उहाँहरूकै सामु प्रकट गर्दछु। फेरि त्यस्तो गर्नेछैन भनी प्रतिज्ञा गरेर पुनः संवर पनि लिन्छु। मैले त्यस्तो गर्नाले खिन्न तुल्याइएका ती मुनीन्द्रहरू अब मलाई क्षमा गरुन् र ममाथि प्रसन्न रहून् ।

**आराधनायाद्य तथागतानां
सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके ।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्निपदं जनौघा
विघ्नन्तु वा तुष्यतु लोकनाथः ॥१२५॥**

आराधना गर्न तथागतैको
सर्वात्मले दास हुन्छु म लोक्को ।
राखुन् शिरैमा जनले कि पाद
विघ्नै गरुन् या खुश हुन् त नाथ ॥१२५॥

__अन्वयार्थ :__ अद्य = आज, तथागतानां = तथागतहरूको, आराधनाय = अराधना गर्नको लागि, लोके = लोकमा, सर्वात्मना = सवैरूपवाट, दास्यम् उपैमि = दास बन्छु, जनौघाः = जनसमूहले, मे = मेरा, मूर्ध्नि = शिरमा पदं कुर्वन्तु = कुल्चिऊन्, वा = अथवा, विघ्नन्तु = हानि पुऱ्याऊन्, लोकनाथः = लोकका मालिक, तुष्यतु = खुशी 'होऊन् ।

तथागतहरूको आराधना गर्नको लागि आज म सबैरूपबाट अर्थात् काय, वाक्, चित्तबाटै लोकको दास बन्न स्वीकार गर्दछु किनकि लोकको हित गर्नु नै तथागतहरूको अभीष्ट कुरा हो। लोकले मेरो टाउकामा कुल्चे पनि ठिकै छ, या मेरो हानि गरे पनि ठिकै छ। परन्तु मेरा अपराधहरूलाई क्षमा गरेर भगवान् लोकनाथ बुद्ध खुशी हुनुभए पुग्छ। भगवान् बुद्धप्रति श्रद्धा राख्नेले सत्त्वहरूलाई अनादर कदापि गर्नुहुन्न ।

**आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत् तैः
कृपात्मभिर्नैव हि संशयो ऽस्ति ।
दृश्यन्त एते ननु सत्वरूपा
स्त एव नाथाः किमनादरो ऽत्र ॥१२६॥**

कृपालुले यो जगतै गराए
आफ्नै, यहाँ छैन नि केही शंका !
रूपै लिएका यिनि सत्त्वको ती
नाथै तिनी हुन् त अनादरै के ? ॥१२६॥

अन्वयार्थ : इदं सर्वं = यो सबै, जगत् = जगतलाई, तैः = ती, कृपात्मभिः = कृपालु स्वभाव भएका (जिनहरूले), आत्मीकृतम् = आफ्नो नै बनाएका छन्, हि = निश्चय, संशयः नास्ति = सन्देह नै छैन, एते = यी बुद्धहरू, ननु = निश्चय नै, सत्त्वरूपाः = सत्त्वको रूप धारण गरेका, दृश्यन्ते = देखिन्छन् । ते एव = तिनीहरू नै, नाथाः = नाथ (बुद्धहरू) हुन् , अत्र = यिनीहरूप्रति, किम् = किन, अनादरः = अनादर गर्ने ?

सम्पूर्ण जगत्लाई नै ती बुद्धहरूले आफ्नो बनाएका छन् । उनीहरू करुणामयस्वभावका भएका हुनाले सबै सत्त्वहरूप्रति समान व्यवहार गर्छन्, परात्मसमता र परात्मपरिवर्तनको माध्यमबाट आफूलाई अरुसम्म पुऱ्याएका हुन्छन् । अर्कातिर धर्मधातुस्वभावले गर्दा सर्वत्र सबै प्राणीसम्म उनी व्याप्त हुन्छन् । त्यसकारण यो सम्पूर्ण जगत् नै बुद्धमय छ । यसमा कुनै पनि सन्देह छैन । अतः जति पनि सत्त्वहरू छन् ती सबै बुद्धहरू नै सत्त्वरूपले देखा परेका हुन् भने पनि हुन्छ । यसरी हेर्दा सबै सत्त्वहरू नै बुद्ध भगवान् हुन् । त्यसो हुनाले सत्वहरूप्रति कसरी अनादर गर्ने ? त्यसो गर्नु त मूढ बुद्धिवालाको काम मात्र हो ।

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव ।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान् ममास्तु व्रतमेतदेव ॥१२७॥

तथागताराधन हो यही नै, हो स्वार्थको सिद्धि पनि यही नै,
हो दुःख नाश्ने पनि लोकको यै, मेरो त्यसैले ब्रत होस् यही नै ॥१२७॥

अन्वयार्थ : एतद् एव = यो नै, तथागताराधनम् = तथागतको आराधना हो, एतद् एव = यो नै, स्वार्थस्य = स्वर्थको, संसाधनम् = राम्रो साधना हो, एतद् एव = यो नै, लोकस्य = लोकको, दुःखापहम् = दुःखलाई विनाश गर्ने कुरा हो,तस्माद् = त्यसो हुनाले, मम = मेरो, एतद् एव = यो नै, व्रतम् अस्तु = ब्रत होस् ।

यही नै (सत्वहरूको सेवा गर्नु नै) तथागतको आराधना हो र आफूले पूरा गर्नुपर्ने स्वार्थ पनि यही नै हो किनकि बुद्धताको निमित्त सम्भार पूरा गर्नु आफ्नो स्वार्थ थियो भने त्यसको हेतु यही सत्वाराधन नै हो । त्यस्तै, लोकको दुःखलाई अपहरण गर्ने अर्थात् विनाश गर्ने कुरा पनि यही हो । यसैले नै अरुको दुःखलाई पनि मेटाउन सकिन्छ । त्यसकारण यो उत्तम ब्रत नै मेरो ब्रत बनोस् । मैले अँगाल्ने र ग्रहण गर्ने तपस्या, नियम, ब्रत जे भने पनि यही एक मात्र सत्वाराधन होस् ।

पछि आउने भय आदि देखेर पनि अहिले अरुको अपकारतर्फ विमुख हुने अभ्यास गर्नुपर्छ भन्ने दृष्टान्त दिन आचार्य भन्नुहुन्छ –

यथैको राजपुरुषः प्रमथ्नाति महाजनम् ।
विकर्तुं नैव शक्नोति दीर्घदर्शी महाजनः ॥१२८॥
यस्मान्नैव स एकाकी तस्य राजबलं बलम् ।
तथा न दुर्बलं कञ्चिदपराद्धं विमानयेत् ॥१२९॥
यस्मान्नरकपालाश्च कृपावन्तश्च तद्बलम् ।
तस्मादाराधयेत् सत्त्वान् भृत्यश्चण्डनृपं यथा ॥१३०॥

एक्लो सिपाही जसरी पीर्छ धेरैजनाकन
तथापि न विरोधी छन् दूरदर्शी भइकन ॥१२८॥

किनकि छैन एक्लो त्यो राजशक्ति पछाडि छ
त्यस्तै दुर्वल दोषीको पनि हेला नगर्नु त ॥१२९॥
किनकि यमदूतै र कृपालु वल छन् त्यहाँ
सेवक्ले दुष्ट राजा झैं सेवा गर्नु नि सत्त्वका ॥१३०॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, एक: = एक्लो, राजपुरुप: = सिपाहीले, महाजनं = ठूलो जनसमुदायलाई, प्रमथ्नाति = दु:ख दिन्छ र पनि, दीर्घदर्शी = पछिसम्म देख्ने, महाजन: = त्यो महान् जनसमुदायले, विकर्तुं = विरोध गर्न, नैव शक्नोति = सक्दैन । यस्मात् = किनिकि, स: = त्यो, एकाकी न = एक्लो छैन, तस्य = त्यसको, वलं = सामर्थ्य भन्नु, राजवलं = राजशक्ति नै हो, तथा = त्यस्तै, कश्चित् = कुनै पनि, दुर्वलं = कमजोर, अपराद्धं = अपराधीलाई समेत पनि, न विमानयेत् = अवहेलन गर्नुहुँदैन ।

यस्मात् = किनकि, तद्वलं = त्यसको सामर्थ्य भनेका, नरकपाला: = यमदूतहरू र, कृपावन्तश्च = कृपालुहरू पनि हुन्, तस्मात् = त्यसकारणले, चण्डनृपं = उग्रस्वभावको राजालाई, भृत्य: यथा = सेवकले जस्तै गरी, सत्त्वान् = प्राणीहरूलाई, आराधयेत् = आराधना गर्नू ।

कुनै एक्लो सिपाहीले गाउँ नगर आदिमा धेरैजनाको समूहलाई गलत तरीकाले सताएको छ भने पनि सामान्यतया ती समझदार गाउँलेहरूले दूरदर्शिता अपनाएर त्यसको विरोध गर्नतिर लाग्दैनन् र सहेरै बस्छन् । किनभने वास्तवमा त्यो सिपाही एक्लो हुँदैन । उसको पछाडि सम्पूर्ण राजशक्ति नै विद्यमान हुन्छ । त्यस्तै आफ्नो शत्रु या अपराधी दुर्बल छभने पनि उसको अपकार गर्नुहुँदैन किनकि उसको पछाडि पनि बुद्ध बोधिसत्त्वहरूको कृपा रहेको हुन्छ । उनीहरू कृपालु भएका हुनाले त्यसरी उसलाई अपकार गरेको मन पराउँदैनन् । त्यतिमात्र नभएर नरकपाल (यमदूत) पनि उसको पछाडि रहेका छन् किनकि उसलाई अपकार र हानि गरेमा हामीलाई ती यमदूतले पछि गएर छोड्ने छैनन् । त्यसैले उ वास्तवमा एक्लो छैन । यो बुझेर जसरी एउटा उग्र स्वभावको राजालाई बुद्धिमान् सेवकले सेवा गरिहन्छ त्यसरी नै हामीले पनि जस्तो कमजोर सत्त्वलाई पनि सेवा गरिरहनुपर्छ ।

कुपितः किं नृपः कुर्याद् येन स्यान्नरकव्यथा ।
यत् सत्त्वदौर्मनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥१३१॥

के गर्लान् रिसले राजा जस्ले होस् नरकव्यथा
जो सत्त्वप्रति द्वेषादि गर्नाले खप्नु पर्दछ ॥१३१॥

अन्वयार्थ : कुपित: = रिसाएको, नृप: = राजाले, किं कुर्यात् = के गर्लान्, येन = जसले, नरकव्यथा स्यात् = नरकको पीडा होस् ? यत् = जुन पीडा, सत्वदौर्मनस्येन कृतेन = सत्वहरूप्रति द्वेषभावले काम गर्नाले, अनुभूयते = अनुभव गरिन्छ ।

राजा जति नै रिसाए पनि के नै गर्न सक्छन् र ? नरकको पीडा दिलाउन त सक्दैनन् । परन्तु जुन पीडा सत्वहरूसँग द्वेषभाव गर्नाले भोग्नु पर्ने हुन्छ त्यो त अत्यन्त दु:खदायी नकरको पीडा हुन्छ । त्यस्तै -

तुष्टः किं नृपतिर्दद्याद् यद् बुद्धत्वसमं भवेत् ।
यत् सत्वसौमनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥१३२॥

के देलान् खुशि भै राजा जो बुद्धत्व समान होस्
जो सत्वप्रति राम्रो मन् गर्नाले पाइने भयो ॥१३२॥

अन्वयार्थ: *नृपति: = राजाले, तुष्ट: = खुशी भएर, किं दद्यात् = के देलान्, यत् = जो, वुद्धत्वसमं = वुद्धतासमानको, भवेत् = होला र, यत् = जो, सत्त्वसौमनस्येन = सत्त्वप्रति सौमनस्य (राम्रो मन) गरेर, कृतेन हि = गरिएको कर्मले नै, अनुभूयतें = अनुभव गरिन्छ ।*

फेरि खुशी भएर पनि राजाले के नै दिन सक्छन् र ? बुद्धता दिन त सक्दैनन् । बरु यो त सत्त्वहरूप्रति सौमनस्य अर्थात् मैत्री, करुणा आदिको भावले सेवा गरेमा मात्र अनुभव गर्न पाइन्छ ।

अत: प्रचण्ड स्वभावको राजाको सेवामा त सेवक निरन्तर लागिरहेको हुन्छ भने मैले त्यति ठूलो अनुपम फल दिने सत्वहरूको आराधना किन नगर्ने ? नगरी सुखै छैन, किनकि द्वेष आदि गर्नासाथ अति ठूलो कष्ट भोग्नै पर्ने हुन्छ ।

आस्तां भविष्यद्बुद्धत्वं सत्वाराधनसम्भवम् ।
इहैव सौभाग्ययश:सौस्थित्यं किं न पश्यसि ॥१३३॥

पछिको बुद्धता छोडौं सत्वाराधनले हुने
यहीं सौभाग्य कीर्तिको देख्दैनौ किन सुस्थिति ॥१३३॥

अन्वयार्थ : *सत्वाराधनसम्भवम् = सत्वहरूको आराधनाबाट हुने, भविष्यद्वुद्धत्वं = भविष्यको बुद्धतालाई, आस्ताम् = त्यसै छोडौं, इह एव = यहीं नै, सौभाग्ययश:सौस्थित्यं = सौभाग्य र यशको राम्रो प्राप्ति (अवस्थिति), किं = किन, न पश्यसि = देख्दैनौ ?*

सत्वाराधानबाट भविष्यमा प्राप्त हुने उक्त बुद्धताको कुरा छोडौं, यहीं पनि सत्वाराधनबाट ऐश्‍वर्य, कीर्ति, सौभाग्य प्राप्त हुन्छ, त्यो किन न देखेको ?

प्रासादिकत्वमारोग्यं प्रामोद्यं चिरजीवितम् ।
चक्रवर्तिसुखं स्फीतं क्षमी प्राप्नोति संसरन् ॥१३४॥

आरोग्य, रूप, आनन्द, दीर्घायु, चक्रवर्तिको
वढ्दो सुख जगत् घुम्दै पाइहाल्छ क्षमा गरे ॥१३४॥

अन्वयार्थ : *क्षमी = क्षान्ति गर्नेले, प्रासादिकत्वं = प्रसन्न पार्ने जस्ता कुरा (रूप आदि), आरोग्यं = आरोग्य, प्रामोद्यं = प्रसन्नता (सुख), चिरजीवितम् = दीर्घायु, स्फीतं = बढ्दो, चक्रवर्तिसुखं = चक्रवर्तीराजाको जस्तो सुख, संसरन् = संसारमा घुम्दै पनि, प्राप्नोति = प्राप्त गर्दछ ।*

क्षान्तिको राम्रो अभ्यास गरेर क्षमाशील बन्दै जाने हो भने संसारमा घुम्दाघुम्दै (बुद्धता प्राप्त गर्नुभन्दा पनि धेरै अघि) पनि उत्तम रूपरंगले युक्त हुने, नीरोगी शरीर हुने, प्रसन्न र आनन्दमगन रहन सक्ने, धेरै बाँच्ने जस्ता उत्तम कुरा र चक्रवर्ती राजाहरूको जस्तो उत्तरोत्तर बुद्धि हुँदै गइराख्ने सुख समृद्धि प्राप्त गर्दछ ।

वोधिचर्यावतारको क्षान्तिपारपिता नामक छैठौं परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त भयो ।

⁂

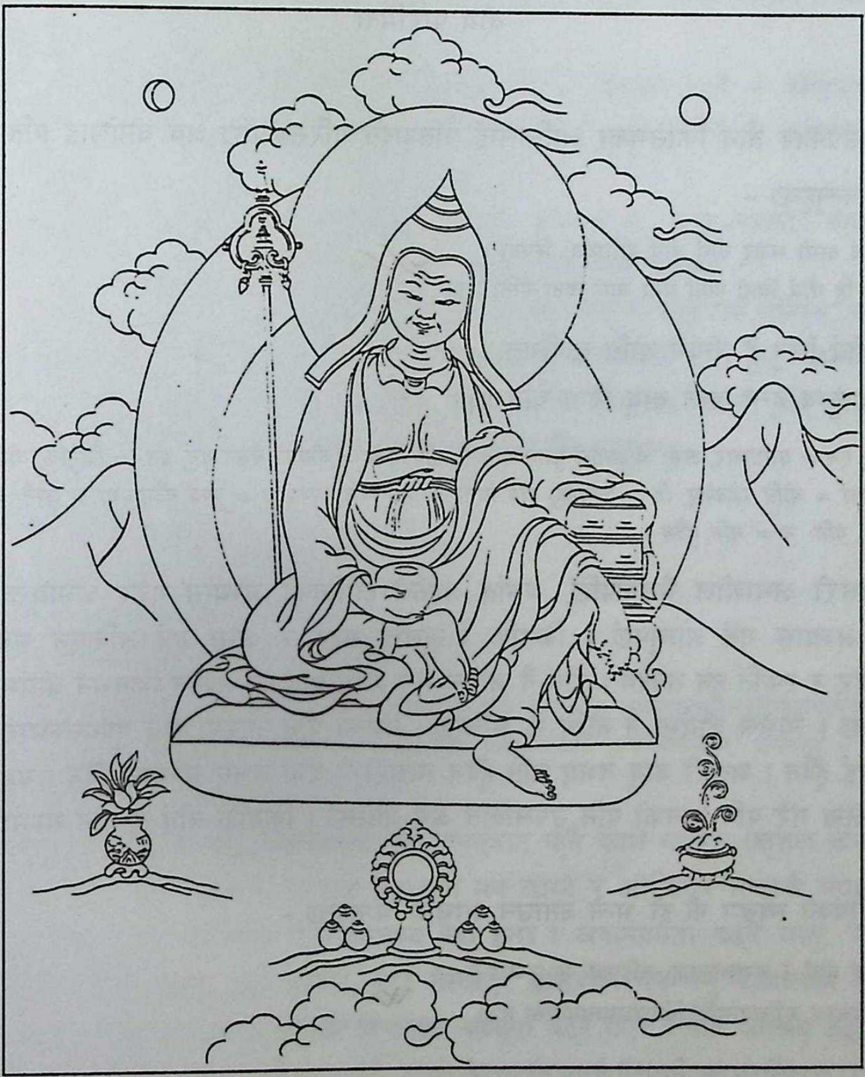

आचार्य शान्तरक्षित

[पूर्वी भारतको बङ्गालमा आठौं शताब्दीमा राजकुलमा जन्मिएका र पछि ज्ञानगर्भसँग उपसम्पदा लिएका सवै दर्शनमा निष्णात पण्डित भिक्षु शान्तरक्षित । 'तत्त्वसंग्रह' एवं 'मध्यमकालकार'का रचयिता उहाँ नेपालमा पनि बस्नुभएको थियो र तिव्वतमा बुद्धधर्मलाई प्रवेश गराउने प्रमुख व्यक्तित्व हुनुहुन्थ्यो । उहाँ र गुरु पद्मसम्भव मिलेर तिब्बतमा बुद्धधर्मलाई स्थापना गराउनुभएको हो । उहाँलाई स्वातन्त्रिक माध्यमिक परम्पराका आचार्य मानिन्छ ।]

सातौं परिच्छेद

वीर्य पारमिता

यसप्रकार तीन किसिमका क्षान्तिलाई प्रतिपादन गरिसकेपछि अव वीर्यलाई प्रतिपादन गर्न आचार्य भन्नुहुन्छ -

एवं क्षमो भजेद् वीर्यं वीर्ये बोधिर्यतः स्थिता ।
न हि वीर्यं विना पुण्यं यथा वायुं विना गतिः ॥१॥

क्षमीले वीर्य लिनु है वीर्यमै बोधि छ स्थित
वीर्यविना पुण्य हुन्न जस्तै वायु विना गति ॥१॥

अन्वयार्थ : एवं = यसप्रकार, क्षमः = क्षमाले युक्त व्यक्तिले, वीर्यं भजेद् = वीर्यको सेवन गर्नू, यतः = किनकि, वीर्ये = वीर्यमा, वोधिः स्थिता = वोधि रहेकोछ, हि = किनकि, वीर्यं विना = वीर्य विना, पुण्यं न = पुण्य हुँदैन,यथा = जस्तै, वायुं विना = वायु विना, गतिः न = गति हुँदैन ।

यसरी क्षमाशील भैसकेपछि, अर्थात् आफैले क्षान्तिको अभ्यास गरेर क्षमायुक्त भएपछि वीर्यको अभ्यास गर्न थाल्नुपर्छ । किनकि दुःखलाई सहन र क्षमा गर्न सकिएन भने वीर्यको जोशजाँगर र स्फूर्ति हुन सक्दैन। वीर्य नै जागेन भने बोधि पनि हुन सक्दैन किनभने वीर्यमा नै बोधि आश्रित छ। त्यसैले वीर्यमा नै बोधि छ भनिन्छ। यसको पनि कारण छ। पुण्यसम्भार पूरा गर्न वीर्य नभई हुँदैन। जसरी वायु नभए गति हुँदैन त्यसरी नै वीर्य नभए सम्भार हुँदैन। यहाँ पुण्यको मात्र उल्लेख गरे पनि ज्ञानको पनि उपलक्षित अर्थ बुझिन्छ। किनकि वीर्य त ज्ञान सम्भारको पनि हेतु हो।

वीर्यको स्वरूप के हो भन्ने बताउन आचार्य भन्नुहुन्छ -

किं वीर्यं ? कुशलोत्साहः तद्विपक्षः क उच्यते ?
आलस्यं कुत्सितासक्तिर्विषादात्मावमन्यना ॥२॥

वीर्य के ? कुशलोत्साह, विपक्षी त्यसको त के ?
आलस्य, तुच्छआसक्ति, विषाद, हीनभावना ॥२॥

अन्वयार्थ : वीर्यं किम् ? = वीर्य के हो ? कुशलोत्साहः = कुशल कर्ममा भएको उत्साह हो, तद्विपक्षः = त्यसको विपक्ष, क उच्यते = केलाई भनिन्छ ? आलस्यं = अल्छीपन, कुत्सितासक्तिः = खराव काममा आसक्ति हुनु, विपाद = हिम्मत हार्नु, आत्मावमन्यना = आफूलाई हीनतावोध गर्नु यी हुन् ।

वीर्य भनेको के हो ? वीर्य भनेको कुशल (पुण्य) कर्ममा उत्साह हुनु हो। वीर्यको विपक्ष अर्थात् शत्रु के हो ? (अथवा वीर्यले केलाई नष्ट पार्दछ ?) वीर्यका विपक्षहरू १. आलस्य २. निन्दित विषयहरूमा आसक्ति, ३. हिम्मत हार्ने काम (विषाद) ४. हीनताबोध (आत्मावमान) यी हुन्।

यहाँ कुशल कर्म भनेको दान, शील, क्षान्ति आदि पारमिताका अभ्यास हुन्। यिनीहरूलाई पूरा गर्ने र धर्मश्रवण, चिन्तन र भावना गर्ने काममा भएको उत्साह, जोश ,जाँगर नै वीर्य अर्थात् कुशलोत्साह हो।

आलस्य भनेको काय र चित्तको अकर्मण्यता हो। यसमा सुत्ने र पल्टिरहने जस्ता क्रियाकलापलाई सुख सम्झेर कामलाई टाल्दै पछि पछि सार्दै जाने प्रवृत्ति नै आलस्य हो भन्ने बुझ्नुपर्छ ।

तुच्छ विषय (कुविषय) मा आसक्ति भन्नाले जूवा-तास, जाँड-रक्सी, नाचगानबाट मनोरञ्जन र झैं-झगडाजस्ता तुच्छ कुराहरूप्रति आसक्ति हुनु भन्ने बुझिन्छ।

त्यस्तै निराश, खिन्न र उत्साहहीन हुनु विषाद हो भने 'मैले त केही गर्न सक्दिन, म अभागी हुँ, मजस्ताबाट के गरी अभ्यास हुन सक्ला' भन्ने जस्ता हीनताबोधले ग्रस्त हुनु 'आत्मावज्ञा' या 'आत्मावमन्यना' हो। यिनीहरू नै वीर्यका विपक्ष हुन्। त्यसैले यिनलाई जसरी पनि त्याग्नुपर्छ।

अब आलस्य आदि कसरी आउँछन् भन्ने कुरा बताउँदै भन्नुहुन्छ -

अव्यापारसुखास्वादनिद्रापाश्रयतृष्णया।
संसारदुःखानुद्वेगाद् आलस्यमुपजायते ॥३॥

संसारदु:खले व्यग्र नहुँदा सुत्न खोजदै
व्यर्थै बसी सुख लिँदा आलस्योत्पत्ति हुन्छ है ॥ ३॥

अन्वयार्थ : संसारदु:खानुद्वेगाद् = संसारको दु:खदेखि छट्पटाहट पैदा नभएकोले, अव्यापारसुखास्वादनिद्रापाश्रयतृष्णया = कुनै काम नगरेर बस्नमा सुखको स्वाद मान्ने र निद्रा (तन्द्रा)कै आश्रय लिएर रहने लालसाले, आलस्यम् = अल्छीपन, उपजायते = पैदा हुन्छ।

संसारको दुःखदेखि तीव्र छट्पटाहट पैदा नभएबाट कुनै काम नगरेर (कुशल कर्म नगरेर) बसिरहनुमा नै सुख ठानेर त्यसरी नै सुख लिइरहन मन लाग्ने र झोक्रिएर तन्द्राकै अवस्थामा या निद्राकै आश्रयमा रहने लालसाले गर्दा आलस्य पैदा हुन्छ। अकर्मण्यता बढ्दै जानु, रचनात्मक क्रियाकलापमा व्यस्त नरहनु, सधैं पल्टेर, ढाड तेर्स्याएर बसिरहन मन गर्नु नै आलस्य बढ्दै जाने मूल कारण हुन्। त्यसको अलावा वीर्यका विपक्षहरू आफूमा बढ्दै गएभने पनि आलस्य बढ्दै जान्छ। विशेष गरेर बोधिका निमित्त वीर्यको कमी हुनुमा मूलकारण नै 'संसारमा दुःखैदुःख मात्र छ र यसबाट मलाई र अरुलाई समेत पार नलगाई भएन' भन्ने कुरा मनमा बलियोसँग नगढ्नु हो। अतः यो दुःखमय संसारबाट आफूलाई उद्वेग अर्थात् छट्पटी भएकै हुनुपर्छ। अन्यथा बोधिको यात्रा अघि बढ्दैन।अब सम्झाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

क्लेशवागुरिकाघ्रातः प्रविष्टो जन्मवागुराम्।
किमद्यापि न जानासि मृत्योर्वदनमागतः ॥४॥

क्लेशकै जालीले हान्दा जन्मको पाशमा पसी
मृत्युको मुखमा पुग्दा अझै चेत्दैन है कति ? ॥४॥

अन्वयार्थ : *क्लेशवागुरिकाघ्रातः = क्लेशरूपी जाली (जालहान्ने)ले अधीनमा परिएर, जन्मवागुरां = जन्मरूपी पाशमा (जालभित्र), प्रविष्टः = फसेको छँदो, मृत्योः = मृत्युको, वदनं आगतः = मुखमा आएका छौ, अद्य अपि = अझै पनि, किम् = किन, न जानासि ? = चेत्दैनौ ?*

क्लेशरूपी माझी (अर्थात् जाल हान्ने)को अधीनमा पर्नाले जन्मरूपी पाशोमा फसेर मृत्युको मुखमा पर्न लागिसकेका छौ र पनि अझै तिमीलाई थाहा छैन ?' किन अल्छि गर्छौ ? तिम्रो त जीवन नै जान थाल्यो । जन्मिसकेपछि त मर्नु अवश्यम्भावी छ ।

स्वयूथ्यान्मार्यमाणाँस्त्वं क्रमेणैवं न पश्यसि ।
तथापि निद्रां यास्येव चण्डालमहिषो यथा ॥५॥

आफ्नै वर्गबाट मार्न क्रमैले लगिने पनि
नदेखी किन झुल्दैछौ कसाईको त भैसी झैं ॥५॥

अन्वयार्थ : *त्वं = तिमीले (हे मन), क्रमेण = क्रमैले, मार्यमाणान् = मारिनलागेका, स्वयूथ्यान् = आफ्नै वर्गका साथीहरूलाई, चण्डालमहिषः = चण्डाल (कसाई)को भैंसीले झैं, नपश्यसि = देख्दैनौ ? तथापि = त्यस्तो हुँदा पनि, निद्रां एव यासि ? = निद्रामै परिरहन्छौ ?*

हे मूर्ख बुद्धि, तैंले आफ्नै समूहबाट एक एक गर्दै साथीहरूलाई लग्दैं मार्दै गर्न लागेको देख्दा पनि तँ ढुक्कसँग बस्न सकिरहेको छस् । जसरी एक चण्डालको भैंसीले आफ्ना बथानबाट अरु भैंसीलाई लग्दै काटेको देखेर पनि उ झुलेर बसेको हुन्छ त्यस्तै तँ पनि निदाएरै बस्छस् ? उम्किने प्रयत्न गर्दैनस् ?

यदि मेरो पालो अहिले आएको छैन, अवश्य मरिने भए पनि त्यतिउञ्जेल त आनन्दैसँग रहनुपर्‍यो भन्ने सोचेको भए पनि त्यो ठीक छैन । किनकि–

भयेनोद्वीक्ष्यमाणस्य बद्धमार्गस्य सर्वतः ।
कथं ते रोचते भोक्तुं कथं निद्रा कथं रतिः ॥६॥

सबै बाटो बन्द हुँदा भयले हेर्दछस् भने
खान, सुत्न मजा गर्न कसरी मन गर्दछस् ॥६॥

अन्वयार्थ : *भयेन = डरले, उद्वीक्ष्यमाणस्य = आत्तिएर हेर्दै गर्ने र, सर्वतः = सवैतिरवाट, बद्धमार्गस्य = वाटो वन्द भैसकेको, ते = तंलाई, भोक्तुं = खान, कथं रोचते = कसरी मन पर्छ ? कथं निद्रा = कसरी निद्रा आउँछ ? कथं रतिः = कसरी मोज गर्दछस् ?*

मृत्यु अवश्यम्भावी छ भन्ने थाहा पाइसकेपछि त वास्तवमा सबै बाटाहरू बन्द भए सरह नै सम्झिए हुन्छ । जेजस्तो गरे पनि मृत्यु आएरै छोड्छ । त्यसैले मृत्युको डरले चारैतिर आत्तिएर हेर्ने अवस्था हुँदाहुँदै पनि कसरी तँलाई खान रुच्छ ? कसरी तँ आरामले सुत्न सक्छस्, कसरी तँ सांसारिक कुराप्रति नै आसक्त भई त्यसमै रमाएर बसिरहन सकेकोछस् ?

यदि मृत्यु अवश्यम्भावी भए पनि नजीकै आइसकेपछि मात्र आलस्य आदिलाई छोडेर जुर्मुराउनेछु भन्ने हो भने पनि उचित छैन किनकि –

यावत्सम्भृतसम्भारं मरणं शीघ्रमेष्यति ।
सन्त्यज्यापि तदालस्यमकाले किं करिष्यसि ॥७॥

साजसज्जा सहित भै मृत्यु आयो छिटै भने
वेला चुकेपछि छोड्दा अलस्यै पनि हुन्छ के ? ॥७॥

अन्वयार्थ : यावत् = जव, सम्भृतसम्भारं = आफ्नो दलवल सहित भएको अर्थात् सजिसजाउ भएको, मरणं = मृत्यु, शीघ्रं = चाँडै नै, एष्यति = आउनेछ भने, तदा = त्यसवेला, अकाले = समय नभएको अवस्थामा, आलस्यम् = अल्छीपनलाई, सन्त्यज्य अपि = त्याग गरेर पनि, किं करिष्यसि = के गरौला र ?

जब मृत्युले आफ्ना सामान ठीकठाक पारेर सुसज्जित भई आउन थाल्यो भने तैंले आलस्यै छोडेर फूर्ति निकाले पनि के प्रयोजन सिद्ध हुन्छ र ? मृत्युका साधन भनेका व्याधि, बुढ्याईं आदि निमित्तहरू हुन् । यिनीहरूले सहित भएर मृत्यु आउनु परेपछि त तेरो समय गुमिसकेको हुन्छ । रोग लागिसकेपछि, बुढ्याई आई सकेपछि तैंले चाहेरै पनि के गर्न सक्लास् ? मौका गुमेपछि कुवेलामा आलस्य छोडेर पनि के नै गर्न सकिन्छ ? अतः त्यस्तो सोच्नु बेकार हो ।

इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्धकृतं स्थितम् ।
अकस्मान्मृत्युरायातो हा हतो ऽस्मीति चिन्तयन् ॥ ८ ॥
शोकवेगसमच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान् ।
वन्धून् निराशान् सम्पश्यन् यमदूतमुखानि च ॥९॥
स्वपापस्मृतिसन्तप्तः शृण्वन्नादाँश्च नारकान् ।
त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वलः किं करिष्यसि ॥१०॥

यो पाइन, यो शुरु भो, आधा मात्र भयो नि यो
अकस्मात् मृत्यु पो आयो, मरेँ हा ! भनि सोचदै ॥८॥
फुलेका शोकवेगैले राता आँखा र आँसुका
निराश बन्धु ती देख्दा यमदूतमुखै अनि ॥९॥
सम्झी तड्पी पाप आफ्नै, सुन्दा आवाज नारकी
डरले मलमूत्रैले लिपिँदा गर्दछौं नि के ? ॥१०॥

अन्वयार्थ : इदं = यो, न प्राप्तं = पाइएको छैन, इदं = यो, आरव्धम् = थालिएको मात्र छ, इदं =यो, अर्धकृत = आधा गरिएर, स्थितम् = रहेको छ, अकस्मात् = अचानक, मृत्युः आयातः = मृत्यु आयो, हा हतो ऽस्मि = आहो ! म मरें (ठगिएँ), इति = यस्तो, चिन्तयन् = चिन्तन गर्दै ।

शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान् = शोकको वेगले गर्दा सुन्निएका र आंसुले भिजेर राता राता आंखाहरूले युक्त मुख भएका, निराशान् = आशा नभएका, वन्धून् = बन्धुहरूलाई र, यमदूतमुखानि च = यमदूतका मुखहरूपनि, सम्पश्यन् = हेर्दै ।

स्वपापस्मृतिसन्तप्तः = आफ्नो पापको सम्झनाले तड्पिएको छँदो, नारकान् = नरकवासीहरूका, नादान् च = चिच्याहटलाई, श्रृण्वन् = सुन्दै, त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गः = डरले गर्दा गू-मूत छोड्दै त्यसले जीउभरि लेपिएर, विह्वलः = आकुल-व्याकुल भएपछि, किं करिष्यसि = के गरौला ?

अहिल्यै आलस्लाई छोडेनौ भने त "यो पाइएको छैन" "यो भर्खरै शुरु गरेकोछु," "यो

बल्लतल्ल आधा मात्र पुऱ्याएको छु" "अकसमात् मृत्यु आइहाल्यो" "मरें बाबा ! म त मरें" भन्ने सोच्दै विलौना गर्नुपर्ने छ ।

अझ त्यसवेला जब मृत्यु हुनथाल्छ तब एकातिर आफ्ना बन्धु बान्धवहरूलाई शोक र पीडाको आवेगले गर्दा सुन्निएको एवं आँसुले भिज्दा भिज्दा राता भएका आँखाहरूले युक्त अनुहार देख्दै हुन्छौ भने अर्कोतिर आफ्ना कुकर्महरूले खडा भएका यमदूतहरूको भयावह मुख पनि देख्दै हुन्छौं ।

त्यसले गर्दा तिमीलाई आफ्ना पापकर्महरूको याद आउन थाल्छ र त्यसले पनि तिमीलाई तड्पाइरहेको हुन्छ भने उता नरकवासीहरूको पीडाले कराइरहेको आर्तनाद सुनेर डरले गूमूत छोड्दै जीउभरि लपेटिएको स्थितिमा तिमी पुग्नेछौ । त्यस वेला तिमी अत्यन्तै विह्वल र असहाय अवस्थामा हुन्छौ । अनि त्यहाँ आलस्य छोडेर केही गर्न सकुँला भन्ने आशा राखेका छौ ? अतः त्यस्तो बुद्धि कदापि लिनुहुँदैन । आफू स्वस्थ छँदादेखि नै, उमेर छँदै सोचविचार पुऱ्याउनुपर्छ ।

जीवमत्स्य इवास्मीति युक्तं भयमिहैव ते ।
किं पुनः कृतपापस्य तीव्रान्नरकदुःखतः ॥११॥

'म छु जीओल माछाझैं' भन्दै यहीं डराउनू
फेरि के ? पाप गर्नेले तीव्र नारक दुःखको ॥११॥

अन्वयार्थ : ते = तिमीले, इह एव = यहीँ (अहिले नै), जीवमत्स्य इव = जिओल माछा झैं, अस्मि इति = छु भन्ने यस्तो सोची, भयम् युक्तम् = डर मान्नु पर्ने हुन्छ भने, कृतपापस्य = पाप गरेकाहरूले त, तीव्रात् = तीव्र किसिमका, नरकदुःखतः = नरकका दुःखवाट पनि, पुनः = फेरि, किम् = के ? (नडराउनू ?)

पूर्वी देश वंगालतिर कूवा, खाडल आदिमा माछालाई बचाएर राख्ने चलन छ जसले गर्दा ताजा माछा खान पाइयोस् । त्यस्ता माछालाई यहाँ जीवमत्स्य (जीओल माछा) भनिएको छ । तिनीहरूलाई केही दिनमा खाइनु आवश्यंभावी छ । आफूलाई पनि तिमीले त्यस्तै जीवमत्स्य जस्तो ठानेर अव मरिने पक्का छ भन्ने डरले यहीं अहिले केही उपाय गर्नतिर लाग्नुपर्छ । त्यसमा पनि अझ पाप गर्ने व्यक्तिले त मर्ने वितिक्कै नरकमा तीव्र वेदना भोग्नुपर्ने निश्चित भएकोले झन कति आत्तिनुपर्छ होला त्यसको के कुरा गर्नु ! पाप गरेको व्यक्ति पनि ढुक्कसँग बस्दा त झन् के हालत होला ?

यसरी आलस्यलाई त्यागने उपाय बताएर अब बेकामी भएरै सुखी हुन खोज्ने प्रवृत्तिका निमित्त आचार्य भन्नुहुन्छ –

स्पृष्ट उष्णोदकेनापि सुकुमार प्रतप्यसे ।
कृत्वा च नारकं कर्म किमेवं स्वस्थमास्यते ॥१२॥

छुँदा त तातो पानीले पोल्छ हे सुकुमारक !
गरेर नारकी कर्म कसरी स्वस्थ वस्दछौं ? ॥१२॥

अन्वयार्थ सुकुमार ! = हे सुकुमार !, उष्णोदकेन = तातो पानीले, स्पृष्टः अपि = छोईंदा पनि, प्रतप्यसे = तड्पिन्छौ भने, नारकं कर्म = नरक जाने कर्म, कृत्वा च = गरेर पनि, किं = किन, एवं = यसरी, स्वस्थम् = निष्फिक्रीसंग, आस्यते = वन्दछौ ?

हे सुकुमार ठहरिएका अल्छी हो ! यहाँ त तातो पानीले छुँदा पनि सहन नसकेर पोल्यो भनी छट्पटिन्छौ । नरकमा त त्यसको हजारौं गुना तातो असह्य अग्नि हुन्छ । त्यस्ता नरकमा जाने खालका कर्महरू गरेर पनि कसरी निश्चिन्त भएर बस्न सकेका छौ ?

निरुद्यम फलाकांक्षिन् सुकुमार बहुव्यथ ।
मृत्युग्रस्तो ऽ मराकार हा दुःखित विहन्यसे ॥१३॥

अनुद्योगी फलाकांक्षी कुमार वहुपीडित
कठै ! खतम छौ ! ठान्छौ अमरै मृत्युग्रस्त छौ ॥१३॥

अन्वयार्थ : निरुद्यम = उद्योग नगर्ने, फलाकांक्षिन् = फल भने चाहने, सुकुमार = सहन केही न सक्ने, वहुव्यथ = तर धेरै पीडाको भोग जम्मा गरिसकेका, अमराकार = अमर छु भन्ने ठान्ने वाला ! मृत्युग्रस्तः = मृत्युले ग्रसित भैसकेका छौ । हा = कठै ! हाय ! दुःखित ! = हे पीडित विचरा हो ! विहन्यसे = नष्ट भयौ ।

सुखका निमित्त कुनै उद्योग परिश्रम गर्न नसक्ने परन्तु सुखको फल भने निकै चाहिराख्ने, अलिकति कष्ट पनि सहन नसक्ने सुकुमार परन्तु कर्महरू फेरि यस्ता गरेका कि सुखी भन्न नमिल्नेगरी पीडा जम्मा गरिसकेका बहुपीडित अर्थात् खराब कर्मको दुःख भोग्नु पर्ने अवस्थामा आएका, आफूलाई कहिल्यै मर्दिन भन्ने जस्तो गरी मनपरी कुकर्म गर्नमा व्यस्त परन्तु मृत्युको मुखमा परिसकेका (किनकि तिम्रो मृत्यु अपरिहार्य छ र त्यो पनि अहिल्यै हो कि भोलि थाहा छैन) यस्ता हे दुःखी र अल्छी मनुष्य हो ! हाय ! तिमीहरू त सबैतिरबाट नष्ट भैसक्यौ !

अब निदाएरै बस्न चाहनेलाई आचार्य भन्नुहुन्छ –

मानुष्यं नावमासाद्य तर दुःखमहानदीम् ।
मूढ, कालो न निद्राया इयं नौर्दुर्लभा पुनः ॥१४॥

मनुष्यको नाउ लिई दुःखको यो नदी तर
मूर्ख, सुत्ने हैन वेला, पाइन्न नाउ यो पुनः ॥१४॥

अन्वयार्थ : मानुष्यं = मनुष्यको, नावं = डुंगालाई, आसाद्य = लिएर, दुःखमहानदीम् = दुःखको महानदीलाई, तर = तर (पार गर), मूढ = हे मूर्ख, निद्रायाः = निद्राको, कालः न = वेला होइन, इयं नौः = यो डुंगा, पुनः = फेरि, दुर्लभा = पाउन कठीन छ ।

हे मूर्ख, तिमीले यो मनुष्य जन्म पाइसकेका छौ। यो त संसारको दुःखबाट पार तर्नलाई डुँगा समानको हो। अतः यसको सहारा लिएर तुरुन्तै पार लागिहाल। यस्तो वेलामा सुतेर बस्नुहुँदैन। यो सुत्ने वेला होइन। जबसम्म यो मनुष्यको चोलारूपी डुँगा तिमीसँग हुन्छ तबसम्म जागरुक भएर परिश्रम गर अन्यथा यो फुत्क्यो भने फेरि पाउन सकिन्न। अनि त दुःखमा डुबेको डुब्यै हुनुपर्ला।

अब कुत्सितासक्तिलाई हटाउन आचार्य भन्नुहुन्छ –

मुक्त्वा धर्मरतिं श्रेष्ठामनन्तरतिसन्ततिम् ।
रतिरौद्धत्यहास्यादौ दुःखहेतौ कथं तव ॥१५॥

अनन्त सुख सन्तान श्रेष्ठ धर्मरति पनि
छोडी औद्धत्य-हास्यादि दु:खहेतु विषे किन ? ॥१५॥

अन्वयार्थ : अनन्तर्रतिसन्ततिम् = अनन्तकालसम्मै सुखप्रवाह गरांउने, श्रेष्ठां = उत्तम, धर्मरतिं = धर्मप्रतिको प्रेम (रति)लाई, मुक्त्वा = छोडेर, दु:खहेतौ = दु:खको कारण भएका, औद्धत्यहास्यादौ = औद्धत्य र हास्य आदिमा, तव = तिम्रो, कथं = कसरी, रति: = प्रेम (असक्ति) छ ?

धर्मप्रति प्रेम हुनु उत्तम हो किनकि यसले सुगतितिर लग्दै जाने भएकोले अनन्तकालसम्म रति (सुख) प्रवाह (सन्तान) गराइरहन सक्छ। त्यसकारण यस्तो उत्तम रतिलाई छोडेर तिमीले दु:खैदु:ख जन्माउने खालको नीचरति किन गर्छौ ? औद्धत्य (चञ्चलता), हास्य (हाँस्ने, ठट्टा गर्ने) जस्ता कुरा त दु:खका हेतु हुन्। त्यस्ता खराव आदत र कर्मप्रति तिमी किन प्रेम गर्छौ ?

विषाद र आत्मावमन्यना (हीनताबोध) को निवारणका लागि आचार्य भन्नुहुन्छ -

अविषादबलव्यूहतात्पर्यात्मविधेयता।
परात्मसमता चैव परात्मपरिवर्तनम् ॥१६॥

अविपाद, बलव्यूह, तात्पर्य, आत्मसंयम
परात्मसमता एवं परात्मपरिवर्तन ॥१६॥

अन्वयार्थ : अविपादबलव्यूहतात्पर्यात्मविधेयता = विपाद नगर्नु, बलको समूह, निपुणता, आत्मवशवर्तिता, परात्मसमता = अरु र आफूलाई समान देख्नु, परात्मपरिवर्तनं च = अरुलाई आफु र आफूलाई अरु सम्झेर व्यवहार गर्नु (यिनी हुन् ॥

विषाद र हीनताबोध वीर्यका विपक्ष हुन्। तिनीहरूलाई हटाउन र वीर्यका अरु विपक्षहरूलाई पनि निराकरण गर्न उदासीन नहुनु, उत्साह जस्ता बलको समूह, पराधीन नभएर आत्मवशी हुनु, परात्मसमता र परात्मपरिवर्तन गर्नु यी कुराहरु समर्थ हुन्छन्।

त्यसमध्ये विषाद आदिको बारेमा क्रमश: तल बताईंदैछ। परन्तु परात्मसमता र परात्मपरिवर्तनको बारेमा ध्यानपारमिता बताइनेछ। संक्षेपमा भन्दा, स्वआत्मा र परात्मा दुवै नै आत्मदृष्टि ('म' र 'मेरो' एवं 'तँ' र 'तेरो' भन्ने भेद देख्ने दृष्टि) बाट व्यवहारमा देखा परेका हुन्छन् र त्यही नै अज्ञान हो। त्यस्तो दृष्टि परमार्थत: पूरै मिथ्या भएकोले केवल परिकल्पित र आरोपित मात्र हो। अत: पर (अर्को) र स्व (आफू) वास्तवमा समानै हुन् किनकि दुवैको सत्ता परिकल्पित छ। यस हिसावले समान देख्नु 'परात्मसमता' हो।

त्यस्तै यो पञ्च स्कन्धको सन्ततिमा 'म'को आरोप गरेर 'म यस्तो, उ उस्तो' भन्ने व्यवहार हामीले गरिरहेका छौं र वास्तवमा त्यस्तो 'म' यहाँ छँदैछैन। त्यसो भए त्यो पञ्च स्कन्धको सन्ततिमा पनि किन 'म'को आरोप गर्न नसकिने ? त्यसमा 'म' र यसमा 'त्यो' को आरोप गरेर आपसमा बदलिनु र त्यस दृष्टिले देख्नु परात्मपरिवर्तन हो।

अब विषाद गर्नुहुँदैन (अर्थात् उदासीनता ल्याउनु हुँदैन) भन्ने कुरा बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

नैवावसाद: कर्तव्य: कुतो मे बोधिरित्यत:।
यस्मात् तथागत: सत्यं सत्यवादीदमुक्तवान् ॥१७॥

निरुत्साह गर्नु हुन्न 'बोधि मेरो कहाँ ?' भनी
सत्यवादी सुगतले सत्य नै बोल्नुहुन्छ नि ॥१७॥

अवयार्थ : मे = मलाई, कुत: = कहाँबाट, बोधि: इति = बोधि प्राप्त होला भन्ने यस्तो, अवसाद: = उत्साहहीनता, न एव कर्तव्य: = गर्नै हुँदैन, यस्मात् = किनकि, सत्यवादी = साँचो बोल्ने, तथागत: = भगवान् बुद्धले, इदं सत्यं = यो साँचो कुरा (सबैले बुद्धता प्राप्त गर्न सक्छन् भन्ने कुरा), उक्तवान् = बताउनु भएको छ ।

'म जस्तो दीन हीन व्यक्तिलाई कसरी बुद्धता प्राप्त हुन सक्ला र ? किनकि बुद्धता भनेको त तीक्ष्ण इन्द्रिय भएकालाई प्राप्त हुन्छ, त्यो पनि असंख्य कल्पसम्म अपरिमित सत्त्वहरूको हित गर्दै पुण्यसम्भार र ज्ञानसम्भार पूरा गरेपछि मात्र प्राप्त हुन्छ । म त्यस्तो दुर्लभ कुरा प्राप्त गर्न योगय पात्र होइन' भन्ने खालको उदासीनता मनमा कहिल्यै पनि ल्याउनुहुँदैन । किनकि सत्यवादी भगवान् तथागतले सत्य कुरा नै बताउनुहुन्छ । उहाँले यदि सही तरीका अपनाउने हो भने सबैले बोधि प्राप्त गर्न सक्छन् भन्ने कुरा बारम्बार बताउनुभएको छ ।

ते ऽ प्यासन् दंशमशका मक्षिकाः कृमयस्तथा ।
यैरुत्साहवाशात् प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा ॥१८॥

ती पनि डाँस, माखो र थिए किरा र मच्छरै
उत्साहको बल लिई पाए उत्तम बोधि नै ॥१८॥

अन्वयार्थ : ते अपि = तिनीहरू पनि, दंशमशका: = डाँस र मच्छर, मक्षिका: = झिंगा, तथा = त्यस्तै, कृमय: = कीराहरू पनि, आसन् = भएका थिए, यै: = जसले, उत्साहवशात् = उत्साहका बलले, दुरापा = पाउन गाह्रो हुने, उत्तमा बोधि: = उत्तम बोधि, प्राप्ता: = प्राप्त गरेका थिए ।

ती शाक्यमुनि, दीपंकर, कनकमुनि जस्ता बुद्धहरू पनि पहिले डाँस, कीरा, मच्छर, झीँगा आदि नै थिए । परन्तु पछि आएर उत्साह लिँदालिँदै त्यसैको बलले गर्दा पाउन गाहो हुने उत्तम बोधि पनि प्राप्त गरेरै छाडे । त्यसकारण महत्वपूर्ण कुरा त उद्योग गर्नु नै हो । अतः 'मैले सक्दिन' भन्ने सोच्नु हुँदैन । उद्योगी, जोश जाँगर भएको र लगनशील व्यक्तिलाई असम्भव कुरा केही हुँदैन ।

किमुताहं नरो जात्या शक्तो ज्ञातुं हिताहितम् ।
सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गात् बोधिं किं नाप्नुयाम्यहम् ॥१९॥

जन्मैले म मनुष्यै हुँ सक्छु जान्न हिताहित
पक्डे सर्वज्ञको नीति बोधि पाउन्न मै किन ॥१९॥

अन्वयार्थ : किं उत = फेरि, अहं = म त, ज्यात्या = जन्मैले, नर: = मानिस हुँ, हिताहितं = हित र अहित, ज्ञातुं = जान्न, शक्त: = समर्थ छु, सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गात् = सर्वज्ञ (तथागत) को नीतिलाई नछोडेमा, अहं = मैले मात्र, बोधिं = बोधिलाई, किं न आप्नुयाम् = किन प्राप्त गर्न सकोइन ?

म त अहिले मनुष्यको रूपमा जन्मेको छु । त्यसकारण हित र अहित छुट्याउन सक्ने विवेक र क्षमता पनि छ । अतः शुभ र कल्याणकारी कुरा एवं अशुभ र हानिकारक कुराको पर्गेल्ने क्षमता ममा छ जुन कुरा पशु आदिमा ज्यादै कम मात्र हुन्छ । त्यसैले यसवेला सम्पूर्ण वस्तुहरूको

यथार्थतालाई जान्न सक्ने सर्वज्ञ भगवान् बुद्धद्वारा उपदेश गरिएको मार्गलाई नछोडेरै त्यसलाई अभ्यासमा उतारें भने कसरी मैले बोधि प्राप्त गर्न सक्दिन र ? (अवश्य प्राप्त गर्न सक्नेछु) आर्य रत्नमेघमा पनि बोधिसत्वले त्यस्तो खिन्नता कहिल्यै पनि मनमा आउन दिनुहुँदैन भनिएको छ ।

अथापि हस्तपादादि दातव्यमिति मे भयम् ।
गुरुलाघवमूढत्वं तन्मे स्यादविचारतः ॥२०॥

हात पाउ आदि दिनु पर्ला भन्ने भए डर
ठूलो सानो नजान्नाले मेरो हो अविवेक त ॥२०॥

अन्वयार्थ : *अथ अपि = अब पनि, हस्तपादादि = हात, पाउ आदि, दातव्यम् इति = दिनुपर्छ भनेर, मे = मलाई, भयम् = डर छ भने, तत् = त्यो, अविचारतः = विचारगर्न नसकेर भएको, मे = मेरो, गुरुलाघवमूढत्वम् = ठूलो र सानो छुटयाउनमा भएको मूढता (अज्ञानता) नै हो ।*

यदि हात, पाउ आदि दान गर्ने जस्ता कठीन चर्याहरू गर्नुपर्ने हुन्छ भनेर डर लागेको छ भने त्यो त विचार पुऱ्याएर हेर्न नजानेर भएको हो । ममा ठूलो दुःखकष्ट र सानो दुःखकष्ट पनि छुटयाउन सक्ने खुबी नभएको हो । किनकि यदि बोधिमार्गमा लागिन र त्यसै संसारमा घुमिरहें भने त झन् कति कष्ट भोग्नेछु भन्ने कुराको बयान गर्नै गाह्रो छ ।

छेत्तव्यश्चास्मि भेत्तव्यो दाह्यः पाट्यो ऽप्यनेकशः ।
कल्पकोटीरसंख्येया न च बोधिर्भविष्यति ॥२१॥

छेडिन्छु, टुक्रिन्छु, निकै जलाइन्छु त काटिँदै
असंख्य कल्पकोटीमै पाउने छैन बोधि नै ॥२१॥

अन्वयार्थ : *(म) अनेकशः = अनेक पटक, छेत्तव्यः = छिनालिनेछु, भेत्तव्यः = छेँडिनेछु, दाह्यः = डढाइनेछु, पाट्यश्च अस्मि = काटिने पनि छु, (परन्तु) कल्पकोटीरसंख्येया = असंख्यकोटी कल्पसम्म पनि, बोधिः = बोधिप्राप्ति, न भविष्यति = हुनेछैन ।*

संसारमा घुम्ने क्रममा आफ्ना कर्मले गर्दा नरकजस्ता ठाउँहरूमा जाँदै अनेक थरी शस्त्रहरूद्वारा टुक्रयाइनेछु, छेँडिनेछु, नरकको आगिनद्वारा जलाइने छु, या आरा (करौंति) आदिबाट काटिनेछु । तैपनि मैले असंख्य करोडौं कल्पसम्म यत्रो कष्ट उठाउँदा पनि बोधिप्राप्त हुने छैन । बरु बोधिप्राप्तिका निमित्त आफ्नो क्षमता अनुसार सहनुपर्ने दुःखहरू त त्यसको तुलनामा साँच्चिकै केही पनि होइनन् भन्न मिल्छ ।

इदं तु मे परिमितं दुःखं सम्बोधिसाधनम् ।
नष्टशल्यव्यथापोहे तदुत्पादनदुःखवत् ॥२२॥

सम्बोधिसाधनाको यो दुःख मेरो छ सीमित
काँडो टुटे निकाल्दामा हुने दुःख समान छ ॥२२॥

अन्वयार्थ : *मे = मेरो, इदं = यो, सम्बोधिसाधनम् = सम्बोधिलाई सिद्ध गराउने साधन स्वरुप, दुःखं तु = दुःख त, परिमितम् = सीमित (सानो) छ, नष्टशल्यव्यथापेहे = टुक्रिएको काँडोको दुखाइलाई हटाउन, तदुत्पादनदुःखवत् = त्यसलाई निकाल्दाखेरि हुने दुःख जस्तै हो ।*

बुद्धताको साधनस्वरूप उठाइने जो दुःख छ त्यो त वास्तवमा धेरै नै सानो र सीमित छ। किनकि यो थोरै समयसम्मको लागि मात्र हुन्छ र दुःखलाई शान्त गर्ने खालको हुन्छ र दुःखशान्तिको हेतु नै हुन्छ। यो दुःख त कस्तो हो भने खुट्टामा काँडो बिझेर अड्कियो या भाँच्चियो भने सधैको लागि कष्टकारक हुनेभएकोले त्यस पीडबाट बच्न उक्त काँडोलाई निकाल्दा अलिकति पीडा सहनु परेको जस्तै हो। लामो समयसम्म तीव्र कष्ट सहनुपर्नेछ भने त्यसलाई हटाउन सानोतिनो कष्ट त उठाउनै पर्छ, सहनै पर्छ।

सर्वे ऽपि वैद्याः कुर्वन्ति क्रियादुःखैररोगताम्।
तस्माद् बहूनि दुःखानि हन्तुं सोढव्यमल्पकम्॥२३॥

क्रिया गराई नीरोगी सबै वैद्य गराउँछन्
अत: धेरै दु:ख नाश्न थोरै सहनुपर्दछ ॥२३॥

अन्वयार्थ : सर्वे ऽपि वैद्या = सबै वैद्यहरूले, क्रियादुःखैः = क्रियाहरूको दुःखद्वारा, अरोगतां = नीरोगी, कुर्वन्ति = गराउछन्, तस्मात् = त्यसकारणले, बहूनि = धेरै, दुःखानि = दुःखहरूलाई, हन्तुं = नाश गर्न, अल्पकम् = थोरैलाई, सोढव्यम् = सहनै पर्छ।

सबै वैद्यहरूले व्यक्तिलाई नीरोगी बनाउन विभिन्न किसिमका क्रियाहरू गराउँछन्। जस्तैः लङ्घन (खाना नखाने), पथ्यसेवन, कल्प शल्य (अपरेशन), आदि। यी क्रियाहरूमा पनि दुःख त हुन्छ परन्तु यो दुःखबाटै स्वास्थ्य राम्रो हुनआउँछ। अतः धेरै दुःखलाई नाश गर्न थोरै दुःख त सहनै पर्ने हुन्छ।

क्रियामिमामप्युचितां वरवैद्यो न दत्तवान्।
मधुरेणोपचारेण चिकित्सति महातुरान्॥२४॥

दिएनन् श्रेष्ठ वैद्यैले क्रिया यो उचितै पनि
हलुका उपचारैले निको पार्छन् ठूलै व्यथा ॥२४॥

अन्वयार्थ : वरवैद्यः = उत्तम वैद्यले, उचितां अपि = उचितै भए पनि, इमाम् क्रियाम् = यो क्रियालाई, न दत्तवान् = सिफारिश गर्नुभएको छैन, महातुरान् = ठूलै व्याधिले आतुर भएकालाई पनि, मधुरेण उपचारेण = सजिलो उपचार क्रमले, चिकित्सति = चिकित्सा गर्नुहुन्छ।

भगवान् बुद्ध सबै प्रकारका दुःखलाई सर्वदा सर्वथाका लागि उपचार गर्न समर्थ हुनुहुन्छ। त्यसैले उहाँ श्रेष्ठ बैद्य अर्थात् भैषज्यगुरु हुनुहुन्छ (भिषग्वर पनि भन्छन्)। उहाँले शुरुको व्यक्तिलाई एकै पटक कडा उपचार क्रिया अपनाउन आदेश दिनुभएको छैन। दुःख नाश गर्नको लागि वोधिसत्वले हात, पाउ दान गर्ने जस्ता सामान्य कष्ट सहनै राम्रो हो तापनि आदिकर्मिकहरूलाई (पहिला पहिला शुरु गर्नेहरू) त्यो गाह्रो हुने भएकाले गर्नै पर्छ भनेर कर्तव्यको रूपमा दिनुभएको छैन। उहाँले त सजिलो क्रमबाट शुरु गरेर क्रमशः आफ्नो क्षमता बढाउँदै गएपछि ठूलै दुःख सहने गराएर सम्पूर्ण राग, द्वेष आदि दीर्घरोगले ग्रस्त भएकाहरूलाई समेत निको पारिदिनुहुन्छ। एउटा सफल चिकित्सकले पनि त्यसै गरेर नै शारीरिक रोगहरू निको पार्छ।

यो मधुरोपचार (हलुका उपचारक्रम) के हो त ? भन्ने कुरा बताउन आचार्य भन्नुहुन्छ –

आदौ शाकादिदाने ऽ पि नियोजयति नायकः ।
तत्करोति क्रमात् पश्चाद्यत् स्वमांसान्यपि त्यजेत् ॥२५॥

शाग आदि दान गर्न शुरुमा त लगाउँदै
क्रमैले पछि मासु नै सकेमा दिन भन्नुभो ॥२५॥

__अन्वयार्थ :__ *नायकः = नायकले, आदौ = शुरुमा, शाकादिदानेऽ पि = शाग आदि दान गर्न पनि, नियोजयति = लगाउनुहुन्छ, क्रमात् = क्रमैले, तत्करोति = त्यो गर्नुपर्छ, पश्चात् = पछाडि, यत् = जुन, स्वमांसान्यपि = आफ्नो मासु पनि, त्यजेत् = त्याग गर्नू ।*

शूरुमा धेरै दुःखकष्ट सहन सक्ने क्षमता नहुने भएकोले त्यस्ता भर्खर लागेका आदिकर्मिक बोधिसत्त्वहरूलाई शास्ताले साना साना कुराहरूको दानबाट शुरु गर्नुपर्छ भनेर सिकाउनुभएको छ । त्यसमा पानी, शाग, सातु जस्ता सामान्य वस्तुहरूको दानबाट बढ्दै बढ्दै क्रमशः ठूला ठूला कुराहरूको दान गर्न सक्ने बन्दै जानुपर्छ । पछि त यतिसम्म हुनुपर्छ कि आफ्नो शरीरको मासु समेत त्याग गर्नसक्ने हुनुपर्छ । शुरुमै हात पाउ काटेर दिन सम्भव हुँदैन । त्यसकारण क्षमता अनुसार यी कुराको अभ्यास हुनुपर्छ भन्ने क्रम नै भगवान्ले आज्ञा गर्नुभएको छ । यसमा शुरुमा कञ्जूस्याई लोभ, राग आदि दोषहरूलाई हटाउने काम हुन्छ र चित्त उदार हुँदै जान्छ । पछि पछि अभ्यास हुँदै गएपछि मांसु–रगत दिन पनि त्यति कष्ट हुँदैन, सम्भार पनि पूरा हुँदै जान्छ । त्यसैले यो मधुरोपचार क्रम हो जहाँ वास्तवमा त्यति धेरै दुःख कहिल्यै पनि हुँदैन ।

यदा शाकेष्विव प्रज्ञा स्वमांसे ऽ प्युपजायते ।
मांसास्थि त्यजतस्तस्य तदा किं नाम दुष्करम् ॥२६॥

जव स्वमांसमा प्रज्ञा शागमा झैं भयो भने
मासु हाड दिंदा त्यस्तो कठीनै हुन सक्छ के ॥२६॥

__अन्वयार्थ :__ *यदा = जव, स्वमांसे ऽ पि = आफ्नो मासुमा पनि, शाकेपु इव = शागहरूमा जस्तै, प्रज्ञा उपजायते = प्रज्ञा उत्पन्न हुन्छ, तदा = त्यसवेला, मांसास्थि = मासु र हाडलाई, त्यजतः = दान गर्ने, तस्य = त्यस व्यक्तिको लागि, दुष्करं नाम = गर्न नसकिने भन्ने कुरा, किम् = के हुन्छ ?*

अभ्यासको माध्यमबाट जब आफ्नो रगत र मासुमा पनि शाग–पातमा जस्तै 'म र मेरो' भन्ने ग्राहबाट मुक्त भई देख्ने प्रज्ञा उत्पन्न हुन थाल्छ त्यस वेला त्यो व्यक्तिले आफ्नो मासु, हाड आदि पनि सजिलै त्याग गरिदिन सक्छ । त्यस्ता व्यक्तिका लागि नसक्ने भन्ने कुरा केही पनि हुँदैन ।

न दुःखी त्यक्तपापत्वात् पण्डितत्वान्न दुर्मनाः ।
मिथ्याकल्पनया चित्ते पापात् काये यतो व्यथा ॥२७॥

दुःखी छैनन् पाप छोडी जानेकाले न दुर्मनी
मिथ्या सोचाइले चित्त, पापले काय हो दुःखी ॥२७॥

__अन्वयार्थ :__ *त्यक्तपापत्वात् = पापवाट मुक्त भएकाले गर्दा, न दुःखी = दुःखी हुँदैन, पण्डितत्वात् = यथार्थता जानेकाले, न*

दुर्मना: = दौर्मनस्यले युक्त पनि हुँदैन, यत: = किनकि, मिथ्याकल्पनया = मिथ्या कल्पनाले गर्दा, चित्ते = चित्तमा र, पापात् = पापले गर्दा, काये = शरीरमा, व्यथा = पीडा हुन्छ (दु:ख हुन्छ) ।

बोधिसत्त्वले पापहरूलाई छोडिसकेको हुनाले उ शारीरिक दु:खले दु:खी हुँदैन । मिथ्यादृष्टिवाट मुक्त भई यथार्थ ज्ञान भएकाले उसको मनमा दु:ख पनि हुँदैन । दु:खहरू वास्तवमा दुई किसिमका हुन्छन् । कायिक दु:ख र मानसिक दु:ख । काय-वाक्-चित्तबाट गरिएका पाप कर्महरूले गर्दा शरीरमा दु:ख र पीडाको अनुभव हुन्छ अर्थात् कायिक दु:ख उत्पन्न हुन्छ भने वस्तुहरूमा(धर्महरूमा) वस्तुसत्ताको भावाभिनिवेश या 'म' र 'मेरो' भन्ने ग्राह हुनाले गर्दा चित्तमा पीडा हुन्छ या दौर्मनस्य उत्पन्न हुन्छ । असद्विकल्प या मिथ्याकल्पना भनेको त्यही हो । परन्तु बोधिसत्वहरू त्यस्ता पापकर्महरूबाट पनि मुक्त हुन्छन् जसले गर्दा उनीहरूलाई शरीरमा काटिने मारिने गर्दा पनि त्यस्तो कायिक पीडा हुँदैन भने युक्ति र आगमद्वारा दुई नैरात्म्य (पुद्गल नैरात्म्य र धर्म नैरात्म्य) को प्रवल निश्चय भएर अभ्यासबाट पनि गहिराइमा पुगेकाले गर्दा उनीहरूमा पाण्डित्य आइसकेको हुन्छ । पाण्डित्य भनेको सबै कुराको यथार्थ ज्ञानमा पक्का हुनु हो । यहाँ पनि त्यही नैरात्म्यबोधसँग सम्बन्धित पाण्डित्य भएकोले गर्दा उनीहरूमा मानसिक दु:ख (दौर्मनस्य आदि) पनि हुँदैनन् । यसरी उच्चकोटीका बोधिसत्वहरूले दु:खका कारणहरूलाई नै हटाउने हुनाले उनीहरूलाई दु:ख हुदैन ।

पुण्येन कायः सुखितः पाण्डित्येन मनः सुखि ।
तिष्ठन् परार्थं संसारे कृपालुः केन खिद्यते ॥२८॥

पुण्यले छ सुखी काय पाण्डित्यैले मनै सुखी
परार्थमा यहाँ बस्दा कृपालु किन होस् दु:खी ॥२८॥

अन्वयार्थ : पुण्येन = पुण्यले, काय: = शरीर, सुखित: = सुखी भएको छ, पाण्डित्येन = यथार्थ जान्नाले, मन: = मन, सुखी = सुखी छ, (त्यस्तो) कृपालु: = करुणाले युक्त व्यक्ति, परार्थ = अरुको निमित्त, संसारे = संसारमा, तिष्ठन् = बस्दो छँदो, केन = केले (के कारणले), खिद्यते = खिन्न होस् (दु:खी हुन्छ र ?)

त्यस्तै पुण्यले गर्दा काय सुखी हुन्छ भने पाण्डित्यले गर्दा मन सुखी हुन्छ । पाण्डित्य भनेको माथि बताएजस्तै ज्ञान हुनु नै हो । पुण्य र ज्ञान दुवै कुराको सम्भार पूर्ण गर्दै गएपछि मात्र बुद्धत्वलाभ हुन्छ र बोधिसत्वहरूले यही नै गर्छन् । अतः त्यस्ता करुणाले युक्त भएर सांसारमै बसी परहित गर्न लागिपरेका पुण्यात्मांहरूलाई के कुराले दु:ख दिन सक्छ त ? उनीहरूको त काय पनि सुखी हुन्छ र मन् पनि सुखी नै हुन्छ । त्यसकारण वेकारमा किन डराएर विमुख हुन या आँट नगर्न खोज्छौ ?

यदि 'धेरै कालसम्म धेरै पुण्य सम्भार गरिसकेर मात्र सम्यक्सम्बोधि पाइने रहेछ । त्यो भन्दा त बरु श्रावकयानको आश्रय लिएमा चाँडै मोक्ष त भइएला ।' भन्ने सोच्ने हो भने आचार्य भन्नुहुन्छ-

क्षपयन् पूर्वपानि प्रतीच्छन् पुण्यसागरान् ।
बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्यो ऽपि शीघ्रगः ॥२९॥

पहिलेका पाप धुँदै पुण्यसागर चाहँदै
वोधिचित्तबलैले नै श्रवाक्भन्दा पनि छिटै ॥२९॥

अन्वयार्थक : पूर्वपापानि = पहिलेका पापहरू, क्षपयन् = पखाल्दै गर्ने, पुण्यसागरान् = पुण्यको सागरलाई नै, प्रतीच्छन् = प्राप्त गर्न इच्छा गर्ने (वोधिसत्व), वोधिचित्तबलाद् एव = बोधिचित्तको वलले गर्दा नै, श्रावकेम्यो ऽपि = श्रावकहरूभन्दा पनि, शीघ्रग: = चाँडै पार लाग्ने हुन्छ ।

पहिले गरेका पापहरूलाई क्षीण गराउँदै, अपरिमित पुण्यको समुद्रलाई संग्रह गर्दै अघिबढेको महायानी बोधिसत्व त बोधिचित्तको बलले गर्दा नै श्रावकयानीहरुभन्दा चाँडै जान्छ अर्थात् मोक्ष लाभ गर्छ ।

एवं सुखात् सुखं गच्छन् को विषीदेत् सचेतनः ।
बोधिचित्तरथं प्राप्य सर्वखेदश्रमापहम् ॥३०॥

सबै खेद, श्रमै, हर्ने बोधिचित्तरथै मिली
सुखवाट सुखै जाँदा को होस्, खिन्न सचेत नि ॥३०॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी, सर्वखेदश्रमापहम् = सवै खेद र परिश्रमलाई हटाउने, वोधिचित्तरथं = वोधिचित्तरूपी रथलाई, प्राप्य = भेटाएर, सुखात् = सुखवाट, सुखं गच्छन् = सुखतिर नै जाँदाखेरि पनि, क: = को, सचेतन: = होश भएको व्यक्ति, विपीदेत् = उदास (खिन्न) होस् ?

यसप्रकार सबै खेद, परिश्रम र थकानलाई हटाउन सक्ने बोधिचित्तरूपी रथ पाएर सजिलोसँग यहाँको सुखबाट झन् लोकोत्तर सुखमा जाँदा पनि कोही चेतनशील व्यक्तिले विषाद (निराश या खिन्न हुने काम) गर्ला ? अर्थात् अवश्य गर्दैन ।

यसरी अनेक प्रकारले विषादको लक्षण मनमा आउन दिनुहुँदैन भन्ने कुरा प्रतिपादन गरिसकेपछि 'बलव्यूह' को बारेमा बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ–

छन्द–स्याम–रति–मुक्ति–बलं सत्त्वार्थसिद्धये ।
छन्दं दुःखभयात् कुर्यादनुशंसाँश्च भावयन् ॥३१॥

छन्द, स्थाम, रति, मुक्ति बल हुन् सत्त्व अर्थमा
दु:खको डरले 'छन्द' गर्नू है गुणभावना ॥३१॥

अन्वयार्थ : सत्त्वार्थसिद्धये = सत्त्वहरूको हितसिद्धि गर्नका लागि, छन्द-स्थाम-रति-मुक्तिवलम् = छन्दवल, स्थामवल, रतिवल र मुक्तिवल हुन्छन्, दु:खभयात् = दु:खको डरले, अनुशंसाँश्च = गुणहरूलाई पनि, भावयन् = मनन गर्दै, छन्दं कुर्यात् = छन्द उत्पन्न गर्नू ।

सवै सत्त्वहरूको हित गर्नको लागि छन्दबल, स्थामबल, रतिवल र मुक्तिबल यी चार अङ्गको वलव्यूह आवश्यक हुन्छ । छन्द भनेको कुशल कर्म गर्ने इच्छा हो, स्थाम भनेको आफूले थालिसकेको कार्यप्रति विचलित नभएर दृढ रहनु हो । रति भनेको सत्कर्मप्रति लगाव अर्थात् प्रेम भइरहनु हो । मुक्ति भनेको आफ्नो सामर्थ्यले नभ्याए पछि फेरि गर्नुपर्ला भनेर अस्थायी रूपमा काम रोक्नु हो । यसरी चार अङ्गको बल चतुरङ्गिणी सेना जस्तै हो । त्यसमा अकुशल कर्मबाट दु:ख आउँछ भन्ने डरले

र कुशल कर्मको फल मिठो हुन्छ भन्ने गुणको चिन्तना (भावना) गर्दै आफूमा छन्द उत्पाद गर्नुपर्छ। छन्द उत्पन्न गर्न यिनै दुई कुरा नै आवश्यक हेतु हुन् ।

एवं विपक्षमुन्मूल्य यतेतोत्साहवृद्धये ।
छन्द-मान-रति-त्याग-तात्पर्य-वशितावलैः ॥३२॥

विपक्षोन्मूलन गरी खट्नू उत्साहवृद्धिमा ।
छन्द, मान, रति, त्याग, तात्पर्य, वशिता गरी ॥३२॥

अन्वयार्थ : एवम् = यसरी, विपक्षम् = वीर्यको विपक्ष (आलस्य आदिलाई) उन्मूल्य = उन्मूलन गरेर, उत्साहवृद्धये = वीर्य वढाउनको लागि, छन्द-मान-रति-त्याग-तात्पर्य-वशितावलैः = छन्द, मान, रति, त्याग, तात्पर्य र वशिताको वलवाट, यतेत = प्रयत्न गर्नू ।

यस प्रकार आलस्य आदि वीर्यविपक्षहरूलाई समूल नष्ट पारेर वीर्यवृद्धि गर्नका लागि अर्थात् उत्साह बढाउनको लागि प्रयत्न गर्नुपर्छ। यो वीर्यवृद्धि कसरी गर्न सकिन्छ ? त्यसको लागि छन्दबल, मानबल, रतिबल, त्यागबल, तात्पर्यबल र वशिताबलहरूको माध्यमबाट अघि बढ्नुपर्छ।

ती बलहरूको प्रतिपादन अब गरिन्छ। छन्द उत्पाद गर्न कसरी विचार गर्ने भन्ने कुरा बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ –

अप्रमेया मया दोषा हन्तव्याः स्वपरात्मनोः ।
एकैकस्यापि दोषस्य यत्र कल्पार्णवैः क्षयः ॥३३॥

आफ्ना र अरुका दोष असंख्यै नाश गर्नु छ
एउटै दोषको नाश हुन्छ कल्पसमुद्रमा ॥३३॥

अन्वयार्थ : मया = मैले, स्वपरात्मनोः = आफ्ना र अरुका, अप्रमेयाः = नापिनसकिने (असंख्य), दोपाः = दोपहरू, हन्तव्या = नाश गर्नु छ, यत्र = जहाँ, एकैकस्य अपि = एउटै पनि, दोपस्य = दोपको, कल्पार्णवैः = समुद्र वरावरका कल्पहरूद्वारा, क्षयः = क्षय हुन्छ ।

मैले आफ्ना र अरु प्राणीहरूका असंख्य दोषहरूलाई नष्ट पार्नु छ। यो कामा एउटै दोषलाई प्रहाण गर्न समेत यस्ता जुनीहरूका त कल्पौं कल्प बितिसक्छन् ।

तत्र दोषक्षयारम्भे लेशोऽपि मम नेक्ष्यते ।
अप्रमेयव्यथाभाज्ये नोरः स्फुटति मे कथम् ॥३४॥

ती दोपक्षयमा यत्न मेरो देखिन्न क्यै पनि
असीम दुःखभागी छु छाती फुट्दैन तै पनि ? ॥३४॥

अन्वयार्थ : तत्र = त्यसमा पनि, दोपक्षयारम्भे = दोपलाई नाश गर्ने कार्यको थालनीमा, मम = मेरो, लेशः अपि = लेशमात्र पनि, न ईक्ष्यते = देखिँदैन, अप्रमेयव्यथाभाज्ये = अपरिमित दुःखको भागीदार हुँदा पनि, कथम् = किन, मे उरः = मेरो छाती, न स्फुटति = फुट्दैन ?

त्यस्ता दोषहरू नाश गर्नमा मेरो प्रारम्भ अझै अलिकति मात्र पनि भएको देखिँदैन। अझै मैले अल्छि गरिरहेको छु र झन् दुःख बटुलिरहेको छु। बरु यिनै दोषहरूले गर्दा अपार दुःख सहनुपर्ने

स्थितिमा रहँदा त मेरो छाती नै फुटेर टुक्राटुक्रा पर्नुपर्ने हो र पनि किन फुट्दैन ?

गुणा मया ऽर्जनीयाश्च बहवः स्वपरात्मनोः ।
तत्रैकैकगुणाभ्यासो भवेत् कल्पार्णवैर्न वा ? ॥३५॥

आफ्नो र अरुका निम्ति धेरै गुण बटुल्नु छ
एउटै गुणको सिद्धि कल्पौंले पनि हुन्छ र ? ॥३५॥

अन्वयार्थ : मया = मैले, स्वपरात्मनो: = आफ्ना र अरुका निमित्त, वहव: गुणा: = धेरै गुणहरू, अर्जनीया: = आर्जन गर्नु छ, तत्र = त्यसमध्ये, एकैकगुणाभ्यास: = एउटा एउटा गुणको अभ्यास पनि, कल्पार्णवै: = कल्पहरूको सागरैले पनि, भवेत् = होला, वा = अथवा, न = नहोला ?

त्यसै गरी स्वहित र परहितका निमित्त धेरै गुणहरूको आर्जन गर्नुपर्ने हुन्छ। त्यसमध्ये एउटा एउटा गुणको अभ्यास गर्दागर्दै कल्पौंसम्ममा पनि त्यो पूरा हुने हो कि होइन भन्ने जस्तो स्थिति छ।

गुणलेशे ऽपि नाभ्यासो मम जातः कदाचन ।
वृथा नीतं मया जन्म कथँश्चिल्लब्धमद्भुतम् ॥३६॥

गुणको लेश अभ्यास भएन. कहिल्यै पनि
कसैगरी पाइएको गयो दुर्लभ जन्म यी ॥३६॥

अन्वयार्थ : कदाचन = कहिल्यै पनि, मम = मेरो, गुणलेशेऽ पि = गुणको लेशमात्रको लागि पनि, अभ्यास: न जात: = अभ्यास भएन, कथञ्चिल्लव्धम् = कथं कदाचित् वल्लतल्ल प्राप्त गरिएको, अद्भुतम् = पत्याउनै नसकिने, जन्म = जन्मलाई पनि मया = मैले, वृथा नीतम् = व्यर्थमै विताएँ ।

मैले कहिल्यै पनि गुणको एक अंशको समेत अभ्यास गर्न सकेको छैन । धेरै मुश्किलले पत्याउनै नसकिने गरी आश्चर्यजनक रूपमा फ्याट्ट पाइएको यस्तो मनुष्यको चोला पनि मैले व्यर्थमै बिताइरहेको छु ।

किनकि यो जन्म त महासागरमा तैरिरहेको जुवामा कछुवाको घाँटी पसे जस्तै दुर्लभ र कथं कदाचित् मात्र प्राप्त हुनसक्ने कुरा हो । त्यसैले यस्तो जन्म पाउनु धेरै अद्भुत कुरा हो । तर यस्तो जन्म पनि बेकाममै नष्ट भइरहनु त्योभन्दा झन् अद्भुत कुरा हो ।

न प्राप्तं भगवत्पूजामहोत्सवसुखं मया ।
न कृता शासने कारा दरिद्राशा न पूरिता ॥३७॥

न पाएँ भगवत्पूजामहोत्सवसुखै पनि
शिक्षाको न गरेँ पूजा न गरीब गरें खुशी ॥३७॥

अन्वयार्थ : मया = मैले, भगवत्पूजामहोत्सवसुखं = भगवान्‌को पूजाको महोत्सववाट हुने आनन्दसनि, न प्राप्तं = पाइन, शासने = वुद्धशासनमा, कारा न कृता = सत्कार सम्मान आदि पनि गरिन् दरिद्राशा = गरीवहरूको आशा पनि, न पूरिता = पूरा गर्गिन ।

फेरि अर्कोतिरबाट हेर्ने हो भने मैले तथागतहरूको सम्मान पूजा आदिको महोत्सव गर्दाखेरिको उत्तम सुख सौमनस्य पनि प्राप्त गर्न सकिन। त्यस्तै उहाँहरूले सिकाएको सद्धर्मशासनको

लागि तदनुरूप स्तूप, विहार, प्रतिमा, आदि निर्माण गरेर विभिन्न प्रकारका आरामस्थल, शयन, भोजन आदि प्रदान गरी धर्मको पूजा सत्कार पनि गर्न सकेको छैन । फेरि दीन, दुःखी, निर्धनीहरूलाई यथेष्ट वस्तु प्रदान गरेर उनीहरूको आशा पूरा गर्न पनि सकेको छैन ।

भीतेभ्यो नाभयं दत्तमार्ता न सुखिनः कृताः ।
दुःखाय केवलं मातुर्गतो ऽस्मि गर्भशल्यताम् ॥३८॥

डर्नेलाई अभय न दुःखीलाई दिएँ सुख
दुःखकै निम्ति आमाको बनें म गर्भकण्टक ॥३८॥

अन्वयार्थ : भीतेभ्यः = डराएकाहरूलाई, अभयं न दत्तम् = अभयदान पनि गरिन, आर्ताः = पीडितहरूलाई, सुखिनः न कृता = सुखी पनि वनाइन, केवलं = केवल, मातुः = आमाको, दुःखाय = दुःखकै निमित्त, गर्भशल्यताम् = गर्भाशयको काँडो वन्न, गतः अस्मि = पुगेको छु ।

न कुनै प्रकारको भयले आत्तिएकाहरूलाई 'न डराऊ !' भनेर अभय प्रदान गर्न सकँ, न दुःखले पीडित जनहरूलाई उद्धार गरी सुख दिन सकँ । त्यसकारण यी सत्पुरुषले गर्नुपर्ने कामहरूमध्ये कुनै पनि मैले गर्न नसकेकोले केवल आमालाई दुःख दिन, आफूले पनि केवल दुःख पाउन र अरुलाई पनि दुःखै दिन आमाको गर्भको कीलो बनेर आएको रहेछु ।

किन यस्तो दशमा म पुगें त ? भन्ने कुरा दर्शाउन आचार्य भन्नुहुन्छ –

धर्मच्छन्दवियोगेन पौर्विकेण ममाधुना ।
विपत्तिरीदृशी जाता को धर्मे छन्दमुत्सृजेत् ॥३९॥

धर्मच्छन्द त्यागिदिँदा पहिले अहिले यहाँ
विपत्ति यस्तो हुनगो, छोड्ला को छन्द धर्ममा ? ॥३९॥

अन्वयार्थ : पौर्विकेण = पहिलेको, धर्मच्छन्दवियोगेन = धर्मप्रतिको छन्दलाई त्याग्ने कामले, मम = मेरो, अधुना = अहिले, ईदृशी = यस्तो, विपत्तिः जाता = आपत्ति भएको हो, (अतः) धर्मे = धर्ममा, कः = कस्ले, छन्दं = छन्द (रुचि)लाई, उत्सृजेत् = त्याग्ला ?

पहिलेका जन्महरूमा धर्मप्रति छन्द (अभिलाषा) नराखिएकोले अहिले यस्तो विपत्तिमा परियो जहाँ कुनै पनि कुशल कर्ममा सामर्थ्य आएन । यस्तो थाहा पाइसकेपछि पनि कस्ले धर्मप्रतिको छन्द (अभिलाषा) लाई त्याग्ला ? अर्थात् बुद्धिमान्ले उक्त छन्दलाई कदापि त्यागदैनन् ।

कुशल चाहनेलाई फेरि किन छन्द (अभिलाषा) उत्पन्न गर्नुपर्‍यो त ? यसलाई स्पष्ट पार्दै आचार्य भन्नुहुन्छ–

कुशलानां च सर्वेषां छन्दमूलं मुनिर्जगौ ।
तस्यापि मूलं सततं विपाकफलभावना ॥४०॥

सवै कुशलको मूल 'छन्द' नै भन्नुभो मुनि
त्यस्को पनि मूल सधैं विपाकफल भावना ॥४०॥

अन्वयार्थ : मुनिः = मुनिले, सर्वेषां च = सवै नै, कुशलानां = कुशलहरूको, मूलं = मूल जरो, छन्दं = छन्दलाई नै, जगौ =

वताउनुभयो, तस्य अपि = त्यसको पनि, मूलं = मूल, विपाकफलभावना = कर्महरूको विपाकफलको भावना गर्नु हो ।

छन्द नभएर केवल यस्तो विपत्ति हुने मात्र होइन अपितु कुशल कर्म गर्नको लागि समेत छन्द चाहिन्छ । अतः भगवान्‌ले सबै किसिमका कुशलकर्महरूको मूल छन्द नै हो भनेर बताउनुभएको छ । त्यसकारण छन्द नभए कुशल कर्ममा लाग्न सकिंदैन । फेरि छन्दको मूल नै शुभ र अशुभ कर्मको विपाकफलको विषयमा बारम्बार मनन गर्नु हो । यस्तो विपाकभावनाबाट छन्द उत्पन्न हुन्छ । माथि पनि बताइसकिएको थियो कि *"छन्दं दुःखभयात् कुर्यात्"* (बो. च. ७.३१) । अशुभ कर्मको विपाक यस्तो हुन्छ –

छन्द नहोले कुशल काम गर्न सकिंदैन हो।

दुःखानि दौर्मनस्यानि भयानि विविधानि च ।
अभिलाषविघाताश्च जायन्ते पापकारिणाम् ॥४१॥

विभिन्न दु:ख, भय र दौर्मनस्यहरू अनि
चिताएको नपुग्ने नै पापीका फल हुन् यिनी ॥४१॥

__अन्वयार्थ :__ पापकारिणाम् = पाप गरेकाहरूलाई, दुःखानि = दुःखहरू, दौर्मनस्यानि = मानसिक पीडाहरू, विविधानि भयानि च = विभिन्न प्रकारका भयहरू र, अभिलापविघाताश्च = इच्छाएको कुरा नपुग्ने जस्ता फलहरू, जायन्ते = उत्पन्न हुन्छन् ।

जति पनि कायिक दुःखहरू, मानसिक दुःख र उत्पीडनहरू भोग्नुपर्ने हुन्छ, चाहे त्यो यहाँ होस् या अन्य नरकआदि दुर्गतिमा होस्, ती सबै पाप गर्नेहरूका लागि मात्र हुन्छन् । त्यस्तै विभिन्न प्रकारका बन्धन, ताडन आदिबाट जुन भय भइरहन्छ त्यो पनि पापकर्मीहरूको लागि नै हो । अनि आफूले खोजेको कुरा नमिल्नु, लाभ आदि नष्ट हुनु जस्ता अन्य दुःखहरू पनि पापीका नै हुन्छन् ।

पुण्यकर्म गर्नेको फल यस्तो हुन्छ–

मनोरथः शुभकृतां यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रैव तत्पुण्यैः फलार्घेणाभिपूज्यते ॥४२॥

पुण्यात्माको जहाँ जान्छ, त्यहाँ नै त्यो मनोरथ
त्यो पुण्यबाटै फलको अर्घ्यले हुन्छ पूजित ॥४२॥

__अन्वयार्थ :__ शुभकृतां = पुण्यकर्म गर्नेको, मनोरथः = मनोरथ (इच्छा), यत्र यत्रैव गच्छति = जहाँ जहाँ उ जान्छ, तत्र तत्रैव = त्यहाँ त्यहाँ नै, तत्पुण्यैः = त्यो पुण्यद्वारा, फलार्घेण = चिताएको फलरूपी अर्घ्यले, अभिपूज्यतं = राम्रोसग पूजा गरिन्छ ।

शुभकर्म गर्नेहरूलाई त जे चितायो त्यही पुग्छ, उनीहरूको मनोराज्य नै हुन्छ, जहाँ पनि । त्यस्ता पुण्यात्माहरू जहाँ जहाँ जान्छन् त्यहाँ त्यहाँ उनीहरूको पुण्यको बलले जे खोज्यो त्यही प्राप्त गर्छन् । मानौं पुण्यले अभीष्ट फलरूपी अर्घ्यद्वारा उनीहरूको पूजा नै गरिरहेका हुन् कि भनेजस्तो हुन्छ । त्यसकारण पुण्यात्माहरूलाई नराम्रो कहीं हुँदैन ।

पापकारिसुखेच्छा तु यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रैव तत्पापैर्दुःखशस्त्रैर्विहन्यते ॥४३॥

पापीको सुखको इच्छा जहाँ जान्छ त्यहाँ त्यहाँ
ती पापले दुःखरूपी शस्त्रद्वारा विनष्ट भो ॥४३॥

अन्वयार्थ : पापकारिसुखेच्छा तु = पाप गर्नेवालाको सुखेच्छा त, यत्र यत्रैव गच्छति = जहाँ जहाँ जान्छ, तत्र तत्रैव = त्यहाँ त्यहाँ नै, तत्पापैः = उसको पापले गर्दा, दुःखशस्त्रैः = दुःखरूपी शस्त्रवाट, विहन्यते = नाश गरिन्छ ।

पापीहरूले जे जे चिताउँछन् र गर्छन् त्यहीँ दुःख नै आइलाग्छ । मानौं उनीहरूको पापले दुःखरूपी हतियारले हानिरहेको छ । अर्थात् जे गरे पनि सुख कहीँ पाउँदैनन् । उनीहरूको इच्छा पूरा हुँदैन फलस्वरूप दुःखै हुन्छ ।

विपुलसुगन्धिशीतलसरोरुहगर्भगता
मधुरजिनस्वराशनकृतोपचितद्युतयः ।
मुनिकरबोधिताम्बुजविनिर्गतसद्वपुषः
सगतसुता भवन्ति सुगतस्य पुरः कुशलैः ॥४४॥

ठुला सुगन्धित र शीतल पद्मभित्र
खाई जिनस्वर मृदु द्युतिमान् विचित्र ।
फक्रेर पद्म मुनिरश्मि परी शरीर
निस्किन्छ है कुशलले जिनपुत्र हुन्छ ॥४४॥

अन्वयार्थ : कुशलैः = कुशल कर्महरूबाट, विपुलसुगन्धिशीतलसरोरुहगर्भगताः = अत्यंन्त सुगन्धले युक्त शीतल कमलको कोशमा पुगेका, मधुरजिनस्वराशनकृतोपचितद्युतयः = बुद्धको मधुर स्वरको भोजनबाट कान्ति वढाएका, मुनिकर वोधिताम्वुजविनिर्गतसद्वपुषः = तथागत (मुनि) का किरणले खुल्न गएको कमलबाट निस्केको उत्तम शरीर भएका छँदा, सुगतस्य = भगवान् बुद्ध (अमिताभको), पुरः = अगाडि, सुगतसुताः = बुद्धपुत्रको रूपमा, भवन्ति = हुन आउँछन् ।

कर्महरू तीन किसिमका हुन्छन् । १. एकान्तशुक्ल कर्म २. एकान्त कृष्ण कर्म ३. मिश्रकर्म । त्यसमध्ये एकान्त शुक्ल कर्म भन्नाले केवल कुशल कर्म मात्र भएको र अकुशल पक्ष हुँदै नभएको भन्ने बुझिन्छ । त्यस्तो एकान्त कुशल कर्म गर्नेहरू प्रायः आर्य बोधिसत्वहरू हुन्छन् । प्रमुदिता, विमला जस्ता महायान भूमिहरूमा स्थित भइसकेका आर्यहरूलाई आफूले इच्छा गरेको बेला बाहेक अघिपछि आमाको गर्भमा कहिल्यै पनि प्रवेश गर्नुपर्दैन । उनीहरूको शुद्धलोकमा उपपत्ति (एक प्रकारको जन्म) हुन्छ । त्यही उपपत्तिको बारेमा आचार्यले यहाँ बताउँदै हुनुहुन्छ–

उनीहरू आफ्ना अनन्त कुशल कर्महरूद्वारा अत्यन्त सुगन्धले युक्त भएको शीतल विश्वदल कमलको कोशभित्र उत्पन्न हुन्छन् । त्यहाँ तथागत (जिनहरू)को सद्धर्मको मधुर स्वर सुनेपछि केही खानु पर्दैन, त्यो धर्मश्रवणरूपी भोजन नै पुष्टिकारक हुन्छ र त्यसबाट उनीहरूको कान्ति बढ्दै गएको हुन्छ । अनि तथागतको दीव्य प्रभाका किरणहरूले गर्दा त्यो कमल फक्रिन थाल्छ र त्यसबाट उनीहरूको लक्षण र अनुव्यञ्जनले युक्त दिव्यकाय प्रकट हुन्छ । यो नै उनीहरूको शुद्धक्षेत्र (बुद्धक्षेत्र) मा जन्म हुने तरीका हो । यसरी उनीहरू तथागत अमिताभको अगाडि बुद्धपुत्र भएर सुखावतीमा देखापर्छन् र त्यहीँ धर्मश्रवण गरिरहन्छन् । यसको तात्पर्यले मिश्रकर्म हुनेहरू कसरी जन्मिन्छन् भन्ने पनि उपलक्षित हुन्छ । उनीहरू मनुष्ययोनिमा आमाका गर्भमा बस्छन् । त्यहाँ अत्यन्तै साँघुरो

ठाउँमा, जठराग्निको तातो र दुर्गन्धले युक्त जठर (गर्भ)मा बस्दछन्। उनीहरूलाई गर्भमैं आमाको भोजनबाट परिपुष्ट हुँदै गर्भगत मयलले लिप्त भएरै समय आइसकेपछि अत्यन्त तीव्र पीडा सहँदै जन्मनुपर्छ। यो जन्मको पीडा पनि मृत्युको समान अत्यन्त तीव्र हुन्छ किनकि कुनै यन्त्रले थिचेर निचोरे झैं निचोरिएर जन्मिनुपर्ने हुन्छ। यो हो मिश्रकर्मको फल।

अब एकान्त अकुशल (कृष्ण) कर्मको फल बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ–

यमपुरुषापनीतसकलच्छविरार्तरवो
हुतवहतापविद्रुतकताम्रनिषिक्ततनुः।
ज्वलदसिशक्तिघातशतशातितमांसदलः
पतति सुतप्तलोहधरणीष्वशुभैर्बहुशः ॥४५॥

तानेर कान्ति सब ती यमदूतले त
तामा पगालिकन झोल खन्याउँदै र
मासु गिराइकन शक्ति र खड्ग हान्दा
झर्छन् रुँदै अशुभले अति तप्त भूमा ॥४५॥

अन्वयार्थ : बहुशः = धेरैपटक, अशुभैः = अशुभ कर्म गर्नाले, यमपुरुषापनीतसकलच्छविः = यमराजका दूतहरूले सम्पूर्ण छवि (कान्ति) लाई नै निकालिदिएको छँदो, आर्तरवः = आर्तनाद गर्दै, हुतवहतापविद्रुतकताम्रनिषिक्ततनुः = अग्निको तापले पग्लेको तामाको झोलमा नुहाइएको छ शरीर जसका यस्तो, ज्वलदसिशक्तिघातशतशातितमांसदलः = बलेको तर्वार र बल्छीको आघातले सयौं टुक्रा पारिएको छ मासुको पत्र जसका यस्तो, सुतप्तलोहधरणीषु = अत्यन्तै तातो फलामको भूमिमा, पतति = खस्छ।

धेरै धेरै अकुशल कर्म मात्र गरिरहनाले पुद्गलको मृत्यु यसरी हुन्छ कि उसको शरीरबाट यमराजका दूतहरूले पूरै छाला सम्पूर्ण कान्तिसहित निकालिदिन्छन्। त्यसले गर्दा उ भय एवं पीडा खप्न नसकेर अत्यन्त आर्तस्वरमा चिच्याउन थाल्छ। उसको शरीरलाई आगोको रापले पग्लेको तामाको झोलले नुहाइदिन्छन्। त्यो सहँदै उसले ताता ताता बल्दै गरेका तर्वार र बल्छीका आघातले शरीरको मासुलाई सयौँ टुक्रा पारिएको कष्ट भोग्नुपर्छ। यस्तो कठोर यातना सहँदै अन्तमा उ नरकको अत्यन्तै तातो फलामको रातो भूईमा झर्न पुग्छ। नरकमा जन्म लिने यस्तै किसिमका कठोर तरीकाहरू हुन्छन्।

यसरी शुभ र अशुभ कर्मको फललाई संक्षेपमा बताएर छन्दबलको उपसंहार गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ–

तस्मात् कार्यः शुभच्छन्दो भावयित्वैवमादरात्।

सोचेर यसरी गर्नू श्रद्धाले शुभ छन्द नै।

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, एवं = यस प्रकारले, भावयित्वा = भावना गरेर, आदरात् = आदरपूर्वक, शुभच्छन्दः = शुभ 'छन्द', कार्यः = गर्नुपर्छ।

यसरी शुभ र अशुभ कर्महरूको इष्ट र अनिष्ट फलको विषयमा राम्रोसँग चिन्तन र भावना गरी शुभकर्मप्रतिको छन्द (इच्छा) जगाउनुपर्छ।

अब स्थामबलको प्रतिपादन गर्न आचार्य भन्नुहुन्छ-

वज्रध्वजस्थविधिना मानं त्वारभ्य भावयेत् ।

विधिले वज्रध्वजको मानैले गर्नु भावना ॥४६॥

अन्वयार्थ : वज्रध्वजस्थविधिना = वज्रध्वज सूत्रमा वताइएको विधि अनुसार, मनं आरभ्य = दृढता लिएर, भावयेत् = भावना (साधना) गर्नू ।

वज्रध्वज सूत्रमा बताइएको विधि अनुसार पछि नहट्ने खालको हठ लिएर भावना (पारमिताहरुको अभ्यास)मा अघि बढ्नुपर्छ ।

पूर्वं निरूप्य सामग्रीमारभेन्नारभेत वा ।
अनारम्भो वरं नाम न त्वारभ्य निवर्तनम् ॥४७॥

सामग्री पहिले हेरी थाल्नू या थाल्नु हुन्न है
नथाल्नु हो ठीक बरु न कि थालेर छोड्नु है ॥४७॥

अन्वयार्थ : पूर्वं = पहिले, सामग्री = सामग्रीहरूको, निरूप्य = निरूपण गरेर, आरभेत = प्रारम्भ गर्नू, वा = अथवा, न आरभेत = प्रारम्भ नगर्नू, अनारम्भो नाम = आरम्भ नगर्नु नै, वरं = उत्तम हुन्छ, न तु = न कि, आरभ्य = आरम्भ गरेर, निवर्तनम् = छोडेर पछि हट्नु ।

यसरी दृढतापूर्वक शुरु गर्दाखेरि आफ्नो सरसामान अर्थात् पूर्वतयारी सबै जुटेको छ या शक्तिले भ्याउँछ कि भ्याउँदैन भन्ने कुराका पहिले नै राम्रोसँग निर्क्योल गरेर मात्र शुरु गर्नुपर्छ । नसक्ने भए थालनी गर्नुहुन्न । किनकि थालेको काम बिचमै अधूरो छोडेर पछि हट्नु या निवृत्त हुनुभन्दा थालनी नै नगर्नु वेस हुन्छ । सामर्थ्य छैन भने नथाल्नु राम्रो हो । आफ्नो बलाबलको विचार पहिले नै गर्नुपर्छ । यसको के दोष छ भन्ने कुरा आचार्य देखाउनुहुन्छ-

जन्मान्तरे ऽपि सो ऽभ्यासः पापाद् दुःखं च वर्धते ।
अन्यच्च कार्यकालं च हीनं तच्च न साधितम् ॥४८॥

जन्मान्तरैमा त्यै बानी, पापले दुःख बढ्दछ
अर्को कार्य र त्यो हुन्नन् समयै मात्र नष्ट छ ॥४८॥

अन्वयार्थ : जन्मान्तरे ऽपि = अर्को जन्ममा पनि, सोऽभ्यासः = त्यही अभ्यास हुन्छ, पापाद् = पापले गर्दा, दुःखं च = दुःख पनि, वर्धते = बढ्दछ, अन्यच्च = अर्को काम र, तच्च = त्यही काम पनि, न साधितम् = सिद्ध हुँदैन, कार्यकालं च = काम गर्ने समय पनि, हीनं = नष्ट हुन पुग्छ ।

त्यसमा पाँच किसिमका दोषहरू हुन्छन् १. भविष्यका जन्महरूमा पनि त्यही संस्कार सर्दै जाने हुन्छ र त्यस्तै बानी भएको हुनपुगिन्छ । २. गर्छु भनेर प्रतिज्ञा गरेको पूरा नगरेकोले पाप (अकुशल) हुन्छ र त्यसले गर्दा दुःख नै भोग्नुपर्ने हुन्छ । ३. त्यसलाई छोडेर अर्को काम गरे पनि आदत उही हुनाले त्यसलाई पनि पूरा गर्न सकिन्न । ४. व्यर्थको (पूरा नहुने) काममा समय खेर फाल्नाले अमूल्य समय बर्बाद हुन्छ । ५. त्यही थालेको काम पनि पूरा हुँदैन, त्यो पनि दोष नै हो । त्यसकारण नसक्ने भए नथाल्नु बेस हुन्छ ।

अघि भनिएको मान सबै ठाउँमा गर्नहुन्न र ? भन्ने कुराको लागि आचार्य भन्नुहुन्छ-

त्रिषु मानो विधातव्यः कर्मोपक्लेशशक्तिषु ।
मयैवैकेन कर्तव्यमित्येषा कर्ममानिता ॥४९॥

यी तीनमा मान राख्नू कर्मोपक्लेश-शक्तिमा
'म एक्लै गर्छु यो' भन्ने यही हो कर्ममानिता ॥४९॥

अन्वयार्थ : कर्मोपक्लेशशक्तिषु = कर्म, उपक्लेश र शक्तिमा, मानः = मान, विधातव्यः = गर्नुपर्छ, मया एकेन = म एक्लैले, एव = नै, कर्तव्यं = गर्नुपर्छ, इति एषा = भन्ने यस्तो यो, कर्ममानिता = कर्मप्रति 'मान' भएको हो ।

तीन कुराहरूमा मान (दृढता) गर्नुपर्छ। ती तीन कुराहरू हुन् १. कर्म २. उपक्लेश र ३. शक्ति। त्यसमध्ये कर्मप्रति मान हुनु भनेको 'सत्वहरूलाई जे काम आइलागेको छ त्यो मैले नै गर्छु अरुलाई गर्न दिन्न' भन्ने दृढता हो। 'अरुले गरिहाल्छन्' भन्ने प्रवृत्ति राम्रो होइन। मद्दत त मैले नै गर्नुपर्छ भन्ने दृढता या मान रहिरहनुपर्छ।

क्लेशस्वतन्त्रो लोको ऽयं न क्षमः स्वार्थसाधने ।
तस्मान्मयैषां कर्तव्यं नाशक्तो ऽहं यथा जनः ॥५०॥

क्लेशपरतन्त्र लोक सक्दैन स्वार्थ साधन ।
अतः मैले गर्दिनु छ, यी झैं छैन अशक्त म ॥५०॥

अन्वयार्थ : अयं लोकः = यो लोक, क्लेशस्वतन्त्रः = क्लेशले आफ्नो अधीनमा लिइएको छ [क्लेशानां स्व आत्मभावादिः क्लेशस्वः, स्तस्य तन्त्रः] स्वार्थसाधने = आफ्नो प्रयोजन सिद्ध गर्नमा, न क्षमः = समर्थ छैन, तस्मात् = त्यसकारण, मया = मैले, एषां = यिनीहरूका निमित्त, कर्तव्यं = गर्नुपर्छ, जनः = यो लोक, यथा = जस्तै, अहं = म, न अशक्तः = अशक्त छैन ।

सांसारिक प्राणीहरूलाई क्लेशहरूले आफ्नो अधीनमा लिएका हुन्छन्। त्यसकारण यिनीहरूले आफ्नो हित गर्न पनि सक्दैनन्। त्यसकारण मैले नै यिनीहरूको हित हुने काम गरिदिनुपर्छ। म त यिनीहरूजस्तो अशक्त छैन किनकि मैले पहिले नै बोधिचित्त उत्पाद गरिसकेको छु। अतः यो मेरो कर्तव्य पनि हो।

नीचं कर्म करोत्यन्यः कथं मय्यपि तिष्ठिति ।
मानाच्चेन्न करोम्येतन्मानो नश्यतु मे वरम् ॥५१॥

नीच काम अरु गर्छन् कसरी म हुँदाहुँदै ?
मानले त्यो नगर्नेभा' नाश होस् बरु मान नै ॥५१॥

अन्वयार्थ : अन्यः = अर्को मानिसले, मयि = म, तिष्ठति अपि = हुँदाहुदै पनि, कथं = कसरी, नीचं कर्म = तल्लो स्तरको काम, करोति = गर्दैछ ? चेत् = यदि, एतद् = यो काम, मानात् = अभिमानले गर्दा, न करोमि = गर्दिन भेन् वरं = वरु, मे = मेरो, मानः = मान नै, नश्यतु = नाश होस् ।

म यहाँ हुँदाहुँदै पनि कसैले भारि बोक्ने जस्ता तल्लो स्तरका भनिने कर्महरू गर्छ र मैले त्यो 'नीच काम' भनेर त्यसलाई मद्दत गर्न जान्न भने त्यस्तो खालको अभिमान मलाई चाहिँदैन। बरु त्यो अभिमान नाश भैजाओस्, त्यो राम्रो हुन्छ।

यसरी जस्तो सुकै काम पनि मान (गर्व र दृढता) राखेर गर्नुपर्छ। अब उपक्लेशसँग जुध्न पनि त्यस्तै दृढता कायम राख्नुपर्छ भन्ने कुरा बताउन आचार्य भन्नुहुन्छ–

मृतं दुण्डुभमासाद्य काको ऽपि गरुडायते।
आपदाबाधते ऽल्पापि मनो मे यदि दुर्वलम् ॥५२॥

मरेको सर्प पाएर कौवा गरुड बन्दछ
मनै दुर्वल भा' सानो आपत्‌ले पनि पीर्दछ ॥५२॥

अन्वयार्थ : मृतं = मरेको, दुण्डुभं = सर्पलाई, आसाद्य = पाएर, काक: अपि = कौवा पनि, गरुडायते = गरुडको जस्तो आचरण गर्दछ, यदि = यदि, मे = मेरो, मन: = मन, दुर्वलम् = दुर्वल छ भने, अल्पा अपि आपद् = थोरै आपत्तिले पनि, आवाधते = पीडा गर्दछ।

यदि उपक्लेशहरूले अलि अलि सताए भन्दैमा आफ्नो मनलाई कमजोर बनाउने हो भने सानातिना आपत्ति विपत्तिले आफूलाई धेरै पीडा दिन्छन्। किनभने कमजोर भइसकेको या मरेको सर्पलाई भेटायो भने एउटा सामान्य मामूली कौवा पनि निकै आक्रामक बनेर माथिबाट फन्किँदै एक्कासी तल झरेर मानौं गरुड नै झम्टेको हो कि जस्तो गरी समात्दछ। उपक्लेश भनेका क्रोध, पेटमा रिस राख्नु (उपनाह) जस्ता कुरा हुन्। अथवा राग, द्वेष, मोह जस्ता पचास थरीका क्लेशहरूलाई पनि उपक्लेश भन्ने गरिन्छ। यिनीहरूद्वारा पनि आफूलाई थिच्न नदिएर अडिग भई कार्य(स्वपरहित)मा लागिरहनुपर्छ।

विषादकृतनिश्चेष्टे आपदः सुकरा ननु।
व्युत्थितश्चेष्टमानस्तु महतामपि दुर्जयः ॥५३॥

हताश भै चेत उड्दा आपत् पर्छन् सजीलरी
सचेत भै डटी उठ्दा ठूलै हुन्छन् पराजयी ॥५३॥

अन्वयार्थ : ननु = किनकि, विषादकृतनिश्चेष्टे = विपाद (खिन्नता) ले निश्चेष्ट बनाएइका (जोश जाँगर मारिएका) हरूमा, आपद: = आपत्तिहरू, सुकरा: = सजिलोसँग आइलाग्छन्, व्युत्थित: = उठेर, चेष्टमानस्तु = सचेत भई जाँगर गर्दैछ भने, महताम् अपि = ठूलै क्लेश आदिले पनि, दुर्जय: = जित्न नसकिने हुन्छ।

चित्तमा उत्साह हराएर खिन्न भई केही काम नगरी चेष्टारहित भएर बस्ने हो भने सजिलैसँग आपत्तिहरूले घेर्छन्। बरु उठेर जोश जाँगर चलाउने हो भने ठूलै आपत्तिहरूले पनि केही गर्न सक्दैनन्। यहाँ 'निश्चेष्ट' भन्नाले होशै नराख्ने, ख्यालै नगर्ने भनेको हो भने, 'सचेत हुने' भन्नाले स्मृति–सम्प्रजन्यले युक्त भएर उपक्लेशहरूसँग सामना गर्ने भनेको हो।

तस्माद् दृढेन चित्तेन करोम्यापदमापदः।
त्रैलोक्यविजिगीषुत्वं हास्यमापज्जितस्य मे ॥५४॥

त्यसैले दृढ चित्तैले पार्छु आपत्तिकै खति
त्रैलोक्य जित्ने इच्छा त नत्र हास्यास्पदै अति ॥५४॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, दृढेन चित्तेन = बलियो मन गराएर, आपद: = आपत्ति (क्लेश आदि) हरूलाई, आपद

करोमि = आपत्ति गराइदिन्छु (नत्र), आपज्जितस्य = आपत्तिहरूले जितिएको, मे = मेरो, त्रैलोक्यविजिगीपुत्वं = तीनै लोकलाई जित्ने इच्छा हुनु त, हास्यम् = हास्यास्पद हुनेछ ।

त्यसकारण दह्रो मन गराएर बरु आपत्तिहरूमाथि नै आपत्ति थोपरिदिन्छु र तिनीहरूलाई नै हराइदिन्छु । यदि त्यसो गरिन र ती आपत्तिहरुलें नै मलाई जितेर हराइदिए भने मैले तीनै लोकलाई जित्ने (करुणाद्वारा) इच्छा राखेको कुराको उपहास हुनेछ । म त पागल झैं नभएको गुड्डी हाँक्ने ठहरिनेछु ।

मया हि सर्वं जेतव्यमहं जेयो न केनचित् ।
मयैष मानो बोढव्यो जिनसिंहसुतो ह्यहम् ॥५५॥

मैले नै जित्नु छ सबै कसैवाट जितिन्न म
मैले नै मान वोक्नू छ पुत्र हूँ जिनसिंहको ॥५५॥

अन्वयार्थ : मया हि = मैले नै, सर्वं = सवै कुरा, जेतव्यं = जित्नुपर्छ; केनचित् = कसैवाट पनि, अहं = म, न जेयः = जितिनु हुन्न, मया = मैले, एषः मानः = यत्तो मान, वोढव्यः = वहन गर्नुपर्छ, हि = किनकि, अहम् = म, जिनसिंहसुतः = जिनसिंह (बुद्धरूपी सिंह)को पुत्र हुँ ।

'मैले नै सबैलाई जित्नुपर्छ र मलाई कसैले पनि जित्न सक्दैन' भन्ने किसिमको मान (गर्वसहितको दृढता) मैले लिनुपर्छ । किनकि म त बुद्धरूपी सिंह (जिनसिंह) को छोरो हुँ । सवै क्लेश आदी माररूपी पशुलाई सिंहले झैं जितेका हुनाले उनीहरू जिनसिंह हुन् (जित्ने भएर जिन भन्छन्) । सिंहको बच्चालाई कायरता सुहाउँदैन र उसले कसैसित हार्दैन पनि । त्यसो भए शत्रुहरूलाई जित्न स्वाभिमानी भएर लड्ने मानी व्यक्ति पनि त उत्तम हो भन्नु पऱ्यो नि भन्ने शङ्का उठ्ला भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ–

ये सत्वा मानविजिता वराकास्ते न मानिनः ।
मानी शत्रुवशं नैति मानशत्रुवशाश्च ते ॥५६॥

मानी हैनन् ती विचरा मानबाटै हराइँदा
मानी शत्रुवशै हुन्न, छन् मानशत्रुको बश ॥५६॥

अन्वयार्थ : ये सत्वाः = जुन प्राणीहरू, मानविजिताः = मान (घमण्ड)द्वारा जितिएका हुन्छन्, ते वराकाः = ती विचराहरू, न मानिनः = मानी होइनन् । मानी = मानी व्यक्ति, शत्रुवशं = शत्रुका वशमा, न एति = जाँदैन, ते च = तिनीहरू त, मानशत्रुवशाः = अभिमानरूपी शत्रुका वशमा परेका छन् ।

जो अभिमानद्वारा जितिएका हुन्छन् ती विचरा स्वाभिमानी व्यक्ति होइनन् । स्वाभिमानी व्यक्तिहरू त शत्रुका अधीनमा हुँदैनन्, परन्तु यिनीहरू त मान(घमण्ड)रुपी शत्रुका वशमा परेका छन् । किनकि मान(घमण्ड)ले जसरी चलायो उसैगरी चल्छन् ।

मानेन दुर्गतिं नीता मानुष्ये ऽपि हतांत्सवाः ।
परपिण्डाशिनो दासा मूर्खा दुर्दर्शनाः कृशाः ॥५७॥

मानले दुर्गती जाने, मनुष्यै भै हताश छन्
परपिण्ड लिने दास, मूर्ख, दुव्ला, कुरूप छन् ॥५७॥

अन्वयार्थ : मानेन = मान (घमण्ड) ले, दुर्गतिं नीताः = दुर्गतिमा लगिएकाहरू, मानुष्येऽ पि = मनुष्य जन्ममा आएर पनि, हतोत्सवाः = हताश हुन्छन्, परपिण्डाशिनः = अर्काले दिएको अन्न खाने, दासाः = दास, मूर्खाः = मूर्ख (विवेक नभएका), दुर्दर्शनाः = हेर्दै नराम्रा, कृशाः = दुव्ला र कमजोर हुन्छन् ।

मानले कतिपय व्यक्तिहरू दुर्गतिमा गएका हुन्छन् । मनुष्यको जन्म पाएर पनि उनीहरू आनन्द भएर रहन सक्दैनन् । तिनीहरू अर्काले दिएको खाएर बाँच्ने हुन्छन्, दास हुन्छन्, विवेकशून्य हुन्छन्, हेर्दाखेरि कुरूप हुन्छन् र कमजोर एवं दुब्ला हुन्छन् ।

सर्वतः परिभूताश्च मानस्तब्धास्तपस्विनः ।
ते ऽ पि चेन्मानिनां मध्ये दीनास्तु वद कीदृशाः ॥५८॥

तिरस्कृत सबैबाट विचरा स्तब्ध मानले
मानीमै ती पनि गन्दा भन्छौ झन् दीनलाई के ॥५८॥

अन्वयार्थ : सर्वतः = सबैतिरबाट, परिभूताश्च = तिरस्कृत भएका हुन्छन् तापनि, मानस्तब्धाः = अभिमान (घमण्ड आदिले) गर्दा अविनम्र (ठाडा) हुन्छन्, ते = ती, तपस्विनः = विचरा पनि, चेत् = यदि, मानिनां मध्ये = मानीहरूमा गनिने हो भने त, दीनाः = साँच्चिकै दीन दुःखीहरू, कीदृशाः = कस्ता हुन् त ? वद = भन ।

सबैतिरबाट उनीहरू पीडित नै हुन्छन् । उनीहरूले अपराधै नगरेका होऊन् तापनि उनीहरूको तिरस्कार नै भइरहेको हुन्छ । त्यस्तो हुँदा पनि ती विचराहरू ठाडा र नझुक्ने स्वभावका हुन्छन् । त्यस्तालाई पनि 'मानी' भन्न थाल्ने हो भने त झन् साँच्चिकै दीन दुःखीलाई त के भन्नु ? त्यसकारण शत्रुआदिलाई जित्न 'तँभन्दा म के कम ?' भन्ने खालको आठ लौकिक धर्मअनुसारको मान हुनुहुँदैन ।

मान पनि धेरै थरीका हुन्छन् । सात प्रकारका मानको उल्लेख गरिएको छ । ती मध्ये १) मान- आफू समान गुण भएको या आफूभन्दा कम गुण भएको भन्दा स्वयंलाई श्रेष्ठ ठान्नु । २) अतिमान- आफूभन्दा उत्तम गुण भएकासँग आफूलाई समान ठान्नु । ३) मानातिमान- आफूभन्दा उत्तम गुण भएका भन्दा पनि आफूलाई श्रेष्ठ ठान्नु । ४) अस्मिमान- अनात्मस्वरूप यी पञ्चस्कन्धलाई नै 'म' र 'मेरो' भन्ने विश्वास गर्नु । ५) अभिमान- आफूमा कुनै विशेष अलौकिक क्षमता नहुँदा नहुँदै पनि ममा त्यस्तो क्षमता छ भन्ने घोषणा गर्नु । ६) ऊनमान- आफूभन्दा धेरै गुण हुनेसँग थोरै मात्र फरक हो नत्र हामी झण्डै उस्तै हौं भन्ने ठान्नु । ७) मिथ्यामान- आफूसँग गुणै नभए पनि आफूलाई गुणी ठान्नु । यी सबै लौकिक धर्म भित्र पर्ने मान हुन् ।

ते मानिनो विजयिनश्च त एव शूरा
ये मानशत्रुविजयाय वहन्ति मानम् ।
ये तं स्फुरन्तमपि मानरिपुं निहत्य
कामं जने जयफलं प्रतिपादयन्ति ॥५९॥

मानी, र शूर विजयी पनि हुन् तिनी नै
जो मानशत्रुकन जित्न त मान लिन्छन् ।
वढ्दो त मानरिपुलाई विनाश गर्दै
लोकमा यथेष्ट फल त्यो त प्रकाश गर्छन् ॥५९॥

अन्वयार्थ : तें = तिनीहरू नै, मानिनः = मानी हुन्, विजयिनश्च = विजयी पनि हुन्, ते एव = तिनीहरू नै, शूराः = शूर (साहसी हुन्), ये = जसले, मानशत्रुविजयाय = मानरूपी शत्रुलाई जित्न, मानं वहन्ति = मान (गर्व) धारण गर्छन्, ये = जसले, तं = त्यो, स्फुरन्तं = प्रभावशाली हुँदै गइरहेको, मानरिपुं अपि = मानरूपी शत्रुलाई पनि, निहत्य = नाश गरेर, जने = लोकमा, कामं = यथेष्टरूपमा, जयफलं = त्यो विजयको फल, प्रतिपादयन्ति = प्रतिपादन गर्दछन् (यस्तो हुन्छ भनेर देखाइदिन्छन्)।

वास्तवमा ती बोधिसत्वहरू नै साँच्चिकै मानी अर्थात् दृढता र गर्व भएका हुन्, विजयी पनि हुन् र शूर भनिन पनि योग्य छन् जसले मान (माथि बताइएका सात प्रकारका) रूपी शत्रुलाई जित्न भनेर दृढता (मान) बोकेर अघि बढेका छन् र फैलिँदै गइरहेको त्यो मानरूपी शत्रुलाई समेत नष्ट पारेर अन्तमा त्यसको फल (बुद्धता) यस्तो यथेष्ट मात्रामा यथेष्ट रूपको हुन्छ भन्ने कुरा देवतासहित सारा लोकमा देखाएर छाड्छन्।

उपक्लेश सम्बन्धी मानलाई बताइसकेर शक्ति सम्बन्धि मानलाई बताउन आचार्य भन्नुहुन्छ–

संक्लेशपक्षमध्यस्थो भवेद् दृप्तः सहस्रशः।
दुर्योधनः क्लेशगणैः सिंहो मृगगणैरिव ॥६०॥

क्लेशवर्गभित्र बस्दै सहस्रैगुण दीप्तिमान्
नहार्ने क्लेशगणले सिंह झैं मृगका विच ॥६०॥

अन्वयार्थ : संक्लेशपक्षमध्यस्थः = क्लेशहरूको वर्ग (समूह) मा रहेर पनि, सहस्रशः = हजारौं गुणा, दृप्तः भवेत् = उज्यालो हुनुपर्छ, मृगगणैः = मृगका बथानहरूद्वारा, सिंह इव = सिंह जस्तै, क्लेशगणैः = क्लेशका समूहद्वारा, दुर्योधनः = लड्न (जित्न) नसकिने हुनुपर्छ।

क्लेशहरूले घेरिएर बसे पनि आफू हजारौं गुना तेजस्वी हुन सक्नुपर्छ। जसरी मृगका बथानहरू जति कसिए पनि सिंहलाई जित्न सक्दैनन् त्यसरी नै आफू पनि क्लेशहरूले जित्न नसकिने हुनुपर्छ। अर्थात् आफ्नो शक्ति छैन भन्ने ठान्नुहुन्न। आँटेपछि सकिन्छ भन्ने ठानी शक्तिमान् भएर काम गर्नुपर्छ।

महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु न रसं चक्षुरीक्षते।
एवं कृच्छ्रमपि प्राप्य न क्लेशवशगो भवेत् ॥६१॥

आँखाले रस देख्दैन ठूला कष्ट परे पनि
नजानू क्लेशवशमा जस्तै कष्ट परे पनि ॥६१॥

अन्वयार्थ : हि = किनकि, महत्सु = ठूला ठूला, कृच्छ्रेषु अपि = कष्टहरूमा पनि, चक्षुः = आँखाले, रसं = रस (स्वाद), न इक्षते = देख्दैन, एवम् = यस्तै, कृच्छ्रं प्राप्य अपि = कष्ट पाए तापनि, क्लेशवशगः = क्लेशहरूका वशमा, न भवेत् = नहुनू।

जसरी ठूला ठूला विपत्ति, कष्टहरू आइलागे पनि आँखाले देख्ने बाहेक अरु काम जस्तै रस थाहा पाउने, गन्ध थाहा पाउने आदि गर्दैन त्यसरी नै जतिसुकै कष्ट पाए पनि बोधिसत्वहरू क्लेशको वशमा पर्नुहुँदैन। त्यो क्षमतामा वृद्धि गर्नुपर्छ। क्लेशका वशमा पर्नु बोधिसत्वको विषय नै होइन।

अब रतिबलको प्रतिपादन गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ–

यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत्।
तत्कर्मशौण्डोऽतृप्तात्मा क्रीडाफलसुखेप्सुवत् ॥६२॥

जे कर्म गर्नु पर्नेछ त्यसमा नै अतृप्त भै
हुनू लम्पट खेलेर सुख खोज्नेहरू सरी ॥६२॥

अन्वयार्थ : *यदेव = जुन कुनै, कर्म = कर्म, आपद्यते = आइलाग्छ, तत्कर्मव्यसनी = त्यही कर्ममै व्यसनी (आनन्द मानेर लागिरहने), क्रीडाफलसुखेप्सुवत् = खेल (जूवा) को फलको सुख चाहने व्यक्ति जस्तै, तत्कर्मशौण्ड: = त्यही काममा लम्पट र, अतृप्तात्मा = मन नै नअघाएको जस्तो भवेत् = हुनू ।*

पुण्य र ज्ञानका निमित्त गर्नुपर्ने कुशल कर्महरू जे-जस्ता आइपर्छन् तिनीहरूमा पूर्णरूपले दत्तचित्त भएर तिनमै रमाएर गर्नुपर्छ । जसरी जूवा जस्ता खेलहरूको सुखमा रमाउन खोज्ने व्यक्ति त्यसमा लम्पट भएर लागिरहको हुन्छ त्यसै गरी उक्त कुशल कर्महरूमा पनि व्यसनी नै भएर लाग्नुपर्छ । त्यही शुभकर्मप्रतिको आसक्ति नै रतिबल हो ।

सुखार्थं क्रियते कर्म तथापि स्यान्न वा सुखम् ।
कर्मैव तु सुखं यस्य निष्कर्मा स सुखी कथम् ॥६३॥

गरिन्छ कर्म सुखकै निम्ति तैपनि हुन्छ वा ?
कर्म नै सुख हो जस्को निष्कर्मी त्यो सुखी कहाँ ? ॥६३॥

अन्वयार्थ : *कर्म = कर्म (काम), सुखार्थं = सुखकै निम्ति, क्रियते = गरिन्छ, तथापि = त्यसो हो तापनि, सुखं = सुख, स्यात् = हुन्छ, वा = कि, न = हुँदैन, यस्य = जसको, कर्म एव = कर्म नै, सुखं = सुख हो, स त्यो = निष्कर्मा = कर्म नै नगरेर, कथं = कसरी, सुखी = सुखी रहन सक्ला ?*

कर्म त सुख पाइयोस् भनेर नै गरिन्छ नत्र भने कर्म गर्ने नै किन भन्ने प्रश्न उठ्छ र दुःख त कसैले पनि चाहँदैन । तैपनि कहिले सुख हुन्छ भने कहिले हुँदैन पनि । कतिपय परिस्थितिमा कर्म निष्फल भएर पनि जान्छन् । जस्तै उपघातक कर्महरू बलिया रहेछन् भने । परन्तु जो व्यक्तिका निमित्त कर्म गर्नु नै सुख हो र त्यसको फलबाट आउने सुखको कुनै वास्ता छैन, त्यस्ता (बोधिसत्वहरू) त कर्म नगरी (निष्कर्मी भएर) बसेर कसरी सुखी हुन सक्छन् र ?

कामैर्न तृप्तिः संसारे क्षुरधारामधूपमैः ।
पुण्यामृतैः कथं तृप्तिर्विपाकमधुरैः शिवैः ॥६४॥

कामले तृप्ति के हुन्थ्यो छुराको धारकै मह
पुण्यले तृप्ति के हुन्थ्यो फल्दा मीठो छ अमृत ॥६४॥

अन्वयार्थ : *संसारे = संसारमा, क्षुरधारामधूपमै: = छुराको धारको महसमानका, कामै: = काम (विपय सुख) ले, तृप्तिर्न = तृप्ति हुँदैन, विपाकमधुरै: = परिणाममा (फल्नेवेला) मिठो हुने, शिवै: = कल्याणकारी, पुण्यामृतै: = पुण्यको अमृतवाट पनि, कथं = कसरी, तृप्ति: = तृप्ति होस् र ?*

संसारमा जति पनि विषय सुखहरू छन्- रूप, रस, गन्ध आदि-तिनीहरूबाट कहिल्यै पनि तृप्त भईदैन । किनकि तिनीहरू त छुराको धारमा लागेको मह संमानका छन् । महजस्ता भएकाले मीठो भइरहन्छ र अघाईदैन परन्तु चाट्दाखेरि छुराको धारले काटेर जिब्रोमा घाउ पारिदिन्छ जसले गर्दा दुःख भइरहन्छ । त्यस्तै यी विषयसुख (काम भोग) हरूबाट पनि दुःख भइरहन्छ ।

परन्तु पुण्यकर्मको फलरूपी अमृत खाएर पनि कहिल्यै अघाउने कुरा हुँदैन किनकि त्यो त अभ्युदय एवं नैःश्रेयसफल दिने भएकोले परिणाम सधैं कल्याणकारी हुन्छ र अति मिठो पनि हुन्छ अर्थात् सांसारिक दुःखबाट पूर्णरूपले मुक्ति हुनुजस्तो मीठो फल हुन्छ ।

तस्मात् कर्मावसाने ऽपि निमज्जेत् तत्र कर्मणि ।
यथा मध्याह्नसन्तप्त आदौ प्राप्तसराः करी ॥६५॥

अतः कर्म सिद्धिएमा पनि मग्न हुनू त्यहीं
दिउसो घाममा हात्ती तलाउमा डुबे सरी ॥६५॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, कर्मावसाने ऽपि = कर्म (काम) सिद्धिएपछि पनि, तत्र कर्म्मणि = त्यही कर्ममै, निमज्जेत् = रस लिएर डुब्नू, यथा = जस्तै, मध्यान्हसन्तप्तः = दिउसोको घाममा तातेको छँदो, प्राप्तसराः = तलाउमा पुगेको, करी = हात्ती, आदौ = पहिले (डुब्छ) ।

जसरी दिउसोको कडा घाममा तातेर तलाउमा पुगेको हात्तीले पहिले पानीमा डुबुल्की लगाएर त्यसमा खुब रस लिएर मग्न भइरहन्छ त्यस्तै गरी कर्म सकिएपछि पनि त्यसमा खुब रस लिएर मग्न हुनु (हुनसक्नु) पर्छ ।

यसरी कुशलकर्ममा रति हुनुपर्छ भन्ने कुरा (रतिबल) लाई बताएर मुक्तिबलको प्रतिपादन गर्न आचार्य भन्नुहुन्छ–

बलनाशानुबन्धे तु पुनः कर्तुं परित्यजेत् ।
सुसमाप्तं च तन्मुञ्चेदुत्तरोत्तरतृष्णया ॥६६॥

सामर्थ्य नहुने देखे छोड्नू गर्छु भनी पछि
सुसम्पन्न पनि छोड्नु अर्को उत्तम गर्न नै ॥६६॥

अन्वयार्थ : वलनाशानुवन्धे तु = सामर्थ्य सकिने अवस्था आएमा त, पुनः कर्तुं = फेरि गर्नको लागि, परित्यजेत् = छोड्नुपर्छ, सुसमाप्तं च = राम्रोसँग सम्पन्न भएको कामलाई त, उत्तरोतरतृष्णाया = पछि पछि झन् राम्रो काम गर्ने इच्छाले, मुञ्चेत् = त्यागिदिनू ।

यदि थालिएको काम गर्न विचमा आएर सामर्थ्य नहुने परिस्थिति आयो भने 'शक्तिले भ्याउने भएपछि फेरि गर्नेछु' भन्ने आशय राखेर अनिश्चित कालको लागि छोडिदिनुपर्छ नत्रभने आफ्नै समय र श्रम आदिको हानि हुने सम्भावना हुन्छ । फेरि कुनै कार्य राम्रोसँग सुसम्पन्न भयो भने पनि त्यसलाई छोड्नु पर्छ किनकि उही काम गरिरहँदा वेकारमा विक्षेप (मन अस्थिर) हुन्छ । तर त्यसरी छोड्दा त्योभन्दा उच्चस्तरको काम गर्ने अभिलाषा लिएर छोड्नुपर्छ र त्यसमा लागिहाल्नुपर्छ । यस्तो किसिमको त्याग पनि एक प्रकारको बल हो र यसले उत्साह एवं कार्यप्रतिको छन्द (अभिरुचि) लाई नष्ट हुन दिँदैन ।

अब तात्पर्यबलको बारेमा आचार्य भन्नुहुन्छ–

क्लेशप्रहारात् संरक्षेत् क्लेशाँश्च प्रहरेद् दृढम् ।
खड्गयुद्धमिवापन्नः शिक्षितेनारिणा सह ॥६७॥

क्लेशाघातदेखि वच्नू तिनीलाई त हान्नु है
सिपालु खड्गयोद्धाले शत्रुलाई गरे सरी ॥६७॥

अन्वयार्थ : *खड्युद्धं = खड्गयुद्धमा, आपन्नः = उत्रेको व्यक्तिले, शिक्षितेन = शिक्षित (सिपालु), अरिणा सह = शत्रुसंग, इव = जस्तै, क्लेशप्रहारात् = क्लेशहरूको प्राहारवाट, संरक्षेद् = वचाउ गर्नू, क्लेशांश्च = क्लेशहरूलाई भने, दृढम् = वलियो भएर प्रहरेत् = प्रहार गर्नू ।*

जसरी शस्त्रविद्यामा निपुण भएको (शिक्षित) शत्रुसँग खड्गयुद्धमा उत्रेको अर्को योद्धाले शत्रुको प्राहारबाट आफ्नो रक्षा गर्दै शत्रुप्रति पनि जाइलाग्छ त्यस्तै गरी यी क्लेशहरूको प्रहारबाट आफूलाई रक्षा गर्दै यिनीहरू स्वयंलाई ध्वस्त पार्न दृढतापूर्वक प्रहार गरिराख्नुपर्छ ।

> **तत्र खड्गं यथा भ्रष्टं गृह्णीयात् सभयस्त्वरन् ।**
> **स्मृतिखड्गं तथा भ्रष्टं गृह्णीयान्नरकान् स्मरन् ॥६८॥**

खसेमा खड्ग डरले तुरुन्तै पर्छ है लिनू
स्मृतिखड्ग खसेमा त नरकै संझिदै लिनू ॥६८॥

अन्वयार्थ : *तत्र = त्यहाँ, यथा = जस्तै, भ्रष्टं = खसेको, खड्गं = खड्गलाई, सभयः = डरले युक्त हुँदै (डराउदै), त्वरन् = छिटो छिटो, गृह्णीयात् = लिनु पर्छ, तथा = त्यस्तै, भ्रष्टं = खसेको, स्मृतिखड्गं = स्मृतिरूपी खड्गलाई पनि, नरकान् स्मरन् = नरकहरूको याद गर्दै, गृह्णीयात् = लिनुपर्छ ।*

जसरी खड्गयुद्धमा आफ्नो हातबाट तर्वार (खड्ग) फुत्कियो भने शत्रुले मारिहाल्छ कि भन्ने डरले आत्तिँदै तुरुन्तै हतार हतार गरी त्यसलाई समातिहाल्नुपर्छ त्यसरी नै यो क्लेशयुद्धमा पनि जब चित्तबाट स्मृतिरूपी खड्ग फुत्केर जान्छ तब तुरुन्तै नरकको याद गर्दै फेरि स्मृतिलाई कायम गरिहाल्नुपर्छ । किनकि स्मृतिउपस्थानले नै क्लेशहरूलाई प्रहार गर्ने हो । यदि त्यही फुत्कियो भने त हामी क्लेशका वशमा गइहाल्छौं र अकुशल कर्म गरी नरकतिर लागिहाल्छौं । त्यसकारण नरकको याद गरेर स्मृतिलाई वापस ल्याउनुपर्छ ।

> **विषं रुधिरमासाद्य प्रसर्पति यथा तनौ ।**
> **तथैव च्छिद्रमासाद्य दोषश्चित्ते प्रसर्पति ॥६९॥**

पुगी रागतमा जस्तै विष फैलिन्छ देहमा
त्यस्नै भेटाउँदा छिद्र दोष फैलिन्छ चित्तमा ॥६९॥

अन्वयार्थ : *यथा = जस्तै, विपं = विप, रुधिरं = रगतलाई, आसाद्य = भेटाएर, तनौ = शरीरमा, प्रसर्पति = फैलिन्छ, तथा =त्यस्नै, दोपः = दोप, छिद्रं आसाद्य = छिद्र भेटाए पछि (छेद पाएर), चित्ते = चित्तमा, प्रसर्पति = फैलिन्छ ।*

जसरी कुनै घाउ आदिबाट अलिकति पनि रगतको सम्पर्क पाउने वित्तिकै विष शरीरभरि नै फैलिहाल्छ त्यसरी नै चित्तमा अलिकति मात्र स्थान पायो भने पनि क्लेश आदि दोषको हूल नै पसेर मनभरि फैलिन्छ । अतः अति सानो क्लेशको अंशलाई पनि चित्तमा छेद (प्रवेश) दिनुहुँदैन, तुरुन्तै प्रहाण गर्नको लागि तत्पर भएर रहनुपर्छ । नपत्याउने खोलाले बगाउँछ भने जस्तै नपत्याउँदो क्लेशले पनि डुबाइदिन्छ । त्यसैले क्लेशलाई छिर्नै दिनुहुन्न ।

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः ।
स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात्तथा व्रती ॥७०॥

तेलको पात्र बोकेर खड्गधारीसँगै हिंडी
खसे मर्ने डर भए जस्तै तत्पर होस् ब्रती ॥७०॥

अन्वयार्थ : *यद्वत् = जसरी, असिहस्तैः = तरवार हातमा बोक्नेहरूद्वारा, अधिष्ठितः = सँगसँगै भएको (निरीक्षण गरिएको), तैलपात्रधरः = तेलको पात्र बोकेको व्यक्ति, स्खलिते = पोखिएमा, मरणत्रासात् = मरिन्छ कि भन्ने डरले, तत्परः स्यात् = तत्पर (होशियार) हुनुपर्छ, तथा = त्यस्तै, ब्रती = संवर धारणगरेको व्यक्ति पनि (त्यसरी होशियार हुनुपर्छ) ॥*

कुनै व्यक्तिलाई यदि त्यस्तै खालको चण्ड राजाले तेलले भरिएको भाँडो दिएर तरवारधारीहरूलाई उसको पछाडि पछाडि सँगसँगै निरीक्षण गर्न पठायो र “तेलको एक थोपा पनि भूईंमा नपोखेर लैजा, नत्रभने तेरो प्राण आजै लिइनेछ” भनेर चिप्लो बाटोमा हिंडायो भने त्यो व्यक्ति ‘यदि म यहाँ लडे या यो तेल पोखियो भने यिनीहरूले तत्कालै मलाई मार्छन्’ भन्ने त्रासले जति होशियार र तत्पर भएर हिंड्नु पर्ला त्यस्तै बोधिसत्वसंवर धारण गरेका व्यक्ति पनि यी क्लेशद्वारा अलिकति पनि गिर्नपुगियो भने त नरक आदिमा दुःख भोग्नुपर्ला भन्ने डरले त्यत्तिकै सावधान र प्रयत्नशील हुनुपर्छ ।

तस्मादुत्सङ्गगे सर्पे यथोत्तिष्ठति सत्वरम् ।
निद्रालस्यागमे तद्वत् प्रतिकुर्वीत सत्वरम् ॥७१॥

काखमा सर्प आएमा जस्तै उठ्छ हतारमा
निद्रालस्य हुँदा त्यस्तै हटाउनु हतारमा ॥७१॥

अन्वयार्थ : *तस्मात् = त्यसकारणले, सर्पे = सर्प, उत्सङ्गगे = काखमा आएमा, यथा = जसरी, सत्वरम् = हतारमा (चाँडै नै) उत्तिष्ठति = उठ्दछ, तद्वत् = त्यसरी नै, निद्रालस्यागमे = निद्रा र आलस्य आएमा पनि, सत्वरम् = चाँडै नै, प्रतिकुर्वीत = प्रतिकार गर्नू (हटाउनू)*

जसरी आफ्नो काखमा सर्प आयो भने ‘लौ यसले मलाई टोक्ने भयो’ भनेर आत्तिँदै हतार हतार गरी उठ्नुपर्छ त्यस्तै निद्रा, आलस्य, मिद्ध, स्त्यान आदिले गर्दा अल्छीपन आएमा तुरुन्तै प्रतिपक्ष भावनाद्वारा प्रतीकार गरिहाल्नुपर्छ ।

यसरी प्रयत्न गर्दागर्दै पनि कतै हल्कारूपमा चुकियो भने (शूरस्खलितन्यायले) तत्काल प्रतीकार गरेर पुनः यस्तो नहोस् भनी प्रयत्न गर्नुपर्छ । त्यसैले आचार्य भन्नुहुन्छ-

एकैकस्मिँश्छले सुष्ठु परितप्य विचिन्तयेत् ।
कथं करोमि येनेदं पुनर्मे न भवेदिति ॥७२॥

प्रत्येक त्रुटिमा राम्रो तड्पिई गर्नु चिन्तन
गर्नू कसरी यो फेरि नहोस् भन्ने लिनू मन ॥७२॥

अन्वयार्थ : *एकैकस्मिन् = एक एक, छले = त्रुछिमा, सुष्ठु = राम्ररी, परितप्य = पश्चाताप गरेर, विचिन्तयेत् = चिन्तन गर्नू कि, कथं = कसरी, करोमि = गरुँ ? येन = जसले गर्दा, मे = मेरो, पुनः = फेरि, इदं = यो (यस्तो), न भवेद् इति = नहोस् ।*

प्रत्येक छल अर्थात् त्रुटी, गल्ती या भूलप्रति राम्रोसँग पश्चाताप गरेर "अहो, गर्दिन भन्दाभन्दै, थाहा पाउँदापाउँदै पनि मेरो भूल भइहाल्यो, अब कसरी चलेमा फेरि यस्तो न होला' भन्ने सोच्नुपर्छ। अर्थात् फेरि शिथिल भइहाल्नुहुँदैन र सुधारको लागि प्रयत्न गरिराख्नुपर्छ।

संसर्गं कर्म वा प्राप्तमिच्छेदेतेन हेतुना।
कथं नामास्ववस्थासु स्मृत्यभ्यासो भवेदिति ॥७३॥

त्यसैकारण सत्संग या प्राप्त कर्म चाहनू
कसरी यी अवस्थामा स्मृति अभ्यास होस् भनी ॥७३॥

अन्वयार्थ : एतेन हेतुना = यही कारणले, (त्रुटि हुन नपाओस् या भैहाले पछि कसरी अघि बढ्ने भन्ने थाहा पाउनका लागि), संसर्गं = सत्संग, वा = अथवा, प्राप्तं कर्म = उनीहरूवाट प्राप्त भएको कर्मको, इच्छेत् = इच्छा राख्नुपर्छ कि, कथं नाम = के उपायले, आसु अवस्थासु = यी अवस्थाहरूमा, (क्लेशहरूले सताएको वेलामा) स्मृत्यभ्यासः = स्मृतिको अभ्यास, भवेत् = होला ? इति।

स्मृति हराएको वेला या क्लेशहरूले दवाएको वेलामा कसरी स्मृति-सम्प्रजन्य राख्ने भन्ने कुराको लागि नै सत्संग चाहिन्छ या ती सत्पुरुषहरूले के गर्न भन्छन् त्यो कर्म गर्न इच्छुक हुनुपर्छ। ती सत्पुरुष भनेका नै सद्गुरु आचार्य, उपाध्याय या त्यस्ता बहुश्रुत (धेरै पक्षवाट धेरै कुराको अध्ययन गरेका) हुन् जो पछुतोलाई हटाइदिन कुशल छन्। त्यस्ताको संगत गर्न खोज्नुपर्छ र उनकै आश्रयमा रहनुपर्छ। अथवा त्यस्ताले सिकाएको अनुशासन, उनले देखाइदिएको उपाय या उनले दिएको दण्डजस्ता कर्महरूमा भर पर्नुपर्छ।

यसप्रकार जतिखेर पनि तत्पर भैराख्नु नै तात्पर्य बल हो र यसको अभ्यास धेरै महत्वपूर्ण हुन्छ। त्यसपछि आत्मविधेयताबलको बारेमा आचार्य बताउनुहुन्छ–

लघुं कुर्यात् तथात्मानमप्रमादकथां स्मरन्।
कर्मागमाद् यथा पूर्वं सज्जः सर्वत्र वर्तते ॥७४॥

अप्रमाद कथा सम्झी हलुका हुनु आफु नै
जस्तै काम गर्नु अघि तैयार व्यक्ति, बन्दछन् ॥७४॥

अन्वयार्थ : अप्रमादकथां = अप्रमादसम्बन्धी कथाहरू, स्मरन् = सम्झिँदै, आत्मानं = आफूलाई, तथा = त्यसरी, लघु कुर्यात् = हल्का (तनाव या भारिपनरहित) स्फूर्त गराउनू, यथा = जसरी, कर्मागमात् पूर्वं = काम थाल्नुभन्दा अघि, सर्वत्र = सबै ठाउँमा, सज्जः = तयारी गरेको व्यक्ति, वर्तते = रहन्छ।

अप्रमाद कथा (होशियारी सिकाउने कुरा)हरूलाई याद गर्दै आफूलाई (काय, वाक्, चित्तसहित नै) यसरी हल्का र स्फूर्त राख्नुपर्छ जसरी कुनै काम थाल्नुभन्दा अघि एक तयार (सावधानी) व्यक्तिले सबै काममा आफूलाई हल्का राख्छ।

यथैव तूलकं वायोर्गमनागमने वशम्।
तथोत्साहवशं यायाद् ऋद्धिश्चैवं समृध्यति ॥७५॥

जसरी वशमा हुन्छ वायुको गतिमा रुई
त्यस्तै उत्साहवशमा जानू ऋद्धि पनि हुने ॥७५॥

अन्वयार्थ : यथा एव = जसरी, तूलकं = रुई (कपासको टुक्रा) वायो: = वायुको, गमनागमने = आउनु जानुमा, वशम् = अधीन छ, तथा = त्यसरी नै, उत्साहवशं = उत्साहको वशमा, यायात् = जानु, एवं = यसरी नै, ऋद्धिश्च = ऋद्धि सिद्धि पनि, समृध्यति = सम्पन्न हुन्छ ।

जसरी एउटा सानो कपासको टुक्रा (रुई) कता जान्छ भन्ने कुरा वायुको गति कतातिर छ भन्ने कुरामा निर्भर रहन्छ त्यसरी नै आफू पनि कता जाने हो भन्ने कुरा उत्साहको वशमा हुनुपर्छ । बोधिसत्वहरूको गति वीर्यको वशमा हुन्छ र हुनुपर्छ । यसरी अभ्यास गरियो भने आकाशगमन जस्ता ऋद्धिहरू पनि प्राप्त हुनसक्ने हुन्छ ।

परात्मसमता र परात्मपरिवर्तनको विषयमा अब पछाडि आउने ध्यानपारमिताको परिच्छेदमा दिइने भएकोले यहाँ उल्लेख गरिएको छैन ।

बोधिचर्यावतारको 'वीर्य पारमिता' नामक सातौं परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त भयो ।

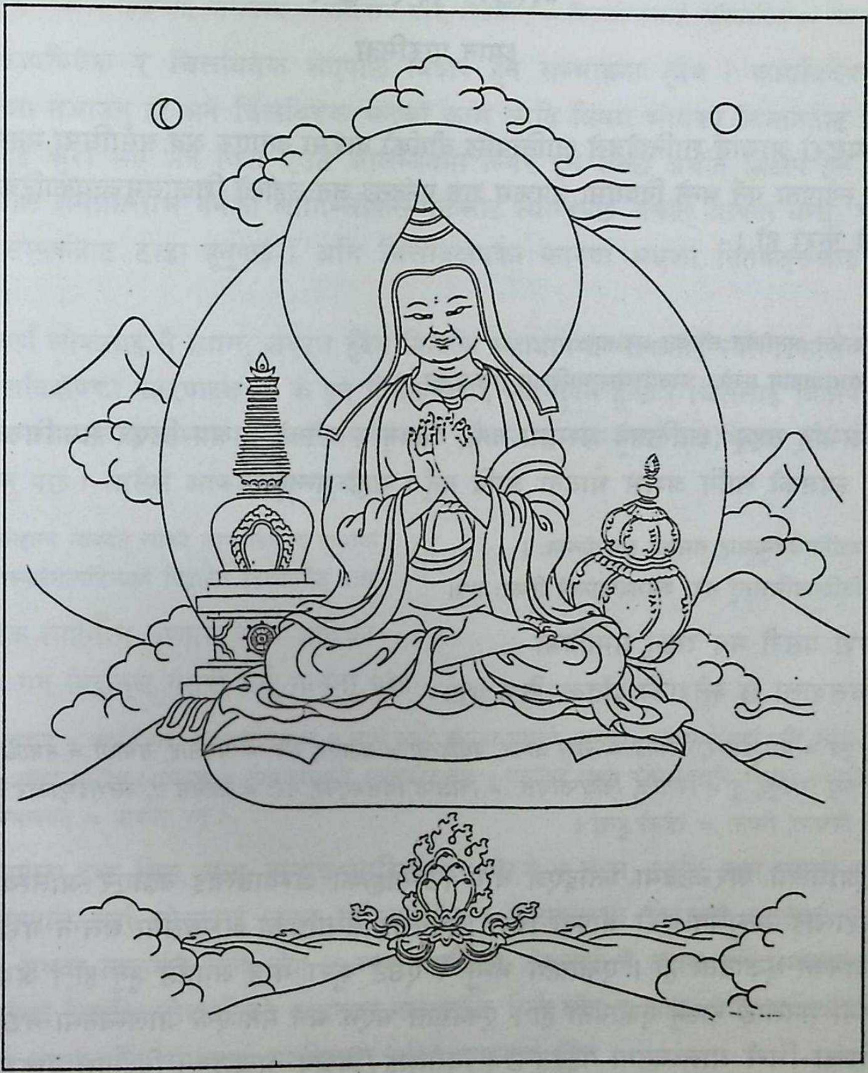

आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान (अतीश)

[भारतको पूर्वी वङ्गालमा राजकुलमै जन्मिएका एघारौं शताव्दीका विक्रमशील महाविहारका आचार्य अतीश । आफ्नो समयमा बौद्ध दर्शनका सर्वश्रेष्ठ विद्वान् रहनुभएका अतीशले नेपाल हुँदै ठमेलको थंवहिल (भगवान् वहाल) स्थापना गरेर तिव्वतमा गई भ्रमले क्रमशः तान्त्रिक सन्ध्याभाषाको गलत अर्थ गर्ने प्रचलन बढ्दै जानाले त्यहाँ विग्रिएको अवस्थाको वुद्धधर्मलाई पुनरुद्धार गर्नुभएको थियो । उहाँले लेखेका र तिव्बती भाषामा सहानुवाद गरेका ग्रन्थहरू २०० भन्दा बढी छन् तापनि उहाँको सबभन्दा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वोधिपथप्रदीप' हो ।]

आठौं परिच्छेद

२४

ध्यान पारमिता

यसरी आचार्य शान्तिदेवले क्षान्तिपछि वीर्यको बारेमा बताएर अब समाधिमा मनलाई किन र कसरी स्थापना गर्ने भन्ने विषयमा उपक्रम शुरु गर्नुहुन्छ जुन उहाँको शिक्षासमुच्चयकारिका २० मा बताइएको कुरा हो।

जस्तै :-

> क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः ।
> समाधानाय युज्येत भावयेच्चाशुभादिकम् (शि.स.का. २०)

अर्थात् सहनू (क्षान्तिको अभ्यास गर्नू), सिक्नू र वनको आश्रय लिएर समाधिको निमित्त लागिपर्नू, त्यसको लागि अशुभ भावना आदि गर्नू। उहाँ भन्नुहुन्छ -

> वर्धयित्वैवमुत्साहं समाधौ स्थापयेन्मनः ।
> विक्षिप्तचित्तस्तु नरः क्लेशदंष्ट्रान्तरे स्थितः ॥१॥

वढाई जोश यसरी मन राख्नू समाधिमा
विक्षिप्तचित्तवाला छ क्लेशको दाँतका विच ॥१॥

अन्वयार्थ : *एवं = यस प्रकार, उत्साहं = जोश जाँगर, वर्धयित्वा = बढाएर, मनः = मनलाई, समाधौ = समाधिमा, स्थापयेत् = स्थापना गर्नू (राख्नू), तु = किनकि, विक्षिप्तचित्तः = विक्षिप्त चित्तभएको, नरः = मानिस त, क्लेशदंष्ट्रान्तरे = क्लेशरूपी दाह्राहरूको विचमा, स्थितः = रहेको हुन्छ।*

अघिल्लो परिच्छेदमा बताइएझैं वीर्य (उत्साह)को अभ्यासलाई बढाएर आलस्य र निद्रा जस्ता कुरालाई उन्मूलन गरी आफ्नो चित्त (मन)लाई समाधिको अभ्यासमा संलग्न गराउनुपर्छ। समाधि भनेको एकाग्रता हो। एकाग्रता भन्नु नै एउटै कुरा मात्र अगाडि हुनु हो। अर्थात् एउटै आलम्बनमा मनलाई राख्नु एकाग्रता हो। एकाग्रता भएन भने मन एकै आलम्बनमा नरहेर छिन-छिनमै भिन्दा-भिन्दै आलम्बनमा गइरहन्छ। त्यसैलाई 'विक्षेप' भन्दछन्। विक्षेपले युक्तभएको मन क्लेशरूपी दाह्राहरूको बिचमा रहेको समान हुन्छ। त्यसलाई क्लेशले जतिखेर पनि चबाइदिन सक्छन्, पिसिदिन सक्छन् चाहे त्यो वीर्यवान् नै किन नहोस्। त्यसैले एकाग्रता (समाधि)को अभ्यास जरुरी हुन्छ।

समाधिका विपक्षहरूलाई हटाउन भूमिका बाँध्दै आचार्य भन्नुहुन्छ-

> कायचित्तविवेकेन विक्षेपस्य न सम्भवः ।
> तस्माल्लोकं परित्यज्य वितर्कान् परिवर्जयेत् ॥२॥

कायचित्तविवेकैले विक्षेप हुन्न सम्भव
त्यसैले लोक छोडेर वितर्कहरू छोडनू ॥२॥

अन्वयार्थ : *कायचित्तविवेकेन = कायविवेक र चित्तविवेकद्वारा, विक्षेपस्य = विक्षेपको, सम्भवः न = सम्भव हुँदैन । तस्मात् = त्यसकारण, लोकं = लोकलाई, परित्यज्य = परित्याग गरेर, वितर्कान् = वितर्कहरूलाई, परिवर्जयेत् = त्याग गर्नू ।*

कायविवेक र चित्तविवेक भएपछि विक्षेप हुने सम्भावना हुँदैन । कायविवेक भनेको जनसम्पर्कमा नआउनु हो भने चित्तविवेक भनेको काम आदि विषय भोगको चिन्तनबाट मुक्त हुनु हो । यी दुई कुरा भए भने चित्त एउटै आलम्बनमा स्थिर हुन सक्छ अर्थात् विक्षेप हुन सक्दैन । त्यसैकारणले समाधिलाभ गर्नको लागि लोकसम्पर्कलाई त्याग्नुपर्छ अर्थात् आफ्ना बन्धु, परिवार, आदिको सम्पर्कबाट टाढा हुनुपर्छ । अनि चित्तविक्षेपका कारण भएका वितर्कहरूलाई हटाउन थाल्नुपर्छ ।

यहाँ लोकलाई नै त्याग्नु जरुरत हुँदैन किनकि महायानमा लोकलाई त्याग्ने काम गरिँदैन । परन्तु चित्तविक्षेपका कारणहरू के के हुन् तिनीहरूलाई त्याग्नुपर्ने हुन्छ । चित्तलाई विक्षेप गराउने खालको अनावश्यक जनसम्पर्क र त्यस्तै किसिमको संगतलाई त्याग्नुपर्छ एवं मिथ्या तर्क-वितर्कहरू पनि त्याग्नु पर्छ । त्यसैले आचार्य भन्नुहुन्छ -

स्नेहान्न त्यज्यते लोको लाभादिषु च तृष्णाया ।
तस्मादेतत्परित्यागे विद्वानेवं विभावयेत् ॥३॥

स्नेहले लोक त्यागिन्न तृष्णाले लाभ आदिका
त्यो त्याग गर्न विद्वान्ले यसरी गर्नू भावना ॥३॥

अन्वयार्थ : *स्नेहात् = स्नेहले गर्दा र, लाभादिपु च = लाभ आदि कुराना भएको, तृष्णया = तृष्णाले गर्दा पनि, लोकः = लोक, न त्यज्यते = त्याग गरिँदैन । तस्मात् = त्यसकारणले, एतत्परित्यागे = यसलाई त्याग गर्नको लागि, विद्वान् = वुद्धिमानले, एवं = यसरी, विभावयेत् = भावना गर्नू ।*

आफ्ना इष्ट-मित्र, बन्धु-ब्रान्धव आदिसँगको स्नेहले र लाभ, स्तुति, यश, मान, सुखजस्ता कुराको तृष्णाले गर्दा लोकलाई त्याग गर्न सकिँदैन । त्यसकारण विद्वानले यसलाई त्याग गर्ने सम्बन्धमा अथवा तात्पर्यले यिनै स्नेह र लाभ आदिको दोषलाई नै त्याग गर्ने सम्बन्धमा यसरी भावना गर्नुपर्छ किनकि लोकप्रतिको बन्धनका कारणहरू यिनै स्नेह र लाभ आदिका तृष्णा नै हुन् । यिनलाई नै त्यागे पछि लोकलाई त्यागिरहनु पनि आवश्यक हुँदैन ।

त्यो भावना कसरी गर्ने भन्ने कुरा बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

शमयेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेश विनाशमित्यवेत्य ।
शमयः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षया ऽभिरत्या ॥४॥

शमथै र विपश्यना मिलेमा गरिदिन्छन् अनि क्लेशनाश जानी
शमथै पहिले त गर्नुपर्छ निरपेक्षै रति लोकमा वनाई ॥४॥

अन्वयार्थ : *शमथेन = शमथका साथमा, विपश्यनासुयुक्तः = विश्यनालाई राम्रोसँग मिलाइएकाल, क्लेशविनाशं = क्लेशको विनाश, कुरुते = गर्दछ, इति = भन्ने यस्तो, अवेत्य = वुझेर, प्रथमं = पहिले, शमथः = शमथलाई नै, गवेपणीयः = प्राप्त गर्न खोज्नुपर्छ । स च = त्यो शमथ त, लोके = लोकमा, निरपेक्षया = कुनै अपेक्षा नभएको, अभिरत्या = प्रेमले गर्नुपर्छ ।*

'शमथका साथमा विपश्यनालाई मिलाएर अभ्यास गर्नेवालाले क्लेशहरूलाई प्रहाण गर्न सक्छ' भन्ने बुझेर पहिले शमथको प्राप्ति गर्न प्रयास गर्नुपर्छ। त्यो शमथ प्राप्त हुनलाई लोकप्रति अनासक्त (निरपेक्ष) भएर प्रेम गर्न सक्नुपर्छ।

शमथ भनेको चित्तको एकाग्रता अथवा समाधि नै हो र विपश्यना भनेको समस्त धर्महरूको यथार्थ स्वरूपलाई देख्नु या जान्नु हो। प्रज्ञा भनेको पनि त्यही देखाइ हो। चित्त एकाग्र छैन भने कुनै पनि कुरामा गहिरिएर जान सक्दैन। त्यसकारण शमथको आवश्यकता पर्छ। विक्षिप्त चित्तको विपश्यना सतही हुन्छ र सूक्ष्म तहसम्म भेदन गर्न सक्दैन। त्यसकारण भगवान्ले *"समाहितो यथाभूतं पजानाति" (संयुत्त निकाय, खन्धवग्ग, समाधिसुत्त)* भन्नुभएको हो। परन्तु शमथले मात्र क्लेशहरूको पूर्णरूपले विनाश हुन सक्दैन। त्यसको लागि विपश्यना (प्रज्ञाको अभ्यास) नै चाहिन्छ। अतः सम्यक्मार्गमा यी दुवै पक्षहरूको समायोजन हुनु आवश्यक हुन्छ। त्यसैले त्यस्तो मार्गलाई शमथविपश्यनायुगनद्धवाही मार्ग भनिन्छ र त्यसैबाट मात्र बुद्धताको प्राप्ति हुन्छ। सही बौद्ध मार्ग त्यही हो।

अतः शमथको अभ्यास पहिले भए पछि विपश्यनालाई गहिराइमा लग्न सकिने भएकोले पहिले शमथको अभ्यास गर्नुपर्छ भनिएको हो। शमथ प्राप्ति हुनको लागि लोकव्यवहार (लोकैषणा, वित्तैषणा आदि) प्रतिको आसक्तिलाई त्याग्नै पर्छ। परन्तु लोकलाई नै त्यागेर जानु त पर्दैन। त्यसैले लोकसँग कुनै पनि अपेक्षा नराखिएको निरपेक्ष प्रेम हुनुपर्छ। त्यो आसक्तिलाई हटाउन कस्तो विवेक पैदा गर्नुपर्छ भन्ने दर्शाउन आचार्य भन्नुहुन्छ –

> कस्यानित्येष्वनित्यस्य स्नेहो भवितुमर्हति।
> येन जन्मसहस्राणि द्रष्टव्यो न पुनः प्रियः ॥५॥

आफै अनित्य कस्को यी अनित्यैप्रति स्नेह होस्
किनकि जन्म हज्जारौंमा पनि देखिँदैन त्यो ॥५॥

अन्वयार्थ : *कस्य अनित्यस्य = कुन अनित्य व्यक्तिको, अनित्येषु = अनित्य कुराहरूमा, स्नेहः = प्रेम, भवितुं अर्हति = हुनु उपयुक्त हुन्छ ? येन = जसले गर्दा, जन्मसहस्राणि = हजारौं जन्ममा पनि, प्रियः = प्रिय पात्र, पुनः = फेरि, न द्रष्टव्यः = देख्न सकिंदैन।*

आफू स्वयं अनित्य भएर पनि कुन सचेत व्यक्तिले अरु अनित्य कुरा जस्तैः- पुत्र, धन, मान आदिमा आसक्त भएर स्नेह गर्नु उपयुक्त हुन्छ ? किनकि सबै अनित्य भएका हुनाले नै हज्जारौं जन्मसम्म घुम्दा घुम्दा पनि त्यो प्रिय पात्र फेरि देखापर्दैन।

> अपश्यन्नरतिं याति समाधौ न च तिष्ठति।
> न च तृप्यति दृट्वापि पूर्ववद् बाध्यते तृषा ॥६॥

नदेख्दा धैर्य पाउन्न त्यो रहन्न समाधिमा
देखे पनि तृप्त हुन्न तृष्णाले हुन्छ पीडित ॥६॥

अन्वयार्थ : *अपश्यन् = नदेख्दा, अरतिं याति = अधैर्यमा प्राप्त हुन्छ (धैर्य हराउंछ), समाधौ च = समाधिमा पनि, न तिष्ठति*

= रहन सक्दैन, दृष्ट्वा अपि = देखेर पनि, न च तृप्यति = अघाउन सक्दैन, पूर्ववत् = पहिले झैं, तृपा = तृष्णाद्वारा, वाध्यते = पीडित हुन्छ ।

प्रियजनहरूलाई नदेख्दा पनि भेट भएन भन्ने चिन्ताले व्यक्ति सधै अस्थिर र अधीर हुन पुग्छ जसले गर्दा उसको चित्त समाधिमा पनि स्थिर हुन सक्दैन । अर्थात् उसलाई शमथप्राप्ति हुँदैन । यदि त्यस्ता प्रियजनहरूलाई देख्यो भने पनि उसलाई तृप्ति हुँदैन, फेरि फेरि हेर्ने तृष्णाले सताइरहन्छ । आखिरमा नदेख्दा पनि उसलाई शान्ति हुँदैन भने देख्दा पनि उसलाई शान्ति हुँदैन ।

न पश्यति यथाभूतं संवेगादवहीयते ।
दह्यते तेन शोकेन प्रियसंगमकांक्षया ॥७॥

यथार्थ देख्न सक्दैन संवेगैदेखि गिर्दछ
प्रिय संयोग-इच्छाले शोकले त्यो त जल्दछ ॥७॥

__अन्वयार्थ :__ प्रियसंगनकांक्षया = प्रियहरूसँग समागम गर्ने चाहनाले, यथाभूतं = जत्ताको तत्तो, न पश्यति = देख्न सक्दैन, संवेगाद् = संसारको दुःख प्रतिको उद्वेगबाट, अवहीयते = रहित (हीन) हुन पुग्छ, तेन शोकेन = त्यही शोकले, दह्यते = जल्दछ ।

प्रियहरूको संगत गरिराख्ने चाहनाले गर्दा व्यक्तिले यथार्थता देख्न सक्दैन । अर्थात् गुणलाई गुणकै रूपमा र दोषलाई दोषकै रूपमा देख्न सक्दैन । फेरि संसारको दुःख देखेर पार पाउनलाई चित्तमा जुन संवेग (उद्वेग) पैदा गरिएको थियो या हुनुपर्छ, त्यो पनि नष्ट (क्षीण) हुन पुग्छ (घटेर जान्छ) । त्यतिमात्र नभएर उक्त प्रियपात्रसँग वियोग भएकोमा शोकले गर्दा बारम्बार तड्पिरहन्छ । अतः प्रियको संगत सबै अनर्थहरूको कारण हो ।

तच्चिन्तया मुधा याति ह्रस्वमायुर्मुहुर्मुहुः ।
अशाश्वतेन धर्मेण धर्मो भ्रश्यति शाश्वतः ॥८॥

त्यो चिन्ताले व्यर्थ हुन्छ आयु छोटो निरन्तर
अनित्य धर्मले स्थायी धर्मलाई विगार्दछ ॥८॥

__अन्वयार्थ :__ तच्चिन्तया = त्यसको चिन्ताले, आयुः = आयु, मुहुर्मुहुः = बारंबार, मुधा = व्यर्थैमा, ह्रस्वं याति = छोटो हुन पुग्छ, अशाश्वतेन = अनित्य, धर्मेण = धर्मले, शाश्वतः = चिरस्थायी, धर्मः = धर्म, भ्रश्यति = नाश हुन्छ ।

ती प्रियपात्रहरूको चिन्ताले, उनीहरूसँग भेटघाट गर्ने र रमाइलो गर्ने आकांक्षाले, उनीहरूको गुण सम्झेर त्यसप्रति बारम्बार चिन्तन गरिरहनाले मानसिक शक्तिको अपव्यय भई निरन्तर आयु क्षीण हुँदै जान्छ जसको कुनै प्रयोजन नै छैन र व्यर्थमै त्यस्तो भएको हो । यसप्रकार यी विनाशशील, क्षणभंगूर धर्म(वस्तुहरू)ले गर्दा सदाकालको लागि कल्याणकारक चिरस्थायी बुद्धत्वलाभको हानि भइरहेको हुन्छ ।

यहाँ उनीहरूको संगतले केही सुख र हित त भएकै हुन्छ र पनि किन यसरी सर्वथा बेठीक भनेर त्याज्य बनाइयो ? भन्ने प्रश्नको लागि आचार्य भन्नुहुन्छ –

बालैः सभागचरितो नियतं याति दुर्गतिम्।
नेष्यते विषभागश्च किं प्राप्तं बालसङ्गमात् ॥९॥

वालको झैं आचरणले जानु दुर्गति निश्चित
उल्टो झन् चाहँदैनन् ती के पायौ बालसंगले ॥९॥

अन्वयार्थ : *वालैः = अज्ञानीहरूसँग, सभागचरितः = समान आचरण गर्ने व्यक्ति, नियतं = निश्चितरूपमा, दुर्गतिं याति = दुर्गतिमा जान्छ, विपभागश्च = त्यसको विरुद्ध आचरण त, नेष्यते = मन पराइदैन, (अव) वालसङ्गमात् = वाल (अज्ञानी)हरूको संगतले, किं प्राप्तं = के पाइयो त ?*

बालजनहरूसँग मिल्ने आचरण गर्ने हो भने दुर्गतितिर जानु निश्चितै छ। त्यसको उल्टो (नमिल्ने) आचरण गर्दा उनीहरूले त्यो रुचाउँदैनन्। अनि त्यस्ताको समागमले के हात लाग्यो त ?

जो आर्य होइनन् अर्थात् भूमि प्राप्त गरेका छैनन् तिनीहरूलाई बुद्ध धर्ममा सामान्यतया 'बालजन' या 'पृथग्जन' भन्ने गरिन्छ। हाम्रा प्रियपात्रहरू, नाता कुटुम्ब आदि प्रायः बाल पृथग्जन नै हुन्छन्। उनीहरूले आर्य धर्म अनुसरण नगर्ने हुनाले उनीहरूसँग समान आचरण गर्नु राम्रो हुँदैन भने असमान आचरण गर्दा उनीहरू रिसाउँछन्, द्वेष गर्छन्, त्यसैले उनीहरूको संगतमा रहेर के लाभ भयो त ?

क्षणाद् भवन्ति सुहृदो भवन्ति रिपवः क्षणात्।
तोषस्थाने प्रकुप्यन्ति दुराराधाः पृथग्जनाः ॥१०॥

छिनमै मित्र ती हुन्छन्, छिनमै शत्रु बन्दछन्
रिसाउँछन् तुष्टिस्थान्मा दुराराध्य पृथग्जन ॥१०॥

अन्वयार्थ : *क्षणात् = छिनमै, सहृदो भवन्ति = मित्र बन्दछन्, क्षणात् = छिनमै, रिपवो भवन्ति = शत्रु वन्दछन् , तोपस्थाने = खुशी हुनुपर्ने स्थानमा, प्रकुप्यन्ति = रिसाउँछन् (अतः) पृथग्जनाः = पृथग्जनहरू, दुराराधाः = धेरै कठीनले मात्र आराधना सकिने गर्न हुन्छन् ।*

यी बाल-पृथग्जनहरूको केही ठेगान हुँदैन। छिनमै मित्र बन्छन् भने सानो कुरा नमिल्ने वित्तिकै शत्रु बन्न पुग्छन्। खुशी हुनुपर्ने स्थानमा पनि अज्ञानले गर्दा रिसाउन पुग्छन्। त्यसकारण उनीहरूको अनुसरण गरेर पनि उनीहरूलाई खुशी पार्न कहिल्यै सकिँदैन। अतः यी बालपृथग्जनको आराधना गर्नु धेरै कठीन हुन्छ।

हितमुक्ताः प्रकुप्यन्ति वारयन्ति च मां हितात्।
अथ न श्रूयते तेषां कुपिता यान्ति दुर्गतिम् ॥११॥

रिसाउँछन् हितै भन्दा रोक्छन् मेरो हितै पनि
नसुनेमा उनीलाई रिसाई जान्छन् दुर्गति ॥११॥

अन्वयार्थ : *हितम् उक्ताः = हितवचन भनिएमा, प्रकुप्यन्ति = रिसाउँछन्, मां च = मलाई पनि, हितात् = हित हुने कुरावाट, वारयन्ति = पन्छाउँछन् , अथ = अव, तेपां = तिनीहरूको कुरा, न श्रूयते = न सुनिदिने हो भने, कुपिताः = रिसाएका छँदा, दुर्गतिं यान्ति = दुर्गतिमा जान्छन् ।*

हित हुने कुरा बताउँदा पनि रिसाउँछन् भने मलाई हित हुने कुरा गर्न पनि दिँदैनन् । उनीहरूको भनाइलाई नमानेर आफ्नो काम गर्न थाल्ने हो भने पनि रिसाउँछन् र अन्तमा दुर्गतिमा पुग्छन् ।

'यस्तो गर्नु हुँदैन, यस्तो गर्नुपर्छ' भनेर उनीहरूको हित हुने कुरा भन्दाखेरि पनि रिसाउँछन् र त्यो हित हुने कुरा पनि गर्दैनन् । बरु मलाई नै "तँ बेकारको झन्झट र वाहियात कुरामा लाग्दैछस् र समय बर्बाद गर्दैछस् । जिन्दगी भनेको जसरी पनि, धन कमाऊ, मीठो खाउ, राम्रो लाउ, मोजमस्ती उडाउ, अरूको पर्वाह मनमा नल्याऊ' हो । तैंले त्यस्ता कुरा छोडिदे" भन्दै हित र कुशल कर्मबाट रोक्न खोज्छन् । यदि उनीहरूको कुरा नसुन्ने हो भने 'हाम्रो कुरा यो जावोले सुन्दैन, जहाँ मर्ने हो मरोस्' भनेर उल्टै द्वेष गर्ने, अरूका सामु निन्दा गर्ने, यो बिग्रियो भन्ने, कुदृष्टिले हेर्ने, रिसाउने जस्ता अकुशल कर्महरू गर्न पुग्छन् र स्वयंलाई दुर्गतितिर लैजान्छन् । यही हो, अनार्य बालपृथग्जनको दशा !

ईर्ष्योत्कृष्टात् समाद् द्वन्द्वो हीनान्मानः स्तुतेर्मदः ।
अवर्णात् प्रतिघश्चेति कदा बालाद्धितं भवेत् ॥१२॥

उत्कृष्टदेखि ईर्ष्यालु, समानैदेखि द्वन्द्व छ
हीनदेखि मान गर्ने, स्तुतिदेखि घमण्ड छ ।
दोषभन्दा द्वेष गर्छन् बालबाट कहाँ हित ? ॥१२॥

अन्वयार्थ : उत्कृष्टात् = उत्तमदेखि, ईर्ष्या = ईर्ष्या हुन्छ, समाद् = वरावरदेखि, द्वन्द्वः = झगडा हुन्छ, हीनाद् = तल्लोतहकादेखि, मानः = अभिमान हुन्छ, स्तुतेः = प्रशंसागरेवाट, मदः = घमण्ड (मात) हुन्छ, अवर्णात् = दोषप्राकाश गरेवाट, प्रतिघश्च = द्वेष पनि हुन्छ, इति = यसरी, बालाद् = वाल पृथग्जनबाट, कदा = कहिले, हितं भवेत् = हित हुन्छ र ?

विद्या, कुल, धन आदि कुरामा उत्कृष्ट व्यक्तिसँग यिनीहरू डाह (इर्ष्या) गर्दछन् र अरुको उन्नतिलाई सहन नसकेर विगार्ने काम गर्न थाल्छन् । आफूसमान दर्जाको व्यक्तिसँग यिनीहरू विवाद गर्ने, झगडा गर्ने हुन्छन् । आफूभन्दा तल्लोस्तरका व्यक्तिसँग फेरि 'म यस्तो, उस्तो, यस्ताको छोरा/छोरी, त्योसँग सँगै बस्ने खाने हूँ ?' भन्दै अभिमान गर्न पुग्छन् । कसैले 'तपाई त राम्रो' भन्दै केही टुटेफुटेका या हुँदैनभएका गुणको स्तुति-प्रशंसा गरिदियो भने पनि घमण्डले फुलेर १२ हातको नाक पसार्छन् । यदि उनीहरूको दोष औंल्याइदियो भने सहन नसकेर रिसाउँछन् र गालि गर्ने, द्वेष गर्ने हुन्छन् । यस्ता किसिमका बाल-पृथग्जनबाट पनि कहिले हित हुन सक्छ ?

आत्मोत्कर्षः परावर्णः संसाररतिसङ्कथा ।
इत्याद्यवश्यमशुभं किञ्चित् बालस्य बालतः ॥१३॥

आफ्नो उत्कर्ष, अरुको निन्दा, संसारको रति
यस्ता अशुभ नै सार्छन् वाले बालमा पनि ।१३॥

अन्वयार्थ : वालतः = वालपृथग्जनवाट, वालस्य = अर्को वालजनलाई, आत्मोत्कर्षः = आफ्नो उत्कृष्टताको वखान, परावर्णः = अरुको दोष कोट्याउनु, संसाररतिसङ्कथा = सांसारिक कुराप्रति असक्ति जगाउने (भोग विलासका) वयानहरू, इत्यादि =

यत्तै किसिमका अरु पनि, किञ्चित् = केही (व्यंग्यात्मक प्रयोग हो), अशुभं = अशुभहरू, अवश्यम् = अवश्य पनि प्राप्त हुन्छन् !

एउटा बालपृथग्जनसँग अर्को बालपृथग्जनले केही अशुभ कुराहरू अवश्य प्राप्त गर्दछ। ती के हुन् भने आफ्नो उत्कृष्टता या श्रेष्ठता देखाउन खोज्ने प्रवृति, अरुको दोषको आविष्कार गर्ने बानी (आफ्नो जीउको भैंसी नदेख्ने, अरुको जीउको जुम्रा देख्ने) र सांसारकै भोग विलासको कुरा मात्र गरेर यसमै आसक्त बनाइराख्ने आदत र यस्तै खालका अरु कुराहरू हुन्।

भन्दाखेरि त केही अशुभ भनियो परन्तु तात्पर्य के हो भने मनगगे अशुभ कुरा यसमै भइसक्यो र दुर्गतिमा जान यहाँभन्दा अकुशल अरू के चाहियो ?

एवं तस्यापि तत्सङ्गात् तेनानर्थसमागमः।
एकाकी विहरिष्यामि सुखमक्लिष्टमानसः ॥१४॥

त्यस्तै उस्को पनि हुन्छ, अनर्थैको समागम
अत: एक्लै रहन्छु म सुखले क्लेशमुक्त भै ॥१४॥

अन्वयार्थ : एवं = यसैगरी, तत्सङ्गात् = त्यो बालजनको सङ्गतले, तस्य अपि = अघिल्लो बालजनको पनि हुन्छ, तेन = त्यसो हुनाले, अनर्थसमागमः = यो अनर्थको समागम मात्र हो (अतः), एकाकी = एक्लै, अक्लिष्टमानसः = क्लेशले रहित मन गराएर, सुखं = सुखपूर्वक, विहरिष्यामि = विहार गर्नेछु।

ठीक त्यस्तै प्रकारले त्यो अर्को बालपृथग्जनबाट पनि अघिल्लो (अघि अकुशल सार्नेवाला) बालपृथग्जनले पनि तिनै अशुभ कुराहरू अवश्य पाएरै छाड्छ। अतः बालजनहरूको आपसी समागम भन्नु नै अनर्थहरूको समागम हो। त्यसैले म यिनीहरूको संगत छोडेर एक्लै रहन्छु र क्लेशले रहित मन गराएर सुखपूर्वक विहार गर्नेछु।

बालाद् दूरं पलायेत प्राप्तमाराधयेत् प्रियैः।
न संस्तवानुबन्धेन किन्तूदासीनसाधुवत् ॥१५॥

टाढै भाग्नू बालदेखि भेट्दा बोल्नु त प्रेमले
चिन्नुको निम्ति नगरी गर्नू साधु उदास झैं ॥१५

अन्वयार्थ : बालाद् = बालजनदेखि, दूरं = टाढा, पलायेत = भाग्नू, प्राप्तं = भेट भइहालेकालाई, प्रियैः = प्रिय व्यवहारले, आराधयेत् = आराधना गर्नू (भलाकुसारी गर्नू), (परन्तु) संस्तवानुबन्धेन = परिचय गर्दै अघिबढ्ने हिसाबले, न = होइन, किन्तु = परन्तु, उदासीनसाधुवत् = तटस्थ (उदासीन) भएर बसेको साधु झैं भएर गर्नू।

त्यस्ता बालजनहरूदेखि टाढै रहनुपर्छ र कथंकदाचित् दैवसंयोगले भेट भइहाल्यो भने उसलाई प्रियवचन आदिले प्रेमपूर्ण तरीकाबाट साधु व्यवहार गर्नुपर्छ। त्यो पनि उसँग सुपरिचित हुँदै सम्बन्धलाई बढाउँदै जाने हिसाबले नभएर केवल एउटा उदासीन, तटस्थ, सदाचारी साधुको जस्तो उपेक्षाभावले मात्र व्यवहार गर्नुपर्छ र लामो संगत बढाउने काम गर्नुहुँदैन।

साधुजनले कसरी व्यवहार गर्छन् भन्ने कुरा बताउनुहुन्छ –

धर्मार्थमात्रमादाय भृङ्गवत् कुसुमान्मधु।
अपूर्व इव सर्वत्र विहरिष्याम्यसंस्तुतः ॥१६॥

धर्मलाई चाहिने नै लिई भ्रमर झैं मह
नौलो भई अपरिचित विहार गर्छु सर्वत्र ॥१६॥

अन्वयार्थ : कुसुमात् = फूलवाट, मधु = महलाई, भृङ्गवत् = भमराले लिए झैं, धर्माथमात्रं = धर्मको लागि चाहिने जति मात्र, आदाय = लिएर, सर्वत्र = सबैतिर, अपूर्व इव = पहिले नचिताएजस्तो गरी, असंस्तुत: = अपरिचितरूपमा, विहरिष्यामि = विहार गर्नेछु ।

जसरी भमराले फूलबाट आफूलाई चाहिने सारभूत रस मात्र निकालेर लिन्छ त्यसै गरी मैले पनि धर्मको निमित्त आवश्यक पर्ने कुरा मात्र लिएर सबै ठाउँमा विल्कुल अपरिचित नौलो व्यक्तिजस्तो बनेर विहार गर्नेछु ।

जीवन धान्नको लागि त केही कुरा आवश्यक परिहाल्छन् । त्यतिको लागि मात्र संसारमा केही सम्बन्ध राख्नु (भिक्षा, चीवर आदि ग्रहण गर्नु) पर्ने हो किनकि जीवन नभए धर्मै हुँदैन । त्योभन्दा वढी संसारमा आसक्ति हुनुहुँदैन ।

यसरी प्रियसँग संगति गराउने हेतु भएको स्नेहलाई पन्छाएर अब लाभ आदि तृष्णालाई कसरी हटाउने भन्ने कुराको विवेक दिंदै आचार्य भन्नुहुन्छ –

> लाभी च सत्कृतश्चाहमिच्छन्ति बहवश्च माम् ।
> इति मर्त्यस्य सम्प्राप्तान्मरणाज्जायते भयम् ॥१७॥

लाभी र सत्कृत म छु धेरैको प्रियपात्र छु
भन्दै मनुष्य आएको मृत्युदेखि डराउँछ ॥१७॥

अन्वयार्थ : अहम् = म, लाभी च = लाभी पनि छु, सत्कृतश्च = सत्कार पाएको पनि छु, माम् = मलाई, वहवश्च = धेरै जनाले, इच्छन्ति = मन पराउँछन् पनि, इति = यस्तो सोचाइले, मर्त्यस्य = मानिसलाई, सम्प्राप्तात् = आइहालेको, मरणात् = मृत्युवाट, भयं = डर, जायते = पैदा हुन्छ ।

मलाई यस लोकमा चीवर, पिण्डपात आदिको प्रशस्त लाभ भएकै छ, म धेरै जनाबाट पूजित भएकै छु, मलाई धेरै मानिसहरूले खुब मन पराउँछन् भन्ने जस्ता सोचाइबाट नै मानिसलाई आउन लागेको मृत्युदेखि डर पैदा हुन्छ ।

> यत्र यत्र रतिं याति मनः सुखविमोहितम् ।
> तत्तत् सहस्रगुणितं दुःखं भूत्वोपतिष्ठति ॥१८॥

जहाँ जहाँ गर्छ रति सुखको मोहले मन
त्यो त्यो हज्जार गुणको दुःख भैकन आउँछ ॥१८॥

अन्वयार्थ : सुखविमोहितं = सुखले मोहित भएको, मन: = मन, यत्र यत्र = जहाँ जहाँ, रतिं याति = प्रेम गर्न पुग्छ, तत्तत् = त्यो त्यो, सहस्रगुणितं = हजार गुणाको, दु:खं भूत्वा = दु:ख भएर, उपतिष्ठति = उपस्थित हुन पुग्छ (आइलाग्छ) ।

सुखको मोहले विमोहित भएको मन जुन जुन विषयमा पुग्छ त्यही त्यही विषय नै हजारौं गुणा ठूलो दुःख भएर उपस्थित हुन जान्छ । किनकि जीवनभर पाएको मान, सम्मान, लाभ आदि कुरालाई छोड्नुपर्दा जुन प्रियवियोगको दुःख आइलाग्छ त्यो धेरै नै पीडादायक हुन्छ ।

तस्मात्प्राज्ञो न तामिच्छेदिच्छातो जायते भयम् ।
स्वयमेव च यात्येतद् धैर्यं कृत्वा प्रतीक्षताम् ॥१९॥

त्यसैले प्राज्ञले इच्छा नगर्नू भय आउँछ
गरी धैर्य पर्खिदेऊ आफै नै यो हराउँछ ॥१९॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, प्राज्ञ: = वुद्धिमान्‌ले, ताम् = त्यो लाभ आदिको रति (तृष्णा)लाई, न इच्छेद् = न चाहनू, इच्छात: = त्यस्तो चाह (इच्छा)वाट, भयं जायते = डर उत्पन्न हुन्छ ।

अत: बुद्धिमान् व्यक्तिले ती लाभ, मान, धन, आदिको प्रेम (तृष्णा)लाई त्याग्नु पर्छ । अर्थात् त्यस्तो इच्छा गर्नुहुँदैन किनकि त्यही आसक्तिले त्यही इच्छाले गर्दा पछि भय उत्पन्न हुन्छ जसाट दु:ख भएको हुन्छ । बरु प्रतीक्षा गरिराख्ने हो भने त्यो भय पनि स्वयं जान्छ र प्रतीक्षा गर्ने हो भने त्यो तृष्णा पनि हराउँछ किनकि सबै धर्महरू नाशवान् छन् । तिनीको पछि लागिरहनु जरुरत नै छैन । स्थिर भएर प्रतीक्षा गर्नुपर्छ ।

बहवो लाभिनो ऽभूवन् बहवश्च यशस्विन: ।
सह लाभयशोभिस्ते न ज्ञाता:क्व गता इति ॥२०॥

धेरै लाभी भए त्यस्तै धेरै नै कीर्तिमान् भए
लाभकीर्तिसँगै कुन्नि कता पो यी सबै गए ॥२०॥

अन्वयार्थ : लाभिन: = लाभ प्राप्त गर्नेहरू, वहव: = धेरै, अभूवन् = भए, यशस्विनश्च = यशस्वीहरू पनि, वहव: अभूवन् = धेरै नै भए, ते = तिनीहरू, लाभयशोभि: सह = लाभ र यश (कीर्ति) सँगै, क्व गता इति = कहाँ गए भन्ने, न ज्ञाता: = थाहा पाइएको छैन ।

लाभ आदि प्राप्त गर्ने त इतिहासमा धेरै नै भएका छन्, कीर्ति आर्जन गरेका पनि धेरै भएका छन् परन्तु अहिले ती सबै कता गए कता ? केही थाहा छैन । लाभ र कीर्तिसहित कति व्यक्ति कहाँ विलाए केही नाम, निशाना छैन । अहिले इतिहासमा कीर्तिमान् भनेर चिनिने त केही व्यक्ति मात्र हुन् । परन्तु त्यस्ता व्यक्तित्वहरू त अतीतमा कति गए कति ! खै अहिले नाम-निशाना ?

मामेवान्ये जुगुप्सन्ति किं प्रहृष्याम्यहं स्तुत: ।
मामेवान्ये प्रशंसन्ति किं विषीदामि निन्दित: ॥२१॥

कोही निन्दा गर्दछन् त खुशाउँ स्तुतिले किन ?
प्रशंसा गर्दछन् कोही निन्दाले खिन्न हूँ किन ? ॥२१॥

अन्वयार्थ : अन्ये = अरु कसैले, माम् एव =मलाई नै, जुगुप्सन्ति = निन्दा गर्दछन् भने, त्तुत: = स्तुति (प्रशंसा) गरिंदा, अहम् = म , किं प्रहृष्यामि = किन खुशी होऊँ ? अन्ये = अरु कसैले, माम् एव = मलाई नै, प्रशंसन्ति = प्रशंसा गर्छन् भने, निन्दित: = निन्दा गरिंदा, किं = किन, विपीदामि = विपाद गरुँ अर्थात् खिन्न वनूँ ?

मलाई कतिपय व्यक्तिले निन्दा पनि गरिरहेका छन् भने कसैले प्रशंसा गरे भन्दैमा म किन खुशीले गजक्क परुँ ? फेरि कति जनाले त मेरो प्रशंसा पनि गरिरहेका छन् भने कसैले निन्दा गरे भन्दैमा म किन खिन्न र विषादग्रस्त होऊँ ?

नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वा जिनैरपि न तोषिताः ।
किं पुनर्मादृशैरज्ञै स्तस्मात् किं लोकचिन्तया ॥२२॥

विभिन्न रुचिका सत्त्व भएनन् जिनले खुशी
म अज्ञले त के होलान्, लोक चिन्ता गरुँ कति ? ॥२२॥

अन्वयार्थ : नानाधिमुक्तिकाः = विभिन्न विश्वास र रुचि भएका, सत्त्वाः = प्राणीहरू, जिनैरपि = बुद्धहरूवाट पनि, न तोपिताः = सन्तुष्ट भएनन् भने, मादृशैः = मजस्ता, अज्ञैः = अज्ञानीले, पुनः = फेरि, किं = के होलान् र ? तस्मात् = त्यसकारणले, लोकचिन्तया = लोक (बालपृथग्जनलाई) खुशीपार्ने चिन्ताले, किम् = के गर्नु ?

सत्वहरूको अभिरुचि, झुकाव र विश्वास भिन्दाभिन्दै भएकाले भगवान् बुद्धहरूले त सबै सत्वलाई सन्तुष्ट पार्न सकेका छैनन् (किनकि, अहिलेसम्म पनि सत्वहरू दुःखी नै छन्) भने मजस्तो अज्ञानी मूर्खले सबैलाई सन्तोष दिन सक्ने त कुरा आएन । त्यसकारण यस्तो बालपृथग्जनको लोकलाई सन्तोष पार्छु (उनीहरूको भनाई अनुसार चलेर) भन्ने जस्तो लोक-चिन्ताबाट के लाभ र प्रयोजन छ र ? अतः उनीहरूको चरित्र अनुसार चल्नाले केही पनि फाइदा हुँदैन, बरु दुःखै हुन्छ । जस्तै -

निन्दन्त्यलाभिनं सत्वं अवध्यायन्ति लाभिनम् ।
प्रकृत्या दुःखसंवासैः कथं तैर्जायते रतिः ॥२३॥

अलाभी सत्वको निन्दा लाभीको स्तुति गर्दछन्
स्वभावैले दुःखदायी तीवाट प्रेम हुन्छ के ? ॥२३॥

अन्वयार्थ : अलाभिनं सत्वं = लाभ आर्जन नगरेको सत्वलाई, निन्दन्ति = निन्दा गर्दछन्, लाभिनं = लाभ आर्जन गरेकालाई पनि, अवध्यायन्ति = तिरस्कार गर्दछन्, प्रकृत्या = स्वभावैले, दुःखसंवासैः = दुःखको वास भएका, तैः = ती वालपृथग्जनवाट, कथं = कसरी, रतिः = आनन्द (सुख), जायते = हुन्छ ?

यदि लोकमा लाभ, मान, धन आदि नपाएको व्यक्ति छ भने यी बालजनहरूले 'यो त पापी, कुकर्मी, पुण्यहीन भएकोले दरिद्र छ' भनेर निन्दा र अपहेलना गर्दछन् । फेरि लाभ, यश, मान आदि पूर्णरूपमा प्राप्त गरेको सम्पन्न व्यक्तिलाई देख्नासाथ "यो ठग र दुनियाँको शोषक हो, निमुखा सोझा साझालाई चुसेर अहिले ठालू भएको छ" भन्दै यिनैले तिरस्कार पनि गरिहाल्छन् । त्यसकारण यी वालपृथग्जनहरूको स्वभाव नै यस्तो हो कि यिनीहरूबाट दुःख मात्रै हुन्छ मानौ दुःखले वास नै गरेको छ । त्यस्ताबाट पनि कहिल्यै प्रेम, सुख, सौहार्द हुन सक्छ ? अर्थात् कदापि सक्दैन ।

'न बालः कस्यचिन्मित्रम्' इति चोक्तं तथागतैः ।
न स्वार्थेन विना प्रीतिर्यस्माद् बालस्य जायते ॥२४॥

'वाल हुन्न मित्र कसैको' भन्नुभो तथागत
विनास्वार्थ प्रीति हुन्न वालको कहिल्यै पनि ॥२५॥

अन्वयार्थ : तथागतैः = तथागतवाट, "वालः = वालपृथग्जन, कस्यचित् = कसैको पनि, मित्रं न = मित्र हुँदैन", इति = यस्तो, उक्तम् = आज्ञा भएको छ, यस्मात् = किनकि, वालस्य = वालजनको, स्वार्थेन विना = स्वार्थ विना, प्रीतिः = प्रेम, न जायते = पैदा हुँदैन ।

बुद्धले बताइराख्नुभएको छ कि 'बालजन कसैको पनि मित्र बन्न सक्दैन'। यस्तो किन बताउनुभएको त ? किनकि बालजनले आफ्नो स्वार्थपूर्ति गर्नको लागि मात्र प्रेम गर्दछ या मित्रता गर्दछ। यसको प्रत्यक्ष अनुभव प्रायः सबैलाई भएकै हुन्छ।

स्वार्थद्वारेण या प्रीतिरात्मार्थं प्रीतिरेव सा।
द्रव्यनाशे यथोद्वेगः सुखहानिकृतो हि सः ॥२५॥

स्वार्थले प्रेम जो हुन्छ आफैको निम्ति प्रेम हो
वस्तुको नाशमा जस्तै सुखको हानिबाट हो ॥२५॥

अन्वयार्थ : या प्रीतिः = जुन प्रेम, स्वार्थद्वारेण = स्वार्थको माध्यमवाट हुन्छ, सा प्रीतिः = त्यो प्रेम, आत्मार्थम् एव = आफ्नै निमित्त मात्र हो, द्रव्यनाशे = धनमाल नाश हुँदा, यथा उद्वेगः = जस्तो उद्वेग (छट्पटाहट) हुन्छ, सः = त्यो, सुखहानिकृतः = सुखको हानिबाटै गराइएको हो।

स्वार्थको माध्यमबाट यदि कसैलाई प्रेम गरिन्छ भने त्यो शुद्ध र सही अर्थले उसलाई गरिएको प्रेम हुँदैन। त्यो त आफ्नैलागि गरिएको प्रेम हो। उसको लागि त देखावटी प्रेम भएको मात्र हो। जस्तै धनमाल नाश हुँदा मानिसले जुन पीडा या उद्वेग महसूस गर्छन् त्यो पनि त धनमालको निमित्त गरिएको प्रेमको कारणले भएको होइन। बरु आफ्नै सुखको साधन भनाउँदो कुरा फुत्कियो भनेर पीडा भएको हो। त्यस्तै यी बालपृथग्जनको प्रेम पनि आज भएजस्तो देखिए पनि साँच्चिकै भएको होइन। स्वार्थमा अलिकति तलमाथि पर्नेवित्तिकै त्यो प्रेम द्वेषमा बदलिहाल्छ। यो अत्यन्त कटु-यथार्थता हो। त्यसैले बालजनको संगत गर्नु सबैतिरबाट हानिकारक छ भन्ने बुझ्नुपर्छ।

अव आचार्य अरण्यवास (जंगल = एकान्तस्थल)को महत्व देखाउँदै त्यहाँ जान कसरी अभिरुचि गर्ने भन्ने कुराको विवेक गर्न सिकाउनुहुन्छ -

नावध्यायन्ति तरवो न चाराध्याः प्रयत्नतः।
कदा तैः सुखसंवासैः सह वासो भवेन्मम ॥२६॥

न गर्छन् वृक्षले हेला न चाहिन्छ नि चांकडी
सुखदायीसँगै वास कहिले पाउँला नि म ॥२६॥

अन्वयार्थ : तरवः= वृक्षहरूले, न अवध्यायन्ति = अवहेलना गर्दैनन्, न च = न त, प्रयत्नतः = प्रयत्नपूर्वक, आराध्याः = सेवा गरिनु पर्ने हुन्छन्, सुखसंवासैः = सुखका कारण भएका, तैः सह = तिनीहरूका साथमा, मम = मेरो, कदा = कहिले, वासः भवेत् = वास होला ?

वनका वृक्षहरूले कहिल्यै झिंजिने या अवहेला गर्ने काम गर्दैनन्। त्यस्तै ती वृक्षलाई खुशी पार्न भनेर कुनै सेवा आराधना पनि गर्नुपर्दैन। ती त सुखका कारण हुन् अर्थात् उनीहरूको आश्रयमा वस्दा सुख हुन्छ। त्यस्ता वृक्षहरूसँग कहिले बस्न पाउँला ?

शून्यदेवकुले स्थित्वा वृक्षमूले गुहासु वा।
कदानपेक्षो यास्यामि पृष्ठतो ऽनवलोकयन् ॥२७॥

शून्य देवालय, गुफा, रुखको फेंदमा रही
नहेरी पछि जाऊँला कहिले अनपेक्ष भै ॥२७॥

अन्वयार्थ : शून्यदेवकुले = निर्जन देवालयमा, वृक्षमूले = रुखमुनि, वा = अथवा, गुहासु = गुफा कन्दराहरूमा, स्थित्वा = रहेर, अनपेक्ष: = कुनै पनि अपेक्षा नराखी, पृष्ठत: = पछाडितिर, अनवलोकयन् = नहेर्दै, कदा = कहिले, यास्यामि = जाउँला ?

म कहिले निर्जन शून्य देवालयमा या वृक्षहरूको मुनि या पहाडका गुफा कन्दराहरूमा वास गर्दै पछाडि नफर्केरै कसैको पनि वास्ता अपेक्षा नगरिकन हिंड्न पाउँला ?

अममेषु प्रदेशेषु विस्तीर्णेषु स्वभावतः ।
स्वच्छन्दचार्यानिलयो विहरिष्याम्यहं कदा ॥२८॥

खुला पराया देशैमा स्वाभाविक भईकन
निराश्रय र स्वच्छन्द घुमुँला कहिले नि म ॥२८॥

अन्वयार्थ : अहम् = म, कदा = कहिले, विस्तीर्णेषु = ठूलो फैलावट भएका, अममेषु = मेरो भन्ने बन्धन नभएका, प्रदेशेषु = प्रदेश (स्थान)हरूमा, स्वभावत: = स्वाभाविकरूपमा, स्वच्छन्दचारी = आफूले चाहे अनुसार आचरण गर्ने गरी, अनिलय: = घर, आश्रयको कुनै आसक्ति नगरी, विहरिष्यामि = विहार गरुँला ? (या घुमुँला ?)

मेरो भन्ने नभएका र टाढा टाढासम्म फैलेका प्रदेशहरूमा कुनै बनावटी भेषभूषा नगरीकन स्वाभाविक ढंगले स्वच्छन्द या स्वतन्त्र भएर कसैको आश्रय नलिईकन या आवास आदिको कुनै आसक्ति नलिएर घुम्ने कहिले होला ? अब अल्पेच्छाको प्रशंसा गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ –

मृत्पात्रमात्रविभवश्चौरासम्भोगचीवरः ।
निर्भयो विहरिष्यामि कदा कायमगोपयन् ॥२९॥

माटोको पात्र सम्पत्ति, चीवरै त न चोरिने
नछिपाएर यो देह निर्भीक कहिले घुमूँ ॥२९॥

अन्वयार्थ : मृत्पात्रमात्रविभव: = माटाको भाँडो मात्र सम्पत्तिको रूपमा भएको र, चौरासम्भोगचीवर: = चोरले उपभोग गर्न नसकिने (नगरिने) चीवरले युक्त भएको छँदो, निर्भय: = नीडर भएर, कायं = शरीरलाई, अगोपयन् = पर्वाह नगरी (विशेष रक्षा नगरिकनै), कदा = कहिले, विहरिष्यामि = विहार गरुँला ?

सम्पत्तिको नाममा माटाको भिक्षापात्र मात्र लिएर, चोरलाई पनि काम नदिने टाटेफाटेको थोत्रो चीवर धारण गर्दै, कुनै कुराको डर नमानीकन शरीरलाई पनि त्यति राम्रोसँग नढाकिकन (ध्यन नदिइकन) कहिले स्वच्छन्द रूपमा घुम्न पाउँला ? किनकि बाह्य र आध्यात्मिक दुवै किसिमका परिग्रहलाई त्यागेपछि केको शरीरको चिन्ता ?

अब मरण अनित्यता नै संगतको त्यागको कारण हो र यसको सधै सेवन गर्नुपर्छ भन्ने कुरा जनाउँदै भन्नुहुन्छ–

कायभूमिं निजां गत्वा कङ्कालैरपरैः सह ।
स्वकायं तुलयिष्यामि कदा शतनधर्मिणम् ॥३०॥

श्मशानभूमिमा जाँदै अरु कङ्कालका सँग
स्वदेहलाई कहिले दाँजुला सड्छ यो अब ॥३०॥

अन्वायार्थ : कदा = कहिले, निजां कायभूमिं = आफ्नो शरीरको भूमिमा(श्मशानमा), गत्वा = गएर, अपरैः = अरु, कङ्कालैः सह = अस्थिपञ्जरका साथ, शतनधर्मिणं = सड्ने स्वभाव भएको, स्वकायं = आफ्नो शरीरलाई, तुलयिष्यामि = तुलना गरुँला ?

यो शरीरको निजी भूमि त श्मशान नै हो किनकि त्यहाँ मात्रै यो चिरस्थायी भएर आफ्नो सड्ने धर्मको राम्रोसँग पालन गर्न पाउँछ । त्यसैले त्यस्तो 'निजकायभूमि'मा अर्थात् 'श्मशान'मा गएर त्यहाँ सड्दै गरेका पहिले मरेका मानवहरूको अस्थिरपञ्जरलाई हेर्दै तिनीहरूसँग त्यस्तै गरी सड्ने स्वभाव भएको आफ्नो यो शरीरलाई पनि मैले कहिले तुलना गर्न पाउँला ? तुलना गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ कि –

अयमेव हि कायो मे एवं पूतिर्भविष्यति ।
श्रृगाला अपि यद्गन्धान्नोपसर्पेयुरन्तिकम् ॥३१॥

यही शरीर मेरो नै यस्तै सड्नेछ नष्ट भै
दुर्गन्धले त यसको स्यालै पनि नआउने ॥३१॥

अन्वयार्थ : हि = किनकि, अयम् = यही, मे कायः एव = मेरो शरीर नै, एवं = यसरी नै , पूतिः = सडेर दुर्गन्धित, भविष्यति = हुनेछ, यद्गन्धाद् = जसको गन्धले, श्रृगाला अपि = स्याल पनि, अन्तिकम् = नजीकमा, न उपसर्पेयुः = न आउलान् ।

मेरो यही शरीर नै ठीक त्यसै गरी सड्ने छ र दुर्गन्धित हुनेछ । त्यो गन्धले गर्दा अरु त के, स्याल पनि नजिक आउन सक्ने छैनन् । यही शरीरको त्यस्तो हालत हुनेवाला छ । अतः मैले यसलाई धेरै जोड दिएर आसक्ति गर्नु वेकार हो ।

अस्यैकंस्यापि कायस्य सहजा अस्थिखण्डकाः ।
पृथक् पृथगमिष्यन्ति किमुतान्यः प्रियो जनः ॥३२॥

यै देहसँग जन्मेका टुक्रा यी हाडका सब
अलगिएर जानेछन् भने के प्रिय मानिस ? ॥३२॥

अन्वयार्थ : अस्य = यो, एकस्य = एउटै, कायस्य = शरीरको, सहजाः = सँगसँगै नै जन्मिएका (पैदाभएका, वनेका), अस्थिखण्डकाः अपि = हाडका टुक्राहरू पनि, पृथक् पृथक् = अलग अलग भएर, गमिष्यन्ति = जानेछन् भने, अन्यः = अर्को, प्रियः = प्यारो, जनः = मानिस त, किम् उत = के नजाला त ?

जब यो सिङ्गै शरीरसँग साथसाथै पैदा भएका हाड हड्डीका टुक्राहरू त यसरी टुक्रा टुक्रा परी अलग अलग भएर जान्छन् भने प्रियजनहरू त सँगसँगै पैदा भएका पनि होइनन् । उनीहरू त शुरुदेखि नै अलग अलग नै थिए । अब तिनीहरू पनि छुटिनु हुँदैन भनेर भयो त ?

एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि ।
नान्यस्य तद्व्ययाभोगः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः ॥३३॥

जन्मिन्छ एक्लै प्राणी त मर्छ एक्लै, कुनै अरु
त्यस्को पीडा-भाग लिन्नन्, विघ्न हुन् प्रिय, गर्नु के ॥३३॥

अन्वयार्थ : *जन्तुः = प्राणी, एकः = एक्लै, उत्पद्यते = जन्मिन्छ, एक एव हि = एक्लै नै, म्रियते = मर्छ, तद्व्यथाभागः = त्यसको पीडाको भाग, अन्यस्य = अरुको, न = होइन, विघ्नकारकैः = विघ्न गर्ने, प्रियैः = प्रियजनहरूले, किम् = के काम?*

जीव जन्मिँदा पनि एक्लै नै जन्मिन्छ र मर्दा पनि एक्लै नै मर्छ। त्यो जन्ममरणको पीडा पनि केवल उसले मात्रै भोग्नुपर्छ र अरु कसैले पनि उक्त पीडाको भाग आफूले बोकिदिन सक्दैनन्। किनकि सबैले आ-आफूले गरेका कर्मको फल आ-आफैले भोग्नुपर्ने हुन्छ। अतः चित्त शान्त गराउने, ध्यान लाभ गर्ने जस्ता कुशल पक्षमा विघ्नको रूपमा खडा हुने यी प्रियजन आदिको आसक्ति मैले किन गर्नु ?

अध्वानं प्रतिपन्नस्य यथावास परिग्रहः।
तथा भवाध्वगस्यापि जन्मावासपरिग्रहः ॥३४॥

वाटामा हिँडिराख्नेले जस्तै आवास लिन्छ ता
घुम्नेले भवमा त्यस्तै जन्म-आवास लिन्छ ता ॥३४॥

अन्वयार्थ : *अध्वानं = मार्गमा (वाटामा), प्रतिपन्नस्य = पुगिराखेकालाई (प्रस्थान गरिरखेकालाई), यथा = जस्तै, आवासपरिग्रहः = वास खोज्नुपर्ने हुन्छ, तथा = त्यस्तै, भवाध्वगस्य अपि = संसाररूपी मार्गमा हिड्नेलाई पनि, जन्मावासपरिग्रहः = जन्मरूपी वासको संग्रह गर्नुपर्ने हुन्छ।*

जसरी बाटामा हिँड्ने बटुवाले बेलुकीपख अस्थायी भए पनि वास बस्ने व्यवस्था गर्छ, त्यस्तै संसाररूपी बाटोमा हिँड्ने यात्रीले पनि जन्मरूपी वास ग्रहण गर्दछ। बटुवाका पनि बाटाका साथी हुन्छन् र सँगै वास बस्ने गरे पनि पछि फेरि आ-आफ्नो यात्रा अलग अलग नै गर्छन्, त्यस्तै व्यक्तिगत कर्म अनुसार संसारमा यात्रा गर्ने प्राणीहरूको पनि जन्मरूपी आवासमा केही समयसम्म अन्य यात्री (नाता-कुटुम्ब आदि)सँग सँगै वास बस्ने काम हुन्छ तापनि पछि फेरि एक्लाएक्लै जानै पर्छ। त्यसकारण सम्बन्ध भनेको वास्तवमा सारभूत कुरा होइन। अतः यसलाई त्यति जोड दिनुहुँदैन जसले गर्दा अनर्थ नै बटुलियोस्।

एक्लै हुनुका गुणहरु बयान गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ -

चतुर्भिः पुरुषैर्यावत् स न निर्धार्यते ततः।
आशोच्यमानो लोकेन तावदेव वनं व्रजेत् ॥३५॥

मिली चारजनाले नै निकालिनु र बन्धुले
शोक गर्नु अगावै नै राम्रो आफै वनै हिँडे ॥३५॥

अन्वयार्थ : *यावत् = जबसम्म, लोकेन = लोक (बन्धुहरूले), आशोच्यमानः = शोक गरिदै, चतुर्भिः = चारजना, पुरुषैः = मानिसहरूले, सः = यो शरीर, न निर्धार्यते = निकालिदैन, तावदेव = तव नै, वनं व्रजेत् = वनमा जानू।*

जबसम्म चारजना मान्छेले लतारेर निकाल्दैनन् र आफ्ना बन्धुबान्धवहरूले शोक गर्दैनन्

त्योभन्दा अघि नै वनमा गइसक्नुपर्छ । आखिरमा नचाहे पनि मृत्यु भएरै छाड्नेछ र घरवाट जवर्जस्ती निकालिनै पर्नेछ । यो शरीरलाई चार मर्दले हरियो बाँसमा कसेर वाहिर जवर्जस्ति निकाल्नु र वरिपरि आफ्ना यी प्रियजन भनिँदाहरूलाई "हे बा, हे आमा, हे बाबु !" भन्दै शोक गर्ने बनाउनुभन्दा अगाडि नै स्वयं आफैले त्यो घरलाई छोडेर ध्यानभावनाका निमित्त वन-एकान्ततिर लाग्नु कल्याणकारक छ ।

असंस्तवाविरोधाभ्यामेक एव शरीरकः ।
पूर्वमेव मृतो लोके म्रियमाणो न शोचति ॥३६॥

एक्लो व्यक्ति लोकमा छ पहिले नै मरे सरी
स्तुति विरोध नहुँदा मर्दा पनि हुँदैन शोक् ॥३६॥

अन्वयार्थ : शरीरकः = शरीरधारी (व्यक्ति), एक एव = एक्लो हुँदा नै, लोके = लोकमा, पूर्वमेव = पहिले नै, मृतः = मरेको सरह हुन्छ । असंस्तवाविरोधाभ्यां = स्तुति र विरोध (राग, द्वेष) केही नहुनाले गर्दा, म्रियमाणः = मर्नलागेको वेला पनि, न शोचति = शोक गर्दैन ।

यदि पहिले नै घर समाजबाट निस्केर एक्लै विहार गर्न थालेको छ भने उसले कुनै प्रशंसा या राग बटुल्ने कुरा पनि सुन्नु नपर्ने हुन्छ भने विरोध अथवा द्वेष बटुल्नु पनि नपर्ने हुन्छ, किनकि घर समाजका निमित्त उ पहिले नै मरेतुल्य भैसकेको हुन्छ र सबैले माया मारिसकेका हुन्छन् । त्यसो हुनाले उ मर्दाखेरि पनि पारिवारिक राग-द्वेष आदिले गर्दा शोक गर्नुपर्ने हुँदैन र निश्चिन्त भएर शान्तिपूर्वक मर्न सक्छ ।

न चान्तिकचराः केचिच्छोचन्तः कुर्वते व्यथाम् ।
बुद्धाद्यनुस्मृतिं चास्य विक्षिपन्ति न केचन ॥३७॥

परिचारक शोकैले न त पीडा गराउँछन्
वुद्धादिको अनुस्मृति भई विक्षेप हुन्न झन् ॥॥३७॥

अन्वयार्थ : केचित् = कोही, अन्तिकचरा = सँगै वस्ने (हेरचाह गर्नेहरू)ले, शोचन्तः = शोक गर्दै, व्यथां च = पीडा पनि, न कुर्वन्ति = गराउदैनन्, अस्य = त्यो व्यक्तिको, बुद्धाद्यनुस्मृतिं च = बुद्धानुस्मृति आदि पनि हुन सक्छ, केचन = कसैले पनि, न विक्षिपन्ति = विक्षेप गर्दैनन् ।

त्यस्तो एकान्तवासीका साथमा कोही परिचारक, सेवक अथवा नजिकका मानिसहरू हुँदैनन् जस्ले गर्दा उसको मृत्यु हुँदा शोक गरेर स्वयं आफू पीडित हुँदै उसलाई पनि आरामसित मर्न नदिई पीडित तुल्याउँदैनन् । फेरि त्यसवेला बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति या स्वयं चित्तप्रकृतिमा रहने जस्ता उच्च कोटीका अभ्यासहरू गर्न पनि सक्ने हुन्छ । अथवा उसको समाधिमा विक्षेप गर्ने कोही पनि हुदैनन् (बाधा गर्ने कोही नभएकोले) ।

तस्मादेकाकिता रम्या निरायासा शिवोदया ।
सर्वविक्षेपशमनी सेवितव्या मया सदा ॥३८॥

अत: एक्लो हुनू राम्रो, कल्याणै, दु:खहीन छ
सबै विक्षेपको शान्ति हुन्छ त्यो सेवनीय छ ॥३८॥

अन्वयार्थ : *तस्मात् = त्यसकारणले, एकाकिता = एक्लो हुनु, रम्या = रमणीय छ, निरायासा = दु:खरहित छ, शिवोदया = कल्याण गराउने खालको छ (कल्याणको हेतु हो) सर्वविक्षेपशमनी = चित्तका सबै विक्षेपहरूलाई शान्त गराउने खालको छ, मया = मैले, सदा = सधैं, सेव्या = सेवन गर्न योग्य छ ।*

त्यसकारणले गर्दा रमाइलो, कुनै दु:खकष्ट नहुने, सबैतिरबाट कल्याणकारक र सबै विक्षेपहरूलाई शान्त गराउन सक्ने त्यस्तो एकान्ततालाई मैले सधैं नै सेवन गर्नुपर्छ ।

यसरी जनसम्पर्कलाई के कारणले त्याग्ने, कस्तो विचार गरेर त्याग्ने भन्ने दृष्टिले कायविवेकको कुरा बताएपछि समाधिलाभ गर्नको लागि चाहिने अर्को महत्वपूर्ण कुरा 'चित्तविवेक'को प्रतिपादन गर्न आचार्य भन्नुहुन्छ -

सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्तः स्वचित्तैकाग्रमानसः ।
समाधानाय चित्तस्य प्रयतिष्ये दमाय च ॥३९॥

अन्य चिन्ता सबै छोडी स्वचित्तैमा दिँदै मन
समाधिचित्तको निम्ति एकाग्रै हुन लाग्दछु ॥३९॥

अन्वयार्थ : *सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्त: = अरु सबै चिन्तनहरूलाई छोडेर, स्वचित्तैकाग्रमानस: = आफ्नै चित्तमा केन्द्रित मन गराएर, चित्तस्य = चित्तको, समाधानाय = शमथप्राप्ति (समाधि)का निमित्त र, दमाय च = विक्षेपहरूलाई दमन गर्नको निमित्त पनि, प्रयतिष्ये = प्रयत्न गर्नेछु ।*

अरु किसिमका सबै चिन्तन कल्पना आदिलाई छोडेर (नगरेर) केवल आफ्नो चित्तमै मनलाई एकाग्र बनाउँदै शमथलाभ गर्न र शमथका विक्षेप आदिलाई दमन गर्नको निमित्त मिहेनतका साथ लाग्नेछु । अर्थात् आफ्नो आलम्बन जे हो त्यसमै मनलाई एकाग्र गरेर कतै विक्षेप हुन नदिँदै, विक्षेप गराउने खालका अन्य स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन विकल्पना आदिलाई दमन गर्दै निवारण गर्दै समाधिप्राप्तिको लागि प्रयास गर्नेछु । समाधिमा चित्तलाई लाग्न नदिने निवरण (विपक्षी क्लेश) मध्ये 'कामच्छन्द'लाई कसरी हटाउने भन्ने कुरा उल्लेख गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ -

कामा अनर्थजनका इहलोके परत्र च ।
इह बन्धवधोच्छेदैर्नरकादौ परत्र च ॥४०॥

यहाँ र परलोकैमा कामै अनर्थकारक
यहाँ वन्धन मृत्यु छन् परत्रैमा त नारक ॥४०॥

अन्वयार्थ : *इहलोके = यो लोकमा र, परत्र च = परलोकमा पनि, कामा हि = कामच्छन्दहरू नै, अनर्थजनका: = अनर्थकारक हुन्छन्, इह = यहाँ, बन्धवधोच्छेदै: = बन्धन, मृत्यु, काट्ने, मार्ने, जस्ता कुराले र, परत्र च = परलोकमा पनि, नरकादौ = नरक आदिमा (पिट्ने मार्ने कुराले) ।*

विभिन्न विषयहरू - रूप, रस, गन्ध आदिको - उपभोग गर्ने चाहना तृष्णा (कामच्छन्द)बाट नै यो लोकमा र परलोकमा पनि विभिन्न अनर्थहरू आइलाग्छन् । त्यसले यहाँ पनि बन्धन, ताडन,

छेदन, बध जस्ता कुराहरू भोग्नुपर्ने र परलोकमा पनि नरक आदिमा त्यस्तै किसिमका अनर्थहरू भोग्नुपर्ने हुन्छ। अतः काम सम्बन्धी तृष्णालाई त्याग्नुपर्छ र सेवन गर्नुहुँदैन। आचार्य सम्झाउनुहुन्छ -

यदर्थं दूतदूतीनां कृताञ्जलिरनेकधा।
न च पापमकीर्तिर्वा यदर्थं गणिता पुरा ॥४१॥
प्रक्षिप्तश्च भये ऽप्यात्मा द्रविणं च व्ययीकृतम्।
यान्येव च परिष्वज्य बभूवोत्तमनिर्वृतिः ॥४२॥
तान्येवास्थीनि नान्यानि स्वाधीनान्यममानि च।
प्रकामं सम्परिष्वज्य किं न गच्छसि निर्वृतिम् ॥४३॥

जस्लांई दूत-दूतीको बाँधियो धेर अञ्जलि
पाप बद्नाम पनि क्यै गनिएन कुनै अघि ॥४१॥
भयमा पारियो आत्मा, पैसा खर्च भयो निकै
जस्को त आलिंगनमा भयो रे खुव सुख नै ॥४२॥
तिनै हाड अरु हैन मेरा हैनन् स्वतन्त्र छन्
अँगाली मन्परी ती नै लिन्नौ सुख अहो किन ? ॥४३॥

अन्वयार्थ : यदर्थं = जसका निमित्त, दूतदूतीनां = दूत र दूतीहरूको, अनेकधा = अनेक प्रकारका, अञ्जलिःकृता = अञ्जलि गराइएको थियो, यदर्थं च = जसका निमित्तमा, पुरा = पहिले, पापम् = पापलाई, वा = अथवा, अकीर्तिः = बदनामलाई पनि, न गणिता = गणना नै गरिएन (टेरिएन)। आत्मा = आफूलाई (मनलाई), भये = भयमा, प्रक्षिप्तश्च = फ्याँकियो पनि, द्रविणं च = धनदौलत पनि, व्ययीकृतम् = खर्च गरियो, यान्येव च = जसलाई नै, परिष्वज्य = अँगालो मारेर, उत्तमनिर्वृतिः = उत्तम सुख, वभूव = भयो रे।

तान्येव = तिनै, अस्थीनि = हाडको समूहलाई, (जुन) न अन्यानि = अरु पनि होइनन्, र स्वाधीनानि = स्वतन्त्र छन् एवं, अममानि च = 'मेरा' भन्ने पनि होइनन् (तिनीलाई) प्रकामं = मनपरूञ्जेल, सम्परिष्वज्य = अङ्कमाल गरेर, किं = किन, निर्वृतिं न गच्छसि = सुखमा पुग्न सक्दैनौ ?

जुन प्रेमी/प्रेमिकासँग रूप यौवन आदिको कारणले कामलोलुप भई सम्बन्ध राख्न खोज्ने क्रममा कति दूत-दूतीहरूलाई हात जोडियो वा जोड्ने बनाइयो होला, कति पटक उनीहरूले सम्झाउने काम गरेहोलान्, त्यसवेला कतिपय कुरा अवश्यै ढाँट्नु पर्‍यो, कति पाप कमाइयो होला त्यसको पनि कुनै पर्वाह भएन, समाजमा कति बदनाम कमाइयो होला त्यसंको पनि गन्ती नै गरिएन।

त्यस्तै, जसका निम्तिमा कतिपय परिस्थितिमा खतरा मोलेर काम गर्दा आफूलाई डर र त्रासमै होमियो, भेट्ने, घुमाउने चाँजोपाँजो मिलाउने क्रममा धन दौलत पनि प्रशस्तै खर्च भयो, अनि जसलाई आलिङ्गन गरेर खुब खुशी मनाइयो र उत्तम सुख अनुभव गरियो रे! (लोकले त्यसैलाई सुख ठान्छन् !)

परन्तु ती त हाड मासु छाला बाहेक अरु केही थिएनन्। त्यही हाड मासु आदि पनि 'मेरा' होइनन् र नितान्त स्वाधीन छन् अर्थात् मेरो अधीनमा छैनन्। अहिले त्यस्ता अस्थिपञ्जरलाई मनगगे अङ्कमाल गरेर फेरि किन सुख लिन सक्दैनौ त ?

उन्नाम्यमानं यत्नाद् यन्नीयमानमधो ह्रिया ।
पुरा दृष्टमदृष्टं वा मुखं जालिकयावृतम् ॥४४॥
तन्मुखं त्वत्परिक्लेशमसहद्भिरिवाधुना ।
गृध्रैर्व्यक्तीकृतं पश्य किमिदानीं पलायसे ॥४५॥

उठाए पनि यत्नैले लाजले लगिने तलै
घुम्टोले ढाकिएको त्यो मुख देख्यौ कि के गऱ्यौ ? ॥४४॥
तिम्रो पीडा नसहने गिद्धले नै त्यही मुख
देखाए अहिले हेर ! किन भाग्छौ तिमी अब ॥४५॥

अन्वयार्थ : यद् = जुन, जालिकयावृतम् = घुम्टोले छोपिएको, मुखं = मुख, पुरा = पहिले, यत्नाद् = यत्नपूर्वक, उन्नाम्यमानं = उठाइँदा पनि, ह्रिया = लाजले गर्दा, अधः = तलै, नीयमानं = लगिने गरेको, दृष्टम् = देखियो, वा = अथवा, अदृष्टम् = देखिएन ?

त्वत्परिक्लेशं = तिम्रो त्यो पीडा(क्लेश)लाई, असहद्भिः इव = सहन नसक्ने हुन् की भने झै, गृध्रैः = गिद्धहरूले, अधुना = अहिले, तन्मुखं = त्यही मुखलाई, व्यक्तीकृतम् = प्रकट गरिदिएका छन्, पश्य = हेर ! इदानीं = यसवेला, किम् = किन, पलायसे = भाग्दछौ ?

पहिले जुन मुखलाई तिमीले प्रयत्नपूर्वक उठाउँदा पनि लाजले गर्दा त्यो सधै घोप्टो परिरहन्थ्यो र घुम्टोभित्र लुकिरहन्थ्यो । त्यसकारण यसलाई तिमीले कहिले देख्यौ होला कहिले देख्न पाएनौ ।

तिम्रो यो मर्मलाई ठ्याक्कै बुझे जस्तो गरी तिम्रो त्यो दुःख सहन नसकेर अहिले गिद्धहरूले त्यो मुखलाई खुला पारेर देखाइदिएका छन् । अब हेर, राम्रोसँग । किन अहिले फेरि भाग्छौ ?

परचक्षुर्निपातेभ्यो ऽ प्यासीद् यत् परिरक्षितम्
तदद्य भक्षितं यावत् किमीर्ष्यालो न रक्षसि ॥४६॥

जस्लाई अरुको आँखा पर्ला भन्दै बचाउँथ्यौ
हे इर्ष्यालु ! बचाउन्नौ ? आज त्यो खाइँदैछ है ॥४६॥

अन्वयार्थ : यद् = जसलाई, परचक्षुर्निपातेभ्यः अपि = अर्काको दृष्टिपातबाट पनि, परिरक्षितम् आसीत् = सुरक्षा गरेका थियौ, तद् = त्यो, अद्य यावत् = आजको दिनमा त, भक्षितं = खाइँदैछ ईर्ष्यालो ! = हे डाडे ! किम् = किन, नरक्षसि = रक्षा गर्दैनौ ?

जुन शरीरको निमित्त तिमीले अरुको नजर पर्नबाट समेत सुरक्षा गर्न कटिबद्धता जाहेर गर्थ्यौं आज त्यही शरीरलाई गिद्ध, स्याल आदिले धमाधम लुछ्दैछन् । हे डाडे स्वभाव भएका मानव ! फेरि अहिले त्यो शरीरलाई किन बचाउन खोज्दैनौ ?

मांसोच्छ्रयमिमं दृष्ट्वा गृध्रैरन्यैश्च भक्षितम् ।
आहारः पूज्यते ऽ न्येषां स्रक्चन्दनविभूषणैः ॥४७॥

ठानी यो मासुको थुप्रो लुछेको गिद्ध-स्यालले
पूज्दछौ अरुको खाना माला चन्दन आदिले ? ॥४७॥

अन्वयार्थ : इमम् = यो शरीरलाई, गृध्रै = गिद्धहरूले र, अन्यैश्च = अरु स्याल आदिले पनि, मांसोच्छ्रयं दृष्ट्वा =मासुको थुप्रो देखेर, भक्षितम् = खाइएको छ । अन्येषां = अरुको, आहार: = भोजनलाई, स्रक्चन्दनविभूषणै: = माला, चन्दन र गहना आदिले, पूज्यते = (किन ?) पूजा गरिदैछ !

जसलाई तिमीले राम्रो र सुन्दर एवं प्रिय शरीर भन्ने ठानेका थियौ त्यसलाई त गिद्ध स्यालजस्ता पशुले मासुको थुप्रो भन्ने ठानेर खाएका छन् । अब भन त, अर्काको भोजन बनेको त्यो शरीरलाई किन माला, चन्दन, गहना आदिले पूजा गर्ने ? बरु त्यसको रक्षा गर्नुपर्ने हो, किन गर्दैनौ ? किन पछि हट्दैछौ ?

निश्चलादपि ते त्रासः कङ्कालादेवमीक्षितात् ।
वेतालेनेव केनापि चाल्यमानाद् भयं न किम् ॥४८॥

यस्तो अचल कङ्कालदेखि पनि डराउने
वेतालले चलाए झैं चल्दा त न डराउने ? ॥४८॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी, ईक्षितात् = देखिएको, निश्चलात् = अचल भएर रहेको, काङ्कालाद् अपि = कङकालदेखि पनि, ते = तिमीलाई, त्रास: डर हुन्छ भने, वेतालेन इव = वेताल (भूत)ले झैं, केनापि = कसैले, चाल्यमानाद् = चलाइने (भएको त्यो शरीर)देखि, किम् = किन, भयम् न = डर छैन त ?

यसरी हेर्दा त्यस्तो काठ, ढुङ्गो जस्तो निश्चल कङ्कालबाट पनि तिमीलाई डर हुन्छ भने त्यो शरीर त अहिल्यै चल्दैछ मानौ कुनै वेताल (भूत) आदिले चलाइराखेको कङ्काल हो कि जस्तो गरेर । अनि त्यसलाई देखेर किन नडराएको त ?

एकस्मादशनादेषां लालामेध्यं च जायते ।
तत्रामेध्यमनिष्टं ते लालापानं कथं प्रियम् ॥४९॥

उही भोजनले यिन्को थूक गूमूत बन्दछ
त्यहाँ गूमूत चाहान्नौ थूक मात्रै किन प्रियं ? ॥४९॥

अन्वयार्थ : एषां = यिनीहरूको, एकस्माद् = एउटै, अशनाद् = भोजनले, लाला = थूक र, अमेध्यं च = गूमूत आदि अपवित्र कुरा पनि, जायते = उत्पन्न हुन्छ, तत्र = त्यसमध्येमा, ते = तिमीलाई, अमेध्यं = गूमूत आदि अपवित्र कुरा, अनिष्टं = मनपर्दैन भने, लालापानं = थुकपिउनु, कथं = कसरी, प्रियम् = प्रिय लाग्छ त ?

कामले मोहित भएको र रागले बेहोशै भएको व्यक्तिले आफ्नी प्रेयसीको मुखबाट निस्केको थुक पनि पिउन चाहान्छ । त्यसैले उसलाई प्रश्न गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ – उही भोजनले गर्दा थुक र गूमूत जस्ता अपवित्र कुरा ती कामिनीहरूको शरीरबाट निस्कन्छन् । त्यसमध्ये तिमीलाई गूमूत आदि चाहिँ मन नपर्ने परन्तु थुकपान गर्न मात्रै किन मनपर्ने ?

यदि कारण उही भए पनि मलमूत्र आदि धेरै दुर्गन्धित भएकाले मन नपरेको र थूक त्यस्तो दुर्गन्धित नभएकोले मन परेको हो भन्ने हो भने आचार्यले फेरि भन्नुहुन्छ –

तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शै रमन्ते नोपधानकैः ।
दुर्गन्धं न स्रवन्तीति कामिनो ऽ मेध्यमोहिताः ॥५०॥

मुलायम रुईका नै तकिया गन्धहीन छन्
भनी अमेध्यमूढै ती कामीजन रमाउन्नन् ॥५०॥

अन्वयार्थ : अमेध्यमोहिता: = अपवित्र कुराले विमूढ भैसकेका, कामिन: = कामी व्यक्तिहरू, तूलगर्भैः = भित्र कपासले भरिएका, मृदुस्पर्शैः = छुँदाखेरि नरम भएका, उपधानकैः = सिरानीहरूले, दुर्गन्धं = दुर्गन्धलाई, न स्रवन्तीति = फैलाउँदैनन् (चुहाउँदैनन्) भन्ने जानेर, न रमन्ते = रमाउँदैनन् ।

त्यसो भए कपासले भरिएका मुलायम तकियाहरूबाट पनि दुर्गन्ध त आउँदैन । अनि किन ती अपवित्र (अमेध्य)कुरामा मोहित याने मूढ बनेका कामुक व्यक्तिहरू तिनै सिरानीबाट पनि त्यस्तै रमण गर्दैनन् त ? किनकि दुर्गन्ध त त्यसबाट पनि आउँदैन ।

यदि स्त्रीको शरीरमा फोहोर त छ परन्तु त्यो ढाकिएको छ, अन्यत्र खुला रुपमा हुन्छ, त्यसैले शरीर मनपरेको हो भन्ने हो भने आचार्य फेरि भन्नु हुन्छ –

यत्रच्छन्ने ऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियम् ।
न चेत्प्रयोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृद्यते ॥५१॥

ढाकेकोमा राग भए खुलामा किन छैन त ?
प्रयोजनै नभा' गर्ने ढाकेको किन मर्दन ? ॥५१॥

अन्वयार्थ : यत्र = जहाँ, छन्नेऽ पि = ढाकिएकोमा पनि, अयं = यो, रागः = राग छ भने, तत् = त्यो, अच्छन्नं = नढाकिएको अवस्थामा, किम् = किन, अप्रियम् = अप्रिय लाग्ने त ? चेत् = यदि, तेन = त्यसले, प्रयोजनं न = प्रयोजन छैन भने, छन्नं = ढाकिएकोलाई, कस्मात् = किन याने के प्रयोजनले, विमृद्यते = मर्दन (आलिङ्गन आदि) गर्ने त ?

ढाकिएको छ भनेर यो मल, मूत्र र मासुको फोहोरको थुप्रोमा पनि त्यत्रो राग गर्दछौ भने खुला नढाकिएकोमा चाहिँ किन प्रेम गर्न सक्दैनौ त ? नढाकिएकोमा प्रेम गर्ने प्रयोजन केही पनि नभएकोले त्यसो नगरेको हो भने ढाकिएकोलाई फेरि के प्रयोजनले गर्दा त्यसरी मर्दन, आलिङ्गन आदि गर्छौ त ?

फेरि आचार्यले सोध्नुहुन्छ कि तिमी अशुचि (नराम्रो)लाई प्रेम नगर्ने मध्येका हौ कि गर्ने मध्येका हौ ?

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसे परम् ।
मांसकर्दमसंलिप्तं स्नायुवद्धास्थिपञ्जरम् ॥५२॥

अशुचिमा राग नभा' किन अर्को अँगाल्दछौ ?
जो मासुको हिलो-लिप्त स्नायुले वद्ध पञ्जर ॥५२॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, ते = तिम्रो, अशुचौ = अशुचिमा, रागः न = राग नभएको भए, कस्मात् = के कारणले, मांसकर्दमसंलिप्तं = मासुरूपी हिलो लपेटिएको, स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम् = स्नायुले बाँधिएको अस्थिपञ्जर स्वरूप, परम् = अर्कालाई, आलिङ्गसे = आलिङ्गन गर्दछौ ?

यदि अशुचिप्रति राग नगर्ने मध्येका हौ भने किन त्यो मासुरूपी हिलोले लेपिएको र स्नायु एवं नसाहरूले बाँधेर अड्याइएको हड्डीको कंकाललाई आलिंगन गर्नपुग्छौ ?

होइन, यदि अशुचिप्रति राग गर्नेवाला नै हौ भने –

स्वमेव बह्वमेध्यं ते, तेनैव धृतिमाचरं ।
अमेध्यभस्त्रामपरां गूथघस्मर विस्मर ॥५३॥

स्वयं छौ अशुचि धेरै त्यसैमा धैर्य भैरहू
अशुचि छादनेलाई गूखाने ! विर्सिनू बरु ॥५३॥

अन्वयार्थ : ते = तिम्रो, स्वम् एव = आफ्नै शरीर नै, वहु-अमेध्यं = धेरै मलले युक्त भएको छ, तेनैव = त्यसैवाट नै, धृतिं = धैर्य, आचर = लेज, गूथघस्मर = हे गू खानेवाला ! अपरां = अर्की, अमेध्यभस्त्रां = गूमूत आदि नै छाद्नेवालीलाई, विस्मर = विर्सिदिज !

तिम्रो आफ्नै शरीर पनि प्रशस्तमात्रामा गूमूत, थुक, सिंगान, र्‍याल, रगत, पीप, मासु आदिले टन्न भरिएको छ । त्यसैले सन्तोष गरे भइहाल्छ, त्यसैलाई आलिंगन मर्दन गरे भइहाल्छ । किन अर्कीलाई ताक्छौ ? जब कि अर्की (स्त्री)को शरीर पनि गूमूत आदि अशुचि नै छाद्ने हो, त्यसबाट राम्रो कुरा त केही निस्कँदैन । तिमी त गूमूत खाने व्यक्ति हौ (किनकि अशुचिप्रति तिम्रो धेरै राग भएकोले) हे मलमूत्रभक्षी ! त्यसकारण तिमीले अर्की मलमूत्रको स्रोतलाई विर्स । आफ्नै मलमूत्रमा धैर्य गर ।

यदि स्त्री आदिको मासु नै प्रिय भएको भन्छौ भने आचार्य भन्नुहुन्छ–

मांसप्रियो ऽहमस्येति द्रष्टुं, स्प्रष्टुं च वाञ्छसि ।
अचेतनं स्वभावेन मांसं त्वं कथमिच्छसि ॥५४॥

मासु राम्रो लाग्छ भनी देख्न या छुन खोज्दछौ .
स्वभावैले अचेतन् हुन् मासु पो किन रोज्दछौ ॥५४॥

अन्वयार्थ : अहम् = म, अस्य = त्यो कायको, मांसप्रियः = मासु मनपर्नेवाला हुँ, इति = यस्तो भनेर, द्रष्टुं = हेर्न र, प्रष्टुं च = छुन पनि, वाञ्छसि = चाहान्छौं भने, त्वं = तिमीले, स्वभावेन = स्वभावैले, अचेतनं = चेतना नभएको जड, मांसं = मासुलाई, कथं = किन, इच्छसि = इच्छा गर्छौं त ?

यदि मैले उसको शरीरको मासुलाई मन पराएको हुँ, त्यसैले हेर्न र मुसार्न चाहान्छु भन्छौ भने त्यो त माटो समान जड र चेतनहीन कुरा हो । त्यसप्रति कामुक भएर के खोजेका हौ त ?

यदिच्छसि न तच्चित्तं द्रष्टुं स्प्रष्टुं च शक्यते ।
यच्च शक्यं न तद् वेत्तिं किं तदालिङ्गसे मुधा ॥५५॥

यदि चित्त खोज्दछौ त सकिन्न देख्न या छुन
जो सकिन्छ त्यो छ मूढ अँगाल्छौ व्यर्थमै किन ॥५५॥

अन्वयार्थ : यद् = जुन्, इच्छसि = इच्छा गरेका छौ, तत् = त्यो, चित्तं = चित्त हो भने, द्रष्टुं = देख्न र, स्प्रष्टुं च = छुन पनि, न शक्यतें = सकिँदैन, यद् च = जुन, शक्यं = सकिन्छ, तत् = त्यसले, न वेत्ति = जान्दैन, मुधा = व्यर्थमा, किं = किन, आलिङ्गसे = आलिङ्गन गर्छौं ?

यदि उसको चित्तलाई मन पराएका हौ भने त्यो चित्त त देख्न पनि सकिँदैन, छुन पनि सकिँदैन। जसलाई छुन देख्न सकिन्छ त्यसले केही पनि थाहा पाउँदैन याने जड नै छ। त्यसकारण व्यर्थमा त्यसलाई किन अँगाल्छौ ? नत्र त माटाको डल्लोलाई पनि अँगालो हाले भइहाल्यो।

नामेध्यमयमन्यस्य कायं वेत्सीत्यनदभुतम्।
स्वामेध्यमयमेव त्वं तं नावैषीति विम्मयः ॥५६॥

नजान्नु अरुको काय अशुचि हैन अद्भुत
आफ्नै अशुचि यो देह जान्दैनौ यो छ अद्भुत ॥५६॥

अन्वयार्थ : अन्यस्य = अर्काको, अमेध्यमयं = अशुचिले युक्त भएको, कायं = शरीरलाई, न वेत्सि इति = थाहा पाउदैनौ भन्ने कुरा, न अद्भुतं = आश्चर्यजनक होइन, (वरु) त्वम् = तिमीले, स्वामेध्यमयं = आफ्नो अशुचिले युक्त भएको, तं = त्यो (काय)लाई, न अवैपि इति = थाहा पाउदैनौ भन्ने कुरा, विस्मयः = आश्चर्यजनक छ।

अर्काको (स्त्री आदिको) शरीरलाई गूमूत आदि कुगन्धले भरिपूर्ण छ भन्ने बुझ्न सकेका छैनौ भने पनि यो त्यति आश्चर्यजनक कुरा होइन। परन्तु तिमीले आफ्नो सबभन्दा नजीकको र सधैं सँगै भइरहेको स्वयं आफ्नै शरीरलाई पनि मलले भरिपूर्ण छ भन्ने बुझ्न सकेका छैनौ, त्यो नै अत्यन्त आश्चर्यजनक कुरा हो।

विघनाकांशुविकचं मुक्त्वा तरुणपङ्कजम्।
अमेध्य-शौण्डिचित्तस्य का रतिर्गूथपञ्जरे ॥५७॥

विनाबादलका सूर्य-रश्मीले फक्रिने नयाँ
छोडी कमल फोहोरी चित्तको प्रेम भो गूमा ॥५७॥

अन्वयार्थ : विघनार्कांशुविकचं = बादलले नढाकिएका सूर्यको किरणले फक्रिएको, तरुणपङ्कजं = नयां कमललाई, मुक्त्वा = छोडेर, अमेध्यशौण्डिचित्तस्य = फोहोरो (मल-मूत्र)मा लम्पट भएको यो चित्तको, गूथपञ्जरे = गूको पिञ्जडाप्रति, का, रतिः = कस्तो प्रेम भएको होला।

वादलले रहित भएको सूर्यका किरणले गर्दा विकसित भएको नयाँ कमल (सबै आवरणहरूलाई प्रहाण गरिसकेका बुद्धहरूद्वारा उपदेश गरिएको सद्धर्म श्रवण आदि काम) लाई छोडेर यो फोहरमा लम्पट भैरहेको चित्तले गूमूतको टोकरीमा केको प्रेम या आसक्ति गरिरहेको होला ! यस्तो त कतैबाट पनि उचित हुँदैन। यसरी आचार्यले सद्धर्मश्रवणतिर लाग्न जोड गर्नुहुन्छ।

मृदाद्यमेध्यलिप्तत्वाद् यदि न स्प्रष्टुमिच्छसि।
यतस्तन्निर्गतं कायात् तं स्प्रष्टुं कथमिच्छसि ॥५८॥

माटो आदि पनि छुन्नौ मलले लेपियो भने
जो देहवाट त्यो निस्क्यो छुन त्यो किन चाहने ॥५८॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, अमेध्यलिप्तत्वात् = गूमूत लेपिएको कारणले, मृदादि = माटो, आदिलाई, स्प्रष्टुं = छुन, न इच्छसि = इच्छा गर्दैनौ भने, यतः = जुन, कायात् = शरीरवाट, तत् = त्यो (गूमुत), निर्गतं = निस्किएको हो, तं = त्यसलाई (शरीरलाई), स्प्रष्टुं = छुन, कथं = कसरी, इच्छसि = इच्छा गर्छौ ?

यदि माटो कपडा आदिमां मल–मूत्र जस्ता फोहर (अशुचि) कुरा लागे भने त्यसलाई छुन समेत चाहँदैनौ भने त्यो मलमूत्र जहाँबाट निस्केको छ त्यो (स्त्रीको) शरीरलाई फेरि किन मुसार्न खोजिरहन्छौ ?

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसे परम् ।
अमेध्यक्षेत्रसम्भूतं तद्वीजं तेन वर्धितम् ॥५९॥

अशुचिमा राग नभा' किन अर्को अँगाल्दछौ ?
अशुचिकै बीज त्यस्तै क्षेत्रमा जन्मियो बढ्यो ॥५९॥

__*अन्वयार्थ :*__ *यदि = यदि, ते = तिम्रो, अशुचौ = अशुचिप्रति, रागः न = राग छैन भने, अमेध्यक्षेत्रसम्भूतं = गूमूतको क्षेत्रवाट पैदा भएको, तद्वीजं = त्यसकै बीज, तेन वर्धिनं = त्यसवाट नै वढेको, परम् = अर्को (स्त्री आदि) लाई, कस्माद् = के कारणले, आलिङ्गसे = आलिङ्गनगर्छौ ?*

यदि तिम्रो आसक्ति अशुचिमा छैन या फोहर कुरामा छैन भने किन अर्को (स्त्री) लाई आलिङ्गन गर्छौ ? जब कि त्यो शरीर पनि फोहोरले भरिएको आमाको गर्भाशयबाट जन्मिएको हो । त्यसको बीज पनि त्यस्तै फोहर (रज, बीज) नै हो र त्यसको वृद्धि पनि त्यस्तै खाए पीएका कुराको विकार स्वरूप् फोहोर रसबाटै भएको हो ।

अमेध्यभवमल्पत्वान्न वाञ्छस्यशुचिं कृमिम् ।
बह्वमेध्यमयं कायममेध्यजमपीच्छसि ॥६०॥

फोहरको किरा थोरै गन्धाले छौ न चाहने
फोहरजन्य धेरै यो गन्धा देह त चाहने ? ॥६०॥

__*अन्वयार्थ :*__ *अमेध्यभवम् = गूमूत आदिवाट उत्पन्न भएको, अशुचिं = फोहरी, कृमिम् = किरालाई, अल्पत्वाद् = थोरै (फोहोर) छ भनेर, न वाञ्छसि = चाहँदैनौ भने, अमेध्यजं = गूमूत आदिवाट पैदा भएको, वहु अमेध्यमयं = धेरै फोहरले युक्त भएको, कायं = शरीरलाई, अपि = पनि, इच्छसि = इच्छा गर्छौ त ?*

गूमूत आदिबाट निस्केका किराहरूमा अलि अलि फोहर लागेको हुन्छ तापनि तिमीले त्यो फोहरको किरालाई मन पराउन्नौ भने स्त्री आदिको शरीर त झन् गूमूत आदिकै रसबाट बनेको हो र त्यसको मात्रा पनि त्यसमा अत्यधिक हुन्छ तर पनि तिमीले त्यसलाई चाहिराख्छौ । यो बडो आश्चर्यजनक कुरा हो !

न केवलममेध्यत्वमात्मीयं न जुगुप्ससि ।
अमेध्यभाण्डानपरान् गूयघस्मर वाञ्छसि ॥६१॥

आफ्नै फोहरको लाज तिमीलाई हुँदैन र
अन्य फोहरि भाँडाको मलभक्षी ! छ चाहना ॥६१॥

__*अन्वयार्थ :*__ *केवलं= केवल, आत्मीयं = आफ्नो, अमेध्यत्वं = फोहरपनलाई, न जुगुप्ससि न = लाजले नढाक्ने मात्र होइन, गूयघस्मर ! = हे गूमूतखानेवाला (मलभक्षी) ! अपरान् = अरु, अमेध्यभाण्डान् = फोहरको भाँडालाई समेत, वाञ्छसि = चाहना गर्छौ ।*

हे मलभक्षी ! गूमूत आदि फोहर कै उपभोगमा रमाउनेवाला ! तिमीले आफ्नै शरीरलाई नै मलले युक्त ठानेर त्यसलाई नै घृणा गरेर त्यसप्रति लज्जा उत्पन्न गर्नु त कता छ कता, त्यो पनि तिमी गर्दैनौ भने, अझ त्यति मात्र नभएर झन् तिमीले अन्य गूमूत भरिएका भाँडाहरू (अन्य स्त्री आदि) प्रति पनि लालसा राखिराख्छौ ? धिक्कारै छ, तिमी अज्ञानीलाई !

कर्पूरादिषु हृद्येषु शाल्यन्नव्यञ्जनेषु वा ।
मुखक्षिप्तविसृष्टेषु भूमिरप्यशुचिर्मता ॥६२॥

कपूर आदि मन् पर्ने, शालीको भात व्यञ्जन
परेर मुखमा थुक्दा जमीनै हुन्छ फोहर ॥६२॥

__अन्वयार्थ :__ हृद्येषु = मनलाई प्रसन्न पार्ने खालका, कर्पूरादिषु = कपूर आदि, वा = अथवा, शाल्यन्नव्यञ्जनेषु = शालीधानको अन्न (भात) र व्यञ्जन परिकारहरू पनि, मुखक्षिप्तविसृष्टेषु = मुखमा राखेपछि थुकिएमा, भूमिरपि = जमीन समेत, अशुचिः = अपवित्र हुन्छ भन्ने, मता = मानिएको छ ।

कपूर जस्ता हृदयलाई प्रसन्न पार्ने खालका भोजन या शालीधानको मीठो भात र विभिन्न व्यञ्जन परिकारहरू पनि एकपटक मुखमा हाल्ने वित्तिकै उल्टी (वान्ता) गर्ने हो भने त्यो खसेको जमीन समेत अपवित्र मानिन्छ र मानिसहरूले त्यसलाई हेर्न समेत चाहँदैनन् । तिमीलाई त्यो शरीर कसरी त्यस्तो प्रिय लागिरहेको छ ?

यदि प्रत्यक्षमप्येतदमेध्यं नाधिमुच्यते ।
श्मशाने पतितान् घोरान् कायान् पश्यापरानपि ॥६३॥

यस्तो प्रत्यक्ष फोहोर पनि विश्वास छैन त
श्मशानमा गई हेर परेका घोर लाश त ॥६३॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, एतद् = यो, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्षै भइरहेको, अमेध्यं = अशुचि (गूमूतकै फोहोर)लाई, न अधिमुच्यते = विश्वास गर्न सकिएन भने, श्मशाने = मसानघाटमा, पतितान् = पल्टिराखेका, घोरान् = डरलाग्दा, अपरान् = अरु, कायान् अपि = शरीरहरूलाई पनि, पश्य = हेर !

यस्तो प्रत्यक्षै देखिइरहेको कुराप्रति पनि तिम्रो विश्वास भएन भने जाऊ र मसानघाटमा हेर त । त्यहाँ विभिन्न थरीका लाशहरू पल्टिरहेका हुन्छन् । कोही सुन्निएका होलान्, कोही नीला भएका होलान्, कोही किरा परेका होलान्, कोही एता उता छरिएका होलान् । यसरी डरलाग्दा लाशहरूलाई हेर, तब मात्र तिमीलाई विश्वास होला ।

चर्मण्युत्पाटिते यस्माद् भयमुत्पद्यते महत् ।
कथं ज्ञात्वापि तत्रैव पुनरुत्पद्यते रतिः ॥६४॥

छाला निकालिंदा मात्रै पनि हुन्छ ठूलै डर
त्यो जानेर त्यहीं फेरि भएछौ किन लम्पट ॥६४॥

__अन्वयार्थ :__ यस्माद् = जुन शरीरदेखि, चर्मणि = छाला, उत्पाटिते = निकालिएमा, महद् = ठूलो, भयं = डर, उत्पद्यते = उत्पन्न हुन्छ (यो), ज्ञात्वा अपि = जानेर पनि, पुनः = फेरि, तत्रैव = त्यही शरीरमा नै, रतिः = प्रेम (आसक्ति), कथं उत्पद्यते = कसरी उत्पन्न हुन्छ ?

त्यही शरीरको छाला निकालेको देख्दा पनि ठूलो डर पैदा हुन्छ (वेदनाको डरलाई छोडेर रगत र मासुको वीभत्स स्वरूप देख्दा मात्रै पनि)। त्यो शरीरको त्यस्तो हालत जानिसकेर पनि फेरि किन तिमी त्यसकै प्रेममा फसिराख्न सकेका छौ ? त्यस्तो शरीरमा प्रेमै कसरी उत्पन्न हुन सक्छ ? शरीरको वासना (सुगन्ध)ले गर्दा त्यस्तो भएको भन्छौ भने –

> काये न्यस्तो ऽप्यसौ गन्धश्चन्दनादेव नान्यतः ।
> अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यसे ॥६५॥

शरीरको यो सुवास चन्दनैबाट आउँछ
एउटाको वासनाले अर्कोमा किन प्रेम छ ? ॥६५॥

__अन्वयार्थ :__ असौ = यो, गन्धः = वासना, काये = शरीरमा, न्यस्तः अपि = रहेको छ तापनि, चन्दनादेव = चन्दनबाट नै भएको हो, अन्यतः = अरुबाट, न = होइन, अन्यदीयेन = अर्केको, गन्धेन = वासनाले, अन्यत्र = अर्कै कुरामा, कस्मात् = के कारणले, रज्यते = राग गर्छौ ?

यो शरीरमा भएको गन्ध (वासना) त चन्दन (अत्तर) आदिबाट पो भएको हो त, स्वयं शरीरबाट आएको गन्ध त होइन। त्यसकारण एउटा कुराबाट उत्पन्न भएको वासनाको कारणले वासनै नभएको अर्कै कुरा (शरीर) मा किन प्रेम गरिएको हो ? याने चन्दन, अत्तर आदि वस्तुको गन्धले शरीरलाई किन कमनीय (सुन्दर) मान्ने ?

> यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् रागो नात्र शिवं ननु ।
> किमनर्थरुचिर्लोकस्तं गन्धेनानुलिम्पति ॥६६॥

स्वभावैले गन्हाएर हो भने कलियाण छ
अनर्थमा रुचि गरी लोकले लेप्छ चन्दन ॥६६॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, अत्र = यो शरीरमा, स्वभावदौर्गन्ध्याद् = स्वभावैले दुर्गन्धभएको कारणले, रागः न = राग हुन नसकेको हो भने, ननु = निश्चय नै, शिवम् = कल्याणकारी नै भयो। अनर्थरुचिः = अनर्थक कुरामा रुचिभएको, लोकः = लोकले, तं = त्यो शरीरलाई, किम् = किन, गन्धेन = चन्दनले, अनुलिम्पति = लेप्ने काम गर्छ कुन्नि ?

यदि यो शरीर स्वभावैले दुर्गन्धित भएबाट यसप्रति राग हुन नसकेको कारणले चन्दन लेपेको हो भने त्यो दुर्गन्धित हुनु र त्यो देख्नु त बडो कल्याण कारक कुरा नै हो। किन यो अनर्थकारी लोकले व्यर्थमा चन्दन आदि लेपेर स्वाभाविक कुरालाई विगारेर आसक्ति पैदा गर्ने बनाउँछ ? शुरुमै दुर्गन्धित भए त आसक्तिलाई कम गरिहाल्छ र कल्याणै हुन्छ नि। यसले वैराग्य पनि पैदा गराउँछ र सद्धर्मप्रति रुचि पनि बढाइदिन्छ। अतः लोकले वेकारमा यसलाई चन्दन आदि लेपेर झन् आसक्ति बढाउने काम गरेको छ।

> कायस्यात्र किमायातं सुगन्धि यदि चन्दनम् ।
> अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ? ॥६७॥

कायलाई भयो के र ! सुगन्धी यदि चन्दन
एउटाको वासनाले अर्कोमा प्रेम भो किन ?. ॥६७॥

Acc. 28593
24/4/13

अन्वयार्थ : यदि = यदि, चन्दनम् = चन्दन, सुगन्धि = सुगन्धले युक्त छ भने, अत्र = यहाँ, कायस्य = शरीरको, किम् आयातम् = के आयो र ? अन्यदीयेन = अर्काको, गन्धेन = गन्धले, अन्यत्र = अर्को स्थानमा, कस्मात् = के कारणले, रज्यते = राग पैदा गर्ने ?

यदि चन्दन सुगन्धित हो भने पनि शरीरको त के भयो र ? त्यो त न सप्रियो न बिग्रियो। आफ्नो स्वभाव यथास्थानमै छ र अझै पनि दुर्गन्धित छ। चन्दन लगाउँदैमा शरीरबाटै वासना निस्कने या शरीरै सुगन्धित बन्ने त होइन। अतः चन्दन आदिको गन्धले अर्कै कुरा(शरीर)मा किन राग गर्ने ? याने बुद्धिमान्‌का निमित्त यस्तो गर्नु बिल्कुलै उपयुक्त हुँदैन।

यदि केशनखैर्दीर्घैर्दन्तैः समलपाण्डुरैः ।
मलपङ्कधरो नग्नः कायः प्रकृतिभीषणः ॥६८॥
स किं संस्क्रियते यत्नादात्मघाताय शस्त्रवत् ।
आत्मव्यामोहनोद्युक्तैरुन्मत्तैराकुला मही ॥६९॥

यदि लामा केश नङ, पहेंला दाँतले गरी
मल बोक्ने नग्न देह स्वभावैले छ भीषण ॥६८॥
संस्कार गर्ने किन त्यो मिहेनत गरी कन
आत्महत्या गर्न हो कि जस्तै शस्त्र उदाउँदै ।
आफैलाई स्वयं धोका दिन उद्यत पागलै
हरूले धरती सारा अति आकुल नै छ रे ! ॥६९॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, मलपङ्कधरः = मलरूपी हिलो बोकेको, नग्नः = नाङ्गो, कायः = शरीर, दीर्घैः = लामा लामा, केशनखैः = केश र नङले र; समलपाण्डुरैः = मलले युक्त हुनाले पहेंला भएका, दन्तैः = दाँतहरूले गर्दा, प्रकृतिभीषणः = स्वभावले नै डरलाग्दो छ भने,

स = त्यो काय, किम् = किन, यत्नाद् = प्रयत्नपूर्वक, आत्मघाताय = आत्महत्या गर्नलाई, शस्त्रवत् = हतियारलाई झैं, संस्क्रियते = संस्कार गरिदै छ ? मही = यो पृथ्वी, आत्मव्यामोहनोद्युक्तैः = आफूलाई नै भ्रान्तिमा पार्नको निमित्त उद्यत भइरहेका, उन्मत्तैः = पागलहरूले, आकुला = आकुलव्याकुल भएको छ !

यदि केश, नङ् आदि लामा लामा भएका र दाँतहरूमा मल जम्नाले पहेंलो भएका कारणले गर्दा यो मलैमलको हिलोले लेपिएको नाङ्गो शरीर स्वभावैले भयावह छ भने यसलाई नङ् काट्ने, केश छाँट्ने जस्ता संस्कारहरू किन गरिरहने ? त्यो त आत्महत्या गर्नलाई खुकुरीको संस्कार गरेजस्तै (उदाएर धारिलो बनाएजस्तै) हो। किनकि हतियारमा धारलगाउने कामले आफ्नै हत्यालाई सजिलो बनाइदिन्छ। यहाँ पनि यो फोहरी कायलाई त्यस्तै जानेर वैराग्य उत्पन्न गर्नुको बदला त्यसलाई विभिन्न संस्कारहरू गरेर राम्रो जस्तो बनाई स्वयंलाई आसक्तिमा फसाउने षडयन्त्र भइरहेको छ। आफैले आफूलाई धोका दिइराखेका छन् पागलहरूले ! त्यस्ता आफैलाई फसाउन लागिपरेका उन्मत्त पागलहरूले गर्दा धरती पनि आकुल व्याकुल भइसकिन्। यस्ता मानिसलाई कसरी सचेत या जागरुक भन्ने ?

कङ्कालान् कतिचिद् दृष्ट्वा श्मशाने किल ते घृणा ।
ग्रामश्मशाने रमसे चलत्कंकालसङ्कुले ॥७०॥

श्मशानमा कतिपय देख्दा कङ्काल भो घृणा
रम्छौ ग्रामश्मशानैमा चल्ने कंकालव्याप्तमा ॥७०॥

अन्वयार्थ : श्मशाने = मसानघाटमा, कतिचित् = कतिपय, कङ्कालान् = कङ्कालहरूलाई, दृष्ट्वा = देखेर, ते = तिमीलाई, किल घृणा = घृणा त पैदा हुन्छ, चलत्कङ्कालसंकुले = चल्ने भएका कंकालहरूले कोलाहल भएको, ग्रामश्मशाने = गाउँरूपी मसानमा भने, रमते = रमाउँछौ ।

मसानघाटमा पल्टेका हाडका कङ्कालहरूलाई देख्दा त तिमीमा भित्रदेखि घृणा र भय उत्पन्न हुन्छ परन्तु तिम्रो वरिपरि यत्रतत्र देखिने गाउँ पनि एक मसानघाट नै हो जहाँ चल्ने खालका थुप्रै कङ्कालहरूले आकुलव्याकुल पारिराखेका हुन्छन् । त्यो ग्रामश्मशान याने गाउँरूपी मसानघाटमा त तिमी निर्धक्कसँग रमाएर बसिरहेका छौ ! गाउँ र मसानघाटमा फरकै के छ र ? शरीर त उत्तिकै अशुभ हुन्छन्, मसानमा निश्चल हुन्छन् भने गाउँमा शरीर चल्छन् पनि । फरक त्यति नै हो, आखिर त्यो पनि मसानै त भयो ।

> एवं चामेध्यमप्येतद् विना मूल्यं न लभ्यते ।
> तदर्थमर्जनायासो नरकादिषु च व्यथा ॥७१॥

त्यो फोहर पनि मूल्यविना पाइन्न है यहाँ
त्यस्लाई श्रम चाहिन्छ, पीडा छ नरकादिमा ॥७१॥

अन्वयार्थ : एवं = यस प्रकारले, एतद् = यो, अमेध्यं च = फोहर कुरा पनि, मूल्यं विना = मूल्य विना, न लभ्यते = पाइँदैन, तदर्थम् = त्यसका निमित्त, अर्जनायास: = कमाउने काममा प्रयास गर्नुपर्ने हुन्छ, नरकादिषु च = नरक आदिमा पनि, व्यथा = पीडा भोग्नुपर्ने हुन्छ ।

यसरी त्यो अशुभ (फोहरी) शरीर(प्रेमीकाको)लाई प्राप्त गर्न पनि धन दौलतको मूल्य विना हुँदैन । त्यसका निमित्त धन सम्पत्ति कमाउनुपर्छ । त्यसको लागि खेती, व्यापार, व्यवसाय आदि गर्न परिश्रम गरिरहनुपर्छ । त्यो परिश्रमबाट पनि दुःखै भइरहेको हुन्छ । त्यसमा पनि सम्यक् आजीविका भएन भने अकुशल तरीकाले धन कमाउँदाखेरि नरकमा जानुपर्ने हुन्छ र नारकीय पीडा पनि भोग्नुपर्ने हुन्छ । अतः यो त इहलोक र परलोकमै पनि अनर्थको कारण बनेको छ । त्यसबाट साँच्चिकै सुख पाउन कहीं पनि सम्भव छैन ।

> शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं केनासौ यौवने सुखी ।
> यात्यर्जनेन तारुण्यं वृद्धः कामैः करोति किम् ॥७२॥

शिशुको हुन्न सामर्थ्य कमाउन, जवानीमा
केले हुने सुखी त्यस्तै, कमाई वित्छ यौवन ।
अनि वूढो भएमा त के गर्ने काम भोगले ? ॥७२॥

अन्वयार्थ : शिशो: = वालकको, अर्जनसामर्थ्यं = कमाउने क्षमता, न = हुँदैन, असौ = यो व्यक्ति, यौवने = जवानीमा, केन = केले, सुखी = सुखी होला ? तारुण्यं = युवावस्था, अर्जनेन =कमाउँदा कमाउँदै, याति = वित्दछ, वृद्धः = वूढो भएपछि, कामैः = कामभोगले, किं करोति = के गर्छ र ?

बाल्यावस्था छउञ्जेल धन कमाउने सामर्थ्य हुँदैन । त्यस्तो व्यक्तिले युवावस्थामा आएर कसरी सुख पाउँछ ? यौवनभरि सधै कमाउने काममै बिताउनुपर्ने हुन्छ र बित्छ पनि । किनकि कमै भाग्यशालीलाई मात्र आमा बाबुले कमाएको पैतृक सम्पत्तिमा मोजमस्ती लिने मौका भएको हुन्छ । यसरी बूढो भएपछि इन्द्रियहरू शिथिल हुन्छन् । अनि त कामभोगको के प्रयोजन रह्यो त ? अतः धनको पछि लाग्दालाग्दै जीवन त दुःखमै बितिरहेको हुन्छ । यदि 'धन कमाउँदा कमाउँदै सुख पनि भोग्दै गए त भइहाल्छ नि' भन्ने हो भने -

केचिद् दिनान्तव्यापारैः परिश्रान्ताः कुकामिनः ।
गृहमागत्य सायान्हे शेरते स्म मृता इव ॥७३॥

कोही कामुक थाकेर गरी काम दिनै भरि
साँझमा घर आएर सुत्ने गर्छन् मरे सरि ॥७३॥

अन्वयार्थ : केचिद् = कोही, कुकामिनः = खराब वासनामा लागेकाहरू, दिनान्तव्यापारैः = दिनभरिको कामकाजवाट, परिश्रान्ताः = थाकेका छँदा, गृह = घरमा, आगत्य = आएर, सायाह्ने = साँझ परेपछि, मृता इव = मरेको समान, शेरते स्म = सुत्ने गर्छन् ।

कोही कामुक व्यक्तिहरू दिनभरि आफ्नो दैनिक रोजगारीको काममा व्यस्त हुन्छन् र त्यसले गर्दा राम्रैसँग थाकेर बेलुका घर आउँछन् । अनि एउटा मरेको लाश पल्टे झैं गरी पल्टेर भुसुक्क निदाउँछन् । विहान उठेपछि फेरि उही काममा लागिहाल्छन् । यसरी यी सामान्य उद्देश्यका काममा आफ्नो पूरै अमूल्य जीवन बिताइदिन्छन् । त्यस्ताले कसरी सुखभोग गर्लान् ?

दण्डयात्राभिरपरे प्रवासक्लेशदुःखिताः ।
वत्सरैरपि नेक्षन्ते पुत्रदारांस्तदर्थिनः ॥७४॥

अर्काले दण्ड-यात्रामा प्रवासैमा भई दुःखी
वर्षौंसम्म पुत्र-पत्नी आदि देख्न नपाउने ॥७४॥

अन्वयार्थ : अपरे = अर्काथरि व्यक्तिहरू, दण्डयात्राभिः = दण्ड दिन या यात्रा गर्न, प्रवासक्लेश-दुःखिताः = परदेशमै वस्नुपर्ने क्लेशले दुःखी भएका छँदा, पुत्रदारान् = छोरा-श्रीमतीहरूलाई, तदर्थिनः अपि = चाहँदा चाहँदै पनि, वत्सरैः = वर्षौंसम्म, न ईक्षन्ते = देख्दैनन् ।

अर्काथरि कामी पुरुषहरू सेवक बनेर अरुको काम गर्ने भई दण्ड आदि दिने, लड्ने भिड्ने गर्न या ठगी गरेर, लूटेर धन कमाउन टाढा टाढातिर देशान्तरमा घुम्ने गर्छन् र परदेशमा बस्ने बेलाका क्लेशहरूले दुःखी हुन्छन् । उनीहरूले आफ्ना पत्नी पुत्र आदिलाई चाहँदा चाहँदै पनि वर्षौंसम्म देख्न नपाएरै त्यत्रो कष्ट भोग गरिरहेका हुन्छन् ।

यदर्थमेव विक्रीत आत्मा कामविमोहितैः ।
तन्न प्राप्तं मुधैवायुर्नीतं तु परिकर्मणा ॥७५॥

जस्का निमित्त आफै नै बेचियो काममूढले
त्यो पाइएन सेवाले आयु व्यर्थै बिताइयो ॥७५॥

अन्वयार्थ : कामविमोहितैः = काम वासनाले मोहित भएका व्यक्तिहरूद्वारा, यदर्थं = जेका निमित्त, आत्मा = आफैलाई नै, विक्रितः = वेचियो, तत् = त्यो, न प्राप्तं = पाइएन, आयुः = जीवन अवधि, तु = ता, परिकर्मणा = सेवा चाकडीले, मुधा एव = व्यर्थमा नै, नीतम् = विताइयो ।

त्यस्ता काम वासनाले विमूढ भएका व्यक्तिहरूले आफूलाई नै बेचेरअरुको दासत्व स्वीकारेर जुन कुरा प्राप्त गर्न खोजेका हुन् त्यो पनि उनीहरूले प्राप्त गर्न सकेका हुन्नन् । किनकि उनीहरूले चाहेको कुरा सुख प्राप्त गर्नु थियो र त्यो सुख नपाएरै जीवन बितेको हुन्छ । अतः सुख त पाइएन, आफ्नो जीवन पनि व्यर्थमै अरुको सेवा चाकडी गरेरै खेर फालियो । कुनै राम्रो काममा लगाइएन ।

यहाँ प्रश्न उठ्न सक्छ कि अरुको चाकडी त परहित नै होइन र ? किन त्यो कामलाई 'मुधा = व्यर्थमा' भनेर तुच्छ ठहऱ्याइयो ? परन्तु कुरा के हो भने न त्यो सेवाचाकडीले मालिककै परम हित हुन्छ, न आफ्नो परम हित हुन्छ । केवल आफ्नो लौकिक स्वार्थलाई पूरा गर्ने सिलसिलामा दुवैथरिको राग द्वेष आदि क्लेशहरूको आवरण थपिने मात्र हुन्छ । त्यसैले 'मुधा' भनिएको हो । त्यसकारण आफूलाई बेच्ने कामुकहरूले यो जीवनलाई व्यर्थमै विताएका हुन्छन् ।

विक्रीतस्वात्मभावानां सदा प्रेषणकारिणाम् ।
प्रसूयन्ते स्त्रियो ऽन्येषामटवीविटपादिषु ॥७६॥

वेचेर आफूलाई नै अरुको त खटानमा
हिंड्नेका स्त्री जँगलैमा प्रसवा हुन पुग्दछन् ॥७६॥

अन्वयार्थ : विक्रीतस्वात्मभावनां = आफूलाई नै वेचेका, सदा = सधै, अन्येषां = अरु (मालिक)का, प्रेषणकारिणाम् = अह्राए अनुसार गर्ने व्यक्तिहरूका, स्त्रियः = स्त्रीहरू, अटवीविटपादिषु = जंगलका रुख आदिमा, प्रसूयन्ते = सुत्केरी हुन्छन् ।

सुखको लालसाले आफ्नो जीउलाई नै बेचेर पराधीन भएका व्यक्तिहरूलाई उनका मालिकहरूले जता पठाए त्यतै हिंडिराख्नुपर्ने भएकोले प्रायः त्यस्ताका पत्नीहरूले घरमा सजिलोसँग सुत्केरी हुन पनि नपाएर बाटामा हिंड्दा हिंड्दै कहिले जंगलका रुखमा कहिले नदीका किनारामा या पहाडको फेंदीमा या यस्तै कष्टकर स्थानहरूमै प्रसववेदना भोग्नुपर्ने हुन्छ ।

अझ कोही त झन् अचम्मको काम गर्छन्–

रणं जीवितसन्देहं विशन्ति किल जीवितुम् ।
मानार्थं दासतां यान्ति मूढाः कामविडम्बिताः ॥७७॥

वाँच्नलाई युद्ध गर्छन् जहाँ बाँच्नै छ मुश्किल
मानार्थ दासता लिन्छन् मूर्ख ती काममोहित ॥७७॥

अन्वयार्थ : कामविडम्विताः = कामले गर्दा (या कामको लागि) विडम्वित भएका, मूढाः = मूढ व्यक्तिहरू, जीवितुं = जीवनका निमित्त, जीवितसन्देह = वाँच्ने कुरामै पनि सन्देह हुने, रणं = युद्धक्षेत्रमा, विशन्ति = प्रवेश गर्दछन्, किल = खै ? (अरुचि प्रकट गरेको), मानार्थं = मानका निमित्त, दासतां = दासतामा, यान्ति = प्राप्त हुन्छन् ।

विषयसुखको इच्छाले नराम्रोसँग ढालिएका याने विडम्वित तुल्याइएका मूढ व्यक्तिहरू जीवन राम्रोसँग चलाउन धन कमाउनको लागि ठूला ठूला युद्धहरूमा पनि हामफालेका हुन्छन् जहाँ

जीवनै रहने हो कि होइन भन्ने कुराको केही भरोसा हुँदैन। एकातिर जीवनको सुख लिने त्यत्रो इच्छा, अर्कातिर काम भने अहिल्यै जीवन जाने हो कि अलि वेरपछि जाने हो भन्ने कुरा समेत अनिश्चित भएको रणमैदान ! विचराहरू कति मूर्ख होलान्। आफ्नो मान (पदवी) लाई बढाउन अर्काको गुलामी गरेर अर्काको दास बनेर ज्यानलाई जोखिममा पार्नपुगेका हुन्छन्। यस्ता गुलामहरूलाई विषयसुख त खै के मिल्ला र ?

त्यस्ता कामासक्तहरूले त यही जन्ममा पनि दुःख पाएका हुन्छन् भन्ने कुरा दर्शाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

छिद्यन्ते कामिनः केचिदन्ये शूलसमर्पिताः।
दृश्यन्ते दह्यमानाश्च हन्यमानाश्च शक्तिभिः ॥७८॥

कोही कामी पुरुष ता काटिन्छन्, शूलीमा पनि
चढाइन्छन्, जलाइन्छन्, भालाले गोभिने अनि ॥७८॥

__अन्वयार्थ :__ केचित् = कोही, कामिनः = कामसक्त व्यक्तिहरू, छिद्यन्ते = काटिन्छन्, अन्ये = अरु कोही, शूलसमर्पिताः = शूलीमा चढाइएका, दह्यमानाश्च = जलाइएका र, शक्तिभिः = भाला आदिले, हन्यमानाश्च = मारिएका पनि, दृश्यन्ते = देखिन्छन्।

कामासक्त भएर परस्त्री आदि माथि हातपात गर्ने जस्ता काम गर्ने कामी पुरुषलाई कहीं काटिदिन्छन् भने कहीं शूलीमा चढाएर मार्छन्। त्यस्तै कहीं आगो लगाएर जलाइदिन्छन् भने कहीं तीखा हात हतियारले गोभेर मारिएको देखिन्छ। त्यसकारण यहीं पनि उनीहरूलाई सुख छैन भने परलोकको त के कुरा गर्नु ?

अतः धन कमाउन अन्धाधुन्ध भएर लाग्दाखेरि सुखको साधन हो कि भनेजस्तो देखिएको हुन्छ तापनि त्यसबाट धेरै अनर्थहरूको श्रृङ्खला जोडिएर आइलाग्छ। त्यसैले आचार्यले सम्भाउनुहुन्छ-

अर्जन-रक्षण-नाश-विषादै-
र्रथमनर्थमनन्तमवेहि।
व्यग्रतया धनसक्तमतीनां
नावसरो भवदुःखविमुक्तेः ॥७९॥

पाउन, राख्न, विनाश- दुःखैले
अर्थ अनर्थ अनन्त बुझे है।
व्यग्रभई धनलुब्ध हुँदा त
फुर्सद हुन्न जगद्दुःख तर्न ॥७९॥

__अन्वयार्थ :__ अर्थं = धनलाई, अर्जन-रक्षण-नाशविषादैः = कमाउन, रक्षागर्न र नाशहुँदाखेरि दुःख खप्नु पर्ने भएकोले, अनन्त = अन्तै नहुने, अनर्थम् = अनर्थ कुरा हो भनेर, अवेहि = जान। व्यग्रतया = व्यग्र भएर (चाहनाले आकुल भएर) धनसक्तमतीनां = धनमा आसक्त भएको बुद्धि हुनेहरूलाई, भवदुःखविमुक्तेः = संसारको दुःखवाट मुक्त हुनको लागि, अवसरः न = फुर्सद नै हुँदैन, याने समय नै निस्किँदैन।

धनलाई कमाउने वेलामा दुःख हुन्छ, कमाइएको धनलाई सुरक्षा गर्न पनि दुःखै हुन्छ

किनकि आगो, पानी, प्राकृतिक प्रकोप आदिबाट कसरी जोगाउने भन्ने चिन्ता भइरहन्छ, विभिन्न उपायले कसैगरी बचाइराखेको धन पनि लुटेरा, चोर, डाँका आदिले अपहरण गरिदिँदा त्यो धन नाश भएकोले धेरै नै पीडा हुन्छ । यसरी धन आउँदा पनि, रहँदा पनि र जाँदा पनि पीडा गरिराखेको हुन्छ । त्यसैले धन स्वयं नै अनर्थको कारण हो र यसले अनन्त रूपमा अनर्थलाई निम्त्याइरहेको हुन्छ । परन्तु धनमा लोलुप व्यक्तिहरू सधैं नै धनार्जनमै व्याकुल भइरहेका हुन्छन् । त्यसकारण उनीहरूलाई सांसारिक जन्म, मरण आदि दुःखबाट मुक्ति पाउनको लागि समय नै हुँदैन, सधैं नै व्यस्त हुन्छन् ।

यसरी स्त्री-राग र धन-रागलाई बेठिक बताइसकेपछि आचार्यले कामासक्तिलाई त्यागन जोडदिँदै भन्नुहुन्छ-

एवमादीनवो भूयानल्पास्वादस्तु कामिनाम् ।
शकटं वहतो यद्वत् पशोर्घासलवग्रहः ॥८०॥

अतः अनर्थ कामीका धेरै छन् स्वाद छन् कमै
गाडा तान्ने पशुजस्तै घाँसको गास तान्छ नै ॥८०॥

__अन्वयार्थ :__ एवम् = यसरी, कामिनाम् = कामासक्तहरूको, आदीनवः = अनर्थ, भूयान् = धेरै हुन्छ, अल्पास्वादः = सुखको आस्वाद थोरै हुन्छ, यद्वत् = जस्तै, शकटं = गाडा, वहतः = तान्ने, पशोः = पशु (गोरु, राँगा आदि)को, घासलवग्रहः = एक गास घाँस ग्रहण हुन्छ (त्यस्तै हो) ।

यसप्रकार कामासक्त व्यक्तिहरूका अनर्थ या अनिष्ट नै धेरै हुन्छन्, स्वाद या सुख त अलिअलि मात्र भएजस्तो हुन्छ । जसरी गाडा आदि तान्ने बयल (गोरु), राँगोले दिइएको दुइ चार गास घाँसको मूठो टोक्दा सुख पाएको जस्तो अनुभव गर्छ तैपनि उसको थकान र श्रमको कष्टका सामु त्यो सुख पनि नगण्य नै हुन्छ त्यस्तै यी कामासक्त व्यक्तिको सुख पनि नगण्य नै हुन्छ ।

तस्यास्वादलवस्यार्थे यः पशोरप्यदुर्लभः ।
हता दैवहतेनेयं क्षणसम्पत् सुदुर्लभा ॥८१॥

पशुलाई पनि प्राप्त त्यही स्वाद लिनै भनी
दुर्लभै क्षणसम्पति फ्याल्दैछन् भाग्यहीन यी ॥८१॥

__अन्वयार्थ :__ यः = जुन, पशोरपि = पशुलाई पनि, अदुर्लभः = दुर्लभ छैन, तस्य = त्यस्तो, आस्वादलवस्य अर्थे = स्वादको गासका निम्तिमा, दैवहतेन = भाग्यद्वारा ठगिएकाहरूले, इयम् = यो, सुदुर्लभा = प्राप्त गर्न ज्यादै दुर्लभ भएको, क्षणसम्पत् = क्षणसम्पत्ति पनि, हता = नष्ट गरिएको छ ।

त्यस्तो लेशमात्र सुखको प्राप्तिका निमित्त पनि यी कामासक्त अभागीहरूले यस्तो अमूल्य क्षणसम्पत्तिलाई पनि नष्ट गरिरहेका छन् जबकि त्यस्तो गास त ती पशुहरूले पनि पाएकै छन् । त्यो त त्यस्तो दुर्लभ कुरा होइन । परन्तु मानव जन्म त धेरै दुर्लभ कुरा हो ।

अवश्यं गन्तुरल्पस्य नरकादिप्रपातिनः ।
कायस्यार्थे कृतो यो ऽयं सर्वकालं परिश्रमः ॥८२॥

ततः कोटिशतेनापि श्रमभागेन बुद्धता ।
चर्यादुःखान्महद्दुःखं सा च बोधिर्न कामिनाम् ॥८३॥

अवश्य सिद्धिने तुच्छ, खस्ने नरक आदिमा
कायका निम्ति जो यत्न सदाकाल भयो यहाँ ॥८२॥
त्यस्को करोडवाँ अंशबाट नै हुन्छ बुद्धता
चर्या दुःखदेखि बढी कामीको छ, न बुद्धता ॥८३॥

अन्वयार्थ : अवश्यं गन्तुः = अवश्य नाश हुने, अल्पस्य = तुच्छ, नरकादिप्रपातिनः = नरक आदितिर खस्नेवाला, कायस्य अर्थे = शरीरका निमित्त, सर्वकालं = सदाकाल नै, कृतः = गरिएको, यः अयं परिश्रमः = जो यो परिश्रम छ,

ततः = त्यसको, कोटिशतेन = सय करोडौं, श्रमभागेन अपि = परिश्रमको एक अंशले पनि, बुद्धता = बुद्धता हुन्छ, चर्यादुःखात् = 'चर्या' आदिमा हुने दुःखभन्दा त, कामीनां = कामी व्यक्तिहरूको, महद्दुःखं = धेरै ठूलो दुःख हुन्छ, सा बोधिश्च = त्यो बोधि पनि, न = प्राप्त हुँदैन ।

यो मानव देह प्राप्त गर्न अनन्त जन्मसम्म जुन पुण्यआर्जनको परिश्रम गरियो, त्यसरी प्राप्त गरिएको यो शरीर त क्षणभङ्गुर, अवश्य नाश हुने र तुच्छ छ । त्यति मात्र होइन, यहाँ अझ धेरै कुशल (पुण्य) जम्मा नगरेमा फेरि नरक या प्रेत आदितिरै झर्नेवाला छ । यस्तो शरीर पाउन गरेको त्यत्रो श्रमका तुलनामा बुद्धता प्राप्त गर्न चाहिने श्रम त करोडौं अंशको एक अंश पनि छैन । बोधिसत्त्वचर्या आदि गर्दा फेरि जन्मिने, आँखा, हात पाउ आदि दान गर्ने जस्ता काममा जुन दुःख सहनुपर्छ त्यो दुःखभन्दा कामासक्त सांसारिक मूढहरूले सहनुपर्ने जन्म जन्मान्तरका नरक, प्रेत, पशु आदिको दुःख कता हो कता बढी हुन्छ । बोधिसत्वहरूले सहने दुःख त आफ्नो इच्छाले छानिएको, अल्पकालिक र कम पीडादायक एवं बन्धनका संस्कारहरूलाई बढाउँदै जानुको बदला क्षय गर्दै लग्नेखालको हुन्छ, बोधिलाभ पनि भइहाल्छ । जब कि ती कामासक्त सांसारिक व्यक्तिको त दुःख पनि धेरै हुन्छ भने त्यस्तो बुद्धताप्राप्ति पनि हुँदैन । विचराहरू कति ठगिएका रहेछन् त ?

न शस्त्रं न विषं नाग्निर्न प्रपातो न वैरिणः ।
कामानामुपमां यान्ति नरकादिव्यथास्मृतेः ॥८४॥

न शस्त्र, विष या आगो, न छाँगो न त शत्रुले
कामको तुलना हुन्छ पीडा नारक सम्झिए ॥८४॥

अन्वयार्थ : नरकादिव्यथास्मृतेः = नरक आदिका पीडाहरूलाई सम्झँदा, न शस्त्रं = न शस्त्र, न विपं = न विप, न अग्निः = न आगो, न प्रपातः = न भीर (छाँगो), न वैरिणः = न शत्रुहरू, कामानाम् = काम (वासना) हरूका, उपमां यान्ति = उपमा बन्न सक्छन् ।

जब नरक, प्रेतआदिको दुःख यादआउँछ तब त्यहाँको दुःखसँग बराबरी गर्ने न शस्त्रको दुःख छ, न विषको दुःख हुन्छ, न आगोको दुःख हुन्छ, न भीरबाट खसाउने दुःख हुन्छ, न शत्रुको दुःख हुन्छ । लोकमा दुःख दिन यिनै शस्त्र, विष आदि कुराहरू नै प्रसिद्ध छन् । परन्तु दुःख दिने काममा 'काम'को बराबर त यी पनि हुँदैनन् किनभने यिनीहरूबाट हुने दुःख त निश्चित कालसम्म हुन्छ र ज्यादै भए मरणसम्म हुनसक्छ, त्यति मात्र हो । जबकि कामवासनाले त निकै लामो

समयसम्म तीव्र नरकआदिका अति कष्टकर दुःख पैदागर्छ ।

यसरी कायविवेक (शरीरलाई एक्लो र एकान्तवासी बनाउने काम) को वारेमा विस्तारपूर्वक प्रतिपादन गरेर चित्तविवेक (चित्तमा विभिन्न काम आदि तर्क वितर्कहरूलाई हटाएर शान्त एकाग्र बनाउने काम) को पनि बयान गरिसकेपछि त्यसलाई जोडदिंदै भन्नुहुन्छ–

एवमुद्विज्य कामेभ्यो विवेके जनयेद् रतिम्
कलहायासशून्यासु शान्तासु वनभूमिषु ॥८५॥

कामदेखि डराएर एकान्तैमा रमाउनू
त्यस्तै कलह कष्टैले शून्य, शान्त वनैतिर ॥८५॥

अन्वयार्थ : *एवम् = यसप्रकार, कामेभ्यः काम (इच्छा र वासना) हरूबाट, उद्विज्य = त्रस्त भएर, विवेके = एकान्तमा, कलहायासशून्यापु = झैं-झगडा र कष्टहरूले रहित भएका, शान्तासु = शान्त, वनभूमिषु = वन प्रदेशहरूमा, रतिम् = प्रेम, जनयेत् = उत्पन्न गराउनू ।*

यसरी कामहरूसँग भयभीत भएर एंकान्तमा एक्लै बस्न या होहल्ला र झैं-झगडा एवं कुनै कष्ट नहुने खालका शान्त वनप्रदेशहरूमा बस्नमा प्रेम गर्ने गर्नुपर्छ । अर्थात् कायविवेकलाई ज्यादै ख्याल राख्नुपर्छ । अन्यथा शमथलाभ गर्न कठीन हुन जान्छ ।

त्यस्तो निर्जन वनको प्रशंसा गर्दै भन्नुहुन्छ –

धन्यैः शशाङ्ककरचन्दनशीतलेषु
रम्येषु हर्म्यविपुलेषु शिलातलेषु ।
निःशब्दसौम्यवनमारुतवीज्यमानैः
चंक्रम्यते परहिताय विचिन्त्यते च ॥८६॥

चन्दन् समान विधुका किरणै त शीतल्
राम्रा महल् सरि ठूला त शिला तलैमा
हावा छ मन्द वनको पनि सौम्य धन्य
घुम्छन् र चिन्तन परार्थ हिताय गर्न ॥८६॥

अन्वयार्थ : *शशाङ्ककरचन्दनशीतलेषु = चन्द्रमाका किरणरूपी चन्दनले गर्दा शीतल भएका, रम्येषु = रमणीय, हर्म्यविपुलेषु = सेता ठूला महलसमान विशाल, शिलातलेषु = पत्थरका सतहहरूमा, निःशब्दसौम्यवनमारुतवीज्यमानैः = आवाजै ननिकालेर (शान्तपूर्वक) चलिरहेको र छुँदाखेरि आनन्द दिने (सौम्य) खालको वनवायुद्वारा पंखा हम्किदै गरिने भएका, धन्यैः = पुण्यात्मा (धन्य) व्यक्तिहरूद्वारा, चंक्रम्यते = चङ्क्रमण गर्ने गरिन्छ, परहिताय = अरूको हितका निमित्त, विचिन्त्यते च = चिन्तन गर्ने पनि गरिन्छ ।*

जसरी चन्दनलेप लगाएर विलासीहरूले शीतलताको आस्वाद लिन चाहान्छन् त्यस्तो चन्दन त ती वनप्रदेशमा चन्द्रमाका शीलत किरणहरूले दिएका हुन्छन् । त्यस्ता शीतल स्थानहरूमा भएका रमणीय ठूला ठूला सेता महल समान विशाल चट्टानहरूमाथि घुम्ने त भाग्यशाली पुण्यात्माहरू मात्र हुन्छन् । ती पनि वनको मन्द मन्द हावाले कुनै पनि आवाज ननिकालेरै शरीरमा आनन्दको स्पर्शानुभूति दिंदै पंखा हम्केको हो कि जस्तो गरेर चङ्क्रमण (टहल) गर्छन्, परहितका निमित्त

बोधिको चिन्तन पनि गरिरहन्छन् । त्यस्तो सौभाग्यमय फल कामविलासीहरूलाई कहाँ पाउनु ? ऐश्वर्यभोगको सुखभन्दा एकान्तवास (विवेक)को सुख धेरै विशिष्ट छ ।

विहृत्य यत्र क्वचिदिष्टकालं
शून्यालये वृक्षतले गुहासु ।
परिग्रहारक्षणखेदमुक्तः
चरत्यपेक्षाविरतो यथेष्टम् ॥८७॥

घुम्दै जहाँ आफुखुशी गुफामा
शून्यै वनैमा अनि वृक्षतल्मा ।
जोगाउने संचयको त खेद
नभै अपेक्षारहितै त घुम्छ ॥८७॥

अन्वयार्थ : यत्र = जुन वनप्रदेशहरूमा, शून्यालये = निर्जन स्थानमा, वृक्षतले = रुखको मुनि, गुहासु = गुफाहरूमा, क्वचित् = कहिँ पनि, इष्टकालं = आफुले चाहेको समयसम्मै, विहृत्य = विहार गर्दै, परिग्रहारक्षणखेदमुक्तः = संग्रह गर्ने र त्यसलाई जोगाउने झंझटवाट भुक्त भएको, अपेक्षाविरतः = कुनै पनि इच्छा आकांक्षाहरू नभएको (योगी), यथेष्टम् = आफूखुशी, चरति = घुम्दछ ।

जहाँ त्यस्तो भाग्यवान् योगी कहिले एकान्त वनमा, कहिले वृक्षका मुनि, कहिले गुफाहरूमा या जहाँ चाह्यो त्यहीं, जतिवेर चाह्यो त्यतिवेर आरामले स्वतन्त्रतापूर्वक विहार गर्दै कुनै पनि संग्रह गर्ने र त्यसलाई जोगाउने चिन्ताबाट मुक्त भई मनमा कुनै प्रकारको लाभ आदिको अपेक्षा (इच्छा आकांक्षा)लाई स्थानै नदिएर बडो आनन्दपूर्वक घुम्न सक्छ ।

स्वच्छन्दचर्यानिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित् ।
यत्सन्तोषसुखं भुङ्क्ते तदिन्द्रस्यापि दुर्लभम् ॥८८॥

स्वच्छन्दचारी अगृही प्रतिबद्ध कतै न भै
जो सन्तोषसुखै भोग्छ त्यो दुर्लभ छ इन्द्रकै ॥८८॥

अन्वयार्थ : स्वच्छन्दचारी = आफ्नो इच्छा अनुसार चल्ने, अनिलयः = कुनै घरद्वार नभएको अनागारिक, कस्यचित् = कसैसंग पनि, न प्रतिबद्धः = प्रतिबद्ध नभएको व्यक्तिले, यत् = जुन, सन्तोपसुखं = सन्तोपको सुखलाई, भुङ्क्ते = उपभोग गर्दछ, तत् = त्यो, इन्द्रस्य अपि = इन्द्रको निमित्त पनि, दुर्लभम् = दुर्लभ हुन्छ ।

त्यसरी स्वच्छन्दचारी भएर कतै घरबारप्रति आसक्ति नराखेर अनागारिक बनी कतै कसैप्रति पनि आबद्ध नभई स्वतन्त्रतापूर्वक वनमा विचरण गर्ने व्यक्तिले जुन सन्तोषको सुख भोगिरहेको हुन्छ त्यो त स्वर्गका राजा इन्द्रले पनि पाउन दुर्लभ हुन्छ किनकि उनी त धेरैतिर प्रतिबद्ध र परतन्त्र छन् ।

यसरी कायविवेक एवं चित्त विवेकका गुणको बारेमा जोडदिँदै सबै प्रकारको सुखभन्दा यसबाट प्राप्त हुने सुख धेरै नै उत्कृष्ट छ र सबै सुखको हेतु पनि यही हो भन्ने मनमा ल्याइसकेपछि वितर्कहरू शान्त हुन्छन् । त्यसपछि बोधिचित्तभावना गर्नुपर्छ भन्दै आचार्य बताउनुहुन्छ -

एवमादिभिराकारैर्विवेकगुणभावनात् ।
उपशान्तवितर्कः सन् बोधिचित्तं तु भावयेत् ॥८९॥

यस्ता प्रकारले गर्दा विवेकगुण भावना
वितर्क शान्ति भै गर्नू बोधिचित्तको भावना ॥८९॥

अन्वयार्थ : एवमादिभिराकारैः = यस्ता प्रकारले, विवेकगुणभावनात् = विवेकको गुणलाई भावना गर्नाले, उपशान्तवितर्कः सन् = वितर्कहरू शान्त भएको छँदो, बोधिचित्तं = वोधिचित्तको, भावयेत् = भावना गर्नू ।

यसरी विभिन्न दृष्टिकोणबाट कायविवेक एवं चित्तविवेकका गुणहरूको चिन्तनमनन याने भावना राम्रोसँग गर्नाले वितर्कहरू शान्त भएपछि बोधिचित्तको भावना गर्न थाल्नुपर्छ तब मात्र बोधिचित्त पनि उत्कर्षतामा पुग्छ । उता चित्त पनि कर्मण्य र मृदु हुन्छ र एकाग्रता पनि बढ्छ । त्यसको लागि अरु र आफूलाई समान ठान्न सिक्नुपर्छ । नत्रभने अरुको हित गर्न र सुख दिनको लागि चित्त लागिपर्दैन । त्यसैले आचार्यले यसमा जोडदिँदै भन्नुहुन्छ -

परात्मसमतामादौ भावयेदेवमादरात् ।
समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत् ॥९०॥

परात्मसमता पहिले श्रद्धाले गर्नु भावना
सुखदु:ख सवैको छ उस्तै, पाल्नू छ आफु झैं ॥९०॥

अन्वयार्थ : आदौ = पहिले, एवम् = यसरी, आदरात् = आदरपूर्वक, परात्मसमतां = परात्मसमताको, भावयेत् = भावना गर्नू, "सर्वे = सवै, समदु:खसुखा: = सुख र दु:खको सम्वन्धमा समानै किसिमका छन् (त्यसैले), मया = मैले, आत्मवत् = आफूलाई जस्तै गरी, सर्वे = सवै, पालनीया = पालना गर्न योग्य छन् । (किनकि समान भएकाले) ॥

सर्वप्रथम आदरपूर्वक परात्मसमताको भावना यसरी गर्नू - सवै सत्वहरू सुख र दुःखको विषयमा समान किसिमका छन् । त्यसै मैले पनि यिनीहरूलाई आफूलाई जस्तै ठानेर रक्षा गर्नुपर्छ । किन ? किन कि यिनीहरूमा र ममा केही पनि फरक छैन । दुःखले यिनीहरूलाई जसरी पीडा दिन्छ मलाई पनि त्यसरीं नै पीडा दिन्छ । जसरी मलाई दुःख मनपर्दैन त्यस्तै यिनीहरूलाई पनि मनपर्दैन । त्यस्तै, जसरी मलाई सुख प्रिय लाग्छ यिनीहरूलाई पनि त्यसरी नै प्रिय लाग्छ । त्यसकारण सुखदुःखका सम्बन्धमा सबै सत्वहरू समान किसिमका छन् । त्यसैले मैले मेरो जसरी ख्याल गर्छु, त्यसैगरी यिनीहरूको पनि ख्याल गर्नुपर्छ । मैले आफूलाई दुःखबाट मुक्त गर्न प्रयास गरेजस्तै यिनीहरूलाई पनि दुःखबाट मुक्त गर्न प्रयास गर्नुपर्छ । म आफू सुखी हुन उद्यम गरिरहेजस्तै यिनीहरूलाई सुखी बनाउन पनि उद्यम गरिरहनुपर्छ ।

प्राणीहरू त प्रत्यक्षरूपमा अलग अलग नै छन् भने कसरी आफूसमानको भनेर भावना गर्ने ? भन्ने प्रश्नको उत्तर दिंदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः ।
तथा जगद् भिन्नमभिन्नदुःखसुखात्मकं सर्वमिदं तथैव ॥९१॥

हात् आदि धेरै थरिका भए पनि
शरीर यौटै छ त पाल्नुपर्ने ।

त्यस्तै जगत् भिन्न थरी भए पनि
सुखै र दुःखै छ समान यो पनि ॥९१॥

__अन्वयार्थ :__ हस्तादिभेदेन = हात, पाउ आदिको भेदले, वहुप्रकारः = धेरैथरिको भएपनि, परिपालनीयः = पालना गर्नुपर्ने, कायः = शरीर, यथा = जस्तै, एकः = एउटै छ, तथा = त्यस्तै, इदं = यो, सर्वम् = सवै, जगत् = लोकः, भिन्नम् = भिन्दाभिन्दै छ तापनि. तथा एव = त्यसै गरी नै, अभिन्नदुःखसुखात्मकं = दुःखः र सुखको हिसावले अभिन्न नै छ याने एउटै किसिमको छ (फरक छैन) ।

जसरी हात, पाउ आदि विभिन्न अंगहरू एकै किसिमका नभएर विभिन्न किसिमका छन् तापनि एउटै शरीरका अंग हुन् भन्ने बानी भैसकेकाले एकै सम्झेर सवै अंगहरूलाई समान दृष्टिले पालन-पोषण, स्याहार-सम्भार गरिन्छ त्यस्तै यी सवै प्राणीजगत् अलग अलग छन् तापनि सवैमा सुख-दुःख सम्बन्धी गुणहरू समान भएकाले एकै किसिमका छन् भन्ने सम्झेर आफूलाई जस्तै समान दृष्टिकोणले सुख दिन र दुःख हटाउन खोज्नुपर्छ । किनकि यी अंगहरू पनि अलग अलग हुन् तापनि अनादिकालको अभ्यासले गर्दा एउटै सिङ्गो शरीर भन्ने भान परेको हो र एउटै शरीरका अंग भन्ने लागिरहेको हो । त्यस्तै यो जगत्का विभिन्न प्राणीहरू अलग अलग हुन् तापनि सुखदुःखप्रतिको अनुभव सवैलाई समान किसिमले हुने भएकोले त्यही आधारमा सबैलाई एकै किसिमको देख्ने अभ्यास भएमा देख्न सम्भव पनि हुन्छ ।

यदि जगत् र आफू एकै हो भन्ने हो भने त आफू सुखी या दुःखी हुँदाखेरि जगत् पनि सुखी या दुःखी हुनुपर्ने । तर त्यस्तो देखिँदैन । किन त ? भन्ने प्रश्नको उत्तरमा आचार्य भन्नुहुन्छ –

यद्यप्यन्येषु देहेषु मद्दुःखं न प्रबाधते ।
तथापि तद्दुःखमेव ममात्मस्नेहदुःसहम् ॥९२॥

अरुको देहमा मेरो दुःखले छुन्न तापनि
त्यो दुःखै हो, आत्मस्नेह हुनाले नै असह्य छ ॥९२॥

__अन्वयार्थ :__ यद्यपि = यद्यपि, मद्दुःखं = मेरो दुःखले, अन्येषु = अरुका, देहेषु = शरीरहरूमा, न प्रवाधते = पीडा दिँदैन, तथापि = त्यस्तो हो तापनि, तत् = त्यो, दुःखम् एव = दुःख नै हो, मम =मेरो, आत्मस्नेहदुःसहम् = आफूप्रतिको स्नेहले गर्दा असह्य हुन पुगेको छ ।

हुन त मेरो दुःखले अरु प्राणीको शरीरमा पीडा दिएको हुँदैन, तैपनि त्यो त दुःख नै हो र त्यो दुःख पनि मेरो आफ्नो शरीर आदि आत्मभावप्रति मात्र ज्यादा स्नेह (आत्मस्नेह) हुनाले गर्दा तीव्र र असह्य भइराखेको हुन्छ ।

यहाँ भन्न खोजिएको के हो भने उक्त पीडा स्वयंमा त दुःखस्वभाव र अनात्मस्वभाव नै हो तापनि आफूप्रतिको आत्मस्नेह धेरै बलियो भएको हुनाले आफूलाई हुँदाखेरि मात्र तीव्रतम अनुभव गरिन्छ अरुलाई हुँदाखेरि केही मतलब गरिँदैन । त्यही आत्मस्नेहले गर्दा नै अरुको दुःखले आफूलाई न छोएको हो । त्यसैले यदि आफू र अरुप्रति समान दृष्टिको भावना राम्रोसँग हुन सक्यो भने हामीले आफ्नो दुःखलाई मात्र हटाउन नलागेर अरुको दुःख समेतलाई त्यत्तिकै रूपमा हटाउन लागिन्छ ।

यहाँनेर त्यो दुःख चाहे आफ्नो होस् चाहे अर्काको होस् केही फरक पर्नेछैन । अतः बोधिसत्त्वले दुःखको स्रोतलाई नै सुकाइदिन चाहान्छन् जसले गर्दा कहीं पनि दुःख बाँकी नरहोस् ।

तथा यद्यप्यसंवेद्यमन्यद् दुःखं मयात्मना ।
तथापि तस्य तद् दुःखमात्मस्नेहेन दुःसहम् ॥९३॥

त्यस्तै थाहा म पाउन्न अरुको दुःख तापनि
छ तिनीहरूको दुःख असह्यै आत्मस्नेहले ॥९३॥

अन्वयार्थ : तथा = त्यस्तै, यद्यपि = यद्यपि, मया आत्मना = म आफूले, अन्यद्-दुःखं = अर्काको दुःखलाई, असंवेद्यम् = थाहा पाउन सकिन्न, तथापि = त्यसो हो तापनि, तस्य = त्यसको, तद्दुःखं = त्यो दुःख, आत्मस्नेहेन = आत्मस्नेहले गर्दा, दुःसहम् = असह्य भएको हो ।

त्यसै गरी अरुको दुःख मलाई थाहा हुँदैन तापनि उनीहरूले जुन दुःख अनुभव गर्छन् त्यो त उनीहरूकै आत्मस्नेहले गर्दा असह्य पीडा भोगेका हुन् ।

आखिरमा दुःख त दुःखै हो र पनि हामीहरूले 'स्व' र 'पर'को भेद धेरै खडा गरिराखेका हुनाले आत्मदुःख बढी महत्वपूर्ण लाग्ने क्रममा दुःख पनि धेरै पीडादायक हुन्छ । त्यसैले दुःखलाई हलुका बनाउन र अन्त्यमा नष्टै पार्नको लागि यो आत्मस्नेह र 'स्व-पर' भेदलाई हटाउनु परेको हो । यसको मूल हेतु नै आत्मदृष्टि हो (म साँच्चिकै छु भन्ने गहीरो विश्वास) । त्यसैले गर्दा नै आफ्नो दुःख झन् तीव्र हुनपुग्छ भने अर्काको दुःखलाई थाहा पाउन पनि जानिएको हुँदैन । त्यसैले यो दुःखदायी आत्मदृष्टिलाई प्रहाण गर्न पहिले 'आफू' र 'अरू' समानै हुन् भन्ने अनुभव गर्न सिक्नुपरेको हो ।

मयान्यदुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत् ।
अनुग्राह्या मयान्ये ऽपि सत्त्वत्वादात्मसत्त्ववत् ॥९४॥

आफ्नो झैं अरुको दुःख मास्नु पर्छ दुःखै हुँदा
आफू झैं अरुमा राम्रो गर्नु छ सत्व नै हुँदा ॥९४॥

अन्वयार्थ : मया = मैले, अन्यदुःखं = अर्काको दुःखलाई, दुःखत्वात् = त्यो दुःखस्वरूप नै भएको हुनाले, आत्मदुःखवत् = आफ्नो दुःखलाई झैं, हन्तव्यं = नाश गर्नुपर्छ, मया = मैले, अन्ये अपि = अरुलाई पनि, सत्वत्वात् = प्राणीनै भएका नाताले (किनकि आफू पनि सत्व नै हूँ), अनुग्राह्या = अनुग्रह (सुख दिने, दया गर्ने काम) गर्नुपर्छ ।

जसरी मलाई दुःख पर्दाखेरि त्यसलाई नाश गर्न खोज्छु त्यसैगरी अर्कालाई दुःख हुँदाखेरि पनि मैले नाश गर्नै पर्छ किनकि त्यो पनि दुःखै हो र मलाई भएको पनि दुःखै हो । त्यस्तै जसरी मलाई सुखी राख्न स्वयं हरतरहबाट तत्पर रहन्छु त्यसैगरी अरु सत्व (प्राणी)हरूलाई सुखी राख्न पनि म त्यत्तिकै तत्पर भइरहनुपर्छ । किनकि उनीहरू पनि सत्व नै हुन् र म पनि सत्व नै हुँ । अतः 'म' र 'त्यो' भन्ने भेदलाई मेटाएर प्राणीमात्रलाई सुखी राख्ने गर्नुपर्छ ।

यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियम् ।
तदात्मनःको विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ॥९५॥

जव मेरो र अरुको सुख-प्रेम समान छ
मेरै सुख भनी यत्न आफ्नै मात्र गरुँ किन ? ॥९५॥

अन्वयार्थ : यदा = जव, मम = मेरो र, परेषां च = अरुको पनि, सुखं = सुख, तुल्यम् एव = समान रूपमा नै, प्रियं = प्रिय छ भने, तदा = त्यसवेला, आत्मनः = आफ्नो मात्र, कः विशेषः = विशेष के छ र ? येन = जसले गर्दा, अत्र एव = यहाँ नै (आफ्नै निमित्त मात्र), सुखोद्यमः = सुखको निमित्त प्रयत्न गरिन्छ ?

जब मलाई र अरुलाई पनि उत्तिकै रूपमा सुख मनपर्छ भने मैले आफ्नो निमित्त मात्र सुखप्राप्तिको उद्योग किन गरिरहने ? ममा के विशेषता रह्यो त्यस्तो ? सुखको चाहना त समानै छ ।

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥९६॥

जव मेरा र अरुका छन् दुःख भय अप्रिय
विशेषता ममा के छ ? आफ्नै मात्र छ पालन ॥९६॥

अन्वयार्थ : यदा = जब, मम = मेरो र, परेषां च = अरुको निमित्त पनि, भयं = डर र, दुःखं च = दुःख पनि, न प्रियम् = प्रिय हुँदैनन् भने, तदाः = त्यस अवस्थामा, आत्मनः = आफ्नै मात्र, कः विशेषः = के विशेषता छ, यत् = जसले गर्दा, तं = त्यसलाई (आफ्नै आत्मभाव आदिलाई), रक्षामि = रक्षा गर्छु, इतरं = अरुलाई, न = गर्दिन ।

मलाई र अरुलाई पनि दुःख, भय, त्रास आदि कुरा मन पर्दैनन् । यस हिसावले ममा र अरुमा केही भिन्नता छैन । तर पनि मैले आफूलाई मात्र रक्षा गर्न खोज्छु र अरुलाई केही मतलब गर्दिन । ममा त्यस्तो के विशेषता छ र ?

दुःखले युक्त हुनुमा विशेषता नभए पनि जसलाई दुःखले पीडा गरिराखेको छ त्यसैले रक्षा गर्नु आवश्यक छ, अरुले होइन भन्ने सोचिएला भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ-

तद्दुःखेन न मे बाधेत्यसौ यदि न रक्ष्यते ।
नागामिकायदुःखान्मे बाधा तत्केन रक्ष्यते ॥९७॥

अर्काको दुःखले बाधा मलाई छैन क्यै भनी
उसलाई कुनै रक्षा नगर्ने यदि हो भने ।
आगामी देहको दुःखबाट बाधा नहोस् भनी
मैले यहाँ व्यर्थ किन रक्षाको यत्न गर्छु त ? ॥९७॥

अन्वयार्थ : तद्दुःखेन = अर्काको त्यो दुःखले, मे = मलाई, बाधा न = पीडा हुँदैन, इति = यस्तो भनेर, यदि = यदि, असौ = त्यो व्यक्ति (सत्व)को, न रक्ष्यते = रक्षा नगर्ने हो भने, आगामिकायदुःखात् = भविष्यमा आउने शरीरको दुःखदेखि, मे = मलाई, बाधा न = (अहिले) कुनै पीडा छैन, तत् = त्यसको, केन = के कारणले, रक्ष्यते = रक्षा गरिराखिन्छ त ?

ए, अहिले आफूलाई अरुको दुःखले केही बाधा भएको छैन भनेर अरुलाई वेमतलव गरिराख्ने हो भने त भविष्यमा नरक, प्रेत, पशु आदिमा उत्पन्न हुनसक्ने सम्भावित शरीरबाट दुःख नहोस् भनेर अहिलेको शरीरले त्यो दुःख नपाएकै अवस्थामा पनि किन व्यर्थमा दान, तप आदि

कुशल कर्म गरिरहने त ? किनकि भविष्यको त्यो शरीरले भोग्ने दुःखले त अहिले आफूलाई बाधा गरेको छैन। त्यो शरीर पनि त अहिलेको भन्दा वेग्लै हो। यदि त्यो अर्कै शरीरमा हुने पीडाबाट बच्न यहाँ प्रयास गरिन्छ भन्ने त अन्य सत्वहरूको शरीरमा हुने पीडाबाट बचाउन किन प्रयास नगर्ने ?

हैन, भविष्यको शरीरबाट पीडा भोग्ने त उही 'म' नै हुँ भने यी अन्य सत्वहरू त भिन्दै हुन्। त्यसैले आखिरमा त्यो पीडा मैले नै भोग्नुपर्ने भएकोले त्यसबाट बच्न त मैले नै उपाय खोज्नु उचित हुन्छ भन्ने हो भने –

अहमेव तदापीति मिथ्येयं परिकल्पना।
अन्य एव मृतो यस्मादन्य एव प्रजायते ॥९८॥

'त्यस्वेला पनि मै हुँ' यो मिथ्या हो परिकल्पना
अर्कै मर्छ यहाँ फेरि अर्कै जन्मिन्छ है त्यहाँ ॥९८॥

अन्वयार्थ : *तदापि = त्यस वेलामा पनि, अहम् एव = म नै हुनेछु, इति इयं = भन्ने यस्तो, परिकल्पना = परिकल्पना त, मिथ्या = गलत हो, यस्मात् = किनकि, अन्य एव = अर्कै नै, मृतः = मरेको हो, अन्य एव = अर्कै नै, प्रजायते = जन्मिन्छ।*

'त्यतिखेर जन्म लिनेवाला पनि मै हुँ जुन अहिले यहाँ छु' भन्ने कल्पना गर्नु सरासर झूटो हो किनकि यहाँ मर्ने व्यक्ति र पछि अर्को भवमा जन्मिने व्यक्ति वास्तवमा उही एउटै हुँदैनन्। यहाँ अर्कै व्यक्ति मरेको हुन्छ भने त्यहाँ अर्कै व्यक्ति जन्मेको हुन्छ।

यो 'अहंबुद्धिले कल्पना गरिराखेको 'म' (आत्मा)को केही पनि अस्तित्व छैन। त्यसैले अलग अलग शरीर भएपनि तीभित्र रहेको चेतन त एउटै हो भन्नु सर्वथा गलत धारणा हो र अज्ञानको कारणले भएको हो, आरोपित धारणा हो।

आत्मा भन्ने धारणा त अविद्याले गर्दा पाँच उपादान स्कन्धहरूलाई नै नित्य, अपरिवर्तनशील, शाश्वत, ठान्ने अध्याशय (बानी र विश्वास) भैसकेकोले आएको हो। यहाँ मर्दाखेरिको पञ्चस्कन्ध वेग्लै हो र त्यो विनाश भएपछि अर्को जन्म लिने पञ्चस्कन्धसन्तान पनि वेग्लै हो तर पनि त्यो चाहिँ अहिलेकै क्लेश-कर्म आदिले अभिसंस्कृत (conditioned) हुँदै अन्तराभव सन्तान मार्फत् क्रमशः प्रतीत्यसमुत्पादको इदंप्रत्ययताको आधारमा उत्पन्न भएको हुन्छ। त्यसैले सीधै उही एउटै आत्मा गएर त्यहाँ जन्मिने भन्ने कुरा नितान्त मिथ्या हो। यिनै पञ्चस्कन्ध-सन्तान पनि वास्तवमा मायोपम (जादूको खेल जस्ता) हुन्। अतः एउटै उही 'म' भन्ने प्रश्नै उठ्दैन। मिथ्या भएपनि अनादिकालदेखि यही मिथ्या विकल्पमा अभ्यास हुँदै आइरहेकोले त्यसकै वासनावश उक्त अहंको विषय 'आत्मा'को विश्वास भइरहेको हो।

फेरि अर्को तरीकाले हेर्दा पनि मिल्दैन किनकि –

यदि तस्यैव यद्दुःखं रक्ष्यं तस्यैव तन्मतम्।
पाददुःखं न हस्तस्य कस्मात् तत् तेन रक्ष्यते ॥९९॥

जो दुःखी छ त्यसैले नै वचाउ गर्नु हो भने
खुट्टो दुखेमा हातैले किन मालिस गर्नु रे ? ॥९९॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, यद् दुःखं = कुनै दुःख, तस्य एव = त्यसको नै हो भने, तत् = त्यसलाई रक्ष्यं = रक्षा गरिनुपर्ने काम पनि, तस्य एव = उसैको नै हो भन्ने, मतम् = मान्ने हो भने, पाददुःखं = खुट्टाको दुःख, हस्तस्य = हातको, न = होइन, तत् = त्यसलाई, कस्मात् = के कारणले, तेन = त्यो हातले, रक्ष्यते = रक्षा गरिन्छ नि ?

यदि जसलाई दुःख भइरहेको छ उसैले नै आफ्नो रक्षागर्नु उचित हुन्छ भन्ने मान्ने हो भने फेरि अर्को पनि आपत्ति छ। त्यो हो यदि खुट्टामा चोट लाग्यो भने हातलाई त दुःख्दैन। अनि किन हातले खुट्टाको बचाउ, स्याहार, सम्भार गर्ने गरिन्छ त ? खुट्टालाई दुखेको भए खुट्टाले नै आफ्नो बचाउ गरोस् भनेर हात बाँधेर बसे भैहाल्यो। आखिरमा खुट्टाको र हातको दुःख त अलग अलग नै हो। त्यसैले अरुलाई दुःख परे पनि आफूलाई नै परेको जस्तो ठानी समाधान गर्नुपर्छ। अरुमा र आफूमा केही भिन्नता ठान्नुहुँदैन।

यदि आत्मा रहेन छ भने पनि शरीरप्रतिको अहंकार (देहाभिमान) त छ चाहे त्यो मिथ्या नै होस्। त्यही अहंकारको कारणले गर्दा गोडाको पीडालाई हातले हटाउने विचार गरिएको हो भन्छौ भने पनि मिल्दैन भन्दै आचार्य भन्नुहुन्छ –

> अयुक्तमपि चेदेतदहंकारात् प्रवर्तते।
> तदयुक्तं निवर्त्यं तत् स्वमन्यच्च यथाबलम् ॥१००॥

यो अहंकारले हुन्छ भन्नु पनि अयुक्त छ
अयुक्त आफ्नो अरुको यथाशक्ति लखेट्नु छ ॥१००॥

अन्वयार्थ : चेत् = यदि, एतत् = यस्तो (हातले पाउको रक्षा गर्ने काम), अहंकारात् = अहंकारले गर्दा, प्रवर्तते = भइरहन्छ भने पनि, अयुक्तम् = उपयुक्त भएन, स्वम् = आफ्नो र, अन्यच्च = अर्काको पनि, तद् अयुक्तं = त्यो अनुपयुक्त कुरा (अहंकार) लाई, यथावलं = आफ्नो शक्ति अनुसार, निवर्त्यम् = हटाउनै पर्छ।

अहंकार स्वयं उपयुक्त र उचित कुरा होइन भन्ने जानिसकेपछि फेरि अहंकारले गर्दा यस्तो भएको भनेर चुपचाप बस्नु त मिल्दैन। जुन कुरा उपयुक्त छैन, युक्तिसंगत छैन त्यसलाई आफ्नो शक्ति अनुसार तुरुन्तै पन्छाउनु पर्छ चाहे त्यो आफ्नो होस् चाहे अरुको होस्।

यदि कसैले भन्छ कि आत्मा छैन तापनि पाँच स्कन्धहरूको एउटा सन्तान त छ किनकि त्यो त जन्मजन्मान्तर सम्म चलिरहेकै हुन्छ। त्यस्तै हात पाउ आदि अंगहरू भिन्दाभिन्दै हुन् तापनि यिनीहरूको समुच्चय शरीर त एउटै छ। त्यसैले यो सन्तान अथवा यो समुदायको अस्तित्व भएकै हुनाले पनि परलोकमा र यो लोकमा पनि आफ्नो दुःखनिवारण त गर्नैपर्छ। त्यसमा आचार्य भन्नुहुन्छ –

> सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा।
> यस्य दुःखं स नास्त्यस्मात् कस्य तत् स्वं भविष्यति ॥१०१॥

समुदाय र सन्तान पङ्क्ति, सेनादि झैं झुटो
जस्को दुःख छ त्यै छैन, कस्को आफ्नो भयो नि त्यो ? ॥१०१॥

अन्वयार्थ : सन्तानः = सन्तान र , समुदायश्च = समुदाय पनि, पङ्क्तिसेनादिवत् = पङ्क्ति या सेना आदि समान, मृषा = झूटो

(मिथ्या) हो, यस्य = जसको, दुःखं = दुःख छ, स = त्यो नै, नास्ति = छैन, अस्मात् = यसकारणले गर्दा, तत् = त्यो दुःख, कस्य = कसको, स्वं = आफ्नो, भविष्यति = होला ?

सन्तान (continuum) र समुदाय भन्ने कुरा 'एउटा' जस्तो लाग्ने भएपनि वास्तवमा 'एउटा कुरा' नै होइनन् । ती त कुनै 'पंक्ति' या 'सेना' आदि जस्तै आरोपित नाम मात्र हुन् र वास्तवमा त्यहाँ कुनै पंक्ति पनि हुँदैन, केवल ती वस्तु मात्र हुन्छन्, सेना पनि हुँदैन केवल मानिस मात्र हुन्छन् । त्यसैले तीजस्तै सन्तान र समुदाय भन्ने पनि मिथ्या धारणा नै हुन् ।

अतः जसलाई 'दुःख' भयो भनेर मानिन्छ त्यो नै मिथ्या हो याने छँदैछैन भने त्यो दुःख कसको भन्ने ? अर्थात् 'मेरो' या 'तेरो' या 'अर्काको' भन्ने कुरा नै आउँदैन । त्यो दुःख मात्र हो, हटाउनुपर्छ । त्यो कसैको पनि होइन । किनकि त्यो दुःखको मालिक त केवल आरोपित मिथ्या धारणा मात्र हो ।

सन्तान भन्ने कुनै वस्तुसत् पदार्थ कहीँ पनि हुँदैन, केवल कार्य-कारणभावको हिसावले क्षणप्रवाह मात्र चलिरहेको हुन्छ । त्यो क्षणप्रवाहका अतिरिक्त 'सन्तान' भन्ने कुनै वस्तु त जति खोजे पनि पाइँदैन । व्यवहारमा यिनै क्षणको प्रवाहलाई 'सन्तान' भन्ने शब्दले औंल्याइन्छ । तर त्यहाँ 'प्रवाह' त कुनै वस्तु होइन केवल कल्पना गरिएको क्रिया मात्र हो । त्यसैले यसलाई केवल प्रज्ञप्तिमात्र भनिन्छ । बुद्धिले यस्ता प्रज्ञप्ति - धर्मलाई अभिनिवेश (ग्राह =grasp) गर्नु हुँदैन नत्र त्यही नै सत्ताग्राह (=आत्मग्राह) हुन पुग्छ जुन संसारको बीज हो । होइन भने त आत्मा भन्ने धारणाले के नै विगारेको थियो र अतीत अनागत एवं प्रत्युत्पन्न सबै बुद्ध एवं बौद्धहरूले यसलाई इन्कार गर्नुपर्ने ?

यसैगरी अवयव (अङ्ग) का अलावा त्यसको अवयवी या समुदाय समूह भन्ने कुनै वस्तु छैन । किनकि खोज्दाखेरि पनि ती अवयव बाहेक अर्को वस्तु त केही उपलब्ध हुँदैन । त्यसकारण अवयवी पनि प्रज्ञप्तिधर्म मात्र हो याने व्यावहारिक सत्ता मात्र हो । परमार्थतः त्यहाँ कुनै समूह या अवयवी भन्ने वस्तु हुँदैन । यही कुरा बुझाउन यहाँ पंक्ति र सेनाको दृष्टान्त दिइएको हो । अतः वास्तवमा प्रत्येक कुरा देश या कालमा 'सन्तान' मात्र हुन् र प्रज्ञप्ति धर्म हुन् । त्यो केवल भ्रम मात्र हो ।

अतः बुद्धिको विषय जे जति छ त्यो सबै नितान्त असत् हो र भ्रम मात्र हो । त्यस्ता कुराको सत्ताप्रति विचार गर्ने वित्तिकै त्यो विषय हराइहाल्छ । विचारको यस्तो तरीकालाई परमार्थगवेषक युक्ति भनिन्छ । परमार्थगवेषक युक्तिद्वारा हेर्ने हो भने 'आत्मा' आदिले बताउन खोजिएको कुनै स्वामी पनि सिद्ध हुँदैन । फलस्वरूप दुःख हुँदाहुँदै पनि त्यो कुनै 'स्व' या 'पर' सँग सम्बन्धित हुँदैन ।

प्रश्न उठाउन सकिन्छ कि यदि त्यस्तो आत्मा छैन भने 'आत्मा झैं' (आत्मवत्) या'सत्व समान' (सत्ववत्) भनेर केलाई भनिन्छ त ? जो सर्वथा छँदैछैन त्यसको कुरै पनि कसरी गर्न सकिन्छ ?

प्रश्न ठीकै हो तर यहाँ कुनै सोखले या आदतले आत्माको कुरा गरिएको होइन अपितु अन्य आत्मग्राहले युक्त भएका व्यक्तिहरूको आत्मदृष्टिलाई प्रहाण गर्नको लागि प्रसङ्ग उठाइएको मात्र हो । जसको आत्माप्रतिको विश्वास हटिसकेको छ उसलाई यस्ता दृष्टान्तको कुनै मतलव छैन ।

आत्मग्राहलाई हटाउनलाई नै यसको प्रयोग गरिएको हो। हामी बौद्धहरूले 'आत्माझैं (आत्मवत्), 'सत्वझैं (सत्ववत्) भन्दाखेरि व्यवहारदशामा निरन्तर प्रवाहशील पञ्चस्कन्ध सन्ततिलाई भन्नखोजेका हुन्छौं। यस अर्थमा हेर्दा 'आत्मा' भनेर मात्रै केही पनि फरक पर्दैन। यो त एउटा शब्द मात्र हो।

अस्वामिकानि दुःखानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
दुःखत्वादेव वार्याणि नियमस्तत्र किंकृत ? ॥१०२॥

दु:खको मालिकै छैन, विशेष नभई सबै
दु:खै हुनाले छन् हेय, नियमै के रह्यो कुनै ? ॥१०२॥

अन्वयार्थ : अविशेषत: = विशेप भन्ने कुनै पनि नभएर, सर्वाणि = सवै, दु:खानि = दु:खहरू, अस्वामिकानि = स्वामी नभएका नै छन्, त्यसैले, दु:खत्वाद् एव = दु:खस्वभाव भएकोले नै, वार्याणि = हटाइनुपर्ने हुन्, तत्र = त्यहाँ, नियम: = नियम, किंकृत: = केको लागि ?

सबै दुःखहरू नाथहीन छन् याने कुनै दुःखको पनि स्वमी हुँदैन। यसमा कोही विशेष दुःखको त स्वामी छ कि भन्ने प्रश्नै उठ्दैन। सबै दुःखहरू निर्विशेषरूपमा अस्वामिक नै छन्। यिनीहरू दुःखैं भएकाले मात्र हटाउनु परेको हो। नत्र त हटाउनुपर्ने भन्ने पनि थिएन। त्यसकारण जुनसुकै दुःख पनि जसको सुकै भनिएपनि त्यो दुःख दुःखै हुनाले हटाउनुपर्छ। त्यसमा यो 'मेरो दुःख हो, त्यसैलाई मात्रै मैले हटाउने हो, अर्काको दुःख मलाई के खाँचो' भन्ने जस्तो नियम लगाएर के मतलव ? आत्मा भन्ने कुरै कहीँ नभएकोले केवल 'दुःख'मात्र लाई हटाउनुपर्छ।

त्यसो भन्ने हो भने दुःखी भन्ने त कोही पनि हुने भएनन् किनकि दुःख भोग्ने आत्मा कहीं पनि छैन ? अनि त दुःखै पनि किन हटाउनुपऱ्यो ? कसप्रति करुणा गरेर कसको दुःख हटाउने ? भन्ने प्रसङ्ग उठ्न सक्छ। त्यसैले आचार्य भन्नुहुन्छ –

दुःखं कस्मान्निवार्यं चेत् सर्वेषामविवादतः।
वार्यं चेत् सर्वमप्येवं न चेदात्मापि सत्त्ववत् ॥१०३॥

दु:खलाई खेद्नुपर्छ विवादै कसको छ र ?
खेद्ने भए सवै खेद्ने, नंत्र आफ्नो पनि किन ? ॥१०३॥

अन्वयार्थ : दु:खं = दु:खलाई, कस्मात् = के कारणले, निवार्यं चेत् = हटाउनुपर्छ भन्ने हो भने, सर्वेपां = सवैका निमित्त, अविवादत: = निर्विवादरूपमा अभीप्ट भएको हुनाले, चेत् = यदि, वार्यम् = हटाउने हो भने, सर्वम् अपि = सवै दु:ख (मात्र)लाई पनि हटाउनुपर्छ (आफ्नो भनाउँदो दु:खलाई मात्र होइन), न चेत् = नहटाउने भन्ने हो भने, आत्मा अपि = आफू (पञ्चस्कन्धसन्तान) पनि, संत्ववत् = सत्व समान नै हो।

आत्मा नै नभएपछि दुःख किन हटाउनुपऱ्यो भन्ने प्रश्न हो भने, सबैले दुःख हटाउनुपर्छ नै भन्छन्। यस विषयमा कोही पनि अपवाद छैन। सबै दार्शनिकहरूको भनाई पनि दुःख हटाउनैपर्छ भन्ने हुन्छ। चार्वाकहरूले समेत दुःख हटाउनुपर्छ भन्छन्। त्यो त दार्शनिकको मत मात्र हो भनौं भने पनि हामी सबैले देखेकै छौं कि दुःख हटाउन प्रत्येक प्राणीले प्रयास गरेकोगऱ्यै हुन्छ। त्यसमा को कति सफल हुन्छ भन्ने कुरा त कसरी प्रयास गर्छ त्यसमा भर पर्छ परन्तु प्रयास त सबैले गर्छन्।

अतः प्राणी (सत्त्व) भैसकेपछि दुःख नहटाउने चेष्टा कसैको पनि नहुने भएकोले दुःखलाई हटाउनु अनिवार्य छ चाहे आत्मा भन्ने कुरा कल्पितै किन नहोस् ।

अब यदि दुःखलाई हटाउनै पर्ने हो भने सबै दुःखलाई हटाउनुपर्‍यो याने दुःखमात्रलाई हटाउनुपर्‍यो । यदि दुःखलाई हटाउनु पर्दैन भन्ने हो भने आत्मा (पाँच उपादान स्कन्धहरू) रूपी दुःखलाई पनि हटाउनु भएन । किनकि यो पाँच उपादान स्कन्ध समेत दुःखै हो । अर्थात् आफ्नो भनाउँदो दुःखलाई मात्र हटाउन खोज्नु अरुको भनिने दुःखलाई कुनै वास्ता नगर्नु कसरी मिल्छ ? दुःखलाई आफ्नो र अरुको भनेर छुट्याउनु हुँदैन । दुःख दुःखै हो, हटाउनै पर्छ । किनकि आफूलाई र अन्य प्राणीलाई त्यो दुःखले उस्तै गरी सताउँछ । अतः सत्व र आफूमा केही फरक छैन ।

कृपया बहुदुःखं चेत् कस्मादुत्पद्यते बलात् ।
जगद्दुःखं निरूप्येदं कृपादुःखं कथं बहु ॥१०४॥

करुणाले दुःख वढ्छ, किन जोड दिनु ? भने
जगत्को दुःख यो बुझ्दा करुणाको बढी छ के ? ॥१०४॥

अन्वयार्थ : चेत् = यदि, कृपया = करुणाले, बहुदुःखं = धेरै दुःख हुन्छ, बलात् = प्रयत्नपूर्वक, कस्मात् = के कारणले, उत्पद्यते = उत्पन्न गरिन्छ ? भन्ने हो भने, इदं = यो, जगद्दुःखं = जगत्को दुःखलाई, निरूप्य = निरूपणं गरिसकेपछि पनि, कथं = कसरी, कृपादुःखं = करुणा गर्दाको दुःख, वहु = धेरै भन्न सकिन्छ ?

अब, यदि करुणाको कारणले अरुको दुःख देख्दा झन आफूलाई बढी दुःख हुन पुग्छ, अतः करुणा उत्पन्न गर्नु बेकार हो, दुःख बढाउने काम हो भन्ने शंका छ भने त्यसो भन्नु उचित हुँदैन । किनभने यो जगत्का विभिन्न प्रकारका (नरक, प्रेतदेखि लिएर षड्गतिभरिकै) दुःखको विचार गर्ने हो भने बोधिसत्वले अरुको दुःख देखेर आफूले दुःख महसूस गरी उद्धार गर्न खोज्दाको दुःखलाई कसरी बढी भन्न मिल्छ ? संसारका दुःखको तुलनामा त्यो दुःख त नगण्य छ ।

बहूनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति ।
उत्पाद्यमेव तद्दुःखं सदयेन परात्मनोः ॥१०५॥

धेरैको दुःख यौटाको दुःखले हट्छ नै भने
खप्नुपर्दछ त्यो दुःख त्यस्ले स्व-परनिम्तिमा ॥१०५॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, एकदुःखेन = एउटाको दुःखले, वहूनां = धेरैको, दुःखं = दुःख, विगच्छति = जान्छ भने, परात्मनोः = अरुको र आफ्नो लागि, सदयेन = दयाले युक्त भएको व्यक्तिले, तद्दुःखं = त्यो दुःख, उत्पाद्यम् एव = उत्पन्न गर्नै पर्छ ।

फेरि, यदि कुनै एक व्यक्तिले त्यस्तो दुःख उठाउँदाखेरि (त्यो पनि करुणाले गर्दा) धेरैलाई दुःखबाट छुटकारा मिल्छ भने आफ्नो र अरुको हितका निमित्त त्यस्तो व्यक्तिले दुःख उठाउनै पर्छ । किनकि त्यति दुःख उठाउँदा उ स्वयंको पनि हित हुन्छ र अरुको पनि हित हुन्छ । अतः दयाले युक्त भएको मानिसले त्यो त सहर्ष सहनुपर्छ ।

अतः सुपुष्पचन्द्रेण जानतापि नृपापदम् ।
आत्मदुःखं न निहतं बहूनां दुःखिनां व्ययात् ॥१०६॥

अत: सुपुष्पचन्द्रैले राजदण्ड बुझे पनि
धेरैको दु:ख हर्नाले आफ्नो दु:ख सहे त्यसै ॥१०६॥

अन्वयार्थ : अत: = त्यसैले, सुपुष्पचन्द्रेण = सुपुष्पचन्द्र वोधिसत्वले, नृपापदम् = राजाले दिने दण्ड सजायँलाई, जानता अपि = जानेर पनि, वहूनां = धेरै, दु:खिनां = दु:खीजनहरूको, व्ययात् = खर्चवाट (मूल्यले), आत्मदु:खं = आफ्नो दु:खलाई, न निहतम् = नाश गरेनन् ।

यसरी बोधिसत्वले आफूले दु:ख उठाएर भए पनि अरुको दु:खलाई हटाउन प्रयत्न गर्नुपर्ने भएकोले अघि सुपुष्पचन्द्र भन्ने बोधिसत्वले आफूले राजाबाट सजायँ भोग्नुपर्छ भन्ने जान्दाजान्दै पनि अरुको दु:ख हटाउने प्रयत्न गरे र आफ्नो दु:खलाई मतलवै गरेनन् भन्ने कुरा भगवान्‌ले बताउनुभएको छ । उक्त प्रसंग समाधिराजसूत्रमा पाइन्छ जसको सारांश यस्तो छ –

धेरै पहिले रत्नपद्मचन्द्रविशुद्धाभ्युद्‌गतराज नाम गरेका तथागत अवतरित हुनुभएको थियो । उहाँले बुद्धकृत्यहरू गरिसकेर लामो अवधिसम्म यस लोकमा रही परिनिर्वाण प्राप्त गर्नुभयो । उहाँको परिनिर्वाणपछि शासनको लोप हुने बेलातिर शूरदत्त नामका राजा थिए । उनको राजधानी रत्नावती थियो । त्यसवेला धेरै सत्वहरूको दृष्टि विग्रिसकेको थियो । उनीहरूलाई अनुकम्पा गर्न भनेर धेरै बोधिसत्वहरूले जन्म लिएका थिए र प्रव्रजित भएका थिए । त्यसमा सुपुष्पचन्द्र नाम गरेका बोधिसत्व पनि थिए र उनी धर्मव्याख्याता थिए । उनीसमेत सवै प्रव्रजित भिक्षुहरूलाई उक्त देशबाट निकाला गरिएकोले समन्तभद्र नाम गरेको जंगलप्रदेशमा घुम्न थालेका थिए । त्यसबेला ती सुपुष्पचन्द्र बोधिसत्वको मनमा करुणाले गर्दा यस्तो विचार आयो – 'मैले अब राष्ट्रको राजधानीमा गएर कुमार्गमा लागेका प्राणी (मानव) हरूलाई कल्याणमार्गमा प्रतिष्ठित गराउनुपर्‍यो ।" त्यसको निमित्त उनले आफ्ना गणका ब्रम्हचारीहरूसँग निवेदन गरे । उनीहरूले रोक्दारोक्दै पनि उनले आफ्नो आपत्तिलाई मतलव नगर्दै राजाको कारणले पर्ने विपत्ति (सजायँ)लाई पनि वास्ता नगरेर क्रमश: नगरमा प्रवेश गर्दै त्यहाँका राजपुत्र, अमात्य आदिलाई धर्ममार्गमा विभिन्न उपायले प्रवेश गराउँदै गए । राजाले त्यस्तो कार्य गरेको थाहा पाएर रिसले चूर भई उनलाई मार्न भनेर आफ्ना छोराहरूलाई आज्ञा दिए । उनीहरूले त्यसो गर्न मानेनन् । त्यसपछि राजाले नन्दिंक नाम गरेको पोढेलाई बोलाई मार्न भनी आज्ञा दिए । राजाको आज्ञामुताविक उसले पनि हात, पाउ, आदि अंगहरू काट्दै आँखाहरू पनि झिक्यो र मार्‍यो । यसरी मारिएका भिक्षुको त्यो राजमार्गमा फ्याँकिएको शरीरमा अनेकौं अद्‌भूत चमत्कारहरू भए । त्यस्तो थाहा पाएर 'यी त पक्कै पनि बोधिसत्व रहेछन्' भन्ने बुझेर राजाले अत्यन्तै विलाप गर्न थाले । सारांशमा कथा यही हो, विस्तारमा बुझ्नको लागि समाधिराजसूत्र नै हेर्नुपर्छ ।

फेरी अरुको दु:खदेखि दु:खी हुने कृपालुहरूलाई जस्तै ठूलो दु:ख पनि बाधक हुँदैन भन्ने कुरा आचार्यले देखाउँदै हुनुहुन्छ –

एवं भावितसन्ताना: परदु:खसमप्रिया: ।
अवीचिमवगाहन्ते हंसा: पद्मवनं यथा ॥१०७॥

भवनाचित्तले यस्तो अरुको दु:ख नैं प्रिय
ठान्दै अवीचिमा जान्छन् हाँस झैं पद्मको वन ॥१०७॥

अन्वयार्थ : एवं = यसप्रकार, भावितसन्तानाः = आफ्नो चित्तसन्ततिमा परात्मसमताको भावना भैसकेका, परदुःखसमप्रियाः = अर्काको दुःख समान आफ्नो प्रिय (सुखदायी) वस्तुलाई ठान्ने भएका बोधिसत्वहरू, यथा = जस्तै, हंसाः = हाँसहरू, पद्मवनं = कमलको वनमा खुशीसाथ जान्छन् (त्यस्तै), अवीचिम् = अवीचिमा पनि, अवगाहन्ते = गोता लगाउँछन् ।

यसरी जसको चित्तसन्तति परात्मसमताको भावनाले गर्दा पूर्णरूपले भिजिसकेको छ याने जसले आफ्नो र अरुको सबै कुरा वरावर रूपमा देख्न सक्ने क्षमता विकास गरिसकेको छ, अनि जसले अरुको दुःखसँग आफ्नो सुख समानरूपले लिन सक्छ अर्थात् अरुको दुःख आफूले लिनु र त्यसलाई आफ्नै दुःख सम्झी त्यसको सामना गर्नुमा स्वयंले सुख अनुभव गर्न सक्छन् त्यस्ता बोधिसत्वहरू त अवीचिमा जानुपरे पनि हाँसहरू पद्मवनमा जान रमाए झैं रमाउँदै जान्छन् । किनकि उनीहरूका निमित्त त अरुले भयंकर दुःख ठान्ने अवीचिको दुःख पनि सुख नै हुन्छ । परदुःखसमप्रिय भनेको यही हो । अरुको हितको लागि खट्ने वीरहरूलाई अरुको दुःख पनि समानरूपमै प्रिय हुन सक्छ ।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥१०८॥

मुक्तै भए सत्वहरू जो आनन्दसमुद्र नै
उर्लन्छन् त्यसले पुग्छ मोक्ष नीरसले त के ? ॥१०८॥

अन्वयार्थ : सत्त्वेषु = सत्वहरू, मुच्यमानेषु = मुक्त हुँदै रहेमा, ये ते = जुन ती, प्रामोद्यसागराः = प्रसन्नताका (आनन्द)का सागरहरू व्याप्त हुन्छन्, तैः एव = तिनीहरूबाट नै, ननु = निश्चय, पर्याप्तं = पुगेको छ, अरसिकेन = नीरस भएको, मोक्षेण = मोक्षले, किम् = के गर्नु ?

दुःखको बन्धनबाट सत्वहरू फटाफट मुक्त हुँदै जाँदा (बोधिसत्वले अलिअलि दुःख गर्नाले) ती बोधिसत्वहरूलाई मनमा जुन आनन्दको सागर उर्लेर आउँछ त्यसको त उनीहरूलाई मात्र अनुभव हुन्छ, अरुले यस्तो उस्तो भन्न सकिन्न । त्यस्तो प्रीतिप्रामोद्यको सागरमा डुब्नेहरूलाई अरु के चाहियो ? त्यसैले नै पर्याप्त हुन्छ । मोक्ष त त्यसको तुलनामा नीरस छ । अतः त्यस्तो नीरस र खल्लो मोक्षले के गर्ने ?

अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
न विपाकफलांङ्क्षा परार्थैकान्ततृष्णया ॥१०९॥

अतः परार्थ गर्नाले न आश्चर्य न गर्व छ
न हुन्छ फलको आशा परार्थै मात्र तिर्सना ॥१०९॥

अन्वयार्थ : अतः = यसकारणले, परार्थं कृत्वा ऽ पि = परहित गरेर पनि, परार्थैकान्ततृष्णाया = अरुको हित गर्ने मात्र चाहना भइरहनाले गर्दा, मदो न = गर्व याने 'मैले यस्तो गरेको छु ' भन्ने घमण्ड हुँदैन, विस्मयश्च न = ओहो, अद्भुत काम पो गरिएछ भन्ने आश्चर्य पनि हुँदैन, विपाकफलाकाङ्क्षा न = विपाकफलको इच्छा पनि हुँदैन ।

यस प्रकार बोधिसत्वहरूको सधै परार्थमात्र गरिरहने एक मात्र चाहना हुन्छ । त्यसले गर्दा उनीहरूले अरुको हित गरे पनि उनीहरूमा कुनै घमण्ड हुँदैन । 'मैले यस्तो हित गरें' 'उस्तो गरें' भन्ने

कुनै ठूल्याइँ हुँदैन । त्यस्तै निकै ठूलो काम फत्ते गरेको जस्तो विस्मय या छक्क पर्ने पनि हुँदैन । त्यस्तो परार्थ गरेको फल मिलोस् र सुख स्वर्गादि भोग गर्न पाइयोस् भन्ने आकांक्षा पनि हुँदैन । यस्ता बोधिसत्वहरूलाई अरुको परम हित गर्नु सिवाय अरु केही पनि मतलव हुँदैन र चित्त पनि त्यसमै रमाइरहन्छ ।

यसरी परात्मसमताको बारेमा बताएपछि त्यसको सारांशको रूपामा आफूलाई अठोट गराउनुहुन्छ–

तस्माद् यथान्तशो ऽ वर्णादात्मानं गोपयाम्यहम् ।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं करोम्येवं परेष्वपि ॥११०॥

अत: एक् एक बद्नामीबाट आफू बचे सरी
रक्षाचित्त दयाचित्त गर्दछु अरुमा पनि ॥११०॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, अहम् = मैले, यथा = जसरी, अवर्णात् = वदनामीवाट, अन्तश: = एक एक गरेर, आत्मानं = आफूलाई, गोपयामि = रक्षा गर्दछु, एवं = त्यस्तै प्रकारले, परेषु अपि = अरुमा पनि, रक्षाचितं = रक्षाको लागि तयार चित्त, दयाचित्तं = दयाले युक्त भएको चित्त, करोमि = गर्दछु ।

यसरी 'आफू' र 'अर्को'मा केही फरक नभएकोले जसरी मैले आफूलाई साना तिना बदनामीहरूबाट बचाउँछु, छिपाउँछु त्यसरी नै अरुप्रति पनि रक्षा गर्ने चित्त र दया गर्ने चित्त उत्पन्न गरिरहनेछु ।

यसरी आचार्यले परात्मसमताको भावनामा जोडदिंदै प्रतिपादन गर्नुभयो । अब पुन: परात्मपरिवर्तनको भावना गर्नको लागि उहाँले बताउँदै हुनुहुन्छ । सुरुमा गाह्रो लागे पनि आखिरमा अभ्यासले गर्दा सम्भव भएर आउँछ भन्ने पुष्टी गर्दै भन्नुहुन्छ -

अभ्यासादन्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।
भवत्यहमिति ज्ञानमसत्यपि हि वस्तुनि ॥१११॥
तथा कायो ऽ न्यदीयो ऽ पि किमात्मेति न गृह्यते ।
परत्वं तु स्वकायस्य स्थितमेव न दुष्करम् ॥११२॥

अभ्यासले त अर्कैका बिन्दुमा रजबीजका
'मै हुं' भन्ने ज्ञान हुन्छ छैन तापनि त्यो कुरा ॥१११॥
त्यस्तै शरीर अर्काको आफ्नो किन नसम्झने ?
कठीन के छ ? यो आफ्नो काय अर्कै त हो बुझे ॥११२॥

अन्वयार्थ : अन्यदीयेषु = अर्कैका, शुक्रशोणितविन्दुषु = रजबीजका विन्दुमा, वस्तुनि = वस्तु, असति अपि = नभए पनि, अभ्यासात् = अभ्यासले गर्दा, अहम् इति = 'म हुँ' भन्ने यस्तो, ज्ञानं भवति = ज्ञान हुन्छ ।

तथा = त्यस्तै, अन्यदीय: = अर्काको, काय: अपि = शरीर पनि, आत्मा इति = आफू भनेर, किं न गृह्यते = किन नलिने (ग्रहण नगर्ने ?) न दुष्करम् = गर्नै नसकिने त होइन, स्वकायस्य = आफ्नो शरीरको, परत्वं तु = अर्कोपन (परायीपन) त, स्थितमेव = भएकै छ ।

जसरी आमा बाबुका (अर्कै व्यक्ति) रज–बीजका बिन्दुहरूमा त्यस्तो 'म' भन्ने ('अहम्'पन)

कुरा छँदैछैन तापनि त्यसको वारंवार अभ्यास भइरहनाले गर्दा त्यसमा 'म हुँ' भन्ने भाव र त्यही ज्ञान हुँदै आइरहेको छ त्यसरी नै अरुको शरीरप्रति पनि 'मेरो शरीर' भन्ने भावना गरिरहने हो भने 'उ' नै 'म हुँ' भन्ने बोध हुन किन नसक्ने ? अनि त्यसको अभ्यास किन नगर्ने ? आखिरमां अहिले 'मेरो' भनेर व्यवहार गरिने स्वकाय (आफ्नो देह) पनिं त पराया नै हो, किनकि मर्ने वेलामा यो साथै जाँदैन, छोड्नै पर्छ । त्यसैले यो आफ्नो शरीरको पनि परायीपन अहिल्यै पनि छ । मैले चाहेको अनुसार यो शरीर चलेकै छैन, आफ्नै ढंगबाट बढ्दैछ, बूढो हुँदैछ, खिइँदैछ, सिद्धिँदैछ । त्यति हुँदाहुँदै त यसप्रति 'म' भन्ने बुद्धि आउन सकेको छ भने अरूको शरीर प्रति पनि 'म' भन्ने ठान्नु त्यति ठूलो या गर्नै नसकिने कुरा होइन । अभ्यास गरेपछि यो पनि सजिलै सम्भव हुन्छ ।

त्यसकारण परात्मसमता त त्यति कठीन छ भने यो परात्मपरिवर्तन झन् कसरी गर्न सकिएला भन्ने सोच्नुहुँदैन । सवै कुरा अभ्यासबाट सम्भव हुन्छ । हामीले प्रशस्त देखेका छौं कि कोही व्यक्ति रगत देख्दा पनि मूर्छा परेर लड्छन् भने पोढेहरूले प्राणीहरूलाई मूला काटेझैं दिनभरि काटिरहन सक्छन् । त्यो पनि अभ्यासैले गर्दा सकेका हुन् । जङ्गलका मायालाग्दा निरीह प्राणीहरूलाई उनीहरूको कुनै दोष नहुँदा पनि मारेर शिकारीहरूले अत्यन्त प्रसन्नताको अनुभव गर्छन् । यो पनि अभ्यासले भएको हो । लडाईमा शत्रुलाई मार्दा प्रसन्नता आउँछ । त्यो पनि त अभ्यासले भएको हो । अतः अभ्यास भएपछि अरुलाई आफू र आफूलाई अरु सम्झिन सम्भव हुन्छ । बुद्धताको लागि यो अत्यन्त आवश्यक कुरा हो ।

ज्ञात्वा सदोषमात्मानं परानपि गुणेदधीन् ।
आत्मभावपरित्यागं परादानं च भावयेत् ॥११३॥

दोषी ठानी आफूलाई अरुलाई गुणोदधि
आफ्नो भाव छोडी पर-भावको गर्नु भावना ॥११३॥

अन्वयार्थ : आत्मानं = आफूलाई, सदोषं = दोषले युक्त भएको र, परान् = अरुलाई, गुणोदधीन् = गुणका सागरसमानकै, ज्ञात्वा = ठानेर जानेर, आत्मभावपरित्यागं = 'आफू' भन्ने भावलाई त्याग गर्ने र, परादानं च = 'अर्को हुँ' भन्ने भावको ग्रहण गर्ने, भावयेत् = भावना गर्नू ।

आफूलाई दोषैदोषले भरिएको रं अरु सवैलाई गुणैगुणका सागर समानका ठान्दै आफूलाई त्यागेर 'अर्को हुँ' भन्ने भावना गर्नुपर्छ । किनकि, यथार्थमा आत्मस्नेह या आफूप्रति पकड र ग्राह नै सवैप्रकारका दोषहरूको जरो हो । त्यसैले पनि 'आफू' भन्नुमा दोषैदोष मात्र भइरहन्छ । फेरि 'पर' या 'अर्को' प्रति कल्याण गर्ने, हित गर्ने कामले गुण मात्र बढाइरहने भएकोले 'पर' भन्नु नै गुणको सागरसमान हो । अतः यो तथ्यलाई बुझेर पनि आफू 'पर' बन्ने चाहना र अभ्यास गर्नुपर्छ आखिर गुणको स्रोत त पर नै रहेछ । यसरी अरुलाई नै आफू सम्झिनुपर्छ र राम्रो गर्नुपर्छ भने आफूलाई अरु भन्ने सम्झेर त्याग गर्नुपर्छ । यही हो परात्मपरिवर्तन भनेको, अर्को र आफूलाई आपसमा साट्नु ।

कामस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादयः ।
जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिनः ॥११४॥

शरीरको अङ्ग हुँदा हात आदि त इष्ट छन्
त्यस्तै जगतका अङ्ग प्राणी, किन नगर्नु भन् ॥११४॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, करादय: = हात पाउ आदि, कायस्य = शरीरको, अङ्गत्वेन = अङ्ग भएका नाताले, अभीष्टा: = प्रेम गर्न लायक छन् (मनपर्छन्), तथा = त्यस्तै, देहिन: = प्राणीहरू (देहधारीहरू) पनि, जगत: = जगत्कै, अवयवत्वेन = अङ्ग भएका नाताले, कस्मात् = किन, न = प्रेम गर्न लायक भएनन् (मन परेनन्) ?

आफ्नो शरीरको अंग भएकाले यी हात खुट्टा आदि भागहरू समान रूपमै आफूलाई प्रिय लाग्छन् । त्यस्तै आफ्नै जगत्को अङ्गका रूपमा यी प्राणीहरू छन् भने यिनीहरूप्रति पनि त्यस्तै प्रिय र मनपर्ने दृष्टि किन पैदा नहुने ? अवश्य हुन सक्छ, अभ्यासकै खाँचो हो ।

यथात्मबुद्धिरभ्यासात् स्वकाये ऽस्मिन् निरात्मके ।
परेष्वपि तथात्मत्वं किमभ्यासान्न जायते ॥११५॥

जस्तै अभ्यासले आत्मा नहुँदा पनि कायमा
आत्मबुद्धि भएकै छ, त्यस्तै अभ्यासले किन ।
अरुमा पनि आफूको पन पैदा हुँदैन त ॥११५॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, अस्मिन् = यो, निरात्मके = आत्मा (आफू) भन्ने कुरा नै नभएको, स्वकाये = आफ्नो शरीरमा, अभ्यासात् = अभ्यासबाट, आत्मबुद्धि: = आत्मबुद्धि ('म हूँ' भन्ने बुद्धि) हुन्छ, तथा = त्यस्तै, परेषु अपि = अरुमा पनि, अभ्यासात् = अभ्यासबाट, आत्मत्वं = 'म नै हूँ' भन्ने भाव, किम् = किन, न जायते = उत्पन्न हुँदैन ?

जसरी हाम्रो शरीरमा त्यस्तो 'म' भन्ने कुनै वस्तु छैन तापनि अभ्यासले गर्दा 'म छु' भन्ने बुद्धि (आत्मबुद्धि) भइरहन सकेको छ त्यस्तै अरुप्रति पनि अभ्यास गर्दै जाने हो भने 'त्यो नै म हुँ' भन्ने बुद्धि पैदा हुन किन नसक्ने ? अत: अरुलाई आफू सम्झेर परात्मपरिवर्तन गर्न नसकिने कुरा छैन । यहाँ अभ्यासबाट यी सबै कुरा सम्भव हुन्छन् । त्यसैले अभ्यास गर्नु मूल कुरा हो ।

एवं परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
अत्मानं भोजयित्वैव फलाशा न च जायते ॥११६॥

अत: परार्थ गर्नाले न आश्चर्य न गर्व छ
आफैलाई खुवाए नि फलाशा पनि छैन त ॥११६॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी, परार्थं कृत्वा अपि = परार्थ गर्दा पनि, न मद: = गर्व पनि हुँदैन, न च विस्मय: = कुनै आश्चर्य पनि हुँदैन, आत्मानं = आफैलाई, भोजयित्वा एव = खुवाएर नै, फलाशा = फलको आशा, न जायते = उत्पन्न हुँदैन ।

यसप्रकार जब परात्मपरिवर्तन गरिन्छ, याने अर्कोलाई नै आफु सम्झिने अभ्यास गरिन्छ तब अरुको हित गर्दा पनि आफ्नै हित गरेको जस्तो भाव आउँछ जसले गर्दा न त त्यो परहित कार्यको बारेमा आफूलाई घमण्ड (मद) पलाउँछ, न त त्यस्तो गरेकोमा कुनै गजबको काम गरे जस्तो गरी आश्चर्य नै हुन्छ । किनकि त्यसबेला अरूको हित गरिए पनि आफ्नै हित सम्झेर गरिएको हुन्छ । आफूलाई भोजन गराएर याने आफू तृप्त भएर भोजन गराउनाको फल यस्तो होस् उस्तो होस् भन्ने आशा पनि केही गरिएको हुँदैन । त्यसैले परात्मपरिवर्तन गरेमा परहित गर्दा पनि कुनै क्लेशहरू नबटुलिकन गर्न सकिन्छ ।

तस्माद् यथार्तिशोकादेरात्मानं गोप्तुमिच्छसि ।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं जगत्यभ्यस्यतां तथा ॥११७॥

अत: पीडा, शोकदेखि आफ्नो रक्षा गरे सरी
लोकमा त्यसरी गर्नू रक्षाचित्त दयामन ॥११७॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, यथा = जसरी, आत्मानं = आफूलाई, अर्तिशोकादे: = पीडा र शोक आदिवाट, गोप्तुं = रक्षा गर्न, इच्चसि = इच्छा गर्छौ, तथा = त्यस्तै गरी, जगति = लोक (सत्त्व) प्रति पनि, रक्षाचित्तं = रक्षा गर्ने भावको मनको, दयाचित्तं = दया (करुणा) गर्ने मनको, अभ्यस्यताम् = अभ्यास गर ।

अतः जसरी तिमीले आफूलाई विभिन्न प्रकारका शोक, सन्ताप र पीडाबाट बचाउन खोज्छौ त्यसरी नै संसारका प्राणीहरूप्रति पनि त्यस्तै खालको रक्षा गर्ने चित्त, त्यस्तै किसिमले दया माया गर्ने चित्त उत्पन्न गर्ने अभ्यास गर। किनकि तिमीले अरु प्राणी नै आफू भन्ने ठान्नुपरेको छ।

अध्यतिष्ठदतो नाथः स्वनामाप्यवलोकितः ।
पर्षच्छारद्यभयमप्यपनेतुं जनस्य हि ॥११८॥

अवलोकित नाथैले त्यसैले नाम आफनु
अधिष्ठान गर्नुभयो लोकको भय नाशन ।
जस्ले सभामा रहँदा लाजले डर लाग्दथ्यो ॥११८॥

अन्वयार्थ : अत: = त्यसैले त, नाथ: = प्राणीहरूका स्वामी, अवलोकित: = अवलोकितेश्वरले, जनस्य = लोकको, पर्षच्छारद्यभयं = सभासमूहमा वोल्न लाजले उत्पन्न भएको डरलाई, अपनेतुं = हटाउन, स्वनाम = आफ्नो नामलाई, अध्यतिष्ठत् = अधिष्ठान गर्नुभयो ।

त्यही दयाचित्त र रक्षाचित्त भएको हुनाले नै नाथ अवलोकितेश्वरले मानिसहरूको पर्षच्छारद्यभयलाई हटाउन आफ्नो नामलाई अधिष्ठान गर्नु भएको थियो। उहाँले सङ्कल्प गर्नुभएको थियो कि 'जसले मेरो नाम लिन्छ उसलाई सभा, समूहमा कुनै डर नहोस्'। यसरी आफनो नामलाई उहाँले अधिष्ठान गर्नुभएको थियो। किनकि कतिपय मानिसहरूलाई परिषद् याने सभा आदिमा प्रश्न सोध्न या सोधेका प्रश्नको जवाफ दिन डर लाग्छ र त्यस्ता व्यक्तिले उपदेश दिन सक्दैनन्। शारद्य भनेको त्यही लज्जाको भाव हो। त्यसो भए पछि अरुको हित गरुँ भन्दा पनि त्यो लज्जा र आत्तिने स्वभावले गर्दा बाधा गरिराखेको हुन्छ। त्यसकारण त्यस्तो पर्षच्छारद्य (पर्षद्+शारद्य) को डरलाई हटाउने प्रतिज्ञा उहाँले गर्नुभएको थियो। वैशारद्य भनेको ठीक यसको उल्टो हो। जोसँग त्यस्तो अनावश्यक लज्जा हुँदैन त्यो वैशारद्यले युक्त भएको मानिन्छ। परन्तु साँच्चिकै सबै प्रकारका (चार प्रकारका) वैशारद्य गुणहरूले युक्त भएको त बुद्ध मात्र हुन्छन्। त्यसैले यसलाई बुद्धका गुण भित्र गनिएको हुन्छ।

अधिष्ठान गर्नु भनेको आफ्नो शक्तिशाली संकल्पको बलले चाहेको असर पैदा गराउनु हो। जस्तैः कसैले सर्प-मन्त्रलाई सिद्ध गरेर आफ्नो सङ्कल्पबाट 'यो खम्बालाई जसले छुन्छ उसलाई सर्पको विष नलागोस्' भनेर एउटा खम्बा गाडिदियो भने त्यो खम्बालाई छोएमा सर्पको विष उत्रन थाल्छ। यो असर कहाँबाट आयो भन्ने हो भने उसको अधिष्ठानबाट आएको भनिन्छ। यसरी

अधिष्ठान गरेका घटनाहरू प्रशस्तै पाइन्छन् । त्यस्तै गरी यहाँ पनि अवलोकितेश्वरले आफ्नो नाममा भय हटाउने अधिष्ठान गरिराख्नुभएको थियो । भगवान् बुद्धले पनि वेलावेलामा सत्यको अधिष्ठान गर्नुहुन्थ्यो ।

दुष्करान्न निवर्तेत यस्मादभ्यासशक्तितः ।
यस्यैव श्रवणात् त्रासस्तेनैव न विना रतिः ॥११९॥

अप्ठयारो भै नछोड्नु है, अभ्यासबलले जब
जे सुन्दा डर लाग्थ्यो त्यो विना आराम हुन्न त ॥११९॥

अन्वयार्थ : दुष्करात् = कठीन कार्यबाट, न निवर्तेत = विमुख नहुनू, यस्मात् = किनकि, अभ्यासशक्तितः = अभ्यासको बलले गर्दा, यस्य = जसको (नाम), श्रवणाद् एव = सुन्दा नै, त्रासः = डर हुन्थ्यो, तेन एव विना = त्योविना नै, न रतिः = प्रेम। सुख। नहुने हुन्छ ।

यो परात्मपरिवर्तनको अभ्यास धेरै कठीन भयो भन्ने ठानेर यसलाई छोड्नु या यसबाट विमुख हुन खोज्नु राम्रो हुँदैन । किनकि जसको नाम सुन्दा समेत आफूलाई भय र त्रास उत्पन्न हुन्थ्यो त्यस्तो शत्रुप्रति पनि मैत्री आदिको अभ्यास गर्दै जाने हो भने एक समयमा आएर यस्तो हुन जान्छ कि त्यो विना आफू केही पनि गर्न नसक्ने भएर आइन्छ । अर्थात् जुनसुकै कुरा पनि अभ्यासको बलले गर्दा सम्भव भएर आउँछ । शत्रु पनि मित्र बनेर जान्छन् ।

आत्मानं चापरांश्चैव यः शीघ्रं त्रातुमिच्छति ।
स चरेत् परमं गुह्यं परात्मपरिवर्तनम् ॥१२०॥

आफू र अरुलाई नै ज़ो खोज्दछ बचाउन
त्यस्ले गरोस् अति गुह्य परात्मपरिवर्तन ॥१२०॥

अन्वयार्थ : यः = जसले, आत्मानं = आफुलाई र, अपरांश्च = अरुलाई पनि, शीघ्रं = चाँडै, त्रातुं = बचाउन, इच्छति = चाहान्छ, स = त्यसले, परमं गुह्यं = अत्यन्त गुह्य, परातमपरिवर्तनम् = अर्काको ठाउँमा आफूलाई राखेर परिवर्तन गर्ने अभ्यास, चरेत् = गरोस् ।

त्यसकारण जसले आफूलाई र अरुलाई पनि यथाशीघ्र (चाँडै नै) रक्षा गर्न चाहन्छ उसले अत्यन्त गुह्य (गोप्य) परात्मपरिवर्तन भन्ने अभ्यास गर्नुपर्छ । अर्थात् जसले आफूलाई र अरुलाई पनि संसार र निर्वाणरूपी दुई अन्तबाट बचाएर अप्रतिष्ठित निर्वाण याने बुद्धपदसम्म पुऱ्याउन चाहान्छ उसले यो परात्मपरिवर्तनको अभ्यास गरिहाल्नुपर्छ । यसको पात्र नभएका व्यक्तिहरूले यो भावना गर्ने रुचि पनि पैदा गर्न सक्दैनन् । यसप्रति श्रद्धा पनि आउँदैन र यसको मर्म बुझ्न पनि सक्दैनन् र डराउँछन् । त्यसैले यसको अभ्यास गोप्यरूपमा गरिने हुन्छ । कुपात्रलाई यो बताईदैन, अनधिकारीलाई यो दिइँदैन । त्यसकारण अत्यन्त गुह्य भनिएको हो । यसलाई गुह्य नराख्ने हो भने यसको निन्दा या अवहेलना गर्नेहरू दुर्गतिमा जानसक्छन् । त्यसैले पनि गुह्य राख्नुपर्छ ।

यस्मिन्नात्मन्यतिस्नेहादल्पादपि भयाद् भयम् ।
न द्विषेत् कस्तमात्मानं शत्रुवद् यो भयावहः ॥१२१॥

जो आत्मामा स्नेह हुँदा सानै भय हुने ठूलो
त्यो शत्रु झैं डरैलाग्दो, त्यस्मा गर्दैन द्वेष को ? ॥१२१॥

अन्वयार्थ : यस्मिन् = जुन, आत्मनि = आत्मा (आफू)मा, अतिस्नेहाद् = धेरै स्नेह हुनाले गर्दा, अल्पाद् भयाद् = सानोतिनो भयबाट पनि, भयम् = डर धेरै हुन्छ, य: = जुन, शत्रुवद् = शत्रुसमान, भयावह: = भयदायी छ, तं = त्यो, आत्मानं = आत्मालाई, क: = कसले, न द्विषेत् = द्वेष नगरोस् ?

जुन आत्मा ('म' 'मेरो शरीर' भन्ने जस्तो आफूप्रतिको अस्तित्वबोध) प्रति ज्यादै स्नेह हुनाले गर्दा सानोतिनो डरबाट पनि डर लागिरहन्छ, त्यस्तो शत्रुले झैं डर दिइराख्ने खालको आत्माप्रति कसले द्वेष गर्दैन ? अवश्य गर्नुपर्छ ।

आखिरमा माथि भनिएझैं 'म छु' भन्ने धारणा र त्यसको सत्ताप्रतिको ग्राहले गर्दा नै हामी त्यसमा अत्यन्त स्नेह गर्छौं र त्यही भएर राग, द्वेष,आदि उत्पन्न भइरहन्छन् । हामीले जे काम पनि त्यही 'म' लाई सुख सुविधा जुटाउने उद्देश्यले गर्छौं । त्यसमा अलिकति तलमाथि पर्‍यो भने सानोतिनो भय मनमा आए पनि आफू डुबिन्छ कि भन्ने डरले धेरै सताइरहन्छ । यसप्रकार त्यो आत्मस्नेहले गर्दा सानै डरदेखि पनि डर भइरहेको हुन्छ । त्यसैले अनेकौं दुष्कर्महरू गर्नुपर्ने हुन्छ र फलस्वरूप धेरै दुःख भोग्नुपर्ने हुन्छ । त्यस्तो शत्रुसमान भयावह आत्मासँग को द्वेष गर्दैन ? अवश्य गर्छ ।

**यो मान्द्यक्षुत्पिपासादिप्रतीकारचिकीर्षया ।
पक्षि-मत्स्य-मृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति ॥१२२॥**

भोक-प्यास र कम्जोरी हटाउन भनेर जो
चरा-माछा-मृगै मार्छ, बाटो छोडेर लुक्छ जो ॥१२२॥

अन्वयार्थ : य: = जसले, मान्द्यक्षुत्पिपासादिप्रतीकारचिकीर्षया = कमजोरी र भोक, प्यास आदिलाई हटाउने इच्छा गरेर, पक्षि-मत्स्य-मृगान् = चरा, माछा, मृग आदिलाई, हन्ति = मार्दछ, परिपन्थं च = बाटाको छेउ छाउतिर पनि, तिष्ठति = लुकी बस्छ ।

जसले आफ्नै (म र मेरो शरीर आदि आत्मभावको) कमजोरी, भोक प्यास आदिलाई निवारण गर्ने उद्देश्यले पशु, पंक्षि, माछा, मृग आदिको शिकार गरेर मार्छ, त्यस्तै अरुको धन लुट्न भनेर सडकको छेउछाउतिर लुकेर बस्छ,

**यो लाभसत्क्रियाहेतोः पितरावपि मारयेत् ।
रत्नत्रयस्वमादद्याद् येनावीचीन्धनो भवेत् ॥१२३॥**

लाभ सत्कार खोजेर मार्ला माता पिता पनि
त्रिरत्नको धनै चोर्ला, होला इन्धन् अवीचिको ॥१२३॥

अन्वयार्थ : य: = जसले, लाभसत्कारहेतो: = लाभ र सत्कारको इच्छा राखेर, रत्नत्रयस्वं = त्रिरत्नको सम्पत्ति, आदद्यात् = हरण गर्ला, येन = जसले गर्दा, अवीचीन्धन: = अवीचि नरकको इन्धन: = इन्धन, भवेत् = होला ।

जसले आफ्नो आत्मभाव आदि ('म' र 'मेरो' भनाउँदो शरीर)को लाभ, सत्कार र इज्जत

आदिका निमित्त माता पिता जस्ता उपकारी स्वजनहरूलाई पनि मार्ला, त्रिरत्नको लागि चढाइएको वस्तु सम्पत्ति आदिलाई अपहरण गर्ला र त्यसले गर्दा अवीचि नरकको इन्धन बन्नुपर्ने होला ।

कः पण्डितस्तमात्मानमिच्छेद् रक्षेत् प्रपूजयेत् ।
न पश्येच्छत्रुवच्चैनं कश्चैनं प्रतिमानयेत् ॥१२४॥

को पण्डित त्यो आत्माको रक्षा पूजा र चाहना
मान सम्मान गर्ला र, नदेख्ला शत्रु झैं त्यहाँ ॥१२४॥

अन्वयार्थ : कः पण्डितः = कुन बुद्धिमान याने पण्डितले, तम् = त्यो, आत्मानं = आत्मालाई, इच्छेत् = चाहना गर्ला ? रक्षेत् = रक्षा गर्ला, प्रपूजयेत् = पूजा गर्ला ? एनं = यसलाई, शत्रुवद् = शत्रुसमान, न पश्येद् =नदेख्ला ? कः = कसले, एनं = यसलाई, प्रतिमानयेत् = मानसम्मान दिइरहला ?

को बुद्धिमान् व्यक्ति होला जसले त्यस्तो आत्मा ('म' र 'मेरो' भन्ने भाव) लाई मनपराओस्, त्यसकै बचाउ गरिराखोस्, त्यसकै पूजा गरिराखोस् ? त्यसलाई शत्रुझैं नदेखोस् ? को व्यक्ति होला जसले त्यसलाई मानसम्मान दिइराखोस् ?

यसरी 'स्व' अर्थात् 'म' भन्ने आत्मबुद्धिको विषय आत्माको दोष देखाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ कि त्यस्तो स्वार्थीपन पिशाचपन हो र त्यसको विपरीत परार्थ चाहिँ देवराजको स्वभाव हो-

यदि दास्यामि किं भोक्ष्ये इत्यात्मार्थे पिशाचता ।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थे देवराजता ॥१२५॥

दिएँ भने त के खाने ? भन्ने स्वार्थी पिशाचता
खाएँ भने त के दिन्छु ? यो परार्थी छ दीव्यता ॥१२५॥

अन्वयार्थं : यदि = यदि, दास्यामि = दिएँ भने, किं भोक्ष्ये = के भोग गरुँला, इति = यस्तो, आत्मार्थे = स्वार्थका निमित्त गरिएको, पिशाचता = पिशाचपन हो । यदि = यदि, भोक्ष्ये = भोग गरें भने त, किं ददामि = के दिउँला ? भन्ने, इति = यस्तो, परार्थे = अरुका निमित्त गरिएको, देवराजता = देवताहरूको पनि स्वामी बन्ने गुण हो ।

यदि मैले कमाएको धन सम्पत्ति आदि अरु दीनदुःखी गरीब आदिलाई दान गरें भने मैले के उपभोग गर्ने त ? भन्ने खालको सोचाइ छ भने त्यो वास्तवमा आत्मबुद्धिले गर्दा स्वार्थकै लागि (त्यही आत्माकै निमित्त) गरिएको पिशाचपन याने कञ्जूस्याईं हो र त्यसले पछि पिशाच या प्रेत नै बनाएर छाड्छ। यदि यो सबै मैले नै भोग गरे भने त अरुलाई के दिने नि ? भन्ने खालको सोचाइ हो भने त्यो त परार्थको भावनाबाट उत्पन्न भएको देवराजता याने देवताहरूको पनि पूज्य राजा हुने गुण हो ।

आत्मार्थं पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते ।
आत्मानं पीडयित्वा तु परार्थं सर्वसम्पदः ॥१२६॥

स्वार्थमा अरुलाई नै पीर्दा नरक मिल्दछ
परार्थमा आफूलाई पीर्दा त सब सम्पदा ॥१२६॥

अन्वयार्थ : आत्मार्थं = स्वार्थका निमित्त, अन्यं = अरुलाई, पीडयित्वा = पीडा गर्नाले, नरकादिपु = नरक आदिमा, पच्यते

= पाक्न पुगिन्छ, परार्थं = अरुका निमित्त, आत्मानं = आफूलाई, पीडयित्वा तु = पीडा दिंदा त, सर्वसम्पदः = सवै सम्पत्तिहरू आइलाग्छन् ।

आफ्नो सुख-सुविधाको लागि अरुलाई पीडा गर्ने हो भने नरक आदि दुर्गतिमा पाक्नुपर्ने हुन्छ । परन्तु अरुलाई सुख-सुविधा दिनको लागि आफूले दुःख पीडा सहेमा सबै सम्पत्तिहरू प्राप्त हुन्छन् अर्थात् लौकिक र लोकोत्तर (अभ्युदय एवं नैःश्रेयस) बुद्धताको फल प्राप्त हुन्छ ।

दुर्गतिर्नीचता मौर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया ।
तामेवान्यत्र सङ्क्रम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः ॥१२७॥

जो आत्मोन्नतिको इच्छा दुर्गति, नीच, मूर्खता
दिन्छ, त्यो अरुमा गर्दा सुगति, सत्कृति मति ॥१२७॥

अन्वयार्थ : यया = जुन, आत्मोन्नतीच्छया = आफ्नो उन्नति गर्ने इच्छाले, दुर्गतिः = दुर्गति, नीचता = नीच कुलको जन्म, मूर्खता = कुबुद्धि प्राप्त हुन्छन्, ताम् एव = त्यही इच्छालाई नै, अन्यत्र = अर्को ठाउँमा (प्राणीमा), सङ्क्रम्य = स्थानान्तर गर्ने हो भने, सुगतिः = सुगति मिल्छ, सत्कृतिः = सत्कार मिल्छ, मति = बुद्धि पनि आउँछ ।

आफ्नो उन्नतिको लागि भनेर जुन तृष्णा या इच्छा गरिएको हुन्छ त्यही इच्छाले गर्दा कुकर्महरू हुन जानाले सामान्यतया दुर्गति नै प्राप्त हुन्छ । केही गरी सुगति पाइहालियो भने पनि नीचता प्राप्ति हुन्छ याने नीच कुलमा जन्म हुने, अरुद्वारा होच्याइने, अवहेलना गरिने बन्नपुगिन्छ । त्यस्तै कुबुद्धि प्राप्त हुन्छ । तर यदि त्यही इच्छालाई आफूप्रति नभएर अरुप्रति सारिदिने हो भने, अर्थात् अरुको उन्नतिको लागि त्यो इच्छा उत्पन्न गर्ने हो भने फेरि सुगति प्राप्त हुन्छ । यो जन्ममा र पछिका जन्ममा पनि लाभ सत्कार प्राप्त हुन्छ । सद्बुद्धि पनि आउँछ ।

आत्मार्थं परमाज्ञाप्य दासत्वाद्यनुभूयते ।
परार्थं त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते ॥१२८॥

अरुलाई दिंदा आज्ञा दासता मिल्छ स्वार्थले
आफैलाई दिए आज्ञा स्वामी हुन्छ परार्थले ॥१२८॥

अन्वयार्थ : आत्मार्थं = आफ्नो निमित्त, परम् = अरुलाई, आज्ञाप्य = अह्राउने-कजाउने गर्नाले, दासत्वादि = दासता, नीचजन्म आदि, अनुभूयते = अनुभूति गर्नुपर्ने हुन्छ, परार्थं = अरुको निमित्त, एनं = यसलाई (यो आफूलाई) आज्ञाप्य = आज्ञा दिने गर्नाले, स्वामित्वादि = स्वामित्व, सद्बुद्धि आदि, अनुभूयते = अनुभव गरिन्छ ।

आफ्नो स्वार्थको लागि अरुलाई अह्राउने, काममा जोताउने आदि गर्नाले अन्तमा आफू अरुको दास बन्ने, नीच कुलमा जन्मिने, कुबुद्धि प्राप्त हुने जस्ता फलहरू भोग्नुपर्ने हुन्छ भने अरुका निमित्त आफूलाई काममा जोताउने अह्राउने गर्नाले पुण्य प्राप्त भई अरुले पूज्ने-मान्ने, धनी, रूपयौवनले सम्पन्न र सद्बुद्धि युक्त बन्नपुगिन्छ । त्यसैले स्वामित्व-प्राप्तिको अनुभव गर्न पाइन्छ ।

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे ते ऽन्यसुखेच्छया ॥१२९॥

दुःखी छन् लोकमा जो ती सवै स्व-सुख चाहँदा
सुखी छन् लोकमा जो ती अरुको सुख चाहँदा ॥१२९॥

अन्वयार्थ : लोके = लोकमा, ये केचित् = जो कोही, दुःखिता = दुःखी छन्, ते सर्वे = ती सवै, स्वसुखेच्छया = आफ्नो सुखको चाहनाले गर्दा भएका हुन्, लोके = लोकमा, ये केचित् = जो कोही, सुखिताः = सुखी छन्, ते सर्वे = ती सवै, अन्यसुखेच्छया = अरुको सुख चाहनाले भएका हुन् ।

यो संसारमा जो प्राणीहरू दुःखी छन् ती सबै आफ्नो लागि सुख चाहने गर्नाले भएका हुन् किनकिं आत्मस्नेहले भएको तृष्णाबाट अकुशल कर्म बढी हुन्छन् जसको फलस्वरूप दुःख आइलाग्छ । त्यस्तै यो संसारमा जति पनि सुखी प्राणीहरू छन् ती सबै अरुलाई सुख दिऊँ भन्ने चाहनाले गर्दा भएका हुन् ।

बहुना वा किमुक्तेन दृश्यतामिदमन्तरम् ।
स्वार्थार्थिनश्च बालस्य मुनेश्चान्यार्थकारिणः ॥१३०॥

धेरै भनेर के गर्नु ? स्वार्थी बाल पृथग्जन
एवं परार्थी मुनिको हेर कस्तो छ अन्तर ॥१३०॥

अन्वयार्थ : वा = अथवा, बहुना = धेरै, उक्तेन = भन्नाले, किं = के फाइदा छ र ? स्वार्थार्थिनः = स्वार्थकै मात्र चाहना गर्ने, वालस्य = वालपृथग्जनको र, अन्यार्थकारिणः = परार्थको लागि काम गरिराख्ने, मुनेश्च = मुनिको वीचमा, इदम् = यो, अन्तरम् = फरक, दृश्यतां = हेर ।

अथवा, धेरै बताएर मात्र के फाइदा हुन्छ र ? तिमीले आफै हेर न ! स्वार्थको निमित्त लाग्नें बालजन (अज्ञानी) को र परार्थ चाहँदै काम गर्ने मुनिको बिचमा कति अन्तर छ ? अज्ञानीहरूले अझै आफ्नो कुनै पनि हित गर्न सकेका छैनन् (अरुको हितको त के कुरा ?) भने मुनिले अरुको पनि कति कल्याण गरिसक्नुभयो र साथै आफू पनि कुन अवस्थामा पुग्नुभयो ?

प्रश्न उठ्न सक्छ कि बुद्धताप्राप्तिका निमित्त त त्यस्तो मार्ग राम्रै होला परन्तु लौकिक सुख खोज्नेलाई त आवश्यक पर्दैन होलानि ? यसको उत्तरमा आचार्य भन्नु हुन्छ–

न नामसाध्यं बुद्धत्वं संसारे ऽपि कुतः सुखम् ।
स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ॥१३१॥

परदुःखसँगै आफ्नो सुखलाई नसाटदा
वुद्धता त कुरै छोडौं लोकमै पनि सुख काँ ? ॥१३१॥

अन्वयार्थ : स्वसुखस्य = आफ्नो सुखलाई, अन्यदुःखेन = अरुको दुःखसँग, परिवर्तम् = परिवर्तन (साट्ने काम), अकुर्वतः = नगर्नेवालाको, वुद्धत्वं नाम = बुद्धता भन्ने कुरा त, न साध्यं = सिद्ध हुँदैन नै, संसारेऽपि = संसारमा पनि, कुतः = कहाँबाट, सुखम् = सुख हुन्छ र ?

आफ्नो सुखसँग अरुको दुःखलाई नसाटिदिने हो भने बुद्धता त प्राप्त हुने सम्भावनै भएन, अपितु लोकमा पनि त्यस्ताले कहाँ सुख पाउँछन् र ? लौकिक सुख पनि पाइँदैन ।

लौकिक सुखहरू पुण्यबाट प्राप्त हुन्छन् । आफ्नो सुखसँग अरुको दुःख साट्दा अपार पुण्य प्राप्त हुन्छ । त्यसैले यसबाट लौकिक सुखप्राप्ति त स्वतः नै हुन्छ । त्यतिमात्र नभएर यसले वुद्धतासम्म पनि पुऱ्याउँछ । बरु यो भएन भने बुद्धता हुने त सम्भावना नै हुँदैन, लोकमा पनि यस्तो

उच्चकोटिको पुण्य अरु नहुने भएकाले यसले जस्तो लौकिक सुख पनि अरुले दिन सक्दैनन्। त्यही भएर आफ्नो सुख र अरुको दु:ख साटेन भने लौकिक सुख पनि राम्रोसँग पाउन सक्दैन।

आस्तां तावत् परो लोको दृष्टोऽप्यर्थो न सिद्धयति।
भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनोऽददतो भृतिम् ॥१३२॥

परलोक परै जाओस् यहीं बन्दैन क्यै पनि
नगर्दा भृत्यले काम नदिँदा स्वामिले तलब् ॥१३२॥

__अन्वयार्थ :__ परो लोकः = अर्को लोक त, तावत् आस्ताम् = त्यसै छोडौं, दृष्टः अर्थः अपि = यहीं लोककै काम पनि, न सिद्ध्यति = सिद्ध हुदैन, (जस्तै) कर्म = अकुर्वतः = काम नगर्ने, भृत्यस्य = नोकरको, भृतिं = तलब (पारिश्रमिक), अददतः = नदिने, स्वामिनः = मालिकको।

परहित गर्नाले परलोकमा सुख होला भन्ने कुरालाई अहिले यसै छोडौं (किनकि परलोक त कसले देखेको छ र ? भन्ने मानिसहरू पनि यहाँ छन्। त्यो अप्रत्यक्ष भएकोले अहिले यहीं देखिने कुरा मात्र गरौं न भन्ने हो भने पनि) यहाँ केही पनि लौकिक स्वार्थ सिद्ध हुन सक्दैन यदि अरुलाई राम्रोसँग सन्तुष्ट नपार्ने हो भने। जस्तैः- यदि कोही नोकरले राम्रोसँग काम गरेर मालिकलाई सन्तुष्ट पारेन भने उसको लौकिक स्वार्थ पूरा गर्न पनि गाह्रो हुन्छ। त्यस्तै कुनै मालिकले नोकरलाई राम्रो तलब आदि दिएर सन्तुष्ट राखेन भने उसलाई पनि स्वार्थसिद्ध गर्न यहीं पनि कठीन हुन्छ। प्रत्येक व्यावहारिक कुरामा जुनसुकै क्षेत्रमा पनि यो लागू भएकै देखिन्छ कि अरुलाई खुशी पारेर मात्र आफ्नो काम बनेको हुन्छ।

त्यक्त्वान्योन्यसुखोत्पादं दृष्टादृष्टसुखोत्सवम्।
अन्योन्यंदुःखनाद् घोरं दुःखं गृह्णन्ति मोहिताः ॥१३३॥

आपसी सुख-उत्पाद यहाँ परत्रमा सुख
दिने त्यो मूर्खले छोडी दु:ख लिन्छन् दिँदै दु:ख ॥१३३॥

__अन्वयार्थ :__ मोहिताः = मूढ अज्ञानीहरूले, दृष्टादृष्टसुखोत्सवम् = देखिएको र नदेखिएको (यो लोक र परलोकमा) सुखको उत्सव गराउने, अन्योन्यसुखोत्पादं = एकले अर्कोलाई सुख दिने कामलाई, त्यक्त्वा = छोडेर, अन्योन्यदुःखनाद् = एकले अर्कोलाई दु:ख दिने काम गर्नाले, घोरं = डरलाग्दो, दुःखं = दु:खलाई नै, गृह्णन्ति = ग्रहण गर्छन्।

एकले अर्कालाई सुख दिने बानी गर्ने हो भने यही लोकमा पनि सबैलाई सुख हुन्छ र परलोकमा पनि सुखैसुख हुन्छ तापनि अज्ञानी मूर्खहरू त्यस्तो कुरालाई छोडेर त्यसको ठीक विपरीत एकले अरुलाई दु:ख दिने काम गरेर आफू स्वयंलाई नै दु:खमा पार्ने र दु:खै समात्ने काम गरिरहेका हुन्छन्।

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके
यावन्ति दुःखानि भयानि चैव।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण
तत्किं ममानेन परिग्रहेण ॥१३४॥

यो लोकमा जे जति छन् उपद्रव
जे जे यहाँ छन् दु:ख कष्ट या भय ।
ती छन् सबै 'आफू' भनी लिनेहुँदा
मलाई के हुन्छ त्यसो गरी लिँदा ॥१३४॥

अन्वयार्थ : लोके = लोकमा, ये च = जुन, उपद्रवा भवन्ति = उपद्रवहरू हुन्छन्, यावन्ति = जति पनि, दु:खानि = दु:खकप्ट र भयानि च = भयहरू हुन्छन्, तानि = ती, सर्वाणि = सबै, आत्मपरिग्रहेण एव = आत्मग्राहले गर्दा नै भएका हुन्, तत् = त्यसोहुनाले, मम = मलाई, अनेन = यस्तो, परिग्रहेण = ग्राह गर्नाले, (अर्थात् 'म' 'म' भन्ने आत्मदृष्टिलाई समात्नाले), किम् = के हुन्छ र ?

आचार्य भन्नुहुन्छ कि सम्पूर्ण दु:खको जरो नै आत्मग्राह हो । यो लोकमा जेजति उपद्रवहरू हुन्छन् याने झैं-झगडा र अशान्तिहरू हुन्छन्, जति प्रकारका कष्ट र दु:खहरू हुन्छन्, जेजस्ता भय (डर) त्रासहरू छन् ती सबै आत्मग्राह ('म' र 'मेरो') भन्ने भावनाले गर्दा नै भएका हुन् । त्यसकारण मैले अझैं त्यस्तो 'म' र 'मेरो' भन्ने आत्मग्राह या आत्मदृष्टि किन लिने ? त्यसलाई तुरुन्तै त्यागिहाल्छु । उपद्रव र दु:खको कारणलाई पनि कसैले बोकिराख्छ ?

जबसम्म सम्पूर्ण दु:खको जरो आफूभित्र रहन्छ तबसम्म दु:खलाई सदाका लागि विनाश गर्न सकिँदैन । के आगोको डल्लो हातमा समातुञ्जेल हातलाई जल्नबाट रोक्न सकिन्छ ? त्यही भन्नुहुन्छ, आचार्य-

आत्मानमपरित्यज्य दु:खं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ॥१३५॥

आत्मालाई नछोडेर दु:ख छोड्न सकिन्न है
आगोलाई नछोडेर डाह छोड्न सकिन्न है ॥१३५॥

अन्वयार्थ : आत्मानं = आत्मालाई, अपरित्यज्य = त्याग नगरेर, दु:खं त्यक्तुं = दु:खलाई त्याग गर्न, न शक्यते = सकिँदैन । यथा = जस्तै, अग्निं = आगोलाई, अपरित्यज्य = त्याग नगरेसम्म, दाहं = पोलेको डाहलाई, त्यक्तुं = त्याग गर्न, न शक्यते = सकिँदैन ।

जसरी आगोलाई नछोड्ने हो भने त्यसले पोलेको डाहबाट छुटकारा पाउन सकिन्न त्यसरी नै आत्मा ('म' र 'मेरो' भन्ने भाव) लाई नछोड्ने हो भने दु:खबाट छुटकारा पाउन पनि सकिन्न । किनकि आत्मा नै दु:खको स्रोत हो । अत: आत्मदृष्टिलाई नत्यागेसम्म दु:खबाट मुक्त हुने सम्भावना छैन । अनात्मदृष्टि नै सुखको स्रोत हो ।

तस्मात् स्वदु:खशान्त्यर्थं परदु:खशमाय च ।
ददाम्यन्येभ्य आत्मानं परान् गृह्णामि चात्मवत् ॥१३६॥

अत: आफ्नो र अरुको दु:ख शान्त गराउनै
दिन्छु 'आफू' अरुलाई लिन्छु 'अरु' त आफु झैं ॥१३६॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, स्वदु:खशान्त्यर्थं = आफ्नो दु:खलाई शान्त गराउन र परदु:खशमाय च = अरुको

दु:खलाई पनि शान्त पार्न, आत्मानं = आफूलाई, अन्येभ्य: = अरुका निमित्त, ददामि = दिन्छु, परान् च = अरुलाई पनि, आत्मवत् = आफूभैँ ठानेर, गृह्णामि = ग्रहण गर्छु ।

त्यसकारण आफ्ना दु:ख, भय, उपद्रव आदिलाई शान्त गर्न र अरुका भय, दु:ख, उपद्रवहरूलाई पनि शान्त गर्नको लागि म आफूलाई अरुको हितका लागि समर्पित गर्छु र आफूलाई अरु जस्तै सम्झिन थाल्छु एवं अरुलाई आफू नै सम्झेर ग्रहण गर्छु। यही नै परात्मपरिवर्तन हो। बोधिसत्वको लागि यो भावना अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्तव्य हुन्छ।

प्रश्न उठ्न सक्छ कि यदि आत्मदृष्टि एउटा मिथ्यादृष्टि हो भने अरुलाई आफ्नो स्थानमा राखेर आफू (म) सम्झिनु पनि त मिथ्यादृष्टि नै हुने भएन र ? जब 'स्व' भन्ने कुरा नै गलत हो भने त 'पर' पनि त्यसकै अपेक्षाले हुने भएकोले मिथ्या नै हुनुपर्ने ? अनि त्यसलाई अभ्यास गर्नाले कसरी सुख हुन्छ ?

प्रश्न त ठीकै हो, यहाँ 'स्व' र 'पर' दुवै मिथ्या हुन् तापनि यिनीहरूलाई अँगाल्नाले हुने फलमा धेरै अन्तर छ। आत्मदृष्टि हुँदाखेरि सबै काम आफ्नो स्वार्थका लागि गरिन्छन् र आत्मकेन्द्रित हुन्छन्। त्यसले जगतमा सबैलाई दु:ख हुन्छ र दु:खको वृद्धि हुँदै जान्छ। तर आफ्नो सट्टा अरुलाई राखेर व्यवहार गर्दा अरुको हित धेरै हुन पुग्छ र परहितमूलक कार्यहरू बढी गरिन्छन्। त्यसले क्रमश: लोकका दु:खहरू अवश्य घट्दै जान्छन्। अत: दुवै मिथ्या भए पनि तिनीहरूसँग सम्बन्धित फलमा समानता छैन। यसलाई धर्मकीर्तिको दृष्टान्तद्वारा बुझ्न सकिन्छ–

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतो: ।
मिथ्याज्ञानाविशेषे ऽपि विशेषो ऽर्थक्रियां प्रति (प्रमाणवार्तिक प्र.प. ५७)

अर्थात् एउटाले मणिको प्रकाशलाई मणि भन्ने ठानेर त्यता जान्छ र अर्कोले बत्तीको प्रकाशलाई मणि भन्ने ठानेर त्यता जान्छ भने ती दुवैको ज्ञान मिथ्या हो किनकि मणिको प्रकाश पनि मणि होइन र बत्तीको प्रकाश पनि मणि होइन। तर हिंडेपछि भेटाउने वेलामा अघिल्लो व्यक्तिले मणि भेटाउँछ भने पछिल्लोले बत्ती भेटाउँछ। त्यसकारण दुवैका ज्ञान झूटा थिए तापनि दुवैको फलमा फरक पर्न गयो। त्यस्तै यहाँ पनि आत्मबुद्धि र परबुद्धि दुबै मिथ्या हुन् तापनि एउटाले लोकमा दु:खको वृद्धि गराउँछ भने अर्कोले दु:ख घटाउने काम गर्छ।

यसरी आत्मग्राहको दोष र त्यसको स्थानमा परग्रहणको गुणलाई सम्झेर आफ्नो मनलाई यसरी दृढनिश्चयवाला बनाउनुपर्छ भन्ने कुरा आचार्यले बताउनु हुन्छ–

अन्यसम्बद्धमस्मीति निश्चयं कुरु हे मन: ।
सर्वसत्त्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ॥१३७॥

अरुकै हूँ म भन्ने यो गर निश्चय हे मन
सत्त्वको हित छोडेर नगर्नू अरु चिन्तन ॥१३७॥

अन्वयार्थ : हे मन: = ए मन !, अन्यसम्वद्धं = अरुसँग सम्वन्धित, अस्मि इति = छुँ भन्ने यस्तो, निश्चयं कुरु = निश्चय गर, नर्वसत्त्वार्थं = सबै सत्त्वहरूको हितलाई, उत्सृज्य = छोडेर, त्वया = तैंले, अधुना = अब, अन्यत् = अरु कुरा, न चिन्त्यं = चिन्तन गर्नुहुँदैन ।

हे मन, तँ अब अरुको भैसकेको छस्। यो कुरामा तँ पक्का बन्। किनभने तँलाई त अरुको हितका निमित्त समर्पित गरिसकिएको छ। त्यसकारण सबै सत्वहरूको हितलाई छोडेर तैंले अन्यत्र कतै पनि चिन्तन गर्नुहुँदैन।

न युक्तं स्वार्थदृष्ट्यादि तदीयैश्चक्षुरादिभिः।
न युक्तं स्पन्दितुं स्वार्थमन्यदीयैः करादिभिः ॥१३८॥

अरुको चक्षुले स्वार्थ देख्न खोज्नु-अयुक्त छ
अरुको हातले स्वार्थ गर्न खोज्नु अयुक्त छ ॥१३८॥

अन्वयार्थ : तदीयैः = त्यसका (अर्काका), चक्षुरादिभिः = आँखा आदि ज्ञानेन्द्रियहरूबाट, स्वार्थदृष्टि- आदि = स्वार्थसिद्धिको विषयमा देख्ने आदि काम, न युक्तं = उपयुक्त हुँदैन, अन्यदीयैः = अर्काका, करादिभिः = हात आदि कर्म अङ्गहरूले, स्वार्थं = स्वार्थका निमित्त, स्पन्दितुं = चलाउनु (स्पन्दित हुनु), न युक्तं = उपयुक्त हुँदैन।

यस्तो विचार गर कि मैले आफूलाई अर्काको जिम्मा लगाइसकेकोले म अरुको भैसकें। अतः अर्काको आँखाले 'आफ्नो' स्वार्थ पूरा गर्ने दृष्टि राख्नु उचित हुँदैन। आदि शब्दले कान, नाक आदि सबै इन्द्रियहरूलाई जनाउँछ। त्यसकारण अरुका आँखा, नाक, कान आदिले आफ्नो स्वार्थ अनुसार देख्ने, सुन्ने जस्ता काम गर्नु राम्रो हुँदैन। त्यस्तै यी हात, खुट्टा आदि कर्म- इन्द्रियहरू पनि अरुका भैसकेकाले यिनीहरूबाट आफ्नो स्वार्थ पूर्तिगर्ने गरी काम लिन, यी अंगहरूलाई चलाउन मिल्दैन। यी दुवै कुरा अनुपयुक्त हुनेछन्।

तेन सत्त्वपरो भूत्वा काये ऽस्मिन् यद् यदीक्षसे।
तत्तदेवापहृत्यास्मात् परेभ्यो हितमाचर ॥१३९॥

अतः प्राणीपरक भै देहमा देख्दछौ जति
सबै यस्बाट खोसेर अरुको हितमा दिनू ॥१३९॥

अन्वयार्थ : तेन = त्यसो हुनाले, सत्त्वपरो भूत्वा = प्राणीमुखी भएर, अस्मिन् काये = यो देहमा, यद् यद् ईक्षसे = जे जे देख्छौ, तत्तद् एव = त्यो त्यो सबै नै, अस्मात् = यसबाट (आफूबाट), अपहृत्य = खोसेर, परेभ्यः = अरुका निमित्त, हितम् = हित हुने काम, आचर = गर।

अतः प्राणीपरक अर्थात् प्राणी(सत्व)हरूलाई मुख्य ठान्ने भएर यो शरीरमा जेजति काम लाग्ने कुरा छन् ती सबै नै यसबाट खोसेर अरुको हितका निमित्त लगाऊ। जबर्जस्ती नगरिकन आफै यो आत्मबुद्धिले यी कुरा अरुलाई दिन सक्दैन। त्यसैले अपहृत्य (अपहरण गरेर) भनिएको हो। प्रयत्नपूर्वक आफ्नो तन-मन-धनलाई अरुका निमित्त समर्पित गरिराख्नुपर्छ। आफूलाई जे कुरा राम्रो हुने छन्, जे कुरा सुखदायी छन् ती सबै अरुका निमित्त लगाउनुपर्छ।

यसरी परात्मपरिवर्तनको महत्व र परात्मपरिवर्तन गरेपछि व्यवहारतः कसरी आचरण गर्नुपर्छ भन्ने कुरा बताएर अब परात्मपरिवर्तनको भावना कसरी गर्ने भन्ने कुरालाई संक्षेपमा उल्लेख गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ-

हीनादिष्वात्मतां कृत्वा परत्वमपि चात्मनि।
भावयेर्ष्यां च मानं च निर्विकल्पेन चेतसा ॥१४०॥

हीनादिमा आफु ठानी आफुलाई अरु भनी
ईर्ष्या, मान ध्यान गर्नू निर्विकल्प मनै गरी ॥१४०॥

अन्वयार्थ : हीनादिपु = हीन आदिमा, आत्मतां कृत्वा = आफू भन्ने सम्झेर, आत्मनि च = आफूमा, परत्वम् अपि = अर्को भन्ने सम्झेर, ईर्ष्यां = ईर्ष्यालाई, र मानं च = अभिमानलाई पनि, निर्विकल्पेन = विकल्प रहित भएको, चेतसा = चित्तले, भावय = भावना गर ।

हीन आदि वर्गमा आफूलाई राखेर आफूमा पनि अर्को भन्ने सम्झेर इर्ष्या, मान आदिको निर्विकल्परूपमा भावना गर्नू ।

जगत्का प्राणीहरूलाई तीन प्रकारले विभाजन गर्न मिल्छ । हीन, समान (तुल्य) र श्रेष्ठ । त्यसमध्ये आफूलाई हीनआदिको वर्गमा राखेर एक मनलाई त्यो वाहेक अरु धेरै जनाको समूहमा राख्ने याने आफूलाई दुई किसिमले कल्पना गर्ने । धेरैजसो व्यक्तिहरू आफूभन्दा हीनप्रति अनादर गर्छन्, समानसँग प्रतिस्पर्धा गर्छन् र श्रेष्ठप्रति ईर्ष्या गर्छन् । त्यसैले आफूलाई धेरै जनाको समूहमा राखेर निर्विकल्प चित्त अर्थात् निष्पक्ष चित्तले आफ्नो हीन आदि स्वरूपलाई हेरेर उसले हीनप्रति अनादर, समानप्रति प्रतिस्पर्धा र श्रेष्ठप्रति ईर्ष्या कसरी गर्दैछ भन्ने केलाउने । आफ्नो त्यो स्वार्थी, आत्मकेन्द्रित स्वरूपमा ईर्ष्या, मान आदिको विचार गर्नुपर्छ ।

फेरि यो पनि हेर्नुपर्छ कि आफ्नो स्वार्थीरूप र दुःखी प्राणीहरूको समूहका विचमा कुन बढी महत्वपूर्ण हुन्छ । दुवै पक्षले सुख चाहन्छन् र दुःखबांट मुक्त हुने इच्छा राख्छन् । परन्तु साधकले विचार गर्नुपर्छ कि जतिसुकै महत्वपूर्ण भए पनि त्यो केवल एक्लो व्यक्ति हो र अरु धेरै दुःखी व्यक्तिको समाज नै छ । त्यसकारण कसैले पनि स्वार्थी र आत्मकेन्द्रित पक्षलाई स्वीकार गर्नेछैन । यसरी आफूमा विद्यमान ईर्ष्या, अहंकार आदिलाई निरीक्षण गर्नुपर्छ ।

अब श्रेष्ठसँग ईर्ष्या आदिको भावना गर्ने विधि बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ–

एष सत्क्रियते नाहं लाभी नाहमयं यथा ।
स्तूयते ऽ यमहं निन्द्यो दुःखितो ऽ हमयं सुखी ॥१४१॥
अहं करोमि कर्माणि तिष्ठत्येष तु सुस्थितः ।
अयं क़िल महाँल्लोके नीचो ऽ हं किल निर्गुणः ॥१४२॥

सत्कार यसकै हुन्छ, यही लाभी छ, छैन म
यो स्तुत्य छ, म छु निन्द्य, यो सुखी छ, दुखी छु म ॥१४१॥
मैले काम गरिराख्छु, आरामसँग बस्छ यो
लोकमा छ यही ठूलो, म छू निर्गुण नीच पो । १४२॥

अन्वयार्थ : एपः = यो नै, सत्क्रियते = सत्कार गरिंदैछ, अहं न = म त छैन, यथा अयं = योजस्तो छ त्यस्तो, अहं = म, लाभी न = लाभी छैन, अयम् = यसकै, स्तूयते = स्तुति गरिन्छ, अहं = म त, निन्द्यः = निन्दनीय छु, अयं = यो, सुखी = सुखी छ भने, अहं = म, दुःखितः = दुखी छु ।

अहं = मैले, कर्माणि =काम, करोमि = गर्छु, एपः तु = यो त, सुस्थितः = आरामसँग, तिष्ठति = वस्दछ, लोके = लोकमा, अयं = यो, किल महान् = अझै महान् हुने, अहं = म, नीचः = नीच छु, किल निर्गुणः = अझै निर्गुण मानिने ?

आफूलाई धेरै जनाको समूहमा राखेर त्यो आत्मकेन्द्रित पक्षलाई सम्झिँदै यसरी भावना गर्नुपर्छ कि –

यो स्वार्थीको सधैं सत्कार हुन्छ, मेरो हुँदैन । यसलाई जसरी लाभ भइरहेको छ, मलाई त्यसरी लाभ भएको छैन, यो सबैबाट स्तुतिप्रशंसा गरिँदैछ भने मचाहिँ निन्दनीय भएको छु । यो सुखी छ भने म दुःखी छु । त्यस्तै मैले मरिमेटेर निरन्तर काम गरिरहन्छु तर योचाहिँ आरामसँग बसेर तर मारिरहेको छ । तैपनि फेरि यसकै महानता लोकले देख्छ, मलाई नीच र निर्गुण ठान्छ ? यस्तो किन हुन्छ ?

किं निर्गुणेन कर्तव्यं सर्वस्यात्मा गुणान्वितः ।
सन्ति ते येष्वहं नीचः सन्ति ते येष्वहं वरः ॥१४३॥

म निर्गुणीले के गर्ने ? तर हुन्छन् सवै गुणी
मभन्दा नीच पनि छन् मभन्दा श्रेष्ठ छन् पनि ॥१४३॥

अन्वयार्थ : निर्गुणेन = गुण नभएकाले, किं कर्तव्यं = के गर्नु ? (परन्तु), सर्वस्य = सवैको, आत्मा = मन, गुणान्वितः = गुणले युक्त भएको हुन्छ, ते सन्ति = त्यस्ता पनि छन्, येषु = जसका विचमा, अहं = म, नीचः = नीच हुन्छु भने, ते सन्ति = त्यस्ता पनि छन्, येषु = जसका विचमा, अहं = म, वरः = श्रेष्ठ छु ।

मजस्ता निर्गुणीले के गर्नु ? तर त्यस्तो सोच्नु उचित छैन किनकि गुण त सबैमा हुन्छ । तथागतगर्भ सबैमा छ । त्यसैले निराश हुनु त आवश्यक छैन । प्रयास गर्नु मात्र पर्छ अरु त ठीक छँदै छ । आखिरमा लोकमा यस्ता प्राणीहरू पनि त छन् जसको बिचमा म श्रेष्ठ देखिन्छु भने त्यस्ता पनि छन् जसको बिचमा म नीच देखिन्छु । त्यसकारण यो नीच र श्रेष्ठ भन्ने त सापेक्षिक कुरा हो । जसलाई म श्रेष्ठ सम्झिन्छु त्यो पनि सर्वेसर्वा त होइन । उभन्दा गुणी, विद्वान, साधक पनि हुन्छन् । त्यस्तै कोहीभन्दा त हामी पनि श्रेष्ठै छौं ।

शीलदृष्टिविपत्त्यादि क्लेशशक्त्या न मद्वशात् ।
चिकित्स्यो ऽहं यथाशक्ति पीडाप्यङ्गीकृता मया ॥१४४॥

शील-दृष्टि विपत्त्यादि क्लेशका बलले भए
हटाउँछु यथाशक्ति पीडा भोग्नै परे पनि ॥१४४॥

अन्वयार्थ : शीलदृष्टिविपत्त्यादि = शीलविपत्ति, दृष्टिविपत्ति आदि त, क्लेशशक्त्या = क्लेशका वलले गर्दा भएका हुन्, मद्वशात् न = मेरो वशवाट भएका होइनन् (त्यसैले), अहं = म, यथाशक्ति = सकेजति, चिकित्स्यः = उपचार गरिन योग्य छु (त्यसको लागि), मया = मैले, पीडा अपि = पीडा उठाउन पनि, अङ्गीकृता = स्वीकार गरिसकेको छु ।

यदि शीलविपत्ति, दृष्टिविपत्ति आदिको कारणंले म हीन भएको हुँ भन्ने हो भने यी विपत्ति आदि त क्लेशको बलले गर्दा भएका हुन् । मेरो वशमा त यी छैनन् । त्यसकारण बरु मलाई यथाशक्ति उपचार गर्नुपर्‍यो अर्थात् क्लेशहरूबाट छुटकारा दिलाउनु पर्‍यो । त्यसको लागि जति पीडा सहनु परे पनि म तयार छु ।

बरु म शीलभ्रष्ट, प्रज्ञाभ्रष्ट, चर्याभ्रष्ट भए पनि तेरो महानता त तब मात्र मान्ने छु जब तैंले मलाई यिनीहरूबाट मुक्त गरााउलास्। यदि तँमा यति शक्ति पनि छैन भने तेरो श्रेष्ठताको पनि कुनै मतलब रहेन। मेरा लागि तेरो त्यो घमण्ड व्यर्थ छ।

यहाँ शीलविपत्ति भनेको प्रातिमोक्ष संवर आंदि शीलहरूबाट भ्रष्ट हुनु र दुराचरणमा लाग्नु हो। दृष्टिविपत्ति भनेको सम्यक्दृष्टि या प्रज्ञाको अभाव हुनु हो जुन प्रज्ञाले नैरात्म्यबोध गर्न सकिन्थ्यो। अर्को शब्दमा भन्दाखेरि 'सत्कायदृष्टि' भन्न पनि सकिन्छ। इत्यादि भन्नाले चर्याविपत्ति पनि बुझिन्छ।

अतः शीलविपत्ति आदि दोषले गर्दा निराश हुनुपर्ने कुनै आवश्यकता छैन। यी दोष त आगन्तुक याने हटाउन सकिने हुन् र 'सहज' होइनन्।

> **अयाहमचिकित्स्यो ऽस्य कस्मान्मामवमन्यसे।**
> **किं ममैतद्गुणैः कृत्यमात्मा तु गुणवानयम् ॥१४५॥**

ठीक पार्न नसक्ने भा' किन गर्ने त हेलना
तेरा ती गुणले के भो ? मभित्रै पनि छन् गुण ॥१४५॥

__अन्वयार्थ :__ अथ = अनि, अहम् = म, अस्य = यसबाट (तैंले), अचिकित्स्यः = चिकित्सा गर्न नसकिने छु भने, कस्मात् = के कारणले, माम् = मलाई, अवमन्यसे = हेलाँ गर्छस् ? एतद्गुणैः = यसका (तेरा) गुणहरूबाट, मम = मेरो, किम् = के, कृत्यम् = गर्ने भयो र ? अयं = यो, आत्मा तु = मन त, गुणवान् = गुणले युक्त छ।

यदि मलाई यी दुर्गुणबाट बचाउन सक्दैनस् भने किन मेरो अनादर गर्छस् ? तेरो गुणले मलाई के भयो र ? आखिरमा मलाई त केही गर्न सकेन। मभित्र पनि गुण त छ परन्तु यही आगन्तुक मललाई हटाउन नसकेर पो म हीन मानिएँ।

> **दुर्गतिव्यालवक्त्रस्थे नैवास्य करुणा जने।**
> **अपरान् गुणमानेन पण्डितान् विजिगीषते ॥१४६॥**

दुर्गति-सर्पले ग्रस्त जनमा छैन रे दया
गुणको अभिमानैले पण्डितै जित्न खोज्दछ ॥१४६॥

__अन्वयार्थ :__ दुर्गतिव्यालवक्त्रस्थे = दुर्गतिरूपी सर्पको मुखमा परेका, जने = जनसमूहमा, अस्य = यसको (तेरो), करुणा = करुणा, न एव = छैन नै (तैपनि), अपरान् = अरु, पण्डितान् = पण्डितहरूलाई, गुणमानेन = गुणको घमण्डले, विजिगीषते = जित्ने इच्छा गर्छ।

यो आत्मेन्द्रित स्वार्थीलाई अरु बहुजनहरू दुर्गतिरूपी सर्पका मुखमा परिरहेको देख्दा पनि करुणा उत्पन्न हुँदैन, उता ठूल्याइं भने यस्तो छ कि अन्य पण्डितहरूलाई आफ्ना बाहिरी (बोक्रे) गुणको अभिमान देखाएर शास्त्रार्थबाट जित्न खोज्छ, अर्थात् कुराले जित्न खोज्छ, परन्तु काम चाहीं केही छैन।

यसरी आफ्नो श्रेष्ठ स्वार्थी रूपलाई हीनको तर्फमा आफू रहेर सम्झाउँदै भावना गर्नुपर्छ भन्ने कुरा बताइयो। अब आफूसँग समान दर्जाकासँग प्रतिस्पर्धाको सन्दर्भमा भावना गर्नको लागि

आचार्य बताउनुहुन्छ –

सममात्मानमालोक्य यतः स्वाधिक्यवृद्धये
कलहेनापि संसाध्यं लाभसत्कारमात्मनः ॥१४७॥

आफूलाई समानैमा राखी आफ्नो बढाउन
झगडेर पनि लाग्नू लाभ सत्कार आदि त ॥१४७॥

अन्वयार्थ : आत्मानं = आफूलाई, समम् = वरावरको, आलोक्य = हेरेर, यतः = जसबाट, स्वाधिक्यवृद्धये = आफ्नो वडप्पनलाई वृद्धिगर्नको लागि, आत्मनः = आफ्नो, लाभसत्कारं = लाभसत्कारलाई, कलहेन अपि = झगडा गरेर भए पनि, संसाध्यम् = सिद्ध गर्नुपर्दछ ।

आत्मकेन्द्रित स्वार्थी पक्षलाई आफूसमानको ठानेर त्योभन्दा आफू बढी गुणवान्, ठूलो र मान्य बन्न प्रयत्न गर्नुपर्छ । यदि आफूलाई लाभ, सत्कार आदि प्राप्त गर्न झगडा गर्नुपर्ने भए झगडै गरेर भए पनि सिद्ध गरेर छाड्नुपर्छ ।

अपि सर्वत्र मे लोके भवेयुः प्रकटा गुणाः ।
अपि नाम गुणा ये ऽस्य न श्रोष्यन्त्यपि केचन ॥१४८॥

सर्वत्र लोकमा मेरा होऊन् प्रकटितै गुण
यस्का जे गुण नै होलान् कसैले नसुनून् तव ॥१४८॥

अन्वयार्थ : लोके = लोकमा, सर्वत्र = सवै ठाउँमा, मे = मेरा, गुणाः = गुणहरू, प्रकटाः = प्रकट, भवेयुः = होऊन्, अस्य = यसका, गुणा नाम = गुण भन्ने, ये अपि = जति पनि छन्, (ती), केचन = कसैले, अपि = पनि, न श्रोष्यन्ति = सुन्नेछैनन् ।

त्यो स्वर्थी आत्मालाई जित्न र उछिन्नको लागि यसरी चल्नुपर्‍यो कि लोकमा जहाँ पनि मेरै गुणहरू प्रकट होऊन् र उसका जे जति गुणहरू भए तापनि अरु कसैले उसका गुणहरू नसुनून् ।

छाद्येरन्नपि मे दोषाः स्यान्मे पूजा ऽस्य नो भवेत् ।
सुलब्धा अद्य मे लाभाः पूजितो ऽहमयं न तु ॥१४९॥

मेरा दोष लुकून् मेरो पूजा होस् यसको नहोस्
लाभ मेरा भए आज म नै पूजित छुँ न त्यो ॥१४९॥

अन्वयार्थ : मे = मेरा, दोषा अपि = दोषहरू भए पनि, छाद्येरन् = ढाकियून्, मे = मेरै, पूजा = पूजा होस्, अस्य = यसको, नो भवेत् = नहोस्, अद्य = आज, मे = मलाई नै, लाभाः = लाभहरू, सुलब्धाः = राम्रोसँग प्राप्त भएका छन्, अहम् = म नै, पूजितः = पुजित छु, अयं तु = यो त, न = छैन ।

उसँग प्रतिस्पर्धा गर्दाखेरि मेरा दोषहरू जेजस्ता भए पनि लुकेर ढाकिएर रहून् अर्थात् मेरा दोषहरू नदेखियून् । पूजा सत्कार पनि मेरै होस् । यसको कुनै सम्मान नहोस् । हुन पनि आज मलाई नै धेरै फाइदा भएको छ । सम्पूर्ण लाभहरू मलाई नै प्राप्त भएका छन् । म नै पूजित, सम्मानित भएको छुँ, यो छैन ।

पश्यामो मुदितास्तावच्चिरादेनं खलीकृतम् ।
हास्यं जनस्य सर्वस्य निन्द्यमानमितस्ततः ॥१५०॥

धेरैदेखि बल्ल देख्यौं कुकर्मीलाई, छौं खुशी
सवैले लोकमा गर्छन् हँस्सी, निन्दा यता उती ॥१५०॥

अन्वयार्थ : चिरात् तावत् = धेरै समयदेखि बल्ल अहिले, एनं = यो, खलीकृतम् = खराव काम गर्ने मानिएको, सर्वस्य जनस्य = सवै मानिसहरूको, हास्यं = हास्यास्पद भएको, इतस्ततः = यता उति सवै तिरवाट, निन्द्यमानं = निन्दागरिने भएको (स्वार्थी)लाई, पश्यामः = देख्दैछौं र, मुदिताः = खुशी भएका छौं ।

धेरै समयदेखि यो स्वार्थीलाई बल्ल आज कुकर्म गरेको देख्न पाइएको छ, सबैले यसको हँस्सी उडाएको हेर्न पाइएको छ, सबैले यसलाई जहाँ तहीं निन्दा गरिरखेको देख्न पाइँदैछ । त्यसैले हामीलाई आज प्रसन्नताको अनुभव भइरहेको छ । यसरी यो स्वार्थी आत्मालाई दबाउन आफ्ना गुणहरूको प्रकाशन गर्दै त्यसका दोषहरू सबैले देखेको र उसलाई नरुचाएको ठान्दै भावना गर्नुपर्छ ।

यो थियो समान दर्जाको रूपमा हेरेर त्यससँग प्रतिस्पर्धा गर्ने गरी भावना गर्ने कुरा । अब त्यस स्वार्थी आत्मालाई आफूभन्दा हीन सम्झेर गर्ने भावनाको बारेमा आचार्यले बताउनुहुन्छ –

**अस्यापि हि वराकस्य स्पर्धा किल मया सह ।
किमस्य श्रुतमेतावत् प्रज्ञा रूपं कुलं धनम् ॥१५१॥**

विचरो यो प्रतिस्पर्धा गर्न खोज्दैछ मैसँग
के छ यस्ले सुनेको या प्रज्ञा, रूप, कुलै, धन ॥१५१॥

अन्वयार्थ : अस्य वराकस्य = यो विचराको, अपि = पनि, मया सह = मेरा साथमा, किल स्पर्धा = प्रतिस्पर्धा हुन्छ र ? किम् = के, अस्य = यसका, एतावत् = यस्ता (मेरा समान), श्रुतम् = सुने जानेको कुरा, प्रज्ञा = प्रज्ञा, रूपं = रूप, कुलं = कुलघरान, धनम् = धन छन् त ?

यो विचरो स्वार्थी आत्माको पनि मसँग प्रतिस्पर्धा हुने ? मेरो जस्तो गुण यसमा के छ र ? के यसले धेरै सुनेजानेको छ याने बहुश्रुत छ ? या प्रज्ञा, कुल, धन, रूप आदि के कुरा छन् ? कुनै गुण पनि यसका छैनन् जसबाट यो मसँग प्रतिस्पर्धा गर्न सकोस् । (यसरी आफूमा उत्साह पैदा गर्ने) ।

**एवंमात्मगुणान् श्रुत्वां कीर्त्यमानानितस्ततः ।
संजातपुलको हृष्टः परिभोक्ष्ये सुखोत्सवम् ॥१५२॥**

चारैतिर गाइएका आफ्ना गुण सुने पछि
रोमाञ्चित हुँदै भोग्छु सुख उत्सवको खुशी ॥ १५२॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी, आत्मगुणान् = आफ्ना गुणहरूलाई, इतस्ततः = यता उता सवैतिरवाट, कीर्त्यमानान् = गाइदै गरेको, श्रुत्वा = सुनेर, हृष्टः = खुशी हुनाले, संजातपुलकः = रोमाञ्चित हुदै, सुखोत्सवं = सुखको उत्सवलाई, परिभोक्ष्ये = उपभोग गर्दछु ।

यसरी चारैतिबाट आफ्ना गुणगान गाइँदै गरेको सुनेर खुशीले रोमाञ्चित हुँदै सुखको उत्सवलाई उपभोग गर्नेछु ।

**यद्यप्यस्य भवेल्लाभो ग्राह्यो ऽस्माभिरसौ बलात् ।
दत्त्वास्मै यापनामात्रमस्मत्कर्म करोति चेत् ॥१५३॥**

यदि लाभ भए यस्को खोसेर लिनुपर्दछ
गऱ्यो हाम्रो काम भने दिउँला बाँच्न मात्र त ॥१५३॥

अन्वयार्थ : *यदि = यदि, अस्य = यसलाई, लाभः = लाभ, भवेद् अपि = भयो भने पनि, असौ = त्यो, अस्माभिः = हामीहरूले, वलात् = जवर्जस्ती, ग्राह्यः = लिनुपर्दछ, चेत् = यदि, अस्मत्कर्म = हामीलाई इच्छा लागे अनुसारको काम, करोति = गर्छ भने, अस्मै = यसलाई, यापनामात्रम् = जीवन जिउनसम्म पुग्ने जति मात्र, दत्त्वा = दिएर (रहौंला) ।*

यदि यो स्वार्थी आत्मालाई कतैबाट केही लाभ भइहाल्यो भने पनि त्यो हामीले खोसेर लिनुपर्छ । यदि हाम्रो इच्छाअनुकूल काम गऱ्यो भने यसलाई बाँच्न पुग्ने जति दिनुपर्ला ।

सुखाच्च च्यवनीयोऽयं योज्याऽसद्व्यथया सदा ।
अनेन शतशः सर्वे संसारव्यथिता वयम् ॥१५४॥

सुखबाट खसालेर ताडना दिनुपर्दछ
हामीलाई यसैले नै दियो संसारको दुःख ॥१५४॥

अन्वयार्थ : *अयं = यो स्वार्थी आत्मा, सुखाच्च = सुखबाट पनि, च्यवनीयः = गिराउन योग्य छ र, सदा = सधैं, असद्व्यथया = कठोर वेदना (यातना)द्वारा, योज्यः = युक्त गराइनुपर्छ, अनेन = यसद्वारा नै, सर्वे वयम् = हामीहरू सवै, शतशः = सयौं पटक, संसाख्यथिताः = संसारको दुःखद्वारा पीडित पारिएका हौं ।*

यही स्वार्थी आत्मालाई नै सबै सुखसुविधाबाट च्युत गराउनुपर्छ र वञ्चित पार्नुपर्छ । त्यति मात्र होइन यसलाई त सधैं तीव्र र कठोर यातनाहरू दिइराख्नुपर्छ किनकि यसले नै हामी सबैलाई यो संसारको माध्यमबाट सयौं पटक पीडा दिइराखेको छ ।

यस प्रकार आफूभन्दा नीच सम्झेर त्यसलाई धेरै तुच्छ र खतम बनाउने कुरा बताएपछि अब आचार्यले त्यस्तो स्व-केन्द्रित आत्मपरिग्रह याने आत्मा (म साँच्चिकै छु भन्ने) को पकडलाई हल्लाएर उखेल्नको लागि कसरी चिन्तन गर्ने भन्ने कुरा बताउँदै हुनुहुन्छ । उहाँ भन्नुहुन्छ कि हे चित्त,

अप्रमेया गताः कल्पाः स्वार्थं जिज्ञासतस्तव ।
श्रमेण महतानेन दुःखमेव त्वयार्जितम् ॥१५५॥

धेरै कल्प विते तैंले स्वार्थको चाहाना गरी
आखिर दुःख नै पाइस् ठूलै कष्ट गरे पनि ॥१५५॥

अन्वयार्थ : *स्वार्थं = स्वार्थलाई नै, जिज्ञासतः = चाहना गर्ने भएको, तव = तेरो, अप्रमेयाः = यति भनेर वताउनै नसकिने जति, कल्पाः = कल्पहरू, गताः = विते, अनेन = यो, महता = ठूलो, श्रमेण = परिश्रमले, त्वया = तैंले, दुःखम् एव = दुःख मात्र, अर्जितम् = कमाइस् ।*

आफ्नो स्वार्थकै चिन्तन र चाहनामा डुब्दाडुब्दै तेरा असंख्य कल्पहरू वितिसके । यसरी लामो समयसम्म तैंले यत्रो परिश्रम गरेर पनि आफ्नो निमित्त केवल दुःख मात्रै कमाइस् । तँलाई वास्तवमा सुख कहिल्यै पनि भएन ।

मद्विज्ञप्त्या तथात्रापि प्रवर्तस्वाविचारतः ।
द्रक्ष्यस्येतद्गुणान् पश्चाद् भूतं हि वचनं मुनेः ॥१५६॥

म भन्छु, न विचारेरै लाग है यसमा अब
सत्य छन् मुनिका वाणी देख्ने छौ यसका गुण ॥१५६॥

अन्वयार्थ : *तथा = त्यसो हुनाले, मद्विज्ञप्त्या अपि = मेरो अनुरोधमा भए पनि, अत्र = यो परहित- कार्यमा, अविचारतः = विचारै नगरेर, प्रवर्तस्व = लाग, हि = किनकि, मनेः = मुनिको, वचनं = वचन, भूतम् = प्रमाणिक हुन्छ, एतद्गुणान् = यसका गुणहरू, पश्चाद् = पछि, द्रक्ष्यसि = देख्नेछस् ।*

हे चित्त, त्यसो हुनाले मेरो तँलाई विन्ति छ कि तँ अव त्यो स्वार्थीपनलाई छोडेर यो परहितकार्यमा लागिहाल् । यसमा तैंले विचारै नगरे हुन्छ । यसबाट के के फाइदा हुने रहेछ भन्ने कुरा तैंले पछि आफैले देख्नेछस् । किनकि मुनि अर्थात् बुद्धका वचनहरू त प्रामाणिक हुन्छन् र उहाँले बोलेको भएकै हुन्छ, मिथ्या हुँदैन, सत्य हुन्छ ।

अभविष्यदिदं कर्म कृतं पूर्वं यदि त्वया ।
बौद्धं सम्पत्सुखं मुक्त्वा नाभविष्यदियं दशा ॥१५७॥

पहिले यो कर्म तैंले गरेको यदि पो भए
वौद्ध सम्पत्सुखै छोडी हुन्थ्यो यस्तो दशा र के ? ॥१५७॥

अन्वयार्थ : *यदि = यदि, त्वया = तैंले, पूर्वं = पहिले, इदं कर्म = यस्तो कार्य, कृतं = गरेको, अभविष्यत् = भए त, बौद्धं = वौद्धधर्म अनुसारको, सम्पत्सुखं = सम्पत्तिको सुखलाई, मुक्त्वा = छोडेर, इयं दशा = यस्तो दशा त, न अभविष्यत् = हुने थिएन ।*

हे स्वार्थी चित्त, तैंले यदि पहिले नै यस्तो परात्मपरिवर्तन जस्तो परहितकारी अभ्यास गरेको भए त अहिले यस्तो दुर्दशा हुने थिएन । बरु अहिले त बौद्धसम्पत्तिको मस्तसँग उपभोग गरिरहेको हुनेथिस् । सम्यक् हेतुले कहिल्यै पनि कार्यको व्यभिचार गर्दैन ।

यहाँ बौद्ध-सम्पत्ति भनेको बुद्धमा भएका दुई सम्पत्तिहरूलाई हो । ती सम्पत्तिहरू यस प्रकार छन् । १. स्वार्थसम्पद् (या स्वहितसम्पद्) २. परार्थसम्पद् (या परहितसम्पद्) । बुद्धले दुवै नैरात्म्यको (अर्थात् शून्यताको) साक्षात्कार गर्नुभएको हुन्छ, त्यसलाई चरमसीमासम्म भावना गर्नु भएको हुन्छ, त्यसको फलस्वरूप अनेकौं बुद्धगुणहरूको आर्जन गर्नुभएको हुन्छ । यसलाई उहाँको अधिगमसम्पद् भन्दछन् । यही अधिगमसम्पद्को कारणले उहाँको क्लेशावरण र ज्ञेयावरण दुवैलाई वासनासहित सवर्था प्रहाण गरिसक्नुभएको हुन्छ । यसैलाई उहाँको प्रहाणसम्पद् भन्दछन् । यी दुवै सम्पत्तिहरू उहाँका आफ्ना हुन् । यसैबाट उहाँ सुगत हुनुभएको हो । यसबाट उहाँको धर्मकाय अभिलक्षित हुन्छ । त्यसकारण यो नै उहाँको 'स्वहितसम्पद्' हो ।

त्यस्तै बुद्धले अभ्यासको क्रममा बोधिचित्त उत्पाद गर्नुभयो । अनि तीन असंख्य कल्पसम्म पुण्यसम्भार गर्नुभयो जसमा छ पारमिता आदिको निरन्तर अभ्यास गर्ने काम भयो । यसबाट नै करुणाको विकास हुँदै गयो र अन्तमा चरम सीमासम्म पुग्यो । यसले उहाँको सम्भोगकाय एवं निर्माण कायको विकास भयो । यी दुई रूपकायद्वारा उहाँले प्राणीहरूको अध्याशय, रुचि, क्षमता, पात्रता आदिको अनुरूप उनीहरूलाई भएसम्मको सर्वोत्तम तरीकाबाट सर्वोत्तम कल्याण गर्दै दुःखबाट पारलगाउने काम गर्नुहुन्छ । यसरी सत्त्वहरूलाई परिपाक गराउनु, उनीहरूको यथायोग्य

हित गर्न धर्मचक्र प्रवर्तन गर्नु आदि परार्थ कृत्य हुन्। यिनमा उहाँले सर्वोत्कृष्टता हासिल गर्नुभएकोले उहाँको यो 'परार्थसम्पद्' या परहितसम्पद् हो। यसप्रकार बौद्ध सम्पत्तिहरू दुई थरी हुन्छन्।

तस्माद् यथान्यदीयेषु शुक्रशोणितविन्दुषु।
चकर्थ त्वमहंकारं तथान्येष्वपि भावय ॥१५८॥

अत: जसरी अर्काको विन्दुमा रज बीजका
गर्‍यौ अहंभाव त्यस्तै भावना गर सत्त्वमा ॥१५८॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, त्वं = तिमीले, यथा = जसरी, अन्यदीयेपु = अर्काको, शुक्रशोणितविन्दुपु = शुक्र र रक्त विन्दुहरूमा, अहंकारं = 'म हुँ' भन्ने् भाव, चकर्थ = गरेका थियौ; तथा = त्यस्तै, अन्येपु अपि = अन्य प्राणीहरूमा पनि, भावय = भावना गर।

जसरी तिमीले अर्काको रज-बीजका बिन्दुहरूमा आत्मभाव पैदा गरेका थियौ त्यसैगरी अरु प्राणीहरूमा पनि आत्मभाव उत्पन्न गर। आखिर माता-पिता पनि त अर्कै प्राणी थिए, उनीहरूको रज-बीजमा तिमीले आत्मभाव उत्पन्न गरिहाल्यौ। त्यस्तै अरुमा पनि गर अर्थात् अरु प्राणीलाई पनि आफै समान सम्झिहाल।

अन्यदीयश्चरो भूत्वा काये ऽस्मिन् यद् यदीक्षसे।
तत्तदेवापहृत्यार्थं परेभ्यो हितमाचर ॥१५९॥

अरुको सेवक बनी देख्छौ यो देहमा जति
अरुकै हितमा कार्य गर खोसेर त्यो त्यति ॥१५९॥

अन्वयार्थ : अन्यदीय: = अरुको, चर: = सेवक, भूत्वा = भएर, अस्मिन् काये = यो शरीरमा, यद् यद् ईक्षसे = जे जे देख्छौ, तत्तद् अर्थ = ती ती कुराहरूलाई, अपहृत्य = अपहरण गरेर, परेभ्य: = अरुको निमित्त, हितं = हित हुने कुराहरू, आचर = आचरण गर।

अयं सुस्थः परो दुःस्थो नीचैरन्यो ऽय मुच्चकैः।
परः करोत्ययं नेति कुरुष्वेर्ष्यां त्वमात्मनि ॥१६०॥

यो आरामी छ त्यो दु:खी, यो नीच त्यो छ उच्च र
त्यो गर्छ यो त गर्दैन, यो ईर्ष्या आफूमा गर ॥१६०॥

अन्वयार्थ : अयं = यो स्वर्थीचित्त, सुस्थ: = आरामको स्थितिमा छ, पर: = अर्को त, दु:स्थ: = खराव हालतमा छ, अयं = यो, उच्चकै: = उच्च छ भने, अन्य: = अर्को, नीचै: = नीच छ, पर: = अर्कोले, करोति = गर्छ भने, अयं = यसले, न = केही गर्दैन, इति = यस्तो, आत्मानं = आफूलाई नै, त्वम् = तिमीले, ईर्ष्यां = ईर्ष्या, कुरुष्व = गर।

यो स्वार्थी 'म' राम्रो स्थितिमा छ, अरु खराव स्थितिमा छन्, यो उच्च छ अरु नीच छन्, यसले केही काम गर्दैन जबकि अरुले काम गरिराख्छन् भन्ने सोच्दै आफैप्रति तिमीले ईर्ष्या उत्पन्न गर।

सुखाच्च च्यवयात्मानं परदु:खे नियोजय।
कदायं किं करोतीति छलमस्य निरूपय ॥१६१॥

सुखबाट गिरी आफू लगाऊ परदु:खमा
'के गर्छ कहिले यस्ले' छलको गर निरूपण ॥१६१॥

अन्वयार्थ : *आत्मानं = आफूलाई, सुखात् = सुखबाट, च्यवय = गिराउ र, परदु:खे = अरुको दु:खमा, नियोजय = नियुक्त गर, अयं = यसले, कदा = कहिले, किं करोति = के गर्छ भन्ने, इति = यस्ता किसिमले, अस्य = यसको, छलम् = छललाई, निरूपय = निरूपण गर (केलाऊ)।*

आफूलाई सम्पूर्ण सुख-सुविधादेखि वञ्चित गरेर ती सुखसाधन एवं स्वयंलाई पनि अरुको दु:ख हटाउने काममा लगाइदेऊ। अनि फेरि हेर कि यसले कुन वेला के गर्छ। यसरी काय र चित्तका सम्पूर्ण गतिविधिहरूलाई निरीक्षण गरिराख ताकि यसले कहीं कतै छलकपट त गर्दैन ?

भन्न खोजेको कुरा के हो भने आफूले सुख-सुविधा भोग्नुको बदला अरु दीन दु:खीहरूलाई दिनु र सेवा गर्नुपर्छ जो सुखबाट वञ्चित छन्। यसमा आफ्नो छल्ने प्रवृत्तिलाई राम्रोसँग ख्याल गरिराख्नु पर्छ र त्यो प्रवृत्ति बढ्न दिनुहुँदैन।

वास्तवमा सबैले सुख खोजे पनि अज्ञानताले गर्दा सुख पाउन नजानेर दु:ख मात्रै हातलगाइबसेका छन्। त्यसैले उनीहरूमाथि करुणा उत्पन्न गरी त्यो सुख दिने भार आफैंले उठाउनुपर्छ। त्यसैको लागि यो अभ्यास गर्नुपर्ने हो। दु:ख पनि अनेक प्रकारका छन्। त्यसमध्ये दु:खदु:ख, परिणामदु:ख र संस्कारधर्मदु:ख गरेर तीन किसिमका दु:खमा सबै समेटिन्छन्। नरक, प्रेत, असुर आदि दुर्गतिका दु:ख र सुगतिका (मनुष्य र देवका) दु:ख, जस्तै:- रोग, चोटपटक, प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, दौर्मनस्य आदि विभिन्न दु:खहरू दु:खदु:ख हुन्। त्यस्तै परिणामदु:ख परिवर्तनको फलस्वरूप उत्पन्न भइराख्ने दु:ख पनि सबैलाई परेकै छ भने संस्कार दु:खबाट त त्रिधातुको कुनै प्राणी पनि बचेको छैन। अत: उनीहरूका ती समस्त दु:खहरूको सर्वथा प्रहाण गर्ने काम आफूले आफ्नो टाउकामा बोकेर बोधिसत्त्वहरू हिड्नु पर्छ। यस्तो कार्यमा आफूलाई पूर्णरूपले लगाउनुजस्तो उत्तम कुरा यो जगत्मा अरु केही पनि छैन। यसबाटै स्व-परार्थ दुवै सिद्ध हुन्छ। बोधिसत्वको आकांक्षा यही हो। त्यसको लागि आफूले प्रसन्नतापूर्वक आफ्नो सुखलाई वास्ता नगरी अरुको सुखका निमित्त खट्नुपर्छ। अरुको राम्रो गर्न, राम्रो देख्न, राम्रो सुन्न प्रयास गर्नुपर्छ। त्यसैले आचार्य भन्नुहुन्छ -

> **अन्येनापि कृतं दोषं पातयास्यैव मस्तके।**
> **अल्पमप्यस्य दोषं च प्रकाशय महाजने ॥१६२॥**

अरुको दोप यसकै शिरमा नै खसाउनू
थोरै पनि दोप यसको धेरैका सामु भन्दिनू ॥१६२॥

अन्वयार्थ : *अन्येन = अरुले, कृतं = गरेको, दोपं = दोष, अपि = पनि, अस्य = यसको, मस्तके एव = टाउकामा नै, पातय = खसाऊ। अस्य = यसको, अल्पम् = थोरै, दोपं = दोपलाई, अपि = पनि, महाजने = धेरै जनसमुदायमा, प्रकाशय = प्रकाशित गरिदेऊ।*

अरुले गरेका कुकर्म, पाप, अपराध जस्ता दोषहरूलाई पनि आफ्नै यही स्वार्थी 'म'को शिरमा थोपर्नुपर्छ। फेरि यो स्वार्थी 'म' ले गरेका दोष थोरै छन् भने पनि धेरै जनाको विचमा प्रकाश गर्नुपर्छ। अर्थात् अरुले पाप आदि गरे भने पनि त्यो आफैंले भोग्न तयार हुनुपर्छ र आफ्नै पाप हो

भन्ने स्वीकार गर्नुपर्छ र आफूले गरेका सानातिना गल्ती र दोषहरू पनि अरुका सामु भनिदिनुपर्छ या अरुले दोष औंल्याए भने धेरै खुशी हुनुपर्छ। चित्तशोधनको लागि यो अत्यन्तै आवश्यक र महत्वपूर्ण हुन जान्छ। पापदेशना पनि यसैको अङ्ग हो।

अन्याधिकयशोवादैर्यशो ऽस्य मलिनीकुरु।
निकृष्टदासवच्चैनं सत्त्वकार्येषु वाहय ॥१६३॥

अरुको यश गाएर यसको धमिलो गर
नीच दाससरी जोत सत्वको कार्यमा खुब ॥१६३॥

अन्वयार्थ : अन्याधिकयशोवादैः = अरुको बढी यश गाएर, अस्य = यसको, यशः = कीर्तिलाई, मलिनीकुरू = मलिन गराऊ, एनं = यसलाई, निकृष्ट दासवत् = तुच्छ दास जस्तो गरी, सत्वकार्येपु = सत्वहरूको कार्यमा, वाहय = लगाऊ।

अरुका गुण, यश, आदिलाई धेरै बढाएर चढाएर बखान गर्दै उनीहरूका सामु यो स्वार्थी 'म' को (या आफ्नो) कीर्तिलाई धमिलो र फिका पारिदेऊ। त्यस्तै यसलाई सत्वहरूको हितकार्यमा एउटा नीच दासलाई मानिसहरूले जोताएजस्तै गरी जोताऊ।

नागन्तुकगुणांशेन स्तुत्यो दोषमयो ह्ययम्।
यथा कश्चिन्न जानीयाद् गुणमस्य तथा कुरु ॥१६४॥

पछिका केही गुणले यो दोपी स्तुत्य छैन नि
त्यस्तो गर जसो गर्दा नजानोस् गुण कोही नै ॥१६४॥

अन्वयार्थ : दोपमयः = दोपैदोपले युक्त भएको, अयम् = यो, आगन्तुक-गुणांशेन = पछि आइलागेका केही गुणका अंशहरूले मात्र, न स्तुत्यः = स्तुति प्रशंसा गर्न लायक हुँदैन, अस्य = यसको, गुणं = गुणलाई, कश्चित् = कसैले पनि, यथा = जे गर्दा, न जानीयाद् = जान्दैन, तथा कुरु = त्यस्तै गर।

यो स्वार्थी 'म' अनेकौं देषहरूले युक्त भएको छ। त्यसैले यदि कुनै कारणवश यसमा केही गुणका अंश मात्र पनि देखिए भने ती केवल आगन्तुक मात्र हुन् र पछि आइलागेका हुनाले तुरुन्तै हराएर जान सक्छन्। तिनीहरूको केही भर छैन। ती आगन्तुक गुण देखिँदैमा यो गुणी भयो भनेर स्तुति गर्न लायक हुँदैन। अतः जे गर्दाखेरि यसको कुनै गुण अरु कसैले थाहा पाउन सक्दैनन् त्यस्तो तरीकाले कार्य गर।

संक्षेपाद् यद्यदात्मार्थे परेष्वपकृतं त्वया।
तत्तदात्मनि सत्त्वार्थे व्यसनं विनिपातय ॥१६५॥

छोटोमा, स्वार्थमा जे जे खरावी अरुको गऱ्यौ
परार्थमा त्यो व्यसन आफैले अव बोकिद्यौ ॥१६५॥

अन्वयार्थ : संक्षेपाद् = छोटकरीमा भन्दाखेरी, त्वया = तिमीले, आत्मार्थे = आफ्ना निमित्त, परेपु = अरु प्राणीहरूप्रति, यद् यद् = जो जो, अपकृतं = अपकार गऱ्यौ, सत्त्वार्थे = अरु प्राणीहरूको निमित्त, आत्मनि = आफूमा, तत्तद् व्यसनं = त्यही त्यही खराव काम, विनिपातय = पार।

लम्बाचौडा कुरा कति गरिरहनु ? छोटकरीमा भन्दा खेरि यति बुझ कि आफ्नो स्वार्थको

लागि तिमीले अनादिकालदेखि आजसम्म जेजति कुराले अरुको अपकार, हानि र खराव हुने काम गरेका छौ त्यो सबै अब उल्टाएर अरुको हितको लागि ती ती दुर्व्यसन, हानि र खराबीहरू सबै आफैले आफ्नो टाउकामा बोक ।

नैवोत्साहो ऽस्य दातव्यो येनायं मुखरो भवेत् ।
स्थाप्यो नववधूवृत्तौ ह्रीतो भीतो ऽथ संवृतः ॥१६६॥

प्रोत्साहनै गर्नुहुंन्न चोथाले नत्र हुन्छ यो
राख्नू नववधू जस्तै भय, लाजले ढाकिँदो ॥१६६॥

अन्वयार्थ : अस्य = यसलाई, उत्साहः = उत्साह, नैव दातव्यः = दिनै हुन्न, येन = जसले गर्दा, अयं = यो, मुखरः वढी वाचाल या चोथाले, भवेत् = हुन जाओस् (यसलाई त), ह्रीतः = लाज मानेको, भीतः = डराएको, अथ संवृतः = र त्यसैगरी घुम्टो ओढाएको (ढाकेको)रूपमा, नववधूवृत्तौ = नयाँ दुलहीको चालमा, स्थाप्यः = राख्नुपर्छ ।

यो स्वर्थी आत्मालाई कहिल्यै पनि प्रोत्साहन गर्नुहुँदैन किनकि त्यसो गर्नाले यो धेरै चलाख र चतुरो बन्छ र बढी वकवक गर्न थाल्नेछ । त्यसैले त्यस्तो वाचाल (चोथाले) अवस्थामा जान नदिएर यसलाई त कुनै नयाँ दुलहीलाई जस्तै डरले युक्त लाजले युक्त र बाहिर देखा नपर्ने गरी ढाकिएको अवस्थामा राख्नुपर्छ । नत्र पछि आएर यसलाई नियन्त्रणमा लिनै गाह्रो हुनेछ ।

एवं कुरुष्व तिष्ठैवं न कर्तव्यमिदं त्वया ।
एवमेव वशः कार्यो निग्राह्यस्तदतिक्रमे ॥१६७॥

'यो गर्नू' 'यसरी बस्नू' 'यो नगर्नू' भनेर नै
वश पार्नू, नमानेमा दिनु पर्दछ दण्ड नै ॥१६७॥

अन्वयार्थ : "एवं = यस्तो, कुरुष्व = गर, एवं = यसरी, तिष्ठ = रहनू, त्वया = तिमीले, इदं = यस्तो, न कर्तव्यं = गर्नुहुदैन," एव एव = यस्ता प्रकारले नै, वशः कार्यः = वश गर्नुपर्छ, तदतिक्रमे = त्यसको उल्लङ्घन गरेमा, निग्राह्यः = दण्ड दिनुपर्छ ।

हे चित्त, यस्तो काम गर, यस्तो काम तँले गर्नु हुँदैन, तँ यसरी बस्नुपर्छ भन्दै यसलाई आफ्नो वशमा लिनुपर्छ । यदि त्यसअनुसार आचरण गरेन र उल्लङ्घन गऱ्यो भने यसलाई दण्ड दिनुपर्छ ।

तात्पर्य के हो भने आफ्नो चित्तलाई परहितको अनुशासनमा जसरी लगाउन सकिन्छ त्यसरी नै कठोर भएर लगाउनुपर्छ । त्यसमा स्मृति र सम्प्रजन्यले बारम्बार याद गरिराख्नुपर्छ । छाडा र प्रमादी बन्न दिनै हुँदैन ।

अथैवमुच्यमाने ऽपि चित्तं नेदं करिष्यसि ।
त्वामेव निग्रहिष्यामि सर्वदोषास्त्वदाश्रिताः ॥१६८॥

हे चित्त, यसरी भन्दा पनि लौ टेरिनस् भने
तलाई नै दण्ड दिन्छु तैंमा आश्रित दोष हुन् ॥१६८॥

अन्वयार्थ : चित्तं = हे चित्त, अथ = अव, एवं =यसरी, उच्यमाने अपि = भन्दाखेरि पनि, इदं = यो, न करिष्यसि = गरिनस् भने. त्वाम् एव = तलाइं नै. निग्रहिष्यामि = दण्डित गर्नेछु (किनभने), सर्वदोपाः = सम्पूर्ण दोपहरू, त्वदाश्रिताः = तँमै आश्रित

भएका छन् ।

"हे स्वार्थी चित्त (म), यसरी बारम्बार भन्दाखेरि पनि त्यो बमोजिम गरिनस् भने तँलाई नै दण्ड दिनेछु । किनभने जति पनि दोषहरू छन् ती सबै तैंले गर्दा नै भएका हुन् ।

क्व यास्यसि मया दृष्टः सर्वदर्पान् निहन्मि ते ।
अन्यो ऽ सौ पूर्वकः कालस्त्वया यत्रास्मि नाशितः ॥१६९॥

कहाँ जालास् ? देखिहालें, तोड्छु तेरा घमण्ड नि
वेग्लै हो अघिको वेला, मलाई नष्ट पारिथिस् ॥१६९॥

अन्वयार्थ : क्व = कहाँ, यास्यसि = जालास्, मया = मैले, दृष्टः = देखिहालें, ते = तेरा, सर्वदर्पान् = सम्पूर्ण घमण्डहरूलाई, निहन्मि = नष्ट पार्दछु । असौ = त्यो, पूर्वकः = पहिलेको, कालः = समय, अन्यः = वेग्लै थियो, यत्र = जहाँ, त्वया = तँद्वारा नाशितः अस्मि = सत्यानाश पारिएको थिएँ ।

हे स्वार्थी 'म' अब तँ कहाँ जालास् र ? मैले तँलाई देखिसकेको छु । अब त तेरा सारा शेखी झारेरै छोड्नेछु । अघिको समय त बेग्लै थियो, त्यसैले तैंले मेरो सर्वनाश गरेको थिइस् ।

अर्थात्, हे आत्मग्राही चित्त, तैले मलाई पहिले अनादि कालदेखि विगार्दा विगार्दा स्वार्थी, कपटी, आत्मकेन्द्रित बनाएर सत्यानाश पारेको थिइस् । मलाई थाहा नहोउञ्जेल त्यसो गरिस् तापनि अब मैले तेरा सम्पूर्ण अवगुणहरू थाहा पाइसकेको छु, अब तेरो स्वभाव थाहा भइसक्यो, फेरी तैंले मलाई विगार्न सक्ने छैनस् ।

अद्याप्यस्ति मम स्वार्थ इत्याशां त्यज साम्प्रतम् ।
त्वं विक्रीतो मयान्येषु बहुखेदमचिन्तयन् ॥१७०॥

अझै स्वार्थ छ भन्ने यो आशा छोड्नु तुरुन्त नै
न विचारी दुःख धेरै बेचेको छु तँलाई नै ॥१७०॥

अन्वयार्थ : 'मम = मेरो, अद्य अपि = अझै पनि, स्वार्थं = स्वार्थ, अस्ति इति = छ भन्ने यस्तो, आशां = आशालाई, साम्प्रतं = अहिले नै, त्यज = त्यागि दे, मया = मैले, बहुखेदं = धेरै दुःख कष्ट होला भन्ने विपयमा, अचिन्तयन् = चिन्ता नगरी, त्वं = तँलाई, अन्येषु = अरुका खातिर, विक्रीतः = बेचेको छु ।

हे चित्त, अझै पनि मेरो केही स्वार्थ पूरा होला कि भन्ने आशा छ भने तुरुन्तै छोडिहाल् । किनभने मैले विभिन्न प्रकारका कठीनाइ होलान् भन्ने विचारै नगरी तँलाई अरुको हितका निमित्त बेचिसकेको छु । जुनबेला बोधिचित्त उत्पाद गरें त्यहीबेला नै तँलाई अरुको सेवा गर्नलाई दासको रूपमा बेचिसकेको हुँ । अब तँ भाग्ने या मलाई धोखा दिने काम गर्न सक्दैनस् । तँ बेचिइस्, अरुको हितमा राम्रोसँग लागिहाल् ।

त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि यदि नाम प्रमादतः ।
त्वं मां नरकपालेषु प्रदास्यसि न संशयः ॥१७१॥

प्रमादी भै नसुम्पेमा तँलाई सत्वनिम्तिमा
तैंले मलाई सुम्पिन्छस् निश्चयै यमदूतमा ॥१७१॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, नाम प्रमादत: = प्रमाद (लापरवाही) कै कारणले, त्वां = तँलाई, सत्वेषु = सत्वहरूका निमित्त, न दास्यामि = दिइन भने त, त्वं = तैले, मां = मलाई, नरक-पालेषु = नरकका पालेहरूका हातमा, प्रदास्यसि = दिइहाल्नेछस्, न संशय: = सन्देहै छैन ।

यदि मैले लापरवाही गरेर तँलाई सबै प्राणीहरूको हितमा सुम्पिन भने त तत्कालै तैंले मलाई नरकका द्वारपालहरूका हातमा दिइहाल्नेछस् अर्थात् मलाई यति अकुशल कर्म गराउँछस् कि मेरो नरकको गति बाहेक अरु केही हुनेछैन । यो कुरामा कुनै पनि सन्देह छैन ।

एवं चानेकधा दत्वा त्वयाहं व्यथितंश्चिरम् ।
निहन्मि स्वार्थचेटं त्वां तानि वैराण्यनुस्मरन् ॥१७२॥

धेरै पटक सुम्पेर दिइस् कष्ट मलाई नै
मार्छु स्वार्थगुलामै तँ, ती वैरभाव सम्झँदै ॥१७२॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी नै, त्वया = तैंले, अहं = मलाई, अनेकधा = धेरै पटक, दत्त्वा = दिएर, चिरम् = लामो समयसम्म, व्यथित: = कष्ट दिएको छस्, तानि = ती, वैराणि = वैरभावहरूलाई, अनुस्मरन् = सँम्झँदै, स्वार्थचेटं = स्वार्थको गुलाम भएको, त्वां = तँलाई, निहन्मि = नष्ट पार्छु ।

तैंले मलाई त्यसरी नरकपालका हातमा सुम्पिने काम धेरै पटक गरिसकेको छस् जसले गर्दा मैले निकै लामो समयसम्म कष्ट भोगेको छु । तेरा ती कुकृत्य र वैरभावहरू सम्झिँदाखेरि तँजस्तो स्वार्थको गुलामलाई मैले नमारि छोड्दिन । याने 'स्वार्थ' र 'आत्मस्नेह'को भावनालाई नष्टै पार्नेछु ।

न कर्तव्यात्मनि प्रीतिर्यद्यात्मप्रीतिरस्ति ते ।
यद्यात्मा रक्षितव्यो ऽयं रक्षितव्यो न युज्यते ॥१७३॥

यदि आफ्नो प्रेम भए नगर्नू प्रेम 'आफु'मा
आफ्नो बचाउ गर्नेभा 'बचाउनु' हुँदैन त्यो ॥१७३॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, ते = तेरो, आत्मप्रीति = आफूमा प्रेम, अस्ति = छ भने, आत्मनि = आत्मा याने 'म' भन्ने कुरामा, प्रीति: = प्रेम, न कर्तव्या = गर्नु हुँदैन, यदि = यदि, आत्मा = आफूलाई, रक्षितव्य: = बचाउनुछ भने, अयं = यसलाई रक्षितव्य: = वचाउनुपर्छ भन्ने ठान्नु, न युज्यते = उपयुक्त हुँदैन ।

आचार्य भन्नुहुन्छ कि हे चित्त, यदि तँलाई आफ्नो माया छ, आफूमा प्रेम छ भने तैले 'आत्मा' याने 'म' भन्ने भावमा अथवा अस्तित्वमा प्रेम गर्नु हुँदैन । त्यसको बदला तैंले परस्नेह याने अरुप्रति स्नेह गर्नुपर्छ । यसैमा तेरो भलाई छ र यसैबाट तेरो वास्तविक कल्याण हुन्छ र परम सुख पाउने छस् । यदि तैंले आफ्नो बचाउ गर्न चाहान्छस् भने त्यो 'आत्मरक्षा' याने 'म' भन्ने स्वार्थको जरोलाई 'बचाउनुपर्छ' भन्ने सोचाइ या भावनालाई नै त्यागिदे । त्यो कहिल्यै पनि उपयुक्त छैन, किनकि त्यसले तँलाई बचाउनु र सुख दिनुको बदला तँलाई नै नष्टभ्रष्ट पार्नेछ ।

अर्को शब्दमा भन्दाखेरि, यदि चिरकाल सम्म टिक्ने वास्तविक सुख चाहने हो भने यो आरोपित, अवास्तविक पुद्गलप्रति आत्मभाव राखेर त्यसमा स्नेह गर्नुहुँदैन । त्यस्तै संसार र मोक्ष

दुवैबाट आफ्नो बचाउ गर्नुपर्छ। त्यस पछि मात्र अरूको वास्तविक कल्याण गर्न सकिन्छ। त्यो गरेपछि मात्र आफ्नो पनि स्वतः कल्याण हुन्छ। अर्को उपाय छैन। त्यसकारण भगवान्‌ले मध्यम मार्गको देशना गर्नुभएको हो। महायान अनुसार बोधिसत्वले संसाररूपी एउटा अन्त र निर्वाण (व्यक्तिगत) रूपी अर्को अन्त यी दुवैलाई त्यागेर मध्यममार्गमा पनि अप्रतिष्ठित भएर रहनुपर्छ। त्यसैले भनिएको छ, *'मध्ये ऽ पि स्थानं न करोति पण्डितः'*। यही हो बोधिसत्वको परम लक्ष्य। बुद्धत्व पनि यही हो। यही अवस्थाबाट मात्र स्व-पर दुवैको कल्याण हुन्छ। अभिसमयालंकारमा भनिएको छ -

प्रज्ञया नभवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः
अनुपायेन दूरत्वमुपायेनाविदूरता ॥

अर्थात् प्रज्ञाले गर्दा भवमा स्थान छैन भने करूणाले गर्दा निर्वाणमा रहँदैन। उपाय नभएमा टाढा हुन्छ भने उपायसहित भएमा नजीकै छ।

यथा यथास्य कायस्य क्रियते परिपालनम्।
सुकुमारतरो भूत्वा पतत्येव तथा तथा ॥१७४.॥

यो कायको जति जति गरिन्छ परिपालन
झन् झन् कोमल बन्दै यो गिर्दै जान्छ पुनः पुनः ॥१७४॥

__अन्वयार्थ :__ अस्य = यो, कायस्य = कायको, यथा यथा = जति जति, परिपालनं = पालन-पोषण, क्रियते = गरिन्छ, तथा तथा = त्यति त्यति, सुकुमारतरः = झन् सुकोमल, भूत्वा = भएर, पतति एव = पतन नै हुन्छ।

यो कायलाई जति जति बढी स्याहार सम्भार गर्दै गइन्छ त्यति त्यति यो झन् सुकोमल बन्दै जान्छ र अलिकति पनि व्यथा आदि खप्न नसक्ने हुन्छ। त्यसकारण झन् झन् तृष्णाको बृद्धि हुन्छ। अतः जहिले पनि 'मेरो शरीर' भन्दै अति-पोषण नगरेर दुःख कष्ट आदि सहन सक्ने बनाइराख्नु आवश्यक हुन्छ। आखिर जतिसुकै प्रेमले स्याहार गरे पनि यसको सड्ने स्वभाव, बूढो हुँदै जाने स्वभाव, व्याधिले समात्ने स्वभाव त बदलिँदैन। त्यही भएर आचार्य फेरि भन्नुहुन्छ -

अस्यैवं पतितस्यापि सर्वापीयं वसुन्धरा।
नालं पूरयितुं बाञ्छां तत् को ऽ स्येच्छां करिष्यति ॥१७५॥

यो धर्ती यसकै लागि गिर्न आए पनि त्यहाँ
इच्छ पूरा हुनेछैन कस्ले पूरा गरोस् यहाँ ॥१७५॥

__अन्वयार्थ :__ एवं = यसरी, सर्वापि = सम्पूर्ण, इयं वसुन्धरा = यो धरती नै, अस्य = यो, पतितत्य अपि = पतितको हुन आए पनि, वाञ्छां = इच्छालाई, पूरयितुं = पूरा गर्न, न अलम् = समर्थ हुँदैन, तत् = त्यसो हुनाले, अस्य = यसको, इच्छां = इच्छालाई, कः = कस्ले, करिष्यति = पूरा गर्ला ?

यसप्रकार यो नीच पतित कायको इच्छा पूरा गर्न त यो सम्पूर्ण धरती नै यसको हुन आएपनि सम्भव हुँदैन। किनकि यो त असन्तुष्ट स्वभावको छ र जति परिपोषण गऱ्यो उति पोषण खोज्छ। यस्तो स्थितिमा कुन मूर्ख यसको पछि लागेर इच्छा पूर्ति गरिदिँदै हिंड्ला ?

दृष्टान्तै हेर्ने हो भने पनि राजा मान्धातालाई यो सम्पूर्ण पृथिवी कब्जामा हुँदा पनि सन्तोष नभएर देवलोक ताके र त्यसमा पनि इन्द्रको आधाराज्य समेत हत्याए। तर पनि उनलाई सन्तोष भएको थिएन। त्यसकारण इच्छा पूरा हुने भन्ने सम्भावना कहिल्यै पनि हुँदैन।

अशक्यमिच्छतः क्लेश आशाभङ्गश्च जायते।
निराशो यस्तु सर्वत्र तस्य सम्पदजीर्णिका ॥१७६॥

जो सकिन्न चाहँदा त्यो, निराशा, क्लेश वढ्दछन्
सर्वत्र जो निराशी छ, त्यस्कै सम्पत्ति स्थायि छ ॥१७६॥

अन्वयार्थ : अशक्यं = नसकिने कुरा, इच्छतः = चाहना गरिराख्नेहरूको, क्लेशः = क्लेश र, आशाभङ्गश्च = निराशा पनि, जायते = हुन्छ, सर्वत्र = सवै स्थानमा, यः = जुन व्यक्ति, निराशः = आशाहरूले रहित भएको हुन्छ, तस्य = त्यसको, अजीर्णिका = कहिल्यै नयोत्रिने, सम्पद् = सम्पत्ति हुन्छ।

जुन कुरा अहिले सम्भवै हुँदैन या पूरा गर्न सकिन्न त्यस्ता कुराको चाहना गरिरहनेहरूलाई राग, द्वेष आदि क्लेशहरू पनि धेरै उत्पन्न भइरहन्छन् र उनीहरूको आशा सधैं भङ्ग भइरहन्छ अर्थात् सधैं निराश हुनुपर्ने हुन्छ। परन्तु जो व्यक्ति पहिलेदेखि नै कुनै पनि आशा नगरेर जुनसुकै परिस्थितिमा पनि रहने गरेको छ त्यसले वास्तवमा अक्षय सम्पत्ति पाइरहेको हुन्छ जुन कहिल्यै सिद्धिएला, सड्ला, हराउला भन्नुपर्दैन।

तस्मान्न प्रसरो देयः कायस्येच्छाभिवृद्धये।
भद्रकं नाम तद् वस्तु यदिष्टत्वान्न गृह्यते ॥१७७॥

त्यसैले कायका इच्छा बढ्ने मौका नदेउ है
प्रिय ठानी नलिइने वस्तु हो हितकारकै ॥१७७॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, कायस्य = कायको, इच्छाभिवृद्धये = इच्छालाई वढाउने, प्रसरः = अवसर, न देयः = दिनुहुदैन, तद् वस्तु =त्यो वस्तु नै, भद्रकं नाम = कल्याणकारी भनिन्छ, यद् = जुन, इष्टत्वात् = प्रिय भएको नाताले, न गृह्यते = लिइदैन।

त्यसकारण यो काय याने व्यक्तिका इच्छा एवं तृष्णाहरूको अभिवृद्धि हुने मौका कहिल्यै पनि दिनुहुँदैन किनकि त्यसबाट कदापि कल्याण हुन सक्दैन। कल्याण गर्ने वस्तु त त्यस्तो हुन्छ जुन आफूले प्रिय भनेर ग्रहण गरिएको हुँदैन। किनकि जुन कुरा प्रिय ठानेर लिइन्छ त्यो त विनाशशील र अनित्य भएकोले हामीले ठाने जस्तो त रहँदैन, अनि दुःख भइहाल्छ। त्यही नै परिणाम दुःख हो।

अतः यस्ता तृष्णाबाट मुक्त हुनको लागि तृष्णाका विषयहरूमा उपेक्षा भाव उत्पन्न गर्नुपर्छ। त्यसको लागि ती विषयहरूप्रति निःसारताको दृष्टि राखिराख्नुपर्छ। तब मात्र तृष्णा घट्न थाल्छ र सन्तुष्टि प्राप्त हुन्छ। त्यही भएर सन्तोषभन्दा ठूलो अर्को धन केही छैन भनिएको हुन्छ।

यही शरीरमा 'म' र 'मेरो' (आत्मा र आत्मीय) भन्ने दृष्टि आरोपित गरेर चित्तले स्वार्थ प्रवृत्ति वढाइराख्ने भएकोले यसबाट स्वयं आफू र अरुलाई पनि अनर्थ आइलागेको छ। अतः आचार्यले यो शरीरको पनि अस्तित्वलाई केलाउनुपर्ने कुरामा जोडदिंदै भन्नुहुन्छ –

भस्मनिष्ठावसानेयं निश्चेष्टान्येन चाल्यते ।
अशुचिप्रतिमा घोरा कस्मादत्र ममाग्रहः ॥१७८॥

यो घोर मूर्ति अशुभ अर्केले त चलाउँछ
खरानी भइ टुँगिन्छ किन यस्मा छ आग्रह ॥१७८॥

__अन्वयार्थ :__ इयं = यो, घोरा = डरलाग्दो, निश्चेष्टा = चेतना नै नभएको, भस्मनिष्ठावसाना = अन्तमा खरानीको रूपमा स्थित हुने स्वभाव भएको, अशुचिप्रतिमा = अपवित्र वस्तुको प्रतिमा, अन्येन = अरुद्वारा, चाल्यते = चलाइन्छ, अत्र = यसमा, कस्मात् = के कारणले, ममाग्रहः = 'मेरो' या 'म' भन्ने आग्रह गर्दछन् । (अथवा मेरो आग्रह हुनुपर्ने ?)

आखिर जति पालन पोषण गरे पनि यो शरीर अपवित्र एवं अशुचिको प्रतिमा हो र जड नै छ। यसलाई चलाउने अरुले (चित्तले) नै हो। त्यस्तै यो डरलाग्दो पनि छ किनकि श्मशानघाटमा लडेको शरीर देख्दा नडराउने धेरै कमै हुन्छन् । त्यति मात्र होइन, यसको वास्तविक एवं अन्तिम परिणाम के हो त भन्दा खरानी नै हो किनकि अन्त्यमा आएर यो खरानीमै परिणत हुन्छ । अतः यस्तो थाहा हुँदाहुँदै पनि कोही मूर्ख यसमा 'म' र 'मेरो' भन्ने देखिरहन्छ ? अर्थात् यसमा मेरो आग्रह किन हुनुपर्‍यो ?

किं मयानेन यन्त्रेण जीविना वा मृतेन वा ।
लोष्टादेः को विशेषो ऽस्य हाहंकार न नश्यसि ॥१७९॥

मृत होस् या जीवित होस् मैले के गर्नु यन्त्रले
माटोभन्दा के छ यस्मा ? हाय ! नाशिन्न यो अहम् ! ॥१७९॥

__अन्वयार्थ :__ जीविना = जीउँदो, वा = अथवा, मृतेन = मेरको, अनेन = यो, यन्त्रेण = यन्त्र (मिशिन)ले, मया = मैले, किं = के गर्ने ? अस्य = यसको, लोष्टादेः = माटोको थुप्रोभन्दा, कः विशेपः = के विशेपता छ र ? हा = हाय, अहंकार = हे अहंकार, न नश्यसि = नाश हुँदैनस् ?

मरेको भए पनि, जीवित भए पनि यो कायरूपी यन्त्रले मलाई के काम हुन्छ ? यसमा र माटाको राशमा के फरक छ ? त्योभन्दा बढी यसमा के छ ? यस्तो हुँदा पनि तँ अहंकार अझ नष्ट हुँदैनस् ? यो कायलाई 'म' या 'मेरो' भन्ने तँ नाश हुँदैनस् ? वास्तवमा तेरो कुनै अस्तित्व छैन तर पनि अस्तित्वको तृष्णा आरोपित भएर देखापरेको होस् । तेरो भान त पूर्णरूपमा मिथ्या हो ।

शरीरपक्षपातेन वृथा दुःखमुपार्ज्यते ।
किमस्य काष्ठतुल्यस्य द्वेषेणानुनयेन वा ॥१८०॥

शरीरको पक्ष लिँदा दुःख पाइन्छ व्यर्थमा
प्रेम या द्वेष गर्नाले के हुन्छ काठतुल्यमा ॥१८०॥

__अन्वयार्थ :__ शरीरपक्षपातेन = शरीरको पक्षमा लग्नाले, वृथा = व्यर्थमै, दुःखं = दुःख, उपार्ज्यते = आर्जन गर्न पुगिन्छ, अस्य = यो, काष्ठतुल्यस्य = काठसमानको कुरासँग, द्वेपेण = द्वेप गर्नाले, वा = अथवा, अनुनयेन = राग गर्नाले, किम् = के (फाइदा) हुन्छ ?

यो कामको पछि लाग्नाले जहिले पनि बेकाममा दुःख पाइएको हुन्छ । त्यसकारण यस्तो

काठसमानको शरीरसँग प्रेम या अनुराग गरेर पनि के फाइदा हुन्छ या द्वेष गरेर पनि के हुन्छ ? दुवै व्यर्थ छन्। अतः यसमा 'म' या 'मेरो' भन्ने आत्मभाव जोडेर यसको भरण पोषण आदिमा डुब्नु दुःख कमाउनु नै हो।

मया वा पालितस्यैवं गृध्राद्यैर्भक्षितस्य वा।
न च स्नेहो न च द्वेषस्तत्र स्नेहं करोमि किम् ॥१८१॥

मैले पाल्दा र गिद्धैले खाँदा पनि गरेन क्यै
राग या द्वेष, त्यस्तामा किन स्नेह गरुँ म नै ॥१८१॥

अन्वयार्थ : मया = मैले, एवं = यसरी , पालितस्य = पालेकोमा, वा = अथवा, गृध्राद्यैः = गिद्ध आदिले, भक्षितस्य = खाइएकोमा पनि, न च स्नेहः = न राग गर्छ, न च द्वेषः = न द्वेष गर्छ, तत्र = त्यस्तोमा पनि, किं = किन, स्नेहं = प्रेम, करोमि = गरुँ ?

यो शरीरलाई मैलें जति राम्रोसँग पालन पोषण गरे पनि यसले म- प्रति कुनै स्नेह उत्पन्न गर्दैन। त्यस्तै यसलाई पछि स्याल, गिद्ध आदिले जति नराम्रोसँग लुछेर खाए पनि उनीहरूप्रति यसले कुनै द्वेष गर्दैन भने व्यर्थमा मैले यसलाई 'आफू' या 'आफ्नो' भन्ने ठानेर किन स्नेह गर्नु ?

रोषो यस्य खलीकारात् तोषो यस्य च पूजया।
स एव चेन्न जानाति श्रमः कस्य कृते नु मे ॥१८२॥

तिरस्कृत हुँदा क्रोध, हुँदा पूजन हर्षित
भए पनि त जान्दैन किन व्यर्थ परिश्रम ? ॥१८२॥

अन्वयार्थ : यस्य = जसको, खलीकारात् = तिरस्कार गर्नाले, रोषः = क्रोध उत्पन्न हुन्छ, यस्य = जसको, पूजया च = पूजा गर्नाले फेरि, तोषः = सन्तोष हुन्छ, स एव = त्यही शरीरले नै, न जानाति चेत् = त्यो कुरा थाहा पाउँदैन (जान्दैन) भने, मे = मेरो, श्रमः = परिश्रम, कस्यं कृते = कस्का निमित्त (या केका निमित्त) हुनुपर्‍यो त ?

जुन शरीरलाई कसैले तिरस्कार गर्दा म रिसाउँछु र जुन शरीरको पूजा सम्मान गर्दा म प्रसन्न हुन्छु, आखिर त्यही शरीरलाई नै त्यो गुन र बैगुनको कुनै जानकारी नै हुँदैन भने मैले त्यत्रो परिश्रम केको लागि गरिराख्नु पर्‍यो त ? त्यो सारा कष्ट त फलहीन र निरर्थक नै ठहरियो।

इमं ये कायमिच्छन्ति ते ऽपि मे सुहृदः किल।
सर्वे स्वकायमिच्छन्ति ते ऽपि कस्मान्न मे प्रियाः ॥ १८३॥

यो काय जस्ले चाहान्छन् ती मेरा मित्र हुन् भने
सवै आफ्नो काय रोज्छन् किन अप्रिय ती हुने ? ॥१८३॥

अन्वयार्थ : ये = जसले, इमं = यो, कायं = शरीरलाई, इच्छन्ति = मन पराउँछन्, ते अपि = तिनीहरू पनि, मे = मेरा निमित्त, किल सुहृदः = मित्र नै हुन् भने, सर्वे = सवैले, स्वकायं = आफ्नो शरीरलाई, इच्छन्ति = रुचाएकै हुन्छन्, ते अपि = तिनीहरू पनि, मे = मेरा निमित्त, कस्मात् = किन, न प्रियाः = प्रिय नहुने ?

जसले यो कायलाई मन पराउँछन् तिनीहरू मेरा मित्र हुन्। त्यसैले ती स्याल, गिद्धजस्ता प्राणीहरूलाई पनि मैले किन मित्रसमान नठान्ने ? आखिर उनीहरूले पनि यो शरीरलाई निकै

मनपराएका हुन्छन्। फेरि अर्को प्रकारले हेर्दा यस्तो कायलाई मनपराउने सबै हुन्छन्। अर्थात् सबैले आफूसँग भएको ठीक यस्तै माटाको पिण्डसमानको कायलाई मन पराएकै हुन्छन् भने मैले उनीहरूलाई पनि किन प्रेम नगर्ने ? किन मित्र नसम्झिने ?

भन्न खोजेको के हो भने अरु प्राणीहरूप्रति पनि आफूसमानकै बुद्धिले हेर्नुपर्छ र उनीहरूलाई पनि 'आफू' नै ठान्नुपर्छ। यसरी यो श्लोकबाट आचार्यले परात्मपरिवर्तनको उपसंहार गरेपछि अब फेरि यसलाई अरुको नासोको रूपमा सम्झेर पालन गर्नुपर्ने कुरालाई याद दिलाउनुहुन्छ -

> तस्मान्मयानपेक्षेण कायस्त्यक्तो जगद्धिते ।
> अतो ऽ यं बहुदोषो ऽ पि धार्यते कर्मभाण्डवत् ॥१८४॥

अपेक्षा नगरी मैले जगत्को हितमा दिएँ
दोषी भए पनि बोक्छु कर्मसाधन हो भनी ॥१८४॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, अनपेक्षेण = कुनै अपेक्षाले रहित भई, मया = मद्वारा, कायः = यो शरीर, जगद्धिते = जगत्को हितका निमित्त, त्यक्तः = त्याग गरिएको छ। अतः = त्यसकारण, अयं = यो, वहुदोपः अपि = धेरै दोपले युक्त छ तापनि, कर्मभाण्डवत् = काम गर्ने भाँडो भन्ने ठानेर, धार्यते = धारण गरिन्छ ।

त्यसकारण मैले यो शरीरलाई जगत्को हितका निमित्त त्यागिसकेको छु। त्यसमा मेरो कुनै पनि अपेक्षा या इच्छा, आकांक्षा र स्वार्थ छैन। त्यसैले यो शरीरमा धेरै दोषहरू छन् तापनि कर्मको साधन या भाँडो सम्झेर अरुको नासो राखिदिएझैं गरी धारण मात्र गर्दछु।

आचार्यले पहिले नै बताइसक्नुभएको थियो कि यो जीवन, शरीर आदिको रक्षा गर्ने अरुको लागि हो र त्यसको निमित्त यसलाई राम्रोसँग बचाउने, शुद्ध पार्ने, आदि काम गर्नलाई यसको धारण गर्नुपर्छ। जस्तै शिक्षा समुच्चयमा उहाँ भन्नुहुन्छ -

> आत्मभावस्य भोगानां त्र्यध्ववृत्तेः शुभस्य च ।
> उत्सर्गः सर्वसत्त्वेभ्यस्तद्रक्षा शुद्धिवर्धनम् (शि.स. ४)

यसरी शरीरलाई प्राथमिकता दिंदाखेरि फेरि यसमा 'म' 'मेरो' भन्ने आत्मग्राह बढ्दै जान्छ। त्यसैले त्यो आत्मपरिग्रहलाई आउन नदिएर यसको अभ्यास गर्ने कुरामा जोड दिनुभएको हो। यो कुरा केवल शरीरको सन्दर्भमा मात्र नभएर पञ्चस्कन्धमै लागू हुन्छ र अन्य पुण्य एवं भोग सामग्रीमा समेत लागू गर्नुपर्छ नत्र त्यहाँ पनि 'आत्म' 'आत्मीयता' दृष्टिले दूषित पार्ने सम्भावना उत्तिकै बलियो छ। जहाँ जहाँ आत्मदृष्टि जोडिन्छ त्यहाँ त्यहाँ यो लागू हुन्छ।

अब ध्यानलाई विकसित गर्ने अभ्यासमै जोड दिन त्यसका निवरणहरूलाई हटाउँदै उद्योग गर्छु भनेर यो ध्यान पारमिताको परिच्छेदलाई उपसंहार गर्दै भन्नुहुन्छ -

> तेनालं लोकचरितैः पण्डितानन्यायाम्यहम् ।
> अप्रमादकथां स्मृत्वा स्त्यानमिद्धं निवारयन् ॥१८५॥

लोक आचारले के भो ? पण्डितको पछि लागदछु
अप्रमाद कथा सम्झी स्त्यान - मिद्ध हटाउँछु ॥१८५॥

अन्वयार्थ : तेन = त्यसो हुनाले, लोकचरितैः = लोकको जस्तो आचरणवाट, अलं = पुग्यो, अहं = म, अप्रमादकथां स्मृत्वा = 'अप्रमाद'को विषय सम्झेर, स्त्यानमिद्धं = स्त्यान र मिद्ध (आलस्य र निद्रा)लाई, निवारयन् = हटाउँदै, पण्डितान् = पण्डितहरूको, अनुयामि = पछि लाग्छु ।

त्यसकारण अब पनि सामान्य लोकको जस्तो आचरण गर्ने काम त गर्दिन । त्यसले मलाई पुगिसक्यो । म अघाएँ । अब त पहिले बताए अनुसार (यही ग्रन्थकै सम्प्रजन्यरक्षण भन्ने परिच्छेदमा) स्मृति र सम्प्रजन्य कसरी राख्ने भन्ने शिक्षाहरू सम्झिँदै यो स्त्यान र मिद्धलाई हटाउँदै विद्वान् पण्डितहरू जसरी चल्दछन् त्यसरी चल्छु ।

यहाँ स्त्यान भनेको शरीरको निष्क्रियता हो भने मिद्ध भनेको चित्त- चैत्तहरूको निष्क्रियता हो । यिनीहरू ध्यानका विरोधी धर्म भएका हुनाले यिनीहरूलाई नष्ट पार्ने अठोट गर्नु आवश्यक हुन्छ । त्यस्तै यहाँ पण्डित भनेको आजभोलि कहलाइने सस्ता पण्डितलाई होइन । यहाँ पण्डित भन्नाले बुद्ध, बोधिसत्व, आर्य एवं उनीहरूका अनुयायी आचार्य, उपाध्याय आदि हुन् जो स्वयं अध्ययनमा पनि बहुश्रुत हुन्छन् र पञ्चविद्यास्थानहरूमै निपुण हुन्छन् भने ध्यान आदि अधिगमधर्ममा पनि अनुभव प्राप्त हुन्छन् । उनीहरूको अनुसरण गर्ने प्रतिज्ञा गरिएको हो ।

[बोधिचर्यावतारको आठौ परिच्छेको संस्कृत-पाठमा १८६ श्लोक मात्र छन् परन्तु यो १८५ औं श्लोकपछि तिब्बती पाठमा एउटा अतिरिक्त श्लोक पनि छ, जसले गर्दा तिब्बती पाठमा १८७ श्लोक भएका छन् । उक्त अतिरिक्त श्लोकको भावार्थ यस प्रकार छ -

दुःखहरूबाट छुटकारा पाउनको लागि प्रतिपक्ष बलले युक्त भएर महाकरुणामय बोधिसत्वहरूको अनुसरण गर्दै आफ्नो चित्तलाई नियन्त्रणमा लिन रात दिन प्रयास गरिरहनुपर्छ ।]

> तस्मादावरणं हन्तुं समाधानं करोम्यहम्
> विमार्गाच्चित्तमाकृष्य स्वालम्वननिरन्तरम् ॥१८६॥

अतः खिचेर यो चित्त कुमार्गैदेखि आफ्नू
अलम्बनस्थ पार्ने छु नाशी निवरणै पनि ॥१८६॥

अन्वयार्थ : अतः = त्यसकारणले, आवरणं = आवरण (याने निवरण)लाई, हन्तुं = नाश गर्न, विमार्गात् = कुमार्गबाट, चित्तं = चित्तलाई, आकृष्य = खिचेर, स्वालम्वननिरन्तरं = निरन्तर आलम्वनमां रहेको, समाधानं = समाधिको अभ्यास, करोमि = गर्दछु ।

त्यसकारण आवरणलाई नाश गर्नको लागि यो चित्तलाई गलत बाटोबाट खिचेर निरन्तर आलम्वनमा स्थापित भएको समाधिमा पुऱ्याउँछु ।

आवरण भनेको पाँच निवरण धर्महरू हुन् । ती हुन् - कामच्छन्द, व्यापाद, विचिकित्सा, औद्धत्य-कौकृत्य र लय या स्त्यान-मिद्ध । यिनीहरूले चित्तलाई सधै विक्षिप्त पारिरखेका हुन्छन् । अतः चित्त एकाग्र हुन पाउँदैन । त्यसले गर्दा ध्यानका अङ्गहरू चित्तमा उत्पन्न भएका हुँदैनन् । जब यी निवरणहरू शान्त हुन्छन् तब वितर्क, विचार, प्रीति, सुख र एकाग्रता यी पाँच ध्यानाङ्गहरू उत्पन्न हुन्छन् । यसैलाई समाधि या प्रथमध्यानको स्थिति भनिन्छ । विपश्यनाको सन्दर्भमा भन्ने हो भने आवरण भन्नाले क्लेशावरण र ज्ञेयावरणलाई पनि बुझ्न सकिन्छ र यिनीहरूको प्रहाण प्रज्ञाले

गर्दछ । तव विपश्यनायुक्त नित्यसमाधिलाभ पनि हुन्छ । जस्तैः भनिएको पनि छ – “*नित्यं समाहिताश्च बुद्धा भगवन्तः ………*” अर्थात् बुद्धहरू सधै समाधिस्थ हुन्छन् ।

वोधिचर्यावतारमा ध्यान पारमिता नामक आठौं परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त भयो ।

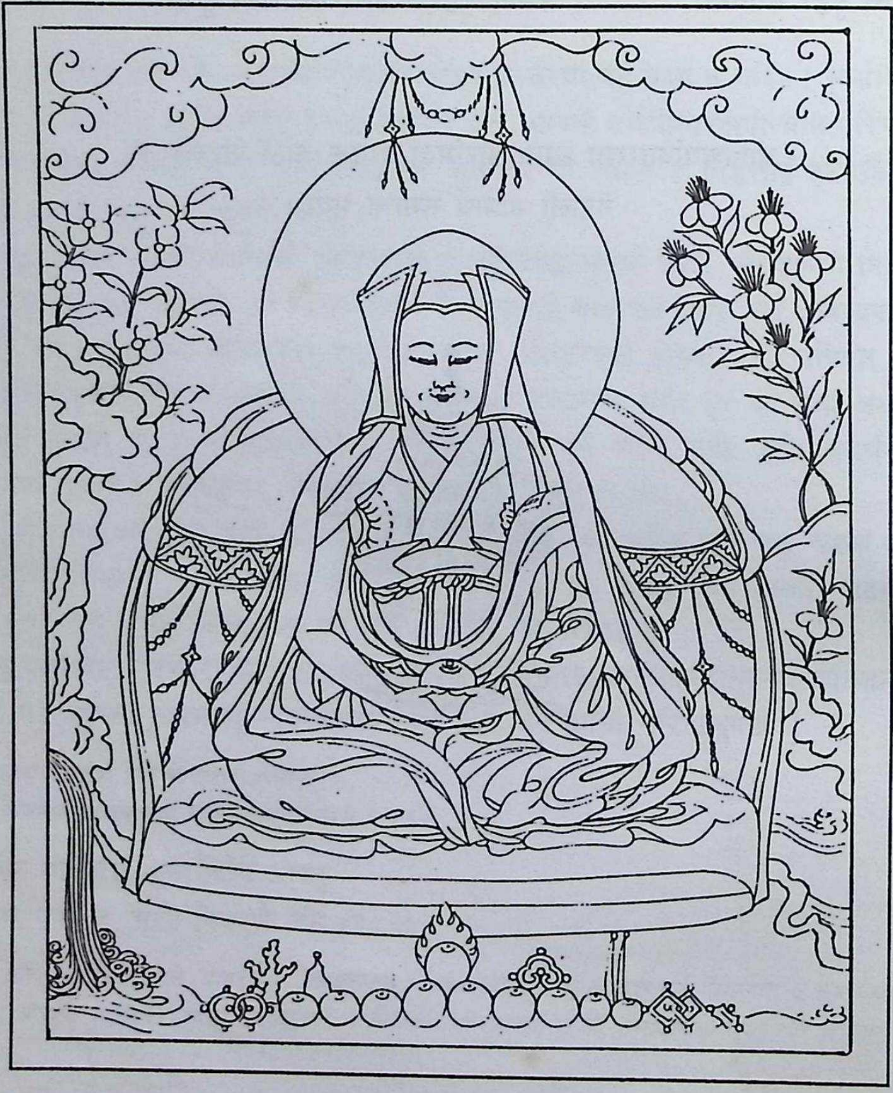

आचार्य गम्पोपा

[एघारौं शताब्दीका तिब्वतका प्रसिद्ध गुरु योगी मिलारेपाका शिष्य विद्वान एवं सिद्ध भिक्षु गम्पोपा। उहाँ तिब्वती बुद्धधर्मको कागयु परम्पराका गुरु हुनुहुन्थ्यो र 'सद्धर्मचिन्तामणिमोक्षरत्नालंकार' जस्ता अत्यन्त महत्वपूर्ण उपदेश ग्रन्थहरुको रचना गर्नुभएको थियो। उहाँका प्रमुख शिष्य दुसुम खेन्पा हुनुहुन्थ्यो जो प्रथम कर्मापा हुनुहुन्छ। कागयुपरम्पराका सम्पूर्ण उपपरम्पराहरू पनि उहाँकै शिष्यहरूद्वारा शुरु भएका हुन्।]

नवौं परिच्छेद

महायान = बोधिसत्वयान
हीनयान = श्रावकयान

प्रज्ञापारमिता

भगवान् बुद्धका शिक्षाहरूको मूल उद्देश्य नै प्राणीहरूलाई यो भवसागरबाट पार लगाएर बुद्धपद दिलाउनु हो। त्यसकारण उहाँको शिक्षाले आदिकल्याण, मध्यकल्याण र पर्यवसान (अन्त) कल्याणको कुरा मात्र सिकाउँछ। त्यस अन्तर्गत जसले राम्रोसँग अभ्यास गर्छन् उनीहरूले आफ्नो र अन्य सत्वहरूको पनि लौकिक अभ्युदय र लोकोत्तर नैःश्रेयस (मोक्ष) को सिद्धि गर्न र गराउन सक्छन्। विशेष गरेर महायान (बोधिसत्वयान) परम्पराको मूल लक्ष्य पनि यही हो। त्यसरी पूर्णरूपमा लौकिक एवं लोकोत्तर स्थितिको चरम सीमामा पुग्नु नै बुद्धता हासिल गर्नु हो। त्यसको लागि मूलतः तीन शिक्षाहरूको अभ्यास हुनु आवश्यक हुन्छ। ती हुन् शील, समाधि र प्रज्ञा। यिनीहरूको क्रमिक अभ्यास नै बुद्धता प्राप्तिको मार्ग हो। सामान्यरूपमा शीलविशुद्धि भएपछि समाधिलाभ हुन सक्छ र समाधि प्राप्त भयो भने प्रज्ञा उत्पन्न गर्न सजिलो हुन्छ। परन्तु अलिकति पनि प्रज्ञा भएन भने शीलकै विशुद्धि पनि हुन सक्दैन। त्यसकारण घुमिफिरि आउँदा प्रज्ञा नै मूल कुरा बन्न जान्छ र मुक्ति या निर्वाणको लागि सबभन्दा प्रमुख र नभै नहुने कुरा पनि यही प्रज्ञा हो।

महायान अनुसार बुद्धताको प्राप्तिको लागि मूल कुरा नै सम्पूर्ण प्राणी (सत्व)हरूको दुःख हटाई बुद्धकै अवस्थामा पुऱ्याउन बुद्ध बन्छु भन्ने सङ्कल्प हुन्छ। त्यो सङ्कल्प चित्तमा उत्पन्न गरिसकेको व्यक्तिलाई बोधिसत्व भन्दछन् र उक्त सङ्कल्प उत्पन्न भइरहेको चित्त बोधिचित्त हो। यस्तो चित्त उत्पन्न हुनलाई करुणा चाहिन्छ र करुणा उत्पन्न हुन दुःख बुझ्नु आवश्यक हुन्छ। सामान्यतया मानिसहरूले दुःख बुझ्न सक्दैनन् किनकि प्रज्ञाको विकास नभएसम्म दुःख पनि पूर्णरूपमा बुझ्न सकिन्न। त्यसैले फेरि पनि प्रज्ञा नै मूल कुरा हुन जान्छ। यद्यपि प्रज्ञाका तह र गहिराइ एवं वैपुल्यता धेरै नै छन् र असीम छन् तापनि मूल रूपमा यसलाई लौकिक र लोकोत्तर प्रज्ञा गरी दुई वर्गमा समेट्न सकिन्छ। जे होस् प्रज्ञाविना लौकिक व्यवहार समेत सिद्ध गर्न सकिन्न भने परम पुरुषार्थको त कुरै गर्नु आवश्यक हुँदैन।

बुद्धत्वप्राप्तिका लागि गरिने महायानका मूल अभ्यास भनेका छ पारमिता हुन्। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान र प्रज्ञा। तीमध्ये अगाडिका पाँच ओटा चाहिं पुण्यसम्भारका अभ्यास हुन् र यिनीहरू मार्फत नै करुणा या उपायको अभ्यास भइरहेको हुन्छ भने छैठौं प्रज्ञा पारमिता स्वयं चाहिं ज्ञान-सम्भारको अभ्यास हो। यी दुवै सम्भार पूर्ण भए भने मात्र बुद्धत्वलाभ हुन्छ। अन्यथा बुद्धता प्राप्ति हुन सम्भव छैन। परन्तु ती अगाडिका पुण्यसम्भारसँग सम्बन्धित अभ्यास याने पाँच पारमिताहरू तब मात्र पूर्ण हुन्छन् जब तिनीहरूको अभ्यास लोकोत्तर प्रज्ञाद्वारा युक्तभएर गर्न सकिन्छ। अन्यथा तिनीहरूलाई पारमिता नै भनिन्न केवल दान, शील, क्षान्ति आदि मात्र भनिन्छ। यही नै दान र दानपारमितामा फरक हो, शील र शीलपारमितामा फरक हो, इत्यादि। दान, शील, आदि त अन्य धर्महरूमा पनि पाईन्छ र बुद्ध धर्मको श्रावकयानमा पनि पाइन्छ, परन्तु दानपारमिता, शीलपारमिता आदि त केवल महायानमा मात्र हुन्छ। यद्यपि पारमी भन्ने चलन श्रावकयान

(थेरवाद) आदिमा पाइन्छ तापनि त्यो त्रिकोटी परिशुद्ध दान, शील, आदि हुँदैन, त्यसैले सम्यक्सम्बुद्धतारूपी फल उत्पाद गर्न सक्दैन। त्रिकोटीपरिशुद्ध हुनु भनेकै प्रज्ञाले युक्त हुनु हो। अतः वास्तवमा सम्पूर्ण कुराहरूको मूल प्रज्ञामा नै हुन्छ र फेरि त्यही प्रज्ञाकै निखारका लागि यी अन्य कुराहरू शास्ताले देशना गर्नुभएको हो।

प्रज्ञा भनेको वस्तुहरूको (धर्महरूको) यथार्थ स्वरूपलाई जे को त्यही जान्नु हो। यहाँ वस्तु या धर्म भन्नाले जड र चेतन सबैलाई जनाउँछ। जस्तै *"यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुतत्वप्रविचयलक्षणा प्रज्ञा।"* अथवा *"स्वसामान्यधर्मलक्षणयथाभूतव्यवचारणा, इति प्रज्ञा।"* भनेर परिभाषित गरिएको छ। धर्महरूको सामान्य लक्षण या यथाभूत लक्षण भनेकै निःस्वभावता अथवा 'शून्यता' भएको हुनाले त्यो जान्नु नै 'प्रज्ञा' हो।

बुद्धिको आफ्नो सीमा हुन्छ। यसले देश, काल आदिबाट सीमित भएर निश्चित परिधिभित्र रही थाहा पाउने गर्छ। आफू पनि सीमित हुन्छ र आफूले थाहा पाउने 'ज्ञेय' वस्तुको पनि अरुबाट छुट्याएर (अपोहबाट) ज्ञान गर्छ र त्यो पनि पूर्णरूपमा नभएर आंशिक रूपमा मात्र। त्यतिमात्र नभएर यसले यथार्थ स्वभावमा आफ्नो तर्फबाट धेरै कुरा थपघट गरेर ग्रहण गरेको हुन्छ। अरु केही नभए पनि सत्ताको समारोप या अपवाद मध्ये एउटा त जहिले पनि गरेकै हुन्छ। यस्तो आरोपित या अपवादित सत्ता-ग्राह नै शाश्वतदृष्टि या उच्छेददृष्टिका कारण हुन् र यिनै दृष्टिबाट सम्पूर्ण तृष्णा, दुःख, आस्मिमान आदिको वृद्धि भइरहन्छ। त्यसलाई काट्नु र जस्तो छ त्यस्तै मात्र थाहा पाएर रहनु प्रज्ञाको स्वभाव भएकोले प्रज्ञाविना दुःखबाट मुक्त हुनु सम्भव हुँदैन र बुद्धता प्राप्त हुने त झन् कुरै आएन।

अतः जसले कल्याणमित्रहरूको सेवा राम्रोसँग गरेको छ, प्राणीहरूको दुःख देखेर दुःखी भएको छ र उनीहरूलाई मुक्त गराउने तीव्र सङ्कल्प गरेको छ, आफ्नो सुखको बारेमा अलिकति चिन्ता पनि गरेको छैन, बुद्धत्व प्राप्त नगर्दै असंख्य प्राणीहरूको हित गर्न सम्भव हुने रहेनछ भन्ने पनि बुझेको छ, त्यही कारणले गर्दा बोधिचित्त उत्पाद गरेर महायानको अभ्यासमा जुटेको छ, त्यस्तो महात्मा व्यक्ति पुण्यसम्भार र ज्ञानसम्भार यी दुई बुद्धताका साधनहरूलाई सिद्ध गर्नको लागि दान, शील, क्षान्ति आदि पारमिताको अभ्यासमा प्रवृत्त भैसकेको हुन्छ। तर पनि यदि ती दान आदि अभ्यासहरू प्रज्ञाले रहित छन् भने बुद्धत्व दिलाउन कदापि सक्दैनन्। अझ वास्तवमा भन्ने हो भने ती अन्य पारमिताहरू पनि प्रज्ञाकै उत्कर्षमा सहयोगी हुने भएकाले प्रज्ञाकै निमित्त ती कुरा बताइएको हो भन्दा पनि हुन्छ। यही कुरा बताउन आचार्य शान्तिदेवले अब शुरु गर्दै हुनुहुन्छ। पहिले पनि उहाँले बताइसक्नुभएको थियो कि–

"शमथेन विपश्यनासुयुक्त" (बोधिचर्यावतार ८.४)

अथवा *"समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन्मुनिः" (शिक्षा समुच्चय कारिका-९)*

शमथको बारेमा त आठौं परिच्छेदमा बताइसक्नुभएको हुनाले अब प्रसङ्ग विपश्यनाको आएको छ र विपश्यना हुनलाई पहिले प्रज्ञा के हो भन्ने विषयलाई नबुझी नहुने भएकोले प्रज्ञाको निरूपण गर्ने सिलसिलामा आचार्य भन्नुहुन्छ–

इमं परिकरं सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ ।
तस्मादुत्पादयेत् प्रज्ञां दुःखनिवृत्तिकाङ्क्षया ॥१॥

भन्नुभो मुनिले जो यो प्रज्ञाकै निम्ति हो सब
अतः उत्पत्ति प्रज्ञाकै गर्नू दुःख हटाउन ॥१॥

अन्वयार्थ : *इमं = यो, सर्वं = सबै, परिकरं = उपक्रमलाई, मुनिः = शाक्यमुनिले, प्रज्ञार्थं हि = प्रज्ञाको लागि नै, जगौ = वयान गर्नुभएको हो, तस्मात् = त्यसकारणले, दुःखनिवृत्तिकांक्षया = दुःख हटाउने चाहनाले (दुःख हटाउने इच्छा छ भने), प्रज्ञां = प्रज्ञाको, उत्पादयेत् = उत्पत्ति गर्नू ।*

यी सबै पहिले बताइएका प्रसंगहरूको बारेमा मुनिले बताएको पनि त्यही प्रज्ञाकै उत्पाद गर्नको लागि हो । त्यसकारण जसले दुःखलाई निवारण गर्न चाहान्छ उसले प्रज्ञाको उत्पाद गर्नुपर्छ ।

प्रज्ञा भनेको अज्ञान अर्थात् अविद्याको विपक्ष याने उल्टो धर्म हो । अविद्याका अर्थ धेरै प्रकारका हुन्छन् र सूत्र एवं शास्त्रहरूमा त्यसको बारेमा विभिन्न दृष्टिकोणबाट विभिन्न प्रकारले वयान गरेको पाइन्छ । तीमध्ये प्रमुख दुइटा छन्–१. वस्तुहरूको यथार्थ स्वरूपलाई नजान्नु अविद्या हो २. वस्तुहरूलाई उल्टो याने विपरीत ढंगबाट जान्नु पनि अविद्या हो । त्यसकारण मिथ्यादृष्टि पनि अविद्याकै स्वरूप हो । आचार्य चन्द्रकीर्ति आदिका अनुसार सम्पूर्ण धर्महरू वास्तवमा निःस्वभाव नै छन् तर पनि यही दोस्रो दर्जाको अविद्याले गर्दा प्राणीहरूले स्वभावसिद्धरूपमा देख्छन् । त्यसकारण धर्महरूलाई स्वभावसिद्ध सत्ताको रूपमा देख्ने र ठान्ने या मान्ने जुन अज्ञानदृष्टि छ त्यसैलाई 'अविद्या' भन्दछन् । उहाँहरूको मतमा द्वादश निदानको पहिलो प्रत्यय अविद्या पनि यही स्वभावदृष्टि नै हो । यसैले नै वस्तुहरूलाई स्वलक्षणतः सिद्ध देख्ने गराउँछ । यो अविद्या नै संसारको जरो हो र सत्कायदृष्टिकै स्वरूप हो । यसलाई क्लेशावरणको जरो पनि भनिन्छ ।

ठीक यसको विपरीत समस्त धर्महरूलाई निःस्वभावरूपमा देख्ने दृष्टिलाई शून्यतादृष्टि भन्छन् । यो उक्त अविद्याको प्रतिपक्ष एवं विरोधी धर्म हो । त्यसैले यस्तो देखाइबाट मात्र त्यो अविद्या नष्ट हुन्छ । त्यसकारण उहाँहरूको मतमा यो ज्ञान नभएसम्म मोक्ष हुने सम्भावना पनि हुँदैन । सर्वबुद्धहरूको मूल उपदेश पनि यही हो । यस्तो देख्नु याने जान्नुलाई नै 'प्रज्ञा' भन्दछन् । त्यसैले प्रज्ञाविना मुक्ति सम्भव छैन भनिएको हो ।

क्लेशावरण अर्थात् यो मूल अविद्याको वासनालाई उहाँहरूको मतमा 'ज्ञेयावरण' भनिन्छ । यो ज्ञेयावरणलाई नाश गर्न पनि पुण्यसम्भारका साथै यो शून्यताज्ञान याने प्रज्ञाको भावना आवश्यक हुन्छ । यी दुवै आवरणलाई प्रहाण गरेपछि (सर्वज्ञता) को सिद्धि हुन्छ । त्यसैले जसरी भएपनि 'प्रज्ञा'को उत्पत्ति गर्नु आवश्यक हुन्छ । त्यसकारण आचार्य शान्तिदेवले पनि यही कुरा बताउनु भएको हो ।

पहिले बताइएका कुरामा दान, शील आदि सबै पर्छन् र ती सबै प्रज्ञा उत्पन्न गर्न सजिलो होस् भनेर नै हो । त्यसमा पनि भर्खरै अघिल्लो परिच्छेदमा बताइएको शमथको निरुपण झन् प्रज्ञाकै लागि हुन आउँछ । जस्तै बताइएको पनि छ–

"समाहितो यथाभूतं पजानाति" (संयुत्तनिकाय, खन्धवग्ग, समाधिसुत्त).

अर्थात् "समाधिमा रहेपछि यथाभूत जान्दछ"। अघि भनिए झैं वस्तुको जस्ताको तस्तै स्वरूपलाई जान्नु 'प्रज्ञा' हो। प्रज्ञाको कार्य हो आफ्नो तर्फबाट केही पनि थपघट नगरी जस्ताको तस्तै ग्रहण गर्नु। प्रज्ञाका अतिरिक्त दान, शील, क्षान्ति, वीर्य ध्यान-यी पाँच पारमिताहरूको अन्तिम प्रयोजन प्रज्ञा उत्पन्न गर्नु नै हो किनकि प्रज्ञा नै सम्यक् सम्बोधिको प्रधान कारणजस्तो हो। धर्महरूलाई केलाउने स्वभाव भएको त्यो प्रज्ञा यद्यपि यी पारमिताहरूमा प्रधान हो तापनि त्यसले मात्र एक्लै सम्बोधि दिलाउन सक्दैन र निरोध या निर्वाणतिर लैजान्छ। त्यसैले सम्बोधिको लागि उपायपक्षको पनि खाँचो हुन्छ, जुन ती बाँकि पाँच पारमिता नै हुन्। त्यसकारण साक्षात् नभए पनि परम्परया यी पाँच पारमिताहरू पनि बोधिको लागि हेतुजस्तै हुन जान्छन्। फेरि प्रज्ञाविना यी पाँच पारमिताहरू 'पारमिता' पनि बन्दैनन् र बुद्धत्व लाभ हुन सक्दैन। जब यिनीहरू प्रज्ञाद्वारा विशुद्ध हुन्छन् तब मात्र यी असीम र निर्बाध हुन पुग्छन्, बुद्धत्व दिलाउन समर्थ पनि हुन्छन्। पारमिता पनि कहलाइन्छन्। आर्य शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमितामा भनिएको छ,

"तद्यथापि नाम, सुभूते, सूर्यमण्डलं चन्द्रमण्डलं च चतुर्षु द्वीपेषु कर्म करोति, चतुरश्च द्वीपाननुगच्छति, अनुपरिवर्तते; एवमेव सुभूते, प्रज्ञापारमिता पञ्चसु पारमितासु कर्म करोति, पञ्चपारमितान् अनुगच्छति, अनुपरिवर्तते, प्रज्ञापारमिताविरहितत्वात् पञ्चपारमिताः पारमितानामधेयं न लभन्ते।"

अर्थात हे सुभूति, जसरी सूर्य र चन्द्रमण्डलले चार द्वीपमा कर्म गर्छन्, चारद्वीपलाई नै घुम्छन्, चार द्वीपकै पछि लागिरहन्छन्, त्यसरी नै हे सुभूति, प्रज्ञापारमिताले पनि पाँच पारमितामा काम गर्छ, पाँच पारमितालाई नै अनुसरण गर्छ। पाँच पारमिताकै पछि लाग्छ। प्रज्ञापारमिताबाट रहित हुने हो भने त पाँच पारमिताले "पारमिता" भन्ने नाम पनि पाउँदैनन्।

दान दिनेवाला दाता, दिइने वस्तु देय एवं दान लिने व्यक्ति प्रतिग्राहक यी तीनै कुरालाई प्रज्ञाद्वारा स्वभावशून्य जानी जानी उक्त दान कर्म गरियो भने त्यसलाई 'त्रिकोटिपरिशुद्ध' दान भन्दछन्। यस्ता त्रिकोटि- परिशुद्ध दान एवं अन्य पारमिताहरूको पनि निरन्तर आदरपूर्वक अभ्यास गरेपछि मात्र अविद्याजनित सम्पूर्ण प्रपञ्चजालहरूको प्रहाण गर्न सकिन्छ र बुद्धत्व लाभ हुन सक्छ। त्यही भएर दान आदि पारमिताहरूलाई 'प्रज्ञाप्रधान' याने 'प्रज्ञा नै मूलमा भएका' भनिन्छ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितामा भनिएको छ–

"तद्यथापि नाम कौशिक, जात्यन्धानां शतं वा सहस्रं वा अपरिणायकानामभव्यं मार्गावतरणाय, कुतः पुनर्नगरानुप्रवेशाय। एवमेव कौशिक, अचक्षुष्काः पञ्च पारमिता जात्यन्धभूता भवन्ति विना प्रज्ञापारमितया अपरिणायकाः, विना प्रज्ञापारमितया अभव्या बोधिमार्गावतरणाय, कुत एव सर्वाकारज्ञता नगरानुप्रवेशाय।"

भन्न खोजेको के हो भने जसरी जन्मान्ध छ भने खुट्टा आदि भए पनि गन्तव्य स्थानमा पुग्न सक्दैन र त्यस्ता जन्मान्धहरू सयौं हजारौं मिलेर पनि कसैलाई गन्तव्य स्थानमा पुऱ्याउन सक्दैनन्। त्यसैगरी प्रज्ञापारमिता विना चक्षुहीन भएका अन्य पाँच पारमिताहरूले पनि बोधिरूपी नगरसम्म पुऱ्याउन सक्दैनन्। प्रज्ञापारमितास्तवमा बताइएको छ –

सर्वपारमिताभिस्त्वं निर्मलाभिरनिन्दिते।
चन्द्रलेखेव ताराभिरनुयातासि सर्वदा ॥८॥

हे अनिन्दित (प्रज्ञापारमिता), तिमी सधैं सबै निर्मल पारमिताहरूद्वारा चन्द्रमा ताराहरूद्वारा पछि लागिए झैं पछिलागिएकी छ्यौ।

हेतु र फलको हिसावले त्यो प्रज्ञा पनि दुई प्रकारको हुन्छ। १. हेतुभूता प्रज्ञा र २. फलभूता प्रज्ञा। हेतुभूता प्रज्ञा पनि फेरि दुई प्रकारका हुन्छन् क) पृथग्जन बोधिसत्वको प्रज्ञा र ख) आर्य बोधिसत्वको प्रज्ञा। त्यसमा पृथग्जन बोधिसत्वको हेतुभूता प्रज्ञा पनि श्रुतमयी, चिन्तामयी र भावनामयी हुँदै क्रमशः उत्कृष्ट बन्दै जान्छ र परिणामस्वरूप आर्य बोधिसत्वको प्रज्ञा बन्न पुग्छ। आर्य बोधिसत्वको प्रज्ञा पनि बोधिसत्वका दश भूमि अनुसार क्रमशः प्रथमभूमिदेखि उच्चतहको हुँदै दशौं भूमिको प्रज्ञासम्म पुग्छ। यसरी दशौं भूमि पार गरेपछि उत्पन्न भएको प्रज्ञा नै बुद्धभूमिको प्रज्ञा हो। यसलाई नै फलभूता प्रज्ञा भन्दछन्। यही नै बुद्धको प्रज्ञा हो र सर्वज्ञज्ञान या ज्ञानधर्मकाय भनेर जानिन्छ।

माथि 'दुःखनिवृत्तिकांक्षया' भनेर बताइयो। यसको मतलब के हो भने नरक, तिर्यक्, प्रेत, मनुष्य, देव, असुर यी ६ गति (कहीं कहीं असुरलाई प्रेत र देवभित्र समेटेर पाँच गति पनि भनिन्छ) कर्म र क्लेशको वशमा परेर निरन्तर घुम्दै जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, शोक, विलौना, अशान्ति, खिन्नता आदि विभिन्न दुःखहरू भोगिरहनुपर्ने अवस्था नै दुःख हो र यसको अन्तिम तहमा सारांशमा पाँच उपादान स्कन्धले युक्त हुनु नै दुःख हुनआउने भएकोले यो दुःखबाट समेत 'निवृत्ति' हुनु नै पूर्णरूपमा सदाका लागि मुक्त हुनु हो। यसलाई आत्यन्तिक दुःखनिरोध पनि भनिन्छ। जसलाई यसको आकांक्षा छ उसले प्रज्ञा उत्पन्न गर्नुपर्छ। प्रज्ञाले अविद्याको निरोध गर्छ, अविद्या निरोध भएपछि संस्कारको निरोध हुन्छ, त्यसबाट विज्ञान (प्रतिसन्धि) को निरोध हुन्छ। एवं क्रमले नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण सबैको निरोध हुन्छ। यसरी द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पादको निरोधले भवचक्र बन्द हुन्छ। दुःखनिवृत्ति भनेको यही हो। यसमा अविद्या, तृष्णा र उपादानको निरोध हुँदा क्लेश पक्षको उच्छेद हुन्छ। त्यस्तै संस्कार र भवको निरोध हुँदा कर्मको उच्छेद हुन्छ र बाँकी सात ओटा प्रत्ययको निरोध हुँदा दुःखको उच्छेद हुन्छ।

यसरी नाश हुने अविद्या क्लेशावरण हो र यसबाटै राग, द्वेष आदि अन्य तृष्णाहरू निस्किने हुनाले यसलाई प्रधान क्लेश भनिन्छ। यसले निर्वाणको साक्षात्कार गर्नमा बाधा पुऱ्याउने भएकोले यसलाई 'क्लेशावरण' भन्छन्। श्रावक र प्रत्येकबुद्धहरूले यसको प्रहाण गरेर यथाशीघ्र निर्वाण लाभ गर्ने चाहना राख्छन्। परन्तु बोधिसत्वहरूले प्राणीहरूलाई दुःखबाट मुक्त गराउन बुद्धता प्राप्ति गर्न चाहने भएकाले क्लेशावरणको मात्र प्रहाण गरेर पुग्दैन। उनीहरूले 'ज्ञेयावरण' भन्ने अर्को आवरणलाई पनि त्याग्नुपर्छ। 'ज्ञेयावरण' भनेको समस्त 'ज्ञेय' धर्महरूलाई ग्राह्य र ग्राहकको भेद सहित ग्रहण गर्ने चित्तको सूक्ष्म वासना हो र चन्द्रकीर्ति आदि प्रासङ्गिक माध्यमिक आचार्यहरूका अनुसार क्लेशावरणकै बीज हो। यसैले नै बुद्धका अद्वितीय गुण र क्षमताहरूको अभिव्यक्तिलाई रोकेको हुन्छ। यदि यो आवरण पनि नष्ट भयो भने उपाय या करुणासँग अद्वय भएको र सम्पूर्ण

श्रेष्ठ आकारहरूले युक्त भएको शून्यता (सर्वाकारवरोपेत शून्यता)को ज्ञान हुन्छ र अप्रतिष्ठितनिर्वाणमा स्थित भइन्छ। बुद्धता भनेको यही हो।

मुनि भनेको भगवान् बुद्धलाई हो। किनकि उहाँको सम्पूर्ण काय वाक् एवं चित्तका कर्महरू निराभोगरूपमा भइरहन्छन् याने कुनै पनि इच्छा, सङ्कल्प आदि नभएरै स्वतः चलेका हुन्छन्। त्यसकारण उहाँको काय-वाक्-चित्त नै सदा मौन रहको हुन्छ। यस्तो परमार्थ 'मौन' गुणले सदा युक्त भइरहनुभएकोले उहाँलाई 'मुनि' भन्दछन्। "मौनात् मुनिः।" मौन भएकोले मुनि।

आगम र युक्तिद्वारा विचार गरेपछि मात्र वस्तुहरूको अविपरीत तत्व विचार हुन सक्छ। त्यसकारण आचार्यले अब दुई सत्यहरूको बारेमा बताउनु हुन्छ –

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम्।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥२॥

परमार्थ र संवृति मानिन्छन् दुइ सत्य यी
नभेट्ने बुद्धिले पहिलो, बुद्धि आफै छ संवृति ॥२॥

अन्वयार्थ : संवृतिः = संवृति (व्यवहार) र, परमार्थश्च = परमार्थ पनि, इदं = यो, सत्यद्वयं = दुईसत्य, मतम् = मानिएको छ बुद्धेः = बुद्धिको, अगोचरः = गोचर नभएको (भेट्न नसकिने भएको), तत्वं = तत्व याने परमार्थ हो, बुद्धिः = बुद्धि चाहिँ, संवृतिः = संवृति भनेर, उच्यते = भनिन्छ।

सत्य दुई किसिमका मानिएका छन्। संवृतिसत्य र परमार्थ सत्य। त्यसमध्ये परमार्थ बुद्धिले समात्न नसकिने हुन्छ भने बुद्धि स्वयं संवृति भनेर बताइएको छ।

संवृति सत्य

"संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्च अनयेति संवृतिः" अर्थात् धर्महरूको यथाभूत स्वरूपको ज्ञानलाई ढाक्ने या लुकाउने र ढाकिएको गलत र अयथार्थ स्वरूपलाई प्रकाशित गर्ने स्वभाव जसको छ त्यही नै संवृति हो। अविद्या, मोह, विपर्यास यी पनि त्यसकै पर्यायवाची शब्द हुन्। *"अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते"* अर्थात् यसले नभएको कुरालाई देखाउँछ र भएको कुरालाई ढाकिदिन्छ। आचार्य चन्द्रकीर्तिले भन्नुभएको छ –

मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः सत्यं तया ख्याति यदेव कृत्रिमम्।
जगाद तत्संवृतिसत्यमित्यसौ मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम् (मध्यमकावतार ६/२८)

"स्वभावलाई ढाक्ने मोह नै संवृति हो र त्यसले जुन सत्यलाई प्रकाशित गर्छ त्यो कृत्रिम कुरा नै हो। मुनिले त्यो सत्यलाई 'संवृति सत्य' भनेर बताउनुभएको छ र उक्त कृत्रिम कुराहरूलाई (हेतु प्रत्ययबाट उत्पन्न भएका) संवृति भन्नुभएको छ।

अतः घट (घडा), पट (कपडा), रूप आदि कृत्रिम वस्तुहरू जसका सामु सत्यको रूपमा प्रकाशित हुन्छन् त्यो मोह या अविद्या नै संवृति हो। यसले ती वस्तुहरूलाई स्वभावतः 'सत्' भनेर ग्रहण गर्दछ। जसरी डोरीमा अज्ञानले गर्दा सर्पको भान हुन्छ त्यसै गरी बुद्धि (अविद्या)ले समस्त धर्महरूको निःस्वभावतालाई ढाकेर स्वभावतः 'सत्' रूपमा ग्रहण गर्छ। त्यसैले अविद्याले ढाकिएको

दृष्टिमा जुन जुन कुरा सत्य लागछन् ती ती कुराहरू 'संवृतिसत्य' हुन्। यसलाई व्यवहारसत्य पनि भनिन्छ।

अविद्या पनि संवृति हो र व्यवहारमा लागू हुने प्रमाण पनि संवृति नै हो। अविद्याद्वारा जेलाई सत्य ठानिन्छ त्यसलाई निषेध गरेर अविद्याको नाश गर्नु शून्यताको मुख्य प्रतिषेध्य विषय हो। परन्तु व्यवहारमा लागू हुने प्रमाण व्यवस्थालाई पनि शून्यताले प्रतिषेध गर्नैं पर्छ भन्ने छैन। किनकि व्यावहारिक कुराका प्रमाणहरूमा आ-आफ्नो विषयसँग झूटो या विसंवाद भन्ने कुरा हुँदैन। व्यवहारमा सबै कुरा पञ्च नियाम र प्रतीत्यसमुत्पाद अनुसार चलेकै हुन्छन्। त्यसैले तिनीहरूको व्यावहारिक सत्यता छ। तर पनि आर्यहरूको समाधिको दृष्टिमा ती दुवै खालका संवृति विषयहरू मिथ्या नै हुन जान्छन्। संवृति सत्य भनेको बाल-पृथग्जनहरूद्वारा उपलब्ध हुने सत्य हो भने परमार्थ सत्य त केवल आर्यहरूले मात्र उपलब्ध गर्छन्। चन्द्रकीर्तिले भन्नुभएको छ कि-

सम्यङ्मृषादर्शनलब्धभावं
रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः ॥
सम्यग्दृशां यो विषयः स तत्त्वं
मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम् ॥ (मध्यमकावतार ६/२३)

"सम्पूर्ण भाव (पदार्थ) हरूले सम्यक् र मिथ्या देखाइका आधारमा दुई किसिमका रूपहरू धारण गरेका हुन्छन्। तीमध्ये जुन चाहिँ सम्यक्दृष्टिवालाहरूको विषय हुन्छ त्यो 'तत्व' हो भने जुन चाहिँ मिथ्यादृष्टिवालाको विषय हुन्छ त्यो संवृतिसत्य हुन्छ भनेर बताइएको छ।"

यो संवृति सत्य भनेको लोकको लागि व्यवहारमा सत्य ठानिने कुरा हो र यो पनि लोकमै प्रचलित हिसावले दुई प्रकारको हुन्छ। १. तथ्य संवृति २. मिथ्या संवृति।

१. तथ्य संवृतिः- लोकमा सामान्य व्यवहारले सत्य मानिएको कुरालाई तथ्यसंवृति भन्छन्। ती विषयहरूलाई चक्षु आदि ६ इन्द्रियहरूमा कुनै पनि प्रकारको विकृति या रोग नलागेको वेला यिनीहरूबाट ग्रहण गरेको अवस्थामा 'तथ्य संवृति' भनिन्छ। लोकमा यिनीहरूबाट गरिएको रूप आदि बाह्य पदार्थहरूको ज्ञान अन्य लौकिक ज्ञानद्वारा बाधित हुँदैन।

२. मिथ्या संवृतिः- मिथ्या संवृति भनेको त्यो हो जुन लोक व्यवहारमा समेत झुठो ठानिन्छ। जस्तै जण्डिस (कमलपित्त), तिमिर (आँखाले जता हेरे पनि रौंका धर्सा देख्ने रोग) मन्त्र, मोहनी, सपना, निद्रा, अन्य कुनै द्रव्य, हेत्वाभास आदि विभिन्न कारणले गर्दा इन्द्रिय एवं मनोविज्ञानमा दूषण आउनाले गर्दा पहेँलो देख्ने, रौंका धर्सा देख्ने, जस्ता भ्रान्त अनुभूतिहरू हुन्छन्। यी अनुभूतिहरूलाई मिथ्यासंवृति भन्दछन् किनकि लोकमै भएका अन्य साधारण ज्ञानबाट यिनीहरू बाधित हुन पुग्छन्। जस्तै कि चन्द्रकीर्तिले भन्नुहुन्छ -

विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां
षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः ॥
सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं
विकल्पितं लोकत एव मिथ्या ॥ (मध्यमकावतार ६ २५)

"छओटै इन्द्रियहरूमा कुनै पनि आघात नभएर लोकले जुन कुरा ग्रहण गर्छ त्यो लौकिक रूपमा सत्य हो र बाँकि लौकिक हिसाबमै पनि मिथ्या मानिएको छ।" त्यस्तै चन्द्रकीर्तिले फेरि पनि भन्नुभएको छ कि –

अज्ञानमिद्धोत्क्षुभितैर्यथा स्वं
प्रकल्पितं यत् किल तीर्थिकैश्च ॥
मायामरीच्यादिषु कल्पितं यत्
तल्लोकतश्चापि न विद्यते हि ॥ (मध्यमकावतार ६. २६)

"जसरी तीर्थिकहरूले अज्ञानरूपी निद्राले क्षुब्ध भएर आत्मा, स्व, प्रधान, ईश्वरजस्ता कुराहरूको कल्पना गरेका छन् ती कुरा र माया, जादू, मृगमरीचिका आदिको माध्यमले देखा पर्ने विभिन्न आकृतिहरू जस्तैः- हात्ती, घोडा, पानी, रुख या पहाड, इत्यादि कुरा पनि लौकिक हिसावले समेत असत् या हुँदै नभएका कुरा मात्र हुन्।" व्यवहारको प्रमाणबाट पनि ती असत् मानिन्छन् किनकि तिनीहरूमा अर्थक्रियाकारित्व पनि हुँदैन, केवल प्रतिभास मात्र हुन् र अज्ञानले देखिएका भ्रान्ति मात्र हुन्।

यसरी लोकमा पनि दुई किसिमको ज्ञान हुने भएकोले लोकको विषय पनि तथ्य संवृति र मिथ्या संवृतिको भेदले दुई प्रकारको हुन्छ। यी सत्यहरूको व्यवस्था केवल लोकमा प्रचलित धारणाको आधारमा मात्र मानिएको हो न कि कुनै आर्यले देख्ने ज्ञानको दृष्टिले। त्यस्तै माध्यमिकहरूको देखाइबाट यो मानिएको पनि होइन। किनभने माध्यमिकको दृष्टिले हेर्दा त लोकमा सत्य भनिएका ज्ञान समेत भ्रान्तिले युक्त छन् र कुनै न कुनै रूपबाट विग्रिएकै हुन्छन्। माध्यमिक दृष्टिमा सत्य याने यथार्थता भनेको त केवल शून्यता हो र बाँकी सम्पूर्ण रूप आदि पदार्थहरू मिथ्या नै हुन्।

परमार्थ सत्य

सम्पूर्ण रूप आदि धर्महरूको वास्तविक स्वरूप निःस्वभावता या शून्यता नै हो। यसैलाई परमार्थ सत्य भन्दछन्। वास्तविक स्वरूप देख्ने आर्यहरूको ज्ञानमा रूप आदि वस्तुहरू झुटा ठहर्छन् किनकि उनीहरूको ज्ञानमा जस्तो प्रतिभासित भएको हुन्छ वास्तवमा यी त्यस्ता हुँदैनन्। परमार्थगवेषक युक्तिद्वारा खोज्दाखेरि तिनीहरूको अस्तित्व डगमगाइहाल्छ। त्यसैले तिनीहरूलाई परमार्थ भनिँदैन। परन्तु शून्यता त्यस्तो झूटो ठहर्ने कुरा होइन। यो त तिनीहरूको अन्तिम यथार्थता हो जोभन्दा श्रेष्ठतर अर्को कुरा छैन। त्यसकारण पनि यसलाई 'परमार्थ सत्य' भनिएको हो। आचार्य चन्द्रकीर्ति भन्नुहुन्छ –

विकल्पितं यत्तिमिरप्रभावात्,
केशादिरूपं वितथं तदेव ॥
येनात्मना पश्यति शुद्धदृष्टि
स्तत्तत्वमित्येवमिहाप्यवेहि ॥ (मध्यमधकावतार ६/२९)

"तिमिर रोगको प्रभावले गर्दा जुन केश आदि गलत या मिथ्या रूप देखिन्छ याने कल्पना गरिन्छ त्यो मिथ्या नै हो। त्यस्तै नै, शुद्धदृष्टिले जे देख्छ त्यो तत्त्व हो भनेर यहाँ पनि बुझ्नू।"

यो परमार्थ सत्य याने शून्यतादृष्टि पारमार्थिक 'सत्ता' भने कदापि होइन भन्ने कुरा पनि बुझिराख्नुपर्छ। कतै फेरि त्यस्तै नहोस् भनेर आचार्य नागार्जुनले शून्यताको शून्यता भनेर बताउनुभएको छ। उहाँ भन्नुहुन्छ -

> शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता नि:सरणं जिनैः
> येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥ (मध्यमक शास्त्र)

अर्थात् "बुद्धहरूले सम्पूर्ण दृष्टिहरूबाट मुक्त हुनुलाई नै शून्यता भन्नुभएको छ। जसले त्यो शून्यतालाई पनि दृष्टि बनाउँछन् ती त असाध्य छन् भन्ने बताउनु भएको छ।" त्यसैले शून्यता पनि कुनै प्रकारको पारमार्थिक दृष्टि होइन। यो त जसरी अन्य प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्महरू छन् त्यसरी नै देख्नु मात्र हो। यसको फेरि आफ्नै स्वभावसिद्ध सत्ता भन्ने कुरा हुँदैन। यसको स्वयंमा अस्तित्व कदापि छैन। यो पनि नि:स्वभाव नै छ। त्यसैले यसलाई 'शून्यता- शून्यता' भनिएको हुन्छ।

त्यस्तो हो तापनि यसलाई आर्य बोधिसत्वहरूले समाहित ज्ञानको अवस्थामा ज्ञान गर्छन् याने अनुभूति हुन्छ। त्यसैले यो निर्विकल्प योगिप्रत्यक्ष्यको विषय हो। त्यसैले अनुभव हुन सक्ने कुरा हो। परन्तु द्वैतप्रपञ्चज्ञान या बुद्धिको साक्षात् विषय नभएकोले बुद्धिको अगोचर हो भनेर बताइएको हो। यहाँ बुद्धि भनेकै यही द्वैत-ग्राहक बुद्धि हो र सविकल्पक हो। त्यसैले शून्यता यसको गोचर हुन सक्दैन। परन्तु प्रतीत्यसमुत्पादका हेतु प्रत्यय आदिको माध्यमबाट जब अनुमान गरिन्छ तब परम्परया अनुमानको विषय पनि यो बन्न जान्छ तैपनि त्यो सविकल्पक नै हुने भएकोले केवल अनुमान प्रमाणको विषय मात्र हो र साक्षात् शून्यता होइन। शून्यताको अनुमान हो। यो अनुमान यद्यपि विपश्यनामा सहयोगी हुन्छ र शून्यतालाई औंल्याउन मद्दत गर्छ तापनि साक्षात् शून्यता भने होइन। साक्षात् शून्यता त केवल आर्यहरूको समाहित अवस्थाको निर्विकल्प ज्ञानको विषय मात्र हुन्छ। त्यसवेला त्यहाँ ज्ञाता - ज्ञेय, ग्राह्य-ग्राहक आदि द्वैतभाव या 'बुद्धि' भन्ने हुँदैन।

यहाँ यो प्रश्न उठ्न सक्छ कि यी दुई सत्यहरू मात्र किन हुन् ? के अरु पनि सत्य हुन सक्दैनन् ? अथवा यी दुई सत्यमध्ये एउटा कमसल खालको र अर्को साँच्चिकै ठीक सत्य हो कि ? त्यसैले आचार्यले भन्नु हुन्छ कि "संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम्" यहाँ 'संवृति' र 'परमार्थ' दुवै समान हिसावले सत्य मानिएका छन्। किनकि त्यहाँ 'च' को प्रयोग भएको छ। यसको तात्पर्य नै दुवै सत्य अविपरीत रूपमा ठीक छन् भन्ने हो। लोकको दृष्टिबाट संवृति सत्य पनि त्यत्तिकै साँचो हो भने आर्यहरूको दृष्टिमा परमार्थ सत्य पनि त्यत्तिकै साँचो हो। 'च'ले अर्को के पनि जनाउँछ भने सत्य भनेका यिनै दुई मात्र छन् र अर्को छैन। यो कुरा पितापुत्रसमागम सूत्रमा पनि देख्न सकिन्छ -

> "सत्य इमे दुवि लोकविदूनां
> दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषाम्।
> संवृति या च तथा परमार्थो
> सत्यु न सिध्यति किं तृतीयु ॥"

अर्थात् "लोकविद्हरू (बुद्ध)ले अरूबाट सुनेर होइन आफैले देखेर सधै यिनै दुई सत्यहरूको नै देशना गर्नुभएको छ जुन संवृतिसत्य र परमार्थसत्य हुन्। वास्तवमा केलाउँदा त्यही त सिद्ध

हुँदैनभने तेस्रो त झन् कहाँबाट सिद्ध हुनु ?"

अब प्रश्न उठ्छ, त्यसो भए भगवान्‌ले अभिधर्ममा चार आर्यसत्यहरू भनेर दुःख-समुदय-निरोध-मार्गलाई बताउनु भएको गलत हो ? कसरी ती दुई सत्यमात्र हुन सक्छन् ? यो ठीक हो परन्तु त्यो त विनेयजनहरूको आशय र अनुशयका आधारमा खोलेर बताउँदाखेरि चारओटा बनाउनुभएको मात्र हो। यिनीहरू त दुई सत्य भित्रकै कुरा हुन्। दुःख-समुदय-मार्ग यी सत्यहरू संवृति सत्य हुन् भने निरोध सत्य परमार्थ सत्य हो। त्यसकारण त्यहाँ कुनै पनि विरोध छैन।

संवृति भनेको अविद्याले देखाइएको र नभएको कुरालाई समारोप गरेर देखिएको हुनाले विचार गर्ने वित्तिकै भत्किहाल्छ भने कसरी त्यसलाई फेरि 'सत्य' भनियो त ? यो पनि ठीकै कुरा हो, तर त्यसलाई सत्य भनिएको कारण लोकको आधारमा हो। लोक भनेकै संवृति सत्य हो। यदि लौकिक हिसाबले यसलाई साँचो नमान्ने हो भने त खाना खानु, बोल्नु, दुःख, दुःखबाट मुक्ति यी केही पनि गर्नु भएन। त्यसैले लोकको अपेक्षाबाट भगवान्‌ले पनि संवृतिसत्य भनेर स्वकार्नुभएको हो। त्यही भएर आचार्यले पनि "लोकसंवृति सत्यं' भनेर उल्लेख गर्नुभएको छ। वास्तवमा त परमार्थ सत्य मात्र एउटा सत्य हो। त्यसैले कुनै हानि छैन। यो कुरा भगवान् स्वयंले पनि बताउनुभएको छ- *"एकमेव भिक्षवः परमं सत्यं यदुत अप्रमोषधर्मनिर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माणः" - (महावस्तुग्रन्थबाट)* अर्थात् "भिक्षु हो, परम सत्य त एउटै मात्र छ, त्यो हो कहिल्यै झूटो नहुने निर्वाण धर्म। बाँकी सम्पूर्ण संस्कारहरू त मिथ्या हुन् र झूटो स्वभाववाला हुन्।"

यहाँ यो पनि बुझिराख्नुपर्छ कि परमार्थ सत्य बुद्धिको विषय नभएकोले त्यसको कुनै प्रकारले प्रत्यक्ष देशना गर्न सकिँदैन। त्यो त अवाच्य, अनभिलाप्य, अचिन्त्य छ। तैपनि दृष्टान्त, अनुमान आदिबाट त्यसलाई औँल्याउने कामको लागि बुद्धि याने संवृतिसत्यको सहारा चाहिन्छ। त्यसैले व्यवहारसत्य (संवृति सत्य)मा रहेर परमार्थ सत्यको देशना गरिएको हुन्छ। नत्र त त्यो परमार्थ भनेको कुन चराको नाम हो भन्ने पनि कसरी थाहा पाउने ? त्यसैले उपायस्वरूप व्यवहारले काम गर्छ। आचार्य नागार्जुनले त्यही भएर यस्तो भन्नुभएको छ -

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते। (मध्यमक शास्त्र २४.१०)

अर्थात् व्यवहारको आश्रय नलिइकन परमार्थको देशना गर्न सकिँदैन र परमार्थमा नआइपुगदै निर्वाणको साक्षात्कार हुँदैन।

त्यसकारण परमार्थसत्य भनेको 'उपेय' हो भने व्यवहारसत्य भनेको 'उपाय' हो। आचार्य चन्द्रकीर्तिले पनि त्यही भन्नुहुन्छ -

"उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्"। (मध्यमकावतार ६.८)

अब संवृति र परमार्थका भेदले दुई किसिमका सत्य भएकाले तिनीहरूलाई जान्ने लोक (जनसमुदाय) पनि दुई किसिमका हुन्छन् भन्ने कुरा बताउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तया
तत्र प्राकृतको लोको यागिलोकेन वाध्यते ॥३॥

योगी र प्राकृत गरी दुई छन् व्यक्तिका थरी
न मिले योगिलोकैमा झुटो मानिन्छ त प्राकृती ॥३॥

अन्वयार्थ : तत्र = त्यसमा, लोकः = मानिसहरू (पुद्गलहरू) द्विधा = दुई प्रकारका, दृष्टः = देखिएका छन् । योगी = योगी, तथा = र, प्राकृतकः = सामान्य (प्राकृतिक) । तत्र = त्यसमा पनि, प्राकृतकः = प्राकृत, लोकः = लोक (मानिसहरू योगिलोकेन = योगिलोकद्वारा, बाध्यते = बाधित हुन्छन् ।

त्यसमा लोक अर्थात् व्यक्तिहरू दुई किसिमका हुन्छन् । एक थरीलाई 'योगी' भन्छन् र अर्काथरीलाई 'प्राकृतक' अथवा 'सामान्य' भन्छन् । त्यसमध्ये योगिलोकका दृष्टिमा सामान्यलोकको देखाई बाधित हुन सक्छ याने असिद्ध हुन सक्छ ।

दुई सत्यहरूलाई थाहा पाउन सबैले सक्दैनन् । त्यसैले जसले संवृति सत्यलाई मात्र देख्दछन् तिनीहरूलाई 'प्राकृतक' भनिन्छ । ती सामान्यजनहरू हुन् । तिनीहरूलाई बालजन, पृथग्जन पनि भनिन्छ । 'प्रकृति' भनेको संसारको कारण अविद्या नै हो, तृष्णा नै हो । त्यसबाटै लपेटिएका, उत्पन्न भएका हुनाले 'प्राकृतिक' भनिएको हो । यिनीहरूले भ्रान्तिले गर्दा यथाभूत तत्वलाई नदेखेर विपर्यास दृष्टिले उल्टो नै देखिरहेका हुन्छन् ।

त्यसै गरी जसले परमार्थ सत्यलाई देख्छन् उनीहरूलाई 'योगी' भनिन्छ र उनीहरूको जमात योगिलोक हो । 'योग' भनेको सर्वधर्महरूको अनुपलम्भ (उपलब्धि नहुनु) अर्थात् शून्यतालाई आलम्बन गरेको समाधि हो *("योगः समाधिः सर्वधर्मानुपलम्भलक्षणः" -प्रज्ञाकरमति)* । त्यस्तो योगले युक्त भएको व्यक्तिलाई 'योगी' भनिन्छ । योगीले परमार्थ तत्वलाई अविपरीत रूपमा देख्न सक्छ । त्यसकारण यी दुईथरी व्यक्ति मध्ये योगीले देखेको ठीक हुने र प्राकृतिकले देखेको मिथ्या हुने हुन्छ । त्यसैले निर्धारण गर्नुपर्‍यो भने योगीले देखेकोबाट प्राकृतकले देखेको कुरा असिद्ध हुन जान्छ । किनभने योगीहरूको बुद्धि व्यवहारमा पनि विशिष्ट हुने हुन्छ ।

उदाहरणको लागि 'तिमिर' भन्ने रोग लागेको व्यक्तिले देखेको 'रौंको गुजिल्टो'को ज्ञान तिमिर रोग नलागेको स्वस्थ आँखा हुने व्यक्तिले देखेको ज्ञानको आधारमा असिद्ध ठहर्छ न कि त्यसको विपरीत । त्यसै गरी यहाँ पनि योगिको ज्ञानका सामु सामान्य जनको ज्ञान असिद्ध हुन्छ । न कि सामान्य जनको ज्ञानका सामु योगीको ज्ञान । त्यसैले आचार्य चन्द्रकीर्ति भन्नुहुन्छ-

> न बाधते ज्ञानमतैमिराणां यथोपलब्धं तिमिरेक्षणानाम् ।
> तथामलज्ञानतिरस्कृतानां धियास्ति बाधा न धियो ऽ मलायाः ॥ (मध्याकावतार ६.१७)

अर्थात्, "जसरी तिमिर रोग लागेकाले देखेको ज्ञानले तिमिर नलागेका आँखा हुनेहरूले उपलब्ध गरेको ज्ञानलाई असिद्ध गराउन सक्दैन त्यसैगरी निर्मल ज्ञानले रहित भएकाहरूको बुद्धिले निर्मल बुद्धिलाई बाधा गर्न (असिद्ध पार्न) सक्दैन ।" त्यसैले प्राकृतिकको ज्ञान नै भ्रान्त हुन्छ । के योगीहरूको पनि कहिल्यै असिद्ध मानिन्छ कि प्राकृतिकको मात्र असिद्ध हुने हो ? भन्ने प्रश्नमा आचार्य भन्नुहुन्छ -

> बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनो ऽ प्युत्तरोत्तरैः ।
> दृष्टान्तेनोभयेष्टेन कार्यार्थमविचारतः ॥४॥

उच्च बुद्धि विशेषैले बाधिन्छन् तलका अरु
मान्य दृष्टान्तले, कार्य गर्छन् निश्चिन्त भै सुरु ॥४॥

अन्वयार्थ : योगिनः अपिः = योगीहरू पनि, उत्तरोत्तरैः = उच्च उच्चभूमिको, धीविशेषेण = बुद्धिको विशेषताले गर्दा, वाध्यन्ते = बाधित हुन्छन् (असिद्ध हुन्छन्) उभयेष्टेन = दुवैपक्षलाई मिल्ने, दृष्टान्तेन = उदाहरणबाट सिद्ध हुन्छ, कार्यार्थं = आचरण गर्नको लागि त, अविचारतः = विचार नगरेरै (प्रवृत्त भएका हुन्छन्) ।

योगीहरूमा पनि उच्च उच्चभूमिका योगीहरूको बुद्धि (चित्त)को विशेषताले गर्दा तल्लो भूमिका योगीहरू बाधित हुन्छन् याने असिद्ध ठहर्छन् । अर्थात् तल्लो तहको भूमिका योगीभन्दा उच्चतहका योगीको देखाई बढी प्रामाणिक हुन्छ । यहाँ भूमि भनेको आर्य बोधिसत्वहरूको भूमिलाई हो । यी भूमिहरू दश ओटा हुन्छन् । सर्वप्रथम शून्यताको अविकल्प साक्षात्कार भए पछि 'प्रथम' भूमिमा आरोहण हुन्छ जसलाई प्रमुदिताभूमि भन्दछन् । त्यसपछि बोधिसत्वले अझै भूम्यावरण, समापत्त्यावरण, क्लेशावरणका अनुशयहरू एवं ज्ञेयावरणहरूलाई नष्ट पार्दै गएपछि उसको चित्त झन् झन् शोधन हुँदै जान्छ र प्रज्ञा पनि झन् तीक्ष्ण एवं विशुद्ध बन्दै जान्छ जसले गर्दा तत्वको यथाभूत ज्ञान पनि झन् स्पष्ट हुँदै जान्छ । त्यसपछि विशेष गुणहरू पनि प्रादुर्भाव हुँदै जान्छन् । यो क्रममा उसले द्वितीय (विमला), तृतीय (प्रभाकरी), चतुर्थ (अर्चिष्मती) पाँचौं (सुदुर्जया) र क्रमशः अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती एवं दशौ भूमि (धर्ममेघा)लाई पार गर्छ । त्यसकारण यी माथिल्ला भूमिमा स्थित भएकों योगीको ज्ञानको तुलनामा तल्ला भूमिमा स्थित योगीको ज्ञान असिद्ध हुन्छ । ज्ञान र गुणको प्रखरतामा पनि प्रमुदिता भूमिवाला बोधिसत्वको तुलनामा विमला भूमिवाला बोधिसत्व उच्चतहको हुन्छ, त्योभन्दा प्रभाकरी भूमिवाला झन् बढी हुन्छ । त्यसैले प्रामाणिकतामा पनि माथिल्लो भूमिको बोधिसत्व बढी प्रामाणिक हुन्छ ।

अब प्रश्न उठ्छ कि योगीको ज्ञानमा भूमिको धी (बुद्धि) विशेषले गर्दा उत्तरोत्तर प्रामाणिकता सिद्ध हुनु ठीकै हो तापनि प्राकृतिकजनहरूको ज्ञान भ्रान्त हो भन्ने कसरी सिद्ध हुन्छ ? यसको उत्तरमा आचार्य भन्नुहुन्छ -

"दृष्टान्तेनोभयेष्टेन" - अर्थात् दुवैलाई मान्य हुने दृष्टान्तद्वारा । कुनै पनि कुरालाई प्रमाणित गर्नको लागि स्वपक्ष र परपक्ष दुवैलाई मान्य हुने दृष्टान्त दिनुपर्छ । तथागतले सूत्रहरूमा सम्पूर्ण धर्महरू निःस्वभाव छन् भन्ने देखाउन माया, मृगतृष्णा (मृगमरीचिका), सपना, गन्धर्वनगर, प्रतिबिम्ब जस्ता दृष्टान्तहरू दिनुभएको छ । यी दृष्टान्तहरु निःस्वभाव र सारहीन देखाउने कुरामा योगीजन र सामान्य प्राकृतिक जनलाई पनि मान्य छन् किनकि सपना, माया, मरीचि जस्ता कुरा अवास्तविक हुन् भन्ने कुरा त जनसाधारणलाई पनि पत्यार लाग्छ । योगीहरूले परमार्थ सत्य पनि देख्ने भएकोले उनीहरूले यी रूप, आदि लौकिक पदार्थहरू पनि निःस्वभाव र सार-हीन देख्छन् । त्यसकारण स्वप्न, माया जस्ता कुरा दुवैलाई मान्य हुने भएकाले त्यो दृष्टान्तबाट सिद्ध हुन्छ कि देख्न सक्ने व्यक्तिलाई लौकिक पदार्थ पनि निःस्वभाव लागदछ । त्यसैले तिनीहरूको देखाइका सामु लौकिक व्यक्तिको देखाई असिद्ध हुन जान्छ ।

फेरि प्रश्न उठ्छ कि यदि सबै धर्महरू निःस्वभाव हुन् भन्ने जान्ने हो भने त्यो व्यक्ति

(बोधिसत्व) फेरि किन पुण्यसम्भार पूरा गर्न भनेर दान आदि छ पारमिताको अभ्यासमा लागिरहन्छ त ? किनकि उसले त शून्यता देखिसक्यो, सबै धर्म निःस्वभाव हुन् भन्ने जानिसक्यो ? यसको उत्तर दिंदै आचार्य भन्नुहुन्छ –"कार्यार्थमविचारतः" अर्थात् 'कार्य गर्नको लागि उनीहरूले विचारै गर्दैनन्।' बोधिसत्त्वको कार्य अथवा लक्ष्य भनेको बुद्धता हो। त्यसैले त्यसको प्राप्तिको लागि उनीहरूले 'यो निःस्वभाव भएकोले यसले फल दिंदैन कि भन्ने विचार गर्दैनन्। किनभने त्यो आवश्यक छैन। निःस्वभाव हुँदैमा या सारशून्य हुँदैमा कार्यकारणताको नियम बिग्रिँदैन। लक्ष्य प्राप्तिमा कुनै विरोध पनि हुँदैन, बाधा पनि हुँदैन, बरू सघाउ नै हुन्छ। किनभने सबै धर्महरू शून्य छन् भन्ने कुरा निश्चित रूपमै ठीक हो तापनि प्रतीत्यसमुत्पाद त्यहाँ नटुटेको हुनाले र शून्यता एवं प्रतीत्यसमुत्पाद दुई विरोधी धर्म नभएर एउटै तथ्यका दुई वेग्लै स्वरूप मात्र भएकोले। त्यसैले नागार्जुनले भन्नुहुन्छ –

> "यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता" – (अचिन्त्यस्तवः)

"जुन प्रतीत्यसमुत्पाद हो शून्यता पनि त्यही हो भन्ने हजूरको मत छ।" त्यस्तै अनवतप्तहृदापसंक्रमणसूत्रमा पनि भनिएको छ,

> "यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तः"

अर्थात् जो हेतुप्रत्ययमा आश्रित हुन्छ त्यो शून्य हुन्छ। त्यसकारण शून्य धर्महरूबाटै शून्य धर्महरूको उत्पाद हुन्छ। अतः पुण्यसम्भार आदि कार्यमा लाग्नुमा शून्यताले गर्दा नै सम्भव हुन्छ। बरु यदि यी धर्महरू निःस्वभाव नभएर स्वभावसिद्ध अस्तित्ववाला (अशून्य) भैदिएको भए पुण्य आदि गर्ने सम्भावना पनि हुने थिएन, कुनै प्रयत्न गरेर कतै पुगिन पनि सम्भव हुँदैनथ्यो, अनि मात्र त्यस्तो प्रश्न सार्थक हुन्थ्यो। यहाँ त त्यो प्रश्न नै मिल्दैन।

अर्को हिसाबले हेर्दा, यी दान आदि पुण्यकर्महरू व्यवहारसत्य हुन् र व्यवहार सत्यबाटै परमार्थ सत्यसम्म पुग्ने उपाय हुने भएकोले उपाय-उपेय सम्बन्धले पनि यी गर्नु बोधिसत्वलाई आवश्यक हुन जान्छ। अझ वास्तवमा यिनीहरूको अभ्यासमा त्रिकोटिपरिशुद्धतालाई मिलाएर लग्ने हो भने मात्र बुद्धत्व (परमार्थ) प्राप्तिको हेतु हुन जान्छ। त्रिकोटिपरिशुद्धताले युक्त हुनु भनेकै यी पारमितासँग सम्बन्धित सबै पक्षहरू शून्य, निःस्वभाव छन् भन्ने देखी देखी यिनै कर्महरू गर्नु हो। त्यसैले सबै धर्मको निःस्वभावता देखेर यी सम्भारमा प्रवृत्त नहुने होइन अपितु देखेरै प्रवृत्त हुनुपर्छ। यही नै बोधिसत्वको सही मार्ग हो। फेरि प्रतीत्यसमुत्पादको शक्ति नै अचिन्त्य छ, त्यसैले यी कर्महरूद्वारा उपायकुशल भई अभ्यास गरेमा बुद्धताको लाभ हुन्छ। त्यसैले बोधिसत्वहरूले यसमा कुनै आपत्ति देख्नुपर्दैन र विचार नगरेरै प्रवृत्त हुन्छन्।

अब फेरि प्रश्न उठ्छ, यदि त्यसो हो भने जुन कुरा प्राकृतिक जनहरूले देख्छन् योगीजनले पनि त ती कुरा नै देख्छन् भने फेरि यी दुईको देखाइको बिचमा कहाँ भेद भयो त ? यसमा आचार्य भन्नुहुन्छ –

> लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चापि तत्वतः।
> न तु मायावदित्यत्र विवादो योगि-लोकयोः ॥५॥

लोकले देख्दछन् भाव कल्पिन्छन् पनि तत्वतः
न कि मायासरी, यो नै योगीसँग विवाद छ ॥५॥

अन्वयार्थ : लोकेन = लोकले, भावा: = भाव पदार्थहरू दृष्यन्ते = देखिन्छन् र, तत्वत: = सत्य हुन् (तत्व हुन्) भनेर, कल्प्यन्ते अपि = कल्पना पनि गरिन्छन्, न तु = न कि, मायावत् = माया समान ठानेर, अत्र = यही विपयमा, योगिलोकयो: = योगी र लोकको विचमा, विवाद: = भेद छ ।

सामान्य जनहरूले विभिन्न यी भावपदार्थ (रूप आदि)लाई साँच्चिकै वास्तविक छन् भन्ने देख्दछन् र अझ ती वास्तविक नै हुन् भन्ने कल्पना समेत गर्दछन्। उनीहरूले यी सबै मायासमान (जादूगरको जादू जस्तै)का हुन् भन्ने देख्दैनन् जबकि योगीले त्यस्तो देख्छन्। त्यसैले यही नै योगी र सामान्यजन (लोक)हरूको बिचमा भेद याने विवाद हो । योगीहरूको देखाइमा यी सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थहरू माया (जादू) समानका हुन्छन् । यी पदार्थहरू भौतिक या मानसिक जे सुकै भए पनि विभिन्न हेतु र प्रत्ययहरूको आश्रयबाट हुन्छन्। त्यसैले यिनीहरूलाई 'भाव' पनि भनिन्छ *(हेतुप्रत्ययं प्रतीत्य भवन्ति स्वरूपं लभन्त इति भावा: - प्रज्ञाकरमतिको पञ्जिका, बो. च.)* । त्यसकारण योगीहरूले देख्छन् कि यी सम्पूर्ण भावहरूको आफ्नो निजी पारमार्थिक रूप केही पनि छैन। यी सबै कुरा स्वभावहीन याने निःस्वभाव छन्। भाव शब्दले यहाँ निःस्वभावतालाई जनाइएको हुन्छ, त्यही बुझिएको, त्यही देखिएको हुन्छ। जसरी एउटा जादूगरले आफ्नो माया (जादू)बाट बनाएको हात्ती आदि रूपलाई त्यो विभिन्न कारण सामग्रीहरूको माध्यमबाट देखा परेको आकृति मात्र हो र वास्तविक हात्ती त्यहाँ छैन भन्ने देखिरहेको हुन्छ त्यसै गरी योगीले पनि यी सम्पूर्ण भावहरू ठीक त्यस्तै जादू (माया) समानका नै हुन् र तत्वतः यहाँ त्यस्ता भावहरू छैनन् भन्ने देखिरहेको हुन्छ।

परन्तु एक सामान्य जनले त्यस्तो मायासमानको देख्न सक्दैन र यी भावपदार्थहरू त्यस्ता माया समानका छन् भन्ने कल्पना गर्न पनि सक्दैन। सामान्यजनको त्यस्तो सांसारिक हेराइमा जहिले पनि यी भावपदार्थहरू सत्, साँच्चिकै त्यहाँ भएका, आफ्नै स्वतन्त्र भित्री सहज अस्तित्व भएका (Inherently existing) नित्य, शाश्वत, र पारमार्थिक रूपमै त्यस्तै छन् भन्ने देखिएको हुन्छ। उनीहरूले यी भावहरूलाई तत्त्वः वास्तविक छन् भन्ने हिसाबले देख्छन्। त्यतिमात्र होइन यी जस्ता देखिएका छन् त्यस्तै नै छन् भन्ने विश्वास र त्यस्तै रूपमा कल्पना समेत गर्दछन्। सामान्य लौकिक जनले मूर्त भाव पदार्थहरूलाई पनि तत्वतः पारमार्थिक ठान्छन् भने अबौद्ध बालजनहरूले अमूर्त भावहरूमा आफ्नो परम्परा र गहिराइअनुसार तत्वको अध्यवसाय (निश्चय) गर्दछन्।

त्यसकारण योगीहरूमा र लोकमा यही दृष्टिकोण र त्यसअनुसारको अनुभवमा फरक छ। यसको अभिप्राय के हुनआउँछ भने सम्पूर्ण भावहरूको दुई किसिमको स्वरूप देखिने हुन्छ। एउटा पारमार्थिक स्वरूप र अर्को लौकिक स्वरूप। जस्तै मध्यमकावतारमा भनिएको पनि छ– *"रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः"*। त्यसमा लोकले देखिने रूपलाई सांवृतिक या व्यावहारिक रूप भन्दछन् भने योगीहरूले देखिने रूपलाई पारमार्थिक रूप भन्दछन्। जस्तै मन्त्र, औषधि, अन्य द्रव्य, गाजल आदि विभिन्न प्रत्ययसामग्रीको कारणले आँखामा भ्रम पैदा भएपछि सामान्य जनले हात्ती, नोट, पानी जस्ता विभिन्न रूप देख्छ भने ती सिर्जना गर्ने जादूगरले तिनीहरूको वास्तविक यथार्थतालाई

(साँच्चिकै हात्ती आदि त्यहाँ नभएको) देखेको हुन्छ। योगी र लोकको पनि ठीक त्यस्तै किसिमको दृष्टिभेद छ भन्ने बुझ्नुपर्छ।

त्यसो भए फेरि प्रश्न उठ्छ कि सम्पूर्ण जनहरूले प्रत्यक्षरूपमा प्रमाण हुने गरी अनुभव गरिएका यी सम्पूर्ण वस्तुस्वरूपहरूको अर्थक्रियाकारित्व पनि देखिएकै छ भने कसरी यिनीहरूलाई ख्वात्तै नकार्न सकिन्छ ? त्यसैको उत्तरदिँदै आचार्य भन्नुहुन्छ –

प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणतः।
अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥६॥

ख्यातिले रूप प्रत्यक्ष हुन्छन् न कि प्रमाणले
शुचि देख्ने अशुचिमा जस्तै झूठो त ख्याति छ ॥६॥

अन्वयार्थ : रूपादि = रूप आदि भावहरू, प्रसिद्ध्या = ख्याति या प्रसिद्धिले गर्दा, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष भएका हुन्, अपि = तापनि, प्रमाणतः = प्रमाणबाट, न = होइनन्, सा = त्यस्तो प्रसिद्धि त, अशुच्यादिषु = अशुचि आदिकुरामा, शुच्यादिप्रसिद्धिः इव = शुचि आदिको प्रसिद्धि जस्तै, मृषा = झूटो हो।

यहाँ जुन रूप आदि भावहरूलाई प्रत्यक्ष मानिन्छ त्यो प्रसिद्धिले गर्दा मानिएको हो। त्यो त लोकको रूढिबादले गर्दा भएको हो। यहाँ आदि भन्नाले शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य आदि अठार धातुहरू या वेदना, संज्ञा आदि पञ्चस्कन्धहरू सबैलाई बुझ्नुपर्छ। यी सबै कुरा साँच्चिकै त्यस्ता 'सत्' छन् भन्ने कुरा प्रमाणबाट त सिद्ध हुँदैन।

बरु व्यवहारमा यिनीहरूलाई प्रमाण मानिने भएकोले यिनीहरूको स्वरूप पनि व्यावहारिक नै हुन्छ। अतः यिनीहरू व्यवहारमा प्रत्यक्ष हुनुले व्यवहारमा प्रमाण दिन्छ। त्यसबाट परमार्थमा कुनै पनि प्रमाण हुँदैन र परमार्थ स्वरूपलाई त्यो प्रत्यक्षले सिद्ध गर्न सक्दैन। यदि व्यवहारमा ती जस्तोरूपमा प्रत्यक्ष भएका छन्, परमार्थमा पनि त्यस्तै हुन् भन्ने प्रमाणित हुने भए त सबै तत्वज्ञानी भैहाल्थे। किन यी सारा तत्वज्ञानका फजूल कुरा चाहिन्थ्यो ? त्यही भएर आर्य नागार्जुन भन्नुहुन्छ –

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत्तत्वेन भवेद् यदि
जातास्तत्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा ॥ (अचिन्त्यस्तवः)

अर्थात् "यदि इन्द्रियद्वारा जे उपलब्ध हुन्छ त्यो नै तत्त्वतः साँचो हुने भए त बालकहरू पनि (अज्ञानीहरू पनि) तत्त्ववित् भैहाल्थे अनि फेरि यो तत्त्वज्ञान भन्ने कुरा कसलाई र किन चाहिन्थ्यो ?"

त्यसकारण वस्तुको तात्त्विक स्वरूपको ज्ञान त परमार्थगवेषक युक्ति र योगिप्रत्यक्षबाट मात्र हुन सक्छ। पुनः यस्तो प्रश्न उठ्न सक्छ कि प्रत्यक्ष भएर पनि यी रूप आदि कुराहरू प्रमाणबाट उपलब्ध छैनन् भन्ने हो भने कसरी त्यसको प्रसिद्धि हुन्छ त ? यदि प्रसिद्धि भइरहेको छ भने त्यो कसरी गलत या झूटो हुन सक्छ ? यसको उत्तरमा आचार्य भन्नुहुन्छ कि लोकमा स्त्री, पुरुष आदिको शरीर वास्तवमा मल, मूत्र, कफ, पित्त, रगत थूक, सिंगान, पिप, र्‍याल आदिले भरिएको अशुचि नै छ तापनि यसलाई सबै कामासक्त व्यक्तिहरूले राम्रो, सुन्दर र शुद्ध जस्तो ठान्छन्। प्रसिद्धि भएको र वास्तविकतामा अन्तर देखिन्छ। त्यस्तै साधारण लौकिक मानिसहरूले पनि अनित्य, दुःख, अनात्मा, शून्यता आदिलाई नित्य, सुख, आत्मा आदिरूपमा उल्टो किसिमले

देख्छन् । त्यसरी प्रत्यक्ष भएको ज्ञान त विपरीतज्ञान हो । त्यो ज्ञान मिथ्या ज्ञान नै हुन्छ ।

यदि प्रत्यक्ष भएको त्यो ज्ञान प्रमाणबाट सिद्ध हुँदैन भन्ने हो भने त स्वयं भगवान्‌को वचन पनि झूटो ठहर्छ किनकि उहाँले ५ स्कन्ध, १८ धातु, १२ आयतन, आदिको देशना गर्नुभएकै छ जस्तै –

"सर्वं सर्वमिति ब्राह्मण, यावदेव पञ्च स्कन्धाः, द्वादश आयतनानि, अष्टादश धातवः" इत्यादि (अभिधर्मकोषभाष्यमा उद्‌धृत) । त्यस्तै तन्त्रवार्तिकमा भनिएको छ, *"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रिया"* इत्यादि । यदि यी स्कन्ध आदि सबै मायाजस्ता भएका भए त क्षणिक, अस्थिर भन्ने स्वभावको उल्लेख किन गर्नुपर्थ्यो त ? यस्तो प्रश्न उठ्न सक्छ । त्यसकारण आचार्य भन्नुहुन्छ –

लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिताः ।
तत्त्वतः क्षणिका नैते संवृत्या चेद्विरुध्यते ॥७॥

नाथको देशना भावादिको लोक-हिताय हो
तत्त्वत: यी क्षणिक् छैनन्, संवृतिले विरुद्ध भो ॥७॥

अन्वयार्थ : नाथेन = भगवान्‌ले, लोकावतारणार्थं = लोकलाई प्रवेश गराउनको लागि, भावा: = यी स्कन्ध, धातु आदि भावहरूको, देशिता: = देशना गर्नुभएको हो । तत्त्वत: = पारमार्थिक रूपमा, एते = यी भावहरू, क्षणिका न = क्षणिक स्वभाववाला छैनन्, संवृत्या = संवृतिमा क्षणिक छन् भन्ने हो भने, विरुध्यते = नमिल्ने देखिन्छ ।

नाथले यी भावहरूको देशना गरेको त सत्त्वहरूलाई मार्गमा प्रवेश गराउनको लागि हो । किनकि लौकिक मानिसहरूले वस्तुहरूको सत्ता याने स्वतन्त्र अस्तित्वप्रति ग्राह गरेका हुन्छन् । जसले तिनीहरूको नि:स्वभावता अर्थात् शून्यतालाई बुझ्न सक्दैनन् उनीहरू त्यसका निमित्त योग्य पात्र नै हुँदैनन् । त्यसकारण उनीहरूलाई त उनीहरूले बुझ्नसक्ने तहको शिक्षा मात्र काम लाग्ने भएको हुनाले स्कन्ध, धातु, आयतन, क्षणिकता जस्ता कुराको देशना मात्र उपयुक्त हुन्छ । त्यसैले क्रमशः शून्यता-देशना गर्न योग्य बनाउनको लागि उपायकौशल्य प्रयोग गर्नुभएको हो । त्यो देशनाबाट उनीहरू लाभान्वित भएर नरक आदि दुर्गति भोग्ने कुराबाट रक्षा हुन्छ भनेर लौकिक सुखको पनि बाटो देखाउनु भएको हो । परमार्थतः यी सबै नि:स्वभाव छन् तापनि बुझ्न नसक्नेलाई देशना गर्ने हो भने तिनीहरूले उच्छेदलाई पकडेर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक-पुनर्जन्म, कर्म-फल इत्यादि कुरालाई नै नमान्ने सम्भावना हुन्छ । त्यो मिथ्यादृष्टिले झन् उनीहरूको ठूलो हानि हुने भएकोले एकै पटक शुरुमै शून्यताको देशना नगरेर क्षणिक, आदि स्वभावको देशना गर्नुभएको हो । उहाँ उपायकुशल हुनुहुन्थ्यो । त्यसैले व्यक्तिको रुचि, क्षमता, विश्वास आदि कुरालाई विचार गरेर मात्र त्यस अनुसारको उपदेश दिनुहुन्थ्यो । सबै कुरा परमार्थतः सत्य हो भनेर बताउनुभएको छैन । नागार्जुनले युक्तिषष्टिकामा बताउनुभएको छ,

ममेत्यहमिति प्रोक्तं यथा कार्यवशाज्जिनैः ।
तथा कार्यवशात् प्रोक्ताः स्कन्धायतनधातवः ॥

जसरी जिनहरूले कार्यको प्रयोजनको लागि 'म' 'मेरो' भन्ने शब्द प्रयोग गर्नुभएकै हुन्थ्यो त्यसैगरी उहाँहरूले कार्यवश स्कन्ध, आयतन, धातु आदिको देशना गर्नुभएको हो ।

यदि यी सम्पूर्ण धर्महरू परमार्थतः क्षणिक छैनन् तापनि व्यवहारमा क्षणिक छन् भन्ने माध्यमिकको मत हो भने व्यवहारमै पनि विरोध हुन्छ भन्ने शंका वस्तुवादीहरूले उठाउन सक्छन् किनकि व्यवहारमा यी सबै कुरा क्षण क्षणमै उत्पाद-व्यय भइरहेको त देखिँदैन। यी त स्थिर, निश्चल, स्थायी नै छन् कि जस्ता देखिन्छन् र यसमा प्रतीतिविरोध भएन र ? यो प्रश्नको उत्तरमा आचार्य भन्नुहुन्छ –

न दोषो योगिसंवृत्या लोकात् ते तत्त्वदर्शिनः।
अन्यथा लोकबाधा स्यादशुचिस्त्रीनिरूपणे ॥८॥

योगीसंवृतिमा छैन दोष ती तत्त्व देख्दछन्
नत्र होला लोकबाधा अशुचि, स्त्री, बताउन ॥८॥

__अन्वयार्थ :__ योगिसंवृत्या = योगीको संवृतिमा, दोषो न = दोष छैन, लोकात् = लोकभन्दा, ते = तिनीहरू, तत्त्वदर्शिनः = तत्त्व (यथार्थता) देख्ने हुन्छन्, अन्यथा = नत्रभने, अशुचिस्त्रीनिरूपणे = अशुचि, स्त्री आदिको निरूपण गर्नमा, लोकबाधा स्यात् = लोकमा गाह्रो होला।

योगीको संवृतिमा त्यो दोष लाग्दैन याने त्यस्तो प्रतीतिविरोध हुँदैन। किनकि पुद्गलनैरात्म्यको समाधिलाभ गरिसकेका योगीहरूको देखाइमा यी सबै क्षणिक नै देखिन्छन्। अहिलेको देखाइमा त्यस्तो क्षणिकता देख्न नसकिए पनि योगीको व्यवहारसत्यको दशामा संवृतिरूप क्षणिकता आदि देखापर्दछ र अन्यथा हुँदैन। देख्दाखेरी त्यहाँ भएको यथार्थताको उल्टो देखियो अर्थात् प्रतीति हुने कुरा बेग्लै भयो भन्दैमा त्यही प्रतीति नै सत्य हो भन्न मिल्दैन। त्यस्तो प्रतीतिको त कुनै प्रमाण छैन।

बरु देखाइको यथार्थता लोककोभन्दा योगीको बढी हुने भएकोले लोकलेभन्दा योगीहरूले तत्वलाई बढी यथार्थरूपमा देखेका हुन्छन्। त्यसकारण उनीहरूले देख्दा अनित्य, क्षणिक देखेका हुनाले लोकको सामान्य देखाइभन्दा योगीहरूको देखाइलाई बढी प्रामाणिक मान्नुपर्ने हुन्छ। उनीहरूको त इन्द्रिय-गोचर भन्दा बाहिरको अतीन्द्रिय देखाइ पनि हुन्छ। अतः कुनै पनि प्रतीति- विरोध छैन। क्षमताका आधारमा देखाइको स्पष्टता हुन्छ।

यदि यस्तो नमान्ने हो भने त अशुभ भावना आदि गर्ने बेलामा स्त्री आदि कामासक्त गराउने शरीरलाई अशुचि, फोहर, रगतजस्तो देख्नु र त्यसबाट आसक्ति घटाउनु या घट्न सक्छ भन्ने कुरा मान्न समेत लोकबाट बाधा हुनेछ। लोकमा त स्त्री आदिको सुन्दर देखा पर्ने शरीर अशुचि, फोहर त देखिँदैन र देख्न पनि सकिएको हुन्न। परन्तु योगीहरूले अशुचि स्वभावको हो भन्ने देखेरै कामच्छन्दलाई घटाएका हुन्छन्। त्यसकारण योगीको देखाइमा लोकमा भएको प्रतीतिले केही बाधा गर्दैन। जस्तै :–

"न बाधते ज्ञानमतैमिराणां यथोपलब्धं तिमिरेक्षणानाम्' (म. अ. ६-२३)
"अनुत्पन्ना, अनिरुद्धा ... न रूपं, न वेदना ... न जरामरणं न जरामरणक्षयः ......" (प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र)

इत्यादि आगम, शास्त्र आदि कतैबाट पनि यी भावहरूको पारमार्थिक अस्तित्व सिद्ध हुँदैन। त्यसैले यी धर्महरू मायाजस्ता, सपनाजस्ता हुन् भन्ने निश्चय हुन्छ। नागार्जुनले पनि भन्नुभएको छ

"मायामरीचिगन्धर्वनगर- स्वप्नसन्निभाः" (चतुःस्तवः)

यदि सबै कुरामा माया समानको स्वभाव नै हावी छ भने बुद्ध पनि माया समानकै हुने भयो, सपना समानकै हुने भयो । फेरि यो कुरा स्वयं अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्रमा पनि बताइएको छ -

"मायोपमास्ते देवपुत्राः सत्त्वाः । स्वप्नोपमास्ते देवपुत्राःसत्त्वांः ।...... सर्वधर्मा अपि देवपुत्रा, मायोपमाः स्वप्नोपमाः । स्रोत आपन्नो ऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः । ...... अर्हन्नपि अर्हत्त्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् ...... । सम्यक्सम्बुद्धो ऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः । ...... यावत् निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । सचेन्निर्वाणादपि कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात्, तमप्यहं मायोपमं वदामि ।"
त्यसोभए कसरी जादू समानका बुद्ध, बोधिसत्व या आर्यहरूलाई पूजा, सत्कार गर्नाले पुण्य र अपकार आदि गर्नाले पाप हुन सक्छ त ? भन्ने प्रश्न वस्तुवादीहरूले उठाउन सक्छन् भन्ने शङ्काले आचार्य भन्नुहुन्छ -

मायोपमाज्जिनात् पुण्यं सद्भावे ऽपि कथं यथा ।
यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः ॥९॥

मायाजस्तो बुद्धबाट पुण्य हुन्छ कसो गरी
मायाजस्तो सत्त्व भए मरे जन्मिन्छ के पछि ?॥९॥

अन्वयार्थ : मायोपमाद् = माया समानका, जिनाद् = वुद्धहरूवाट, सद्भावे अपि = आदर सत्कार गरेपनि, कथं = कसरी, पुण्यं = पुण्य हुन सक्छ ? यथा = जसरी त्यो हो (त्यस्तै), यदि = यदि, सत्वः = प्राणी पनि, मायोपमः = माया समानको छ भने, मृनः = मरेको प्रणी, किं पुनः जायते = फेरि के जन्मिन्छ त ?

वस्तुवादीहरूले प्रश्न उठाउँछन् कि यदि बुद्ध मायासमानका हुन् भने उनलाई सत्कार, पूजा गर्नाले कसरी पुण्य हुन सक्छ ? त्यस्तै यसको विपरीत उनलाई अपमान या तिरस्कार गर्नाले कसरी पाप हुन सक्छ ? सपना पनि त मायासमानको हो, त्यहाँ कुनै व्यक्तिलाई मान या अपमान गर्नाले पुण्य या पाप हुन्छ भन्नु त युक्ति संगत छैन ।

त्यसमा माध्यमिकको फेरि प्रतिप्रश्न छ कि यदि तिमीहरूले भनेको जस्तो भगवान् साँच्चिकै परमार्थतः सत् हुन् र मायासमानका होइनन् भन्ने माने पनि त उनको पूजा या अपमानले पुण्य या पाप कसरी हुनसक्छ ? तिमीहरू भनौला कि परमार्थ सत् भगवान्‌को पूजा गर्नाले परमार्थतः सत् पुण्य मिल्छ र अपकार गर्नाले त्यस्तै पाप हुन्छ किनकि सम्बन्ध नै त्यस्तै खालको हुन्छ । त्यसो भए हामी माध्यमिक पनि त्यही भन्छौं कि मायासमानका बुद्धको मायासमानको पूजा आदिबाट माया समानकै फल पुण्य आदि मिल्छ किनकि माया समानकै सम्बन्ध त्यस्तै खालको छ । अतः के कारणले मायोपम बुद्धको पूजाबाट पुण्य नहुने त ? आखिर प्रतीत्यसमुत्पादको 'यस्तो हेतु प्रत्यय उपस्थित भएमा यस्तो फल देखा पर्छ' भन्ने सिद्धान्त त उत्तिकै रूपमा लागू छ तापनि कुनै कुराको पनि पारमार्थिक स्वरूप कतै पनि उपलब्ध छैन ।

फेरि वस्तुवादीको प्रश्न छ कि त्यसो भए एकछिनको लागि त्यो कुरा मानौं तापनि हाम्रो प्रश्न त अझै बाँकि छ । बुद्ध भगवान् समेत मायासमानका हुन् भने प्राणीहरू पनि मायासमानका हुने

त पक्कै भयो । त्यो स्थितिमा मरेको प्राणी फेरि कसरी जन्मिन सक्छ त ? मायाले बनेको पुरुष मरेर फेरि जन्मेको त कतै थाहा पाइएको छैन । त्यसकारण प्राणीहरूलाई मायासमानका भन्नु मिल्दैन । परमार्थतः सत् नै मान्नुपर्छ ।

त्यसमा, माध्यमिकको उत्तर छ कि त्यो बेठीक हो । किनभने–

> यावत् प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तंते ।
> दीर्घसन्तानमात्रेण कथं सत्त्वो ऽ स्ति सत्यतः ॥१०॥

जव सम्म प्रत्यय छन् माया त तब सम्म छ
हुँदैमा दीर्घसन्तान कसरी सत्व सत्य छ ? ॥१०॥

अन्वयार्थ : यावत् = जबसम्म, प्रत्ययसामग्री = हेतु-प्रत्ययका सानग्रीहरू छन्, तावत् = तवसन्न, मायापि = माया पनि, वर्तंते = विद्यमान हुन्छ, दीर्घसन्तानमात्रेण = लामो समयसम्म प्रवाह चल्यो भन्दैमा, सत्त्वः = प्राणी, कथं = कसरी, सत्यतः = वास्तविकरूपमा (साँच्चिकै), अस्ति = छ ?

जबसम्म कारण सामग्रीहरू हुन्छन् तबसम्म माया पनि देखा पर्छ । जस्तै कुनै जादूगर-(मायाकार) ले मन्त्र, औषधि, रसायन या अन्य हातका सफाइजस्ता विभिन्न कारण सामग्रीहरू (हेतु–प्रत्यहरू) जबसम्म जुटाइरहन्छ तबसम्म उसको सामु विभिन्न चामत्कारिक माया देखा परिरहन्छ । जब ती प्रत्ययहरू टुट्छन् तब माया पनि टुट्छ । ती हेतु–प्रत्ययहरू नाश भैसकेपछि पनि मायाको दृश्य देखिइरहने भन्ने सम्भव छैन । त्यसैगरी जबसम्म अविद्या, तृष्णा, संस्कार जस्ता कारण–सामग्रीहरू विद्यमान रहन्छन् तबसम्म सत्त्वको प्रवाह पनि चलिरहन्छ । सत्व पनि जन्मेको, मरेको, फेरि जन्म लिएको, कर्म गरेको, फल भोगेको सबै चीज देखा पर्छ । परन्तु तृष्णा आदि कारण सामग्रीहरू नाश भए भने त्यस्तो खालको सत्व पनि देखा पर्दैन । त्यसैले माया–समानको सत्व नभएर केजस्तो भयो त ?

तिमीहरूको भनाई के हुन सक्छ भने माया त एकछिन मात्र रहन्छ, परन्तु प्राणी त संसारको अनादिकालदेखि अनन्तसम्म रहेकै हुन्छन् । त्यसकारण यदि साँच्चिकै नभएका भए त कसरी यति लामो अस्तित्व कायम रहन सक्छ ?

त्यसमा माध्यमिकको उत्तर छ कि लामो समयसम्म प्रवाह (सन्तान) कायम रह्यो अर्थात् धेरै लामो अवधिसम्मको अस्तित्व देखियो भन्दैमा त्यो वस्तु साँच्चिकै (द्रव्यसत् या वस्तुसत्) हो भन्ने के प्रमाण छ ? कारण सामग्रीको आधारमा देखा पर्ने कुरा त प्रतीत्यसमुत्पन्न हुन्छ । त्यो त जबसम्म कारण सामग्री रहन्छन् तबसम्म देखा पर्छ । त्यसमा लामो अवधि या छोटो अवधि भन्ने कुराले के फरक पार्छ ? लामो समयसम्म रहनु नै सम्यक् (सही) हो भन्ने कुराको द्योतक त होइन । आखिर पुनर्जन्म पनि माया समानकै हो, त्यसैले सत्वहरू मायासमानका हुँदा पुनर्जन्ममा के आपत्ति छ ? पुनर्जन्म त सिद्धै छ ।

वस्तुवादी फेरि प्रश्न गर्छन्– त्यसो भए जसरी जादूगरले बनाएको पुरुषलाई या सपनामा देखिएको पुरुषलाई हत्या गर्दा कुनै पाप हुँदैन त्यस्तै यी सांसारिक प्राणीहरूको हत्या गरे पनि केही पाप हुनुभएन किनकि यी पनि मायासमानका ठहरिए ।

यसमा माध्यमिकको उत्तर दिँदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापकम् ।
चित्तमायासमेते तु पापपुण्यसमुद्भवः ॥११॥

मायापुरुष मार्नाले नहुँदा चित्त, पाप के ?
माया सहित चित्तैमा पाप पुण्य हुनेछ नि ॥११॥

__अन्वयार्थ :__ मायापुरुषघातादौ = मायापुरुषको हत्या गर्ने जस्ता काम गर्नाले, पापकम् = पाप, न = हुँदैन, चित्ताभावात् = चित्त नहुनाले, चित्तमायासमेते तु = चित्तले युक्त भएको मायामा हो भने त, पापपुण्यसमुद्भवः = पाप र पुण्यको उत्पत्ति हुन्छ ।

हो, जादूगरले बनाएको मायापुरुषको हत्या, सपनाको पुरुषको हत्या आदिबाट पाप हुँदैन, किनभने त्याहाँ त चित्त हुँदैन । परन्तु त्यसवेला 'मार्छु' भन्ने खालको हिंसा-चित्त उत्पन्न भएर त्यो काम हुने भएकोले अकुशल चित्त त पैदाभएकै हुन्छ ।

तर यी सांसारिक प्राणीहरू माया समानका हुन् तापनि त्यहाँ चित्त पनि हुन्छ यद्यपि त्यो पनि मायिक नै हो । त्यही चित्तलाई हित गर्दा पुण्य हुने हो र त्यसलाई अपकार गर्दा पाप हुने हो । जडका निमित्त कार-अपकार भन्ने भेद रहन्न । अतः सत्वहरूमा पाप र पुण्यको हेतु विद्यमान हुने भएकोले त्यसको फल पनि तदनुसारको हुनैपर्छ । त्यसकारण यो अवस्थामा त पाप पुण्य दुवै सम्भव हुन्छ ।

वस्तुवादीहरूको फेरि प्रश्न छ कि -

मन्त्रादीनामसामर्थ्यान्न मायाचित्तसम्भवः ।
सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसम्भवा ॥१२॥
नैकस्य सर्वसामर्थ्यं प्रत्ययस्यास्ति कुत्रचित् ।

मन्त्रादिले नसक्नाले मायाचित्त बनेन त
त्यो माया पनि धेरै छन् नाना प्रत्ययबाट त ॥१२॥
कहीं पनि एउटैको सर्वसामर्थ्य हुन्न त ।

__अन्वयार्थ :__ मन्त्रादीनां = मन्त्र, औषधि आदिको, असामर्थ्यात् = सामर्थ्य नहुनाले, मायाचित्तसम्भवः = मायाचित्तको उत्पत्ति, न = हुँदैन, सा माया अपि = त्यो माया पनि, नानाप्रत्ययसम्भवा = विभिन्न हेतु प्रत्ययहरूबाट उत्पत्ति भएको हुन्छ र, नानाविधा = विभिन्न प्रकारको नै हुन्छ । एकस्य = एउटै, प्रत्ययस्य = प्रत्ययको, सर्वसामर्थ्यं = सम्पूर्ण कुरामा सामर्थ्य भएको, कुत्रचित् = कहीं पनि, न = हुँदैन ॥

मायाकारले बनाएको मायामा उसले प्रयोग गरेका मन्त्र आदिको सामर्थ्य नहुने भएकोले मायाचित्तको उत्पत्ति भएको हुँदैन । केवल हात्ती, घोडाजस्ता रूपमात्र देखा परेका हुन्छन् । त्यसकारण मायिक चित्त त कहाँ उत्पन्न हुन्छ र ? त्यसरी जड रूप पदार्थहरूको प्रत्ययत्वमा चेतन चित्त उत्पन्न हुने सम्भावना हुँदैन ।

आचार्य फेरि भन्नुहुन्छ कि त्यस्तो माया पनि अनेक प्रकारको हुन्छ र अनेक प्रकारका हेतु-प्रत्ययबाट उत्पन्न भएको हुन्छ । 'माया' भन्दैमा सबै माया एउटै हुँदैनन् । जादूगरले उत्पन्न गरेको

जादूका घोडा, हात्ती, एक प्रकारका 'माया' हुन् भने सांसरिक प्राणी या प्राणीको चित्त अर्कै प्रकारको मायाबाट देखा परेका हुन् । त्यही भएर नागार्जुनले भन्नुहुन्छ कि "मायावत्प्रत्ययोद्भवाः" अर्थात् "माया (जादू) जस्तै गरी प्रत्ययसामग्रीहरूबाट उत्पन्न भएका" । प्राणीहरू पनि माया समानका हुन् भन्दाखेरि हुबहु "जादूगरको जादू नै हुन्" भनेको होइन । उही शब्द 'माया' प्रयोग गरियो भन्दैमा सम्पूर्ण स्वभाव उही हुँदैन । उदाहरणार्थः – जति पनि वस्तुहरू छन् तिनीहरूलाई 'कार्य' भन्छन् किनकि ती कारणबाट उत्पन्न भएका हुन् । यो भन्दैमा सबै कार्यहरूको सम्पूर्ण स्वभाव उही त हुँदैन । त्यहाँ त हेतुजनितत्व मात्र समान हो । त्यस्तै यहाँ पनि "विभिन्न प्रत्ययमा आश्रित भै उत्पत्ति हुनु" मात्र समान हो परन्तु ती प्रत्ययहरू त अनन्त छन् । त्यसमध्ये जादूगरका प्रत्यय वेग्लै हुन् भने प्राणीहरूको चित्तका प्रत्ययहरू फेरि वेग्लै छन् । त्यसैले माया धेरै प्रकारका हुन्छन् ।

भन्न खोजेको के हो भने कहीं पनि एउटै हेतुले सम्पूर्ण कार्यहरू उत्पन्न गरेको देखिँदैन । विभिन्न हेतु प्रत्ययबाट विभिन्न कार्यहरू देखापर्छन् । त्यस्तै एक प्रकारका प्रत्ययहरू जस्तै मन्त्र, औषधि जस्ता कुराबाट एक प्रकारको माया देखा परेको हुन्छ भने तृष्णा, अविद्या जस्ता अर्कै प्रकारका प्रत्ययहरूबाट यो अनादिकालिक भवचक्र चलिरहेको हुन्छ । मन्त्र आदिले पनि सबै कुरा उत्पन्न गर्न सक्दैनन् । त्यस्तो सर्वसामर्थ्य त कहीं कसैमा पनि हुँदैन ।

जति पनि सांसारिक व्यवहार छन् ती सबै काल्पनिक मात्र हुन् । तिनीहरूको पारमार्थिक सत्ता त केही पनि छैन । परमार्थतः यो जन्म-मरण, उत्पाद-निरोध, हेतु-फल, भाव-अभाव आदि सम्पूर्ण कल्पनाजाल बाहेक केही पनि होइनन् । त्यसैले यी सम्पूर्ण कुरा स्वभावले नै परिनिर्वृत अर्थात् केही नभएका, शान्त नै छन् । यिनलाई हटाएर अर्को कुनै निर्वाण पाउने भन्ने छैन ।

परन्तु वस्तुवादीहरूको मतमा जगत् वस्तुतः छ, बुद्ध पनि वास्तविक थिए । उनले सत्वहरूको कल्याण पनि वास्तविक रूपमा गरेका हुन् भन्ने मानिन्छ । त्यसैले उनीहरू प्रश्न गर्छन् कि यदि सबै धर्महरू परमार्थतः केही पनि होइनन्, शून्य छन्, उत्पाद-व्यय रहित छन्, आदिशान्त, स्वभावले नै निर्वृत छन् भने त ती कल्पनानिर्मित र व्यवहारमात्र भए । त्यसो भए संसारका प्राणी पनि त्यस्तै स्वभावतः परिनिर्वृत नै भए । अनि त बुद्ध बन्नको लागि बोधिचर्याको पनि के प्रयोजन भयो त ?

यही कुरा आचार्यले कोट्याउनु हुन्छ –

निर्वृतः परमार्थेन संवृत्या यदि संसरेत ।
बुद्धो ऽपि संसरेदेवं ततः किं वोधिचर्यया ॥१३॥

निवृत परमार्थैले सर्छ संवृतिमा भने
घुम्ने भए बुद्ध पनि बोधिचर्या गरेर के ? ॥१३॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, परमार्थेन = परमार्थरूपवाट, निर्वृतः = निर्वृत भैसकेको कुरा पनि, संवृत्या = संवृतिवाट, संसरेत् = संसारमा घुम्छ भने, एवं = त्यस अवस्थामा, वुद्धो ऽपि= बुद्ध पनि, संसरेत् = संसारमै घुम्ने ठहरिए । ततः = त्यसो भए त, वोधिचर्यया = वोधिचर्या गरेर, किं = के फाइदा भयो त ?

परमार्थतः निर्वृत भएको, परमार्थतः शान्त भएको कुरा पनि यदि व्यवहारमा देखिने, हिंड्ने डुल्ने, संसारको गतिमा घुमिराख्ने हुन्छ भने त बुद्ध पनि संसारमै घुम्ने भए किनकि बुद्ध पनि निर्वृत

र शान्त हुन् । त्यसो भए बुद्धता नै किन चाहियो ? जब उनी पनि व्यवहारमात्र हुन् र परमार्थतः सत् होइनन् भने त उनको ज्ञान अर्थात् क्लेशावरण र ज्ञेयावरणको प्रहाण पनि कल्पना मात्र हो । त्यसैले उनी र अन्य सांसारिक प्राणीमा के भेद भयो ? असंख्य कल्पसम्म बोधिचर्या गरेर विभिन्न कठीन चर्याहरू गरेको, हात, पाउ, शिर आदि दान गर्दै प्रज्ञाको भावना गरेको फल के भयो ? त्यस्तो बोधिचर्याको कुनै प्रयोजनै भएन ।

यसको जवाफ दिंदै भन्नुहुन्छ-

प्रत्ययानामनुच्छेदे मायाप्युच्छिद्यते न हि ॥१४॥
प्रत्ययानां तु विच्छेदात् संवृत्यापि न सम्भवः ॥

प्रत्ययै नसकी माया टुङ्गिँदैन अवश्य नै ॥१४॥
प्रत्ययै सकिए हुन्न संवृतिमा पनि कतै ।

अन्वयार्थ : प्रत्ययानां = प्रत्ययहरूको, अनुच्छेदे = उच्छेद नहुँदासम्म, मायापि = माया पनि, न हि उच्छिद्यते = उच्छेद हुँदैन, प्रत्ययानां = प्रत्ययहरूको, विच्छेदात् = तु, विच्छेद भैसकेपछि त, संवृत्यापि = व्यवहारबाट पनि, न सम्भवः = सम्भव छैन ।

जबसम्म हेतु-प्रत्ययहरू नाश हुँदैनन् तबसम्म व्यवहारमा (संवृति सत्यमा) माया पनि नष्ट हुँदैन अर्थात् देखा परिरहन्छ । किनभने माया भनेको हेतु-प्रत्ययमा आधारित भएर देखा पर्ने कुरा हो । कारणविना त केही पनि सम्भव छैन । त्यसकारण संवृति सत्यका यी कारणसामग्रीहरू विद्यमान रहुन्जेल त्यसको कार्य संसार बाँकी नै रहन्छ, निरोध हुन सक्दैन । जन्म-मरण रूपी भवचक्रका कारण सामग्रीहरू अविद्या, तृष्णा आदि हुन् र यिनीहरूलाई शून्यताको ज्ञान गर्ने प्रज्ञाले मात्र निरोध गर्छ । जबसम्म त्यो प्रज्ञा उत्पन्न हुन्न तबसम्म यो माया पनि चलिरहन्छ । शालिस्तम्बसूत्रमा भगवान्ले बताउनुभएकै छ -

“यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति । यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति । तत्र कः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम ? यदिदम् अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम् ...... तत्र अविद्यानिरोधात् संस्कारा निरुध्यन्ते ...... एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति ।”

अर्थात् “हे भिक्षु हो ! जसले प्रतीत्यसमुत्पादलाई देख्छ त्यसले धर्मलाई देख्छ । जसले धर्मलाई देख्छ त्यसले बुद्धलाई देख्छ । प्रतीत्यसमुत्पाद भनेको के हो ? यो हो अविद्यालाई आधार बनाएर संस्कार उत्पन्न हुन्छन् । संस्कारलाई आधार बनाएर विज्ञान उत्पन्न हुन्छ ...... अविद्याको निरोध भए संस्कार निरुद्ध हुन्छन्...... । यसरी यो एक मात्र महान् दुःखस्कन्ध (सांसारिक गति)को निरोध हुन्छ ।”

अतः जब ती प्रत्ययसामग्रीहरू नाश भैसक्छन्, निरोध भैसक्छन् तव त्यो माया पनि नाश हुन्छ, निरुद्ध हुन्छ । त्यस पछि त व्यवहारमा पनि त्यो माया सम्भव हुँदैन किनकि त्यसका हेतु-प्रत्ययहरू कुनै पनि बाँकी भएनन् । त्यसैले भगवान्ले ती अविद्या आदि हेतु प्रत्ययहरूलाई तत्वज्ञानको प्रज्ञाद्वारा नष्ट पारिसक्नुभएकोले फेरि उहाँको संसारमा जन्म मरण हुने भन्ने कुरै आउँदैन । तिमीहरूले बुद्ध पनि सांसारिकै भए र बोधिचर्या पनि व्यर्थ भयो भनेर लगाएको दोष हामीहरूलाई लाग्दैन ।

यसरी वस्तुवादीहरूको उत्तर दिएपछि आचार्यले फेरि योगाचार (विज्ञानवादी)हरूले उठाउने शङ्काको समाधान गर्नको लागि योगाचारको दृष्टिवाट प्रसङ्ग उठाउँदै भन्नुहुन्छ -

यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते ॥१५॥
यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते ?
चित्तस्यैव स आकारो यद्यप्यन्यो ऽ स्ति तत्त्वतः ॥१६॥

भ्रान्ति पनि छैन भने माया केले त पाउँछ ? ॥१५॥
जब मायै छैन तिम्रो अनि के उपलब्ध छ ?
साँच्चिकै छैन र पनि चित्तकै हो नि आकृति ॥१६॥

अन्वयार्थ : यदा = जव, भ्रान्तिरपि = भ्रान्ति पनि, न अस्ति = छैन भने, माया = त्यो माया, केन = केले, उपलभ्यते = थाहा पाइन्छ त ? यदा = जव, ते = तिम्रो मतमा, माया एव = मायानै, नास्ति = छैन भने, तदा = त्यसबेला, किं = के, उपलभ्यते = प्राप्त हुन्छ (थाहा पाइन्छ त ?,) यद्यपि = यद्यपि, अन्यो ऽ स्ति = अर्कै छ (देखिन्छ) ता पनि, स आकार= त्यो आकार (रूप), तत्त्वतः = वास्तवमा, चित्तस्य एव = चित्तको नै हो ।

तिमी माध्यमिकहरूको मतमा जब सबै धर्महरू मायासमानका हुन्, वास्तविक होइनन्, त्यो भ्रान्ति पनि साँच्चिकै छैन र स्वभावतः शून्य हो भने त त्यो भ्रान्ति या त्यो मायालाई थाहा पाउने चित्त अर्थात् सविकल्प बुद्धि पनि मायासमान र भ्रान्त नै भन्नुपर्छ । त्यस अवस्थामा फेरि यो माया हो भनेर थाहा पाउने केले हो त ? भ्रान्तिलाई थाहा पाउन कम्तिमा पनि अभ्रान्त अर्थात् मायाले रहित भएको कुरा चाहिएन र ? जो स्वयं भ्रान्ति हो, असत् हो त्यसले अर्को भ्रान्ति या असत्‌लाई कसरी जान्न सक्छ ? त्यसकारण हाम्रो मतमा बाहिरका पदार्थहरू सबै मायासमान भए तापनि तिनीहरूलाई थाहा पाउने (ग्राहक) बुद्धिको ज्ञान त वस्तुसत् हुनपर्छ । वरु त्यही वस्तुसत् ज्ञान नै भ्रान्तिले गर्दा ती बाह्य पदार्थ (बाह्यार्थ) को रूपमा देखा परेका हुन् । अतः हाम्रो मतमा सबै कुरा ठीक छन्, कुनै दोष छैन ।

हामी माध्यमिकको जवाफ छ कि तिमीहरूले त मायालाई केवल चित्तकै 'ग्राह्य रूप' हो भनेर माया नै नभएको कुरा गर्छौ फेरि भ्रान्तिको रूपमा प्रतिभासित हुन्छ पनि भन्छौं । जब यो जगत् केवल चित्तमात्र हो भने त बाहिरी अर्थहरू केही पनि नहुने भए । अनि त्यो चित्तलाई कुन 'माया' थाहा हुन्छ त ? हामीले त माया छँदैछैन भनेका छैनौं । तिमीहरू भगवान्‌ले *"चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्'* भन्नुभएको छ भनेर सम्पूर्ण जगत् नै चित्तमात्र हो भन्छौ । यदि यी हात्ती, घोडा आदि आकार केही पनि छँदै- छैनन् भने त त्यो भ्रान्तिलाई थाहा पाउन पनि कसरी सकिन्छ । कुन मिथ्या कुरालाई तिम्रो वस्तुसत् ज्ञानले जान्दछ ? चित्तबाहेक अरु कुनै कुरा पनि नभएकोले कुनै कुरा पनि प्रतिभासित हुने छैन ।

यसमा फेरि विज्ञानवादीहरू जवाफ दिन्छन् कि घडा, कपडा, हात्ती- जस्ता जुन आकारहरू ज्ञानमा प्रतिभासित हुन्छन् ती सबै वास्तवमा चित्तका नै आकार हुन् । तिनै आकारलाई अविद्याबाट प्रभावित भएका पृथगजनहरूले चित्तभन्दा भिन्दै बाहिरका चीज हुन् भन्ने मान्दछन् र साँच्चिकै छन् भन्ने ठान्दछन् । उनीहरूको अस्तित्व ज्ञानकै गर्भमा छ न कि बाहिरी ग्राह्य पदार्थको रूपमा ।

चित्तमेव यदा माया तदा किं केन दृश्यते ।
उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति ॥१७॥
न च्छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः ।

जव माया चित्त नै हो, केले केलाई देख्छ त ?
भन्नुभो लोकनाथैले देख्दैन चित्त चित्तले ॥१७॥
तर्वारले आफुलाई नकाटेझैं त हो मन ।

अन्वयार्थ : यदा = जब, माया = माया पनि, चित्तमेव = चित्त नै हो भने, तदा= त्यसवेला, केन = केले, किं = केलाई, दृश्यते = देखिन्छ ? लोकनाथेन = लोकनाथ (भगवान् बुद्ध) ले, उक्तं च = आज्ञा भएको पनि छ, चित्तं = चित्तले, चित्तं = चित्तलाई, न पश्यति = देख्दैन, यथा = जस्तै, असिधारा = तर्वारको धारले, आत्मानं = आफैलाई, न च्छिनत्ति = काट्दैन, तथा = त्यस्तै, मनः = मन पनि बुझ्नू ।

माध्यमिकको प्रश्न छ , यदि चित्त नै माया हो अर्थात् ग्राहक (थाहा पाउनेवाला)को रूपमा रहने चित्त नै माया हो र त्यसभन्दा भिन्दै अर्को माया भन्ने कुरा केही छैन भने त्यो ग्राहक (थाहा पाउनेवाला) चित्तले केलाई थाहा पाउँछ ? फेरि त्यो स्वयं पनि माया भएकोले थाहा पाउनेवाला हुन सकेन (तिमीहरूको मतमा थाहा पाउनेवाला ग्राहक ज्ञान त वस्तुसत् छ) जब ग्राह्य र ग्राहक दुवै नै नभएर केवल त्यही एउटै माया चित्तमात्र वस्तुसत् छ भने त्यहाँ केले केलाई जान्दछ त ? त्यहाँ त दृश्यविनाको दर्शनमात्र हुने भयो । दृश्य नभै दर्शन कसरी हुन सक्छ ? त्यसकारण तिमीहरूको मत अनुसार त सबै कुरा खतम र अन्धकारमय हुनजान्छ ।

यसमा विज्ञानवादीहरूको उत्तर छ कि तिमीहरूले लगाएको दोष त हामीलाई तब मात्र लागू हुन्थ्यो जब हामी स्वसंवेदन मान्दैनथ्यौं । परन्तु हामीले त ज्ञानका दुइटा स्वरूप मान्छौं । एउटा स्वरूपले घडा, कपडा जस्ता ग्राह्य वस्तुको ज्ञान गर्छ भने अर्को स्वरूपले आफ्नो ग्राहक स्वरूपको ज्ञान पनि गर्छ । त्यसैले बाह्य घडा, कपडा आदि वास्तविक रूपमा छैनन् तापनि चित्तकै एक रूप त्यसरी प्रतिभासित हुन्छ । त्यसलाई फेरि ज्ञानको अर्को स्वरूपले जान्दछ । आफ्नै ग्राहक स्वरूपलाई स्वयंले जान्ने त्यो (ग्राहक) ज्ञानलाई 'स्वसंवेदन' भन्दछन् । त्यो त आफैलाई प्रत्यक्ष हुने प्रामाणिक ज्ञान हो ।

माध्यमिकको प्रश्न छ कि जब हामीले पहिले नै सम्पूर्ण कुरा स्वभावतः असिद्ध छन् भन्ने सिद्ध गरिसक्यौं भने स्वसंवेदन पनि स्वभावतः असिद्ध भैसक्यो । अनि त कसरी माया र चित्त अभिन्न हुन सक्छन् ? कसैको कुनै स्वभाव नै हुँदैन भने कसरी चित्तले आफैलाई देख्न सक्छ ? स्वसंवेदन पनि वस्तुतः छैन । भगवान्ले आर्य रत्नचूडसूत्रमा बताउनुभएको छ कि चित्तले चित्तलाई देख्दैन ।

"स चित्तं परिगवेषमाणो नाध्यात्मं चित्तं समनुपश्यति । न बहिर्धा चित्तं समनुपश्यति । न स्कन्धेषु चित्तं समनुपश्यति । ...... तद्यथा न तयैव असिधारया सैव असिधारा शक्यते छेत्तुम्...... ।"

जसरी कुनै तरवार जतिसुकै धारिलो भए पनि आफैलाई काट्न सक्दैन, जतिसुकै तालिम प्राप्त अत्यन्त सिपालु नर्तक भए पनि अफ्नै काँधमा चढेर नाच्न सक्दैन, त्यस्तै जसरी औंलाको टुप्पो

जतिसुकै संवेदनशील भए पनि आफ्नै स्पर्श गर्न सक्दैन त्यस्तै चित्तले पनि आफैलाई देख्दैन। कर्ताले आफूभन्दा भिन्दै कर्ममा पो क्रिया गर्न सक्छ, स्वयंमा क्रिया गर्न त सक्दैन। आगोले आफैलाई डढाउन सक्दैन।

विज्ञानवादी यो युक्तिविरोधलाई हटाउन दृष्टान्त दिँदै स्वसंवेदन सिद्ध गर्न खोज्छन् भने त्यो मिल्दैन भन्ने देखाउनुहुन्छ-

> आत्मभावं यथा दीपः सम्प्रकाशयतीति चेत् ॥१८॥
> नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः।

जस्तै बत्ती स्वयंलाई प्रकाशित गऱ्यो भने ॥१८॥
बत्ती प्रकाशितै हुन्न अँध्यारो नै थियो र के।

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, दीपः = बत्तीले, आत्मभावं = आफ्नो स्वरूपलाई, प्रकाशयति = प्रकाश गर्छ, इति चेत् = यस्तो भन्छौ भने, दीपः = बत्ती त, नैव प्रकाश्यते = प्रकाशित गरिदैन, यस्मात् = किनकि, तमसावृतः = अँध्यारोले ढाकिएको, न = छैन।

विज्ञानवादीहरू भन्छन् कि जसरी एउटा बत्तीले बाहिरी वस्तुहरूलाई प्रकाशित गर्छ त्यस्तै स्वयंलाई पनि प्रकाशित गर्छ। अर्थात् जसरी बाहिरी पदार्थहरू आफै प्रकाशित हुन नसकेर बत्तीको अपेक्षा राख्छन् त्यसरी बत्तीलाई प्रकाशित हुन अर्को बत्तीको आवश्यकता पर्दैन। त्यस्तै यहाँ पनि यो ज्ञानले जसरी बाहिरी वस्तुहरूलाई जान्दछ त्यस्तै आफ्नै अस्तित्वलाई पनि जान्दछ। त्यसकारण यसलाई जान्न अर्को कुनै कुरा चाहिँदैन। स्वयंले नै जान्ने भएकोले यो निरपेक्ष स्वसंवेदन हो।

यसमा माध्यमिकहरूको जवाफ छ कि यो दृष्टान्त वास्तवमा मिल्दैन किनभने जसलाई अँध्यारोले ढाकेको छ त्यसलाई प्रकाशित गर्नु युक्तिसंगत हुन्छ। अन्धकार हटाउनु भनेकै प्रकाशन गर्नु हो। त्यसकारण यी बाह्य वस्तुहरू पहिले अँध्यारोले ढाकिएका थिए त्यसैले प्रकाशित हुन्छन् भन्ने कुरा त उचित हो परन्तु त्यो बत्ती, जसलाई कहिल्यै अन्धकारले ढाकेको छैन त्यसलाई कसरी 'प्रकाशित गर्ने' भन्न मिल्छ ? यो त युक्तिसंगत भएन। त्यसैले बत्ती कहिल्यै पनि प्रकाशित हुँदैन र तिमीहरूको दृष्टान्तले स्वसंवेदन सिद्ध हुँदैन।

विज्ञानवादीहरू फेरि भन्छन् कि हामीले भन्न खोजेको त्यस्तो होइन, अँध्यारो भएको घडालाई प्रकाशित गर्ने जस्तो बत्तीले अँध्यारो भएको आफूलाई प्रकाशित गर्ने भनेको होइन। हामीले त बत्तीले प्रकाश दिनको लागि अरु कुरामा भर पर्नु पर्दैन, निरपेक्ष भएर आफैले दिन्छ भन्न मात्र खोजेका हौं। जस्तै कि-

> न हि स्फटिकवन्नीलं नीलत्वे ऽन्यमपेक्षते ॥१९॥
> तथा किञ्चित् परापेक्षमनपेक्षं च दृश्यते।

स्फटिक भैं नीलले त नीलो बन्न लिँदैन क्यै ॥१९॥
त्यस्तै केही परापेक्षी अनपेक्षी हुने कुनै।

अन्वयार्थ : नीलं = नीलो रंगले, नीलत्वे = नीलोपनको लागि, स्फटिकवत् = स्फटिकले भैं, अन्यं = अर्को कुरालाई, न हि अपेक्षते = अपेक्षा गर्दैन, तथा = त्यस्तै, किञ्चित् = केही कुरा, परापेक्षं = अरुको अपेक्षा गर्ने खालको र, अनपेक्षं च = केही कुरा अरुको अपेक्षा नगर्ने खालको, दृश्यते = देखिन्छ।

एउटा स्फटिक या मणिले आफ्नो कुनै रंग देखाउन सक्दैन र यदि नीलो देखिनुपर्ने भए अरु कुनै नीलो वस्तु सामुमा हुनुपर्छ र त्यसको अपेक्षाले मात्र नीलो देखिन्छ। परन्तु स्वयं नै नीलो नीर, फूल आदि वस्तु छ भने त्यसलाई नीलो देखिन अर्को नीलोको आवश्यकता पर्दैन। त्यस्तै घडा आदि आफूले प्रकाश दिन नसक्ने केही वस्तुहरूलाई अरुले प्रकाशित गर्नु आवश्यक पर्छ भने बत्ती, सूर्य, तारा जस्ता केही वस्तुहरू स्वयंप्रकाश भएका हुनाले तिनीहरुलाई कसैको अपेक्षा हुँदैन। यही भन्न खोजेको हो।

अनीलत्वे न तन्नीलं नीलहेतुर्यथेक्ष्यते ॥२०॥
नीलमेव हि को नीलं कुर्यादात्मानमात्मना।
अनीलत्वे न तन्नीलं कुर्यादात्मानमात्मना ॥२१॥

अनीलो हुन्न त्यो नीलो हेतु चाहिन्छ नीलिन ॥२०॥
नीलो स्वयंले नीलो नै किन गर्थ्यो र आफुमा।
नीलो नभा स्वयंलाई नीलो गर्दैन है पुन: ॥२१॥

अन्वयार्थ : अनीलत्वे = नीलो नभएको वेलामा, तत् = त्यो वस्तु, न नीलं = नीलो नै छैन र, यथा = जसरी नीलहेतु: = नीलो वन्ने हेतु, ईक्ष्यते = देखिन्छ (त्यसैगरी), नीलं एव = नीलोले नै, आत्माना = आफूले, आत्मानं = आफैलाई, क: नीलं कुर्यात् = कस्ले नीलो गराउला ? अनीलत्वे = नीलो नभए, तत् = त्यो स्वयं, आत्मना = आफूले, आत्मानं = आफूलाई, न नीलं कुर्यात् = नीलो गराउनेछैन।

माध्यमिकहरू भन्छन् कि यो दृष्टान्त पनि मिल्दैन। किनभने त्यो नीलो वस्तुले पनि आफू नीलो देखिनलाई स्फटिकले झैं नीलो बन्ने हेतु प्रत्ययहरूको अपेक्षा गरेको हुन्छ। निरपेक्षरूपमा यो आफै नीलो त कहिल्यै पनि बनेको छैन। यदि यो नीलो (नीर या यूँ आदि वस्तु) आफ्ना हेतु प्रत्ययहरूबाट उत्पन्न हुँदाखेरि नीलो नभएर रहेको र पछि कुनै पनि हेतुप्रत्ययको अपेक्षा नगरी आफैले आफैलाई नीलो बनाएको भए त त्यो पनि मानिन्थ्यो। परन्तु त्यस्तो भएको दृष्टान्त त कहीं पनि सम्भव छैन। फेरि यदि त्यस्तो भैहाल्यो भने पनि कर्ताले आफैमा क्रिया गर्ने दोष त लागिहाल्छ जसले गर्दा आगोले आफैलाई जलाउँछ भन्नुपर्ने हुन्छ। यदि त्यो आफू नै नीलो रूपमा उत्पन्न छ भने फेरि आफैले आफैलाई कसरी नीलो बनाउँछ ? त्यो पनि सम्भव छैन। त्यसकारण नीलो नभएमा पनि आफैले निरपेक्षरूपमा आफूलाई नीलो बनाउन सक्दैन र नीलो रहेछ भने पनि आफैले आफैलाई नीलो बनाउने भन्ने सम्भव छैन।

अर्को कुरा यो पनि हो कि स्फटिकको सामु नीला वस्तु भएमा नीलो स्फटिक उत्पन्न हुन्छ र त्यो भन्दा अघिको (सेतो) स्पटिक निरुद्ध हुन्छ। यो त सबै परस्परापेक्षी हो। त्यसैले यी कुनै दृष्टान्तले पनि स्वसंवेदन सिद्ध गर्न सक्दैनन्।

विज्ञानवादीहरूले भन्छन् कि यो हेतु-प्रत्ययबाट उत्पन्न हुने सिद्धान्तले त हाम्रै मतको पुष्टि गर्छ। किनकि हामीले पनि मान्छौं कि विज्ञान पनि आ-आफ्नो हेतु प्रत्ययहरूबाट अजड अर्थात् चेतन स्वभावको रूपमा उत्पन्न हुन्छ। जडको स्वभाव नै आफ्नो अस्तित्वलाई प्रकाशित गर्न अन्य चेतनको अपेक्षा राख्ने खालको हुन्छ भने विज्ञानको उत्पत्ति नै 'स्वयंप्रकाश' को रूपमा भएको हुन्छ। अत:

हाम्रो निरपेक्ष 'स्वसंवेदन' मा कुनै आपत्ति छैन। अर्को कुरा हाम्रो स्वसंवेदनमा कर्ता, कर्म र क्रिया यी तीन कोटि पनि हुँदैनन्। एउटै 'ज्ञान' मात्र त्यहाँ छ र यी भेद छैनन् भन्ने पनि हामी स्वीकार्छौं। त्यसैले तिमीहरूले देखाएको जस्तो कर्ताको स्वक्रियाविरोध पनि यहाँ लागू हुँदैन। यसप्रकार स्वसंवेदनमा कुनै दोष छैन।

यही कुरा तत्त्वसंग्रहमा शान्तरक्षितले यसरी उल्लेख गर्नुभएको छ-

विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य या जडरूपता॥
क्रिया-कारकभेदेन न स्वसंवित्तिरस्य तु।
एकस्यानंशरूपस्य त्रैरूप्यानुपपत्तितः॥ (२०००-२००१)

माध्यमिकहरू भन्छन् कि क्रिया र कारकको भेदले व्यवहारमा प्रसिद्ध भएको शब्दार्थलाई लिएर दोष लगाइएको हो किनकि 'स्वसंवेदन' भन्ने शब्दको अर्थ नै त्यही हो अर्थात् 'आफूले आफैलाई जान्नु'। यदि दोष लाग्छ भन्ने डरले लोकमा प्रसिद्ध भएको शब्दार्थलाई पनि त्यागिदिने हो भने त तिमीहरूलाई लोकबाट पनि बाधा नै हुनेछ। यसरी पनि स्वसंवेदनको परमार्थतः सिद्धि हुँदैन। जसरी प्रतिबिम्ब हेतु-प्रत्ययबाट उत्पन्न भएकोले निःस्वभाव छ त्यस्तै गरी ज्ञानको पनि स्वसंवेदन भन्ने लक्षण कदापि हुँदैन किनकि त्यसको आफ्नो स्वरूप या स्वभाव भन्ने कुरा केही हुँदैन। स्वभाव नभएपछि पनि आफूलाई नै थाहा पाउने भन्ने मान्ने हो भने त आकाशको फूलको आत्मसंवेदन छ भन्नुपर्ने हुन्छ।

यसमा मुख्यरूपमा विवादको विषय के हो भने बाहिरी ज्ञेय पदार्थहरू (ग्राह्य) को अस्तित्व थाहा पाउने चक्षुर्विज्ञान आदि त प्रत्यक्ष प्रमाणबाटै सिद्ध छन् परन्तु त्यो प्रत्यक्ष प्रमाण आदिको जुन ज्ञान हामीलाई हुन्छ त्यसको अस्तित्व केको आधारमा सिद्ध गर्ने ? त्यसैको लागि विज्ञानवादीहरूले स्वसंवेदन मान्दछन्। परन्तु माध्यमिकहरू भन्छन् कि विषयको अपेक्षाद्वारा ज्ञानको प्रमाण हुन्छ भने ज्ञानको अपेक्षाद्वारा विषयको सिद्धि हुन्छ। नागार्जुनले भन्नुभएको छ कि -

"परस्परापेक्षिकी तु सिद्धिस्ते ऽभिमतानयोः।" (परस्परको अपेक्षाबाट तिनीहरूको सिद्धि हुन्छ भन्ने तपाईंले मान्नुभएको छ।) जसको सिद्धि आपेक्षिक हुन्छ ती निःस्वभाव हुन्छन्।

माध्यमिकहरूले निःस्वभाव भन्दाखेरि विज्ञानवादीहरूले नबुझेर 'रित्तो' या 'अलीक' भन्ने ठानेका छन्। त्यही भएर सहमत हुन नसकेका हुन्। उनीहरूको मतमा बाह्य पदार्थहरू विल्कुलै अस्तित्व नभएका भन्ने मानिन्छ। त्यसैले यी बाह्य पदार्थको अपेक्षाबाट विज्ञानको सिद्धि हुँदैन भन्ने ठानिएको हुन्छ। त्यसैको लागि स्वसंवेदन चाहिएको हो। परन्तु माध्यमिकमा त्यसको खाँचो पनि पर्दैन, त्यसैले सत्ता पनि मानिँदैन। यदि विज्ञानवादीले स्वसंवेदन मानेनन् भने विज्ञानको पनि अस्तित्व नदेखेर उच्छेदवादमा खस्ने डर हुन्छ। त्यसैले उनीहरू माध्यमिकलाई 'उच्छेदवादी' भन्ने दोष लगाउँछन्। अतः माध्यमिकले उनीहरूको 'स्वसंवेदन'को सत्ता मान्दाखेरि हुने आपत्तिलाई युक्तिबाट केलाउँदै भन्छन्-

दीपः प्रकाशत इति ज्ञात्वा ज्ञानेन कथ्यते।
बुद्धिः प्रकाशत इति ज्ञात्वेदं केन कथ्यते॥२२॥

बत्ती प्रकाशित हुने जानी भन्दछ ज्ञानले
बुद्धि प्रकाशित हुने केले जानेर भन्दछ ? ॥२२॥

अन्वयार्थ : दीपः = बत्ती, प्रकाशते = प्रकाशित हुन्छ, इति = यस्तो, ज्ञानेन = ज्ञानले, ज्ञात्वा = जानेर, कथ्यते = भनिन्छ भने, वुद्धिः = वुद्धि, प्रकाशते = प्रकाशित हुन्छ, इति = यस्तो, इदं = यो कुरा, केन = केले, ज्ञात्वा = जानेर, कथ्यते = भनिन्छ ?

एकछिनको लागि बत्तीले आफूलाई प्रकाशित गरेको छ भन्ने मानियो भने पनि त्यो बत्ती प्रकाशित भयो भन्ने कुरा त ज्ञानले जानेर भनिन्छ भने बुद्धि प्रकाशित हुन्छ (आफैलाई थाहा पाउँछ) भन्ने कुरा केले जानेर भनिन्छ त ? यो त सिद्ध हुँदैन किनकि ज्ञानलाई जान्ने अर्को ज्ञान त सम्भव छैन, नत्र अनवस्थादोष प्रसङ्ग हुन्छ त्यसकारण स्वसंवेदन सिद्ध हुन सक्दैन। अतीतकालको ज्ञानले यो जान्यो भन्ने कुरा पनि मिलेन। किनकि त्यो त निरुद्ध भैसकेको हुन्छ। अनागत कालको ज्ञान आएकै छैन र त्यसको अस्तित्वै भएको छैन। वर्तमानकालिक दुई ज्ञानहरूमा परस्पर ज्ञान–ज्ञेय भाव हुने सम्भावना नै हुँदैन किनकि तिनीहरूका विचमा उपकार्य–उपकारक भाव नै हुँदैन। अर्थात् जो ज्ञानको विषय हुन्छ त्यो ज्ञानको कारण पनि हुन्छ र जो कारण हुन्छ त्यो कार्यभन्दा पूर्व हुनै पर्छ। त्यसैले समानकालिक दुई ज्ञानमा ज्ञानज्ञेय भाव सम्भव हुँदैन। ज्ञानले स्वयंलाई जान्ने कुरा अझै सिद्ध भएकै छैन। अतः–

प्रकाशा वा ऽ प्रकाशा वा यदा दृष्टा न केनचित्।
बन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमाना ऽ पि सा मुधा ॥२३॥

प्रकाशितै होस् नहोस् वा कोही देख्दैन त्यो भने
लीला झैं बन्ध्यापुत्रीको बताए पनि झूट हो ॥२३॥

अन्वयार्थ : प्रकाशा = प्रकाशि त हुने, वा = अथवा, अप्रकाशा = प्रकाशित नहुने भए पनि, यदा = जव, केनचित् = कसैद्वारा पनि, न दृष्टा = देखिएको छैन भने, सा = त्यो वुद्धि, कथ्यमाना अपि = वताइने गरेको छ तापनि, बन्ध्यादुहितृलीलेव = वन्ध्याकी छोरीका खेलहरू जस्तै, मुधा = झूटो या व्यर्थ हो।

त्यो बुद्धिको स्वभाव आफै प्रकाशित हुने होस् या अप्रकाशितै होस्, यदि कुनै ज्ञानले पनि त्यसलाई आजसम्म देख्न सकेको छैन भने त्यो त व्यर्थको रहेछ भन्नुपर्छ। यद्यपि त्यसको बारेमा यहाँ खुब चर्चा परिचर्चा गरिँदैछ तापनि त्यो त बन्ध्याको छोरीका खेलहरूको कुरा गर्नु जस्तै हो। आखिर बन्ध्याको छोरी नै कसैले देखेको छैन भने त्यो छोरीका खेलहरू हेर्ने कल्पना गर्नु कहाँ सम्मको व्यर्थ कुरा होला ! बुद्धि त वास्तवमा अनुत्पन्न र अनिरुद्ध स्वभावको भएको हुनाले त्यसले आफैलाई थाहा पाउँछ भनेर 'स्वसंवेदन' मान्नु नितान्त युक्तिहीन हुन जान्छ।

विज्ञानवादीहरू फेरि युक्ति निकाल्न प्रश्न गर्छन्–

यदि नास्ति स्वसंवित्तिर्विज्ञानं स्मर्यते कथम्।
अन्यानुभूते सम्बन्धात् स्मृतिराखुविषं यथा ॥२४॥

यदि छैन स्वसंवित्ति, सम्झ्यो विज्ञान के गरी ?
सम्वन्धले त सम्झिन्छ मूसाको विषझैं गरी ॥२४॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, स्वसंवित्तिः = स्वसंवेदन, नास्ति = छैन भने, विज्ञानं = विज्ञानको (पहिलेको चित्तको), कथं = कसरी, स्मर्यते = सम्झना हुन्छ ? अन्यानुभूते = अनुभवका अन्य विषयहरूमा, सम्बन्धात् = सम्बन्धको कारणले गर्दा, स्मृतिः = स्मरण या सम्झना हुन्छ । यथा = जस्तै, आखुविषं = मूसाको विष ।

विज्ञानवादीहरू भन्छन् कि यदि आफ्नो अनुभूति स्वयंलाई ज्ञान नहुने भए अर्थात् स्वसंवेदन नहुने हो भने पहिलेको अनुभव (विज्ञान) लाई पछि कालान्तरमा कसरी सम्झिन सकिन्छ त ? हामीलाई थाहा हुन्छ कि 'हिजो मैले यो घडा देखेको थिए' । अतः हिजो चक्षुर्विज्ञानले 'घडा' देखेकै वेलामा त्यो घडा देख्ने चक्षुर्विज्ञानलाई थाहा पाउने स्वसंवेदन ज्ञान पनि उत्पन्न भएको थियो । त्यसैले त आज फेरि त्यसको सम्झना हुन्छ । नत्र त हिजोको त्यो चक्षुर्विज्ञान त निरोध भैसक्यो । आज कसरी फेरि त्यो विज्ञानको सम्झना हुन सक्छ ? यहाँ त्यही स्वसंवेदन कारण थियो र अहिले 'स्मृति'रूपी कार्य सम्पन्न भयो । अतः स्मृति नामक कार्यलिङ्गबाट स्वसंवेदन भन्ने कारणको अनुमानतः सिद्धि हुन्छ । जस्तै कि धूँवा (कार्य) लाई देखेपछि त्यसको कारण आगोको अनुमान हुन्छ ।

यसमा माध्यमिकहरू भन्छन् कि स्वसंवेदनसँग 'स्मृति' भन्ने कुराको व्याप्ति नै हुँदैन । किनकि स्वसंवेदन र स्मृतिको बिचमा जुन कार्यकारण भाव सम्बन्ध तिमीहरूले बतायौ त्यो नै सिद्ध छैन । कार्यकारणभाव सम्बन्ध सिद्ध हुनको लागि त एउटै ज्ञानद्वारा कार्य र कारण दुवैलाई ग्रहण गर्नुपर्ने हुन्छ । परन्तु त्यस्तो ज्ञान त कतै पनि सम्भव छैन । त्यसैले त्यो मिल्दैन ।

विज्ञानवादीहरू जवाफ दिन्छन् कि चक्षुरादि इन्द्रियहरू चक्षुर्विज्ञान आदि ज्ञानका कारण हुन् र इन्द्रियलाई कुनै ज्ञानले ग्रहण गरेको हुदैन तापनि त्यो ज्ञान र इन्द्रियमा व्याप्ति छ । ज्ञानरूपी कार्यलाई नै लिङ्ग अर्थात् हेतु बनाएर इन्द्रियको अनुमान लगाउन सकिन्छ र इन्द्रियहरू छन् भन्ने प्रमाणित हुन्छ । त्यसै गरी स्मृति देखेर पनि स्वसंवेदनलाई मान्न किन नमिल्ने ? अवश्य मिल्छ ।

माध्यमिकहरू भन्छन् कि यी दुई परिस्थिति नै बेग्लै हुन् । हो, इन्द्रिय नभए पछि त्यो इन्द्रियसँग सम्बन्धित इन्द्रियविज्ञान पनि उत्पन्न हुँदैन । त्यसैले यहाँ इन्द्रिय र ज्ञानमा व्यतिरेकव्याप्ति भएको देखिन्छ । परन्तु यस प्रकारको व्याप्ति स्वसंवेदन र स्मृतिमा छैन । यसको अझै कुनै प्रमाण छैन कि स्वसंवेदन नभएमा स्मृति हुँदैन । अझ हामी सिद्ध गर्छौं कि स्वसंवेदन नभएर पनि स्मृति सम्भव छ । त्यो यसरी–

रूप, शब्द, गन्ध आदि यी बाहिरी ग्राह्य विषयहरूलाई चक्षुर्विज्ञान, घ्राणविज्ञान आदि प्रत्यक्ष ज्ञानद्वारा अनुभव गरिन्छ । त्यसैले यी अनुभूत भैसकेका विज्ञानभन्दा अतिरिक्त (ग्राह्य) विषयहरूसँग विज्ञानको विषय–विषयीभाव सम्बन्ध छ । कुनै क्षणमा चक्षुर्विज्ञानले घट, पट आदि विषयहरूको अनुभव गर्‍यो भने त्यस पछिका क्षणमा त्यही अनुभवसँग सम्बन्धित भएका नाताले ती घट, पटको सम्झना हुन्छ । त्यसै गरी त्यही सम्बन्धको कारणले फेरि ती घट, पट आदिबाट त्यो चक्षुर्विज्ञानको पनि पुनः स्मरण हुन्छ । यसमा त स्वसंवेदनको कुनै काम‌ै छैन । जस्तै कि हामी दृष्टान्त दिन्छौं– कुनै मानिस हिउँदको रातमा सुतेको वेला राती अचानक कुनै कुराले उसको खुट्टामा चिटिक्क टोक्यो । उसलाई थाहा भयो परन्तु निद्राको झोंकमा फेरि कोल्टो फेरेर सुत्यो । भोलि उठेपछि आफ्नो काममा हिंड्यो । त्यो कुरा त्यसै सेलायो । अब बर्खा लागेपछि जब बादल गडाङ् गुडुङ् गर्न थाले तब आएर उसको खुट्टा सुनिएर दुख्न थाल्यो किनकि मूसाको विषको प्रभाव

अब देखापर्न पुग्यो। त्यसबेलामा उसलाई स्मरण हुन्छ कि मलाई त हिँउदमा मूसाले पो टोकेको रहेछ। मूसाले टोकेको भन्ने अनुभव नभए पनि सम्बन्धले गर्दा पछि आएर स्मरण हुन सक्यो।

फेरि विज्ञानवादीहरूले अर्को युक्ति झिक्दछन्-

प्रत्ययान्तरयुक्तस्य दर्शनात् स्वं प्रकाशते।
सिद्धाञ्जनविधिर्दृष्टो घटो नैवाञ्जनं भवेत् ॥२५॥

अन्य प्रत्ययवालाले देख्दा 'स्व' छ प्रकाशित
सिद्धाञ्जनले देखेको घडा नै हैन अञ्जन ॥२५॥

अन्वयार्थ : प्रत्यान्तरयुक्तस्य = अरु प्रत्ययहरूले युक्त भएको (चित्त), दर्शनात् = देख्नाले गर्दा, स्वं = आफूलाई, प्रकाशते = प्रकाशित गर्दछ। सिद्धाञ्जनविधेः = सिद्ध गाजल आदि विधिबाट, दृष्टः = देखिएको, घटः = घडा, अञ्जनं = गाजल, न एव भवंत् = हुने कुरा त आउँदैन।

विज्ञानवादीहरू भन्छन् कि अरु हेतु प्रत्ययहरूले युक्त भएकाले गर्दा दिव्यचक्षु बन्नु, दिव्यश्रोत, परचित्ताभिज्ञा, ईक्षणिका विद्या, सिद्धाञ्जन लाभ हुनु जस्ता कुराले सामर्थ्यवान् चित्त देखा पर्छन् जसले अनैकौं कुराहरू थाहापाउन सक्छन् र अरुको चित्त समेत थाहा पाउँछन्। त्यस्ता असाधारण योगीहरूको चित्तले अरुको चित्त समेत जान्दछ र यसबाट के सिद्ध हुन्छ भने विशेष विधि, प्रत्यय सामग्री आदि अपनाइएमा आफ्नो चित्त पनि नदेखिने भन्ने के छ र? अवश्य सम्भव छ। अतः स्वसंवेदन हुन सम्भव छ।

यसमा माध्यमिकहरू जवाफ दिन्छन् कि आँखामा लगाइने सिद्ध गाजल या यस्तै विशेष सामग्रीले गर्दा टाढाका वस्तु देख्ने, सुन्ने, गाढेको धन थाहा पाउने आदि काम गर्न सकिन्छ। त्यो ठीकै हो। त्यस्तै परचित्ताभिज्ञा लाभ भएमा अर्काको चित्त पनि जानिन्छ। परन्तु यसको मतलव त्यो गाढ-धन, घडा आदि नै स्वयं गाजल त होइनन्। अथवा गाजलले स्वयं गाजललाई देखेको त होइन। त्यस्तै पर चित्ताभिज्ञाले अर्काको चित्त जानिन्छ भन्दैमा आफ्नो चित्त नै जानिन्छ भन्ने सिद्ध हुँदैन। त्यसकारण यो युक्तिले स्वसंवेदन सिद्ध हुन सक्दैन।

विज्ञानवादीहरू भन्छन् कि यदि कहिल्यै पनि ज्ञानको प्रत्यक्ष नहुने हो भने त विषयहरूको पनि ज्ञान हुन्छ भन्ने के प्रमाण छ त? यदि स्वयं ज्ञान नै अज्ञात छ भने केका आधारमा ज्ञानले यी अन्य वाह्य विषयहरूलाई जान्दछ भन्ने प्रमाणित गर्ने त? ज्ञानको स्वसंवेदन त तिमी माध्यमिकहरूले मान्दैनौ। त्यसको लागि अर्को ज्ञान चाहियो भन्ने पनि तिमीहरूले मान्ने कुरा आएन नत्र भने फेरि अनवस्था दोष हुन जान्छ। त्यसकारण तिमीहरूको भनाइले त अर्थग्रहण अर्थात् विषयवस्तुहरूलाई जान्ने कार्य समेत प्रमाणित नहुने भयो। यसको तात्पर्य हुन्छ, स्वसंवेदन नमान्ने हो भने परवेदन पनि असिद्ध हुन जान्छ जसले गर्दा तिमीहरूले देख्ने, सुन्ने जस्ता व्यवहार विल्कुलै अलीक हुन्, छँदैछैनन् भन्ने मान्दारहेछौं।

माध्यमिकहरू भन्छन् - देखेको, सुनेको, जस्ता व्यवहारहरू मानेनौ भन्ने जुन दोष तिमीहरूले हामीलाई लगायौ त्यसमा के हामीले परमार्थतः मानेनौं कि संवृतितः मानेनौं? यदि तिमीहरूले परमार्थतः नमानेको भन्छौ भने हामीले भनेको त्यही हो कि परमार्थतः यी छैनन्। यदि संवृतितः

नमानेको भन्छौ भने त्यो मिल्दैन। किनकि हाम्रो मतमा लोकव्यवहारलाई कुनै निषेध गरिएको छैन। यही कुरा आचार्य दर्शाउनुहुन्छ–

> **यथा दृष्टं श्रुतं ज्ञातं नैवेह प्रतिषिध्यते।**
> **सत्यतः कल्पना त्वत्र दुःखहेतुर्निवार्यते ॥२६॥**

देखे, सुने र जानेको यहाँ छैन निषेधित
सत्यत: कल्पना दु:खहेतु हो त्यो हटाइयो ॥२६॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्ता प्रकारले, दृष्टं = देखिएको छ, श्रुतं = सुनिएको छ, ज्ञातं = जानिएको छ, (त्यसलाई), इह = यहाँ, नैव प्रतिविध्यते = प्रतिषेध गरिँदैन, अत्र तु = यहाँ त, सत्यत: कल्पना = साँच्चिकै छन् भन्ने हिसावले कल्पना गर्नु नै, दु:खहेतु: = दु:खको कारण हो र त्यो, निवार्यते = प्रतिषेध गरिन्छ।

हामीले आफ्नै चक्षुर्विज्ञान जस्ता इन्द्रियहरूबाट प्रत्यक्ष रूपमा देखिएका, गुरुजन आदि आप्तपुरुष एवं आगमहरूबाट सुनिएका र सम्यग् हेतुबाट उत्पन्न भएको अनुमानबाट जानिएका (दृष्ट, श्रुत र ज्ञात) यी व्यावहारिक कुरालाई यहाँ निषेध गरेका छैनौं। किनकि यिनीहरूको पनि निषेध गरेपछि त केही बोल्नै, गर्नै नमिल्ने हुन्छ। जस्तै कि आर्य नागार्जुन भन्नुहुन्छ –"*व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते*"। त्यस्तै अभिसमयालंकारालोकटीकामा पनि भनिएको छ –

> **निर्भासते हि यद् रूपं नैव तत् प्रतिषिध्यते।**
> **वेद्यमानस्य नो युक्तं कस्यचित् प्रतिषेधनम् ॥**

अर्थात् "जुन प्रतिभासित हुन्छ त्यसलाई प्रतिषेध गरिँदैन। थाहा भइरहेकोलाई प्रतिषेध गर्नु उपयुक्त छैन।" लोकहरूले व्यवहारमा सूक्ष्म विचार नै नगरी वस्तुहरूको जस्तो स्थितिलाई मान्दछन् हामी पनि व्यवहारमा त्यही नै मान्छौं परन्तु परमार्थतः ती वस्तुहरू त्यस्ता नै छन् भन्ने कुरा हामी स्वीकार्दैनौं। अतः हामीमा अर्थबोध नै नहुने भनेर लगाइएको दोष लागू हुँदैन।

विज्ञानवादी भन्छन्– यदि लोकको जस्तो मान्यता छ तिमीहरूको पनि त्यस्तै मान्यता हो भने फेरि केको निषेध गरेको त ? माध्यमिक भन्छन्– लोकले वस्तुहरूलाई विचारै नगरी जस्तो अनुभव हुन्छ परमार्थतः त्यस्तै नै हो भन्ने विश्वास गरेका हुन्छन् भने हामीले वस्तुहरूको सूक्ष्म विश्लेषण गर्दा वास्तवमा परमार्थतः त्यस्ता रहेनछन् भन्ने देखेर त्यो पारमार्थिक कल्पना (ग्राह)को मात्र प्रतिषेध गर्दछौं। किनकि त्यस्तो पारमार्थिक सात्ताको कल्पना नै दुःखको कारण हो।

वास्तवमा त्यहाँ हुँदै नभएको सत्ताको कल्पना नितान्त काल्पनिक मात्र हो। त्यही सत्ताको अपेक्षाले 'असत्ता'को आरोप पनि निस्केको हुन्छ। वास्तवमा यी दुवै नै मिथ्या हुन् र यिनैले नै पाँच उपादान स्कन्ध खडा गरेका छन् र संसार भनेको यही नै हो। यो नै दुःखस्वभाव हो। अभिधर्मकोषमा भनिएको छ, "*दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते*" (१/८) अतः हामीले वास्तविकतालाई होइन कल्पनामात्रलाई निषेध गरेका हौं। स्वसंवेदनले वास्तविक सत्ताको ग्रहण गर्ने कल्पनालाई जन्म दिने भएकोले त्यसलाई हामीले खण्डन गर्छौं किनकि त्यो नै दुःखको हेतु हो। भगवान्ले चित्तको ग्राह्य एवं ग्राहक आकार हुने कुराको निषेध गर्नुभएको छ। जस्तै भनिएको पनि छ –

न बोध्यबोधकाकारं चित्तं दृष्टं तथागतैः ।
यत्र बोद्धा च बोध्यं च तत्र बोधिर्न विद्यते ॥(प्रज्ञाकरमतिको पञ्जिकामा उद्‌धृत)

त्यसो भए भगवान्‌ले सूत्रहरूमा चित्तमात्रताको देशना गरेको मिथ्या हो त भन्ने हो भने त्यो मिथ्या होइन । त्यो त त्यसवेला सर्वधर्मशून्यताको लागि पात्र नबनिसकेका विनेयजनहरूलाई मार्गमा लगाउनको लागि चित्तमात्रताको देशना गर्नुभएको हो । यो चित्तमात्रता नीतार्थ अर्थात् वास्तविक नभएर नेयार्थ अर्थात् आभिप्रायिक हो ।

अब आचार्यले स्वसंवेदनको प्रसङ्गलाई टुंग्याएर फेरि पहिलेको विषयमा आउनुहुन्छ –

चित्तादन्या न माया चेन्नाप्यनन्येति कल्प्यते ।
वस्तु चेत् सा कथं नान्या ऽनन्या चेन्नास्ति वस्तुतः ॥२७॥

चित्तभिन्न हैन मायाभन्दा अनन्य हैन रे
वस्तु भए अन्य होला अनन्य भए हुन्न वस्तुत: ॥२७॥

अन्वयार्थ : माया = माया, चित्ताद् = चित्तभन्दा, न अन्या चेद् = भिन्दै होइन भने पछि, अनन्या अपि = अनन्य पनि, न इति = होइन भन्ने, कल्प्यते = कल्पना गरिन्छ, सा = त्यो माया, वस्तु चेत् = वस्तु हो भने, कथं = कसरी, न अन्या = भिन्दै भएन ? अनन्या चेत् = अनन्य (अभिन्न) हो भने, वस्तुत: नास्ति = वास्तविकरूपमा छैन ।

माध्यमिकहरूको तर्फबाट केलाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ कि चित्तभन्दा माया भिन्दै हुनु, चित्तभन्दा माया अभिन्न हुनु, चित्तभन्दा माया भिन्दै पनि अभिन्न पनि दुबै हुनु र चित्तभन्दा माया भिन्दै र अभिन्न दुवै नहुनु गरी चार कोटीबाट चित्त र मायाको बुझाइ हुनसक्छ । त्यसमा तिमी विज्ञानवादीहरूका अनुसार पहिलो पक्ष त सम्भवै छैन किनभने सबै चिज चित्तमात्र हो भन्ने हुनाले भिन्दै मान्ने सम्भावना छैन । फेरि तिमीहरूको मतमा माया भन्ने कुरा छँदैछैन (चित्त बाहेक अरु केही पनि नभएको हुनाले), त्यसैले माया र चित्त अभिन्न हुन् भन्ने दोस्रो पक्ष पनि मिल्दैन । तेस्रो पक्षमा परस्पर विरुद्ध कुरा भएकोले त्यो सम्भवै छैन । आपसमा विरुद्ध स्वभाव एउटै वस्तुमा एकैसाथ रहनै सक्दैनन् । चौथो पनि तिमीहरूको लागि ठीक छैन किनकि एउटा स्वभाव त तिमीहरूले मान्नै पर्ने हुन्छ ।

अतः यदि चित्त मायाभन्दा भिन्न छैन भने त्यो अभिन्न हुनुपर्ने परन्तु अभिन्न पनि नमानेर अनन्य पनि हैन भन्छौ । तेस्रो र चौथो त युक्तिबाट सम्भवै छैन । फेरि यदि माया वस्तु हो भने त्यो चित्तभन्दा अन्य (भिन्न) हुनै पर्छ । यदि भिन्न होइन भने त्यो वास्तविक हुन सक्दैन किनकि चित्तकै स्वभावको हुने भयो ।

अब उपसंहार गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ –

असत्यपि यथा माया दृश्या द्रष्टृ तथा मनः ।
वस्त्वाश्रयश्चेत् संसारः सो ऽन्यथाकाशवद् भवेत् ॥२८॥

असत् माया दृश्य भए जस्तै द्रष्टा मनै भयो
जगत् वस्त्वाश्रित भए आकाशै सरि हुन्छ यो ॥२८॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, माया = माया, असती अपि = असत् छ तापनि, दृश्या = दृश्यको रूपमा आउन सक्छ, तथा = त्यस्तै, मनः = मन पनि, द्रष्टृ = द्रष्टाको रूपमा आउन सक्छ, संसारः = संसार, वस्त्वाश्रयश्चेत् = वस्तुमा आश्रित हुनै पर्ने हो भने, सः = त्यो त, आकाशवद् = आकाश जस्तै, अन्यथा = अर्कै (अवस्तु), भवेत् = होला ।

यदि विज्ञानवादीहरूले जसरी माया अर्थात् बाहिरी यी घडा, कपडा जस्ता प्रतिभासहरू त्यहाँ चित्तभन्दा वेग्लै अस्तित्ववान् छैनन् तापनि दृश्यको रूपमा देखा पर्न सक्छन्, माया भनेकै त्यही हो कि यो वास्तविक रूपमा नहुँदा नहुँदै पनि देखा पर्दछ भन्छन् भने माध्यमिकको भनाइ पनि त्यस्तै छ। जसरी असत् माया पनि दृश्य हुन सक्छ त्यसरी नै यो असत् चित्त (मन) पनि 'द्रष्टा' या ग्रहक (थाहा पाउने वाला) बन्न सक्छ। त्यसकारण विज्ञानवादीहरूले *'यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति" (बो.च. ९.१५)*मा माध्यमिकलाई लगाएको आरोप लागू नै हुँदैन।

विज्ञानवादी फेरि भन्छन् कि यदि यो संसार या बाह्यार्थ सबै कल्पित मिथ्या हो भने पनि त्यसको आधार या आश्रय त सत्य या वस्तुसत् हुनै पर्ने हुन्छ। यदि आधेय स्वरूपको संसारजस्तै त्यसको आधार स्वरूप अधिष्ठान चित्त पनि असत्य नै हुने हो भने त सम्पूर्ण कुरा असत् भए। यहाँ केही न रहने भयो र सबै चिज शून्य भयो भने त संसार र मोक्ष भन्ने व्यवस्था पनि व्यर्थ भैहाल्यो। वास्तवमा राग, द्वेष, मोह जस्ता मलहरू 'संक्लेश' हुन् किनकि यिनीहरूले चित्तलाई मलिन पार्दछन्। त्यस्तै चित्तलाई विशुद्ध गराउने ३७ बोधिपाक्षिक धर्महरूको मार्ग र फल अर्थात् 'बोधि'लाई व्यवदान भन्दछन् जसको अर्थ हो विशुद्धि। संक्लेशहरूलाई त्यागनुपर्ने भएकाले 'हेय' हुन् भने व्यवदान धर्महरू ग्रहण गर्नुपर्ने भएकाले 'उपादेय' हुन्। त्यस्तै राग आदि क्लेशद्वारा ग्रसित भएको चित्तलाई 'संक्लिष्ट' चित्त भनिन्छ। यी राग आदि मलहरू समारोपको बलले चित्तमै आश्रित भएर उत्पन्न हुन्छन्। त्यही भएर यिनीहरूलाई 'आगन्तुक मल' भनिन्छ। यिनीहरूको आश्रय भनेकै चित्त हो। यिनैबाट कर्म हुन्छ र कर्मबाट संसार चलिरहन्छ। यदि यी आगन्तुक मलबाट चित्त मुक्त भयो भने ग्राह्य-ग्राहक रूपी द्वैत वासनाबाट पनि मुक्त हुन्छ र आफ्नो वास्तविक प्रभास्वररूपमै परावृत्त हुन्छ (फर्किन्छ)। यसैलाई 'आश्रय- परावृत्ति' भन्दछन् र यही नै व्यवदान हो। त्यसकारण यस्तो परमार्थतः वस्तुभूत चित्तको स्वरूप नहुने हो भने संक्लेश र व्यवदान भन्ने कुरा नै सिद्ध हुन सक्दैन। यही चित्तमा संक्लेश आए भने संसार हुन्छ र यसको विशुद्धि भयो भने निर्वाण हुन्छ। त्यसैले यो संसार वस्त्वाश्रय अर्थात् वस्तुभूत चित्तमा आश्रित छ।

माध्यमिक भन्छन् कि यदि चित्त वस्तुभूत भएर त्यसमा संसार आश्रित हुन्छ भन्ने हो भने त त्यो चित्त रित्तो आकाश जस्तो अवस्तु हुने छ। किनकि चित्तभन्दा संसार भिन्दै भएको हुनाले चित्त अवस्तु नै ठहरिने छ। यसरी चित्तमा आश्रित त्यो संसार वस्तु हो कि अवस्तु हो ? यदि वस्तु हो भने त्यो चित्तस्वरूप नै हो कि चित्तभन्दा भिन्न हो ? यदि चित्तस्वरूप नै हो भने 'चित्तमा आश्रित संसार' भन्नु मिलेन किनकि एउटै वस्तुमा आधाराधेय सम्बन्ध देखाउनु कल्पना मात्र हो। फेरि चित्त त स्वभावले नै विशुद्ध प्रभास्वर भएको हुनाले त्यो संसार पनि अप्रहेय अर्थात् त्यागन नमिल्ने हुन पुग्नेछ। यदि चित्तसँग त्यो संसार भिन्न वस्तु हो भन्छौ भने तिम्रो प्रतिज्ञा नै विग्रिन्छ किनकि भगवान्ले *"चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम्"* भनेको कुरा तिम्रो सिद्धान्त हो र त्यसको हानि हुनेछ। यदि संसारलाई अवस्तु मान्छौ भने त्यो त शशविषाण अर्थात् खरायोको सीङ् जस्तै केही

पनि छैन भन्नुपर्‍यो र त्यो केवल आकाश जस्तो कल्पनाबाट मात्र भनिएको प्रज्ञप्तिसत् हुनेछ। जसको फलस्वरूप कुनै पनि अर्थक्रियाकारित्व त्यसमा हुने छैन र अझ निःस्वभाव (अवस्तु) भएको हुनाले तिमीहरू हाम्रै मतमा आइपुग्नेछौ।

विज्ञानवादीहरू भन्छन् - पाँच उपादान स्कन्धको संसार अवस्तु हो तापनि यसको आश्रय चित्त वस्तुभूत भएको हुनाले यसले अर्थ क्रियाकारित्व देखाउँछ। त्यसकारण हाम्रो मतमा कुनै आपत्ति छैन।

फेरि माध्यमिक भन्छन् -

वस्त्वाश्रयेणाभावस्य क्रियावत्त्वं कथं भवेत्।
असत्सहायमेकं हि चित्तमापद्यते तव ॥२९॥

कसरी वस्त्वाश्रयले क्रियाकारी अभाव भो ?
असत्सँगै चित्तमात्र तिम्रो बाँकी हुने भयो ॥२९॥

अन्वयार्थ : अभावस्य = अभाव भन्ने कुराको, वस्त्वाश्रयेण = वस्तुको आश्रयले, कथं = कसरी, क्रियावत्त्वं = क्रियाले युक्त हुनु, भवेत् = सिद्ध होला ? तव = तिमीहरूको, चित्तं = चित्त त, एकं = एक मात्र, असत्सहायं = असत् या अभाव कुरा मात्र सहायक वनेको अवस्थामा, आपद्यते = आइपुग्ने छ।

जसको कुनै अस्तित्व नै छैन त्यस्तो नितान्त अभावको त आश्रय नै किन चाहियो ? वन्ध्यापुत्रको आश्रय के हुन्छ ? त्यस्तो अभावको आश्रय हुने सम्भावना नै छैन। आश्रय - आश्रयीभाव भनेको नै कार्य-कारणभाव हो। अभाव त कसैको कार्य हुन सक्दैन। यदि अभावभूत संसार चित्तमा आश्रित छ भन्ने एक छिन मानिहालौं भने पनि त्यो अभावमा कसरी क्रियाकारित्व हुने सम्भव छ ? अभावले पनि क्रिया गर्छ भने खरायोको सिङ्ले घोच्यो भन्ने मान्नु पर्‍यो, वन्ध्यापुत्री नाचेकी हेर्न सक्नुपर्‍यो। यदि त्यो संसार क्रियावान् छ भने त्यो अभावरूप हुन पनि सक्दैन। अर्थ क्रियाकारित्व भनेको भावको लक्षण हो। त्यसकारण तिमीहरूको चित्तको एक मात्र अभाव (असत्) सहायक छ किनकि तिमीहरूले चित्तलाई एक मात्र परमार्थसत् मान्छौ र चित्तभन्दा अर्को कुनै कुराको पनि सत्ता मान्दैनौ।

विज्ञानवादी भन्दछन् तिमीहरूले जे भन्यौ त्यसबाट हाम्रो राम्रै भयो किनकि हामीले पनि त्यही भन्न खोजेका हौं कि ग्राह्य र ग्राहक आकारबाट रहित भएको अद्वय चित्त नै एक मात्र हाम्रो मत हो। चित्तका ग्राह्य आकार र ग्राहक आकार त अविद्याको कारणले मात्र भासित भएका हुन्। वास्तवमा यो द्वैतभास अविद्या रहुञ्जेल मात्र स्थित हुन्छ। अविद्या नाश हुँदा त एक मात्र चित्त रहनु नै हाम्रो मत हो।

माध्यमिकहरू फेरि दोष लगाउँछन्-

ग्राह्यमुक्तं यदा चित्तं तदा सर्वे तथागताः।
एवं च को गुणो लब्धश्चित्तमात्रे ऽपि कल्पिते ॥३०॥

ग्राह्यमुक्त भए चित्त तथागत सवै भए
चित्तमात्रा कल्पनाले फेरि के गुण पाइए ? ॥३०॥

अन्वयार्थ : *यदा = जव, ग्राह्यमुक्तं = ग्राह्यवाट मुक्त भएको नै, चित्तं = चित्त छ भने, तदा = त्यस अवस्थामा त, सर्वे = सवै नै, तथागता: = तथागत भए, एवं च = यस्तो हो भने त, चित्तमात्रे = चित्तमात्र सद्वस्तु भन्ने, कल्पिते अपि = कल्पना गरे पनि, को गुण: = के गुण, लब्ध: = प्राप्त भयो त ?*

यदि तिमीहरूको 'चित्त ग्राह्यमुक्त नै छ' भन्ने भनाइ छ भने त्यसको तात्पर्य हुन्छ ग्राह्य-ग्राहक, अभिधान-अभिधेय, ज्ञाता-ज्ञेय आदि सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्चको संसारबाट रहित भएको त्यही एक मात्र चित्त भन्ने वस्तु छ। फेरि त्यो सम्पूर्ण जीवधारीमा पनि छ भने त ती सवै अहिले नै बुद्ध या तथागत नै भैहाले, किनकि बुद्ध भनेको पनि त्यही अवस्था हो। त्यसो भए त यहाँ पृथग्जन नै कोही रहेन। अनि त्यो अवस्थाको प्राप्तिको लागि यहाँ जुन मार्गभावना गरिन्छ त्यो व्यर्थ हुन गयो। आखिर त्यस्तो त यहाँ छैन। ग्राह्य-ग्राहक आकारले रहितै छ भने पनि अभावको अनुभव अर्थात् अस्तित्वको प्रहाण त भएको छैन। त्यसैले क्लेशहरू बाँकी छन् र मार्गभावना आवश्यक छ। अनि त चित्तमात्र सद्वस्तु छ, सवै विज्ञप्तिमात्र हो भन्ने तिमीहरूले कल्पना गरेर पनि के गुण लाभ भयो त ? जब चित्त अद्वय छ भन्ने जानेर पनि राग आदि क्लेश आइरहन्छन् भने त्यस्तो जान्नुको कुनै प्रयोजन भयो त ? विज्ञानवादीहरू जवाफ दिन्छन्-

ज्ञाते मायोपमत्वे ऽपि कथं क्लेशो निवर्तते ?
यदा मायास्त्रियां रागस्तत्कर्तुरपि जायते ॥३१॥

माया समान जान्दैमा क्लेश नाश कहाँ भयो
मायास्त्रीमा त कर्ताको जागेको राग देखियो ॥३१॥

अन्वयार्थ : *मायोपमत्वें = मायासमानका हुन् भन्ने, ज्ञातेऽ पि = जाने पनि, कथं = कसरी, क्लेश: = क्लेश, निवर्तते = हट्छ त ? यदा = जब कि, मायास्त्रियां = मायावाट उत्पन्न भएकी स्त्रीमा, कत्कर्तु: अपि = त्यसलाई सिर्जना गर्ने कर्ताको पनि, राग: = राग, जायते = उत्पन्न हुन्छ ।*

जुन दोष तिमीहरूले हामीलाई लगायौ त्यो दोष त तिमीहरूलाई पनि लागू हुन्छ, किनकि तिमीहरूले सवै माया समानको मात्र देख्ने भन्छौ। त्यसो हो भने त यी सवै माया समान हुन् भन्ने जानेर पनि क्लेशबाट कसरी मुक्ति भयो त ? क्लेश त उस्तै नै छन्। दृष्टान्त हेर्छौ भने पनि देखिन्छ कि कुनै मायाकार (जादूगर) ले एउटी स्त्रीको सिर्जना गऱ्यो भने त्यो स्वयंमा पनि राग- उत्पन्न भएको देखिएको छ। मायाकारले त सबभन्दा वढी यथार्थता जानेको हुन्छ तापनि उसमा राग उत्पन्न हुनुले नै जनाउँछ कि माया जस्तो जान्दैमा क्लेशबाट मुक्त भइने रहेनछ। त्यस्तै गरी सवै धर्महरू मायामय जाने पनि क्लेशबाट मुक्ति हुने के निश्चित भयो र ? त्यसकारण तिमीहरूको मत पनि दूषित हुन पुग्छ। माध्यमिक भन्छन् -

अप्रहीणा हि तत्कर्तुर्ज्ञेयसंक्लेशवासना।
तद्दृष्टिकाले तस्यातो दुर्वला शून्यवासना ॥३२॥

कर्ताको ज्ञेयसंक्लेश बासना नष्ट छैन र
त्यो देख्ने क्षणमा उस्को दुर्वल, छ शून्यबासना ॥३२॥

अन्वयार्थ : तत्कर्तुः = त्यो मायाकारको, ज्ञेयसंक्लेशवासना = ज्ञेयरूपी क्लेशहरूको वासना, अप्रहीणा हि = नाश भएकै छैन अतः = त्यसकारण, तद्दृष्टिकाले = त्यो माया देख्ने वेलामा, तस्य = त्यो मायाकारको , शून्यवासना = शून्यताको वासना, दुर्वला = कमजोर हुन्छ ।

त्यो दोष हामीमा लागू हुँदैन, किनकि त्यो मायाकारमा ज्ञेय वस्तुको सत्ताप्रति भएको वासना अझै प्रहाण भएको छैन । त्यसैले उसले आफैमा फैलाएको त्यो माया देख्ने क्षणमा पनि उसको शून्यताको वासना कमजोर हुन्छ र उसमा राग उत्पन्न हुन्छ ।

कुनै पनि कुराहरूको आफ्नो निरपेक्ष स्वभाव नभएकोले ती निःस्वभाव अर्थात् शून्य छन् । यही निःस्वभावता नै शून्यता हो र यथार्थता हो । तर अज्ञानले ग्रसित हुँदै अनादिकालदेखि नै जन्ममरणको चक्रमा घुम्दै आएको हुँदा त्यस्तो यथार्थतालाई नदेखेर त्यसमा 'सत्ता' या 'असत्ता' (उच्छेद = अपवाद)को समारोप गर्दै अनुभव गर्ने संस्कार प्राणीमा वसेर आएको हुन्छ । यसरी स्वतन्त्र एवं पृथग् अस्तित्वको रूपमा ज्ञेयलाई अलग गर्ने जुन सूक्ष्म दृष्टि छ त्यसैलाई ज्ञेयावरण भन्दछन् । यही आवरणले शून्यताको ज्ञानलाई ढाकेको हुन्छ । त्यसकारण त्यसलाई यहाँ 'ज्ञेयसंक्लेशवासना' भनेको हो । त्यसलाई नाश गर्न शून्यताभावना गरिराख्नुपर्छ र शून्यताकै रूपमा देख्ने संस्कार बलियो बनाउँदै लग्नुपर्छ । त्यो मायाकारले शून्यताको भावना गरेको हुँदैन त्यसैले उसले माया निर्मित स्त्रीमा पनि राम्रोसँग शून्यता देख्न सक्दैन । अरुले भन्दा त्यो माया उत्पन्न हुने हेतु प्रत्ययहरू उसले बढी जानेको हुनाले उसलाई अरुलाई जस्तो भ्रम त हुँदैन तैपनि उसको उक्त ज्ञेयसंक्लेश-वासना नष्ट नभएको हुनाले हल्का रूपमा भए पनि राग उत्पन्न भइहाल्छ किनकि राग आदि क्लेशको बीज नै त्यही वासना हो ।

परन्तु शून्यताको भावना बारम्बार गर्ने हो भने चित्तसन्तानमा शून्यताको वासना बढी हुन थाल्छ र त्यसले स्वाभाविक सत्तालाई ग्रहण गर्ने संस्कारलाई क्रमशः नष्ट पार्दै गएर अन्तमा सबै वस्तुहरूप्रतिको त्यो सत्तादृष्टिलाई नष्ट पार्न सक्छ । यही कुरा आचार्य बताउँदै हुनुहुन्छ -

शून्यतावासनाधानाद्धीयते भाववासना ।
किञ्चिन्नास्तीति चाभ्यासात् सापि पश्चात् प्रहीयते ॥३३॥

शून्यतावासना बोक्दा नाशिन्छ भाववासना
केही छैन भनी यत्न गर्दा नाशिन्छ त्यो पनि ॥३३॥

अन्वयार्थ : शून्यतावासनाधानाद् = शून्यताको वासनालाई बलियोसँग धारण गर्नाले, भाववासना = भाव (अस्तित्व)को वासना, हीयते = त्यागिन्छ, किञ्चिन्नास्तीति = केही पनि होइन भन्ने यस्तो, अभ्यासात् = अभ्यास गर्नाले , सापि = त्यो शून्यतावासना पनि, पश्चात् = पछिबाट, प्रहीयते = त्याग गरिन्छ ।

सम्पूर्ण धर्महरूको निःस्वभावता देख्ने अभ्यास गर्दागर्दै जब त्यो भावनाद्वारा बलियो हुन्छ तव त्यसको वासनाले गर्दा भाववासनाको परित्याग हुन्छ । किनभने निःस्वभावता देख्नु र वस्तुसत्ता देख्नु आपसमा ठीक विपरीत कुरा हुन् । एउटा भएको वेला अर्को रहनै सक्दैन । फेरि शून्यता या निःस्वभावता वस्तुहरूको यथार्थ स्थिति हो जब कि भावहरूको ग्राह हुनु आगन्तुक र अलीक हो । जब वास्तविकताको बोध बलियो हुन्छ तब काल्पनिकताको विनाश हुन्छ ।

अब प्रश्न उठ्छ कि चाहे भाव (पदार्थहरू) प्रति होस् चाहे शून्यताप्रति होस् आखिर अभ्यासको बलले वासनालाई दह्रो बनाउने काम त कल्पना-जनित र अभिनिवेशकै स्वभाव भएकोले काल्पनिकताबाट पूर्ण छुटकारा त भएन, एउटा कुरा समातेको भए त्यो छोडेर अर्को कुरा समात्न थालियो भने अग्राह कसरी भयो र संसारबाट कसरी मुक्त हुन्छ ?

त्यसमा आचार्य भन्नुहुन्छ कि *"किञ्चिन्नास्तीति चाभ्यासात्"*। निः स्वभावता भनेको भावहरूको देखिएको स्वभावलाई निषेध गर्नु मात्र हो। त्यसलाई 'प्रसज्यप्रतिषेध' भन्दछन्। त्यसरी निषेध गरेको कुनै अवस्था या अस्तित्वलाई फेरि अर्को स्वरूपको (निःस्वभावताको या शून्यताको) अस्तित्व दिनु मिल्दैन। त्यसो गरेमा त्यो निःस्वभावता या शून्यता नै हुँदैन। परन्तु अभ्यासमा भावहरूको निषेध गर्दाखेरि शून्यताप्रति मसिनो अभिनिवेश या ग्राह रहेकै हुन्छ। त्यसकारण त्यस्तो निषेधमात्रताको कुनै पनि अस्तित्व छैन भनेर फेरि सँगै बुझिराख्नु र त्यही रूपमा अभ्यास गरिराख्नुपर्छ। त्यसको अभ्यास राम्रो हुँदै गए पछि उक्त शून्यताप्रतिको जुन ग्राह अर्थात् वासना रहेको थियो त्यो पनि नाश हुन्छ। यदि त्यस्तो नगर्ने हो भने त फेरि शून्यता पनि एक प्रकारको अभिनिवेशदृष्टि बन्न जान्छ र पार पाउन गाह्रो हुन्छ। आचार्य नागार्जुन भन्नुहुन्छ -

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरण जिनैः।
येषां तु शुन्यतादृष्टि स्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥

"बुद्धहरूले सम्पूर्ण दृष्टिहरूबाट छुटकारा हुनु नै शून्यता हो भन्नु भएको हो। जसले त्यो शून्यतालाई पनि दृष्टि बनाउँछन् तिनीहरूलाई त केही मद्दत गर्न सकिन्न भन्नुभएको छ।"

यस प्रकार के बुझ्नुपर्छ भने सर्वप्रथम शून्यताको वासनाले भाव या सत्ताको वासनालाई प्रहाण गर्नुपर्छ। पछि फेरि शून्यता-शून्यता अर्थात् परमार्थ शून्यताद्वारा त्यो शून्यताप्रतिको वासनालाई पनि प्रहाण गर्नुपर्छ।

फेरि प्रश्न उठ्छ कि यदि 'केही छैन' भन्ने अभ्यासले शून्यतावासनालाई प्रहाण गर्‍यो भने पनि त्यहाँ अभावकल्पना त कायमै रहने भयो र अभावको ग्राह हुने भयो जसले गर्दा फेरि मुक्ति सम्भव नहुने देखियो किनकि कल्पना-जनित वासनाको सर्वथा प्रहाण त भएन। त्यसको उत्तरमा आचार्य भन्नुहुन्छ -

यदा न लभ्यते भावो यो नास्तीति प्रकल्प्यते।
तदा निराश्रयो ऽ भावः कथं तिष्ठेन्मतेः पुरः ॥३४॥

जव भावै पाइँदैन, नभएको छ कल्पित
अभाव आश्रयहीन बुद्धिसामु रहोस् कहाँ ॥३४॥

अन्वयार्थ : यदा = जव, यो भावः = जुन भावलाई, नास्तीति = छैन भनेर, प्रकल्प्यते = कल्पना गरिन्छ (त्यही नै), न लभ्यते = प्राप्त हुँदैन भने, तदा = त्यस अवस्थामा, निराश्रयः = आश्रय नै नभएको, अभावः = अभाव, कथं = कसरी, मतेःपुरः = वुद्धिको सम्मुख, तिष्ठेत् = रहला ?

जसको अभाव आर्थात् छैन भन्ने कल्पना गरिन्छ त्यही नै यदि विचार गर्दाखेरि उपलब्ध

भएन भने त्यसबेला अभावको कुनै पनि आश्रय हुँदैन (किनकि भावको अपेक्षाले अभावको स्थिति हुन्छ)। कुनै पनि आश्रय नभएको त्यो अभाव बुद्धिका सामु कसरी स्थित रहन सक्छ किनकि बुद्धिले त विचार गर्छ। त्यसकारण भावप्रतिको ग्राहलाई काट्न सर्वधर्मशून्यताको भावना बताइएको हो। त्यसको शून्यता बुझिराख्नाले त्यसप्रतिको सूक्ष्म ग्राह पनि नष्ट भएर जान्छ परन्तु यो कुरा स्पष्टसँग बुझेर भावना गरेको हुनुपर्छ। किनकि नागार्जुनले भन्नुभएको छ,

"विनांशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसाम्"

अर्थात् शून्यतालाई राम्रोसँग बुझेन र गलत तरीकाले देख्यो भने त्यस्ता मन्दबुद्धिवालाहरूका निमित्त यो विनाशकारी हुन्छ। त्यही भएर प्रज्ञापारमिता सूत्रहरूमा समस्त कल्पनाजालहरूलाई काट्नको लागि धेरै प्रकारका शून्यताहरू बताइएका छन्। त्यहाँ बताइएको छ कि शून्यता रूपभन्दा भिन्दै होइन, रूप नभएर शून्य होइन कि रूप नै शून्य हो र शून्यता नै रूप हो, इत्यादि। जस्तैः-

"पुनरपरं, सुभूते, बोधिसत्वो महासत्वः प्रज्ञापारमितायां चरन् सर्वाकारज्ञताप्रतिसंयुक्तैर्मनसिकारैरेवं प्रत्यवेक्षते - न रूपशून्यतया रूपं शून्यं रूपमेव शून्यम्, शून्यतैव रूपम्। न वेदनाशून्यतया वेदना शून्या, वेदनैव शून्या, शून्यतैव वेदना। ……… विज्ञानमेव शून्यं शून्यतैव विज्ञानम् इत्यादि।"

आचार्य नागार्जुनले पनि भन्नुहुन्छ -

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता।
भावः स्वतन्त्रो नास्तीति सिंहनादस्तवातुलः॥ (चतुःतवः २.२०)

त्यसकारण शून्यता भनेको धर्म (भाव पदार्थहरू)भन्दा वेग्लै होइन। अतः यो यिनीहरूको निषेधबाट प्राप्त हुने अर्को ग्राह्य वस्तु होइन भन्ने बुझ्नुपर्छ।

यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्वा प्रशाम्यति॥३५॥

जव भाव या अभाव रहन्नन् बुद्धिको अघि
अर्को गति नपाएर शान्त हुन्छ अनाश्रयी॥३५॥

अन्वयार्थ : यदा = जब, मतेः = बुद्धिको, पुरः = सामुन्ने, न भावः = न त 'भाव', नाभावः = न त अभाव, सन्तिष्ठते = र हन्छ, तदा = त्यसवेलामा, अन्यगत्यभावेन = अर्को कुनै पनि गति नहुनाले गर्दा, निरालम्वा = आलम्वन रहित भई, प्रशाम्यति = शान्त हुन्छ।

जब बुद्धिको सामु परमार्थतः सत् स्वभावको कुनै पनि भावरूप वस्तु या अभाव रूप वस्तु उपस्थित हुँदैन, त्यसवेला विधि र प्रतिषेध (छ भन्ने विधान र छैन भन्ने प्रतीकार) यीभन्दा भिन्दै अर्को कुनै पनि गति नहुने भएकोले कुनै पनि आलम्वन भएन भने बुद्धि पूर्णरूपमा शान्त हुन्छ। हेतु-प्रत्यय भएनन् भने कुनै पनि कुरा रहँदैन। इन्धन आदिको अभाव भयो भने अग्नि पनि शान्त हुन्छ। त्यस्तै आलम्वनको अभावले गर्दा बुद्धि पनि शान्त हुन्छ।

यदि त्यसो हो भने बुद्धावस्थामा पनि सम्पूर्ण आलम्बनहरू शान्त भैसकेका हुन्छन् अनि त

बुद्धहरूले परहित एवं लोव्यवहार कसरी गर्छन् त ? यसको उत्तरमा आचार्य भन्नुहुन्छ –

चिन्तामणिः कल्पतरुर्यथेच्छापरिपूरणः ।
विनेयप्रणिधानाभ्यां जिनविम्बं तथेक्ष्यते ॥३६॥

चिन्तामणि, कल्पवृक्ष जस्तै इच्छा पुऱ्याउँछन्
विनेय, प्रणिधानैले जिनले पनि गर्दछन् ॥३६॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, चिन्तामणि: = चिन्तामणि, कल्पतरु: = कल्पवृक्ष, इच्छापरिपूरण: = इच्छा पूरा गर्ने स्वभावको हुन्छ, तथा = त्यस्तै, विनेय-प्रणिधानाभ्यां = विनेयजन र प्रणिधानद्वारा, जिनविम्बं = बुद्धको काय पनि, ईक्ष्यते = (इच्छा पूरा गर्दैगरेको) देखिन्छ ।

जसरी चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदिले अरुका इच्छा पुऱ्याउँछन् त्यसै गरी बुद्धहरूको बिम्ब अर्थात् 'काय'ले पनि विनेयजन र प्रणिधानको कारणले सत्वहित गरिरहेको देखिन्छ ।

चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, भद्रकलश आदिमा कुनै पनि विकल्प, चिन्तन, आदि हुँदैनन् तापनि मानिसको र देवताको सम्पूर्ण मनोरथ पूरा गरिराखेका हुन्छन् । भगवान् बुद्धको काय पनि त्यस्तै हो, किनकि उहाँले सम्पूर्ण विकल्पहरूको प्रहाण गरिसक्नुभएकोले उहाँमा पनि चिन्तन, सङ्कल्प-विकल्प भन्ने कुरा केही हुँदैनन् । तर पनि लोकको हित र सुख निरन्तर अनाभोगरूपमा सम्पादन गर्नुहुन्छ । कसरी त्यस्तो सम्भव भयो ? विनेयजनको वशले र प्रणिधानको वशले । जिनहरूले परार्थकृत्य गर्ने कारण यिनै दुइटा हुन् । जब विनेयजन अर्थात् उहाँका शिक्षा अनुसार चल्न योग्य पात्रहरू हुन थाल्छन् र तिनीहरूले गरेका कुशल कर्महरूको परिपाक हुनेवेला आउँछ तब उनीहरू मार्गमा प्रवेश हुनसक्ने सम्भावना भएकोले त्यस्ता सत्व भएपछि जिनहरूबाट उनीहरूको हित सम्पादन हुन्छ । त्यस्तै पहिलेदेखि नै सत्वको हित गर्छु भन्ने सङ्कल्प लिँदै असंख्य कल्पसम्म सत्वहरूको लागि हितचर्या गरिराखेको हुनाले उहाँको उक्त सङ्कल्प (प्रणिधान) यति बलियो भएको छ कि अब उहाँले कुनै पनि सङ्कल्प विकल्प नलिए पनि अनाभोग रूपमा चलिरहन्छ । कुम्हालेको चक्कालाई एकछिन घुमाएपछि छोडिदिँदा पनि त्यसको कोणीय संवेग (angular momentum) को कारणले पछिसम्म घुमिरहन्छ त्यस्तै न्यायले यहाँ पनि स्वयं परार्थकृत्य भइरहेको देखिन्छ । उहाँले साँच्चिकै हित गर्छु भन्ने सोचेर हुने होइन । *त्यही भएर आर्य तथागतगुह्यसूत्रमा भनिएको* पनि छ,

"यस्यां रात्रौ तथागतो ऽ भिसम्बुसद्धो यस्यां च परिनिर्वृतः अत्रान्तरे तथागतेन एकमप्यक्षरं नोदाहृतम् । तत्कस्य हेतोः ? नित्यं समाहितो भगवान् । ये च अक्षरस्वररुतवैनेयाः सत्त्वाः, ते तथागतमुखादूर्णाकोशादुष्णीषाद् ध्वनिं निश्चरन्तं शृण्वन्ति" इत्यादि । अर्थात् जुन रात्रीमा तथागत अभिसम्बुद्ध हुनुभयो त्यहाँदेखि परिनिर्वाण हुँदासम्मको विचमा उहाँले एक अक्षर पनि बोल्नुभएन । किन ? किनकि भगवान् बुद्ध सधै समाहित हुनुहुन्छ । तैपनि जो व्यक्तिहरू उहाँको बोलीका अक्षरको स्वर सुनेर मार्गमा आउन परिपाक भैसकेका छन् उनीहरूले उहाँको ऊर्णाकोशबाट अथवा मुखबाट अथवा उष्णीषबाट ध्वनि निस्केको सुन्छन् ।" त्यही भएर आचार्य नागार्जुनले पनि यसरी स्तुति गर्नुभएको छ,

नोदाहृतं त्वया किञ्चिदेकमप्यक्षरं विभो ।
कृत्स्नश्च वैनेयजनो धर्मवर्षेण तर्पितः ॥ (चतुःस्तवः १/७)

"हे विभो, हजूरले एक अक्षर पनि नबोलेरै विनेयजनको विशाल समूहलाई धर्मको वर्षा गरेर तृप्त पार्नु भयो" ।

तत्त्वसंग्रहमा शान्तरक्षितले पनि भन्नुहुन्छ –

"तस्मित् ध्यानसमापन्ने चिन्तारत्नवदास्थिते ।
निश्चरन्ति यथाकामं कुडयादिभ्यो ऽपि देशनाः ॥
ताभिर्जिज्ञासितानर्थान् सर्वान् जानन्ति मानवाः ।
हितानि च यथाभव्यं क्षिप्रमासादयन्ति ते । (३२४०-४१)

यही कुरालाई दृष्टान्तबाट स्पष्ट पार्न आचार्य भन्नुहुन्छ –

यथा गारुडिकः स्तम्भं साधयित्वा विनश्यति ।
स तस्मिंश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशमयेत् ॥३७॥

स्तम्भ साधेर मर्ने जो गारुडिक नभा'पनि
धेरै पछि सम्म विष त्यसले शान्त पार्छ नि ॥३७॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, गारुडिकः = गरुड विद्या जान्नेवालाले, स्तम्भं = खम्बालाई, साधयित्वा = साधन गरेर, (अभिमन्त्रित गरेर), विनश्यति = मर्दछ । तस्मिन् = त्यो गारुडिक, चिरनष्टे = मरेको धेरैकाल भए पछि पनि, स = त्यो खम्वाले, विपादीन् = विष आदिलाई, उपशामयेत् = शान्त पार्ने हुन्छ ।

कुनै गरुडविद्याको ज्ञाता (गारुडिक) ले आफ्नो सिद्धविद्याको सहाराले एउटा खम्बालाई अभिमन्त्रित गरेर 'यसलाई जसले छुन्छ उसको विष उत्रोस्' भन्ने सङ्कल्प गरेर जमीनमा गाडिदियो भने उ मरेर गए पनि कालान्तरसम्मै त्यो खम्बाले विष आदिलाई शान्त पार्ने काम गरिराखेको हुन्छ ।

बोधिचर्यानुरूप्येण जिनस्तम्भो ऽपि साधितः ।
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वे ऽपि निर्वृते ॥३८॥

वोधिचर्यानुसारैले जिनस्तम्भ छ साधित
सवै कार्य गर्छ त्यस्ले बोधि-सत्व गए पनि ॥३८॥

अन्वयार्थ : वोधिचर्यानुरूप्येण = बोधिचर्याको विधि अनुरूप, जिनस्तम्भः अपि = जिनस्तम्भ (वुद्धतारूपी खम्वा) पनि, साधितः = सिद्ध गरिएको छ, (त्यसले) वोधिसत्वे = वोधिचर्या गर्ने सत्व, निर्वृते अपि = परिनिर्वृत (निर्वाण गएको) भए पनि, सर्वकार्यणि = (प्राणीका) सवै कार्यहरू, करोति = गर्दछ ॥

वोधिचर्या बमोजिं 'जिनस्तम्भ' को सिद्धि गरिएको हुनाले बोधिसत्व परिनिर्वाण भैसकेपछि पनि यहाँ परहित, परकल्याण, परसुख, आदि कार्यहरू त्यसबाट स्वतः नै सम्पन्न भइरहन्छन् ।

बुद्धत्व प्राप्तिको लागि गरिने सम्पूर्ण आचरण या अनुष्ठानहरूलाई नै बोधिचर्या भनिन्छ । 'जिनस्तम्भमा' जिन भनेको विजयी हो र स्तम्भ भनेको काय हो । अतः जिनस्तम्भको अर्थ हो चार

मार (मृत्युमार, क्लेशमार, स्कन्धमार र देवपुत्रमार) लाई पराजित गर्दै असंख्य कल्पसम्म उक्त वोधिचर्याको अभ्यास गरेर प्राप्त भएको महापुरुषका बत्तीस लक्षण र अस्सी अनुव्यञ्जनले सुशोभित भएको 'काय'। बुद्धताको प्राप्तिपछि कुनै पनि कल्पना, विकल्प, आदि केही पनि हुँदैनन् तापनि त्यस्तो बुद्धकाय विकसित भैसकेको हुनाले अनाभोग रूपमै (कुनै इच्छा-कल्पना नभएर स्वतः नै) परहितको कार्य भइरहेको हुन्छ। फेरि त्यसरी बुद्धता प्राप्त गर्ने बोधिसत्वको ज्ञानमा एक, अनेक, उत्पाद, निरोध, शाश्वत, उच्छेद, आगम, निर्गम जस्ता कुनै पनि प्रपञ्च हुँदैनन् र त्यो अद्वय एवं आकाशसमानको हुन्छ। यही नै भगवान्को 'ज्ञानधर्मकाय' हो। यसको जुन अद्वय स्वभाव छ त्यसलाई 'स्वभावधर्मकाय' भनिन्छ। परमार्थ सत्य पनि यही हो। यी दुवै कायलाई मिलाएर 'धर्मकाय' भनिन्छ। व्यवहारमा यसैलाई प्रज्ञापारमिता, शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि भनिन्छ। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमितामा बताइएको छ-

धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः।
धर्मता चाप्यविज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्॥

बुद्धहरूलाई धर्मतः देख्नुपर्छ किनकि ती नाथहरू धर्मकाय नै हुन् र त्यो धर्मतालाई बुद्धिले जान्न सकिन्न, त्यो अविज्ञेय छ।

यस्तो बोधिलाई प्राप्त गर्ने अभिप्राय लिएर खटेका सत्वालाई बोधिसत्व भनिएको हो। उक्त बोधिसत्वले बुद्धता प्राप्त गरेर निर्वाण लाभ गरे भने पनि उनीहरूद्वारा गरिएको परहितको कार्य अनाभोग रूपमा (आफै) चलिरहन्छ। बोधिसत्वयानमा प्राप्त गरिने निर्वाण अलि भिन्दै खालको छ। निर्वाणहरू जम्मा तीन किसिमका मानिन्छन्। सोपधिशेष निर्वाण, निरुपधिशेष निर्वाण र अप्रतिष्ठितनिर्वाण। त्यसमध्ये बोधिसत्वको लक्ष्य अप्रतिष्ठितनिर्वाण प्राप्त गर्नु हो। श्रावकहरूको लक्ष्य भने निरूपधिशेष निर्वाण प्राप्त गर्ने हुन्छ जसमा पाँच उपादान स्कन्धहरूको सर्वथा निरोध हुन्छ र बत्तीको तेल सकिएपछि निभेको सरह हुन्छ। त्यस्तो निरोधमा पुगेपछि फेरि संसारमा देखा पर्ने या परहित गरिरख्ने भन्ने सम्भावना हुँदैन। परन्तु महायानको अप्रतिष्ठित निर्वाण यस्तो हुन्छ-

प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपाया न शमे स्थितिः।
अनुपायेन दूरत्वमुपायेनाविदूरता॥ (अभिसमयालंकार, सर्वज्ञताधिकार)

अर्थात् प्रज्ञा अथवा शून्यताज्ञानले (धर्मकाय) गर्दा भवमा स्थान हुँदैन र अनालम्बन महाकरुणाको सिद्धि भैसकेकोले उपशमको अवस्थामा पनि रहँदैन। अनुपायले गर्दा टाढा हुन्छ र प्राप्त गर्न सकिँदैन भने उपायले फेरि अत्यन्त नजीक छ। यस्तो स्थिति नै अप्रतिष्ठित निर्वाण हो। यस अवस्थाको फल प्राप्त भैसकेपछि सम्पूर्ण विकल्पहरू प्रहाण भैसक्छन् तापनि अरुको हित स्वतः भैरहन्छ। त्यसकारण माथि बताइएको गारुडिकको स्तम्भ जस्तै यो 'जिनस्तम्भ' पनि सिद्ध भयो भने काम आफै भइरहन्छ।

यदि भगवान्का सम्पूर्ण विकल्पजाल नष्ट भैसकेका हुन् भने चित्त चैतसिकका व्यापार पनि शान्त भैसके। अब पछि फेरि तथागतको पूजा गर्नाले कसरी उत्तम पुण्य फल मिल्छ त ? यस्तो प्रश्न उठ्ला भनेर स्वयं आचार्यले कोटचाउँदै भन्नुहुन्छ-

अचित्तके कृता पूजा कथं फलवती भवेत् ।
तुल्यैव पठ्यते यस्मात् तिष्ठतो निर्वृतस्य च ॥३९॥

अचित्तको गरे पूजा कसरी फल मिल्दछ ?
वरावरै बताइन्छ रहे या नरहे पनि ॥३९॥

अन्वयार्थ : अचित्तके = चित्त नै नभएकामा, कृता = गरिएको, पूजा = पूजा, कथं = कसरी, फलवती = फलदायी, भवेत् = होला ? यस्मात् = कारण के हो भने, तिष्ठतः = रहेकाको, र निर्वृतस्य च = निर्वाण भएकाको पनि, तुल्या एव = वरावर नै, पठ्यते = पढिएको छ ।

भगवान्का सम्पूर्ण चित्त-चैत्तहरू निरुद्ध भैसकेका हुनाले उहाँ अचित्तक (चित्त नै नभएको) हुनुपर्छ। त्यस अवस्थामा उहाँको पूजाले कसरी फल दिन सक्छ ? दाताले दान दिएपछि प्रतिग्राहकले त्यसको उपभोग गर्ने भएकोले दानको पुण्य हुन्छ। यहाँ त त्यो पूजाबाट को प्रसन्न हुन्छ र पूजाको फल मिल्छ ? पूजाको उपभोग गर्ने भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदि सम्पूर्ण विकल्प-चित्तहरूलाई उहाँले नष्ट पारिसक्नुभएको छ ।

त्यसमा, आगमहरूमा के वर्णन गरिएको छ भने जीवित तथागत या परिनिर्वृत तथागत दुवैको पूजा गर्नाले समान फल हुन्छ। यसको तात्पर्य के हो भने पुण्यहरू दुई प्रकारका हुन्छन् १. त्यागान्वय र २. परिभोगान्वय। त्यागान्वय भनेको त्यागबाट आउने पुण्य हो भने परिभोगान्वय भनेको उपभोगबाट आउने पुण्य हो। वस्तुहरूको दान गर्नासाथ त्यागान्वय पुण्य त आइहाल्छ। यदि दिइएको वस्तु प्रतिग्राहकले उपभोग पनि गऱ्यो भने परिभोगान्वय पुण्य पनि आउँछ। त्यसकारण भगवान्को परिनिर्वाण भैसकेपछि परिभोगान्वय पुण्य नभए पनि त्यागान्वय पुण्य त भएरै छोड्छ।

प्रश्न अझै पनि उठ्छ कि लिने नै कोही छैन भने त्यो दान नै बन्दैन। त्यसवेला त्यागान्वय पुण्य पनि कसरी सम्भव हुन्छ ?

त्यसो भए दान लिनेवाला भए मात्र पुण्य हुने र लिनेवाला नभए पुण्य नहुने भन्ने कारण के छ ? के पुण्य भनेको लिनेले दिइने वस्तु हो त ? त्यस्तो त कदापि सम्भव छैन। त्यस्तो हुनेभए त मैत्री, करुणा जस्ता चार ब्रह्मविहारबाट पनि पुण्य नमिल्ने हुन जान्छ। मैत्री आदिको अभ्यासमा कसैले 'प्राणीहरू सुखी होऊन्' भन्ने सोच्दाखेरि कुनै प्राणी पनि साक्षात् सुखी त हुँदैनन् तैपनि त्यो भावना गर्ने व्यक्तिलाई पुण्य प्राप्त भइरहेको हुन्छ जसले गर्दा उसको सुगतिलाभ हुने कुरा भगवान्ले प्रशस्त उल्लेख गर्नुभएको छ। त्यसकारण लिने नभए पनि दिनेको चित्तको आधारमा पुण्य आर्जन हुन्छ। अतः भगवान् परिनिर्वृत भएपनि उहाँप्रति गरिएको पूजाको पुण्य हुन्छ ।

आगमाच्च फलं तत्र संवृत्या तत्त्वतोऽपि वा ।
सत्यबुद्धे कृता पूजा सफलेति कथं यथा ॥४०॥

तात्त्विक होस् सांवृतिक होस् आगमोक्त फलै छ त
सत्य वुद्धको गरे पूजा फल मिल्ने यसै छ त ॥४०॥

अन्वयार्थ : आगमात् च = आगमबाट पनि, फलं = फल मिल्छ भन्ने सिद्ध हुन्छ, तत्र = त्यसमा, संवृत्या = संवृतिको हिसावले, वा = अथवा, तत्वतः अपि = परमार्थको हिसावले पनि हुन्छ, सत्यवुद्धे = परमार्थसत्यस्वरूप वुद्धमा, कृता = गरिएको, पूजा

= पूजा, सफला = फलदायी हुन्छ, इति = यस्तो कुरामा पनि, कथं = कसरी, यथा = दृष्टान्त चाहियो ?

युक्तिबाट नहेर्ने हो भने पनि स्वयं आगम अर्थात् बुद्धवचनबाट पनि स्पष्ट थाहा पाउन सकिन्छ कि बुद्ध परिनिर्वाण भएको भए पनि जीवितै रहेको वेलामा भए पनि उहाँको पूजा गर्नाले पुण्यफल मिलेरै छोड्छ र त्यो पनि समान फल नै हुन्छ। त्यसमा कसैले त्यो फल सांवृतिक हुन्छ भन्ने मान्छन् भने कसैले पारमार्थिक हुन्छ भन्ने मान्छन्। आखिर जे भए पनि पुण्य त भइहाल्छ। जस्तै पुण्यकूटधारणीमा भगवान्ले भन्नुहुन्छ-

"ये केचित् सिँहविक्रीडित, तथागतस्य पूजां करिष्यन्ति तिष्ठतो वा परिनिर्वृतस्य वा, सर्वे ते त्रियानादेकतरेण यानेन परिनिर्वास्यन्ति। यश्च खलु, सिंहविक्रीडित, तथागतमर्हन्तं समयक्सम्बुद्धं दृष्ट्वा चित्तं प्रसादयेत् प्रसन्नचित्तः सत्कुर्यात्, गुरुकुर्यात्, मानयेत्, पूजयेत्, उपचरेत्, लाभेन चीवर--पिण्डपात-शयनासन-ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कारैः सर्वसुखोपधानैरूपतिष्ठेत्, यश्च परिनिर्वृतस्य तथागतस्य सर्षपफलमात्रधातौ शरीरपूजां कुर्यात्, समो विपाकः प्रतिकांक्षितव्यः। तथा पूजायै नास्ति विशेषो नानाकरणं च।"

अर्थात् "हे सिंहविक्रीडित, जसले जीवितै रहेका वा परिनिर्वाण भएका तथागतलाई पनि पूजा गर्नेछन् उनीहरू सबैले तीन यानमध्ये कुनै एउटाबाट परिनिर्वाण अवश्य प्राप्त गर्नेछन्। हे सिंहविक्रीडित, जो तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्धलाई देखेर प्रसन्न हुन्छ, खुशी मनले उहाँको पूजा गर्छ, सत्कार गर्छ, गुरु बनाउँछ, मान्छ, उपचरण गर्छ, उहाँलाई चीवर, पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्यय, भैषज्य आदि परिष्कार एवं सम्पूर्ण सुखका साधनहरूद्वारा सत्कार गर्छ र जसले फेरि परिनिर्वाण जानुभएका तथागतको सर्स्यूंको दाना जत्रो शरीरधातुमा पनि शरीरपूजा गर्छ भने ती दुवैको विपाक (फल) बराबर नै हुन्छ। यी पूजाहरूमा कुनै फरक छैन, नानात्व छैन।"

त्यहीँ अर्को स्थानमा यस्तो पनि भनिएको छ-

"यश्च खलु सिँहविक्रीडित, तथागतं वर्षशतं वा वर्षसहस्रं वा सर्वसुखोपधानेनोपतिष्ठेत्, यश्च परिनिर्वृतस्य तथागतस्य चैत्ये बोधिचित्तपरि-गृहीतैः एकपुष्पमारोपयेत्, तथागतपूजायै जलाञ्जलिं चोपनामयेत्, जलेन चोपसिञ्चेद्, ईषिकापदं वा दद्यात्, निर्माल्यं वा अपनयेत्, उपलपेप्रदानं वा कुर्यात्, आत्तमनाः एकक्रमपदव्यतिहारं वा अतिक्रम्य वाचं भाषेत-"नमस्तस्मै बुद्धाय भगवते" इति, मा ते अत्र, सिहविक्रीडित, काङ्क्षा ... वा दुर्गतिविनिपातं गच्छेत्, नेदं स्थानं विद्यते।"

'हे सिंहविक्रीडित, जसले तथागतलाई सय वर्ष या हजार वर्ष सम्म पनि सम्पूर्ण सुखसामग्रीले सेवा गर्छ र जसले फेरि परिनिर्वाण जानुभएका तथागतको चैत्यमा बोधिचित्तद्वारा ग्रहण गरिएको एक फूलको थुँगो मात्र चढाउँछ, तथागतको पूजाको लागि जलको अञ्जलि दिन्छ, या जलले सेचन गर्छ या ईषिकापद दिन्छ, विग्रेका माला आदि हटाइदिन्छ या उपलेप (चन्दन) आदि लेपन गर्छ या प्रसन्न चित्त गराएर एक एक पाइला चाल्दै "नमस्तस्मै बुद्धाय भगवते" भन्छ त्यसमा कदापि सन्देह, शंका नगर्नु कि त्यो दुर्गतिमा खस्ला। यस्तो सम्भावना हुँदैन।" इत्यादि।

त्यस्तै दिव्यावदानमा पनि भनिएको छ,

तिष्ठन्तं पूजयेद् यस्तु यश्चापि परिनिर्वृतम्।
समचित्तप्रसादेन नास्ति पुण्यविशेषता॥

अर्थात्- उस्तै चित्त प्रसन्न गराएर पूजा गर्ने हो भने जीवित तथागतलाई पूजा गर्नु र परिनिर्वाण भैसकेका तथागतलाई पूजा गर्नुमा कुनै फरक हुँदैन ।

यति देखिसकेपछि पनि परमार्थतः सत्य बुद्धको पूजाबाट फल हुन्छ भन्नलाई अरु दृष्टान्त केही चाहिन्छ र ? यसको लागि यिनै आगमहरू बाहेक अरु त प्रमाण हुन सक्दैन । त्यसकारण जब आगम नै प्रमाण मान्ने हो भने त दुवै अवस्थामा समान पुण्य हुन्छ भन्ने मान्नैपर्ने हुन्छ ।

वैभाषिक आदि बौद्धहरूले सर्वधर्मशून्यताको भावनाबाट बुद्धता हुन्छ भन्ने कुरा पचाउन सक्दैनन् र चार आर्यसत्यबाट मात्र मुक्ति हुन्छ भन्ने मान्छन् । त्यसमा विचार गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ-

सत्यदर्शनतो मुक्तिः शून्यतादर्शनेन किम् ।
न विनानेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः ॥४१॥

सत्य दर्शनले मुक्ति, शून्यताले छ के हुने ?
यो मार्ग नभई बोधि हुन्न भन्ने छ आगम ॥४१॥

अन्वयार्थ : सत्यदर्शनतः = सत्यको (चार आर्यसत्यको) दर्शनबाट, मुक्तिः = मोक्ष हुन्छ, शून्यतादर्शनेन = शून्यता देख्नाले, किम् = के हुन्छ र ? यतः = किनकि, अनेन मार्गेण = यो मार्ग, विना = नभइकन, न बोधिः = बोधि हुदैन भन्ने यस्तो, आगमः = आगम छ ।

चार आर्यसत्यको दर्शनबाट मुक्ति हुन्छ । शून्यताको दर्शनले के हुन्छ ? चार आर्यसत्य भनेका दुःख आर्य सत्य, समुदय आर्यसत्य, निरोध आर्यसत्य र मार्ग आर्यसत्य हुन् । यिनीहरूको साक्षात्कारबाट क्लेशदेखि छुट्कारा मिल्छ । यही कुरा वसुबन्धुले पनि बताउनुभएको छ,

क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात् । (६/१)

यसको दर्शन हुने अभिसमयक्रम (साक्षात्कार हुने तरीका) पञ्च मार्ग क्रमको हिसाबले बताउँदाखेरि छोटकरीमा यस्तो हुन्छ- सर्वप्रथम साधकले शील लिएर सम्भार मार्गको शुरुआत गर्छ र शीलमा रहेर क्रमशः श्रुतमयी, चिन्तामयी प्रज्ञाको अभ्यास गर्दै भावनामयी प्रज्ञाको अभ्यास गर्ने क्रममा अशुभभावना, आना-पान स्मृति या चार स्मृत्युपस्थान आदिको भावना गर्छ । त्यसवेला चार आर्य सत्यका अनित्य, दुःख, शून्य, अनात्म, जस्ता सोह आकारहरूको भावना गर्दै रहन्छ । त्यसरी अभ्यास गर्दागर्दै जब सम्भार मार्ग पूरा भएर प्रयोगमार्ग शुरु हुन्छ तब त्यो निर्वेधभागीयमा प्रवेश गर्छ र उष्मा, मूर्धा, क्षान्ति र लौकिकाग्रधर्म यी चार चरणहरू पार गर्छ । प्रयोगमार्ग (निर्वेधभागीय) का यी चार अवस्था पछि उसलाई 'दुःखमा धर्मक्षान्ति' जस्ता १६ क्षणका अभिसमय (साक्षात्कार) उत्पन्न हुन्छन् । यही नै स्रोत आपन्न हुनु या दर्शन मार्गमा प्रवेश गर्नु हो । सोहौं क्षणदेखि भावना मार्ग शुरु हुन्छ र उसले तीन धातुकै भावनाप्रहेय क्लेश एवं उपक्लेशहरूलाई प्रहाण गर्दै भावनामार्ग पूरा गर्छ । दर्शनहेय क्लेशहरू दर्शनमार्गमा नै प्रहाण भैसकेका हुन्छन् । त्यसपछि अन्तमा आएर आस्रवक्षय ज्ञान र अनुत्पाद ज्ञान भएपछि अर्हत् बन्छ । यसरी पो मुक्ति प्राप्ति हुन्छ । शून्यता देखेर के फाइदा हुन्छ ? यसरी वैभाषिकहरू प्रश्न गर्छन् । त्यसमा माध्यमिकहरूको जवाफ यस्तो छ-

यो सर्वधर्मशून्यताको ज्ञान गर्ने मार्गविना बोधि प्राप्त हुने सम्भावना छैन भनेर आगममा स्पष्टसँग बताइएको छ। त्यसैले शून्यताज्ञानको आवश्यकता परेको हो। वास्तवमा सबै पदार्थहरूका दुईरूप हुन्छन्। एक आरोपित रूप। अर्को अनारोपित रूप। सबै बालपृथग्जनहरूले देख्नेजस्तो अविद्याद्वारा स्थापित भएको रूप आरोपित रूप हो। यस्तो रूपलाई देखेर जानेर सम्पूर्ण क्लेशहरूको समूल नाश हुन सक्दैन। यदि त्यस्तो हुने भए त सबै बालपृथग्जनहरू तथागत भैहाले भन्ने पहिलेकै प्रसङ्ग उठ्छ। वस्तुको अनारोपित रूप नै तत्व हो र त्यसको साक्षात्कारबाट मात्र क्लेश आदि आवरणहरूको प्रहाण हुन्छ। प्रज्ञाद्वारा विवेचना गर्दाखेरि जब कुनै पनि धर्म 'सद्' रूपमा उपलब्ध हुँदैन तब सर्वधर्मशून्यताको साक्षात्कार हुन्छ। यही ज्ञान गर्ने प्रज्ञा मात्र सम्पूर्ण आवरण र भ्रमलाई नाश गर्नमा सक्षम हुन्छ। प्रज्ञापारमितामा भगवान्ले भन्नुभएको छ-

भगवानाह- इह, सुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्वः प्रज्ञापारमितायां चरन् रूपं भाव इति न भावयति। वेदनां भाव इति ...... संज्ञां ...... । तत् कस्य हेतोः ? नास्ति भावसंज्ञिनोऽभावशून्यता भावना, नास्ति भावसंज्ञिनः षडभिज्ञा भावना यावद् नास्ति सर्वसमाधिधारणीमुखतथागतबलवैशारद्यप्रति-संविन्महामैत्रीमहाकरुणावेणिकबुद्धधर्माणां भावना। तत्कस्य हेतोः ? तथा हि स भावः एषो ऽहमिति द्वयोरन्तयोः सक्तः। दाने शीले क्षान्तौ वीर्ये ध्याने प्रज्ञायाम्। एषो ऽहमिति द्वयोरन्तयोः सक्तः। यश्च द्वयोरन्तयोः सक्तः तस्य नास्ति मोक्षः। तत्कस्य हेतोः ? नास्ति, सुभूते, भावसंज्ञिनो दानं, यावत् नास्ति प्रज्ञा, नास्ति मार्गः नास्ति ज्ञानम्, नास्ति प्राप्तिः, नास्ति अभिसमयः, नास्त्यानुलोमिकी क्षान्तिः, नास्ति रूपस्य परिज्ञा, नास्ति वेदनायाः परिज्ञा, यावत् नास्ति प्रतीत्यसमुत्पादस्य परिज्ञा। नास्ति आत्मसत्त्वजीवजन्तुपोषपुद्गलजनमान- कारकवेदकजानकपश्यकसंज्ञायाः परिज्ञा यावत् नास्ति सर्ववासनानुसन्धिक्लेश-प्रहाणस्य परिज्ञा। कुतः पुनरस्य मोक्षो भविष्यति ?"

"भगवान्ले भन्नुभयो कि हे सुभूति, बोधिसत्व महासत्वले प्रज्ञापारमितामा रहँदा खेरि रूपलाई भावको रूपमा भावना गर्दैन। वेदनालाई भावको रूपमा ग्रहण गर्दैन। त्यस्तै संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यी पाँच स्कन्धलाई पनि भावको रूपमा ग्रहण गर्दैन। मार्गज्ञतालाई, सर्वाकारज्ञतालाई, सर्ववासनानुसन्धि क्लेश प्रहाणलाई समेत पनि भावको रूपमा भावना गर्दैन। किन ? किनकि भाव (सत्ता)को रूपमा देख्नेका लागि अभावशून्यता भावना हुँदैन, षडभिज्ञा भावना हुँदैन। त्यहाँ देखि लिएर सबै समाधि, धारणीमुख, तथागतका बल, बैशारद्य, प्रतिसंविद्, महामैत्री, महाकरुणा, आवेणिक बुद्धधर्म यी कुनैको पनि भावना हुँदैन। किन ? किनकि 'त्यो भाव' र 'त्यो जान्ने म' भन्ने यी दुई अन्तमा पतन भइहाल्छ। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान प्रज्ञा सबैमा यो द्वयान्तको आसक्ति रहन्छ र जसमा यो द्वयान्तको आसक्ति बाँकी रहन्छ त्यसको मोक्ष हुँदैन। किन ? किनकि, हे सुभूति, भावसंज्ञी अर्थात् 'सत्' रूपमा देख्ने व्यक्तिको दानदेखि प्रज्ञासम्म कुनै पनि पारमिता हुँदैनन्, मार्ग हुँदैन, ज्ञान हुँदैन, प्राप्ति हुदैन, अभिसमय हुँदैन, आनुलोमिकी क्षान्ति हुँदैन, रूपको परिज्ञा हुँदैन, वेदनाको परिज्ञा हुँदैन, यहाँदेखि लिएर प्रतीत्यसमुत्पादको परिज्ञा समेत हुँदैन। आफू, सत्त्व, जीव, जन्तु, पुद्गल, जन, मानिस, कारक, वेदक, जानक, पश्यक जस्ता संज्ञाहरूको परिज्ञा पनि हुँदैन। सम्पूर्ण क्लेशवासना-अनुसन्धि क्लेश प्रहाण भएको परिज्ञा पनि हुँदैन। कसरी त्यसको मोक्ष हुन सक्छ ?"

त्यस्तै त्यहीं भगवान्ले फेरि पनि भन्नुभएको छ कि–"*एवमेतत्। कौशिक; एवमेतत्। येऽपि तेऽभूवन्नतीतेऽध्वनि तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः, ते ऽ पि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धाः। ये ऽ पि ते भविष्यन्ति अनागते ऽ ध्वनि तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः, ते ऽ पि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्भोत्स्यन्ते। ये ऽ पि ते एतर्हि दशदिग्लोकधातुषु अप्रमेयासंख्येयेषु तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धास्तिष्ठन्ति, ध्रियन्ते यापन्ति, धर्मं देशयन्ति, ते ऽ पि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धाः। ये ऽ पि ते भूवन्नतीतानां तथागतानामर्हतां सम्यक्सम्बुद्धानां श्रावकाः येऽपि ते भविष्यन्ति अनागतानां तथागतानामर्हतां सम्यक्सम्बुद्धानां श्रावकाः ये ऽ पि ते एतर्हि प्रत्युत्पन्नानां तथागतानामर्हतां सम्यक्सम्बुद्धानां श्रावकाः, तेऽपि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य प्रत्येकबोधिं प्राप्ताः प्राप्स्यन्ति, प्राप्नुवन्ति च। तत्कस्य हेतोः ? अत्र प्रज्ञापारमितायां सर्वाणि त्रीणि यानानि विस्तरेणोपदिष्टानि।*"

"हे कौशिक, यस्तै हो, अतीत कालमा जति पनि तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध भए, ती पनि यही प्रज्ञापारमितामा आएर अनुत्तर सम्यक्सम्बोधिमा बुद्ध भएका हुन्। अनागतकालमा जति पनि तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध बन्ने छन् ती पनि यही प्रज्ञापारमितामा आएर अनुत्तर सम्यकसम्बोधिमा बुद्ध हुने छन्। वर्तमानमा जति पनि तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध छन् ती पनि यही प्रज्ञापारमितामा नै आश्रित भएर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधिमा बुद्ध भएका छन्। अतीतका तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्धका जति पनि श्रावक थिए, अनागतका तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्धका जति पनि श्रावक हुनेछन् र वर्तमानका तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्धका जति पनि श्रावकहरू छन् ती पनि प्रज्ञापारमितामा आएर नै प्रत्येकबोधि प्राप्त गरेका हुन्, प्राप्त गर्नेछन् र प्राप्त गर्छन्। त्यो किन ? यही प्रज्ञापारमितामा नै सम्पूर्ण त्रियानहरूलाई विस्तारमा उपदेश गरिएको हुन्छ, त्यसैले।"

आचार्य नागार्जुनले प्रज्ञापारमितास्तुतिमा भन्नुभएको छ–

बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः।"

अर्थात्, बुद्धहरूले, प्रत्येकबुद्धहरूले र श्रावकहरूले पनि सेवन गरिने एक मात्र मोक्षको मार्ग भनेकी तिमी बाहेक अर्को हुँदैन भन्ने निश्चत छ।

यसरी प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र एवं शास्त्रहरूमा सर्वधर्मशून्यता नै मोक्षको एकमात्र मार्ग हो भनेर बताइएको छ।

वैभाषिक आदि श्रावकयानीहरूलाई यी महायानका बुद्धवचनहरू पच्दैनन्। त्यसैले यी आगमहरूको प्रमाण मान्दैनन्। त्यसैले उनीहरू भन्छन् कि त्यो त तिमीहरू महायानीका विच्चमा मात्र लागू हुन्छ। हाम्रा निमित्त ती प्रामाणिक बुद्धवचन नै होइनन्। त्यहाँ धेरै थपघट गरिएको छ। सही बुद्धवचन त हाम्रा मात्र हुन्। महायान त असिद्ध छ। यही प्रसङ्ग आचार्यले निकाल्दै हुनुहुन्छ–

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः।
यस्मादुभयसिद्धो ऽसौ न सिद्धो ऽसौ तवादितः॥४२॥

असिद्ध छ महायान, तिम्रो सिद्ध छ के गरी ?
दुवैलाई मान्य हुँदा, 'शुरुदेखि रहेन छ ! ॥४२॥

अन्वयार्थ : *महायानं = महायान, ननु असिद्धं = सिद्ध (प्रामाणिक मानिएको) नै छैन भने, त्वदागमः = तिमी (हीनयानी)हरूको आगम (बुद्धवचन), कथं = कसरी, सिद्धः = प्रामाणिक भन्ने सिद्ध छ त ? यस्मात् = किनकि, असौ = यो त, उभयसिद्धः = दुवै पक्षको लागि प्रामाणिक सिद्ध छ, तव = तिम्रो, असौ = यो आगम, आदितः = शुरुदेखि त, न सिद्धः = सिद्ध रहेन छ ।*

वैभाषिक आदि श्रावकयानीहरू भन्छन् कि हे शून्यतावादी हो, तिमीहरूले प्रमाणको रूपमा दिने प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र त हामीलाई बुद्ध वचनको रूपमा मान्य छैनन् । किनकि हाम्रा निमित्त महायान नै असिद्ध छ । अनि ती महायनी सूत्रलाई प्रमाणको रूपमा कसरी प्रस्तुत गर्दैछौ ?

माध्यमिक भन्छन् – त्यसो भए तिमीहरूका आगम प्रामाणिक हुन् भन्ने कुरा कसरी सिद्ध हुन्छ त ? त्यसको केही प्रमाण त देऊ ।

वैभाषिक भन्छन् – प्रमाण त स्पष्टै छ कि हाम्रा आगमहरू तिमीहरूले पनि मान्छौ । त्यसकारण दुबै पक्षलाई यी प्रामाणिक भएका हुनाले पनि हाम्रा आगम त प्रामाणिक सिद्ध भए । तिमीहरूका आगमलाई तिमीहरूले मात्र मान्ने भएकाले हाम्रा निमित्त ती असिद्ध भए ।

महायानी भन्छन् – त्यसो भए त तिमीहरूको आगमलाई महायानीले मान्नुभन्दा अघि त ती सिद्ध रहेनछन् किनकि त्यसवेला एक पक्षलाई मात्र मान्य हुने भए । त्यसकारण शुरुदेखि नै ती बुद्धवचनको रूपमा सिद्ध रहेनछन् । यसको तात्पर्य फेरि यस्तो पनि हुनआयो कि भोलि महायानीले तिनीहरूलाई बुद्धवचनको रूपमा स्वीकार्न छोडेपछि तिम्रा बुद्धवचन प्रामाणिक नठहर्ने भए । यस्तो हेतुले पनि कहीँ प्रमाण दिनसक्छ ? तिमीहरूको हेतु नै असिद्ध छ ।

वैभाषिकहरू भन्छन्– त्यसो भए हामी अर्को हेतु दिन्छौ । जो आगम (नचन) गुरु–शिष्य परम्पराबाट आजसम्म चलेर आइरहेका छन्, जुन सूत्रमा देखिन्छन्, विनयसँग र प्रतीत्यसमुत्पादसँग विरोध हुँदैनन् ती बुद्धवचन मानिन्छन् । हाम्रा आगमहरू सबै यस्तै भएकाले ती बुद्धवचन हुन् भन्ने सिद्ध हुन्छ ।

त्यसमा महायानीहरू भन्छन् कि–

यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायाने ऽपि तां कुरु ।
अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥४३॥

भयो आस्था त्यहाँ जेले महायानमा त्यही गर
मानेको अरुले सत्य हुनेभा' वेद सत्य छन् ॥४३॥

अन्वयार्थ : *यत्प्रत्ययाः = जसलाई आधार मानेर, तत्र = तिमीहरूको मतमा, आस्था = आस्था भएको छ, महायानेऽपि = महायानमा पनि, तां = त्यही, कुरु = गर । अन्योभयेष्टसत्यत्वे = हामी दुई भन्दा अर्कोलाई पनि मान्य हुने भएकोले सत्य भएको हो भने त, वेदादेः = वेद आदिको पनि, सत्यता = सत्यतालाई मान्नु पर्ला !*

गुरु परम्पराबाट आएको, सूत्र एवं विनयमा भेटिने, प्रतीत्यसमुत्पादको उल्लङ्घन नहुने जस्ता कुरा त्यहाँ भएकोले ती बुद्धवचन हुन् भनेर जुन आधारमा तिमीहरूले आफ्नो यानका आगमहरूमा आस्था गरेका छौ महायानमा पनि तिनै कारणहरू सबै विद्यमान भएकोले महायानका

बुद्धवचन सही हुन् भन्ने आस्था गर । अध्याशयसंचोदना सूत्रमा यस्तो बताइएको छ,

“अपि तु मैत्रेय, चतुर्भिः कारणैः प्रतिभानं सर्वबुद्धभाषितं वेदितव्यम् । कतमैश्चतुर्भिः ? इह, मैत्रेय, प्रतिभानमर्थोपसंहितं भवति, नानर्थोपसंहितम् । धर्मोपसंहितं भवति नाधर्मोपसंहितम् । क्लेशप्रहायकं भवति न क्लेशविवर्धकम् । निर्वाणगुणानुशंससन्दर्शकं भवति न संसारगुणानुशंससन्दर्शकम् । एतैश्चतुर्भिः …… यस्य कस्यचिन्मैत्रेय, प्रतिभाति प्रतिभास्यति वा, तत्र श्राद्धैः कुलपुत्रैः कुलदुहितृभिर्वा बुद्धसंज्ञा उत्पादयितव्या । शास्तृसंज्ञां कृत्वा स धर्मः श्रोतव्यः । तत्कस्य हेतोः ? यत्किञ्चिन्मैत्रेय सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितं, तत्र मैत्रेय, प्रतिक्षिपेत् नैतानि बुद्धभाषितानीति, तेषु च अगौरवमुत्पादयेत् पुद्गलविद्वेषेण तेन बुद्धभाषितं प्रतिभानं प्रतिक्षिप्तं भवति । धर्मं प्रतिक्षिप्य धर्मव्यसनसंवर्तनीयेन कर्मणा अपायगामी भवति ॥”

अर्थात् “हे मैत्रेय, चार कारणले गर्दा कुनै प्रतिभान (बुद्धका भनिने भनाई अर्थात् आगमको ज्ञान) लाई सबै बुद्धहरूले बताएको भनेर जान्नुपर्छ । के के चार कारणले ? मैत्रेय, प्रतिभान अर्थ (हित) ले युक्त भएको हुन्छ न कि अनर्थले । धर्मले युक्त हुन्छ न कि अधर्मले । क्लेशलाई नाश गर्ने खालको हुन्छ न कि क्लेशलाई बढाउने । निर्वाणका गुणहरू देखाउने हुन्छ न कि संसारका गुण देखाउने । … …हे मैत्रेय, जहाँ यी चार कुराको प्रतिभान (ज्ञान) हुन्छ वा होला, श्रद्धाले युक्त भएका कुलपुत्र या कुलपुत्रीहरूले त्यहाँ बुद्धसंज्ञा उत्पन्न गर्नुपर्छ, शास्तृसंज्ञा उत्पन्न गरेर (शास्ताले भनेको हो भन्ने ठानेर) त्यो धर्म सुन्नुपर्छ । किन ? किनकि हे मैत्रेय, जति पनि सुभाषित अर्थात् हित हुने गरी बताइएका कुरा हुन्छन् ती सबै बुद्धहरूले बताएका कुरा हुन्छन् र हे मैत्रेय, त्यसमा, जसले यस्ता प्रतिभान (आगमहरूका ज्ञान) लाई यी बुद्धवचन हैनन् भनेर मिल्काउँछ (आक्षेप गर्छ), तिनीहरूमा अगौरव गर्छ, त्यस्तो व्यक्तिले विद्वेषले गर्दा बुद्धले भनेका कुरालाई मिल्काउन पुग्छ । धर्मलाई त्यसरी फ्याँक्दा धर्मव्यसनसंवर्तनीय कर्मले गर्दा उ अपायगतिमा जान्छ ।” धर्मतासँग विपरीत नहुनु नै सम्यग्लक्षण हो भनेर अङ्गुत्तर निकायमा पनि भनिएको छ । त्यही भएर भनिएको पनि छ,

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ॥”

अर्थात् “जुन वचन हितले युक्त हुन्छ र धर्मपदले युक्त हुन्छ साथै त्रिधातुकै क्लेशहरूलाई घटाउँदै जाने र शान्तिको महत्तालाई देखाउने हुन्छ त्यो मुनिको वचन हुन्छ, नत्रभने अर्कै हुन्छ ।”

यसप्रकार यी सबै कुरा महायानमा पूर्णरूपमा लागू हुँदाहुँदै पनि महायानका आगमहरू कसरी बुद्धवचन हुँदैनन् ?

यदि तिमी वैभाषिकआदिले पहिले दिएको ‘दुवै पक्षलाई मान्य भएकाले हाम्रा वचन सिद्ध छन्’ भन्ने हेतुको तात्पर्यलाई सुधारेर दुवैपक्ष भनेको हामी वादी र प्रतिवादी बाहेक अन्य मतका दुवैपक्षहरूलाई यी वचनहरू मान्य भएकाले सत्य हुन् भन्न खोजेका छौ भने त्यो पनि आपत्तिजनक हुन्छ । किनकि विवादग्रस्त भएका भनेर तिमी र हामीबाहेक अर्का तेस्रा तीर्थिक आदिलाई प्रामाणिक मानेर हाम्रा आगमहरूलाई प्रामाणिक बनाउन थाल्ने हो भने त तीर्थिक आदि परमतका आगम पनि बुद्धवचन मानिने छन् र ती पनि सत्य ठानिने छन् जसले गर्दा वेद, कणाद गौतम,

आदिका वचन पनि प्रमाणको रूपमा लिन योगय बन्नेछन्। त्यति मात्र होइन बुद्ध पनि विष्णु आदिका अवतार मानिने छन्। यस्तो त युक्ति संगत पनि छैन र तिमीहरूलाई पनि मान्य हुँदैन।

वैभाषिकहरू फेरि भन्छन् कि हाम्रा आगमहरू बुद्धवचन हुन् भन्ने कुरामा कुनै विवाद छैन भने महायानसूत्रहरू बुद्धवचन हुन् भन्ने कुरामा विवाद छ। त्यसकारण किन निर्विवाद कुरालाई प्रामाणिक नमानेर सविवाद कुरालाई प्रामाणिक ठहऱ्याउने ? यही प्रश्नको शंकालाई प्रस्तुत गर्दै आचार्य उत्तर दिनुहुन्छ -

सविवादं महायानमिति चेदागमं त्यज।
तीर्थिकैः सविवादत्वात् स्वैः परैश्चागमान्तरम् ॥४४॥

सविवाद महायान माने छोड्नू त आगमै
तीर्थिकसँग वादै छ, आफ्नो पनि अरुसँगै ॥४४॥

अन्वयार्थ : महायानं = महायान, सविवादं = विवादग्रस्त छ, इति चेत् = यस्तो भन्छौ भने, आगमं = आगमलाई नै, त्यज = त्यागिदेऊ, तीर्थिकैः =तीर्थिकहरूसँग, सविवादत्वात् = विवादले युक्त हुनाले, स्वैः = आफ्ना र, परैश्च = अरुका निकायसँग पनि, आगमान्तरम् = अगमहरूको अन्तर छ।

माध्यमिक भन्छन् कि यदि महायानका सूत्रहरू विवादमा फसेका हुनाले प्रामाणिक नमान्ने भन्छौ भने आफ्ना आगम पनि छोड। किनकि तिमीहरूका आगम पनि तीर्थिकहरूसँग विवादग्रस्त नै छन्। "अनात्मवादी मुक्त हुँदैन त्यसकारण त्यसबाट हित हुँदैन। बुद्धले त आत्मालाई नै सिकाउन खोज्नुभएको थियो परन्तु चेलाले नबुझेर दोकानदारी चलाए" भन्ने तीर्थिकहरू पनि छन्। कणाद, मीमांसक आदिसँग पनि विवादै छ। त्यसैले तिमीहरूको आगम विवादमुक्त छैन भन्न मिल्दैन। त्यति पर जानु पनि पर्दैन चार निकायवाला भगवान्‌को शासन पनि अठार भिन्दाभिन्दै निकायमा बाँडिएको छ र उनीहरू सबैका आ-आफ्ना त्रिपिटक छन्। त्यो भेदले नै देखाउँछ कि त्यहाँ परस्पर विवाद अवश्य छ। त्यसकारण विवादग्रस्त हुनाले आफ्नै बौद्ध आगमहरू पनि त्यागनुपर्ने हुन्छ। फेरि सूत्रधर, विनयधर र आभिधार्मिकहरूमा पनि विवाद हुनाले गर्दा सूत्र, अभिधर्म, विनय आदि पनि त्यागनुपर्ने भयो। *"गुरुपर्वक्रमेणाम्नायायातं बुद्धवचनं"* भन्ने पहिले मानेको सिद्धान्त पनि खण्डित हुने भयो। जसको परम्परालाई विर्सिएको हुँदैन (बिचमा खण्डित हुँदैन) त्यसमा विवाद हुनु आवश्यक छैन। सर्वज्ञका वचनहरूमा सोझै विरोध हुनुहुँदैन अन्यथा सर्वज्ञबुद्धलाई पनि आस्था गर्ने ठाउँ रहने छैन। सूत्र, विनय र अभिधर्ममा एकै वाक्य एकै कुरा त कदापि हुने सम्भावना हुँदैन। त्यसकारण तिमीहरूको भनाइ मिल्दैन।

वैभाषिकहरूले चार आर्यसत्यको साक्षात्कारबाट मुक्ति भइहाल्छ भनेका छन् र ती दुःख आदि चार आर्यसत्यहरूलाई र क्लेशबाट मुक्त अवस्थालाई पनि वस्तुसत्‌को रूपमा आलम्वन गरिन्छ भन्ने मान्दछन्। अनि प्रश्न उठाउँछन् कि तिमी माध्यमिकहरूको सर्वधर्मशून्यताको ज्ञानले के फाइदा ? यसकै उत्तर अलि राम्रोसँग दिँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता।
सावलम्वनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम् ॥४५॥

शासनको भिक्षुता मूल, भिक्षुता रहनै कठीन्
चित्तले पकडीराख्दा निर्वाण रहनै कठीन् ॥४५॥

अन्वयार्थ : *शासनं = वुद्धको शासन, भिक्षुतामूलं = क्लेशप्रहाण भएको कुरामा जरा हालेको हुन्छ, भिक्षुतैव च = भिक्षुता अर्थात् क्लेशप्रहाण हुने कुरा पनि, दुःस्थिता = हुन गाह्रो छ, सावलम्वनचित्तानां = आलम्वनले युक्त चित्त भएकाहरूलाइ, निर्वाणमपि = निर्वाण पनि, दुःस्थितम् = रहन कठीन हुन्छ ।*

भगावन्को शासन भनेको भिक्षुतामा आधारित हुन्छ । त्यसरी आलम्बन गर्ने चित्त भएकाहरूका लागि त्यस्तो भिक्षुता रहन पनि सक्दैन भने चित्तले पकडिने (आलम्वन) गर्ने भएकोले निर्वाण पनि रहन सक्दैन ।

भगवान् बुद्धको शासन भनेको नै हितलाई ग्रहण गर्नु र अहितलाई त्यागनुपर्ने कुराको देशना हो । अर्को भाषामा भन्दा कर्तव्य र अकर्तव्य कुराका बारेमा भगवान्को जुन आज्ञा छ त्यही नै 'शासन' हो । यस्तो शासनको जरो अर्थात् मूल नै 'भिक्षुता' हो । जसरी कुनै रुखले आफ्ना जराको आड लियो भने राम्रोसँग स्थिर भएर धेरै बटुवाहरूलाई छायादेखि लिएर विभिन्न कुरा प्रदान गर्दै कष्टहरण गरिदिन्छ त्यस्तै प्रकारले यो शासनरूपी वृक्षको जरो पनि भिक्षुभाव हो र त्यही भिक्षुभावमा यो शासन अडिएर स्थिर रहने हुन्छ र स्मृत्युपस्थानदेखि लिएर आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग एवं समापत्ति जस्ता विभिन्न चरणका फलहरू दिँदै सत्त्वको क्लेशको अग्निलाई निभाउने काम गरिरहन सक्ने हुन्छ ।

फेरि भिक्षुभाव पनि धेरै प्रकारका हुन्छन् । जस्तै पाँच प्रकारका भिक्षु मानिएकाछन्- १. संज्ञाभिक्षु अर्थात् नाम मात्र 'भिक्षु' हुन गएको । २. प्रतिज्ञाभिक्षु ३. भीखारी भिक्षु ४. 'ज्ञप्ति' नामक चौथो कर्मबाट उपसम्पन्न भएको भिक्षु । ५. आफ्ना क्लेशहरूलाई भिन्न (नष्ट) पारेको भिक्षु ।

बुद्धको शासनमा यीमध्ये चौथो र पाँचौं भिक्षुलाई मात्र भिक्षुको रूपमा ग्रहण गरिन्छ । त्यसमा पनि पाँचौं भिक्षुले शासनको साँच्चिकै रक्षा गर्न सक्छ । अतः त्यही नै प्रधान हो । उपर्युक्त श्लोकमा भिक्षुको अभिप्राय यही पाँचौं भिक्षुसँग सम्बन्धित छ किनकि 'भिक्षुता' भनेर भिक्षुको भावलाई ग्रहण गरिएको छ । त्यसकारण यहाँ भिक्षुताको अर्थ "भिन्नक्लेशता" अर्थात् "क्लेशलाई भेदन गरेको भाव' अथवा "क्लेशप्रहाणता" भन्ने हुन्छ । त्यस्तो भिक्षुता या क्लेश प्रहाण भएको अवस्था केवल चार आर्यसत्यको साक्षत्कारले मात्र हुन सक्दैन । शून्यताज्ञान विना त्यसरी क्लेशहरू पूर्णरूपमा नाश हुन सम्भव छैन । अतः भिक्षुता दुःस्थित छ अर्थात् भिक्षुता रहन गाह्रो छ ।

फेरि अर्को कुरा तिमीहरूले त्यो निरोधसत्यलाई अर्थात् निर्वाणलाई समेत पनि वस्तुतः सत् भनेर आलम्बन गर्छौं । जसको चित्तले त्यसरी आलम्बन गर्छ अर्थात् जुन योगीको उपलम्भदृष्टि छ उसको त भिक्षुता मात्र नरहने होइन अपितु निर्वाणै पनि अस्थिर हुन्छ ।

युक्तिबाट पनि तिमीहरूको भनाइलाई केलाउन सकिन्छ । सत्यदर्शनबाट मुक्ति हुन्छ भन्ने तिमीहरूको भनाइ थियो । त्यसो भए कुन सत्यको दर्शनबाट मुक्ति हुन्छ ? परमार्थ सत्यको कि संवृति सत्यको ? यदि परमार्थ सत्यको दर्शनबाट मुक्ति हुन्छ भन्ने हो भने हाम्रो पनि त्यही भनाइ हो । परन्तु परमार्थ सत्य त त्यसरी आलम्बन गर्न सकिने या उपलम्भ दृष्टिको गोचर हुँदैन । युक्ति

र आगमबाट राम्रोसँग केलाएर हेर्ने हो भने पनि यही सर्वधर्म-अनुपलम्भ बाहेक अरुबाट क्लेश नाश हुने सम्भावना छैन। जबसम्म वस्तुसत्ताप्रतिको 'ग्राह' रहिरहन्छ तबसम्म विकल्प र प्रपञ्चहरू हट्दैनन्। विकल्प एवं प्रपञ्चहरू रहेसम्म क्लेश पनि हट्दैनन् त्यसकारण क्लेश नहटेपछि कर्म पनि नहट्ने भएकोले भवचक्र चालू भइरहन्छ। शून्यता या अनुपलम्भदृष्टि नै अविद्याको विरोधी धर्म भएकोले त्यो बाहेक अरुले अविद्यालाई काट्न सक्दैन। सत्य दर्शन मात्रले केही फरक पर्दैन। त्यसैले आचार्य धर्मकीर्तिले प्रमाणवार्तिकमा भन्नुभएको छ,

मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टे स्तदर्थाः शेषभावनाः (प्रमाणपरिच्छेद, २५५)

अर्थात् मुक्ति त शून्यतादृष्टिले मात्र हुन्छ बाँकी भावनाहरू सवै त्यसको लागि मात्र हुन्।

यदि संवृत्ति सत्यको दर्शनले हुन्छ भन्ने मान्छौ भने त झन् आपत्ति हुन्छ। सवंत्ति सत्य देखेर मुक्त हुने भए त सवै प्राणीहरू मुक्त भैसके भन्नुपर्छ। त्यसैले यो पक्ष त युक्तिसंगत छैन।

क्लेशप्राहाणान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा।
दृष्टं च तेषु सामर्थ्यं निष्क्लेशस्यापि कर्मणः ॥४६॥

क्लेशप्रहाणले मुक्ति हुने भा' तत्काल होस्
क्लेशमुक्त कर्मको त फल सामर्थ्य देखियो ॥४६॥

__अन्वयार्थ :__ क्लेशप्रहाणात् = क्लेशको प्रहाण गर्नाले, मुक्तिश्चेत् = मुक्ति हुने भए, तदनन्तरम् = त्यसको लगत्तै पछि, सा = त्यो मुक्ति, अस्तु = हुनुपर्ने, तेषु = ती आर्यहरूमा, च = पनि, निष्क्लेशस्य = क्लेशले रहित भएका, कर्मण: अपि = कर्मको पनि, सामर्थ्यं = फल दिने सामर्थ्य, दृष्टं = देखिएको छ।

माध्यमिकहरू अझै अगाडि बढ्छन् कि यदि चार आर्य सत्यको दर्शनले नै क्लेश नाश भइहाल्ने भए त चार आर्य सत्यको दर्शन गर्ने आर्यहरूको क्लेश प्रहाण भैसकेको हुनाले मुक्ति भइहाल्नुपर्ने। परन्तु क्लेशप्रहाण हुनासाथ कर्मबाट मुक्ति हुने कुरा त सिद्ध हुँदैन। किनकि आगमहरूमा देखिएको छ कि क्लेशहरू नाश भए पनि कुशल या अकुशल कर्महरूको फल दिने सामर्थ्य कायमै हुन्छ। जस्तै कि आर्य महामौद्गल्यायन, आर्य अङ्गुलिमाल आदि क्लेशमुक्त आर्यहरूमा पनि कर्महरूले फल दिइरहेको घटना देखिएको छ।

वैभाषिकहरू भन्छन्- चार आर्यसत्यहरूलाई लोकोत्तर प्रज्ञाबाट साक्षात्कार गर्ने हो भने अविद्याको प्रहाण हुन्छ। अविद्याको प्रहाण भएपछि संस्कारहरूको निरोध हुन्छ। संस्कारको निरोधबाट विज्ञानको निरोध हुन्छ। यसै गरी द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पादको क्रमशः निरोध हुँदै तृष्णाको पनि निरोध हुन्छ। यी दुवै प्रहाण भएपछि कर्महरू बाँकी भए पनि फल दिन नसक्ने हुन्छन्। जस्तै कि बोक्रा (भूस) निकाले पछि धानबाट अंकुर निस्किन सक्दैन।

अझ मुख्यतया तृष्णाबाटै यो संसारको प्रवृति हुन्छ। जस्तै कि भगवान्ले धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्रमा भन्नुभएको छ, *"तत्र कतमत् समुदयार्यसत्यम् ? सेयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा चेति"*। त्यसकारण तृष्णालाई जसले प्रहाण गरि-सकेको छ उसको पुनर्जन्म आदि कर्मफल सम्भव हुँदैनन्। यसमा माध्यमिकको तर्फबाट आचार्य भन्नुहुन्छ -

तृष्णा तावदुपादानं नास्ति चेत् सम्प्रधार्यते ।
किमक्लिष्टापि तृष्णैषां नास्ति संमोहवत् सती ॥४७॥

तृष्णा हैन उपादान भन्ने निश्चय हो भने
के अज्ञान सरी तृष्णा अक्लिष्ट देखिँदैन त ? ॥४७॥

अन्वयार्थ : एपां = यी अविद्यामुक्त अर्हत्‌हरूको, तृष्णा तावत् = तृष्णा पनि, उपादानं = उपादान कारण, नास्ति = छैन भन्ने, चेत् = यदि, सम्प्रधार्यते = निश्चय गर्ने हो भने (त्यो मिल्दैन), किम् = के, अक्लिष्टा सती = क्लेशले रहित भएको, तृष्णा अपि = तृष्णा पनि, सम्मोहवत् = अजान झै, नास्ति = छैन भन्न खोजेको हो ?

यदि जसले अविद्याको नाश गरेका छन् त्यस्ता अर्हत्‌हरूको चित्तसन्तानमा पुनर्भवको उपादान कारणस्वरूप तृष्णा पनि विद्यमान छैन भन्ने निश्चित गरिएको छ भने त्यो उपयुक्त देखिँदैन। किनकि अझै पनि उनीहरूमा वस्तुको सत्तालाई ग्रहण गर्ने उपलम्भदृष्टि विद्यमान देखिन्छ र जसको उपलम्भ दृष्टि विद्यमान हुन्छ उसको अविद्या सर्वथा प्रहाण भैसकेको भन्न सकिन्न। अविद्या प्रहाण भैसकेको छैन भने तृष्णा बाँकी हुँदैन ? अवश्य हुन्छ।

अज्ञान पनि दुई प्रकारका हुन्छन्। एउटा क्लिष्ट अर्थात् क्लेशहरूले युक्त अज्ञान र अर्को क्लेशहरूबाट मुक्त अज्ञान। राग, द्वेष, सत्कायदृष्टि जस्ता क्लेशहरूको कारणले संसारमा भ्रमण गरिरहनुपर्ने हुन्छ र यिनीहरू नै निर्वाणको सुख लाभ गर्न नदिने तत्व हुन्। त्यसकारण जवसम्म चित्तसन्तानमा यी क्लेशहरू रहन्छन् तबसम्म निर्वाण लाभ गर्न सकिँदैन। अर्हत्‌हरूले यी क्लेशहरूको प्रहाण गरिसकेका हुनाले उनीहरू भवचक्रबाट बाहिर आएर निर्वाणको सुखलाभ गरेका हुन्छन्।

तर उनीहरूमा क्लेशहरू नभए पनि एक प्रकारको अज्ञान त बाँकी नै हुन्छ जसले गर्दा ज्ञेय आवरण अर्थात् वस्तुसत्ताग्राह (या उपलम्भदृष्टि) कायमै हुन्छ। त्यही अज्ञानले गर्दा बुद्धको जस्तो सर्वज्ञता प्राप्त गर्न सक्दैनन्। त्यसकारण उनीहरू निर्वाण प्राप्त गर्न सक्छन् तर पनि सर्वज्ञता प्राप्त गर्न सक्दैनन्। यही सूक्ष्म अज्ञानको आवरण (ज्ञेय-आवरण) विद्यमान हुने भएकोले- उनीहरूको ज्ञान सर्वत्र अव्याहत, सर्वत्र अनासक्त र सर्वत्र अप्रतिहत हुन पाउँदैन। त्यसैले गर्दा अर्हत्‌हरूमा कायवैगुण्य, वाग्वैगुण्य र बुद्धिवैगुण्य पनि भएको देखिन्छ। जस्तैः कायवैगुण्यमा उछुट्टिएर हिँड्ने, ठेस लाग्ने, सर्प आदि कुचिन पुग्ने जस्ता कुरा हुन सक्छन्। त्यस्तै वाग्वैगुण्यमा कहिले कहिले अट्टहास गर्ने, अपशब्द प्रयोग गर्ने जस्ता कार्य पनि हुने गर्छन्। कहीँ कहीँ उनीहरूमा मार्गको बयान गर्नमा पटुता पनि हुँदैन। प्रमाणवार्तिकमा धर्मकीर्ति भन्नुहुन्छ -

कायवाग्बुद्धिवैगुण्यं मार्गोक्त्यपटुता ऽपि च ॥ (१/१४३)

यस प्रकार जसरी उनीहरूमा अक्लिष्ट अज्ञान बाँकी रहेको देखिन्छ त्यसरी नै अक्लिष्ट तृष्णा बाँकी रहनु सम्भव हुँदैन त ? किनकि -

वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनैषां च दृश्यते ।
सालम्बनेन चित्तेन स्थातव्यं यत्र तत्र वा ॥४८॥

वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तिनको देखिन्छ वेदना
आलम्बन लिई चित्त राख्नुपर्छ यहाँ त्यहाँ ॥४८॥

अन्वयार्थ : वेदनाप्रत्यया = वेदनामा आश्रित भएको, तृष्णा = तृष्णा हुन्छ, एषां = यी अर्हत्‌हरूको, वेदना च = वेदना त, दृश्यते = देखिन्छ, सालम्बनेन = आलम्बनसहितको, चित्तेन = चित्तद्वारा, यत्र तत्र = जहाँ कहीं, स्यातव्यम् रहनुपर्ने हुन्छ ।

वेदनाप्रत्यया तृष्णा हो अर्थात् वेदनाभएमा तृष्णा हुन्छ र अर्हत्‌हरूमा पनि वेदना त हुन्छ । त्यसैले तृष्णा उत्पन्न नहोला भन्न सकिन्न। प्रतीत्यसमुत्पादको नियम नै यही हो कि स्पर्श भए वेदना भइहाल्छ, वेदना भए तृष्णा आइहाल्छ। यसमा वैभाषिक भन्छन् कि अविद्यालाई नाश गरिसकेको योगीमा त तृष्णा उत्पन्नै हुँदैन। अनि माध्यमिक भन्छन् – त्यो मिल्दैन किनभने त्यहाँ त चित्तलाई आलम्बन दिएर यत्र तत्र राखिराख्नु पर्छ। चार आर्यसत्यभावनामा पनि चित्त जहाँ जहाँ पुग्छ त्यहाँ त्यहाँको आलम्बनले युक्त हुन्छ। त्यसकारण त्यस किसिमको भावनामा चित्त अनालम्बन हुँदैन। जब सम्म चित्तमा त्यस्तो भावाभिनिवेश (वस्तुग्राह) हुन्छ तबसम्म अविद्याको नाश भएको हुँदैन । तिमीहरूको मतमा क्लेशरहित तृष्णा हुन्छ भन्ने नमाने पनि शून्यताज्ञान नहुने भएकोले तृष्णाको अभाव हुने सम्भावना हुँदैन। वस्तुहरूको अस्तित्वप्रतिको ग्राहले गर्दा शून्यताज्ञान हुन सक्दैन। त्यो नभए चित्त कतै न कतै आसक्त भइरहेकै हुन्छ। त्यस अवस्थामा निर्वाण पनि साक्षात्कार हुन सक्दैन। बोधिको त कुरै छोडौं । त्यसैले आचार्यले पहिले नै भन्नुभएको थियो कि 'सावलम्बनचित्तस्य निर्वाणमपि दुःस्थितम्' (९.४५)

> विना शून्यतया चित्तं बद्धमुत्पद्यते पुनः ।
> यथासंज्ञिसमापत्तौ भावयेत्तेन शून्यताम् ॥४९॥

शून्यता नभए चित्त बद्ध भै फेरि आउँछ
जस्तै असंज्ञिध्यानैमा, शून्यता भावना गर ॥४९॥

अन्वयार्थ : शून्यतया विना = शून्यताविना, चित्तं = चित्त, बद्धं = बद्ध भएरै अर्थात् आसक्त भएरै, पुनः = फेरि, उत्पद्यते = उत्पन्न भइरहन्छ, यथा = जस्तै, असंज्ञिसमापत्तौ = असंज्ञिसमापत्तिमा, तेन = त्यसो हुनाले, शून्यतां = शून्यतालाई, भावयेत् = भावना गर्नुपर्छ ।

शून्यताविना चित्त मुक्त हुँदैन र केही समयसम्म निरुद्ध भयो अथवा मुक्त भयो भने पनि फेरि बन्धनसहित भएर उत्पन्न हुन्छ । जस्तै कि असंज्ञि- समापत्तिमा पनि चित्त चैतसिकको निरोध भएर पनि फेरि चित्त बद्ध अवस्थामै उत्पन्न हुनपुग्छ। त्यसकारण शून्यताको भावना गर्नुपर्छ।

यसको आशय के हो भने जबसम्म आलम्बन अर्थात् 'ज्ञेय'को शून्यताको बोध हुँदैन अथवा सम्पूर्ण धर्महरूको निःस्वभावताको बोध हुँदैन तबसम्म चित्त अनासक्त अर्थात् बन्धनमुक्त भएको हुँदैन। त्यसैले उत्पन्न हुँदाखेरि बन्धनसहितको चित्त उत्पन्न भइरहन्छ। यसको दृष्टान्त पनि छ जस्तै :- असंज्ञिसमापत्ति। यो एक प्रकारको समाधि हो जसमा स्थित हुँदाखेरि चित्त, चैतसिक सबै निरुद्ध भएका हुन्छन् परन्तु समापत्तिबाट उठ्नेवित्तिकै फेरि जस्ताको तस्तै प्रवृत्त हुन्छन्। त्यसकारण त्यसबाट बन्धनको क्षय भएको हुँदैन। फेरि, त्यो समाधि लाभ गरेका व्यक्तिहरू मरेपछि असंज्ञिसत्त्व नामक देवलोकमा जन्म लिन्छन् र ५०० महाकल्पसम्म त्यहाँ रहन्छन्। त्यसपछि फेरि च्युत भएर मनुष्यलोकमा आउँछन्। यद्यपि त्यहाँ रहुन्जेल चित्त-चैतसिकहरू निरोध भएको अवस्थामै थिए तापनि मनुष्यलोकमा च्युत भएपछि पुनः बन्धनसहित भएर प्रवृत्त हुन्छन्। निरोधसमापत्तिमा पनि

त्यस्तै हुन्छ। अभिधर्मकोषमा बताइएको छ कि समापत्तिको वेलामा चित्तचैतसिक निरोध भएको हुन्छ तापनि पृष्ठलब्धावस्थमा पुनः प्रवृत्त हुन्छ।

त्यसैले शून्यताविना भिक्षुता अर्थात् क्लेशप्रहाणता र निर्वाण यी दुवै सम्भव छैन। त्यसैले जसले यी कुरा चाहान्छ उसले शून्यताकै भावना गर्नुपर्छ र शून्यताको भावनाबाट क्लेशको पनि प्रहाण हुन्छ र निर्वाणको पनि साक्षात्कार हुन्छ। केवल आर्यसत्यको मात्र भावनाले पुग्दैन किनकि त्यहाँ चित्त सालम्बन नै हुन्छ। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमितामा बताइएको छ,

"तत् किं मन्यसे सुभूते, अपि नु स्रोत आपन्नस्यैवं भवति मया स्रोत आपत्तिफलं प्राप्तमिति ? सुभूतिराह – नो हीदं भगवन्। तत्कस्य हेतोः ? न हि भगवन् किञ्चिदापन्नः, तेनोच्यते स्रोत आपन्न इति। न रूपमापन्नो न शब्दान् न गन्धान् न स्प्रष्टव्यानि न धर्मानापन्नः, तेनोच्यते स्रोत आपन्न इति। स चेद् भगवन् स्रोत आपन्नस्यैवं भवेत् – मया स्रोतआपत्तिफलं प्राप्तमिति, स एव तस्य आत्मग्राहो भवेत् सत्त्वग्राहो जीवग्राहः पुद्गलग्राहो भवेत्। ...पेयालं...। तत्किं मन्यसे सुभूते अपि नु अर्हत एवं भवति – मया अर्हत्त्वं प्राप्तमिति ? सुभूतिराह नो हीदं भगवन्। तत्कस्य हेतोः ? न कश्चिद् धर्मो योऽर्हन् नाम। सचेद् भगवन् अर्हत एवं भवेत् – मयार्हत्वं प्राप्तमिति, स एव तस्यात्मग्राहो भवेत्। ...पेयालं...। भगवान् आह – तस्मात् तर्हि सुभूते, बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन एवमप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यं, न शब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यमिति"।

अर्थात् 'हे सुभूति, के तिमीले यस्तो मान्छौ कि स्रोत – आपन्न व्यक्तिले मैले स्रोत आपत्ति फल पाएँ भन्ने विचार गर्छ ? सुभूतिले भने – त्यस्तो हुँदैन भगवन्। किन ? किनकि भगवन्, केही पाएको हुनाले स्रोत आपन्न भनिने होइन। रुप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, धर्म केही पनि नपाएकोले स्रोत – आपन्न भनिएको हो। यदि भगवन्, स्रोत – आपन्न व्यक्तिले मैले स्रोत आपत्तिफल पाएँ भन्ने ठान्ने हो भने त त्यही नै उसको आत्मग्राह, सत्त्वग्राह, जीवग्राह, पुद्गलग्राह हुनेछ। ...त्यस्तै... के सुभूति, अर्हत्ले मैले अर्हत्त्वलाभ गरें भन्ने ठान्छन् भन्ने मान्छौ ? त्यस्तो हुँदैन भगवन्! किन ? किनकि अर्हत् नाम गरेको कुनै पनि धर्म छैन। यदि भगवन्, अर्हत्ले मैले अर्हत्त्वलाभ गरेँ भन्ने ठान्ने भए त्यही नै उनको आत्मग्राह हुनेछ। भगवान्ले भन्नुभयो – त्यसकारण हे सुभूति, बोधिसत्त्व महासत्त्वले यसरी अप्रतिष्ठित चित्तलाई उत्पन्न गराउनुपर्छ। कहिँ पनि नरहेको चित्तलाई उत्पन्न गराउनुपर्छ। न रूपमा प्रतिष्ठित भएको चित्त उत्पन्न गराउनु हुन्छ न शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्यमा प्रतिष्ठित भएको चित्तलाई उत्पन्न गराउनु हुन्छ।"

यत्सूत्रे ऽवतरेद् वाक्यं तच्चेद् बुद्धोक्तमिष्यते।
महायानं भवत्सूत्रैः प्रायस्तुल्यं न किं मतम् ॥५०॥

जो वाक्य सूत्रमा हुन्छन् ती हुन् बुद्धवचन् भने
महायान पनि तिम्रा सूत्र झैं छन्, नमान्नु के ? ॥५०॥

एकेनागम्यमानेन सकलं यदि दोषवत्।
एकेन सूत्रतुल्येन किं न सर्वं जिनोदितम् ॥५१॥

नमिल्दा एउटा सारा दोषपूर्ण हुने भए
यौटा सूत्र मिले सारा बुद्धभाषित हुन्न के ? ॥५१॥

महाकाश्ययमुख्यैश्च यद्वाक्यं नावगाह्यते ।
तत्त्वयानवबुद्धत्त्वादग्राह्यं कःकरिष्यति ॥५२॥

महाकाश्यप जस्ताले बुझिन्न जुन वाक्य त्यो
वुझेनौ तिमीले भन्दै अग्राह्य ठान्न सक्छ को ? ॥५२॥

अन्वयार्थ : यद्वाक्यं = जुन वाक्य, सूत्रे = सूत्रमा, अवतरेत् = समावेश छ, तत् = त्यो, चेद् = यदि. वुद्धोक्तम् = वुद्धले वताएको भन्नु, इष्यते = उपयुक्त छ (इष्ट छ) भने, महायनं = महायान पनि, भवत्सूत्रैः = तिमीहरूका सूत्रसंग, प्रायः तुल्यं = धेरैजसो समान नै छ, किं = किन, न मतम् = नमान्ने गर्छौ ?

यदि = यदि, एकेन = एउटा, अगम्यमाने = नमिलेमा, सकलं = सबै नै, दोपवत् = दोपपूर्ण हुन्छ भने, एकेन = एउटा, सूत्रतुल्येन = सूत्रसँग मिलेकाले, किं = किन, सर्वं = सबै, जिनोदितं न = वुद्धभापित नहुने ?

यद्वाक्यं = जुन वाक्यलाई, महाकाश्यपमुख्यैः = महकाश्यपजस्ताले त, न अवगाह्यते = पार पाउन सकिँदैन, तत् = त्यो चीज, त्वया = तिमीले अनवबुद्धत्वात् = जान्न नसकेको कारणले नै, कः = कसले. अग्राह्यं = अग्राह्य या लिन अयोग्य. करिष्यति = गराउला ?

जुन वाक्यहरू सूत्रमा भेटिन्छन् अर्थात् विनय आदिमा अनुज्ञात छन् र अभिधर्मसँग बाझिने पनि छैनन् तिनीहरूलाई बुद्धवचन हुन् भनेर मान्ने हो भने महायानका सूत्र पनि तिमीहरूका सूत्रसँग मिल्छन्। हीनयानसूत्रहरूलाई प्रामाणिक माने झैं यी महायानी सूत्रलाई पनि किन प्रामाणिक मान्दैनौ ?

यदि एउटा कुरा मिल्न आएन भनेर सबैलाई दोषी ठहऱ्याउने हो भने एउटा कुरा सूत्रसँग मिल्यो भनेर सबैलाई बुद्धवचन हुन् भन्न किन सक्दैनौ ?

फेरि जुन वचनहरू अर्थात् प्रमुख प्रज्ञापारमिता सूत्रहरूका बुद्धवचनको तात्पर्य बुझ्न महाकाश्यपजस्ता प्रमुख अर्हत्हरूले त सकेनन् भने ती वचनहरू तिमीले बुझ्न सकेनौ भन्दैमा बुद्धवचनको रूपमा अग्राह्य कसले ठान्छ र ?

(आचार्य प्रज्ञाकरमतिले यहाँनेरका यी तीन श्लोकहरूलाई प्रक्षिप्त ठान्नुभएको छ। त्यसमा उहाँको तर्क पनि छ। तीन कारणले यी प्रक्षिप्त हुनुपर्छ उन्ने उहाँको भनाइ छ। पहिलो कारण हो यी श्लोकहरू प्रसङ्ग अनुसार यथोचित स्थानमा छैनन् किनकि महायानलाई बुद्धवचन सिद्ध गर्ने प्रसङ्ग ४१ श्लोकदेखि ४८ श्लोकसम्म मात्र थियो। ४९ औं श्लोकदेखि शून्यताको प्रयोजनको चर्चा शुरुभएको थियो। त्यसैले यो ग्रन्थरचनामा कुशलता नभएको ठहरिन पुग्नेछ। दोस्रो कारण हो पुनरुक्त दोष। ३८ र ४४ श्लोकमा पनि जुन कुरा उठेको थियो तिनै कुरा यहाँ दोहोरिनुले पुनरुक्त दोष लाग्ने छ। तेस्रो कारण हो महाकाश्यपजस्ता अर्हत् महास्थविरलाई अज्ञानताको दोषारोपण गर्नु। त्यो अश्लीलताको दोष हुन जानेछ। यी कारणले गर्दा प्रक्षिप्त हुनुपर्छ भन्ने निष्कर्ष उहाँले दिनुभएको छ।)

अब आचार्य शङ्का उठाउँदै भन्नुहुन्छ, आलम्बनलाई समातेको चित्तमा आसक्ति (तृष्णा) भइरहने सम्भावना भएकाले मुक्ति हुँदैन भने शून्यतामा पनि भय उत्पन्न हुन्छ जसले गर्दा यी दुवैभन्दा संसारमै रहनु जाति हुन्छ त ? यस्तो दोष लगाउने त होइन ? यही कुरा अबको श्लोकमा

देखाइएको छ ।

सक्तित्रासात्त्वनिर्मुक्त्या संसारे सिध्यति स्थितिः ।
मोहेन दुःखिनामर्थे शून्यताया इदं फलम् ॥५३॥

आसक्ति त्रासले मुक्ति नभै संसारमै स्थिति
दु:खिको मोहले हुन्छ शून्यताको छ यो फल ! ॥५३॥

अन्वयार्थ : दु:खिनाम् = दु:ख पाएका संसारी जनहरूको, अर्थे = विपयप्रति, मोहेन = अविद्याद्वारा, सक्तित्रासात् = आसक्ति र भयले गर्दा , तु = त, संसारे = संसारमा नै, स्थिति: = रहनु, सिध्यति = सिद्ध हुन्छ, शून्यताया: = शून्यताको, इदं फलम् = यही फल हो ?

सक्ति भनेको आसक्ति हो र त्रास भनेको डर हो । सामान्य अज्ञानी बालजनहरूको विषय र सांसारिक भोगविलासप्रति आसक्ति हुन्छ । फेरि अज्ञानले गर्दा उनीहरूले शून्यताको विषयमा सुने पनि त्यसको यथार्थ माध्यमिक अर्थ नबुझेर उच्छेद जस्तो केही पनि छैन भन्ने ठानेर भयभीत हुन्छन् । एकातिर त्यो आसक्ति र अर्कोतिर त्यो भयले गर्दा ती जन्मजरामरणजस्ता दु:खले पीडत भएका वालजनहरूले योभन्दा त बरु संसारमै बसिरहनु राम्रो भन्ने निष्कर्ष निकाल्न पुग्छन् । त्यसबाट उनीहरूको मुक्ति पनि नहुने भएकोले संसारमै स्थिति हुन्छ । शून्यताको कुराले त त्यस्तो परिणाम पो हुनपुग्छ ! फलतः शून्यतालाई बताएर के फाइदा ? शून्यता सिद्धान्तको यस्तो दोष देखिन्छ भन्ने हो भने त्यसको परिहार अर्को श्लोकबाट गरिँदैछ ।

उपर्युक्तं श्लोकको कुनै पाठान्तर यस्तो पनि छ,

सक्तिसन्त्रासनिर्मुक्त्या संसारे सिध्यति स्थितिः ।
मोहेन .... ॥"

प्रज्ञाकरमतिका अनुसार यस्तो पाठ मान्नेहरूले व्याख्या गर्ने तरीका अलि वेग्लै छ । त्यसमा 'सक्ति' भन्नाले 'शाश्वत-अन्त'लाई बुझिन्छ किनकि यो नै आसक्तिको मूल आधार हो । त्यस्तै 'सन्त्रास' भन्नाले 'उच्छेदान्तलाई बुझिन्छ किनकि यो नै भय अर्थात् डरको मूल आधार हो । शाश्वत अन्तलाई समात्ने दृष्टिले गर्दा संसारप्रति आसक्ति हुन्छ । त्यसैले यो आसक्तिको हेतु हो । उच्छेदान्तलाई समात्ने दृष्टिले निर्वाणप्रति भय उत्पन्न गराउँछ । त्यसैले यो भय अर्थात् सन्त्रासको हेतु हो । यी दुई अन्तहरूलाई क्रमशः 'समारोप' र 'अपवाद' पनि भनिन्छ । यी दुई अन्तहरूबाट मुक्त भएपछि (सक्तिसन्त्रास-निर्मुक्त्या) बोधिसत्व संसारमै पनि रहन सक्छ । किन ? किनकि संसारका दु:खीजनहरूको हितको लागि यो नै शून्यता भावनाको फल हो ।

वास्तवमा माध्यमिकहरूको दृष्टिमा वस्तुहरूको स्वभावसिद्ध सत्तालाइं देख्नु शाश्वतान्त या समारोप हो जसलाई परमार्थसत्यद्वारा परिहार गरिन्छ भने व्यावहारिक सत्ता नै छैन भन्ने देख्न पुग्नु उच्छेदान्त या अपवाद हो जसलाई संवृति सत्यद्वारा परिहार गरिन्छ । त्यसकारण यी दुवै अन्तहरूलाई निषेध गरेर मध्यम मार्ग लाभ गर्न सकिन्छ । यी दुई अन्तको ग्राहबाट मुक्त भएपछि वोधिसत्व संसारमै स्थित रहन्छन् । किनकि परमार्थलाई जान्ने प्रज्ञाबाट उनीहरू संसारमा फँसेका

हुदैनन् भने करुणाको कारणले उनीहरूले संसारलाई त्यागन पनि सक्दैनन्। सांसारिक प्राणीहरूलाई दुःखबाट मुक्त गराउने उनीहरूको सङ्कल्प पूरा हुन संसारमा स्वेच्छाले रहन सक्नु पर्ने हुन्छ।

प्रश्न उठ्छ यदि सांसारिक प्राणी नै परमार्थतः छैनन् भने किन संसारमा रहनुपऱ्यो त ? यसमा माध्यमिक भन्छन् कि संवृति सत्यलाई हामी नकार्दैनौं। नत्र मध्यममार्ग नभएर उच्छेदान्तमा पतन हुनेछ। त्यसैले सत्त्वहरू सबै सांवृतिक (व्यावहारिक) रूपमा मात्र उपलब्ध हुन्। व्यवहारसत्य वास्तवमा मोह हो तापनि दुःख शान्त गराइदिनको लागि त्यति 'मोह'लाई स्वीकार्नु नै बोधिसत्वको महानता हो। जस्तैः- आचार्यले पछि ७७ औं श्लोकमा बताउनु भएको छ कि *"दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते"*। अतः शून्यताको फल यस्तै हो अर्थात् संसारमा रहेर पनि संसारमा नफस्ने। यही नै महायानको अप्रतिष्ठित निर्वाण हो। शून्यता नभए यस्तो अवस्था हुनै सक्दैनथ्यो।

यहाँ पहिलो व्याख्या अनुसार देखापर्ने दोष दोस्रो व्याख्या बमोजिम समाधान हुने भएकोले आचार्यले उपसंहार गर्दै भन्नुहुन्छ -

तदेवं शून्यतापक्षे दूषणं नोपपद्यते।
तस्मान्निर्विचिकित्सेन भावनीयैव शून्यता ॥५४॥

यसरी शून्यतामा त दोष लाग्दैन नै कुनै
अतः निःशंक भै गर्नू भावना शून्यता सधैं ॥५४॥

अन्वयार्थ : तद् एवं = यी कारणहरूले गर्दा, शून्यतापक्षे = शून्यतालाई मानेको पक्षमा, दूषणं = दोष, न उपपद्यते = सिद्ध हुँदैन, तस्मात् = त्यसो हुनाले, निर्विचिकित्सेन = विचिकित्सा अर्थात् शंका उपशंकाले रहित भएर, शून्यता = शून्यता, भावनीया एव = भावना गर्ने उपयुक्त छ॥

शून्यताको भावनाले डर उत्पन्न हुन्छ भनेर जुन दोषारोपण शून्यताको पक्षमा गरियो त्यो दोष यहाँ लागू नै हुँदैन। त्यसैले कुनै पनि सन्देह या शंका नगरिकन शून्यताको भावना गर्नुपर्छ। त्यही नै बोधिप्राप्तिको मार्ग हो। किनकि -

क्लेशज्ञेयावृतितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता।
शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम् ॥५५॥

क्लेशज्ञेयावरणको उल्टो हो शून्यता भने
गर्दैन भावना कस्ले चाँडै सर्वज्ञ खोजने ? ॥५५॥

अन्वयार्थ : क्लेशज्ञेयावृतितमःप्रतिपक्षः = क्लेशावरण र ज्ञेयावरणरूपी अन्धकारको प्रतिपक्ष, हि = नै, शून्यता = शून्यता हो, शीघ्रं = चाँडै नै, सर्वज्ञताकामः = सर्वज्ञताको कामना गर्नेले, तां = त्यो शून्यतालाई, कथं = कसरी, न भावयति = भावना गर्दैन ?

क्लेशआवरण भनेका राग आदि क्लेश हुन्। त्यस्तै रूप, शब्द, गन्ध आदि ज्ञानका विषयहरूलाई सत् स्वरूपमा देख्नु ज्ञेयावरण हो। यी दुवैले यथार्थतालाई ढाक्ने काम गर्ने भएकोले आवरण भनिन्छ र यी अन्धकार जस्तै हुन्। त्यसकारण यिनीहरूको प्रतिपक्ष नै शून्यता हो। यी दुवैको प्रतिपक्ष स्वरूप शून्यताको भावनाले मात्र तिनीहरूको पूर्णरूपमा नाश हुन्छ र बुद्ध बनिन्छ

जुन सर्वज्ञतापद हो। अतः यथाशीघ्र त्यस्तो सर्वज्ञतापदको लाभ गर्न खोज्नेले यो शून्यताको भावना किन गर्दैनन् ? अवश्य गर्नुपर्छ।

शून्यताबाट भय उत्पन्न हुने कुरा युक्ति संगत छैन। किनकि -

यद्दुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात् प्रजायताम्।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ॥५६॥

जो वस्तु दुःखदायी छ त्यस्बाटै भय आउला
शून्यता दुःखशमनी कसरी भय आउला ? ॥५६॥

अन्वयार्थ : यद् = जुन, वस्तु = कुरा, दुःखजननं = दुःख पैदागर्ने स्वभावको छ, तस्मात् = त्यसवाट, त्रासः = डर, प्रजायताम् = आउला, शून्यता = शून्यता भनेको त, दुःखशमनी = दुःखलाई शान्त पार्ने स्वभावको हो, ततः = त्यसवाट, किं = कसरी, भयं = डर, जायते = उत्पन्न हुन्छ ?

जुन वस्तुले दुःख पैदा गर्छ त्यो वस्तुबाट डर हुनु स्वाभाविक हो। परन्तु शून्यता त दुःखलाई शमन गर्ने स्वभावको छ भने त्यसबाट कसरी डर उत्पन्न हुनसक्छ ? शुरुशुरुमा कुरा नबुझेर पो डर हुने हो, शून्यतालाई साँच्चिकै बुझ्न थाले पछि त त्यो बाहेक अरु मुक्तिको उपाय कदापि हुन सक्ने रहेनछ भन्ने आफै छर्लङ्ग भइहाल्छ। त्यसपछि त फेरि शून्यतालाई छोड्न पनि मन लाग्दैन। त्यसकारण आफूले बुझ्न र राम्ररी चिन्तन गर्न नसक्नु शून्यताको दोष होइन। शून्यता स्वयं त अत्यन्त कल्याणकारी छ।

बरु यस्तो तत्त्व नबुझ्नेहरूलाई आत्मग्राहबाट उत्पन्न भएको अहङ्कारबाटै भय उत्पन्न हुने हो र त्यो आत्मा पनि कल्पनाद्वारा समारोपित हो, वास्तवमा कहीं पनि छैन। त्यसैले -

यतस्ततो वा ऽस्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।
अहमेव न किञ्चिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति ॥५७॥

'म' भन्ने केही छ भने डर होला कहीं कतै
'म' नै केही छैन भने डर केको हुनेछ खै ? ॥५७॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, 'अहं'नाम = 'म' भन्ने, किञ्चित् = केही छ भने पो, यतस्ततो वा = यतावाट होस् या उतावाट होस्, भयं = डर, अस्तु = होला त, अहम् एव = 'म' भन्ने नै, किञ्चिद् न चेद् = केही पनि छैन भने, कस्य = केको, भयं = डर, भविष्यति = होला र ?

यदि कतै 'म' भन्ने कुरा छ भने पो त्यसलाई कतैतिरबाट कुनै कुराको डर हुनु उपयुक्त हुन्छ। जब यहाँ कहीं 'म' भन्ने कुरै छैन भने कसलाई केको डर हुन सक्छ ?

व्यक्तिमा अनादिकालदेखि आत्मदृष्टि चलेर आइरहेको हुनाले त्यसैको वासनाद्वारा प्रत्येक क्षणमा आत्मदृष्टि अर्थात् 'म' साँच्चिकै छु भन्ने विश्वास उत्पन्न भइरहन्छ। यस्तो आत्मदृष्टि प्रवृत्त हुँदाखेरि दुई रूपबाट प्रवृत्त हुने गर्छ। वाह्यरूपबाट र आन्तरिक या आध्यात्मिकरूपबाट। यदि वाह्यरूपवाट प्रवृत्त भयो भने बाहिरी जगत्मा साँच्चिकै सत्ता छ भन्ने आरोपित हुन्छ र यी रूप, रस, गन्ध, आदि बाह्य धर्महरूलाई 'स्वभावतः' सत्को रूपमा ग्रहण गर्न पुग्छ र त्यसैलाई

सुख दुःखको कारण ठान्छ । यसरी सम्पूर्ण संस्कृत - असंस्कृत पदार्थहरूमा स्वाभाविक सत्ता देख्छ । यदि त्यो वासना आन्तरिक रूपमा प्रवृत्त भयो भने यही पञ्चस्कन्ध भित्र कतै एक अलग 'म छु' भन्ने रूपमा ग्रहण हुन्छ । यही 'म'लाई भोक्ता, कर्ता, सुखदुःख अनुभव गर्ने, पुनर्जन्म लिने जस्तो विश्वास गर्नपुग्छ । अनादि कालदेखिको वासनाले गर्दा यही 'म' सपनामा पनि 'छु' भन्ने रूपमा वोध भइरहन्छ । सुषुप्तिमा पनि थिएँ भन्ने बोध भइरहेको हुन्छ । यसरी तिनै कालमा जस्ताको तस्तै रहेको छु भन्ने पनि अत्यन्त सूक्ष्मरूपमा बोध गरिरहेको हुन्छ ।

परन्तु यथार्थमा त यो सबै प्रतीत्यसमुत्पादबाट देखापर्छ र स्वभावतः सत् कुरा केही पनि छैन । सम्पूर्ण कुरा निःस्वभाव नै छन् । त्यसैले सबै कुराको यथार्थ स्वरूप त निःस्वभावता अर्थात् शून्यता नै हो । तैपनि उक्त वासनामा दुई प्रकारका आत्मदृष्टि हुने भएकाले तिनीहरूको प्रहाणका लागि दुई किमिका नैरात्म्यको उपदेश भगवान्ले गर्नुभएको हो । यथार्थमा वाह्य वस्तुहरूको स्वाभाविक सत्ता केही पनि छैन भन्ने दृष्टिलाई 'धर्मनैरात्म्य' भन्छन् भने यथार्थतः त्यस्तो 'म' या 'आत्मा' भन्ने कुराको सत्ता कहीँ पनि छैन भन्ने दृष्टिलाई 'पुद्गलनैराम्य' भन्छन् ।

त्यसकारण आत्मदृष्टिको विषय 'म' भन्ने कुरा कहीँ पनि नभएको हुनाले डर उत्पन्न हुनुपर्ने कुनै कारणै छैन । अज्ञानले त्यो 'म' छु भन्ने भ्रान्ति हुनाले गर्दा भय पनि हुने गर्छ । वास्तवमा त्यस्तो म कहीँ छैन । किनकि-

दन्तकेशनखा नाहं नास्थि नाप्यस्मि शोणितम् ।
न सिङ्घाणं न च श्लेष्मा न पूयं लसिकापि वा ॥५८॥

दाँत, केश र नङ् हाड म हैन न म हूँ रगत्
न सिंगान, कफै हूँ 'म' अथवा पीप या तरल् ॥५८॥

__अन्वयार्थ :__ अहं = 'म' भन्ने, दन्तकेशनखा = दाँत, केश, नङहरू, न = होइन, अस्थि = हाड, न = होइन, शोणितम् अपि = रगत पनि, न अस्मि = होइन, सिङ्घाणं न = सिंगान होइन, श्लेष्मा च न = कफ पनि होइन, पूयं न = पीप पनि होइन, वा = अथवा, लसिकापि= घाउवाट आउने तरल् पदार्थ पनि होइन ।

'म' भन्ने जुन भाव भइरहन्छ त्यो यो शरीरमा कहीँ पनि छैन । त्यो 'म' न त दाँत, केश या नङ् हुँ । न हाड रगत हुँ । न सिंगान खकार (कफ) हुँ, न 'म' पीप (घाउको पानी) हुँ । यी कुनै अङ्ग पनि 'म' होइन । त्यति मात्र होइन अझै-

नाहं वसा न च स्वेदो न मेदो ऽन्त्राणि नाप्यहम् ।
न चाहमन्त्रनिर्गुण्डी गूथमूत्रमहं न च ॥५९॥

न वोसो पसिना मेद म हूँ, आन्द्रा म होइन
ठूलो आन्द्रा पनि हैन लादी-पिसाब होइन ॥५९॥

__अन्वयार्थ :__ अहं = म, न वसा = वोसो पनि होइन, न च स्वेदः = पसीना पनि होइन, न मेदः = मेद पनि होइन, अहम् = म, अन्त्राणि अपि न = आन्द्रा पनि होइन, अहं = म, अन्त्रनिर्गुण्डी च न = ठूलो आन्द्रा पनि होइन, गूथमूत्रं च = गू मूत पनि, अहं न = 'म' होइन ।

म शरीरको बोसो पनि होइन, पसिना पनि होइन, सानो आन्द्रा पनि होइन, ठूलोआन्द्रा पनि होइन, दिसा पनि होइन, पिसाव पनि होइन ।

त्यस्तै -

नाहं मांसं न च स्नायु, नोष्मा वायुरहं न च ।
न च च्छिद्राण्यहं नापि षड्विज्ञानानि सर्वथा ॥६०॥

न मासु हुँ , न त स्नायु, उष्मा, वायु त होइन
न छिद्रहरू हुँ त्यस्तै षड्विज्ञान म होइन ॥६०॥

__अन्वयार्थ :__ अहं = म, मांसं न = मासु पनि होइन, स्नायु च न = स्नायु पनि होइन, न ऊष्मा = ऊष्मा अर्थात् शरीरको अग्निधातु पनि होइन, अहं = म, वायुः च न = वायुधातु अथवा आश्वास- प्रश्वास आदि पनि होइन, अहं = म, छिद्राणि च न = छिद्रहरू पनि होइन, सर्वथा = कदापि, पड्विज्ञानानि = छ विज्ञानहरू, अपि न = पनि होइन ।

म मासु पनि होइन, नसा नाडीहरू या स्नायु पनि होइन, शरीरको तातोपन या अग्नि धातु पनि होइन, त्यस्तै म वायुधातु पनि होइन या सास पनि म होइन । त्यस्तै म शरीरका छिद्रहरू अर्थात् इन्द्रियहरू पनि होइन । म षड्विज्ञान अर्थात् कायविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, घ्राणविज्ञान, चक्षुर्विज्ञान र मनोविज्ञान गरी यी छ प्रवृत्तिविज्ञान पनि कुनै हालतमा होइन किनकि यी विज्ञानहरू पनि निरन्तर परिवर्तनशील छन् । यसप्रकार अलग अलग यी पृथ्वी, जल, अग्नि, धातु पनि म होइन भने त्यस अन्तर्गत पर्ने विभिन्न अङ्गहरू एक एक गरेर हेर्दा पनि म होइन । फेरि सबै अङ्गहरूको एउटा अङ्गी भन्ने पनि मिल्दैन, त्यसैले त्यो पनि म होइन । अनेक अङ्गलाई नै एक सम्झेर त्यो 'म' हुँ भन्नु पनि उपयुक्त छैन किनकि अनेकमा एकको बोध हुनु भ्रान्तिसिवाय अरु केही होइन । भ्रान्तिको आधारमा खडा हुने कुरा कहिल्यै पनि तत्त्व हुन सक्दैन । त्यसकारण यो 'म' अर्थात् 'अहं' भन्ने कुराको अस्तित्व कहीं पनि छैन । यो केवल कल्पनाबाट मात्र आएको हो ।

आत्मवादी भन्छन्- यद्यपि 'अहम्' भनेर बोध हुने कुराका विषयहरू यी केश, नङ आदि शरीरका अङ्ग होइनन् तापनि यो निर्विषयक अर्थात् कुनै कुरा पनि त्यहाँ न भइकन केवल कल्पना मात्र गरिएको भन्ने सिद्ध हुँदैन । आन्तरिक क्रियावान् पुरुष नै यो 'अहं' प्रत्ययको विषय हो । ठ्याम्मै केही नभए यो आउने नै थिएन ।

माध्यमिक भन्छन् कि त्यो उपयुक्त छैन । किनकि म गोरो हुँ, दुब्लो हुँ, अग्लो छुँ, जाँदै छुँ, आउँदै छुँ जस्तो भनाइको आधारमा 'म' भन्ने कुरा प्रतिभासित भइरहन्छ । त्यसकारण त्यो प्रतिभासित 'म'को बोध गोरो, कालो, हिंड्दै गरेको, खाँदै गरेको आदि विशेषणद्वारा विशिष्ट भई प्रतिभासित हुन्छ । यसमा जुन आकार ज्ञानमा प्रतिभासित हुन्छ त्योभन्दा भिन्दै आकारको विषय छ भन्ने मान्नु युक्तिसंगत हुँदैन किनकि त्यसवेला ज्ञानको वैशिष्टच नै व्यवस्थित हुन सक्ने छैन । फलतः जुनसुकै ज्ञानले जुनसुकै विषयलाई पनि ग्रहण गर्ने अवस्था आउने छ जो कदापि सम्भव छैन ।

नैयायिक भन्छन् – आत्मा नित्य छ, व्यापक छ, प्रत्येक प्राणीको वेग्लै छ, अचेतन छ, अक्रिय छ परन्तु चेतनाको संयोगले कर्ता, भोक्ता, सुखी दुःखी, परलोकगामी आदि बन्छ । वैशेषिकहरूको पनि झण्डै झण्डै यस्तै खालको आत्मस्वरूप छ । यो कुरा तत्वसंग्रहमा शान्तरक्षितले वताउनुभएको छ–

अन्ये पुनरिहात्मानमिच्छदीनां समाश्रयात् ।
स्वतो ऽ चिद्रूपमिच्छन्ति नित्यं सर्वगतं तथा ॥
शुभाशुभानां कर्तारं कर्मणां तत्फलस्य च ।
भोक्तारं चेतनायोगात् चेतनं न स्वरूपतः (१७१-१७२)

मीमांसकहरू भन्छन्– आत्मा चेतन छ,. नित्य छ, परन्तु यसका केही स्वभाव परिवर्तनशील छन् भने केही स्वभाव अपरिवर्तनशील छन् । जस्तै सुखी हुनु, दुःखी हुनु, आदि परिवर्तनशील स्वभाव हुन् भने सत् चिद् आदि स्वभावहरू अपरिवर्तनशील हुन्छन् । जस्तैः– गुडुल्की परेको सर्प यदि फुकेर सोझो भई हिंड्न थाल्यो भने आकारमा परिवर्तन पनि भयो तर 'सर्पत्व' उही नै छ, केही भएको छैन । त्यस्तै आत्मा पनि बुद्धिको रूपमा व्यावृत्ति अनुसार प्रवर्तित हुने चैतन्य नै हो । त्यो चैतन्य बुद्धिस्वभाव नै छ । त्यसैले त्यसको वास्तवमा प्रवृत्ति या निवृत्ति दुवै हुँदैन । त्यसकारण नित्य पनि छ । यही कुरा शान्तरक्षितले स्पष्ट पार्नुभएको छ -

व्यावृत्त्यनुगमात्मानमात्मानमपरे पुनः ।
चैतन्यरूपमिच्छन्ति चैतन्यं बुद्धिलक्षणम् ॥
यथाहेः कुंण्डलावस्था व्यपेति तदनन्तरम् ।
सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं न निवंतते ॥
तथैव नित्यचैतन्यस्वभावस्यात्मनो ऽ पि न ।
निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमो ऽ पि च ॥ (तत्वसंग्रह : २२२-२२४)

अरु सबै नैयायिकहरूको जस्तै नै हो ।

जैनहरूको मत–मीमांसकहरूको झैं यिनीहरूको मतमा पनि आत्मा चेतन स्वरूप छ र द्रव्यस्वभावले सधैं रहिरहने खालको छ भने पर्यायस्वभावले बदलिइरहन्छ अर्थात् व्यावृत्ति भइरहन्छ । जस्तै शान्तरक्षित भन्नुहुन्छ -

जैमिनीया इव प्राहुर्जैनाश्चिल्लक्षणान्तरम् ।
द्रव्यपर्यायरूपेण व्यावृत्त्यनुगमात्मकम् ॥ (तत्वसंग्रह : ३११)

उनीहरू भन्छन् कि यो प्रत्यक्षतः सिद्ध छ किनकि सुखी, दुःखी भन्ने भिन्दै अवस्थाको बोध हुँदा पनि त्यो उही चैतन्य 'म'लाई भएको भन्ने पनि बोध भइरहन्छ । यही नै आत्माको द्रव्यस्वभाव हो । सुखी, दुःखी हुनु पर्यायस्वभाव हो ।

कापिलहरूको मत (सांख्य)–उनीहरूले आत्मालाई नित्य, व्यापक, निर्गुण, स्वतः चैतन्यरूप मान्छन् । नैयायिकको जस्तो अचेतन आत्मा उनीहरू मान्दैनन् । बुद्धिको स्वरूपले मात्र भिन्दै भासित हुन्छ । परन्तु बुद्धि जड हो । प्रधानले नै कार्य गराउने फल भोगाउने भूमिका गरेको हुन्छ । त्यसकारण त्यो आत्मा कर्ता, भोक्ता होइन केवल चैतन्य स्वरूप मात्र हो । त्यसमा शान्तरक्षितको भनाइ छ -

चैतन्यमन्ने मन्यन्ते भिन्नं वुद्धिस्वरूपतः ।
आत्मनश्च निजं रूपं चैतन्यं कल्पयन्ति ते ॥
प्रधानेनोपनीतं च फलं भुङ्क्ते स केवलम् ।
कर्तृत्वं नैव तस्यास्ति प्रकृतेरेव तन्मतम् ॥ (तत्त्वसंग्रह २८५ - ८६)

त्यस्तै सांख्यक्रमदीपिकामा पनि भनिएको छ –

प्रवर्तमानान् प्रकृतेरिमान् गुणान् तमोवृतत्वाद्विपरीतचेतनः ।
अहं करोमीत्यबुधो ऽभिमन्यते तृणस्य कुब्जीकरणे ऽप्यनीश्वरः (४३) ।

अर्थात् अज्ञानले ढाकिनाले गर्दा प्रकृतिद्वारा प्रवृत्त हुने यी गुणहरूलाई पनि मूर्ख अज्ञानीले 'मैले गर्छु' भनेर अभिमान गर्छ जब कि उसको सामर्थ्य चाहिँ झार बङ्ग्याउने पनि छैन ।

उपनिषद्‌वादी–यिनीहरूले सम्पूर्ण प्राणीहरूको अन्तरात्मा भएको एउटै व्यापक नित्य ज्ञान छ भन्ने मान्छन् । त्यसकै विवर्त अर्थात् परिणामस्वरूप पृथ्वी, जल, अग्नि आदि स्वरूपबाट यो विभिन्न रूपको जगत् प्रतिभासित हुन्छ । त्यसको स्वभाव त आत्मा नै हो । यी बाह्य पदार्थहरू स्वतन्त्ररूपमा सत् होइनन् । यी सबै मिथ्या नै हुन् । शान्तरक्षितले यही भन्नुहुन्छ –

नित्यो ज्ञानविवर्तो ऽयं क्षितितेजोजलादिकः ।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्ते ऽपरे पुनः ॥
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते ।
विज्ञानपरिणामो ऽयं तस्मात् सर्वं परीक्ष्यते ॥ (तत्त्वसंग्रह : ३२८–२९)

पुद्‌गलवादी बौद्धहरू वात्सीपुत्रीय बौद्धहरू पुद्‌गलवादी हुन् र उनीहरूको भनाइमा पञ्चस्कन्ध नै आत्मा होइन् परन्तु पञ्चस्कन्धभन्दा भिन्न पनि होइन तैपनि आत्मा चाहीँ छ । उनीहरूले भारहार सूत्रको आधारमा यस्तो पुद्‌गल (आत्मा=व्यक्ति) छ भन्ने सिद्ध गर्छन् । यस्तो आत्मा तीर्थिकहरूले मान्ने अनिर्वचनीय आत्मा जस्तै हो । शान्तरक्षितले पनि भन्नुहुन्छ –

केचिच्च सौगतम्मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते ।
पुद्‌गलव्यपदेशेन तत्त्वान्यत्त्वादिवर्जितम् ॥ (तत्त्वसंग्रहः ३३६)

यसरी विभिन्न प्रकारका आत्मवादीहरूले बताउने आत्मा कसरी अहंप्रत्ययको विषय हुन सक्छ ? त्यस्ता लक्षणहरू त त्यो त्यो स्वरूपले कहिल्यै पनि प्रतिभासित भएका हुँदैनन् । त्यसकारण त्यस्तो विषय कहीँ अहंप्रत्ययको रूपमा भासित नहुने भएकोले त्यस्तो विषय अर्थात् आत्मा कल्पना मात्र हो । त्यो अहंको बोध केवल अविद्याको वासनाद्वारा हुने हो न कि त्यस्तो विषय साँच्चिकै कतै भएको कारणले ।

चक्षुर्विज्ञान आदि ६ ओटा विज्ञानहरूलाई आत्मा हैनन् भन्ने कुरालाई सांख्य आदि दार्शनिकहरूले सहन सक्दैनन् किनकि उनीहरूको मतमा रूप, शब्द, आदि 'ज्ञान' त आत्मस्वरूप नै हुन् । त्यही भएर उनीहरू बौद्धलाई प्रश्न गर्छन् कि ६ विज्ञान त तिमीहरूले पनि मान्छौ । फेरि किन त्यो आत्मा होइन भन्छौ ? त्यसमा माध्यमिकहरू भन्छन् –

शब्दज्ञानं यदि तदा शब्दो गृह्येत सर्वदा ।
ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति येन ज्ञानं निरुच्यते ॥६१॥

आत्मा शब्दज्ञान भए सधैं शब्दै सुनिन्छ र ?
ज्ञेयविना त के जान्छ ? जस्ले 'ज्ञान' वताइयोस् ॥६१॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, शव्दज्ञानं = शव्दज्ञान नै आत्मा हो भने, तदा = त्यसवेलामा, सर्वदा = जतिखेर पनि, शव्दः = शव्द, गृह्येत = ग्रहण गरिएला, ज्ञेयं विना = ज्ञेय विना, (त्यसले) किं = के, वेत्ति = जान्दछ, येन = जसले गर्दा, ज्ञानं = ज्ञान भनेर, निरुच्यते = वताइन्छ ।

यदि आत्मा 'शब्दज्ञान' जस्तो षड्विज्ञानमध्येकै विज्ञान (ज्ञान) हो भने त्यो शब्दज्ञान नित्य हुनेछ । त्यसकारण त्यस अवस्थामा यदि शब्दज्ञान त्यहाँ रहेछ भने त्यही शब्दज्ञान नै सदा चालू रहनेछ । त्यसको तात्पर्य के हुन्छ भने जतिखेर पनि शब्द मात्र सुनिनुपर्छ । देख्ने आदि अन्य ज्ञानको त सम्भावनै भएन । किनकि शब्दज्ञानले ग्रहण गर्ने कुरा शब्द भएको हुनाले जतिखेर पनि शब्दमात्र सुनिराख्नुपर्ने भयो । त्यसले गर्दा शब्द पनि नित्य भएर सधैं स्थित रहनुपर्ने भयो । परन्तु शब्द त अनित्य छ । त्यसैले यदि शब्द नरहे पनि शब्दज्ञान भइरहन सक्छ भन्ने मान्नुपर्‍यो । यदि त्यस्तो त सम्भव हुँदैन भन्ने हो भने शब्दज्ञान नै अनित्य हुन पुग्छ ।

यदि सांख्यहरूले यो दोष स्वीकार्छन् भने पनि ज्ञान हुनलाई ज्ञेय त आवश्यक पर्छ । यदि ज्ञेय नै छैन भने त्यो नित्य भनाउँदो ज्ञानले के थाहा पाउँछ त ? यदि शब्द नै रहेन भने त्यहाँ 'शब्दज्ञान' भनिने नित्यज्ञानले के ज्ञान गर्छ ? आखिर केही जानिने कुरा भएर त्यसलाई जान्ने काम भएपछि त्यसैलाई नै 'ज्ञान' भन्दछन् । जब जानिने 'शब्द' नै त्यहाँ छैन भने त्यो शब्दज्ञान रहिराख्ने कुरै आएन । त्यसकारण ज्ञेयविना ज्ञान हुन सक्दैन । यदि ज्ञेयविना पनि ज्ञान हुने हो भने त अनर्थ हुन्छ । जस्तै :-

> अजानानं यदि ज्ञानं काष्ठं ज्ञानं प्रसज्यते ।
> तेनासंनिहितज्ञेयं ज्ञानं नास्तीति निश्चयः ॥६२॥

नजान्ने ज्ञान हो भन्दा काठ हो ज्ञान भन्नु भो
अतः नजिकमा ज्ञेय नहुँदा ज्ञान हुन्न यो ॥६२॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, अजानानं = नजान्ने कुरा पनि, ज्ञानं = ज्ञान हो भने, काष्ठं = काठ पनि, ज्ञानं = ज्ञान हो भन्ने, प्रसज्यते = प्रसङ्ग उठ्छ, तेन = त्यसो हुनाले, असंनिहितज्ञेयं = ज्ञेयको सान्निध्य नभएको, ज्ञानं = ज्ञान भन्ने कुरा, नास्ति इति = हुँदैन भन्ने यस्तो, निश्चयः = निश्चित हुन्छ ।

जसले जान्दैन त्यसलाई पनि ज्ञान भन्न थालियो भने त काठलाई पनि ज्ञान भन्नुपर्‍यो । काठले केही विगारेको छैन ताकि उसलाई ज्ञान भन्न नमिलोस् । त्यस्तै ढुंङ्गा, माटो, जड पदार्थ सबै ज्ञान हुन् अर्थात् अन्य विषयहरूलाई जान्दछन् भन्ने प्रसङ्ग उठ्छ । वास्तवमा काठ आदि जड त सधैं ज्ञेय (विषय) मात्र भएको पाइन्छ र ज्ञान गर्ने विषयी भएको त पाईंदैन । त्यसकारण ज्ञान हुनलाई केही न केही ज्ञेय हुनै पर्छ । नत्र अनेकौं दोष आइलाग्छन् । अतः यो निश्चितै हो कि ज्ञेयविषयको (क्षेत्रको) नजिकमा मात्र ज्ञान हुन सक्छ । ज्ञानको थाहा पाइने क्षेत्रमा योग्य विषय (ज्ञेय) हुनै पर्छ । यसमा कुनै पनि अन्यथा हुन सक्दैन । यदि ज्ञानले थाहा पाउने ज्ञेय विषय नै त्यहाँ छैन भने त्यसलाई 'ज्ञान' भन्नै मिल्दैन । ज्ञेयको अपेक्षाले मात्र ज्ञान भएको हो ।

सांख्यवादी भन्छन्- शब्द सधैं रहिरहन्छ र नित्य हो तैपनि ज्ञानद्वारा कहिलेकाहीं ग्रहण हुन्छ कहिलेकाहीँ ग्रहण हुँदैन किनकि शब्द कहिले अभिव्यक्त हुन्छ कहिले हुँदैन । अभिव्यक्त भएमा

ग्रहण गर्छ र न भएमा ग्रहण गर्दैन। त्यसकारण यहाँ तिमीहरूले दिएको दोष लाग्दैन। किनकि शब्द (ज्ञेय) त अव्यक्त रूपमा भएपनि सधै त्यहाँ हुन्छ। त्यसैले ज्ञेय नभएकोले ज्ञान भन्न नमिल्ने भन्ने स्थिति हामीकहाँ छैन।

यसमा माध्यमिकहरू भन्छन् - शब्द सधै रहन्छ या रहँदैन भन्ने कुरा त केलाउनै बाँकी छ। यहाँ त ज्ञान गर्नेवाला ग्राहक सधै रहन्न भन्ने हाम्रो अभिप्राय हो, किनकि जसले ग्रहण गर्छ त्यो ज्ञान हुन्छ, जसले ग्रहण गर्दैन त्यो ज्ञान हुँदैन। देख्छ भने देख्नेवाला हुन्छ, परन्तु सुन्छ भने देख्नेवाला त हुँदैन। त्यसवेला सुन्नेवाला नै हुन्छ। त्यसैले ग्राहक नबनेको 'ज्ञान' केवल कल्पना गर्न मात्र मिल्छ। यसको उत्तर तिमीहरूले दिएकै छैनौ।

संख्यवादी भन्छन्- हाम्रो मतअनुसार आत्मा चेतन हो र ज्ञान नै चेतना हो। त्यसकारण आत्मा ज्ञानस्वरूप छ। जब उसको सम्मुखमा शब्द रहन्न तब उसले अन्य कुरा जस्तैः- नीलो, पहेँलो आदि रूप ग्रहण गर्ला। आखिर उसको सामु कुनै न कुनै विषय त भइहाल्छन्। त्यसैले उसले पनि केही न केही त ग्रहण गरेरै रहन्छ। अतः उ त सधै ज्ञानस्वरूप नै रह्यो र उसको नित्यता त कतिखेरै पनि खण्डित छैन र त्यही अखण्डित आत्मा नै सदा स्थित छ। यसमा माध्यमिकहरूको भनाइलाई प्रस्तुत गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ -

तदेव रूपं जानाति तदा किं न श्रृणोत्यपि।
शब्दस्यासन्निधानाच्चेत् ततस्तज्ज्ञानमप्यसत् ॥६३॥

रूप जान्ने त्यही भए सुन्दैन किन शब्द त ?
'शब्द सामु छैन' भने त्यसैले ज्ञान त्यो असत् ॥६३॥

अन्वयार्थ : तदेव = त्यसैले नै, रूपं = रूपलाई, जानाति = जान्दछ भने, तदा = त्यसै वेलामा, किं = किन, न श्रृणोति अपि = सुन्ने पनि गर्दैन त ? शब्दस्य = शब्दको, असन्निधानाच्चेत् = सम्मुखमा नहुनाले गर्दा भएको हो भने, ततः = त्यसैबाट स्पष्ट हुन्छ कि, तज्ज्ञानम् अपि = त्यो शब्दज्ञान पनि, असत् = त्यसवेला रहेनछ।

यदि जसले पछि रूप आदि ग्रहण गऱ्यो त्यो उही शब्दग्राही ज्ञान हो भने त्यसवेलामा पनि उसलाई शब्दज्ञान भइरहनुपर्थ्यो। फलतः यस्तो स्थिति हुन पुग्थ्यो कि हामीले खानु पनि पर्दैनथ्यो किनकि एकपटक स्वादविज्ञान पैदा भएपछि त्यो नित्य र उही ज्ञान भएकोले सधै हामीलाई स्वाद आइरहनुपर्ने हुन्थ्यो। परन्तु यस्तो भद्रगोल स्थिति त कहीं पनि छैन।

सांख्यवादी भन्छन् - शब्दलाई नसुन्ने होइन सुन्छ परन्तु यदि शब्द नै त्यहाँ वर्तमान छैन भने त कसरी शब्दज्ञान होस् त ? सामुन्ने भयो भने शब्द पनि सुन्छ।

माध्यमिक भन्छन् - यदि सान्निध्य हुँदा शब्द सुन्ने र नहुँदा शब्द नसुन्ने हो भने त त्यसै सिद्ध भइहाल्यो कि शब्दज्ञान नित्य रहेनछ। आखिर सान्निध्यमा शब्द नहुँदा त त्यहाँ शब्दज्ञान रहेन त ! अनि कसरी नित्य भयो त ? तिमीहरूको मतमा आत्मा ज्ञानरूप छ र नित्य पनि छ, स्वभावमा परिवर्तन हुँदैन। परन्तु यहाँ परिवर्तन भइरहेको छ। कहिले शब्दग्रहण पैदा हुन्छ, कहिले रूपग्रहण पैदा हुन्छ। यस्तो चिज त अनित्य नै हुन्छ।

शब्दग्रहणरूपं यत् तद्रूपग्रहणं कथम् ।
एकः पिता च पुत्रश्च कल्प्यते न तु तत्त्वतः ॥६४॥

'शव्द जान्नु' छ जो, हुन्छ कसरी रूप जान्नु त
पिता पुत्र एक व्यक्ति भन्छन् त्यो हुन्न तत्त्वत: ॥ ६४॥

अन्वयार्थ : यत् = जुन, शव्दग्रहणरूपं = शव्दको ग्रहण गर्ने स्वरूप हो, तत् = त्यो, रूपग्रहणं = रुपग्रहण गर्नु, कथं = कसरी हुन सक्छ ? एक: = एउटै (व्यक्ति पनि), पिता = वावु पनि, पुत्रश्च = छोरो पनि, कल्प्यते = कल्पना गरिन्छ, (परन्तु त्यो) तत्त्वत: = तात्विकरूपमा, तु = त, न = हुँदैन ।

जुन ज्ञान शाब्दलाई ग्रहण गर्ने स्वभावको छ त्यही ज्ञान नै 'रूपलाई ग्रहण गर्ने स्वभावको कसरी हुन सक्छ ? एउटै कुराको स्वभाव एउटै हुन्छ । एक र अलग भनेर छुट्याइने आधार नै यही स्वभावमा भेद हुनु हो । त्यसकारण यदि एउटै ज्ञान हो भने स्वभाव पनि एउटै रहनुपर्छ । नत्र यदि स्वभाव भिन्दै हुँदाहुँदै पनि एउटै वस्तु भन्ने हो भने त सम्पूर्ण जगत्मा कुनै पनि भेद बाँकी रहने छैन । त्यसैले शब्दग्रहणस्वभावात्मक ज्ञान र रूपग्रहणस्वभावात्मक ज्ञान एउटै हुन् भन्नु नितान्त अयुक्त छ ।

सांख्यवादी भन्छन् - होइन, युक्त छ । किनकि एउटै व्यक्तिलाई पनि पुत्रको अपेक्षाले 'पिता' भन्छन् भने पिताको अपेक्षाले 'पुत्र' भन्छन् । त्यसकारण हेराइका आधारमा एउटै वस्तु पनि भिन्दाभिन्दै स्वभाववाला बन्न सक्छ । बाबु र छोरो एउटै व्यक्ति हुन सक्छ । यो व्यवहारमा स्पष्टैसँग देखिएको छ ।

माध्यमिक भन्छन् - एउटै व्यक्ति बाबु पनि हुनु छोरो पनि हुनु त व्यावहारिक हेराइमा कल्पना गरिएको मात्र हो । नत्र त वास्तवमा त्यो व्यक्ति छोरो पनि होइन बाबु पनि होइन । सम्बन्धका आधारमा अलग अलग कल्पना गरिन्छ र अलग अलग शब्दद्वारा व्यवहार गरिन्छ । तत्त्वतः 'बाबु' या तत्त्वतः 'छोरो' भन्न मिल्दैन । किनकि तत्त्व त शब्दको गोचर हुँदैन (जानिंदैन) कल्पनाको विषय बन्न पनि सक्दैन ।

सत्त्वं रजस्तमो वापि न पुत्रो न पिता यतः ।
शब्दग्रहणयुक्तस्तु स्वभावस्तस्य नेक्ष्यते ॥६५॥

सत्त्व, रज, तम पनि पिता या पुत्र होइन
शव्दग्रहणले युक्त त्यस्को छैन स्वभाव त ॥६५॥

अन्वयार्थ : यत: =किनकि, सत्त्वं = सत्त्वगुण, रज: = रजोगुण, तम: = तमोगुण, अपि = पनि, पुत्रो न = पुत्र होइन, वा =अथवा, पिता न = पिना पनि होइन, तस्य = त्यो रूपग्रहणात्मक ज्ञानको, शव्दग्रहणयुक्त: = शव्दको ग्रहणले युक्त भएको, स्वभाव: = स्वभाव, नेक्ष्यते = देखिंदैन ।

तिमी सांख्यवादीहरूले भन्छौ कि यो सम्पूर्ण जगत् भनेको सत्त्व, रज र तम यी तीन गुणहरूले युक्त कुरा हो । त्यसैले प्रत्येक चिज त्रिगुणात्मक हुन्छ । अतः तिमीहरूको मतमा यी तीन गुण नै परमार्थ हुन्छन् र पिता या पुत्र यी दुवै केवल कल्पित व्यवहारका नाम मात्र हुन् । पुत्रको या

पिताको व्यवहार त तिमीहरूकै मतमा पनि परमार्थ होइन र कल्पनामात्र हो। त्यसकारण तिमीहरूले एउटै वस्तुको भिन्दै स्वभाव हुन सक्छ भन्ने प्रमाणित गर्न दिएको दृष्टान्त मिल्दैन।

फेरि, उपलब्ध हुँदाखेरि कहिल्यै पनि त्यो रूपग्राहक ज्ञानले शब्द ग्रहण गर्ने स्वभाव देखाएको पाइँदैन। त्यसैले त्यसमा शब्दग्रहणको योग्यता पनि छैन भन्ने सिद्ध हुन्छ। यस्तै किसिमले ६ प्रवृत्तिविज्ञान मध्ये कुनैमा पनि त्यस्तो व्याप्ति हुँदैन।

सांख्यवादी भन्छन् – तिमीहरूले भनेको मिल्दैन। किनकि शब्दग्रहण गर्ने स्वभाव रूपग्राहक ज्ञानमा भएको पाइँदैन अर्थात् हामीलाई प्रतीत हुँदैन भन्ने कुरा ठीकै हो। परन्तु कुनै चिज प्रतीत भएन भन्दैमा त्यो छँदैछैन, हुँदै हुन्न भन्न कसरी मिल्छ ? प्रतीत हुनु र अस्तित्व हुनु वेग्लावेग्लै कुरा हुन्। अस्तित्व भएको चीजको अनुभव भइरहनै पर्छ भन्ने कुनै नियम छैन। हामीसँग दृष्टान्त छ,

तदेवान्येन रूपेण नटवत् सोऽप्यशाश्वतः।
स एवान्यस्वभावश्चेदपूर्वेयं तदेकता ॥६६॥

उसैले नट झैं रूप बदले भो अशाश्वत
उही अर्को स्वभावैको ! कस्तो अपूर्व एकता ॥६६॥

__अन्वयार्थ :__ तद् एव = त्यही शब्द ज्ञान नै, नटवत् = नर्तक झैं, अन्येन रूपेण = अर्को रूपले देखापर्छ भने, सोऽपि = त्यो ज्ञान पनि, अशाश्वतः = अशाश्वत हुन जान्छ, चेद् = यदि, स एव = उही ज्ञान नै, अन्यस्वभावः = अर्को स्वभावको छ भने, इयं = यस्तो, तदेकता = ती दुई स्वभावको एकता, अपूर्वा = कहीं कतै नभएको कुरा भयो।

जस्तैः– उही व्यक्ति रङ्गभूमिमा नट (नर्तक)को रूपमा देखा परेर अभिनय गर्दा त्यो नर्तक र पहिलो व्यक्ति वेग्लै त हुँदैनन्। केवल भूमिका अर्थात् व्यापार फरक भएकोले नाम फरक भएका हुन्। नर्तक भएको वेलामा पहिलेको व्यक्तिको त्यहाँ अस्तित्वै छैन भन्न मिल्दैन। आखिर व्यक्ति त उही नै हो। त्यस्तै उही शब्दज्ञान नै स्वरूप परिवर्तन गरेर रूपज्ञानको रूपमा देखापर्छ र रूपको ग्रहण गर्छ। अतः हाम्रो मत सिद्ध हुन्छ।

माध्यमिक भन्छन्– त्यसो भए त तिमीहरूको होइन हाम्रो मत सिद्ध हुन्छ किनकि त्यो ज्ञानले पहिलो रूपलाई त्यागेर दोस्रो रूपलाई धारण गर्‍यो। त्यसकारण त्यो ज्ञान अशाश्वत अर्थात् अनित्यै ठहरियो र हामीले त्यही भन्न खोजेका हौं। फेरि तिमीहरूको भनाइ मान्दा त पूर्वकालको व्यक्ति र रङ्गमञ्चको 'नट'को अलग स्वभाव पनि एउटै हो भनेजस्तो भयो जसको तात्पर्य हुन्छ एकै कालमा अनेक स्वभाव सँगै देखापर्नु । यो त नितान्त अयुक्त हुन्छ।

सांख्यवादी भन्छन्– हाम्रो भनाई त यति मात्र हो कि वस्तु अर्थात् भावपदार्थ एउटै रहन्छ परन्तु देखा पर्ने स्वभाव भिन्दै हुन सक्छ। स्वभावमा परिवर्तन भइरहन सक्छ परन्तु वस्तु त उही हो। त्यसैले तिमीहरूले दिएको दोषले छुँदैन।

माध्यमिक भन्छन्– यदि कुनै एक स्वभाव भएको वस्तुमा अर्को स्वभाव देखा परेपछि पनि त्यसलाई पहिलेकै वस्तु मान्ने हो भने त यो कस्तो अद्भुत एकता होला त ! 'उही वस्तु अर्को हो ' भन्दा एक र अनेक दुवै एउटै हो, भाव र अभाव एउटै हो भनेजस्तो भयो। यस्तो एकता त कहीं पनि देखिएको छैन। यस्तो असम्भव युक्ति तिमीहरूले कसरी दिनसकेको ? कुनै पनि पदार्थ त्यसको स्वभावभन्दा भिन्न हुँदैन। स्वभाव नाश भइसक्यो पदार्थ उही छ भन्नु कसरी सम्भव हुन्छ ?

सांख्यवादी भन्छन्- हामीले एउटै वस्तुको दुइ स्वभाव पनि मानेका होइनौं । त्यो वस्तुले अर्को स्वभाव धारण गर्दाखेरि त्यो अतात्विक र काल्पनिक हुन्छ । त्यसैले पहिलो मूल स्वभाव नै सत् हो भन्न खोजेका हौं । त्यसैले तिमीहरूको दोष लाग्दैन । त्यसको जवाफ दिँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

अन्यद्रूपमसत्यं चेन्निजं तद्रूपमुच्यताम् ।
ज्ञानता चेत् ततः सर्वपुंसामैक्यं प्रसज्यते ॥६७॥

अर्को रूप भए झूठो, भन के निज रूप हो ?
ज्ञानता हो भने सारा व्यक्ति एक हुने भयो ॥६७॥

अन्वयार्थ : चेद् = यदि, अन्यद्रूपं = अर्को रूप, असत्यं = असत्य या झूटो हो भने, निजं = आफ्नो, तद्रूपं = त्यसको रूप, उच्यताम् = वताउनु पर्‍यो, चेत् = यदि, ज्ञानता = 'ज्ञानता' नै हो भने, ततः = त्यसवाट, सर्वपुंसां = सवै व्यक्तिहरूको, ऐक्यं = एउटै पन (एकता)को, प्रसज्यते = प्रसङ्ग उठ्छ ।

यदि त्यसरी ज्ञानले अर्को रूप धारण गर्दाखेरि त्यसलाई झूटो मान्ने हो भने साँच्चिकै आफ्नो सही रूप के हो त ? त्यो आत्माको वास्तविक निजी स्वभाव पनि होला । त्यो बताउनुपर्‍यो ।

तव संख्यवादी जवाफ दिन्छन्- त्यस्तो निजी स्वभाव भनेको 'ज्ञानता' अर्थात् थाहा हुने 'स्वभाव' या 'ज्ञानात्मकता' नै हो । किनकि जे ज्ञान गर्दा पनि, जति रूप बदले पनि त्यो आत्माको कहिल्यै नवदलिने असली स्वभाव त्यही 'ज्ञानात्मकता' नै हो अर्थात् आत्मामा ज्ञानरूपता सदाकाल अक्षुण्ण रूपमा रहिराखेको छ र कहिल्यै परिवर्तन हुँदैन । जस्तै कि स्फटिक भन्ने पत्थरको सामु निलो वस्तु परेमा नीलै देखिन्छ, रातो वस्तु पर्‍यो भने रातै देखिन्छ तर पनि त्यो स्फटिक उही नै हो र त्यसको परावर्तन गर्ने स्वभाव जतिखेर पनि उही नै हो ।

माध्यमिक भन्छन्- यदि 'ज्ञानात्मकता' नै त्यो आत्माको स्वभाव हो भने जति पनि पुरुष छन् अर्थात् आत्मा छन् ती सबै एउटै हुन जान्छन् किनकि निजी स्वभाव सबैको एकै भयो र भेद गर्ने विशेषता केही रहेन । पूर्वकालिक शब्दज्ञान र परकालिक रूपज्ञानको एउटै स्वभाव हुने भयो । त्यस अवस्थामा पशु, नरक या जुन गतिको जुन प्राणीको ज्ञानको पनि त्यही स्वभाव भएको हुनाले ती सबै ज्ञान एउटै हुने भए । फलतः सबैमा पृथक् पृथक् आत्माको मान्यता भङ्ग हुनजानेछ । त्यति मात्र होइन-

चेतनाचेतने चैक्यं तयोर्येनास्तिता समा ।
विशेषश्च यदा मिथ्या कः सादृश्याश्रयस्तदा ॥६८॥

चेतन अचेतन एकै हुन् दुवै अस्तित्ववान् हुँदा
विशेपता भए मिथ्या टिक्छ सामान्यता कहाँ ॥६८॥

अन्वयार्थ : चेतनाचेतने च = चेतन र अचेतन पनि, ऐक्यं = एउटै हुन्छ, येन = किनकि, तयोः = तिनीहरूको, अस्तिता = अस्तित्व (विद्यमानता), समा = वरावर छ । यदा = जव, विशेपश्च = विशेपता अर्थात् भेद पनि, मिथ्या = मिथ्या हुन्छ भने, तदा = त्यस वेला, सादृश्याश्रयः = सादृश्य अर्थात् समानताको आधार, कः = के हुन्छ ?

चेतन र अचेतन पनि एउटै हुन जान्छन् किनकि तिनीहरूको पनि एउटा स्वभाव समान छ ।

त्यो हो 'अस्तित्व'। दुवै नै अस्तित्ववान् छन्। तिमीहरूले केही कुरामा समानता देखियो भन्दैमा वस्तु उही हो भन्न थाल्यौ भने उपर्युक्त दोष पनि स्वीकार्नु पर्छ किनभने जड र चेतनमा पनि समान धर्महरू पाइन्छन्। जस्तै कि 'अस्तित्व'। यही 'अस्तित्व' को कारणले दुवै एक बन्ने छन्।

सांख्यवादी भन्छन्- वस्तुहरूमा भेद भए पनि केही अंश समान हुन सक्छन्। त्यो समानताको पनि केही आधार हुन्छ। त्यसैले हामीलाई त्यो दोष लाग्दैन।

माध्यमिक भन्छन्- तिमीहरूले भेद या विशेषता सवै काल्पनिक एवं मिथ्या हुन् भन्ने मान्छौ। यदि त्यस्तो हो भने त्यसवेला समानता पनि कुन आश्रयमा रहन्छ ? अर्थात् समानताको पनि आधार त्यहाँ केही हुने छैन। भेद, या विशेषता भएपछि मात्र त्यसको आधारमा समानता बन्छ। तिमीहरूका अनुसार त 'गाई' भन्ने जन्तु र गवय (गाई जस्तै अर्को जन्तु) भन्ने जन्तुको विचमा समानता भन्ने कुरा नै आउँदैन। त्यो गवय (गाई जस्तै अर्को जन्तु) नै नभएर गाई हुनपुग्छ, सादृश्य नै रहँदैन। त्यसैले तिमीहरूलाई दोषले छोड्दैन।

यसप्रकार सांख्यको ज्ञानात्मक आत्माको निषेध गरेपछि त्यस्तै खालको आत्मा मान्ने मीमांसक, जैन, उपनिषद्वादीहरूको पनि यही दोष हुने भएकोले अव नैयायिकहरूको अचेतन आत्माको नित्यतालाई खण्डन गर्ने क्रममा आचार्य भन्नुहुन्छ-

अचेतनश्च नैवाहमाचैतन्यात् पटादिवत्।
अथ ज्ञश्चेतनायोगादज्ञो नष्टः प्रसज्यते ॥६९॥

आत्मा अचेतनै हुन्न कपडा आदि झैं हुँदा
चेतना जोडिँदा जान्ने भए 'अज्ञ' विनाश भो ॥६९॥

__अन्वयार्थ :__ अहम् = आत्मा, अतेचनश्च = अचेतन पनि, न एव = हुँदैन, आचैतन्यात् = चैतन्य नै नभएको हुनाले, (जस्तै पटादिवत् = कपडा आदि झैं) अथ = अव, चेतनायोगात् = चेतनाको योगले गर्दा, ज्ञः = थाहा पाउने बन्छ भने, अज्ञः = पहिलेको त्यो थाहा नपाउने आत्मा, नष्टः = नाश भयो भन्ने कुराको, प्रसज्यते = प्रसङ्ग उठ्छ।

आत्मा अचेतन भन्नु पनि उपयुक्त छैन किनभने त्यसमा चेतना नै नहुनाले घडा, कपडाजस्तै जड नै हुन्छ। अचेतन पनि आत्मा हुन थाल्ने हो भने त घडा, कपडा जस्तै त्यो आत्मामा पनि कर्म गर्ने क्षमता हुने छैन। यसमा नैयायिकहरूले भन्छन् कि आत्मा अचेतन भए पनि चेतना अर्थात् वुद्धिको सम्बन्ध भएपछि चेतनको जस्तो व्यवहार गर्छ। त्यसो भए अघिको 'अज्ञ' (नजान्ने) आत्मा 'ज्ञ' (जान्ने) बन्न पुग्नेभयो जसले गर्दा त्यो 'अज्ञ'को विनाश भयो भन्ने मान्नुपर्छ। त्यस्तै पछि मूर्छा आदिको वेलामा जब चेतना हुँदैन तब 'ज्ञ' पनि नष्ट भएर 'अज्ञ' बन्यो भन्नुपऱ्यो। फलतः नैयायिकको आत्मा नित्य रहेन।

नैयायिक भन्छन् आत्माको सम्बन्ध चेतनाको साथमा कहिले हुन्छ र कहिले हुँदैन पनि। दुवै अवस्थामा आत्मा त नित्य छ केवल चेतनासँगको सम्बन्ध मात्र परिवर्तन भएको हो। अतः कुनै दोष छैन।

माध्यमिक फेरि भन्छन्-

अथाविकृत एवात्मा चैतन्येनास्य किं कृतम् ?
अज्ञस्य निष्क्रियस्यैवमाकाशस्यात्मता मता ॥७०॥

आत्मा अविकृत भए चैतन्यैले त के गऱ्यो ?
अज्ञ निष्क्रिय आत्मा त आकाशैसँग तुल्य भो ॥७०॥

अन्वयार्थ : *अथ = अव, आत्मा = आत्मा, अविकृत एव: = अविकारी भएर नै रहन्छ भने, चैतन्येन = चैतन्यले, अस्य = यसलाइं, किं कृतम् = के गऱ्यो त ? एवम् = यस्तो, निष्क्रियस्य = निष्क्रिय, अज्ञस्य = जान्न नसक्ने, आकाशस्य = आकाशको पनि, आत्मता = आत्मा भन्ने भाव, मता = मानियो ।*

यदि आत्मा अविकृत नै रहन्छ भने त्यसमा चेतना या बुद्धिको योगले के विशेषता आयो त ? आखिर बुद्धिसँग जोडिए पनि त्यो अविकारी र जस्ताको तस्तै रहने भयो । त्यसको मतलब हो 'अज्ञ' नै रहने भयो । तब चैतन्यले के गऱ्यो त ? त्यसको कुनै प्रयोजन नै भएन ।

फेरि तिमीहरूको त्यो आत्मा 'निष्क्रिय' र 'अज्ञ' हुनाले त्यसले हित अहित पनि जान्ने भएन, तदनुसार कर्म गर्न पनि सक्ने भएन । त्यो नित्य र अविकारी हुनाले त्यसमा कुनै पनि विशेषता ल्याउन सकिँदैन । हामीहरूको मतमा त्यस्तो वस्तु त आकाश हो । त्यसोहुनाले तिमीहरूले त्यो आकाशजस्तो आत्माको व्यवस्था मान्न पुग्यौ । तिमीहरूको मतमा पनि आकाश त त्यस्तै लक्षणको छ ।

न कर्मफलसम्बन्धो युक्तश्चेदात्मना विना ।
कर्म कृत्वा विनष्टे हि फलं कस्य भविष्यति ? ॥७१॥

आत्माविना कर्म फल-सम्बन्धै बन्छ के गरी ?
गरी कर्म भए नष्ट कसले फल भोग्दछ ? ॥७१॥

अन्वयार्थ : *आत्मना विना = आत्मा नभएमा, कर्मफलसम्बन्ध: = कर्म र फलको सम्बन्ध, न युक्त: = उपयुक्त हुँदैन, कर्म = कर्म, कृत्वा = गरेर, विनष्टे = नाश भएमा या मरेमा, कस्य = कसको, फलं = विपाक (फल), भविष्यति = होला ?*

नैयायिकहरू आपत्ति जनाउँदैछन्- यदि त्यस्तो नित्य आत्मालाई मानिएन भने त कर्मफलको सम्बन्ध नै बन्दैन । यदि कुशल या अकुशल कर्म गर्ने व्यक्तिले नै फल नभोग्ने हो भने त संसारमा ठूलो अव्यवस्था सिर्जना हुन्छ । जसले कर्म गर्छ उसैले नै फल भोग्नुपर्छ । यो सिद्धान्तलाई तिमीहरूले पनि मान्छौ । अवदानशतकमा भनिएकै छ-

'अनेनैव कृतं कर्म को ऽ न्य: प्रत्यनुभविष्यति ? न हि भिक्षव:, कृतोपचितानि कर्माणि पृथ्वीधातौ विपच्यन्ते, नाब्धातौ, न तेजोधातौ न वायुधातौ …… ।"

अर्थात् यसैले गरेका कर्म अर्को कसले भोग्ला त ? भिक्षु हो, गरेर जम्मा भएका कर्महरू पृथ्वीधातुमा पनि विपाक हुँदैनन्, न जलधातुमा हुन्छन् न तेजोधातुमा न वायुधातुमा……" इत्यादि ।

त्यस्तै, दिव्यावदानमा पनि भनिएको छ-

न प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि ।
सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम् ॥

सयौं करोडौ कल्पसम्म पनि कर्महरू नाश भएका हुँदैनन् र प्राणीहरूको वेला आयो र सामग्रीहरू जुटे भने फल दिइहाल्छन् ।

त्यसकारण तिमीहरूको मतमा यो व्यवस्था कसरी हुन्छ ? कर्म क्षणिक भएर नाश भइहाल्यो, कर्म गर्नेवाला चित्त पनि निरोध भैसक्यो । अब परलोकमा जाने, सुख-दुःख भोग गर्ने को हो त ? सुगति या दुर्गतिमा जाने र आफ्ना कर्मको फल भोग्ने एउटा नित्य कुरा त चाहियो । यदि एउटा चित्तक्षणले कर्म गऱ्यो भने पनि क्रमशः अर्को चित्त उत्पन्न भइरहने हुनाले व्यवस्था लागू हुन्छ भन्छौ भने पनि दुई किसिमका दोष आइलाग्छन्-

१) अकृताभ्यागम- अर्थात् कर्मै नगरेको फल पनि भोग्नु पर्ने स्थिति आइलाग्नु । २) कृतविप्रणाश- आफूले गरेको कर्म अर्को चित्तले भोग्नाले गर्दा आफूले भोग्नै नपाउनु अर्थात् गरेको कर्म नाश हुन पुग्नु या खेर जानु । यति मात्र होइन अझ स्मरण हुनु, चिन्नु अर्थात् प्रत्यभिज्ञा, आफूले राखेको कुरा भेटाउनु, कार्यकारणभाव, बन्ध-मोक्ष आदि कुनै पनि कुराको व्यवस्था हुनसक्ने छैन ।

यसको जवाफ दिने क्रममा आचार्य भन्नुहुन्छ-

द्वयोरप्यावयोः सिद्धे भिन्नाधारे क्रियाफले ।
निर्व्यापारश्च तत्रात्मेत्यत्र वादो वृथा ननु ॥७२॥

कर्म र फलको भिन्दै आधार मान्दछौं दुवै
अनि निर्व्यापार आत्माबारे के गर्नु वाद नै ॥७२॥

अन्वयार्थ : आवयोः = हामी, द्वयोः = दुवैका निमित्त, क्रियाफले = कर्म र फल, भिन्नाधारे = भिन्दै आधारमा हुने, सिद्धे = सिद्ध छन्, तत्र = त्यस अवस्थामा, आत्मा = आत्मा त, निर्व्यापारश्च = व्यापारहीन अर्थात् निष्क्रिय छ, इति = यस प्रकार, अत्र = यसमा, वादः = विवाद गर्नु, ननु वृथा = वेकारै हुन्छ ।

हामी नैरात्म्यवादी माध्यमिक र तिमी आत्मवादीहरूका विचमा कर्म र फलका आधार भिन्दै हुन्छन् भन्ने कुरामा कुनै पनि मतभेद छैन र सिद्ध नै छ । किनकि जुन शरीरद्वारा यहाँ कर्म गरिन्छ त्यही शरीरद्वारा नै परलोकमा फल भोगिंदैन । त्यहाँ फल भोग्ने आश्रय रूप शरीर वेग्लै हुन्छ । यो कुरा तिमीहरू पनि मान्छौ र हामी पनि मान्छौं । त्यसैले हामी दुवैको मतमा कर्मको आधार र फलको आधार भिन्दाभिन्दै हुन्छन् भन्ने कुरा मान्य छन् । परन्तु तिमीहरू भन्छौ कि एउटा नित्य आत्मा यहाँ र त्यहाँ पनि उही रहेन भने कसरी कर्म-फलको एउटै व्यक्तिसँग सम्बन्ध भइरहन सक्छ ? यसमा हाम्रो भनाइ छ कि तिमीहरूको आत्माले कुनै पनि व्यापार गर्दैन र निष्क्रिय छ । त्यसकारण त्यसले कर्म गर्दा या फल भोग्दा केही पनि कार्य गर्दैन । जो नित्य हुन्छ त्यो परिवर्तन हुँदैन । जो परिवर्तन हुदैन त्यसमा व्यापार हुँदैन र जसले व्यापार गर्दैन त्यसले कुनै पनि कुरालाई असर पार्दैन । अतः आत्माको व्यापारविना शरीरले कर्म गर्ने र फल भोग्ने कार्य गर्न सक्दैनन् भन्नु स्वयंमा विरोधपूर्ण कुरा हो । किनकि आत्मा निर्व्यापार छ पनि भन्ने फेरि त्यसले व्यापार गरेर कर्मफललाई नियमित पार्छ पनि भन्ने कदापि सम्भव हुँदैन । त्यसैले यो आत्माको विषयमा विवाद गर्नु व्यर्थै छ । फेरि तिमीहरूले आत्मासँग चेतना, इच्छा, यत्न आदिको समवाय

अर्थात् मिलन भयो भने त्यही आत्मामा कर्तृत्व देखापर्छ भने सुख, दुःख आदिसँग समवाय भयो भने त्यही आत्मामा भोक्तृत्व देखापर्छ भन्छौ। यो कुरा तत्वसंग्रहमा पनि उल्लिखित छ–

ज्ञानयत्नादिसम्बन्धः कर्तृत्वं तस्य भण्यते।
सुखदुःखादिसंवित्तिसमवायस्तु भोक्तृता॥

परन्तु यो युक्तिसंगत छैन। किनभने यदि इच्छा आदिसँग र सुख आदिसँग सम्बन्ध हुनुभन्दा पहिलेको स्वभाव र सम्बन्ध भैसकेपछिको स्वभावमा परिवर्तन भएको छैन (नित्य हुनाले) भने त्यसमा कुनै पनि विशेषता आउने सम्भावना छैन। अतः त्यस्तो आत्माको कर्तृत्व या भोक्तृत्वको कुरा गर्नु वेकार हो।

अकृताभ्यागम र कृतविप्रणाश दोषको परिहार गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ–

हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष सम्भवः।
सन्तानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितम्॥७३॥

हेतुमान् फलले युक्त भन्ने देखिन्न सम्भव
एकै सन्तान मानेर कर्ता भोक्ता बताइयो॥७३॥

अन्वयार्थ : हेतुमान् = हेतुले (कर्मले) युक्त भइरहेको कुरा, फलयोगी इति = फलले पनि युक्त भइरहेको छ भन्ने, एष = यस्तो, सम्भवः = सम्भव, न दृश्यते = देखिँदैन, सन्तानस्य = सन्तानको, ऐक्यं = एकतालाई, आश्रित्य = आधार वनाएर, कर्ता = 'कर्ता' र, भोक्तेति = 'भोक्ता' भन्ने यस्तो, देशितम् = देशना गरिएको हो।

जो हेतुमान् छ अर्थात् जसले कर्म गर्दैछ त्यही नै फलले युक्त भइरहेको छ भन्ने कुरा कहीं पनि देखिँदैन र यस्तो सम्भव पनि छैन। हेतुमान् हुँदासम्म फलवान् हुँदैन, फलवान् हुँदा हेतुमत्ता र हुँदैन। बीज र अङ्कुर दुवै एकै साथ हुँदैनन्। त्यसैले जन्मिने एउटा हुन्छ भने मर्ने अर्कै हुन्छ। त्यही भएर बताइएको हो कि "अन्य एवं मृतो लोके जायते अन्य एव हि"। (बो. च.)

नैयायिकहरू प्रश्न उठाउँछन् कि त्यसो भए तिमीहरूको मतमा जसले कर्म गर्छ त्यसले फल नभोगेर अर्केले फल भोग्छ भन्ने कुरा आयो। यही नै पूर्णरूपमा भद्रगोल व्यवस्था हुनपुग्यो। फेरि तिमीहरूकै सूत्र आदिमा *"अनेनैव कृतं कर्म कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति"* अर्थात् "यसले नै कर्म गऱ्यो भने अर्को कस्ले फल भोग्ला त ? यसैले भोग्नु पर्छ" भनिएसँग विरोध हुन पुग्यो।

माध्यमिक भन्छन्– त्यो त एक प्रकारको सन्तानको आधारमा कर्ता र भोक्ताको कुरा भगवान्ले देशना गर्नुभएको हो। वास्तवमा नाम र रूप स्कन्धको प्रत्येक क्षणमा उत्पाद-व्यय हुँदै नदीको प्रवाह जस्तै गरी हेतु र फलको (कारण कार्य) सन्तान चलिराखेको हुन्छ। त्यही भएर सन्तानको परिभाषा अभिधर्मकोषव्याख्यामा यसरी दिइएको छ *"सन्तानो हेतुफलप्रवाहः"*। यी सन्तान पनि सजातीय र विजातीय गरी दुइ थरीका हुन्छन्। त्यसमध्ये उस्तै खालको प्रतिरूप उत्पन्न गर्ने हेतुफल प्रवाह नै सजातीय सन्तान हो। नाम (वेदना, संज्ञा, संस्कार र विज्ञान) स्कन्धहरूको सजातीय सन्तान र रूप (शरीर) स्कन्धको सजातीय सन्तानलाई नै सामान्य जनहरूले 'एउटा' भन्ने आरोप गरेर देख्ने गर्छन्। त्यसकारण सन्तानको त्यस्तो 'एउटा' भन्ने भावमा आश्रित भएर व्यवहार गर्ने लोकलाई बुझाउन नै भगवान्ले पनि त्यसै गरी जसले कर्म गर्छ त्यसैले

फल भोग्छ भन्नुभएको हो। यस्तो भनाइ आभिप्रायिक अर्थात् नेयार्थ हो। भगवान्‌ले एउटै कूटस्थ नित्य वस्तु यो लोकमा कर्म गरेर मरिसके पछि अर्को लोकमा जान्छ भन्ने कुरा कहीँ पनि कहिल्यै पनि बताउनुभएको छैन। भगवान्‌ले त कर्महरूको विपाकको रूपमा प्राप्त भइरहेका स्कन्धहरूमै फल देखापर्छ भन्नुभएको छ। त्यही भएर उहाँले चेतनालाई कर्म भन्नुभएको हो। मध्यमकावतारमा आचार्य चन्द्रकीर्तिले भन्नुभएको छ–

सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम्।
कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय न चास्ति (६/८९)

अर्थात् सत्वलोक र भाजनलोक (प्राणीहरू र प्राणीहरू रहने क्षेत्र) विभिन्न प्रकारका र अत्यन्त विचित्र खालका छन्। ती सबै चित्तले नै रचना गरेको हो किनकि कर्मबाट यो सम्पूर्ण जगत् आउँछ भन्ने बताइएको छ र कर्म भनेको चित्तलाई छोडेर हुदैन। त्यसकारण चित्तबाहेक अर्को केही कर्म छैन। अभिधर्मकोषमा यस्तो बताइएको छ,

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ॥४:१॥

लोकको विचित्रता चेतनाले गराएको हो र त्यो कर्मबाटै हुन्छ। चेतना भनेकै मानसिक कर्म हो। त्यसैबाट वचनको कर्म र शरीरको कर्म पनि उत्पन्न हुन्छ। कुशल या अकुशल जुन चित्त उत्पन्न हुन्छ त्यो निरोध हुँदाखेरि त्यसपछि उत्पन्न हुने कुशल या अकुशल चित्तमा त्यसका विशेष वासनाहरू (संस्कारहरू) सर्दछन् र तिनै संस्कारहरूबाट त्यो अभिसंस्कृत भएको हुन्छ। त्यसै गरी पछाडिका चित्तमा पनि यही कुरा लागू हुँदै जान्छ।

यसरी नै सर्दै गइरहेको वासना वीजले नै प्रत्ययहरू उत्पन्न भएको वेला तदनुसारका सुख-दुःखरूपी फलहरू उत्पन्न गरिरहन्छन्। जसरी धानको बीज रोपे पछि माटो, पानी आदि प्रत्ययहरूको सहयोगले उक्त बीज परिवर्तन हुँदै जान्छ र अङ्कुर, बोट हुँदै पछि विपाक हुँदाखेरि त्यस्तै खालको धान फल्छ त्यसैगरी चित्तसन्तानमा पनि कर्म विशेषले रूपान्तरित हुँदै जाँदा खेरि त्यही कर्म संस्कारहरूबाट सुख दुःख आदिले युक्त भएको चित्त नै फलको रूपमा उत्पन्न हुँदै गइरहन्छ। फेरि जसरी एउटा मातुलुङ्ग अर्थात् बिमिरोको बीजलाई लाक्षा (लाहा)को रसले भावित गरेर रोप्ने हो भने त्यसबाट उम्रेको बोटका फूलहरूमा रातो रंग देखापर्छ त्यस्तै यहाँ पनि बुझ्नुपर्छ। वीजको दृष्टान्तमा बीजदेखि फूल-फल सम्म अनुगमन गर्ने कुनै एउटा नित्य सत्ता नभएर पनि त्यो प्रक्रिया चल्नमा कुनै आपत्ति छैन। त्यस्तै प्राणीहरूको चित्तसन्तानमा कर्मका आधारमा विपाक देखा पर्नमा त्यस्तो 'आत्मा' भन्ने नित्य वस्तु नभए पनि कुनै आपत्ति छैन। त्यसकारण हाम्रो मतमा सबै कुरा कार्यकारणभावबाट चल्ने भएकोले 'कृतविप्रणाश' र 'अकृताभ्यागम' भन्ने दोष आइलाग्दैन झन् सुव्यवस्थित हुन पुग्छ। जस्तै अभिधर्मकोषमा भनिएको छ–

नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् (३ १८)

अर्थात् 'आत्मा' भन्ने कुरा केही पनि छैन। केवल स्कन्धमात्र छन्। ती पनि क्लेश र कर्मले अभिसंस्कृत भएका छन् र अन्तराभवको सन्ततिको रूप लिंदै बत्ती सरे जस्तो गरी कोखमा पस्छन्।

पुद्गलवादी बौद्धहरू पनि छन्-जस्तैः- वात्सीपुत्रीय भन्ने निकाय। उनीहरूले पुद्गल अर्थात् आत्माको सत्तालाई मान्दछन्। उनीहरूका अनुसार स्कन्धदेखि भिन्न पनि नभएको र स्कन्धै पनि नभएको एक प्रकारको अनिर्वचनीय 'आत्मा' भन्ने चीज हुन्छ। यसको प्रमाणको लागि उनीहरूले भारहार सूत्रलाई अघि सार्छन्।

माध्यमिकको भनाइ छ कि त्यस्तो अनिर्वचनीय कुरा त अवस्तु हुन्छ। अवस्तु भए पछि सत्ता हुँदैन अर्थात् 'आत्मा' हुँदैन। किनकि जो वस्तु हो त्यो या नित्य हुन्छ या अनित्य हुन्छ, या सत् हुन्छ या असत् हुन्छ। त्यसबाहेक अर्को तेस्रो पक्ष हुँदैन। परन्तु तिमीहरू फेरि त्यस्तो वस्तु छ भनेर सत्ता स्वीकार गर्छौ। त्यसकारण स्वयंमै विरोधाभास छ। यसको लागि तिमीहरूले प्रस्तुत गर्ने प्रमाण स्वरूप भारहार सूत्रमा बताइएको कुरा नेयार्थ हो र शब्दको सोझो अर्थले भगवान्‌को अभिप्राय झल्किँदैन। त्यसको तात्पर्य हो नीतार्थ त वेग्लै छ। तिमीहरूले त्यसको सीधा शब्दार्थलाई लिएर वस्तुसत् आत्मा छ भन्यौ। वस्तु त पञ्चस्कन्धभन्दा वेग्लै नहुने भएकोले तिमीहरूको आत्मा पनि अनित्य हुनजान्छ जसको खण्डन पहिले नै भैसकेको छ। भगवान्‌ले के भन्नुभएको छ भने-

"इति हे भिक्षवः अस्ति कर्म, अस्ति फलम्। कारकस्तु नोपलभ्यते य इमान् स्कन्धान् विजहाति अन्याँश्च स्कन्धानुपादत्ते, अन्यत्र धर्मसंकेतात्। अत्रायं धर्मसंकेतः, यदस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते"

अर्थात् हे भिक्षु हो, कर्म छ, त्यसको फल छ। परन्तु यी स्कन्धहरूलाई छोड्ने र अरू स्कन्धहरूलाई ग्रहण गर्ने एक कारक तत्व भन्ने केही पनि पाइँदैन। केवल धर्मसंकेतबाट यो चलेको छ। धर्मसंकेत भनेको "यो भए त्यो हुन्छ, यसको उत्पादले त्यसको उत्पति हुन्छ" भन्ने हो।

अतः व्यावहारिक दृष्टिमा यही कार्यकारणभावको परम्परालाई 'एउटा सन्तान' मानेर कर्म-फलको व्यवस्था गरिएको हो र भगवान्‌ले पनि त्यसैको आधारमा "अनेनैव कृतं कर्म कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति" भन्नुभएको हो। यो व्यवहार सत्यमात्र हो परमार्थतः होइन। आचार्य धर्मकीर्ति भन्नुहुन्छ-

अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरङ्कुरादिषु।
दृष्टा शक्तिमंता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा (प्रमाणवार्तिक २:४)

अर्थात् 'सबै अशक्त होला भन्ने हो भने र बीज-अङ्कुर आदिमा जुन शक्ति देखिन्छ त्यो त छ भन्ने हो भने त्यो केवल संवृतिमा जस्तो देखिन्छ त्यस्तै मात्र छ (न कि परमार्थतः अन्य कुनै सत्ता)'। त्यसैले कार्यकारणभावलाई संवृत्ति सत्यको रूपमा मान्दाखेरि कुनै दोष आइलाग्दैनन् बरु सबै व्यवस्था राम्रोसँग बन्दछ। यही कर्यकारणभावबाट नै स्मरण हुनु, चिन्नु अर्थात् प्रत्यभिज्ञान, संशयपूर्वक निर्णय गर्नु, आफूले राखेको कुरा खोज्नु र भेटाउनु प्रमाण-प्रमेय, बन्ध-मोक्ष, जन्म-पुनर्जन्म, कर्ता-भोक्ता आदि जति पनि व्यावहारिक व्यवस्था छन् ती सबै राम्रोसँग व्यवस्थित हुन सक्छन्। शान्तरक्षितको तत्वसंग्रहको कर्मफलसम्बन्ध परीक्षामा यसको बारेमा विस्तारमा दिइएको छ।

माथिका ती सबै कुरा व्यवहारमा संवृति सत्य का आधारमा मात्र व्यवस्थित भएका हुन्। परमार्थतः भन्ने हो भने त ती सबै निःस्वभाव हुन् र तिनीहरूको कुनै पनि वस्तुसत्ता छैन। त्यसैले परमार्थतः विचार गर्ने हो भने त्यसवेला न कर्म छ, न फल छ, न बन्ध छ, न मोक्ष छ, न कर्ता छ, न भोक्ता छ, न इहलोक छ, न परलोक, न कोही जन्मिन्छ, न कोहि मर्छ। न स्कन्ध छ, न धातु छ, न आयतन छ। सम्पूर्ण कुरा केवल कल्पना मात्र हुन्। सवै सपना जस्ता, मायाजस्ता, मृगतृष्णाजस्ता, गन्धर्वनगर (बादलमा देखिने शहर) जस्ता हुन्। त्यही भएर नागार्जुनले चतुःस्तवमा भन्नुभएको छ–

> कर्ता स्वतन्त्रः कर्मापि त्वयोक्तं व्यवहारतः।
> परस्परापेक्षिकी तु सिद्धिस्ते ऽभिमता ऽनयोः।
> न कर्ता ऽस्ति न भोक्तास्ति पुण्यापुण्यं प्रतीत्यजम्।
> त्यत्प्रतीत्य न तज्जातं प्रोक्तं वाचस्पते त्वया॥

अर्थात् स्वतन्त्र रूपमा 'कर्ता, कर्म भनेर तपाईंले व्यवहारको दृष्टिले मात्र बताउनुभएको हो। यिनीहरूको सिद्धि त आपसमा सापेक्षिक रूपमा मात्र हुन्छ भन्ने तपाईंको मत छ। हे वाचस्पति, तपाइंले न कर्ता छ, न भोक्ता छ, पुण्य र अपुण्य भनेका प्रतीत्यसमुत्पन्न मात्र हुन् र जो प्रतीत्यसमुत्पन्न छ त्यो उत्पन्न भएकै हुँदैन भनेर बताउनुभएको छ।'

पितापुत्रसमागम सूत्रमा पनि भगवान्ले भन्नुभएको छ, *"इति महाराज, न कश्चिद् धर्मोऽस्माल्लोकात् परलोकं गच्छति, च्युत्युपपत्ती प्रज्ञायेते। तच्च, महाराज चरमविज्ञानमुत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानं न क्वचिद् गच्छति। कर्माप्युत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानं न क्वचिद् गच्छति। प्रथमविज्ञानमुत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, न क्वचिद् गच्छति। तत् कस्य हेतोः ? स्वभावविरहितत्वात्। चरमविज्ञानं चरमविज्ञानेन शून्यम्, कर्म कर्मणा शून्यम्। प्रथमविज्ञानं प्रथमविज्ञानेन शून्यम्। च्युतिश्च्युत्या शून्या, उपपत्तिरुपपत्त्या शून्या। कर्मणां च अवन्ध्यता प्रज्ञायते, विपाकस्य च प्रतिसंवेदना। न तत्र कश्चित् कर्ता, न भोक्ता, अन्यत्र नाम संकेतात् ......"*

अर्थात्, हे महाराज यो लोकबाट अर्को लोकमा कुनै पनि धर्म जाँदैन, च्युति र उपपत्ति मात्र थाहा हुन्छन्। चरम (अन्तिम) विज्ञान उत्पन्न हुँदा पनि कतैबाट आउने होइन, निरुद्ध हुँदा पनि कतै जाने होइन। कर्म पनि उत्पन्न हुँदा कतैबाट आउने होइन र निरोध हुँदा कतै जाने पनि होइन। किन ? स्वभावरहित भएको हुनाले। चरमविज्ञान चरमविज्ञानले शून्य छ, कर्म कर्मले शून्य छ, प्रथमविज्ञान प्रथमविज्ञानले शून्य छ, च्युति च्युतिले शून्य छ, उपपत्ति उपपत्तिले शून्य छ। कर्महरूको अवन्ध्यता थाहा हुन्छ, विपाकको प्रतिसंवेदना थाहा हुन्छ। त्यहाँ कुनै कर्ता पनि छैन, कुनै भोक्ता पनि छैन ...... ।"

त्यसैगरी शलिस्तम्वसूत्रमा पनि अविद्या देखि लिएर जरामरणसम्मको द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादका आधारमा यो जीवन चक्र चलिरहेको छ भन्ने कुरा स्पष्टसँग दर्शाइएको छ र त्यस्तो आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद शाश्वतबाट पनि होइन, उच्छेदबाट पनि होइन, संक्रान्तिबाट

पनि होइन, सानो हेतुबाट पनि ठूलो फल निस्किने हिसाबले र जस्तो कर्म छ त्यस्तै विपाक हुने गरी क्रियाशील हुन्छ भन्ने व्याख्या गरिएको छ। त्यसकारण कुनै पनि त्यस्तो नित्य वस्तु सरेर जाने भन्ने कुरा कहीं पनि भगवान्ले बताउनुभएको छैन।

त्यसो भए भगवान्ले,

आत्मा हि आत्मनो नाथः को नु नाथः परो भवेत्।
अत्मना हि सुदान्तेन स्वगं प्राप्नोति पण्डितः।" (धर्मपद, आत्मवर्ग)

भनेर आत्मा नै आफ्नो मालिक हो भन्नुभएको के हो भन्ने प्रश्न उठ्न सक्छ। यसमा माध्यमिकको भनाइ छ कि यहाँ 'आत्मा' भनेको तीर्थिकहरूको आत्मालाई नभएर 'आफू' या 'चित्त'लाई नै भनेको हो। किनकि यस्तै कुरा उहाँले अर्को ठाउँमा यसरी भन्नु भएको छ,

"चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम्" -(धर्मपद, चित्तवर्ग)

त्यसकारण जसलाई 'आत्मा' भन्दा रुचि लाग्छ त्यस्ता विनेयजनहरूको हितलाई विचार गरेर उहाँले चित्तलाई आत्मा भन्नुभएको हो। त्यो त नेयार्थमा भन्नुभएको हो। परमार्थतः यस्तो भन्नुभएको होइन। शुरुमा 'आत्मा' शब्द प्रयोग गरेर त्यस्ता व्यक्तिलाई मार्गमा लगाएपछि अन्य उपदेशहरू सुन्दा सुन्दा जब उनीहरूलाई नैरात्म्यको बारेमा पनि सुन्ने र बुझ्ने धैर्यता आउँछ तब उनीहरूलाई नैरात्म्यको उपदेश दिनुहुन्थ्यो। यही नै उहाँको उपायकुशलता हो। त्यो मार्काका व्यक्तिहरूलाई हित गर्ने तरीका यही हो। त्यसकारण भगवान्ले चित्तलाई नै त्यहाँ 'आत्मा' भन्नुभएको हो। यो कुरा लंकावतारसूत्रको वचनबाट पनि सिद्ध हुन्छ-

पुद्गलः सन्ततिः स्कन्धाः प्रत्यया अणवस्तथा।
प्रधानमीश्वरः कर्ता चित्तमात्रं वदाम्यहम्। (२, १३९)) (१०, १३३)

अर्थात् "पुद्गल, सन्तति, स्कन्धहरू, प्रत्यय, अणु, प्रधान, ईश्वर, कर्ता जे भने पनि सबै चित्त मात्र हो भनेर म बताउँछु।"

यहाँ 'चित्त' भनिए पनि त्यो पुद्गल, आत्मा, आदि कुरामा भएको ग्राहलाई नाश गर्नको लागि मात्र हो नकि 'चित्त' चाहिँ परमार्थतः सत् हो भनेर देखाउन। यसै गरी जहाँ स्कन्ध, धातु आदिलाई आत्मा भन्नुभएको छ त्यो पनि नेयार्थदेशना हो भन्ने बुझ्नुपर्छ। अतः चित्त पनि अहम्प्रत्ययको विषय बन्न सक्दैन।

एकछिनको लागि चित्त परमार्थतः छ भन्ने मानियो भने पनि त्यो वस्तुतः अहंकारको विषय हुन सक्दैन भन्ने देखाउन आचार्य भन्नुहुन्छ-

अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धि न विद्यते।
अद्योत्पन्नमहं चित्तं नष्टे ऽ स्मिन्नास्त्यहं पुनः ॥७४॥

भूत-भविष्यको चित्त नहुनाले त हैन 'म'
प्रत्युत्पन्न 'अहं' चित्त हुँदा नाश त छैन 'म' ॥७४॥

अन्वयार्थ : अतीतानागतं = अतीतको र अनागतको, चित्तं = चित्त, न अहं = 'अहं' होइन ('म' होइन), हि = किनकि, तत् =

न्यो, न विद्यतें = विद्यमान छैन, अथ = अब, उत्पन्नं = उत्पन्न भएको (वर्तमान), अहं = 'म' भन्ने, चित्तं = चित्त हो भने, अन्मित् = यो, नष्टे = नाश हुँदा,पुन: = फेरि, अहं नास्ति = 'म' भन्ने रहँदैन ।

यदि अतीतको चित्त 'म' हो भने त्यो गइसक्यो र अहिले छैन, त्यसकारण त्यो 'म' हुन सक्दैन । त्यसै गरी अनागत अर्थात् नआएको (भविष्यको) चित्त पनि 'म' हुन सक्दैन किनकि त्यो पनि अहिले विद्यमान छैन । त्यसो भए वर्तमान चित्त अर्थात् प्रत्युत्पन्न चित्त 'म' हो कि भन्ने हो भने त्यो पनि मिल्दैन किनकि दोस्रो क्षणमै त्यो नष्ट हुनासाथ 'म' पनि नाश भइहाल्छ । त्यसकारण त्यसको सत्ता एक क्षणको मात्र हुने भयो । त्यसपछि फेरि त्यो 'म' ले केलाई आलम्बन गर्छ भन्ने प्रश्न उठ्छ । अर्को कुरा के हो भने चित्त उत्पाद र व्यय हुन्छ र स्थिति क्षण हुँदैन । जसको विषयमा स्थिति क्षण उपलब्ध छैन त्यसले कसरी त्यसको आलम्बन गर्न सक्छ । त्यसकारण वास्तवमा यो 'म' भन्ने विश्वासको कुनै पनि आलम्बन हुँदैन । यो केवल भ्रान्तिमात्र हो र वन्ध्या पुत्र समान नितान्त कल्पना मात्र हो ।

यस प्रकार त्यस्तो नित्य, शाश्वत, कूटस्थ स्वभावको आत्मा पनि छैन र चित्त नै तीनै कालमा प्रवाहशील छ, जन्म मृत्यु आदि ग्रहण गर्छ र अहं ('म') भन्ने बोधको विषय पनि यो होइन भन्ने कुरालाई केराको उपमा दिंदै आचार्य सम्झाउनुहुन्छ-

यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद्भागशः कृतः ।
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणे विचारतः ॥७५॥

कोटचाउँदा केही बाँकी केराको स्तम्भ हुन्न है
त्यस्तै विचारले खोज्दा 'म' भन्ने छ असत् सधैं ॥७५॥

अन्वयार्थ : यथा एव = जसरी नै, भागश: कृत: = खण्ड खण्ड गर्दै केलाउँदै जाँदा, कश्चित् = कुनै, कदलीस्तम्भ: = केराको खम्वा भन्ने कुरा, न = भेटिंदैन, तथा = त्यस्तै, विचारत: = विचारवाट, मृग्यमाण: = खोज्दै जाँदा, अहम् = 'म' भन्ने कुरा, अपि = पनि, असद्भूत: = असत् नै हुन्छ अर्थात् उपलब्ध हुँदैन ।

केराको खम्बालाई कोटचाउँदै निकाल्दै जाने हो भने साँच्चिकै केराको खम्बा भन्ने कुरा केही पनि बाँकी रहँदैन । निकालिसकेका बोक्राहरू खम्बा होइनन् र बाँकि देखिने खम्बामा पनि त्यस्तै बोक्रामात्र हुन्छन् । त्यसलाई निकाल्दै गएपछि वास्तवमा त्यस्तो 'केराको खम्बा' भन्ने केही भेटिंदैन । त्यसै गरी अहं (म) भन्ने बोध भइरहने विषय के हो भनेर गहिरिएर विचार गर्दै जाने हो भने त्यस्तो 'म' भन्ने कुरा केही पनि उपलब्ध हुँदैन । त्यसकारण यो 'अहं' भन्ने कुरा असत् अर्थात् खरायोको सिङ् या बन्ध्याको छोरा जस्तो हो र कल्पना मात्र हो ।

यसमा आत्मवादीहरूले उठाउनसक्ने प्रश्नतिर प्रसङ्ग लग्दै आचार्य भन्नुहुन्छ-

यदि सत्त्वो नविद्येत कस्योपरि कृपेति चेत् ।
कार्यार्थमभ्युपेतेन यो मोहेन प्रकल्पितः ॥७६॥

यदि सत्त्व छैन भने कस्माथि करुणा हुने ?
कार्य सिद्ध गर्न भनी कल्पना हुन्छ मोहले ॥७६॥

अन्वयार्थ : यदि = यदि, सत्त्वः = सत्व, न विद्यते = छैन भने, कस्योपरि = कस्माथि, कृपा = करुणा ? इति चेत् = यस्तो भन्छौ भने, कार्यार्थं = कार्य सिद्ध गर्नको लागि, अभ्युपेतेन = स्वीकार गरिएको, मोहेन = मोह (संवृति) ले, यः = जुन सत्व, प्रकल्पितः = कल्पना गरिन्छ (त्यसमाथि करुणा गरिन्छ) ।

आत्मवादीहरू प्रश्न गर्छन्- यदि 'आत्मा' केराको स्तम्भ जस्तो कहीं पनि नभेटिने हो भने तिमी बौद्धहरूले सत्वमाथि कसरी करुणा गर्छौ ? आत्मा छैन भने सत्व पनि अनुपलबध हुन्छ । तब बोधिसत्वहरूले कसमाथि करुणा गर्छन् त ? तिमीहरूको मतमा करुणा नै सम्यक् सम्बोधिको साधन हो । बुद्धगुणको उपलब्धि हुनको लागि करुणा नै पहिले चाहिन्छ । आर्यधर्मसंगीति सूत्रमा भनिएको छ,

अथ खलु आर्यावलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो भगवन्तमेतदवोचत् -'न भगवन् बोधिसत्त्वेन अतिबहुषु धर्मेषु शिक्षितव्यम् । एक एव धर्मो बोधिसत्त्वेन स्वाराधितः कर्तव्यः सुप्रतिविद्धः । तस्य करतलगताः सर्वे बुद्धधर्मा भवन्ति तद्यथा-येन राज्ञश्चक्रवर्तिनश्चक्ररत्नं गच्छति, तेन सर्वबलकायो गच्छति, एवमेव भगवन् येन बोधिसत्वस्य महाकरुणा गच्छति,, तेन सर्वे बुद्धधर्मा गच्छन्ति । तद्यथा, भगवन्, जीवितेन्द्रिये सति अन्येषाम् इन्द्रियाणां प्रवृत्तिर्भवति । एवमेव भगवन्, महाकरुणायां सत्यां बोधिकाराणां धर्माणां प्रवृत्तिर्भवति" ।

अर्थात् "आर्य अवलोकितेश्वरले भगवान् बुद्धसँग यस्तो भन्नुभयो- होइन भगवन्, बोधिसत्वले अति धेरै धर्महरूमा शिक्षित हुन आवश्यक छैन । एउटै धर्मको राम्रोसँग आराधना गरेमा, राम्रोसँग प्रतिवेध गरेमा बोधिसत्वलाई पर्याप्त हुन्छ । उसका हत्केलामा सम्पूर्ण बुद्धधर्महरू प्राप्त हुन्छन् । जसरी चक्रवर्ती राजाको चक्ररत्न गयो भने सम्पूर्ण बलकाय नै जान्छ, त्यसरी नै बोधिसत्वको महाकरुणा गयो भने सम्पूर्ण बुद्धधर्महरू जान्छन् । जसरी जीवितेन्द्रिय रहेमा अन्य इन्द्रियहरूको प्रवृत्ति भइरहन्छ त्यसरी नै हे भगवन्, महाकरुणा रहेमा बोधिकारक धर्महरू प्रवृत्त भइरहन्छन् ।"

त्यस्तै आर्य गयाशीर्षसूत्रमा भनिएको छ,

"किमारम्भा मञ्जुश्रीः बोधिसत्त्वानां चर्या किमधिष्ठाना ? मञ्जुश्रीराह-महाकरुणारम्भा देवपुत्र, बोधिसत्वानां चर्या सत्त्वाधिष्ठाना"

अर्थात्, मञ्जुश्रीलाई देवपुत्रले सोध्छन् 'बोधिसत्वहरूको चर्या केबाट शुरु हुन्छ र केलाई आधार बनाएर त्यो चर्या हुन्छ ?' मञ्जुश्रीले भन्नुभयो- 'हे देवपुत्र, बोधिसत्वहरूको चर्या महाकरुणाबाट आरम्भ हुन्छ र सत्त्वलाई आधार अर्थात् अधिष्ठान बनाएर हुन्छ ।' यस्तो बताइएको हुनाले सत्वहरू छैनन् भन्न मिल्दैन । करुणा शुरु हुने नै सत्वहरूको दुःखलाई आलम्बन गराएर हो भने सत्व छैनन् भन्न कसरी मिल्छ ?

माध्यमिक भन्छन्- आफ्नो काम सिद्ध गर्नको लागि स्वीकारिएको मोह अर्थात् अज्ञानद्वारा कल्पना गरिएका प्राणी (सत्व)हरूमाथि करुणा गरिन्छ । किनकि सम्पूर्ण ज्ञेयावरण र क्लेशावरणबाट मुक्त भएको बुद्धता नै आफ्नो पुरुषार्थको लक्ष्य हो । त्यो सिद्ध गर्न सम्पूर्ण धर्महरूप्रति अनुपलम्भ दृष्टि चाहिन्छ । त्यसको लागि प्रज्ञाको चरमसीमासम्म विकास गर्नुपर्ने हुन्छ । त्यो अभ्यास लामो समयसम्म गर्नुपर्ने भएको हुनाले त्यसको थालनी नै करुणाको मार्फत गरिन्छ र निरन्तर भावना गरिराखिन्छ किनकि त्यसरी गरिएको थालनीमा आशयविशुद्धि हुन्छ जसले पुनः प्रज्ञाको विकासमा

समेत मद्दत गर्छ।

फेरि त्यसरी करुणा उत्पन्न गर्न सत्वहरूको दुःखलाई आलम्बन गर्नु पर्छ। त्यसरी उत्पन्न भएको करुणाले सत्त्वहरूको दुःख हटाउँदा पुण्य बढ्छ जसले पुण्यसम्भार बढ्दै जान्छ। पुण्यसम्भार बुद्धताको अपरिहार्य अङ्ग हो। त्यसैले करुणा उत्पन्न गर्नको लागि सत्ता नभए पनि व्यावहारिक (संवृतिको) हिसाबले सत्त्वहरूलाई स्वीकार गरेर उक्त कार्यमा अघि बढिन्छ। आखिर संवृति सत्य त हामीले नकारेका छैनौं।

यो करुणाको उत्पाद पनि तीन तहको हुन्छ। शुरुमा सत्त्वहरूलाई नै आलम्बन गरेर करुणाको अभ्यास गरिन्छ। त्यसैले यसलाई सत्त्वालम्बना करुणा भनिन्छ। यसको राम्रो अभ्यास भएपछि प्रज्ञाद्वारा सत्त्व भनेका प्रतीत्यसमुत्पन्न पञ्चस्कन्ध मात्र हुन् र त्यो केवल प्रज्ञप्ति मात्र हो, सत्व भनेको कल्पित सत्तामात्र हो भन्ने बोध दृढ हुँदै जान्छ र करुणा पनि सत्वालम्बनबाट धर्मालम्बन तिर ढल्किन्छ। यो अवस्थाको करुणालाई धर्मालम्बना करुणा भनिन्छ। त्यसवेला यी सास्रव पञ्चस्कन्ध आदि नै दुःख स्वभावका हुन् र कर्म-क्लेशको वशले देखा परेका प्रज्ञप्ति मात्र हुन् भन्ने बोध सहित यिनीहरूको दुःख स्वभावलाई नै आलम्बन बनाएर करुणा गरिन्छ। त्यसैले यसलाई धर्मालम्बना करुणा भनिएको हो। यसको पनि राम्रो अभ्यास भैसके पछि अन्ततो गत्वा 'अनालम्बना' करुणा उत्पन्न हुन्छ जुनवेला प्रज्ञाको बलले गर्दा करुणा गरिने सत्व, स्कन्धसन्तति आदि धर्महरू सबै स्वभावशून्य छन् भन्ने बोधसँग अटूट भई सहज करुणा प्रस्फुटित हुन थाल्छ। यही नै महाकरुणा हो।

त्यसकारण परमार्थतः सत्त्व भन्ने कुरा केही छैन तापनि व्यवहारमा करुणाको प्रारम्भ त्यसैबाट हुन्छ। व्यवहारमा उपादान स्कन्धसन्ततिलाई नै 'आत्मा', 'सत्व', 'श्रमण', 'त्यो', 'म' भन्ने जस्ता शब्दहरू प्रयोग गरिन्छ परन्तु केलाएर हेर्दा त्यहाँ त्यस्तो 'आत्मा' आदि केही हुँदैन। भगवान्‌ले त्यही कुरा बताउनुभएको छ, "ये केचिद्भिक्षवः श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति इमानेते पञ्चोपादानस्कन्धान्।" त्यही भएर आचार्य रत्नदासले पनि भन्नुभएको छ-

यतः प्रज्ञा तत्वं भजति करुणा संवृतिमतः
तवाभून्निःसत्वं जगदिति यथार्थं विमृशतः।
यदा चाविष्टो ऽभूर्दशवलजन्या करुणया
तदा ते ऽभूदार्ते सुत इव पितुः प्रेम जगति॥ (गुणपर्यन्त स्तोत्र, ३३)

"हे भगवन्, प्रज्ञाले तत्त्वलाई आलम्बन गर्छ भने करुणाले संवृतिलाई। त्यसकारण सबै जगत्‌को यथार्थ रूपमा विचार गर्ने भएका तपाईका निमित्त सत्त्वहरू वास्तवमा छैनन्। तैपनि जब तपाई दशवलकी जननीस्वरूप भएकी करुणाद्वारा आवेशित हुनुभयो तब यी दुःखले पीडित सत्त्वहरूप्रति छोरालाई गर्ने जस्तो प्रेम तपाइंको हुन पुग्यो।" त्यस्तै आचार्य नागार्जुनले पनि चतुःस्तवमा भन्नुभएको छ-

सत्त्वसंज्ञा च ते नाथ सर्वथा न प्रवर्तते।
दुःखार्तेषु च सत्त्वेषु त्वमतीव कृपात्मकः॥

अर्थात् "हे नाथ, तपाइंको सत्वसंज्ञा कहिल्यै पनि आउँदैन परन्तु दुःखले पीडित सत्वहरूप्रति तपाइं अत्यन्त कृपालु हुनुहुन्छ।" अतः यी रूप आदि सबै व्यवहारमा 'सत्त्व' शब्दले पुकारिन्छन् र करुणा पनि निर्विषयक हुँदैन।

आत्मवादीहरूले फेरि प्रश्न उठाउँछन् कि यदि सत्त्व नै छैन भने कसले कार्य सिद्ध गर्नुपर्‍यो त ? त्यही शंका उठाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

कार्यं कस्य न चेत् सत्त्वः सत्यमीहा तु मोहतः ।
दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते ॥७७॥

सत्त्व विना कार्य कस्को ? त्यो इच्छा मेहले भयो
दु:ख शान्त गर्न कार्य- मोहलाई सकारियो ॥७७॥

अन्वयार्थ : सत्त्व = सत्त्व, न चेत् = छैन भने, कार्यं = कार्य (पुरुपार्थ), कस्य = कस्को हो ? सत्यम् = ठीकै हो कि, ईहा तु = त्यस्तो कार्य गर्ने इच्छा त, मोहतः = अज्ञानले गर्दा नै भएको हो (तैपनि) दुःखव्युपशमार्थं तु = दुःख शान्त गराउनको लागि त, कार्यमोहः = कार्य सिद्ध गर्नको लागि लिइएको अज्ञानलाई, न वार्यते = निपेध गरिदैन।

यदि सत्त्व नै छैन भने त्यो करुणाको अभ्यास गरेर प्राप्त गर्नुपर्ने बुद्धतारूपी लक्ष्यप्राप्ति (कार्य या पुरुषार्थ) कसको हो त ? अर्थात् त्यसरी को बुद्ध बन्ने भयो त ? या कसका निमित्त त्यो पुरुषार्थ हो त ?

माध्यमिक भन्छन् कि कुरा ठीकै हो। परमार्थतः कोही पनि बुद्ध बन्नेवाला छैन र कोही पनि पुरुषार्थ गर्ने सत्त्व छैन। त्यसैले बुद्धता भन्ने फल चाहनु पनि अज्ञान या मोहले गर्दा नै भएको हो। यो हामी स्वीकार्छौं र हाम्रो भनाइ नै यही हो। परन्तु व्यवहारमा सबैले 'म छु' 'दुःख पाएँ' 'संसारमा फँसेको छु' भन्ने जस्ता अनुभव गर्ने भएका हुनाले साधनावस्थादेखि फलावस्थासम्म उनीहरूले 'म छु' र बुद्धता प्राप्त गर्नु पर्‍यो' भन्ने जस्ता चेष्टा गरिरहन्छन्। यो मोहले नै हुने हो। मोह नभएको भए त सबै धर्महरू निरीह, प्रतीत्यसमुत्पन्न, निःस्वभाव नै छन्। आचार्य नागार्जुन भन्नुहुन्छ -

निरिहावशिकाः शून्याः मायावत् प्रत्ययोद्भवाः ।
सर्वधर्मास्त्वया नाथ निःस्वभावाः प्रकाशिताः ॥ (चतुःस्तवः)

यदि त्यस्तो चेष्टा पनि मोह या अविद्या नै हो भने त्यसलाई पनि नाश गर्नुपर्‍यो, किनकि अविद्या भनेको त त्याग्नुपर्ने चीज हो। फेरि त्यसकै वशमा रहेर कसरी शान्तिमा पुग्न सकिन्छ ?

माध्यमिक भन्छन् - दुःख शान्त गर्नको लागि काम दिने मोहलाई प्रयोजनवश स्वीकारिन्छ। मोह पनि दुइ प्रकारको हुन्छ संसारलाई प्रवृत्त गराउने हेतु बनेको मोह र संसारलाई निवृत्त गराउने हेतु बनेको मोह। त्यसमध्ये जुन मोहले संसारलाई बढाउँदै लग्छ त्यसलाई त तुरुन्तै नाश गरिहाल्नुपर्छ। त्यसमा केही विवाद छैन। परन्तु दोस्रो प्रकारको मोहले दुःखबाट मुक्ति दिने तर्फ अघिबढाउने भएकोले लक्ष्यप्राप्ति न होउञ्जेल त्यो मोहलाई स्वीकार्नै पर्ने हुन्छ। पुरुषार्थ सिद्धि गराउने व्यवस्थाको मोह भएकोले त्यसलाई 'कार्यमोह' अर्थात् कार्यको लागि स्वीकारिने मोह भनिन्छ। यसलाई मान्नाले दुःखबाट मुक्ति हुने भएकोले कुनै आपत्ति छैन।

बोधिसत्वले बुद्धता आदि फल प्राप्त गर्ने अरुको दुःखलाई पूर्णरूपमा प्रहाण गर्नको लागि हो । त्यसको लागि बोधिसत्वले परमार्थ सत्यको प्राप्ति गर्नुपर्छ र त्यसको मार्ग या उपाय संवृति सत्यबाटै शुरु हुन्छ । संवृति भनको मोह नै हो तापनि यो भऱ्याङ् जस्तो हो, चढुञ्जेल आश्रय लिनुपर्ने परन्तु माथिल्लो तलामा टेकिसकेपछि यसको आश्रय छोडिदिनुपर्ने । त्यही भएर अभिसमयालङ्कारालोकमा भनिएको छ कि संवृतिको सीढी नचढिकन तत्त्वरूपी दरबारको शिखरमा पुग्न सकिँदैन ।

आत्मवादी भन्छन् – यदि दुःख शमन हुन्छ भनेर कार्यमोहलाई स्वीकारिन्छ भने 'आत्ममोहलाई' पनि किन नस्वीकार्ने जबकि 'आत्ममोह' अर्थात् आत्माप्रति हुने मोहले पनि दुःख शान्त हुन्छ ? किन तिमीहरू व्यर्थमा आत्माको निषेध मात्र गरिरहन्छौ ? आखिर अहङ्कारबाट संसार चलिरहेको हुनाले आत्मज्ञानबाट त्यो अहंकार नाश हुने हुँदा आत्मालाई निषेध गर्नुभन्दा स्वीकार्नु जाति हुन्थ्यो ।

त्यसको जवाफमा माध्यमिकको तर्फबाट आचार्य उत्तर दिंदै भन्नुहुन्छ-

दुःखहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते ।
ततो ऽ पि न निवर्त्यश्चेद् वरं नैरात्म्यभावना ॥७८॥

आत्ममोह भए बढ्छ अहङ्कार बरु अझ
यदि हट्दैन त्यसले, राम्रो नैरात्म्यभावना ॥७८॥

अन्वयार्थ : *दुःखहेतुः = दुःखको हेतु भएको, अहंकारः = अहंकार, आत्ममोहात् तु = आत्माको मोहले गर्दा त, वर्धते = बढ्दछ, ततः अपि = त्यसबाट पनि, न निवर्त्यश्चेद् =हट्न सक्दैन भने, नैरात्म्यभावना = नैरात्म्यको भावना नै, वरम् = श्रेष्ठ छ*

दुःखको हेतु स्वरूप भएको अहंकार आत्ममोहले झन् बढ्छ । जब त्यसबाट झन् बढ्छ भने त्यसले हटाउने कुरा आउँदैन । त्यसैले नैरात्म्य भावना गर्नु नै उत्तम तरीका हो ।

तिमीहरूले आत्ममोहलाई स्वीकार्ने भन्छौ परन्तु हामीले कार्यमोहलाई स्वीकारिन्छ भनेका हौं । यी धेरै फरक कुरा हुन् । कार्यमोहले दुःख शान्त गर्न मद्दत गर्छ या त्यसको हेतु बन्छ परन्तु आत्ममोह त अहंकारको बीज हो र अहंकार दुःखको हेतु हो । त्यसैले आत्ममोहलाई स्वीकार्ने हो भने अहंकार कदापि नाश हुँदैन । तिमीहरूको शास्त्रमा भनिएकै छ कि -

भानोः सकाशाज्जनिताभ्रपङ्क्ति भांनुं तिरोधाय विजृम्भते यथा ।
आत्मोदिताहंकृतिरात्मतत्वं तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम् ॥

अर्थात् जसरी सूर्यको सान्निध्यको कारणले उत्पन्न भएको बादलले सूर्यलाई नै ढाक्छ, त्यसैगरी आत्माबाटै पैदा भएको अहंकारले आत्मतत्वलाई नै ढाकेर स्वय फैलिन्छ । यसरी तिमीहरूको शास्त्रमा पनि आत्माबाटै अहंकार उत्पन्न हुने कुरा बताइन्छ । त्यसकारण कसरी आत्ममोहले अहङ्कारलाई नाश गर्न सक्छ ?

जब अहङ्कार नाश हुन सक्दैन तब तीन किसिमका दुःख (दुःखदुःख, विपरिणामदुःख र संस्कारधर्मदुःख)हरू नाश हुने सम्भावना हुँदैन । कारण विद्यमान छ भने कार्य नहुने सम्भावना हुँदैन । आत्मदृष्टि रहेसम्म स्कन्ध, आयतन आदि सास्रव धर्ममा 'अहं' 'मम' भन्ने कुरा कायमै रहन्छ र

यही नै स्थूलरूपमा व्यक्त हुन थालेपछि 'अहंकार' देखा पर्छ । अनि 'म सुखी रहूँ' 'सर्वसमर्थ होऊँ' भन्ने जस्ता सङ्कल्प विकल्प एवं इच्छाहरूको उत्पाद गर्छ । त्यसमा अनुकूल हुने साधनामा अनुराग गर्छ, त्यसमा प्रतिकूल हुने कुरामा द्वेष गर्छ, आफूमा गुणको आरोप गर्छ र दोषको अपवाद गर्छ भने अरुमा दोषको आरोप गरेर गुणको अपवाद गर्छ । यसरी द्वेष पनि पैदा हुन्छ, अन्य क्लेश उपक्लेश पनि पैदा हुनपुग्छन् । जस्तैः- आचार्य धर्मकीर्तिले पनि भन्नु भएको छ -

'यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्राहमिति शाश्वतस्नेहः ।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषाँस्तिरस्कुरुते ॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे ॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्व - परविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥

अर्थात् - "जसले आत्मालाई देख्छ या आत्मदृष्टि राख्छ त्यसको 'अहम्' भन्ने यस्तो शाश्वत स्नेह भइरहन्छ र त्यसबाट सुखहरूमा तृष्णाले गर्दा रमाउँछ र दोषहरूलाई तिरस्कार गर्छ, गुणदर्शी भएर त्यसका साधनहरूमा 'मेरो' भन्ने भाव राखेर ग्राह गर्दछ । त्यसकारण जबसम्म आत्मामा अभिनिवेश (या ग्राह) भइरहन्छ तबसम्म उ संसारमै हुन्छ । आत्मा भएपछि पर-संज्ञा (अर्को भन्ने भाव) पनि आउँछ अर्थात् ग्राह्य र ग्राहकको भेददृष्टि आउँछ । यस्तो 'स्व' र 'पर'को भेदले गर्दा पछि राग र द्वेष उत्पन्न हुन्छ । यिनीहरूसँग सम्बद्ध भएर सम्पूर्ण दोषहरू उत्पन्न हुन्छन् ।"

त्यसकारण आत्माप्रति आसक्ति हुनु या आत्माबाट अहंकार नाश हुन्छ भनेर त्यसलाई स्वीकार्नु दुःखनिरोधको उपाय होइन । त्यसो भए कसरी अहंकार नाश हुन्छ त ? अहंकार नाश हुने एक मात्र उपाय हो 'नैरात्म्य भावना । नैरात्म्यभावना नै उत्तम उपाय हो । नैरात्म्य पनि दुई किसिमका छन् पुद्गलनैरात्म्य र धर्मनैरात्म्य । यी दुईको भावनाबाट मात्र अहंकार नाश हुन्छ । आत्मालाई विषय बनाएर प्रवृत्त हुने सत्कायदृष्टिबाटै सम्पूर्ण क्लेश-उपक्लेशहरू पैदा हुने भएको हुनाले अनात्मा नै त्यसको विरोधी धर्म हुन्छ र त्यसबाट मात्र सत्कायदृष्टि नाश हुन्छ । सत्कायदृष्टि नभएपछि अहंकार आदि उत्पन्न हेआश्रय केही रहँदैन । त्यही भएर तथागतगुह्यसूत्रमा भगवान्ले यो बताउनुभएको छ -

"तद्यथापि नाम शान्तमते, वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखा पत्रपलाशं शुष्यति, एवमेव शान्तमते, सत्कायदृष्टिप्रशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्ति ।" अर्थात् "हे शान्तमति, जसरी जरो काटिइसकेको वृक्षका सबै हाँगा विंगा, पात-पालुवाहरू सुक्छन् त्यसरी नै सत्कायदृष्टिलाई शान्त पारेपछि (प्रहाण गरेपछि) सम्पूर्ण क्लेशहरू शान्त हुन्छन् ।" त्यस्तै आचार्य चन्द्रकीर्ति पनि भन्नुहुन्छ,

सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशाँश्च दोषाँश्च धिया विपश्यन् ।
आत्मानमस्या विषयं हि वुद्ध्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥

त्यसकारण नैरात्म्यभावना मात्र कल्याणकारक हुन्छ, किनकि 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् ।'

अब फेरि आचार्य अहङ्कारको विषय के हो भन्ने विश्लेषण गर्नतिर अघि बढ्नुहुन्छ। न्यायवैशेषिक आदि बौद्धेतर मतमा अवयवदेखि भिन्दै 'अवयवी' हुन्छ भन्ने मानिन्छ। जस्तैः- साइकलको पाङग्रा, हैण्डिल, पैडल, सीट जस्ता अङ्गहरू अवयव हुन्। उनीहरूको मतमा यी अवयव (अङ्गहरू)को अलावा 'साइकल' भन्ने एउटा वस्तुको पनि त्यहाँ सत्ता हुन्छ जो अवयवी (अङ्गी) हो। यस्तो प्रकारको अवयवीको अस्तित्व जुन कुरामा पनि हुन्छ। त्यसैले उनीहरू भन्छन् कि काय अर्थात् 'शरीर' भन्ने अवयवी नै अहंकारको विषय हो। बौद्ध मतमा 'अवयवी' भन्ने कुरा नितान्त काल्पनिक हो र त्यसको सत्ता कहीँ पनि हुँदैन भन्ने मानिन्छ। त्यसकारण आचार्य त्यो 'काय' भन्ने अवयवी कुन हो त्यसलाई देखाऊ भन्ने प्रसङ्ग उठाउँदै कायस्मृत्युपस्थानको कुरा बताउँदै हुनुहुन्छ -

कायो न पादौ न जङ्घा नोरू कायः कटिर्न च।
नोदरं नाप्ययं पृष्ठं नोरो बाहू न चापि स ॥७९॥

न पाऊ काय हो, जाँघ न तिघ्रा न त कम्मर
न पेट यो हो पिठ्यूँ या छाती हो न त पाखुरा ॥७९॥

न हस्तो नाप्ययं पार्श्वौ न कक्षौ नांसलक्षणः।
न ग्रीवा न शिरः कायः कायो S त्र कतरः पुनः ॥८०॥

न हात, पार्श्व हो काय न काखी न त काँध हो
न घाँटी शिर हो काय फेरि के हो त काय यो ॥८०॥

अन्वयार्थ : कायः = काय भनेको, न पादौ = दुई खुट्टा होइनन्, न जङ्घा = जाँघ होइन, न उरू कायः = न त तिघ्राहरू काय हो, न च कटिः = न कम्मर हो। न उदरं = न पेट काय हो, न पृष्ठम् अपि = न त पिठ्यूँ, अयम् = यो हो, न उरः = न छाती हो, न च वाहू अपि = न पाखुराहरू पनि, सः = त्यो हो।

न हस्तौ = न हात हुन्, न अयं पार्श्वौ = न यो काय पार्श्वभाग हुन्, न कक्षौ = न काखी हुन्, न अंसलक्षणः = न यो काँधको लक्षणवाला छ, न ग्रीवा = न घाँटी (गर्दन) हो, न शिरः कायः = न शिर काय हो, पुनः = फेरि, अत्र = यहाँ, कायः = काय भनेको, कतरः = के हो त ?

केलाएर हेर्ने हो भने यो 'काय' भन्ने वस्तु कहीँ पनि भेटिँदैन। हात, खुट्टा, आदि विभिन्न अङ्गहरू देखिन्छन् परन्तु ती अङ्ग बाहेक अर्को 'काय' भन्ने चीज केही पनि भेटिँदैन।

खुट्टाहरू पनि काय होइन, जाँघ पनि काय होइन, तिघ्रा पनि काय होइन। त्यस्तै कम्मर, पेट, पिठ्यूँ, छाती पाखुरा यी कुनै पनि काय होइनन्। न हात काय हो, न पार्श्वभाग, न काखी, न काँध या घाँटी या शिर पनि काय हुन्। त्यसो भए फेरि त्यो काय भन्ने चिज के हो त ? आखिर यिनै अंग- वाहेक यहाँ अरु त केही पनि छैन। त्यसकारण कसरी यो काल्पनिक 'काय' अहंकारको विषय बन्न सकेको हो ? यहाँ काय भन्ने चीज नै कहीँ पनि भेटिँदैन।

यदि पूर्वपक्षीहरूले हामीले प्रत्येक अङ्ग नै काय हो भनेका छैनौं भन्छन् भने, के हो त त्यो काय ? के सबै अङ्गहरूमा व्यापक भएको एउटा अलग काय भन्ने वस्तु छ भन्न खोजेको हो ? यदि त्यसो हो भने त्यो काय ती अंगहरूमा कसरी व्यापक भएर रहेको छ ? एकदेशीय (अर्थात् एक

अंश मात्र ती अंगमा रहने) रूपमा व्याप्त छ कि सर्वात्मना (सम्पूर्ण काय नै प्रत्येक अंगमा रहने गरी) व्याप्त छ ? पहिलो मान्ने हो भने आचार्य भन्नुहुन्छ–

> यदि सर्वेषु कायो ऽ यमेकदेशेन वर्तते ।
> अंशा अंशेषु वर्तन्ते, स च कुत्र स्वयं स्थितः ॥८१॥

यदि काय सबैमा नै एकभाग भई रह्यो
अंशहरू अंशमै छन् फेरि व्याप्त कहाँ भयो ? ॥८१॥

अन्वयार्थ : *यदि = यदि, सर्वेषु = सबै अङ्गहरूमा, अयं = यो; कायः = काय, एकदेशेन = एकभाग मात्र (आंशिक रूपमा) रहने गरी, वर्तते = रहन्छ भने, अंशाः = अंशहरू नै, अंशेषु = अंशहरूमा, वर्तन्ते = छन्, स च = त्यो काय, स्वयं = आफू चाहिँ, कुत्र = कहाँ, स्थितः = रहेको छ त ?*

यदि त्यो काय भन्ने 'अवयवी' सबै हात, पाउ, शिर जस्ता अङ्गहरूमा आंशिकरूपमा रहेको छ भन्ने मान्छौ भने ती अंगहरूमा त्यो कायको पनि अंश-अंश मात्र रहेका हुने भए। त्यस अवस्थामा त्यो काय स्वयं त ती अंशहरूमा रहेन, किनकि अंश मात्र त्याहाँ व्याप्त छन्। त्यसोभए त्यो काय कहाँ छ त ? फेरि तिमीहरूले सबै अङ्गमा त्यो काय व्याप्त छ भनेको हुनाले त्यो व्याप्ति पनि यहाँ देखिएन। त्यसकारण आंशिक रूपमा रहेको अलग काय छ भन्नु अयुक्त छ। यदि दोस्रो विकल्प रोज्छौ भने,

> सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु ।
> कायास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः ॥८२॥

सर्वात्मना हात आदि अंगमा काय हो भने
ती हात आदि जति छन् त्यति काय हुने भए ॥८२॥

अन्वयार्थ : *चेत् = यदि, कायः = त्यो काय, करादिषु = हात आदि अङ्गहरूमा, सर्वत्र = सबै स्थानमा, सर्वात्मना = सम्पूर्णरूपमा नै = स्थितः = रहेको छ भने, यावन्तः = जति, ते = ती, करादयः = हात पाउ आदि छन्, तावन्त एव = त्यति नै, कायाः = कायहरू, स्युः = होलान् ।*

यदि त्यो काय हात, पाउ आदि सबै अंगहरूमा सम्पूर्ण रूपमा पूरापूर व्यवस्थित हुने गरी रहेको छ र त्यसका अंशहरू छैनन्, जहाँ पनि त्यो पूर्णरूपमा नै रहन्छ भन्ने हो भने यी हात पाउ आदि अंगहरू जति संख्यामा छन् त्यति संख्यामा नै ती कायहरू छन् भन्ने कुरा आउँछ। परन्तु तिमीहरूले एउटै काय छ भन्ने मानेका छौ। त्यसैले तिमीहरूको भनाइ असिद्ध हुन्छ। त्यसकारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाणहरूबाट त्यस्तो अहंकारको विषय बनेको 'काय' भन्ने कुरा कहीँ पनि भेटिँदैन।

> नैवान्तर्न बहिः कायः कथं कायः करादिषु ।
> करादिभ्यः पृथङ् नास्ति कथं नु खलु विद्यते ॥८३॥

न भित्र या वाहिर छ, के होला हात आदिमा
हात आदि देखि भिन्न छैन केही छ त्यो कहाँ ॥८३॥

अन्वयार्थ : *कायः = काय, अन्तः न एव = भित्र पनि छैन, न बहिः = वाहिर पनि छैन भने, कथं = कसरी, करादिषु = हात*

आदिमा, कायः = काय छ ? करादिभ्यः = हात आदिभन्दा, पृथग् = वेग्लै, नास्ति = केही छैन भने, कथं नु = कसरी, खलु विद्यते = अस्तित्ववान् छ त ?

न काय भित्र छ, न बाहिर छ किनकि भित्र कहीँ रहने र क्रियाकलाप गरिराख्ने खालको कुनै पुरुष या सत्ता केही पनि छैन भनेर पहिले नै देखाइएको छ भने बाहिर त्यस्तो काय भन्ने वस्तु कतै देखिएको पछि छैन। भित्र केवल रगत, मासु हाड आदि मात्र छन् भने बाहिर झन् छाला आदि बाहेक केही पनि देखिँदैन। त्यसकारण त्यो काय भन्ने वस्तु हात पाउ आदिमा कसरी हुन्छ ? यदि हात पाउभन्दा वेग्लै काय छ भन्ने हो भने त्यसरूपमा त्यो उपलब्ध हुनुपर्‍यो। परन्तु देखिने या उपलब्ध हुने त तिनै हात पाउ आदि अंग मात्र हुन्। त्यसको अतिरिक्त अरु चीज त केही पनि छैन। त्यसकारण कसरी त्यसलाई छ भन्न मिल्छ ? अर्थात् कदापि त्यसको त्यस्तो व्यवस्था गर्न सकिँदैन।

काय भन्ने कुराको व्यवस्था नभए व्यवहारमा काय भन्ने कुरा कसरी सम्भव हुन्छ त भन्ने प्रश्नमा आचार्य भन्नुहुन्छ -

तन्नास्ति कायो मोहात्तु कायबुद्धिः करादिषु।
सन्निवेशविशेषेण स्थाणौ पुरुषबुद्धिवत् ॥८४॥

त्यो काय छैन मोहैले कायबुद्धि करादिमा
देखिन्छ ग्राहले गर्दा मूढोमा नरबुद्धि झैं ॥८४॥

__अन्वयार्थ :__ तत् = त्यसकारणले, कायः = काय, नास्ति = छैन, करादिषु = हात आदिमा, कायवुद्धिः = 'काय' हो भन्ने ठान्ने वुद्धि, तु = त, मोहात् = अज्ञानले गर्दा, सन्निवेशविशेपेण = ग्राह या आसक्तिको कारणले, स्थाणौ = ठूटो (मूढो)लाई, पुरुपवुद्धिवत् = पुरुप (मानिस) जस्तो ठानिएझैं हो।

त्यसकारण यदि काय नै छैन तापनि हात, पाउ आदि अङ्गमा अज्ञानले (मोहले) गर्दा कायबुद्धि भएको हुन्छ अर्थात् 'काय' भन्ने ठानेर व्यवहार गरिन्छ परन्तु परमार्थतः त्यस्तो काय भन्ने केही पनि छैन। वास्तवमा अनादिकालदेखि नै जन्म-मरण, जन्म-मरण चल्दै जाने क्रममा 'काय'को मिथ्या कल्पनाको अभ्यास भएर आएको छ। त्यही अभ्यासको कारणले 'काय छ' भन्ने विश्वास हुन्छ र त्यो बमोजिमको व्यवहार गरिएको हुन्छ। जस्तैः- एउटा ठूटोमा केही समानताको आधारमा 'मान्छे' भन्ने भ्रम पर्न जान्छ त्यस्तै हात; पाउ आदि अङ्गहरूको समूहमा त्यस्तो आकारको वेग्लै सत्ता छ भन्ने भ्रम पर्नजान्छ परन्तु त्यस्तो सत्ता कहीँ पनि छैन।

कायवुद्धि वास्तविक होइन भन्ने कसरी थाहा हुन्छ भन्ने प्रश्नमा आचार्य भन्नुहुन्छ -

यावत्प्रत्ययसामग्री तावत्कायः पुमानिव।
एवं करादौ सा यावत् तावत्कायो ऽत्र दृश्यते ॥८५॥

भए प्रत्ययसामग्री हुन्छ काय मनुष्य झैं
त्यस्तै हात आदिमा त्यो रहँदासम्म काय छ ॥८५॥

__अन्वयार्थ :__ यावत् = जवसम्म, प्रत्ययसामग्री = प्रत्ययसामग्री छन्, तावत् = तवसम्म, पुमान् इव = पुरुपजस्तै गरी, कायः = काय हुन्छ, एवं = यस प्रकार, यावत् = जवसम्म, सा = सो प्रत्ययसामग्री छ, तावत् = तवसम्म, करादौ = हात पाऊ आदिमा,

अत्र = यहाँ, काय: = काय भन्ने कुरा, दृश्यते = देखिन्छ ।

जबसम्म विभिन्न प्रकारका कारणसामग्रीहरू जस्तैः– चार महाभूत, विज्ञान आदि रहन्छन् (कर्मवश), तबसम्म ठूटामा पुरुष देखिए झैं यी महाभूतहरूको पुञ्जमा पनि काय देखिन्छ । त्यसैले यी हात पाउ आदि अङ्गहरूमा पनि भ्रान्तिले गर्दा 'काय' भन्ने भान परेको हो । युक्तिषष्टिकामा भनिएको छ,

हेतुतः सम्भवो यस्य स्थितिर्न प्रत्ययैर्विना ।
विगमः प्रत्ययाभावात् सो ऽस्तीत्यवगतः कथम् ॥

अर्थात् जुन कुरा हेतुबाट उत्पन्न हुन्छ, प्रत्ययहरू नभइकन रहन सक्दैन, प्रत्ययहरू नहुनेवित्तिकै हराइहाल्छ त्यस्तो कुरा 'छ' भनेर कसरी बुझ्ने ? अतः 'काय' भनेको वास्तविक होइन ।

'काय' वास्तविक नभए पनि हात पाउ आदि अङ्गहरू त उपलब्ध हुने भएकाले वास्तविक छन् नि ? भन्ने प्रश्नको उत्तरमा आचार्य भन्नुहुन्छ–

एवमङ्गुलिपुञ्जत्वात् पादो ऽपि कतरो भवेत् ।
सो ऽपि पर्वसमूहत्वात् पर्वापि स्वांशभेदतः ॥८६॥

यस्तै समूह औंलाको पाउ हो त्यो कहाँ छ र ?
त्यो पनि पर्वको झुण्ड, त्यस्को आफ्नै विभाग छ ॥८६॥

अन्वयार्थ : एवम् = यसै प्रकारले, अङ्गुलिपुञ्जत्वात् = औंलाहरूको पुञ्जभएको हुनाले, पादो ऽपि = पाउ पनि, कतरः = कुन, भवेत् = होला ?, सो ऽपि = त्यो (औंला) पनि, पर्वसमूहत्वात् = पर्वको समूह भएको हुनाले (छैन), पर्वापि = पर्व पनि, स्वांशभेदतः = आफ्नो टुक्राहरूको भेदले गर्दा (हुँदैन) ।

त्यस्तै पाउ पनि कहाँ छ र ? किनकि त्यो केवल औंलाहरूको समूह मात्र हो । औंला पनि पर्व (औंलाका तीनओटा हाडका टुक्रा)हरूको समूह मात्र भएकोले कहीं पनि छैन । पर्व पनि आफ्ना ससाना टुक्राहरूको समूह मात्र भएकोले त्यसको अस्तित्व पनि कहीं छैन । त्यसकारण जसरी अङ्गहरूका अतिरिक्त त्यहाँ काय भन्ने कुरा केही पनि छैन त्यसै गरी ती अङ्गहरू पनि साँच्चिकै त्यहाँ छैनन् किनकि तिनीहरूका पनि टुक्राहरू बन्दै जान्छन् ।

अंशा अप्यणुभेदेन सो ऽप्यणुर्दिग्विभागतः ।
दिग्विभागो निरंशत्वादाकाशं तेन नास्त्यणुः ॥८७॥

टुक्रा पनि अणु हुन्छन् त्यो छुट्टिन्छ दिशासँगै
नहुँदा त्यसको अंश आकाशै भो अणु त खै ? ॥८७॥

अन्वयार्थ : अंशा अपि = अंश (टुक्राहरू) पनि, अणुभेदेन = अणुमा टुक्राइएकाले (छैनन्), सो ऽप्यणुः = त्यो अणु पनि, दिग्विभागतः = दिशाको आधारमा छुट्याइन सक्छ, दिग्विभागः = दिशाको विभाग चाहिँ, निरंशत्वाद् = अंश (भागहरू) नभएको हुनाले, आकाशं = आकाश हुन गयो, तेन = त्यसो हुनाले, अणुः = अणु पनि, नास्ति = छैन ।

टुक्राहरू पनि अणु, परमाणु आदिमा टुक्र्याउन सकिने भएकाले वास्तवमा छैनन् । त्यस्तो

अणु-परमाणुलाई पनि दिशाको आधारमा यो पूर्व पट्टिको भाग, यो पश्चिमपट्टिको भाग भनेर अलगरूपमा लिन सकिने भएकोले त्यस्को पनि वास्तवकि अस्तित्व छैन, केवल आकाश मात्र हुन आउँछ जसको कुनै पनि भाग भन्ने हुँदैन। त्यसकारण अणु भन्ने कुरा पनि कहाँ रहेछ त ?

आचार्य वसुबन्धुले भन्नुभएको छ कि -

"दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते।" (विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः).

अर्थात् जसलाई दिशाको आधारमा छुट्याउन सकिन्छ त्यसलाई 'एक' भन्न मिल्दैन। जस्तै : उदाहरणको लागि मानौं कि बिचमा एउटा परमाणु छ र चारदिशामा चार ओटा परमाणु छन्, तल एउटा छ र माथि एउटा छ। यसरी हेर्दा बिचको परमाणुसँग ६ ओटा अन्य परमाणुहरू सम्बद्ध भएका हुन्छन्। बिचको परमाणुको जुन भाग उत्तरदिशाको परमाणुसँग जोडिएको हुन्छ त्यही भाग नै दक्षिण दिशातिरको परमाणुसँग पनि जोडिएको त हुँदैन। त्यस्तै अन्य दिशाका परमाणुहरूसँग सम्बद्ध भएका भागहरू पनि अलग अलग नै हुन्छन्। फलस्वरूप त्यो परमाणु पनि अवयव (भागहरू) नै नभएको अविभाज्य "एउटा" भन्न मिल्दैन।

यदि परमाणुवादीहरूले बिचको परमाणुको पूर्व दिशाको भाग नै उत्तर दिशा या पश्चिम दिशा या दक्षिण दिशा या तल या माथिको भाग हो भन्ने मान्छन् भने त सबै भाग एउटै स्थानमा अट्नुपर्ने हुन जान्छ जसलाई 'एकदेशता' भनिन्छ। यसको परिणाम स्वरूप यस्तो स्थिति पनि आउँछ कि लाखौं करोडौं परमाणुहरू मिलेर पनि एउटा ठूलो आकारको वस्तु बनाउन सक्ने छैनन् किनकि सबै एकदेशिक अर्थात् एउटै स्थानमा रहेका हुनेछन्। जसले गर्दा झन् ठूलो अनर्थ देखापर्छ।

त्यसकारण परमाणुको सत्ता पनि केवल कल्पित मात्र हो र वास्तविक एवं अविभाज्य परमाणु भन्ने कहीं पनि उपलबध हुँदैन। यसरी परमाणु पनि असत्, निःस्वभाव र शून्य छ। त्यस्तै हात, पाउ आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गहरू पनि निःस्वभाव छन्। यो शरीर भन्ने पनि निःस्वभाव छ र परमार्थतः हेर्दाखेरि कहीं छैन। त्यो एक हो कि अनेक हो भन्ने विचार गर्दा एक पनि सिद्ध हुँदैन र अनेक पनि सिद्ध हुँदैन। सम्पूर्ण वस्तुहरूको ठीक यस्तै हालत छ। यी कुनै कुरा पनि विचार गरेको वुद्धिका सामु टिक्दैनन् अर्थात् सिद्ध हुँदैनन्। त्यही भएर यिनीहरूलाई असत् भनिएको हो र निःस्वभाव भनिएको हो। जस्तै शान्तरक्षितले पनि माध्यमकालंकारमा भन्नुभएको छ,

निःस्वभावा अमी भावास्तत्वतः स्वपरोदिताः।
एकानेकस्वभावेन वियोगात् प्रतिविम्बवत्॥

"यी सम्पूर्ण भाव (पदार्थ)हरू तत्वतः हेर्ने हो भने निःस्वभाव छन्, 'स्व' या 'पर'को अपेक्षाले गर्दा देखा पर्छन् र 'एक' या 'अनेक' भन्ने कुनै स्वभावले पनि रहित हुनाले प्रतिविम्ब जस्ता मात्र हुन्।"

अतः शरीर, शरीरका अङ्ग, आत्मा, चित्त कुनै कुरा पनि 'अहं'को विषय हुन सक्दैनन्। तैपनि अनादिकालदेखि चलिआएको अविद्याको कारणले गर्दा त्यस्ता आत्मा आदि विषयहरूको सत्ता नहुँदा नहुँदै पनि 'म' या 'अहं' भन्ने बुद्धि प्रवृत्त भइरहन्छ। यो बुझेर कायमा स्मृतिसम्प्रजन्यसहित

भई निःस्वभाव देख्नु नै कायस्मृत्युपस्थान हो। यो कुरा आर्य धर्मसंगीतिसूत्रमा पनि वताइएको छ।

एवं स्वप्नोपमे रूपे को रज्येत विचारकः।
कायश्चैवं यादा नास्ति तदा का स्त्रीः पुमांश्च कः ॥८८॥

यसरी स्वप्न झैं रूप देखी आसक्त हुन्छ को ?
काय नै छैन त भने के स्त्री या पुरुषै भयो ?॥८८॥

अन्ययार्थ : *एवं = यसरी, स्वप्नोपमे = सपना जस्तो, रूपे =रूपमा, कः = को, विचारकः = विचारवान् व्यक्ति, रज्येत = अनुराग गर्ला !, एवं = यसरी, यदा = जब, कायश्च = शरीरै पनि, नास्ति = छैन भने, तदा = त्यसवेला, का स्त्रीः = कुन स्त्री हुन्छ, पुमांश्च कः = पुरुष पनि कुन हुन्छ र !*

सम्पूर्ण कुराहरू वास्तवमा सपनाजस्ता छन्। त्यसैले जुन रूप देखेर राग उत्पन्न गरिन्छ त्यो रूप पनि सपनाजस्तै भएको हुनाले अलिकति विचार गर्नसक्ने व्यक्ति हो भने त्यस्ता रूपहरूको अनुराग किन गर्छ र ? त्यति मात्र होइन, द्वेषमा पनि त्यही कुरा लागू हुन्छ, मोहमा पनि त्यही कुरा लागू हुन्छ। यहाँ त दृष्टान्त मात्र रागको दिइयो। वास्तवमा मनमा सुख-वेदना उत्पन्न गर्ने सौमनस्यस्थानीय वस्तु भए राग हुन्छ, दुःख-वेदना उत्पन्न गर्ने दौर्मनस्यस्थानीय वस्तु भए द्वेष हुन्छ र अदुःखासुखा वेदना उत्पन्न गर्ने उपेक्षास्थानीय वस्तु भए मोह हुन्छ। त्यसकारण विचार गर्न सक्ने, केलाउन सक्ने, विवेक भएको व्यक्तिले यस्ता वस्तुहरूमा कुनै पनि सार नदेख्ने भएकोले साँच्चिकै सपनासमान या मायासमान नै देख्छ। यसरी सम्यक् प्रज्ञाद्वारा उसले यथाभूत देख्ने भएको हुनाले उसले राग पनि गर्दैन, द्वेष पनि गर्दैन, मोह पनि गर्दैन।

त्यस्तै काय पनि वास्तवमा छैन भन्ने सिद्ध भैसकेको बुद्धिका सामु 'पुरुष' या 'स्त्री' भन्ने भेददृष्टि समेत पनि हुँदैन। त्यसकारण त्यहाँ कुन स्त्रीलाई देखेर या पुरुषलाई देखेर त्यो पुरुष या स्त्रीमा राग उत्पन्न हुन्छ त ? त्यस्तै द्वेष या मोह पनि हुने छैन। 'स्त्री' आदि प्रमुख विषयको कुरा मात्र होइन अपितु सामान्य वस्तु अलङ्कार, गहना आदि प्रत्येक वस्तुमा यो लागू हुन्छ।

अब वेदनालाई केलाउने क्रममा (वेदनास्मृत्युपस्थान) आचार्य भन्नुहुन्छ -

यद्यस्ति दुःखं तत्त्वेन प्रहृष्टान् किं न वाधते।
शोकाद्यार्ताय मृष्टादि सुखं चेत् किं न रोचते ॥८९॥

दुःख तात्त्विक हो भन्दा पीडा दिन्न खुशी हुँदा
मीठो कुरा सुख भए रुच्दैन शोकमा हुँदा ॥८९॥

अन्वयाथ : *यदि = यदि, दुःखं = दुःख, तत्त्वेन = तत्त्वतः छ भने, प्रहृष्टान् = प्रसन्न भएकाहरूलाई, किं = किन, न वाधते = पीडा गर्दैन ? मृष्टादि = रसिलो स्वादिलो कुरा, सुखं चेत् = सुख हो भने, शोकाद्यार्ताय = शोक आदिले पीडित भएकाहरूलाई, किं न रोचते = किन रुच्दैन ?*

यदि दुःख तात्विक हो भने खुशी एवं प्रसन्न भएको बेला पनि त्यसले पीडा अनुभव भइरहनुपर्थ्यो। मीठो कुरामा सुख भए शोक परेको बेला त्यो किन मीठो हुँदैन ?

वेदनाहरू तीन प्रकारका हुन्छन् - सुखा वेदना, दुःखा वेदना, अदुःखासुखा वेदना। यी कुनै

पनि परमार्थतः सत् छैनन् । यदि 'दुःख' भन्ने कुरा वास्तविक 'सत्' भएको भए, परमार्थतः सत् भएको भए, सन्तुष्ट या खुशी भएका व्यक्तिहरूलाई किन पीडा हुँदैन त ? त्यस्तै यदि सुख पनि परमार्थतः सत् भएको भए शोक, भय, काम, उन्माद इत्यादिले पीडित भएकाहरूलाई सुखदायी स्वादिष्ट भोजन-पानी आदि किन रुच्दैन ? माला, गहना, चन्दन, आदि पनि किन मन पर्दैन ? त्यसकारण सुख-दुःख आदि वेदनाहरू वस्तुतः सत् स्वभावका गुणधर्म होइनन् र केवल कल्पनाद्वारा आरोपित गरिएका मात्र हुन् ।

बलीयसाभिभूतत्वाद् यदि तन्नानुभूयते ।
वेदनात्वं कथं तस्य यस्य नानुभवात्मता ॥९०॥

बलियो सुखले जित्दा थाहा हुन्न त त्यो भने
वेदना कसरी त्यो भो जो हुन्न अनुभूत नै ॥९०॥

अन्वयार्थ : वलीयसा = अत्यन्त वलियो (सुख)ले, अभिभूतत्त्वात् = जितेको कारणले गर्दा, यदि = यदि, तद् = त्यो (दुःख), नानुभूयते = अनुभव नै हुँदैन भने, तस्य = त्यो दुःखको, कथं = कसरी, वेदनात्वं = वेदना स्वभाव सिद्ध हुन्छ, यस्य = जसको, अनुभवात्मता = अनुभव हुने गुण नै, न = छैन ।

यदि त्यसरी सन्तुष्ट या सुखको अनुभव भएको वेलामा पनि दुःख त हुन्छ परन्तु त्यो सुखको अनुभव अत्यन्त बलियो भएको हुनाले त्यहाँ दुःखको अनुभूति छेकिन पुग्छ र त्यसलाई जितेर सुखकै अनुभवले ढाक्ने भएकोले त्यहाँ भइरहेको दुःखको पनि कुनै अनुभव हुँदैन भन्ने हो भने त्यो पनि उपयुक्त छैन । किनकि वेदना भनेकै अनुभव हो । "वेदनानुभवः" भनेर अभिधर्मकोषमा बताइएको पनि छ । त्यसकारण जब त्यो दुःको त्यहाँ अनुभव नै हुँदैन भने कसरी त्यसलाई 'वेदना' भन्न मिल्छ ? अनुभव नभएर पनि वेदना हुने हो भने त सम्पूर्ण कुरा वेदना हुन पुग्छन् । त्यसैले त्यहाँ दुःखा वेदना छ भनेर कुन लक्षणका आधारमा भन्ने ?

हैन, अलिकति पनि अनुभव हुँदैन भन्न खोजेको होइन, सूक्ष्मरूपमा त अनुभव भएकै हुन्छ भन्ने हो भने पनि मिल्दैन किनकि,

अस्ति सूक्ष्मतया दुःखं स्थौल्यं तस्य हृतं ननु ।
तुष्टिमात्रापरा चेत् स्यात्तस्मात् साप्यस्य सूक्ष्मता ॥९१॥

सूक्ष्मतया दुःख भए स्थूलता मात्र नश भो
अर्को तुष्टिमात्र भए त्यो यस्कै सूक्ष्मता भयो ॥९१॥

अन्वयार्थ : दुःखं = दुःख, सूक्ष्मतया = सूक्ष्म रूपमा, अस्ति = छ भने, तस्य = त्यसको, स्थौल्यं = स्थूलरूप मात्र, हृतं = हरण भएछ, ननु = यही होइन ? अपरा = अर्को (त्यहाँ वाँकी भएको) चाहिं, तुष्टिमात्रा = केही मात्र सन्तुष्टि, स्यात् चेत् = यदि हो भन्छौ भने, तस्मात् = त्यसवाट त, सा अपि = त्यो वाँकी पनि, अस्य = यही सुखको नै, सूक्ष्मता = सूक्ष्मस्वरूप भयो (दुःखको त भएन !

यदि सूक्ष्मरूपमा त्यहाँ दुःखको अनभव हुन्छ भने दुःखको स्थूल रूप मात्र त्यो सुखले नाश गरेछ भन्नुपऱ्यो । त्यसो हो भने कसरी उक्त सूक्ष्मरूपको दुःखको अस्तित्व सिद्ध हुन्छ ? अनुभवमा

त त्यो आउँदैन। वस्तुवादीहरूको भनाइ होला कि त्यहाँ अलिकति मात्र सुखवेदना अर्थात् 'तुष्टिमात्र'को अनुभूति भइरहेकै हुन्छ त्यही नै दुःखको सूक्ष्मता हो। परन्तु त्यो झन् मिलेन किनकि त्यो त त्यही सुखको सूक्ष्म स्वरूपमात्र हो, न कि दुःखको। 'तुष्टिमात्रता' सुख स्वभावको वेदना हो, न कि दुःख स्वभावको। अतः सुखको अनुभव हुने वेलामा वास्तवमा दुःखको अनुभव नै हुँदैन र त्यसवेला सूक्ष्म दुःखको अनुभव हुन्छ भन्ने कुरा समेत सिद्ध हुँदैन भन्ने निश्चित हुन्छ।

माध्यमिकले दुःख कादाचित्क (कहिले हुने, कहिले नहुने) मान्छन् र त्यो कादाचित्कत्व पनि कल्पनाबाट मात्र भएको हो वास्तविक होइन भन्छन्, परन्तु त्यो त कारण सामग्री हुनु या नहुनुमा पो भर पर्नुपर्ने भनेर वस्तुवादीले आरोप लगाउने भएकाले आचार्य अगाडि भन्नुहुन्छ -

> विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ दुःखस्यानुदयो यदि।
> कल्पनाभिनिवेशो हि वेदनेत्यागतं ननु ॥९२॥

विरोधी प्रत्यय हुँदा दुःखोदय नहुने भए
कल्पनाबाट नै हुन्छ वेदना यही सिद्ध भो ॥९२॥

अन्वयार्थ : *यदि = यदि, विरुद्धप्रत्योत्पत्तौ = विरोधी प्रत्यय (उल्टो परिस्थिति) उत्पन्न भएमा, दुःखस्य = दुःखको, अनुदयः = उदय हुँदैन भने, वेदना = वेदना, कल्पनाभिनिवेशः = कल्पनाको ग्राहले भएको हो भन्ने, इति = यस्तो, ननु आगतम् = आइहाल्यो।*

यदि दुःखको विरोधी धर्म अर्थात् सुखको हेतु प्रत्यय उपस्थित हुँदाखेरि दुःख उत्पन्न हुँदैन भन्ने हो भने त कल्पनाद्वारा नै दुःख आदि वेदनाहरू भएका रहेछन् भन्ने कुरा आइहाल्यो जुन हामीले भन्न खोजेकै कुरा हो। त्यसकारण वास्तवमा सुख या दुःख भन्ने खालका वेदनाहरूका तात्त्विक हेतु या प्रत्यय पनि छैनन्। ती त केवल संस्कारबाट आएका कल्पनाका ग्राह अर्थात् अभिनिवेश मात्र हुन्। उदाहरणको लागि वेदनाको प्रत्यय भनेको स्पर्श हो किनकि भगवान्ले *"स्पर्शप्रत्यया वेदना"* भनेर बताउनुभएको छ। यहाँ स्पर्शको दुःखमय या सुखमय भन्ने कुनै पनि स्वभावसत्ता छैन। त्यसैले स्पर्श न वास्तविक हो न त्यसको सुख या दुःख उत्पन्न गर्ने कुनै स्वभाव छ। तैपनि हाम्रो संस्कारमा जुन सुख दिने भनेर कल्पित छ त्यो उत्पन्न हुँदा सुखा वेदना आउँछ जुन दुःख दिने भनेर कल्पित छ त्यो उत्पन्न हुँदा दुःखा वेदना आउँछ। त्यसो हुनाले यो वेदना स्वयं पनि केवल कल्पनाजनित हो र यसको सुख दुःख आदि कुनै पनि स्वभाव छैन। त्यही भएर नै कसैलाई कुनै कुरा सुखदायी महसूस हुन्छ भने त्यही कुरा अर्कोलाई दुःखदायी पनि भएको देखिन्छ। वस्तुवादीहरूको सोचाइजस्तो सुख र दुःख भनेका वेदनाको स्वभाव नै भएको भए त जहिले पनि जसलाई पनि एउटा कुराले उस्तै वेदना मात्र उत्पन्न गर्नुपर्थ्यो। त्यही भएर यस्तो बताइएको हो -

> अहिर्मयूरस्य सुखाय जायते विषं विषाभ्यासवतो रसायनम्।
> भवन्ति चानन्दविशेषहेतवो मुखं तुदन्तः करभस्य कण्टकाः ॥

अर्थात् सर्प मयूरका निमित्त सुखदायी बन्छ, विष खाने अभ्यास भैसकेकाहरूलाई विष र सायनजस्तो हुन्छ, उँटका निमित्त मुखलाई घोचेर पीडा दिने खालका काँडाहरू पनि एक प्रकारको

आनन्द उत्पन्न गर्ने हेतु बन्छन् ।

अत एव विचारो ऽयं प्रतिपक्षो ऽस्य भाव्यते ।
विकल्पक्षेत्रसम्भूतध्यानाहारा हि योगिनः ॥९३॥

त्यसैले यो विचारै हो भावना प्रतिपक्षको
विकल्प-खेतको ध्यान हुन्छ आहार योगिको ॥९३॥

अन्वयार्थ : अत एव = त्यसकारणले नै, अस्य = यसको, प्रतिपक्षः = प्रतिपक्ष. स्वरूप अयं = यो, विचारः = विचार नै, भाव्यते = भावना गरिन्छ, हि = किनकि, योगिनः = योगीहरू, विकल्पक्षेत्र-सम्भूतध्यानाहारा = विकल्परूपी खेतवाट पैदा भएको ध्यानरूपी भोजनको आहार गर्ने हुन्छन् ॥

त्यसकारण त्यो वेदना भनेको कल्पनाजनित भएको हुनाले नै त्यसको प्रतिपक्ष पनि विचार नै हुन जान्छ । त्यही भएर योगीहरूले पनि विकल्प (कल्पना)बाट बनेको सुख, प्रीतिजस्ता आहार लिएर सन्तुष्ट हुने गर्छन् । विकल्परूपी खेतबाट उत्पन्न भएको ध्यानका अङ्गरूपी भोजन पाएपछि उनीहरूलाई केही आवश्यकता पर्दैन । शरीरयात्रा समेत चल्न सक्छ । प्रथम ध्यान उत्पन्न हुँदा पनि मनमा पाप आदि केही नभएर कुशल चित्तसन्तान प्रवाहित भएको हुन्छ र वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता स्पष्ट भएको हुन्छ । त्यसैले चित्तमा आनन्द र सुख अनुभव भइरहन्छ । अझ क्रमशः द्वितीय, तृतीय, हुँदै चतुर्थ ध्यानमा पुगेपछि त चित्त यति निर्मल र स्पष्ट एवं सूक्ष्म हुन्छ कि यसको गति समेत रोकिन्छ जसले गर्दा श्वास-प्रश्वास पनि बन्द हुन्छ । यसरी झन् उत्तम तरीकाले शरीरको धारण हुन्छ । यस्तो ध्यानको अवस्था उत्पन्न गराउने पनि कल्पना (विकल्प)ले नै हो । त्यसैले विकल्परूपी खेतबाट यो सुख हुन्छ भनिएको हो । यसबाट पनि स्पष्ट हुन्छ कि वेदना भनेको कल्पनाजनित अर्थात् ग्राह या अभिनिवेश मात्र हो । त्यसको कुनै पनि पारमार्थिक सत्ता हुँदैन ।

सान्तराविन्द्रियार्थौ चेत् संसर्गः कुत एतयोः ।
निरन्तरत्वे ऽप्येकत्वं कस्य केनास्तु संगतिः ॥९४॥

वस्तु इन्द्रिय विचमा खाली भा' स्पर्श के भयो ?
खाली नभा' एक भयो कस्को केसँग स्पर्श भो ? ॥९४॥

अन्वयार्थ : चेत् = यदि, इन्द्रियार्थौं = इन्द्रिय र अर्थ (विपय), सान्तरौ = अन्तर सहितका (विचमा खालि भएको अवस्थामा) छन् भने, एतयोः = यी दुईको,, संसर्गः = स्पर्श (सम्पर्क) कुतः = कहाँ हुन्छ ? निरन्तरत्वे अपि = विचमा अन्तर (खाली) छैन भने पनि, एकत्वं = एउटै हुन पुग्छ, (तव) कस्य = कसको, केन = कोसँग, संगतिः = संपर्क, अस्तु = होला ?

त्यतिमात्र होइन वेदनाको हेतु भनेर मानिएको स्पर्शको पनि वास्तविक सत्ता छैन । ६ इन्द्रिय, ६ अर्थ र ६ विज्ञान यिनीहरूको सन्निपात नै 'स्पर्श' हो भनिन्छ अर्थात् त्रिकसन्निपातलाई स्पर्श भनेर बताइन्छ । अभिधर्मकोषमा पनि बताइएको छ, *"स्पर्शाः षट् सन्निपातजाः"* । परन्तु वास्तवमा हेर्ने हो भने त्यस्तो सन्निपात नै उपलब्ध हुँदैन, वेदना उत्पन्न हुने कुरा परै जाओस् । त्यसको निरूपण गर्न युक्ति दिँदै आचार्य भन्नु हुन्छ कि ती इन्द्रिय र तिनका विषयहरूको विचमा अन्तराल छ कि छैन ? यदि तिनीहरूको विचमा अन्तराल छ भने त्यहाँ कसरी स्पर्श हुन्छ ? स्पर्शमा

त अन्तराल नभएर सम्पर्क हुनुपर्छ यदि त्यहाँ अन्तरै छैन अर्थात् निरन्तर छन् भने फेरि एउटै वस्तु जस्तो हुने भयो तब कसरी स्पर्श हुन्छ ?

वस्तुवादीले भन्छन् कि जसलाई टुक्र्याउन सकिँदैन त्यस्ता अखण्ड परमाणुहरूको बिचमा मात्रै स्पर्श हुन सक्छ किनकि उनीहरूको मतमा परमाणु अर्थात् 'कलाप'लाई टुक्र्याउन सकिँदैन भन्ने मानिन्छ। त्यसैले स्थूल रूपको बिचमा स्पर्श हुँदैन भन्दा हामीलाई केही दोष लाग्दैन भन्छन्। परन्तु त्यो युक्तिसंगत छैन। किनकि परमाणुको स्पर्श नै असिद्ध छ।

नाणोरणौ प्रवेशो ऽस्ति निराकाशः समश्च सः ।
अप्रवेशे न मिश्रत्वममिश्रत्वे न संगतिः ॥९५॥

अणुमा अणु पस्दैन ठाउँ छैन, समान छ
नपसे मिसिने हुन्न नमिसे स्पर्श हुन्न त ॥९५॥

अन्वयार्थ : अणोः = अणुको, अणौ = अणुमा, प्रवेशः = प्रवेश, न अस्ति = हुँदैन, सः = त्यो, निराकाशः = खाली नभएको र, समश्च = सम्म परेको (उवड खावड नभएको) छ, अप्रवेशे = नपसेमा, मिश्रत्वं न = मिसिएको हुन्न, अमिश्रत्वे = न मिसिएमा, न संगतिः = संगति अर्थात् स्पर्श हुँदैन ।

एउटा अणु अर्को अणुभित्र पस्न त सक्दैन। फेरि त्यो अणुभित्र त्यस्तै अर्को अणु पूरै अटाउने खालि ठाउँ अर्थात् आकाश पनि छैन र त्यो बाङ्गो टिङ्गो सतह भएर सबैतिरबाट छोइन सक्ने खालको नभएर चिल्लो मिलेको छ भन्ने मानिन्छ। अतः एउटा अणु अर्कोमा पसेन भने मिसिन सक्दैन। मिसिन सकेन भने स्पर्श पनि हुँदैन। वस्तुवादीले भन्छन् कि पुरै परमाणु नपसे पनि केवल संपर्कमात्र भए त स्पर्श भैहाल्यो नि। किन पूरै पस्नुपर्‍यो ? हामी माध्यमिक भन्छौं कि त्यसो हो भने परमाणु निरंश अर्थात् अङ्ग (भाग) भएको वस्तु होइन भन्ने तिमीहरूको प्रतिज्ञा विग्रिन्छ। त्यसकारण यदि परमाणुको सम्पर्क पूरै भागमा नभएर एक भागमा मात्र भयो भने त्यसलाई अखण्ड, निरवयव, निरंश आदि मान्न मिल्दैन। त्यस्तो मान्ने हो भने पूरै नमिसिएमा स्पर्श हुन सक्दैन। वस्तुवादीहरू प्रश्न गर्छन् कि अंश (खण्ड) नहुँदैमा सबै भागले छोइनै पर्छ भन्ने के छ र ? माध्यमिकको तर्फबाट आचार्य भन्नुहुन्छ -

निरंशस्य च संसर्गः कथं नामोपपद्यते ?
संसर्गो च निरंशत्वं यदि दृष्टं निदर्शय ॥९६॥

अंशै न भैकन कहाँ संसर्ग हुन्छ सिद्ध रे ?
कहाँ संसर्गमा अंश छैन देखाउ, देखिए ॥९६॥

अन्वयार्थ : निरंशस्य = अंश (भाग) नै नभएकाको, संसर्गो नाम = संसर्ग भन्ने कुरा, कथं = कसरी, उपपद्यते = सिद्ध हुन्छ : संसर्गे च = संसर्ग भएकोमा, यदि = यदि, निरंशत्वं = अंशै न भएको कुरा, दृष्टं = देखिएको छ भने, निदर्शय = देखाऊ ।

जुन पदार्थको कुनै अंश या भाग नै हुँदैन त्यसको संसर्ग या स्पर्श कसरी हुन सक्छ ? यो त कत्ति पनि मिल्ने कुरा भएन। चाहे जति सुकै सानो पदार्थ भए पनि अर्कोसँग छोइँदाखेरि केही अंशमा मात्र छोइन्छ। त्यसकारण अंश नभएकाको स्पर्श हुने कुरा कतै पनि देखिँदैन र सिद्ध हुँदैन।

फेरि जुन वस्तु अर्कोसँग सम्पर्कमा हुन्छ त्यो आफ्नो पूरै भागमा स्पर्श भएको र त्यसको अंश भन्ने कुरै नभएको केही कतै देखिएको छ भने अवश्य हामीलाई देखाऊ। त्यस्तो दृष्टान्त कतै भेट्न सक्छौ भने हेरौं।

विज्ञानस्य त्वमूर्तस्य संसर्गो नैव युज्यते।
समूहस्याप्यवस्तुत्वाद् यथापूर्वं विचारितम् ॥९७॥

अमूर्त विज्ञानसँग सँसर्गै हुन्न सम्भव
समूह वस्तु नहुँदा हुन्न भन्ने विचारियो ॥९७॥

अन्वयार्थ : अमूर्तस्य = अमूर्त, विज्ञानस्य तु = विज्ञानको त, संसर्गः = सम्पर्क, नैव युज्यते = उपयुक्त छैन, समूहस्य अपि = समूहको पनि, अवस्तुत्वात् = वस्तुभाव नुहने भएकोले, (सम्पर्क युक्त छैन), यथा = जस्तो कि, पूर्वं = पहिले नै, विचारितम् = विचार गरिसकियो।

फेरि विज्ञान अर्थात् रूप आदि थाहा पाउने ज्ञानको संसर्ग हुनु झन युक्तिसंगत हुँदैन किनकि यो त अमूर्त छ। जो अमूर्त हुन्छ त्यसको रूप, रंग, आकार केही हुँदैन। त्यससँग कसरी परस्पर सम्पर्क हुनु सम्भव छ ? त्यसकारण अंश नभएको परमाणु पनि विज्ञान जस्तै अमूर्त हुने भएकोले सम्पर्क हुनु सम्भव छैन।

वस्तुवादीले भन्छन् कि एउटा परमाणु अर्थात् द्रव्यपरमाणुको सम्पर्क सम्भव नभए पनि परमाणुको सङ्घात अर्थात् 'अष्टकलाप'को परस्परमा सम्पर्क त हुन सक्छ नि ?

माध्यमिक भन्छन् कि समूह भन्ने कुरा त झन् अवस्तु हो अर्थात् केवल कल्पना गरिएको मात्र हो। समूहको सत्ता त कहीं पनि छैन भनेर त्यसलाई खरायोको सिङ् (शशविषाण) या वन्ध्यापुत्रजस्तो उपमा दिइएको छ। ती युक्तिहरूबाट *'एवमङ्गुलिपुञ्जत्वात्"* (९.८६)को व्याख्या गर्दा समूहको अस्तित्व छैन भन्ने पहिले नै देखाइसकिएको छ। त्यसकारण यो पहिले नै विचार गरिएको कुरा हो।

अब उपसंहार गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ–

तदेवं स्पर्शनाभावे वेदनासम्भवः कुतः ?
किमर्थमयमायासः बाधा कस्य कुतो भवेत् ? ॥९७॥

यसरी स्पर्श नहुँदा वेदना हुन्छ के गरी ?
यो प्रयत्न फेरि किन ? पीडा कस्लाई केदेखि ?॥९४॥

अन्वयार्थ : तत् = त्यसकारणले, एवं = यसरी वताइए अनुसार, स्पर्शनाभावे = स्पर्शको अभावमा, वेदनासम्भवः = वेदनाको उत्पत्ति, कुतः = कहां वाट हुन्छ ? अयम् = यो, आयासः = प्रयत्न, किमर्थम् = केका निमित्त गर्ने ? कस्य = कसलाई, कुतः = कहावाट, वाधा भवेत् = पीडा हुन्छ र ?

अतः यस्ता प्रकारले केलाउने हो भने वेदनाको हेतु स्पर्श नै साँच्चिकै भेटिंदैन र असिद्ध हुन्छ। जब यस्तो त्रिकसन्निपात (विषय, इन्द्रिय र विज्ञानको सम्पर्क) नै सिद्ध छैन भने त्यसको कारणले उत्पन्न हुने वेदना कसरी आउँछ ? अर्थात् वेदना पनि आउन सक्दैन। कारण नभए कार्य पनि

हुँदैन। अतः वेदनाको पारमार्थिक अस्तित्व नै छैन। त्यसैले सुखदायी या दुःखदायी भन्ने विषय केही पनि हुँदैन। त्यो केवल कल्पनाजनित हो।

त्यही भएर यस्तो काल्पनिक दुःख हटाउन भनेर जति पनि प्रयत्न गरिन्छ वास्तवमा त्यो प्रयत्नको केही प्रयोजन छ त ? त्यो आकाशलाई चबाउनुजस्तै व्यर्थै हुनजान्छ। बेमतलवको प्रयास किन गर्नुपर्‍यो ?

यदि दुःखको बदला सुख पाउन कुनै प्रयास नगरे पनि दुःखलाई हटाउन त प्रयास गर्नै पर्‍यो नि, भन्ने हो भने पनि कुरा मिल्दैन किनकि जब वेदना नै निःस्वभाव छ भन्ने देखिसकियो भने त्यो वेदनाको अस्तित्व त वास्तवमा रहेन छ भन्ने बोध भैसक्यो। त्यस्तै त्यो वेदनालाई जान्ने वेदक पनि वास्तवमा छैन भन्ने कुरा 'आत्मा छैन' भन्ने सिद्ध गरिसकेको हुनाले स्पष्टै छ। आखिर त्यही आत्मा नै त्यो बेदनालाई जान्ने ज्ञाता हो। अतः त्यस्तो ज्ञाता (वेदक) पनि छैन र वेदना पनि छैन भन्ने बुझेपछि कसले पीडा दिन्छ ? त्यसैले दुःख भन्ने कुरा वास्तवमा छँदैछैन।

वेदना मात्र होइन वेदनालाई आश्रय बनाएर उत्पन्न हुने तृष्णा पनि छैन भन्ने देखाउन आचार्य भन्नुहुन्छ –

यदा न वेदकः कश्चिद् वेदना च न विद्यते।
तदावस्थामिमां दृष्ट्वा तृष्णे किं न विदीर्यसे ? ॥९९॥

जव कोही वेदक र वेदना छैन पो भने
तव यो स्थिति देखेर हे तृष्णा, टुटिनस् र के ? ॥९९॥

अन्वयार्थ : यदा = जव, कश्चिद् = कुनै, वेदकः = वेदना थाहा पाउने वाला, न = छैन र, वेदना च = वेदना पनि, न विद्यते = छैन भने, तदा = तव, इमां = यो, अवस्थां = अवस्थालाई, दृष्ट्वा = देखेर, तृष्णे = हे तृष्णा, किं = के, न विदीर्यसे = टुट्दैनस् ?

वेदना थाहा पाउनेवालालाई वेदक भनिन्छ जुन त्यही आत्मा नै हो। यदि त्यो आत्मा अर्थात् वेदक नै छैन र वेदना पनि छैन भने त्यस अवस्थामा तृष्णा आउने कुरा पनि भएन। त्यसकारण आचार्य भन्नुहुन्छ कि 'त्यो अवस्था देखेर, हे तृष्णा, तँ के नष्ट हुँदैनस् ?' भन्न खोजेको के हो भने तृष्णा पनि स्वतः शान्त हुन पुग्छ किनकि त्यसको हेतु नै त्यहाँ बाँकी रहँदैन।

प्रश्न उठ्छ, यदि वेदना पनि छैन र वेदक पनि छैन भने लोकमा सुख पाउने साधनहरू जुटाउने व्यवहार कसरी देखिन्छ त ? 'मैले देखें, मैले सुने' भन्ने जस्ता व्यवहार कसरी हुन्छन् त ? त्यसको उत्तर दिंदै आचार्य भन्नुहुन्छ–

दृश्यन्ते स्पृश्यते चापि स्वप्नमायोपमात्मना।
चित्तेन सहजातत्वाद् वेदना तेन नेक्ष्यते ॥१००॥

देखिन्छ, छोइन्छ सवै स्वप्न-माया समान भै
चित्तसँगै निस्किनाले त्यस्ले देख्दैन वेदना ॥१००॥

अन्वयार्थ : स्वप्नमायोपमात्मना = सपना र माया समान भएर, दृश्यते = देखिन्छ र, स्पृश्यते चापि = स्पर्श गरिने (छोइने) पनि हुन्छ, चित्तेन = चित्तसँग, सहजातत्वाद् = सँगै उत्पन्न हुने भएको हुनाले, तेन = त्यो चित्तद्वारा, वेदना = वेदना, न ईक्ष्यते

= देखिदैन ।

हो, देखिने सुनिने स्पर्श हुने यी सबै कार्य भएकै हुन्छन् । यसमा केही विवाद छैन परन्तु यो देखिने, सुनिने जुन ज्ञान अर्थात् वेदनाको अनुभव छ त्यो त वास्तविक र साँच्चिकै भएको या परमार्थसत् होइन किनकि त्यो प्रतीत्यसमुत्पन्न भएकोले मायासमानको, सपनासमानको हो, वास्तविक होइन । त्यो वेदना र चित्त पनि सँगै र उनै कारणसामग्री (प्रत्ययहरू) बाट उत्पन्न हुने भएकोले चित्तले वेदनालाई वास्तवमा जानेको हुँदैन । त्यसैले वेदना र चित्तमा परस्पर वेद्य-वेदकभाव (जानिने र जान्ने स्वभाव) हुँदैन । त्यस्तै दृष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय आदिबाट दर्शन, ज्ञान हुनु पनि परमार्थतः सम्भव हुँदैन । त्यही भएर प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्रमा भनिएको छ कि *"न रूपं न वेदना न संज्ञा न संस्कारा न विज्ञानं......"* अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि वास्तवमा केही पनि छैनन् । त्यस्तै चतुःस्तवमा नागार्जुनले भन्नु भएको छ, *"न बोद्धा न च बोद्धव्यमस्तीह परमार्थतः"* अर्थात् परमार्थतः बोद्धा (जान्नेवाला) र बोद्धव्यं (जानिने कुरा) केही पनि छैनन् । त्यो हिसावले पनि बोधन अर्थात् वेदना भन्ने कुरा छैन ।

वस्तुवादीले भन्छन् कि जो सहजात अर्थात् सँगै उत्पन्न भएका हुन्छन् तिनीहरूमा वेद्यवेदकभाव नहोला भन्ने मानौं रे । तैपनि ग्राह्यस्वरूपको ज्ञान उत्पन्न भएपछि ग्राहक स्वरूपको ज्ञान उत्पन्न हुन त सक्छ जसले गर्दा ग्राह्य-ग्राहक भावको अस्तित्व सम्भव हुन जान्छ । यसको जवाफ दिनको लागि आचार्य भन्नुहुन्छ-

> पूर्वं पश्चाच्च जातेन स्मर्यते नानुभूयते ।
> स्वात्मानं नानुभवति न चान्येनानुभूयते ॥१०१॥

पहिलोलाई पछिको ज्ञानले गर्छ सम्झिने
गर्दैन अनुभूति त त्यस्तै आफूस्वयं पनि ॥
गरिन्न अनुभूति र गर्दैन अरुले पनि ॥१०१॥

अन्वयार्थ : पूर्वं = पहिलोलाई, पश्चाज्जातेन = पछि उत्पन्न भएकाले, स्मर्यते = सम्झिने काम मात्र गरिन्छ, न अनुभूयते = अनुभव गरिन्न, स्वात्मानं = आफैलाई पनि, न अनुभवति = अनुभव गर्दैन, अन्येन च = अर्कोले पनि, न अनुभूयते = अनुभव गरिन्न ।

पहिले उत्पन्न भएको ज्ञानलाई पछाडि उत्पन्न हुने ज्ञानले केवल सम्झना मात्र गर्न सक्छ साक्षात् अनुभव गर्न सक्दैन किनभने पछिको ज्ञान उत्पन्न हुँदा पहिलो ज्ञान निरुद्ध भैसकेको हुन्छ । त्यो त्यहाँ नहुने भएकोले त्यसको स्वरूप अनुभव हुन सम्भव हुँदैन ।

त्यस्तै ज्ञानले आफ्नो स्वरूपको अनुभव पनि गर्न सक्दैन किनकि स्वसंवेदन भन्ने कुरा असिद्ध छ भनेर पहिले नै बताइसकिएको छ (१७-२५ श्लोक) । फेरि त्यसवेलाका अन्य ज्ञानहरूद्वारा अर्के ज्ञानको अनुभव हुन पनि सम्भव छैन किनकि त्यस्ता अलग अलग ज्ञानमा झन् कुनै प्रकारको सम्वन्ध नै हुँदैन, हेतु-प्रत्यय आदि सबै वेग्लावेग्लै हुन्छन् । त्यसैले उपसंहारमा आचार्य भन्नुहुन्छ-

> न चास्ति वेदकः कश्चिद् वेदनातो न तत्वतः ।
> निरात्मके कलापे ऽस्मिन् क एवं बाध्यते ऽनया ॥१०२॥

न वेदक छ रे कोही त्यसैले पनि वेदना
यो अनात्म कलापैले दिन्छ कस्लाई पीडन ॥१०२॥

अन्वयार्थ : कश्चिद् = कोही, वेदकश्च = वेदक (अनुभव गर्नेवाला) पनि, न अस्ति = छैन, अतः = त्यसकारण, परमार्थतः = परमार्थरूपमा, वेदना = वेदना पनि, न = छैन, अस्मिन् = यो निरात्मके = अनात्मस्वभावको, कलापे = कलाप अर्थात् परमाणुसमूहमा, एवं = यसरी, अनया = यो वेदनाले, कः = को, वाध्यते = पीडित हुन्छ र ?

अतः त्यो वेदना अनुभव गर्ने कोही वेदक पनि वास्तवमा यहाँ छैन, चाहे त्यो चित्त होस् चाहे अर्कै कुनै आत्मा आदि होस् । त्यसो हुनाले वेदना पनि परमार्थतः छैन, शून्यस्वभावकै छ किनकि त्यसको स्वरूपलाई प्रतिपादन गर्ने केही पनि वास्तविक कुरा छैन । त्यो केवल अभिनिवेश अर्थात् कल्पनाद्वारा पकड गरिएको (ग्राह) मात्र हो । त्यसैले आर्य अक्षयमतिनिर्देश सूत्रमा भनिएको छ, *"अपि तु खलु पुनरभिनिवेशो वेदना, परिग्रहो वेदना, उपादानं वेदना, उपलम्भो वेदना, विपर्यासो वेदना, विकल्पो वेदना"* इत्यादि । अर्थात् अभिनेश हुनु वेदना हो, संग्रह गर्नु वेदना हो, पकड गर्नु वेदना हो, प्राप्त हुनु वेदना हो, उल्टो देख्नु वेदना हो, विकल्प वेदना हो इत्यादि । त्यस्तै धर्मसंगीति सूत्रमा पनि भनिएको छ,

> वेदनानुभवः प्रोक्ता केनासावनुभूयते ।
> वेदको वेदनावेद्यः पृथग्भूतो न विद्यते ॥
> एवं स्मृतिरुपस्थेया वेदनायां विचक्षणैः ।
> यथा बोधिस्तथा ह्येषा शान्ता शुद्धा प्रभास्वरा ॥

"वेदना अनुभवलाई भनिएको छ, परन्तु यसलाई कसद्वारा अनुभव गरिन्छ ? वेदनाबाट जानिने अलग वेदक भन्ने कुरा त कहीँ छैन । यसरी बुद्धिमान्हरूले वेदनामा स्मृतिलाई उपस्थापन गरिराख्नुपर्छ । 'बोधि' जस्तो छ यो वेदना पनि त्यस्तै शान्त, शुद्ध र प्रभास्वर (स्पष्ट) छ ।"

अतः वेदक र वेदना दुवैको स्वभावले शून्य प्रतीत्यसमुत्पादमात्र व्यापार, स्वामी या अधिपति आदिले रहित भएर मायाबाट निर्मित भएको प्रपञ्चजस्तै गरी यो कलेवरको रूपमा भासित भइरहन्छ । त्यसो हुनाले कसैलाई पनि दुःख या सुख भन्ने कुरा भएको छैन । त्यही कुरा आचार्यले भन्नुहुन्छ कि आत्मस्वभाव नै नभएको यो कलापसमूह अथवा पञ्चस्कन्धहरूको जस्तो लाग्ने यो मायासमानको प्रतीत्यसमुत्पादमा कसले कसलाई पीडा हुन्छ र ? अर्थात् त्यस्तो स्वभावशून्य वेदनाले स्वभावशून्य कलापमा कसरी पीडा हुन्छ ?

अतः यो सुख आदिको साधनमा ग्राह हुनु केवल कल्पना मात्र हो । यसरी वेदनास्मृत्युपस्थान गर्नुपर्छ भनेर अब आचार्यले चित्तस्मृत्युपस्थानको विषयमा बताउन थाल्नुहुन्छ–

> नेन्द्रियेषु न रूपादौ नान्तराले मनः स्थितम् ।
> नाप्यन्तर्न बहिश्चित्तमन्यत्रापि न लभ्यते ॥१०३॥

इन्द्रिय, रूप आदि र विचमा मन छैन र
भित्र या बाहिर·कतै अन्यत्रै पनि छैन त ॥१०३॥

अन्वयार्थ : मनः = मन, इन्द्रियेषु न = इन्द्रियहरूमा पनि छैन, रूपादौ न = रूप आदिमा पनि छैन, अन्तराले = तिनीहरूको

विचमा पनि, न स्थितम् = रहेको छैन, चित्तम् = त्यो चित्त, अन्तरपि न = भित्र पनि छैन, वहिर्न = वाहिर पनि छैन, अन्यत्रापि = अरु ठाउँमा या अन्तै पनि, न लभ्यते = पाइँदैन ।

यो मन अर्थात् चित्त कहाँ छ ? यो इन्द्रियहरूमा पनि छैन । चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा र काय यी पाँच इन्द्रियहरूमा त यो छैन भने छैठौं इन्द्रिय स्वयं यही मन हो परन्तु केलाउँदा यो इन्द्रियको समूहमा कतै पनि भेटिन्न । त्यस्तै यी इन्द्रियका विषयहरू रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य र धर्ममा पनि यो छैन । त्यस्तै ती इन्द्रिय र यी विषयहरूको विचको अन्तरालमा पनि यो चित्त (अथवा मन या विज्ञान) अवस्थित छैन । फेरि यो मन भित्र पनि छैन र बाहिर पनि छैन । न यो शरीरमा छ, न शरीरका अङ्गहरूमा छ । यी माथि बताइएका ठाउँभन्दा अन्यत्र पनि यो छैन । त्यसैले विचार गर्ने हो भने यो कहीं पनि भेटिँदैन ।

यन्न काये न चान्यत्र न मिश्रं न पृथक् पृथक् ।
तन्न किञ्चिदतः सत्वाः प्रकृत्या परिनिर्वृताः ॥१०४॥

जो कायमा या अन्यत्र, वेग्लै या मिश्र छैन त्यो
केंही होइन, प्राणी छन् स्वभावैले त निर्वृत ॥१०४॥

__अन्वयार्थ :__ यद् = जुन, काये = शरीरमा, न = छैन, अन्यत्र च = अन्यत्र पनि, न = छैन, मिश्रं न = दुवैमा मिश्रण भएको अवस्थामा पनि छैन, पृथक् पृथक् न = अलग अलग अवस्थामा पनि छैन, तद् = त्यो, न किञ्चिद् = केंही पनि होइन । अत: = त्यसकारणले, सत्त्वा: = प्राणीहरू, प्रकृत्या = स्वभावले नै, परिनिर्वृता: = निर्वाणको अवस्थामा छन् ।

जुन कुरा (अर्थात् त्यो चित्त) शरीरमा पनि छैन र शरीरभन्दा बाहिर पनि छैन, शरीर र बाहिर दुवै स्थानमा मिसिएर रहेको पनि छैन, दुवै स्थानमा अलग अलगरूपमा रहेको पनि छैन त्यस्तो कुरा (चित्त) वास्तवमा कहीँ पनि हुँदैन र त्यसको वास्तविक सत्ता नै हुँदैन । त्यसकारण त्यो चित्त केवल काल्पनिक संस्कारको माध्यमबाट मात्र देखापरेको हो र त्यो यथार्थतः कहीँ पनि छैन । त्यसो हुनाले यी प्राणीहरू वास्तवमा पहिलेदेखि नै शान्त र निर्वाणका अवस्थामा हुन्छन् । यो साक्षात्कार भएको हुनाले बुद्धलाई 'आदिशान्त' भनिन्छ किनकि उहाँलाई बोध भैसकेको छ कि आफू आदिदेखि नै शान्त अवस्थामा अर्थात् निष्प्रपञ्च अवस्थामै रहिएको छ । यथार्थबोध गर्ने हो भने सवै सत्वहरू स्वभावले नै निर्वाणको स्थितिमा हुन्छन् । अहिलेको यो प्रपञ्चयुक्त चित्त त मिथ्या कल्पनाको अभ्यासबाट आरोपित भएको मात्र हो ।

अब यी चक्षु आदि पाँच इन्द्रिय-विज्ञानको निषेध गर्नको लागि आचार्य भन्नुहुन्छ-

ज्ञेयात् पूर्वं यदि ज्ञानं किमालम्ब्यास्य सम्भवः ।
ज्ञेयेन सह चेज्ज्ञानं किमालम्ब्यास्य सम्भवः ॥१०५॥

ज्ञेयको पहिले ज्ञान भए के पक्डिएर भो ?
ज्ञेयसँगै ज्ञान भए के समातेर त्यो भयो ? ॥१०५॥

__अन्वयार्थ :__ यदि = यदि, ज्ञेयात् पूर्वं = ज्ञेयभन्दा पहिले, ज्ञानं = ज्ञान छ भने, किम् आलम्ब्य = केलाई आलम्वन गरेर, अस्य = यसको, सम्भव: = उत्पत्ति हुन्छ ? चेद् = यदि, ज्ञेयेन सह = ज्ञेयसँगै, ज्ञानं = ज्ञान हुन्छ भने, किम् आलम्ब्य = केलाई आलम्वन गराएर, अस्य = यसको, सम्भव: = उत्पत्ति हुन्छ ?

विचार गर्दा चक्षु इद्रिय, श्रोत्र इन्द्रिय आदि छ इन्द्रिय-विज्ञान (प्रवृत्तिविज्ञान पनि भन्छन्) उत्पत्ति हुने तीन ओटा प्रकारहरू हुन सक्छन्। १. ज्ञेय वस्तुभन्दा पहिले यिनीहरूको उत्पत्ति हुनु, २. ज्ञेय वस्तुभन्दा पछि यिनीहरूको उत्पत्ति हुनु ३. ज्ञेयसँगसँगै उत्पत्ति हुनु।

यदि ज्ञेयभन्दा पहिले ज्ञानको उत्पत्ति हुन्छ भने केलाई आलम्बन गरेरत्यो ज्ञान उत्पन्न हुन्छ त ? अर्थात् त्यो ज्ञानले केलाई थाहा पाएको हुन्छ भन्ने प्रश्न उठ्छ। त्यसकारण ज्ञेयभन्दा पहिले ज्ञान उत्पन्न हुन सम्भव हुँदैन। यदि ज्ञेयसँगै ज्ञान उत्पत्ति हुन्छ भने केलाई आलम्बन गरेर उत्पत्ति हुन्छ त ? किनकि विना आलम्बन ज्ञान हुन सक्दैन र आलम्बन नहुने कुरा कारण बन्न सक्दैन। ज्ञान र ज्ञेयमा कार्य-कारणभाव छ अर्थात् ज्ञेयको कारणले ज्ञान उत्पत्ति हुन्छ। त्यसकारण कार्य कारणभाव भएका कुरा सहजात हुन सक्दैनन् किनकि कारण पहिले हुनपर्छ, कार्य पछि हुनुपर्छ। अतः ज्ञान र ज्ञेय सँगै उत्पन्न हुन्छन् भन्ने पनि सिद्ध हुँदैन। त्यसो भए ज्ञानभन्दा ज्ञेय पछाडि उत्पन्न हुन्छ कि भन्ने हो भने –

अथ ज्ञेयाद् भवेत् पश्चाद् तदा ज्ञानं कुतो भवेत्।
एवं च सर्वधर्माणामुत्पत्तिर्नावसीयते ॥१०६॥

ज्ञेयभन्दा पछि भए 'ज्ञान' त्यो कसरी हुने
यसरी सर्वधर्मैको उत्पत्ति कहिँ छैन रे ॥१०६॥

__अन्वयार्थ__ : अथ = अव, ज्ञानं = ज्ञान, ज्ञेयाद् = ज्ञेयभन्दा, पश्चाद् = पछि, भवेत् = हुन्छ भने, तदा = त्यस अवस्थामा, कुतः = कहांवाट, भवेत् = हुन्छ ? एवं = यस प्रकारले, सर्वधर्माणां च = सम्पूर्ण धर्महरूको पनि, उत्पत्ति = उत्पत्ति, न अवसीयते = टुङ्गो लाग्दैन।

यदि ज्ञेयभन्दा ज्ञान पछाडि आयो भन्ने हो भने ज्ञान उत्पन्न हुँदा ज्ञेय निरुद्ध भैसकेको थियो भन्ने मान्नुपर्छ। किनकि यहाँ सबै कुरा क्षणिक र परिवर्तनशील छन् भन्ने बौद्धहरू मान्छन्। त्यस अवस्थामा ज्ञेय छैन परन्तु ज्ञान उत्पत्ति भयो भन्ने देखियो। यो झन् कताबाट हुन सक्छ ? त्यो ज्ञानको आलम्बन के हुन्छ ? जबकि त्यहाँ ज्ञेय छैन। त्यसकारण यो झन् उल्टो पर्न जान्छ।

यसरी अघि, पछि र सँगै गरी तीनै प्रकारबाट पनि ज्ञान उत्पन्न हुनु सम्भव देखिन्न। त्यही भएर रत्नकूट आदि सूत्रमा भगवान् भन्नुहुन्छ–

"स एवं चित्तं परिगवेषते कतरत् तच्चित्तं रज्यति वा दुष्यति वा मुह्यति वा ? किमतीतमनागतं प्रत्युत्पन्नं वा ? इति। तत्र यदतीतम् तत् क्षीणम्। यदनागतम् तदसम्प्राप्तम्। प्रत्युत्पन्नस्य स्थितिर्नास्ति। चित्तं हि काश्यप, नाध्यात्मं न बहिर्धा नोभयमन्तरेणोपलभ्यते। चित्तं हि काश्यप, अरूप्यनिदर्शनमप्रतिघमविज्ञप्तिकमप्रतिष्ठमनिकेतम्। चित्तं हि काश्यप, सर्वबुद्धैर्न दृष्टम्, न पश्यन्ति, न द्रक्ष्यन्ति। [यत् सर्वबुद्धैर्न दृष्टं] न पश्यन्ति न द्रक्ष्यन्ति कीदृशस्तस्य प्रचारो द्रष्टव्यः ? अन्यत्र वितथपतितया संज्ञया धर्माः प्रवर्तन्ते। चित्तं हि काश्यप, मायासदृशमभूतकल्पनतया विविधामुपपत्तिं परिगृह्णाति। …… चित्तं हि काश्यप, नदीस्रोतः सदृशमनवस्थितमुत्पन्नभग्नविलीनम्। चित्तं हि काश्यप, दीपार्चिःसदृशं हेतुप्रत्ययतया प्रवर्तते। चित्तं हि काश्यप, विद्युत्सदृशं क्षणभङ्गचनवस्थितम्। चित्तं हि काश्यप, आकाशसदृशमागन्तुकैः क्लेशोपक्लेशैरूपक्लिश्यते। …… चित्तं हि काश्यप,

परिगवेष्यमाणं न लभ्यते। यन्न लभ्यत तन्नोपलभ्यते। तन्नैवातीतं नानागतं न प्रत्युत्पन्नम्। तत् त्र्यध्वसमतिक्रान्तम्। यत् त्र्यध्वसमतिक्रान्तं तन्नैवास्ति, न नास्ति।" इत्यादि ।

अर्थात्, "उसले यसरी चित्तलाई अन्वेषण गर्छ- 'कुन चित्त हो जों राग गर्छ, द्वेष गर्छ या मोह गर्छ ? के त्यो 'अतीत' हो कि 'अनागत' हो कि 'प्रत्युत्पन्न' (वर्तमान) हो ? त्यसमा यदि त्यो अतीत हो भने त्यो नष्ट भैसक्यो, यदि अनागत हो भने आएकै छैन, प्रत्युत्पन्न को त कहीँ पनि स्थिति छैन। त्यसैले हे काश्यप, चित्त भन्ने कुरा नै भित्र पनि,बाहिर पनि र दुवै स्थानमा पनि उपलब्ध हुँदैन। चित्तै हो जसको रूप पनि छैन, देख्दा पनि देखिँदैन, रोक्दा पनि रोकिन्न, जान्दा पनि जानिन्न, कतै प्रतिष्ठित पनि छैन, कतै आश्रित पनि छैन। हे काश्यप, चित्तलाई नै हो कुनै बुद्धहरूले देखेका पनि छैनन्, देख्ने पनि छैनन् र देख्दै पनि छैनन्। जुन कुनै पनि बुद्धहरूले देखेका छैनन्, देख्दैनन् र देख्ने पनि छैनन् त्यसको कसरी कुरा गर्न सकिन्छ र ? अन्यत्र त तथतामा नरहेको अर्थात् मिथ्या संज्ञाले गर्दा धर्महरूको प्रवृत्ति भैरहेको देखिन्छ। हे काश्यप, चित्तले नै माया समानको अभूतकल्पना (नभएका कुराको कल्पना) ले गर्दा विभिन्न प्रकारको जन्म ग्रहण गर्छ। ...... हे काश्यप, चित्त नै नदीको प्रवाह जस्तै अनवस्थित र उत्पाद-व्यय हुँदै विलिन हुने गर्छ। हे काश्यप, चित्त नै बत्तीको ज्योतिजस्तो हेतु र प्रत्ययको हिसाबले प्रवृत्त भइरहन्छ। हे काश्यप चित्त त बिजुली झैं क्षण भङ्गुर र अस्थित छ। हे काश्यप, चित्त नै आकाश समान छ र आगन्तुक क्लेश र उपक्लेशहरूले क्लिष्ट हुन्छ। ...... हे काश्यप, यो चित्तलाई खोज्दाखेरि भेटिँदैन। जो भेटिँदैन त्यो पाइँदैन। त्यो अतीत पनि हुँदैन, अनागत पनि हुँदैन र प्रत्युत्पन्न पनि हुँदैन। त्यो तीनै काललाई अतिक्रमण गरेको (नाघेको) अवस्थामा हुन्छ। जो तीन कलाबाट नाघेको छ त्यो न छ, न छैन।"

यसप्रकार चित्तलाई कतै पनि नरहेको आदि माथिका लक्षणहरूले युक्त एवं निःस्वभाव देख्दै चित्तानुपश्यना गर्नुपर्छ भनेर देखाइसकेपछि धर्मस्मृत्युपस्थानको विषयमा बताउने क्रममा आचार्य भन्नुहुन्छ-

"एवं च सर्वधर्माणां उत्पत्तिर्नावसीयते"

यस प्रकार सम्पूर्ण धर्महरूको पनि उत्पत्ति सम्भव हुँदैन। किन कि यही माथिको युक्तिले वस्तुतः उत्पाद नै देखिँदैन। त्यसकारण तिनीहरूको निरोध पनि हुँदैन किनकि जो उत्पन्नै भएन त्यसको निरोध होस् पनि कसरी ? त्यही भएर सम्पूर्ण धर्महरू अनुत्पन्न अनिरुद्ध स्वभाववाला हुनाले निष्प्रपञ्च छन् र स्वतः नै विमोक्षमुखवाला छन्, धर्मधातुबाटै निस्केका छन् र आकाशधातु समानका छन्, अप्रज्ञप्तिक (प्रज्ञप्ति नै नहुने अर्थात् नजानिने) स्वभावका छन्, अव्यवहार्य छन् याने व्यवहार गर्न नसकिने स्वभावका छन्, अनभिलाप्य र अवाच्य छन् भनिएको हो। यसरी सम्पूर्ण धर्महरूलाई हेर्ने स्मृत्युपस्थान गरियो भने अनासक्त ज्ञान उत्पन्न हुन्छ। यो धर्मानुस्मृति (अर्थात् धर्मस्मृत्युपस्थान) को बारेमा आर्य-अक्षयमति सूत्रमा वताइएको छ,

"धर्मे धर्मानुपश्यी विहरन् बोधिसत्त्वो न कञ्चिद् धर्मं समनुपश्यति यतो न बुद्धिधर्माः, यतो न बोधिः, यतो न मार्गः, यतो न निःसरणम्। सर्वधर्मा निःसरणमिति विदित्वा अनावरणमहाकरुणासमाधिं समापद्यते। स सर्वधर्मेषु सर्वक्लेशेषु च कृत्रिमसंज्ञां प्रतिलभते-निष्क्लेशा एते धर्मा नैते सक्लेशाः। तत् कस्य

हेतोः ? तथाहि एते नीतार्थेऽर्थं समवसरन्ति । नास्ति क्लेशानां सन्निचयो राशीभावः, न रागभावः, न द्वेषभावः, न मोहभावः । एषामेवानुबोधाद् बोधिः । यत्स्वभावाश्च क्लेशाः तत्स्वभावा बोधिः- इत्येवं स्मृतिमुपस्थापयति" इति ।

अर्थात् 'बोधिसत्त्वले धर्महरूमा धर्मानुपश्यना गर्दै कुनै धर्मलाई पनि देख्दैन किनकि न वुद्धिका धर्महरू साँच्चिकै छन् न बोधि छ, न मार्ग छ, न गमन (मुक्तिको बाटोमा सर्नेकाम) छ। सबै धर्महरू निर्वाण समान हुन् भन्ने जानेर आवरणले रहित भएको महाकरुणासमाधि सम्पन्न हुन जान्छ। उसले सम्पूर्ण धर्महरूमा र सम्पूर्ण क्लेशहरूमा पनि कृत्रिम हुन् (यथार्थतः छैनन्) भन्ने संज्ञा प्राप्त गर्दछ (चिन्दछ) र यी धर्महरू क्लेशले रहित छन्, यिनीहरू क्लेशले युक्त छैनन् भन्ने जान्दछ। किन ? किनकि यिनीहरू नीतार्थमा त्यस्तै अर्थमा आइपुग्छन्। क्लेशहरू कहीं थुप्रिने भन्ने हुँदैन, न राग भन्ने हुन्छ, न द्वेष भन्ने हुन्छ, न मोह भन्ने हुन्छ। यिनीहरूकै बोध गर्नाले बोधि हुन्छ। क्लेशहरूको जस्तो स्वभाव छ बोधिको पनि त्यस्तै स्वभाव छ। यस्तो खालको उपस्थान गरिराख्छ।"

त्यसकारणं आचार्य नागार्जुनले चतुःस्तवमा भन्नुभएको छ,

उत्पत्तिर्यस्य नैवास्ति तस्य का निर्वृतिर्भवेत् ।
मायागजप्रकाशत्वादादिशान्तं त्वयत्नतः ॥

जस्को उत्पत्ति नै छैन त्यस्को के निर्वृति भयो ?
मायाको हात्ती देखेझैं आदिशान्त स्वतः छ त्यो ॥

यस्तै त्यहीं बताइएको छ,

यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यता सैव ते मता ।
तथाविधश्च सद्धर्मस्तत्समश्च तथागतः ॥
तत्तत्त्वं परमार्थोऽपि तथता द्रव्यमिष्यते ।
भूतं तदविसंवादि तद्बोधाद् बुद्ध उच्यते ॥

"जो प्रतीत्यसमुत्पाद हो त्यसैलाई नै तपाइंले शून्यता भन्नुभएको छ। सद्धर्म पनि त्यस्तै नै छ र तथागत पनि त्यस्तै नै हुन्। परमार्थ तत्त्व पनि त्यही हो र तथताद्रव्य पनि त्यही हो। त्यो धोका नदिने अर्थात् झूटो नठहरिने प्रमाणस्वरूप हो र त्यसको बोध भएकोले बुद्ध भनिन्छ।"

यसमा पूर्वपक्षी (वस्तुवादी) ले दिने तर्क उठाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

यद्येवं संवृतिर्नास्ति ततः सत्यद्वयं कुतः ।
अथ साप्यन्यसंवृत्या स्यात् सत्त्वो निर्वृतः कुतः ॥१०७॥

त्यसो भए संवृति खै ? दुई सत्य पनि कहाँ ?
अर्को संवृतिले हुन्छ ? सत्त्व निर्वृत भो कहाँ ॥१०७॥

अन्वयार्थ : एवं = यस प्रकार, यदि = यदि, संवृतिः = संवृति, नास्ति = छैन भने, ततः = त्यसवाट, सत्यद्वयं = दुई सत्य व्यवस्था, कुतः = कहाँ वन्छ ? अथ = के, साऽपि = त्यो संवृति पनि, अन्यसंवृत्या = अर्को संवृतिद्वारा सिद्ध गर्नुपर्ने, स्यात् = हो भने, सत्त्वः = प्राणी, कुतः = कहाँ, निर्वृतः = मुक्त (निर्वृत) हुन्छ त ?

त्यसो हो भने संवृति सत्य छँदैछैन भन्ने कुरा आयो, जसले गर्दा दुई सत्यको व्यवस्था पनि सिद्ध भएन किनकि संवृत्ति सत्य नै मिथ्या र कल्पनाद्वारा देखिने भएकोले यहाँ परमार्थ सत्य मात्र हुने भयो । व्यवहार पनि छैन भन्नुपर्‍यो । परन्तु पहिले 'संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम्" भनिएको छ। त्यसकारण कसरी दुई सत्यको व्यवस्था गर्न सकिन्छ त ? फेरि यदि यो संवृत्ति सत्य नै भएन भने पूर्वजन्म, परलोकगमन, कर्म-क्रियाको फलसँग सम्बन्ध आदि कुनै कुरा पनि सम्भव हुने छैनन् ।

के त्यो संवृत्ति पनि अर्को संवृत्ति अर्थात् मिथ्याबुद्धिले खडा गरेको हो ? त्यसो हो भने त सबै बुद्धिले मिथ्याकल्पनाबाट गराएको व्यवस्था हो भन्न पर्‍यो जसले गर्दा त्यो संवृत्ति र परमार्थ भन्ने पनि बुद्धिको विषयमात्र हुने भयो । अनि त परमार्थतः त्यसको स्वभाव शून्यता हो भन्ने पनि बुद्धिले कल्पना गरिएको विषय हुने भएकोले मिथ्या र संवृत्ति नै हुनजानेछ । सबै धर्महरूको निःस्वभावतालक्षण स्वरूप परमार्थसत्यलाई साक्षात्कार गरी अप्राप्ति भएर सबै प्रपञ्चहरूबाट मुक्त भैसकेको सत्व पनि फेरि बन्धनमै फसेको हुने भयो । किनकि त्यो पनि बुद्धिको विषय नै बनाइयो । बुद्धि त संवृति र मिथ्या नै हो ।

यसको जवाफ दिँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

परचित्तविकल्पो ऽसौ स्वसंवृत्या तु नास्ति सः ।
स पश्चान्नियतः सोऽस्ति न चेन्नास्त्येव संवृतिः ॥१०८॥

अरुको कल्पना यो हो आफ्नो संवृतिको नभै
पछि हुने भए त्यो हो नभए छैन संवृति ॥१०८॥

अन्वयार्थ : असौ = यो कुरा, परचित्तविकल्पः = अर्काको चित्तमा उत्पन्न भएको विकल्प मात्र हो, सः = त्यो, स्वसंवृत्या तु = आफ्नो संवृतिद्वारा त, नास्ति = छैन, स = त्यो प्रतीत्यसमुत्पाद पश्चात् = पछि, नियतः = निश्चित भएको छ भने, स = त्यो, अस्ति = छ, न चेद् = छैन भने, संवृतिः = संवृति पनि, नास्त्येव = छैन नै ।

त्यस्तो कल्पना त अर्काको चित्तले गरेको कल्पना हो । जो व्यक्तिले निर्वाण लाभ गरेको हुन्छ उसको बुद्धि शान्त भैसकेको हुनाले उसका निमित्त त्यस्तो बुद्धिको विषय केही पनि बाँकी हुँदैन । अर्काको बुद्धिबाट एउटाको परमार्थ संवृति हुने भए त बुद्ध पनि सांसारिक नै हुन पुग्छन्, निर्वाण भन्ने कुरा पनि असम्भव हुनजान्छ । त्यसकारण अरुको संवृतिमा त्यस्ता कल्पना गरिन्छन् तापनि स्वसंवृतिमा केही पनि हुँदैन ।

संवृति भनेको "यो भए त्यो हुन्छ र यसको उत्पादले त्यसको उत्पति हुन्छ" भन्ने स्वभावको 'इदम्प्रत्ययता' मात्र हो । प्रज्ञाकरमतिले टीकामा भन्नुहुन्छ कि *'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदुमत्पद्यते' इति इदम्प्रत्ययतामात्रमेव संवृतिः'* । त्यसकारण यसरी उत्पन्न हुने सबै धर्महरू कारणभन्दा पछाडि उत्पन्न हुन्छन् । त्यही भएर तिनीहरू पश्चाद्भावी (पछि उत्पन्न हुने) हुन् । अतः यदि प्रतीत्यसमुत्पादबाट आउने त्यस्तो पछिको लागि निश्चित हुने कुनै धर्म छ भने संवृत्ति पनि छ। यदि त्यस्तो धर्म छैन भने संवृति पनि छैन। जस्तै 'आकाशको फूल' भन्दाखेरि कुनै पनि कार्य-कारणधर्मका आधारमा फूल उत्पन्न भएको भए त्यहाँ संवृति पनि हुने थियो, परन्तु

त्यहाँ त त्यस्तो इदम्प्रत्ययता पनि छैन, त्यसकारण संवृति पनि छैन।

अतः अर्काको राग, द्वेषआदिले लपेटिएको चित्तले कुनै निर्वाणलाभ गरिसकेका व्यक्तिलाई आलम्बन गरायो या वीतरागीको चित्तको बारेमा कल्पना गर्‍यो भन्दैमा उक्त निर्वाणलाभी या वीतरागी फेरि सांसारिक या रागयुक्त हुने कुरा आउँदैन। अर्काको संवृतिले आलम्वन गरिए पनि आफ्ना सम्पूर्ण कल्पना प्रपञ्चहरू पूर्णरूपमा शान्त भैसकेका हुनाले उ परमार्थतः निर्वृत (मुक्त) नै हुन्छ।

त्यही भएर नै सम्पूर्ण धर्महरूलाई सबै कल्पनाद्वारा शून्य अनुत्पन्न, अनिरुद्ध स्वभावका र प्रकृतिले नै निर्वाण स्वभावका एवं आदिशान्त छन् भनिएको छ तर पनि त्यस्तै धर्महरूबाट फेरि त्यस्तै स्वभावका धर्महरू उत्पन्न भएको बुद्धिले परिकल्पना गर्छ र संवृति देखापर्छ। किनकि त्यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद पनि छ। *"यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता"*- नागार्जुन। *"शून्येभ्य एवं शून्या धर्माः प्रभवन्ति धर्मेभ्यः"* - नागार्जुन। तैपनि वास्तवमा ती सबै अनुत्पन्न नै हुन् अतः शून्य धर्महरूबाट नै शून्यधर्महरू उत्पन्न हुन्छन्।

आर्य ललितविस्तरमा भनिएको छ,

संस्कारप्रंदीपअर्चिवत् क्षिप्रमुत्पत्तिनिरोधधर्मंकाः।
अनवस्थितमारुतोपमा फेनपिण्डेव असारदुर्बलाः॥
संस्कारनिरीहशून्यकाः कदलीस्तम्भसमा निरीक्षतः।
मायोपम चित्तमोहना वालउल्लापन रिक्तमुष्टिवत्॥

अर्थात् "सम्पूर्ण संस्कार धर्महरू बत्तीको प्रकाश झैं तत्काल उत्पाद र निरोध हुने स्वभावका छन्। कतिखेरै पनि स्थित नहुने वायुजस्ता र फौंजको फोका जस्ता असार छन्। यी सबै शून्यस्वभावका र केराको खम्बाजस्ता देखिन्छन्, केलाउँदा खेरि भेटिंदैनन्। बच्चालाई रित्तो मुठी खोलिदिए जस्तै हुन्, माया समानको चित्तले मोहित पार्छ।"

त्यस्तै त्यहीँ भनिएको छ,

स्कन्धायतनानि धातवः तृष्ण अविद्या इति कर्मप्रत्यया॥
सामग्रि तु सत्त्वसूचना स च परमार्थतु नोपलभ्यते॥

अर्थात् 'स्कन्ध, आयतन, धातु, तृष्णा, अविद्या, कर्म, प्रत्ययजस्ता कुराहरू सत्वलाई देशना गरिएको छ तापनि परमार्थतः ती उपलब्ध छैनन्।' यी कारणले गर्दा परमार्थतः धर्म अनुत्पन्न हुन् तापनि प्रतीत्यसमुत्पादसँग कुनै विरोध नहुनाले गर्दा संवृति सत्यमा कुनै आपत्ति छैन।

त्यसो हो भने त परमार्थतः सबै अनुत्पन्न, अनिरुद्ध धर्म भएका हुनाले 'ज्ञान' र 'ज्ञेय' पनि छैन। त्यसैले यो 'विचार' गर्ने कुरा पनि कसरी हुन्छ ? केले केलाई विचार गर्छ ? चुप्प लाग्नुपर्‍यो। यस्तो शङ्का गर्लान् भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ-

कल्पना कल्पितं चेति द्वयमन्योन्यनिश्रितम्।
यथाप्रसिद्धमाश्रित्य विचारः सर्व उच्यते॥१०९॥

कल्पना र कल्पित यी दुवै अन्योन्य-आश्रित
चलेकोमा आश्रित भै विचार भनिने सव ॥१०९॥

अन्वयार्थ: कल्पना = कल्पना र, कल्पितं च इति = कल्पित यी, द्वयं = दुई, अन्योन्यनिश्रितम् = परस्परमा आश्रित छन्, यथाप्रसिद्धं = प्रसिद्ध भएको (व्यवहार(सत्य) मा, आश्रित्य = आश्रित भएर, सर्व: = सवै, विचार: = विचार, उच्यते = वताइन्छ ।

नभएको कुरा आरोप गर्ने बुद्धिलाई 'कल्पना' भन्दछन् । त्यसकारण त्यस्तो 'कल्पना' र कल्पना गरिने कुरा (कल्पित) दुवै एकआपसमा भर परेर (अन्योन्याश्रित) उत्पन्न हुने गर्छन् । स्वयंसिद्ध कल्पना कहीँ पनि सम्भव हुँदैन । त्यसैले कल्पनाको अपेक्षाबाट 'कल्पित' हुन्छ र कल्पितको अपेक्षबाट 'कल्पना' हुन्छ । जुन कुरा लोक व्यवहारमा प्रसिद्ध छ त्यसमै आश्रित भएर विचार पनि गरिन्छ । सम्पूर्ण विचारहरू त्यसैगरी चल्ने गर्छन् आखिर संवृतिसत्यमा आश्रित भएरै यी सबै हुन्छन् । परमार्थ त निष्प्रपञ्च भएको हुनाले त्यसमा यो सम्भव छैन ।

फेरि प्रश्न उठ्न सक्छ कि 'विचार' पनि कल्पना भएकोले त्यसको पनि फेरि विचार हुनुपर्ने हुन्छ ? त्यसो गर्न थाल्ने हो भने काम चल्दैन । त्यसैले आचार्य भन्नुहुन्छ–

विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते ।
तदानवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात् ॥११०॥

विचारित विचारैले विचार पेरि गर्छ ता
अनवस्था हुनै जाला विचारको विचारले ॥११०॥

अन्वयार्थ : यदा = जब, विचारितेन = विचार गरिएको वुद्धिले, विचार्यते = विचार गर्छ भने, तदा = त्यस अवस्थामा, तस्य = त्यो, विचारस्य = विचारको, विचारणात् = विचार गर्नाले, अनवस्था = अनवस्था हुन्छ ।

विचार गरिएको विचारले फेरि विचार गर्छ भन्ने हो भने त त्यसले पनि फेरि विचार गर्नुपर्‍यो, त्यसले पनि फेरि विचार गर्नुपर्‍यो ...... । यसरी अनवस्था दोषको प्रसङ्ग उठ्न पुग्छ । त्यसकारण विचारले पनि विचार गर्ने भन्ने कुरा आउँदैन ।

त्यसो भए विचार गर्न योग्य (विचार्य) लाई विचार गर्दा किन अनवस्था आएन त ? यसमा आचार्य भन्नुहुन्छ–

विचारिते विचार्ये तु विचारस्यास्ति नाश्रय: ।
निराश्रयत्वान्नोदेति तच्च निर्वाणमुच्यते ॥१११॥

विचार्यको विचारैमा विचार हुन्न साश्रय
त्यो त फेरि उदाउन्न त्यही नर्वाण भन्दछन् ॥१११॥

अन्वयार्थ : विचार्ये = विचार गर्न योग्य वस्तुमा, विचारिते तु = विचार गरेमा त, विचारस्य = विचारको लागि, आश्रय: = आश्रय, नास्ति = हुँदैन, निराश्रयत्वात् = आश्रयहीन भएको हुनाले, न उदेति = उदय हुँदैन, तच्च = त्यसैलाई नै, निर्वाणं = निर्वाण, उच्यते = भनिन्छ ।

जुन कुरा विचारणीय छ त्यसलाई विचार गरेपछि फेरि विचार गर्नको लागि त्यहाँ केही

आश्रय वाँकी हुँदैन किनकि त्यसपछि उक्त आकांक्षा तृप्त भैसकेको हुन्छ। त्यसैले आश्रय नभएपछि फेरि विचार उत्पन्न हुँदैन। यसरी सबै विचार्य (विचार गर्न योग्य धर्म) हरूको विचार भैसक्यो भने उक्त ज्ञानले गर्दा व्यक्ति कृतकृत्य हुन्छ र शान्त हुनपुग्छ। त्यसकारण न उ रागले युक्त हुन्छ न विरागले युक्त। त्यसैलाई नै निर्वाण भनिन्छ किनकि त्यो सम्पूर्ण कल्पना-विचार-आदि प्रपञ्चबाट मुक्त भएकोले शान्त अवस्था हो।

यस्य त्वेतद् द्वयं सत्यं स एवात्यन्तदुःस्थितः।
यदि ज्ञानवशादर्थो ज्ञानास्तित्वे तु का गतिः ॥११२॥

जस्ले दुवै सत्य मान्छ त्यो अति दु:खमा रह्यो
ज्ञानले वस्तु मानेमा केले त्यो ज्ञान मान्नु त ? ॥११२॥

अन्वयार्थ : यस्य = जसका निमित्त, एतद् द्वयं = यी दुई कुरा (विचार र विचार्य), सत्यं = सत्य हुन्छन्, स एव: = त्यो नै, अत्यन्तदु:स्थित: = अत्यन्त दु:खमा रहेको हुन्छ, यदि = यदि, अर्थ: = विपय, ज्ञानवशात् = ज्ञानको वलले सिद्ध हुन्छ भने, ज्ञानास्तित्वे तु = ज्ञानको अस्तित्वमा, का गति: = के गति होला ?

जसको मतमा 'विचार' र 'विचार्य' यी दुई कुरा परमार्थतः 'सत्' अर्थात् 'वस्तुसत्' हुन्छन् उनीहरू त अत्यन्तै दु:खमा अल्झिरहन्छन् किनभने यदि ज्ञानको वशले उनीहरूले वस्तुहरूको अस्तित्व छ भन्ने मानेका भए ज्ञान केका आधारमा अस्तित्ववान् छ भन्ने निश्चय गर्न सकिँदैन। विभिन्न विषय, विचार आदिको अस्तित्वलाई त तिनीहरूको सम्बन्धित 'ज्ञान' या 'विचार' आदिको प्रमाणबाट स्वीकारिएला, परन्तु स्वयं त्यो ज्ञान या विचारको अस्तित्व छ (सत्) भन्ने कुरा के प्रमाणबाट सिद्ध हुन्छ। 'स्वसंवित्' असिद्ध भैसकेकोले त्यसबाट प्रमाणित हुने कुरा आएन। त्यो बाहेक अर्को कुरामा आश्रित हुन्छ भन्ने हो भने त्यसको पनि फेरि अस्तित्वको प्रसङ्ग उठ्छ जंसले गर्दा अनवस्था दोष हुन जान्छ।

अथ ज्ञेयवशाज्जानं ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः।
अथान्योन्यवशात् सत्वमभावः स्याद् द्वयोरपि ॥११३॥

यदि ज्ञेयवशात् ज्ञान हुँदा के गति ज्ञेयको ?
एक आपसले मान्दा दुवै 'सत्ता' अभाव भो ॥११३॥

अन्वयार्थ : अथ = अव, ज्ञेयवशात् = ज्ञेयको वलले, ज्ञानं = ज्ञान सिद्ध हुन्छ भने, ज्ञेयास्तित्वे = ज्ञेयको अस्तित्वमा, का गति: = के गति होला ? अथ = यदि, अन्योन्यवशात् = एक आपसमा आधारित भई हुने हो भने, द्वयोरपि = दुवैको नै, सत्त्वं = सत्ता, अभाव: स्यात् = अभाव होला।

यदि ज्ञेयका आधारमा ज्ञान हुन्छ अर्थात् ज्ञेयको बलले ज्ञान हुन्छ भन्ने मान्ने हो भने ज्ञेय चाहिँ केको आधारमा सिद्ध हुन्छ त ? अर्को भाषामा भन्दाखेरि यदि प्रमेयको आधारमा प्रमाण सिद्ध हुने हो भने प्रमेय केको आधारमा सिद्ध हुन्छ त ? त्यसको लागि अर्को ज्ञानलाई प्रमाण मान्ने हो भने त्यसलाई सिद्ध गर्ने कसरी ? (किनकि अघिल्लो श्लोकमा बताइएको प्रसङ्ग उठ्छ।) ज्ञेयले स्वयं प्रमाणित गर्छ भन्ने कुरा युक्ति संगत छैन किनकि ज्ञेयको सिद्धि नै भएको छैन। त्यसकारण यो पनि

सम्भव छैन ।

यदि वस्तुवादीहरूको मतमा दुवैले परस्पर मिलेर एकअर्काको सिद्धि गर्छन् भन्ने छ भने दुवैको सत्ता अभाव हुन जान्छ । कनिकि ज्ञेय पनि असिद्ध छ र ज्ञान पनि असिद्ध छ परन्तु एकले अर्कोलाई सिद्ध गर्छ भन्नु जस्तो हुन्छ जुन कुरा केवल काल्पनिक मान्यता मात्र हुन्छ । त्यसले प्रमाण दिन सक्दैन किनकि आफू स्वयं नै प्रमाणित छैन भने अर्कालाई त्यसले कसरी प्रमाणित गर्छ ? त्यसकारण झन् दुवैको अभाव सिद्ध हुन्छ । जस्तै-

पिता चेन्न विना पुत्रं कुतः पुत्रस्य सम्भवः ।
पुत्राभावे पिता नास्ति तथा ऽसत्त्वं तयोर्द्वयोः ॥११४॥

छोरो नभै पिता हुन्न भने छोरो भयो कहाँ ?
छोरोविना पिता हुन्न, त्यस्तै हुन् त दुवै यहाँ ॥११४॥

__अन्वयार्थ :__ चेद् = यदि, पुत्रं विना = छोरो विना, पिता न = पिता हुँदैन भने, कुतः = कहाँवाट, पुत्रस्य = छोराको, सम्भवः = जन्म हुन्छ ? पुत्राभावे = पुत्र नभएपछि, पिता नास्ति = 'पिता' भन्ने पनि हुँदैन, तथा = त्यस्तै, तयोर्द्वयोः = ती दुवैको, असत्त्वं = सत्ता छैन ।

व्यवहारमा स्दतः स्पष्ट छ कि छोरो नजन्मिकन कोही पनि 'बाबु' हुँदैन । 'बा' भनिनको लागि पहिले छोरो हुनै पर्छ । त्यसकारण यदि 'बा' हुनलाई छोरो हुनैपर्छ भने छोरो कसरी जन्मिन्छ ? बा नभइकन त छोरो हुँदैन । त्यस्तै 'छोरो' नभए 'बा' भन्ने हुँदैन । यसबाट स्पष्ट हुन्छ कि 'बा' र 'छोरा' को अस्तित्व परस्परमा आश्रित छन् । त्यसैले 'बा' या 'छोरा' भन्ने कुरा केवल काल्पनिक मात्र हुन् साँच्चिकै सत्ता छैन । त्यस्तै ती 'ज्ञान' र 'ज्ञेय' को पनि साँच्चिकै अस्तित्व छैन । ती पनि यस्तै हुन् ।

अङ्कुरो जायते बीजाद् बीजं तेनैव सूच्यते ।
ज्ञेयाज्ज्ञानेन जातेन तत्सत्ता किं न गम्यते ॥११५॥

वीजवाट अङ्कुर भो त्यसैले बीज दिन्छ त
ज्ञेयजनित ज्ञानैले त्यस्को सिद्धि हुँदैन र ? ॥११५॥

__अन्वयार्थ :__ वीजाद् = वीउवाट, अङ्कुरः = अङ्कुर, जायते = उत्पन्न हुन्छ, तेनैव = त्यही अङ्कुरले नै, बीजं = वीज, सूच्यते = सूचित गरिन्छ भने, ज्ञेयाद् = ज्ञेयदेखि, जातेन = उत्पन्न भएको, ज्ञानेन = ज्ञानले, तत्सत्ता = त्यो ज्ञेयको सत्ता, किं = किन, न गम्यते = सिद्ध हुँदैन ?

वस्तुवादीहरू भन्छन्- जसरी कुनै बीजबाट अङ्कुर उत्पन्न भयो भने त्यो अङ्कुरले नै त्यहाँ त्यसको वीज थियो भन्ने कुरा जनाउँछ त्यस्तै ज्ञेय अथवा प्रमेयबाट उत्पन्न भएको ज्ञान या प्रमाणद्वारा त्यही ज्ञेय या प्रमेयको सिद्धि किन नहुने ? अवश्य हुनपर्छ, किनभने ज्ञान-ज्ञेयमा पनि अंकुर र वीजमा जस्तै कार्यकारणभाव छँदैछ ।

माध्यमिकका तर्फबाट आचार्य जवाफ दिनुहुन्छ-

अङ्कुरादन्यतो ज्ञानाद् बीजमस्तीति गम्यते ।
ज्ञानास्तित्वं कुतो ज्ञातं ज्ञेयं यत्तेन गम्यते ॥११६॥

अङ्कुरभन्दा भिन्न वीज हो भनी ज्ञान जान्दछ
ज्ञेयसिद्ध हुन ज्ञान-सत्ता खै जानियो कहाँ ? ॥११६॥

अन्वयार्थ : अङ्कुराद् = अङ्कुरभन्दा, अन्यतो ज्ञानाद् = भिन्दै ज्ञानले, वीजम् = वीज, अस्तीति = छ भन्ने कुरा, गम्यते = जानिन्छ, ज्ञानास्तित्वं = ज्ञानको अस्तित्व, कुतः = कहाँबाट, ज्ञातं = जानियो र, यत् = जसले गर्दा, तेन = त्यसले, ज्ञेयं = ज्ञेयको, गम्यते = सिद्धि हुन्छ ?

त्यो दृष्टान्त नै संगत छैन। किनकि अङ्कुरभन्दा भिन्दै ज्ञानले 'वीज' छ भन्ने जानेको हो न कि त्यो अङ्कुरले। यदि पहिले नै आफूलाई बीज़बाट अङ्कुर उत्पन्न हुन्छ भन्ने ज्ञान रहेनछ भने अङ्कुर देखेर पनि कसरी उसले बीजको अनुमान गर्न सक्छ ? यी दुईको कार्यकारणभावको ज्ञानले गर्दा बीजको ज्ञान हुन गएको हो। त्यसकारण यो दृष्टान्त यहाँ मेल खाँदैन।

फेरि ज्ञानलाई कार्यको रूपमा कुन ज्ञानले जानियो जसले गर्दा ज्ञेयको सत्ता सिद्ध होस् ? यहाँ त ज्ञानकै सत्ता पनि सिद्ध भएको छैन भने यसले कसरी ज्ञेयको सत्ता सिद्ध गर्न सक्छ ? स्वसंवेदन र ज्ञानान्तरले सिद्ध हुने भन्ने कुरा त पहिले नै दोषपूर्ण देखाइसकिएको छ। अतः स्वयं अनिश्चितले अरुलाई कसरी निश्चित गर्न सकोस् ? त्यसैले ज्ञान र ज्ञेयको परमार्थतः सत्ता नभएकोले पारमार्थिक रूपमा यस्तो भनेर विचार गर्न सकिँदैन तापनि व्यवहारमा लोकमा चलेको कुराका आधारमा विचार गर्न सकिन्छ।

वास्तवमा शून्यता र प्रतीत्यसमुत्पादमा कुनै भेद छैन तापनि हेराइका आधारमा व्यवहार सत्यलाई व्याख्या गर्न प्रतीत्यसमुत्पाद चाहिन्छ भने त्यसको परमार्थस्वरूप बुझ्न शून्यता चाहिन्छ। यही सिद्धान्तबाट मात्र कर्म-फल र बन्ध-मोक्षको व्यवस्था राम्रोसँग हुन्छ। त्यही भएर नागार्जुनले परमार्थतः कुनै पनि वस्तुहरू(धर्महरू) उत्पन्न छैनन् भन्ने देखाउन अत्यन्त जोड गर्नुभएको छ। उहाँ भन्नुहुन्छ-

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥ (मध्यमक शास्त्र १.३)

अर्थात् कुनै पनि (पदार्थहरू) कहीं पनि न आफैबाट उत्पन्न हुन्छन्, न अर्कोबाट उत्पन्न हुन्छन्, न दुवैबाट उत्पन्न हुन्छन्, न विना हेतु नै उत्पन्न हुन्छन्। यी चार किसिमबाट हुने उत्पत्तिलाई स्वतः उत्पाद, परतः उत्पाद, उभयतः उत्पाद र अहेतुतः उत्पाद भनिन्छ। सबै धर्महरू यीमध्ये कुनैबाट पनि उत्पन्न भएको नभेटिने हुनाले परमार्थतः अनुत्पन्न भनिएको हो।

परन्तु सबै प्रसिद्ध धार्मिक सिद्धान्तवादीहरूले यीमध्ये कुनै न कुनै प्रकारको उत्पादलाई मानेकै हुन्छन्। जस्तैः- सांख्यवादीहरूले स्वतः उत्पादलाई मान्दछन्। न्यायवैशेषिकहरू परतः उत्पादलाई मान्दछन्। जैन अर्थात् निर्ग्रन्थनाथहरू स्याद्वादी भएका हुनाले उभयतः उत्पाद मान्नेवाला हुन्। चार्वाकहरूले अहेतुतः उत्पाद मान्दछन्। यस्तो उत्पाद मान्नेहरूलाई स्वभाववादी भनिन्छ किनभने वस्तुहरूको स्वभाव नै त्यस्तै हो जसले गर्दा यिनीहरूको उत्पादमा कुनै हेतु चाहिँदैन भन्ने यिनीहरूको भनाइ हुन्छ। यी स्वभाववादीहरूको दृष्टिलाई खण्डन गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ-

लोकः प्रत्यक्षतस्तावत् सर्वं हेतुमुदीक्षते ।
पद्मनालादिभेदो हि हेतुभेदेन जायते ॥११७॥

सबै हेतुबाट हुने देख्छ प्रत्यक्ष लोक नै
पद्म, नाल आदि भेद हेतुभेद हुँदा भए ॥११७॥

अन्वयार्थ : *तावत् = त्यसो भए, लोकः = लोकले, सर्वं = सबै, हेतुं = हेतुलाई, प्रत्यक्षतः = प्रत्यक्षरूपमा, उदीक्षते = देख्छ, हि = किनकि, पद्मनालादिभेदः = पद्म(कमल), डाँठ, फूल जस्ता भेद, हेतुभेदेन = हेतु अर्थात् कारणमा भएको भेदवाट नै, जायते = हुने गर्छ ।*

चार्वाक जस्ता स्वभाववादीहरूको भनाइ के हुन्छ भने यो संसारमा देखिने जति पनि विचित्रताहरू छन् ती सबैको हेतु हुने सम्भावना पनि छैन र केलाएर साध्य पनि छैन । जस्तै मयूरको प्वाँख, कमलको सुन्दर पात, रुखका काँडा आदि कसैले बनाएका पनि होइनन् र यिनीहरूको कुनै हेतु पनि छैन, आफै अचानक यी यस्तै रूपमा बनेका हुन् । चार्वाकहरूको यो सिद्धान्तलाई आचार्य शान्तरक्षितले आफ्नो तत्त्वसंग्रहमा यसरी बयान गर्नुहुन्छ–

सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते ।
स्वभाववादिभिस्ते च नाहुः स्वमपिकारणम् ॥
राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि ।
मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ॥
यथैव कण्टकादीनां तैक्ष्ण्यादिकमहेतुकम् ।
कादाचित्कतया तत्तद्दुःखादीनामहेतुता ॥

अर्थात् "भावहरूको उत्पत्ति कुनै पनि हेतुबाट हुँदैन भनेर स्वभाववादीहरूले भन्छन् र आफ्नो कारण बताउन्नन् ।' कमल, केसर आदिको विचित्रतालाई कस्ले बनायो त ? मयूरको प्वाँखको चमकमा जुन विचित्रता छ त्यो कस्ले बनायो त ? जसरी काँडाहरू तीखो हुनुमा कुनै हेतु नै छैन र अचानक त्यस्तो भएर आएको छ त्यस्तै दुःख सुख आदि पनि विना हेतु त्यसै अचानक भएका हुन् ।"

यस्तो मत वास्तवमा धेरै कोरा र अविकसित सोचाइ र अल्पज्ञताको परिणाम हो किनकि लौकिक ज्ञान-विज्ञानबाट पनि यी प्रत्येक घटनाहरूका हेतु-प्रत्ययहरू थाहा हुँदै गएका छन् भने सामान्य लोक व्यवहारमा पनि यिनीहरू विनाकारण उत्पन्न भएका देखिँदैनन् । त्यही भएर आचार्य शान्तिदेव भन्नुहुन्छ कि त्यो त लोकले देख्दा पनि प्रत्यक्षरूपमा विरोध हुन्छ । अझ अनुमान आदि प्रमाणबाट त झन् त्यो भनाई निकै अयुक्त सिद्ध हुन्छ । कमल, त्यसको डाँठ, आदि अनेक प्रकारका भेद देखिनलाई तिनीहरूका अनेक प्रकारका हेतुहरू (तन्तु र कोषहरू) हुनै पर्छ । यदि हेतु नभैकन पनि फल उत्पाद हुने भए त गहूँ रोपेर आँप फल्नुपर्ने, सुन्तला रोपेर चामल फल्नुपर्ने या यस्तै ज्यथाभावी उत्पाद भएको देखिनुपर्ने हुन्थ्यो । परन्तु कहीं पनि त्यस्तो भएको पाइँदैन ।

किंकृतो हेतुभेदश्चेत् पूर्वहेतुप्रभेदतः ।
कस्माच्चेत् फलदो हेतुः पूर्वहेतुप्रभावतः ॥११८॥

हेतुभेद गर्‍यो कस्ले ? पहिलो हेतु भेदले
फलदायी हेतु किन ? पहिलो हेतु-प्रभावले ॥११८॥

अन्वयार्थ : हेतुभेद: = हेतुमा भेद, किंकृतश्चेत् = कस्ले गराएको भन्ने हो भने, पूर्वहेतुप्रभेदत: = पहिलेका हेतुहरूमा भेद भएवाट (त्यस्तो भएको हो), हेतु: = हेतु या कारण, कस्मात् = केले गर्दा, फलदश्चेत् = फलदायी भयो भन्ने हो भने, पूर्वहेतुप्रभावत: = पहिलेको हेतुको प्रभाववाट भएको हो'।

स्वभाववादीले सोध्छन् कि त्यसोभए हेतुहरूमा त्यस्तो भेद कस्ले गराएको हो ? माध्यमिक भन्छन्- त्योभन्दा पहिलेका हेतुहरूमा भेद भएकोले त्यहाँ पनि भेद भएको हो । अनादिकालदेखि चलिआएको यो संसारका हेतुहरूमा जहिले पनि भेद भइराखेकोले पछिपछिका फलहरूमा पनि भेद भइरहन्छ । त्यसमा कुनै आश्चर्य छैन ।

स्वभाववादीले सोध्छन् हेतुबाट फल आउनै पर्ने के कारणले भयो त ? माध्यमिक भन्छन्- पहिलेका हेतुमा फल उत्पाद गर्ने सामर्थ्य भएकोले नयाँ फल उत्पाद भएको हो । त्यसकारण त्यो फलमा पनि नयाँ फल उत्पाद गर्ने क्षमता हुन्छ जसले गर्दा फेरि त्यो हेतु बनेर अर्को फल उत्पाद गर्न सक्छ । त्यसकारण आफू उत्पन्न हुने हेतुबाटै त्यो सामर्थ्य उसमा पनि आएको हुन्छ । यदि अन्य सहकारी प्रत्ययहरू बाधक, उपच्छेदक भएनन् भने त्यसले आफ्नो हेतुबाट आएको सामर्थ्यले गर्दा त्यस्तै फल उत्पन्न गर्न सक्छ । यो हेतुको सामर्थ्यबाटै भएको हो । त्यही भएर त कुशल कर्मरूपी हेतुले अभ्युदय रनि:श्रेयस् रूपी फल उत्पाद गर्न सक्छ भने अकुशल कर्मरूपी हेतुले त्यसको उल्टो फल उत्पन्न गर्छ । यो सहेतुकता त तिमीहरूले नचाहँदा नचाहँदै पनि स्वीकार्नुपर्ने हुन्छ । नत्र त तिमीहरूले आफ्नो भनाई अरुलाई बुझाउन समेत सक्दैनौ । किनकि आफ्नो 'प्रतिज्ञा' बनाएर मात्र त अरुले पत्याउँदैनन् । त्यसको लागि तिमीहरूले उचित हेतु (कारण) दिनैपर्ने हुन्छ । त्यसोहुनाले यदि हेतु दिएर आफ्नो प्रतिज्ञा सिद्ध गर्न पनि खोज्ने परन्तु 'हेतु' भन्ने कुरा छँदैछैन पनि भन्ने हो भने त 'मेरी आमा बाँझी हुन्' भन्ने जस्तै हुन्छ । प्रज्ञाकरमतिले बोधिचर्यावतारको पञ्जिकामा एउटा श्लोक उद्धरण गर्नुभएको छ,

> न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव शातयेत् ।
> अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलायास्य किं भवेत् ?

अर्थात्, "आफूले हेतुसहितको प्रतिज्ञा गरेर हेतु छैन भनी आफ्नो प्रतिज्ञालाई आफैले फिका पार्नु ? अझै पनि हेतुसँग खेल्न अल्छि गर्ने हो भने त्यस्ताको प्रतिज्ञाले के लछारपाटो लगाउँछ ?"

त्यसकारण चार्वाकहरूको मत कुदृष्टिको परिणाम हो र उन्मत्तताको द्योतक हो । मोक्षाकर गुप्तले तर्कभाषामा भन्नुभएको पनि छ, *"अतो S सौ स्वयमेवानुमानेन प्रमाणेन व्यवहरति, नानुमानं प्रमाणमिति च ब्रुवन् कथं नाम नोन्मत्तश्चार्वाक: स्यात् ?"*

यस प्रकार चार्वाक आदि स्वभाववादीहरूको मतलाई खण्डन गरिसकेपछि त्यही सिलसिलामा ईश्वरलाई सम्पूर्ण जतग्को हर्ताकर्ता मान्ने नैयायिक आदिको मतलाई खण्डन गर्दै आचार्य अघि बढ्नुहुन्छ -

ईंश्वरो जगतो हेतुर्वद कस्तावद -वरः ।
भूतानि चेद् भवत्वेवं नाममात्रे ऽ पिं किं श्रमः ॥११९॥

जगत्को ईश्वरै हेतु भए को हो बताऊ त
भूत नै ईश्वर भए नाममा पनि के श्रम ? ॥११९॥

अन्वयार्थ : ईंश्वरः = ईश्वर, जगतः = जगत्को, हेतुः = हेतु (कारण) हो भने, तावत् = त्यसो भए, ईश्वरः = ईश्वर, कः = कुन हो, वद = भन, भूतानि चेद् = महाभूतहरू (पृथ्वी आदि) नै ईश्वर हो भने, एवं भवतु = ठीकै छ, नाममात्रेऽ पि = नाममात्रको लागि पनि, किं = किन, श्रमः = परिश्रम गरिराख्ने ?

ईश्वरवादीहरू भन्छन् कि यो चराचर जगत्को एक मात्र कारण ईश्वर नै हो। ईश्वरको इच्छाविना एउटा घाँस पनि हल्लिन सक्दैन। सम्पूर्ण प्राणीहरूलाई कर्मको फल दिने उनै ईश्वर हुन्। बौद्धहरूले चार्वाकजस्ता स्वभाववादीहरूको मतलाई खण्डन गर्दा हाम्रो भार हल्का भयो भनेर खुशीहुँदै ईश्वरवादीहरूले बौद्धहरूका ती युक्तिहरूलाई आफूले पनि अपनाउन थालेका थिए। उनीहरूले भन्छन् कि कुरा ठीकै हो, विना कारण केही पनि सम्भव हुँदैन। यत्रो चराचर जगत्को एकमात्र कारण कुनै एउटा हुनै पर्छ। नत्र यी अचेतन माटो, पानी, आदिबाट आफै यस्तो विचित्रको संसार कसरी बन्न सक्छ ? एउटा माटाको घडा बन्नलाई त कुम्हाले नभई हुँदैन भने यो समस्त विश्व ब्रह्माण्ड त्यसै कसरी बन्न सक्छ ? जसरी कुनै घडा देखेपछि त्यो बनाउनेवाला व्यक्ति कोही छ भन्ने अनुमान स्वतः हुन्छ र त्यसको लागि कुम्हालेलाई देख्नै पर्छ भन्ने जरुरी छैन त्यस्तै यो जगत् देखिसकेपछि यसलाई निर्माण गर्ने कुनै न कुनै महापुरुष (ईश्वर) छ भन्ने स्वतः सिद्ध हुन्छ। त्यसको लागि ईश्वरलाई हाम्रा आँखाले देख्नै पर्छ भन्ने केही छैन।

उनीहरू भन्छन् यो जगत्को विचित्रतालाई निर्माण गर्नमा सिपालु र सबै विश्वब्रम्हाण्डलाई उनेर रहेको एकमात्र सूत्रधार, सम्पूर्ण कार्यकारणभाव आदि तत्वलाई जान्ने, आफू कहिल्यै पनि कर्म र क्लेशहरूको वशमा नपरेर सदा एकरस, नित्यमुक्त सनातन र सर्वशक्तिमान् सर्वसमर्थ (गराउने, नगराउने र अन्यथा गराउने सबै कुरामा सबभन्दा शक्तिशाली) जगत् उत्पन्न हुनुभन्दा अघि पनि जो थियो र जगत्को प्रलय भए पछि पनि जो रहन्छ त्यस्तो नित्य चेतन तत्त्वस्वरूप र सम्पूर्ण अर्वाचीन (नयाँ पछाडि विकसित भएका) दर्शनहरूले जसको माहात्म्यलाई जान्न पनि सक्दैनन् त्यस्तो तत्त्व नै इश्वर हो र त्यही नै यो जगत्को कारण हो। त्यसकारण यो जगत्लाई कारणविना आफै भएको भन्नु त जड-मूर्खको बुद्धिको उपज मात्र हो। यस्तो दार्शनिक विचार भएका नैयायिक, वैशेषिक आदि दार्शनिकहरूको उक्त 'ईश्वर' भन्ने हेतु पनि कल्पनाजनित एवं जड बुद्धिकै उपज हो भन्ने बौद्ध माध्यमिकहरूको भनाइ छ। जस्तै धर्मकीर्तिले प्रमाणवार्तिकमा भन्नुहुन्छ -

वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवाद : स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः ।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये ॥

अर्थात् "वेदलाई प्रमाण मान्नु, कुनै कर्ताले यो सबै बनाएको हो भन्नु, नुहाएर धर्म हुन्छ भन्ने सोचाइ, जातिवादको घमण्ड, पापलाई नष्ट गर्नको लागि तपस्या गर्नु यी पाँच ओटा त प्रज्ञा ध्वस्त भैसकेका व्यक्तिहरूको जडताका चिन्ह हुन्।"

त्यही भएर आचार्य शान्तिदेव यहाँ भन्नुहुन्छ कि यदि त्यो ईश्वर नै (प्रज्ञाकरमतिका अनुसार त्यसवेलामा ईश्वर भन्नाले शङ्करलाई बुझाउँथ्यो भन्ने देखिन्छ) जगत्को हेतु हो अर्थात् यो जगत् सृष्टि हुने, यसको पालन हुने र यसको लय हुने सबै कुरा त्यो ईश्वरले गराएको हो भने को हो त त्यो तिम्रो ईश्वर ?

ईश्वरवादीहरूको भनाई अनुसार यदि यी नदी पर्वत आदिको कुनै पनि उपादान-कारण भएन भने आफै कसरी यी नियमित र सञ्चालित हुन सक्छन् ? जडलाई सञ्चालन गर्न चेतन नभई हुँदैन। आचार्य शान्तरक्षितले तत्त्वसंग्रहमा ईश्वर मान्नेहरूको मतलाई यसरी स्पष्ट पार्नुभएको छ-

सर्वोत्पत्तिमतामीशमन्ये हेतुं प्रचक्षते
नाचेतनः स्वकार्याणि किल प्रारभते स्वयम् ॥
न स्यान्मेरुरयं न चेयमवनी नैवायमम्मभोनिधिः
सूर्याचन्द्रमसौ निवेशसुभगौ नैतौ जगच्चक्षुषी ॥
ईशानो न कुलालवद् यदि भवेद् विश्वस्य निर्माणकृत्
सत्वादीश्वरकर्तृकं जगदिदं वक्तीति कश्चित् किल ॥

त्यसकारण बौद्धहरू भन्छन्- तिमीहरूले शब्दजालले अति फूल बुट्टा भरेर ईश्वर भन्ने सत्ताको कल्पना गर्छौ र त्यही कल्पनालाई आधार बनाएर अति राम्रो तर्क र युक्ति दिएँ भन्ने ठान्दै प्रज्ञा र विवेक नभएका मूढहरूलाई भुक्याउने काम गर्दै रहन्छौ या त्यसमा अन्धाधुन्ध भएर लागेकाहरूको बुद्धिविलासको साधन जुटाइरहन्छौ भन्दैमा विवेकशील विद्वानहरूलाई प्रमाणको आधार बन्दैन। किन व्यर्थमा त्यसको पाण्डित्य छाँटेर विद्याको दुरुपयोग गर्छौ ? बरु बताऊ, त्यो ईश्वर त्यस्तो सर्वसमर्थ छ र कारुणिक पनि छ भने किन त्यसले दुःखैदुःखले भरिएको नरक, प्रेत, पशु जस्ता दुर्गतिका दुःखहरूको सृष्टि गर्छ ? तिमीहरू भन्छौ कि ईश्वर त परमकरुणामय छ र सबै जगत् त्यसैले सृष्टि गर्छ।

ईश्वरवादी भन्छन्- त्यो त प्राणीहरूको आ-आफ्नो कर्मले गर्दा भएको हो। कर्मको फल भोगाएर मुक्त पार्ने कम त उहीं ईश्वरले नै गर्ने हो। त्यसैले उसलाई कसरी अकारुणिक भन्न मिल्छ, जब कि मुक्ति नै उसको हातमा छ ?

बौद्ध माध्यमिक भन्छन्- तिमीहरूको मतमा सम्पूर्ण कुरा नै उही ईश्वरले गराउँछ भने दुष्कर्म पनि त उसैले गर्न लगायो। तिमीहरू भन्छौ कि सबै प्राणीको हृदयमा बसेर उसैले कर्ममा प्रेरित गर्छ। त्यही भएर तिमीहरू भन्छौ-

"जानामि धमं न च मे प्रवृत्ति जांनाम्यधमं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तो ऽस्मि तथा करोमि।"

त्यसैले त्यो ईश्वरले चोरको हृदयमा बसेर नचोर्न किन लगाउँदैन ? पापिष्ठ अत्याचारीहरूलाई किन सत्कर्ममा प्रेरणा गर्दैन ? त्यसकारण उसले गराउनुभन्दा पनि कर्म त प्राणीले स्वयं आफ्नो चेष्टा र परिस्थितिमा आधारित भएर गर्छ। बरु त्यसको फल भोग्न त्यो ईश्वरको चेष्टाविना सम्भव छ कि छैन भन्ने प्रश्न महत्वपूर्ण हो। यदि सम्भव छ भन्छौ भने तिमीहरूको धर्मशास्त्र र तिमीहरूकै

मान्यताविरुद्ध हुन जान्छ। किनकि ईश्वरको इच्छा बिना यो जीवले केही गर्न, पाउन सक्दैन। जस्तै उदाहरणको लागि महाभारतमा भनिएको छ,

> अज्ञो जन्तु रनीशो ऽ यमात्मनः सुखदुःखयोः।
> ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

अर्थात् यो मूढ अज्ञानी जीव त अनाथ छ आफैले आफ्नो सुखदुःखको बारेमा केही थाहा पाउन सक्दैन। यो नरकमा गए पनि स्वर्गमा गए पनि केवल ईश्वरको प्रेरणाबाट मात्र जाने हो।

यदि ईश्वरको चेष्टा नभई कर्मफल भोग्न सक्दैन भन्ने मान्छौ भने कुशल कर्म (सत्कर्म)को फल भोगाउनमा त्यसले चेष्टा गरोस्, हामीलाई केही आपत्ति भएन परन्तु असत् कर्म (पाप कर्म)को फल भोगाउँदा कम्तीमा उ चुप लागेर तटस्थ बस्न सके यहाँ दुर्गतिका दुःख त बन्द हुने थिए। त्यसोहुनाले कसरी त्यो कारुणिक छ भन्न सकिन्छ ?

यदि तिमीहरूले कर्म गरिसकेपछि त्यो कहिल्यै पनि नाश हुँदैन, फल न भोगी हुँदैन, त्यसैले ईश्वरले बाध्य भएर चेष्टा गर्नुपर्छ भन्छौ भने पनि कुरा मिल्दैन। ईश्वरको चेष्टा नभई फल मिल्दैन भनेकाले कर्म नाश नभए पनि कारुणिक ईश्वरले चेष्टा नगरेमा दुःख पाउने कर्म गर्नेहरूलाई दुःख भोग्नबाट राहत त मिल्थ्यो। कारुणिक र दयालुलाई कर्म नाश हुने नहुनेको किन चिन्ता ? बरु उसको सामर्थ्य नै झल्किन्थ्यो, कर्मको समेत हर्ताकर्ता उही हो भन्ने सिद्ध हुन्थ्यो, उसले चाहेमा कर्मको फल नभोगेर पनि सिद्धिन्छ भन्ने ख्याति हुन्थ्यो भने प्राणीको झन् हिंत भएरै छाड्थ्यो।

यदि उसको त्यसमा कुनै सामर्थ्य छैन या उसलाई बाध्यता छ भने उ सर्वशक्तिमान् ('कर्तुं अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं समर्थः') भन्ने बखान केवल आँखामा छारो हालेको मात्र हो भन्ने सिद्ध हुन्छ। बरु उभन्दा कर्म नै बलियो छ भन्ने स्पष्ट हुन्छ। तिमीहरूले यही स्वीकार गर र कर्मको नै उपासनामा लाग। कर्मका अगाडि तिम्रो महेश्वरको केही लाग्दो रहेनछ। भर्तृहरिले पनि भनेका छन् -

> " नमः सत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति"

अर्थात् 'त्यस्ता सत्कर्महरूलाई प्रणाम गर्छु जसलाई जित्न विधिको पनि तागत छैन।'

यदि त्यस्तो ईश्वर कतै छ भने त्यो रागसहित छ कि रागमुक्त छ ? यदि रागरहित अर्थात् वीतराग छ भने प्राणीलाई सुख दिनमा त्यति जोड नगर्ला परन्तु दुःख दिनमा त्यत्रो जोड गर्नुपर्ने कारण के हो ? अरुलाई दुःख दिने त रागयुक्त व्यक्तिले हो वीतरागले होइन। यदि लीला गर्न चाहान्छ, यो सृष्टि, स्थिति, प्रलय नै उसको लीलामात्र हो भन्ने हो भने (त्यस्तो मान्नेहरू पनि प्रशस्तै छन्) उक्त लीलाको के प्रयोजन छ ? लीला गर्नु त वीतरागको लक्षण होइन, त्यहाँ राग लुकेको स्पष्ट हुन्छ।

यदि त्यो वीतराग नै छैन भने कसरी फेरि क्लेशकर्मबाट मुक्त भयो त ? सामान्य प्राणीसमान नै भयो र त्यसको उपासना गर्नै किन पर्‍यो ? के विशेषता रह्यो ?

मानौं जे भए पनि त्यस्तो कर्ता छ रे, अब ऊ स्वस्थ छ कि अस्वस्थ छ ? यदि स्वस्थ छ

भने त्यसले किन प्राणीहरूलाई व्यर्थमा दण्डित गर्छ, पीडित गर्छ। यदि कुमार्गमा लाग्नेलाई मात्र उसले दण्ड दिन्छ भन्ने हो भने कुमार्गमा पनि उसैले लगाएको हो। आफैले सृष्टि गर्ने, आफैले कुमार्गमा लगाउने, अनि आफैले दण्ड दिएर पीडित पार्नेलाई कहाँसम्मको निकृष्ट भन्न सुहाउला! कुनै लौकिक सामन्त, स्वर्थीहरूले समेत पनि केही निहित स्वार्थले गर्दा कम्तीमा अपराधीलाई अति दण्ड दिने सम्म गरेको देखिन्छ परन्तु आफैले गलत कर्ममा लगाएर फेरि आफैले पिटाइ गरेको त देखिँदैन। अब त्यो ईश्वर कस्तो होला ? तिमीहरू आफै सोच। त्यसकारण मन स्वस्थ भएको व्यक्तिको काम यस्तो हुँदैन।

यदि त्यो अस्वस्थ बुद्धि भएको अर्थात् पागल हो भने त्यसको उपासनाले स्वर्ग आदि प्राप्त हुन सक्ने कुनै पनि निश्चतता हुँदैन। बरु खाडलमा जाकिने सम्भावना धेरै हुन्छ। त्यसकारण त्यस्तो ईश्वर छ भने पनि कुनै प्रकारको सेवनीय विशेषता उसमा छैन। यस्ता प्रसङ्गलाई अघिबढाउनु व्यर्थै हो। बरु यथार्थ कुरा त यो श्लोकले व्यक्त गरेको कुरा हो -

सुखस्य दुःखस्य न को ऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोक : कर्ताहमस्मीति वृथाभिमानः ॥

अर्थात् "सुख र दुःखको दाता कोही पनि छैन। अर्काले दिन्छ भन्नु त कुबुद्धि हो। आफ्नो कर्मरूपी धागोले बाँधिएको यो लोकमा म कर्ता हुँ भन्ने घमण्ड बेकारको झूठो अभिमान मात्र हो।"

अतः हे ईश्वरवादी हो, को हो त्यो ईश्वर भन्ने ? लौ बताउ, यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि महाभूतहरू नै ईश्वर हो र यिनै पृथ्वी, जल आदिबाट सम्पूर्ण जगत् बनेको छ, यी नभए जगत् पनि हुँदैन। त्यसो हुनाले यिनीहरू नै कारण हुन् भन्छौ भने ठीकै छ हाम्रो भनाइसँग खास विवाद रहेन। केवल नाम मात्र फरक पर्न गयो। भूतहरूलाई तिमीहरूले ईश्वर भन्छौ भने हामीलाई खण्डन गर्न आवश्यक छैन। प्रश्न कारणको हो। जे भए पछि यी सारा जगत्प्रपञ्चका दृश्य हुन्छन् र जे नभए यी हुँदैनन् त्यही नै कारण हो।

त्यसैले नाममात्रको कुरामा किन विवाद गरिरहने ?

अपि त्वनेके ऽ नित्याश्च निश्चेष्टा न च देवताः।
लङ्घ्याश्चाशुचयश्चैव क्ष्मादयो न स ईश्वरः ॥१२०॥

यी त अनेक, अनित्य, निश्चेष्ट र अदेव छन्
अपवित्र, नाघ्न हुने हुँदा हैनन् त ईश्वर ॥१२०॥

अन्वगयार्थ : अपितु = परन्तु, क्ष्मादयः = यी पृथ्वी आदि, अनेके = अनेक छन्, अनित्याश्च = अनित्य पनि छन्, निश्चेप्टाः = चेप्टा (चेत) नभएका छन्, न च देवताः = देवता पनि होइनन्, लङ्घ्याश्च = अतिक्रमण गर्न सकिने (नाघ्न सकिने) छन्, अशुचयश्च एव = अपवित्र पनि छन् नै, स = त्यो, ईश्वरः न = ईश्वर होइन।

फेरि यदि त्यो ईश्वर महाभूत नै हुन् भन्ने हो भने पनि मिल्दैन। किनकि यी पृथ्वी आदि भूतहरू अनेक छन् परन्तु तिमीहरूको ईश्वर त एक छ। यी भूतहरू अनित्य छन्, तिम्रो ईश्वर नित्य छ, यिनीहरू जड र अचेतन छन् भने तिम्रो ईश्वर सचेत छ र चेष्टा गर्दछ। त्यस्तै यी भूतहरू देवता

पनि होइनन् । यिनीहरूलाई नाघ्न या अतिक्रमण गर्न हुन्छ, यिनीहरू पवित्र या शुद्ध मानिँदैनन् भने तिम्रो ईश्वर अनतिक्रम्य, पवित्र (पावनानां च पावनं) खालको छ । त्यसकारण ईश्वरको लक्षण र यी भूतहरूको लक्षण त मिल्दैन । त्यसैले यी पृथ्वी आदि त्यो ईश्वर हुन सक्दैन ।

नाकाशमीशो ऽ चेष्टत्वान्नात्मा पूर्वनिषेधतः ।
अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वमप्यचित्यं किमुच्यते ॥१२१॥

आकाश हैन चेप्टा खै ? आत्मा हैन भनिसक्यौं
अचिन्त्यको त कर्तृत्व अचिन्त्यै, किन भन्दछौ ? ॥१२१॥

अन्वयार्थ : आकाशम् = आकाश, न ईश: = ईश्वर होइन, अचेप्टत्वात् = चेतना नहुनाले, न आत्मा = न त आत्मा ईश्वर हो, पूर्वनिपेधत: = पहिले नै निपेध गरिएको हुनाले, अचिन्त्यस्य च = अचिन्त्यको त, कर्तृत्वम् अपि = कर्तृत्व पनि, अचिन्त्यं = अचिन्त्य नै हुन्छ, किम् = किन, उच्यते = कुरा गरिन्छ ?

यदि आकाशलाई ईश्वर हो भन्छौ भने त्यसमा चेष्टा अर्थात् क्रियाको इच्छा नै हुँदैन, त्यसैले कसरी सृष्टि गर्न र कर्मको फल भोगाउन सक्छ ? आकाशलाई त तिमीहरूले पनि निष्क्रिय नै मान्छौ । यदि 'आत्मा' ईश्वर हो भन्छौ भने त्यो आत्मा 'खरायोको सिङ' या 'बन्ध्याको छोरो' जस्तो कतै नभएको 'कुरा मात्र' हो भन्ने पहिले नै सिद्ध गरिसकिएको छ । यदि त्यो ईश्वर 'अचिन्त्य' छ जसले गर्दा हाम्रो सामान्य बुद्धिले उसलाई बुझ्न या बताउन सकिन्न भन्छौ भने उ जगत्को कर्ता बन्नु पनि अचिन्त्य हुने भयो किनकि अचिन्त्य ईश्वरको माहात्म्य नै अचिन्त्य छ । अतः उ जगत्को कारण भएको कुरा तिमीहरूले कसरी चिन्तन गर्न सक्छौ र भन्छौ ? तिमीहरूले उ भएको विचार गर्न पनि नसक्नुपर्ने, किनभने यो पनि अचिन्त्य छ । बरु चुप लाग्नुपर्ने ।

ईश्वरवादी भन्छन् – ठीक छ ईश्वर अचिन्त्यै छ, परन्तु उसको कार्य यो जगत् त हाम्रो बुद्धिको गोचर छ त्यसैले ईश्वरको कुरा नगरेपनि उसको यो कार्यमा विचार गर्न त आपत्ति भएन र जब कार्यमा विचार गरिन्छ तब त्यो कारणको पनि अनुमान प्रमाणले ज्ञान भइहाल्छ । आखिर के फरक पऱ्यो ? इश्वर त रहेछ !

यसको जवाफ दिँदै आचार्य भन्नुहुन्छ –

तेन किं स्रष्टुमिष्टं च आत्मा चेन्नन्वसौ ध्रुवः ।
क्ष्मादि स्वभाव ईशश्च ज्ञानं ज्ञेयादनादि च ॥१२२॥

कर्मणः सुखदुःखे च वद किं तेन निर्मितम् ।
हेतोरादिर्न चेदस्ति फलस्यादिः कुतो भवेत् ॥१२२॥

त्यस्ले केको सृप्टि चाह्यो ? आत्माको ? त्यो त नित्य छ
त्यस्तै पृथ्वी, ईश, ज्ञान ? ज्ञेयजन्य अनादि छ ॥१२२॥

सुख दु:ख ? कर्मवाट, वनायो त्यसले त के ?
हेतुको त आदि छैन होला र फलको त के ? ॥१२३॥

अन्वयार्थ : तेन = त्यो ईश्वरले, किं = के, स्रप्टुं = सृप्टि गर्न, इप्टं = चाहेको छ ? आत्मा चेत् = आत्मा हो भने, ननु = है

ईश्वरवादी हो !) असौ = यो त, ध्रुवः = शाश्वत छ, क्ष्मादिस्वभावः = पृथ्वी आदिको स्वभाव र, ईशश्च = ईश्वर पनि शाश्वत छ, ज्ञानं = ज्ञान हो भने, ज्ञेयाद् = ज्ञेयवाट उत्पन्न हुन्छ र, अनादि च = आदि नै नभएको छ, सुखदुःखे च = सुख र दुःख पनि, कर्मणः = कर्मवाट हुन्छन्, तेन = त्यो ईश्वरले, किं निर्मितं = के वनायो ? वद = भन, हेतोः = हेतुको, आदिः = शुरुआत, न अस्ति चेत्= छैन भने, फलस्य = फलको, आदि = शुरुआत, कुतः = कहाँवाट, भवेत् = होला ?

एक छिनको लागि त्यो ईश्वरले आफू अचिन्त्य भए पनि कार्य चाहिं विचार र चिन्तन गर्न सकिने खालको नै गर्छ रे भन्ने मानौं। अब प्रश्न छ त्यसले के सृष्टि गर्न चाहान्छ ? अर्थात् केको सृष्टि गर्नु उसको लागि अभीष्ट छ त ? यदि आत्माको सृष्टि गर्न चाहान्छ भन्छौ भने तिम्रै मतमा त्यो आत्मा ध्रुव अर्थात् शाश्वत र नित्य छ भन्ने मानिन्न र ? नित्य या शाश्वत कुराको सृष्टि कसरी सम्भव छ ? सृष्टि भए त आदि भयो, आदि भए अन्त्य पनि हुन्छ, त्यसपछि त्यो नित्य नै रहँदैन।

त्यति मात्र होइन, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, मन यिनीहरूको स्वभाव पनि अन्त्यमा आएर परमाणुको रूपमा नित्य मान्ने भएकोले यिनीहरूको पनि त्यसले सृष्टि गर्न सक्दैन। ईश्वरलाई सृष्टि गर्छ भन्न पनि मिलेन किनकि त्यो आफैले आफैलाई सृष्टि गर्ने सम्भावना हुँदैन र फेरि त्यो नित्य छ भन्ने पनि मान्छौ। यदि ज्ञानको सृष्टि गर्छ भन्छौ भने ज्ञेय नभैकन ज्ञान नहुने हुँदा ज्ञेयदेखि ज्ञान निस्किन्छ। ज्ञेय विनाको ज्ञान अहिलेसम्म कतै पनि भएको छैन र अनादि कालदेखि नै यही तरीका भएको स्पष्ट देखिन्छ। ज्ञेय नै नभएको ज्ञानको त परिभाषा, या अस्तित्व समेत हुँदैन। त्यसैले ज्ञानको उक्त ज्ञेयजन्यता अनादि छ। त्यसलाई कसैले पनि सृष्टि गरेको छैन। संसार रहुञ्जेलसम्म यस्तै रहन्छ। यी सुख र दुःखहरू त्यसले सृष्टि गरेको छैन। संसार रहुञ्जेल सम्म यस्तै रहन्छ। यी सुख र दुःखहरू त्यसले सृष्टि गरेको हो भन्छौ भने त्यो पनि होइन किनकि यी त कर्मबाट उत्पन्न हुन्छन् किनकि कुशल-अकुशल कर्महरूको विपाकस्वरूप सुख-दुःख आइलाग्ने हुन्। त्यसैले यसमा पनि ईश्वरको कुनै भूमिका छैन। त्यसकारण अब बताऊ त त्यो ईश्वरले केको रचना गर्दछ ? त्यसको त यी कुराहरूमा कुनै पनि सामर्थ्य छैन। फेरि त्यसको कस्तो जगत्कर्तृत्वको कुरा गर्छौ ?

फेरि सामान्यरूपमा पनि थाहा हुन्छ कि हेतुको नै आदि अर्थात् शुरुआत छैन भने फलको शुरुआत कसरी हुन सक्छ ? यो जगत्को हेतु नित्य छ कि अनित्य छ ? तिमीहरूले त नित्य छ भन्ने मान्छौ। त्यसकारण त्यो नित्य हेतुको आदि नै हुँदैन, अनि त्यसको फलको आदि कसरी हुन सक्छ ? त्यो हेतु समर्थ पनि छ र नित्य पनि छ भने फल पनि सधै अर्थात् नित्य हुनु पर्छ। परन्तु सृष्टिमा क्रमविकास देखा पर्छ। त्यसैले नित्य हेतु हुन सक्दैन।

> कस्मात् सदा न कुरुते न हि सो ऽ न्यमपेक्षते।
> तेनाकृतो ऽ न्यो नास्त्येव तेनासौ किमपेक्षताम् ॥१२४॥

सधै किन गराउन्न ? चाहिन्न अरु केही त
नवनाएको छ के त्यस्ले अनि के चाहियो अब ॥१२४॥

अन्वयार्थ : कस्मात् = के कारणले, सदा = सधै, न कुरुते =गराउदैन ? हि = किनकि, सः = त्यसले, अन्यम् = अरुलाई, न अपेक्षते = अपेक्षा राख्दैन, तेन = त्यस्ले, अकृतः = नगराएको, अन्यः = अर्को कुरा, न = केही पनि छैन, तेन = त्यसो हुनाले, असौ = यसले, किम् = के, अपेक्षताम् = चाहना गर्ने।

यदि समर्थ भए पनि सधैं कार्य-फलको उत्पाद गरिराख्दैन भन्छौ भने किन ? सवै फललाई जुनसुकै वेला पनि उत्पाद गर्नमा किन उसमा सामर्थ्य देखिन्न । किन उसले प्रलयकालमा पनि सृष्टि कायम गरिराख्दैन ? अथवा उ नित्य भएकोले सधैं प्रलयमात्र किन गरिराख्दैन ? अर्को तरिकाले भन्ने हो भने सृष्टि पनि नित्य हुनुपर्ने या प्रलय पनि नित्य हुनुपर्ने ? नित्य हेतुको अनित्य फल कसरी आयो ? ढुङ्गा पेलेर तेल निस्केको कहीं पनि देखिएको छैन ।

यदि तिमीहरूले ईश्वर (हेतु) नित्य भएपनि अन्य सहकारी प्रत्यय भएनन् भने सृष्टि गर्न सक्दैन जस्तैः- कि माटो, पानी, चक्का भएनन् भने कुम्हालेले घडा बनाउन सक्दैन, भन्छौ भने त्यसमा सामर्थ्य रहेनछ । नत्रभने किन त्यसले अरु कुरा जस्तैः धर्म, अधर्म, प्राणीका कर्म इत्यादिमा भर पर्नुपर्थ्यो ? अर्को कुरा यदि त्यो नित्य छ भने त त्यसमा कुनै कुराको पनि अपेक्षा हुँदैन, कुनै कुराले पनि त्यसको स्वभावमा परिवर्तन गर्न सक्दैन । उसको स्वभाव सदाकालका लागि जस्ताको तस्तै रहन्छ । यदि उसको सृष्टि गर्ने या पालन गर्ने या संहार गर्ने स्वभाव हो भने सदाकाल त्यही नै भइरहनु पर्छ । सहकारी प्रत्ययको केही पनि प्रभाव देखिनुहुँदैन ।

फेरि सम्पूर्ण कुरा त्यसले नै बनाएको हुनाले ती कुरामा भर परेर ती भएपछि मात्र सृष्टि गर्ने ती नभए नगर्ने किन ? सवै आफ्नो सामर्थ्यमा छ भने अरुको अपेक्षा चाहिँदैन ।

फेरि ती सहकारी प्रत्यय पनि यदि नित्य छन् भने सधैं नजीकमा उपस्थित रहिराखछन् जसले गर्दा ईश्वरले सधैं सृष्टि गरेको गर्‍यै हुन्छ । आखिर त्यही दोष फेरि देखियो । यदि अनित्य छन् भने तिनीहरूलाई उत्पन्न गर्ने पनि त्यही ईश्वर हुनेछ । परन्तु त्यो ईश्वर नित्य हुनाले फेरि अधिकै अनिश्चित प्रसङ्ग उठ्छ । अतः ईश्वरलाई सर्वेसर्वा कारण भन्ने ठान्नु सर्वथा अयुक्त छ ।

यदि तिमीहरूले कारणलाई पनि वर्गीकरण गरेर समवायी कारण, असमवायी कारण र निमित्त कारण भनेर छुट्याउँछौ र ईश्वर केवल निमित्त कारण मात्र हुन्छ त्यसैले अन्य दुई कारण समग्री नभई त्यसले कसरी सृष्टि गरोस् भन्छौ भने -

अपेक्षते चेत् सामग्रीं हेतुर्न पुनरीश्वरः ।
नाकर्तुमीश : सामग्र्यां न कर्तुं तदभावतः ॥१२५॥

सामग्री चाहिन्छ भने हेतु ईश्वर होइन
सामग्री नहुँदा सक्ने हुँदा नगर्ने होइन ॥१२५॥

अन्वयार्थ : सामग्रीं = समग्रीको, अपेक्षते चेत् = अपेक्षा गर्दछ भने, पुनः = फेरि, ईश्वरः = त्यो ईश्वर, हेतुः न = हेतु होइन किनभने।, सामग्र्यां = सामग्री भएमा, अकर्तुं = नगराउनको लागि, न ईशः = समर्थ छैन, तदभावतः = त्यो सामग्रीको अभाववाट, कर्तुं = गराउन पनि, न = समर्थ छैन ।

माध्यमिक भन्छौं कि समवायी कारण र असमवायी कारण स्वरूप अन्य सामग्रीहरूको अपेक्षा राख्ने हो भने त्यो ईश्वर फेरि हेतु नै हुन सक्दैन । किनकि हेतु र फलको जुन अन्वय - व्यतिरेक सम्बन्ध देखिनु पर्ने हो त्यो देखिँदैन । किनकि ईश्वर छ परन्तु सामग्रीको अभावले गर्दा सृष्टि आदि हुन सकेन जसले गर्दा हेतु भए पनि फलोत्पाद नभएको स्थिति देखा पर्न गयो । बरु उक्त सामग्रीहरू भए जगत् बन्ने भयो नभए बन्ने भएन । त्यसकारण सच्चा हेतु त ती सामग्रीलाई

भन्नुपर्छ, ईश्वरलाई होइन।

कुम्हालेले घडा बनाएको उदाहरण दिन्छन् भने पनि युक्तिसंगत छैन किनकि जुनवेला माटो, चक्का, दाबिलो आदि सामग्री त्यहाँ हुन्छन् त्यसपछि मात्र उसमा घडा बनाउने सामर्थ्य आउँछ। ती सामग्रीको अभावमा पनि उसले घडा बनाउन त सक्दैन। परन्तु तिमीहरूको ईश्वर त सर्वसमर्थ भएकोले सामग्री बनाउन पनि सक्छ। त्यसकारण उसकहाँ सामग्रीको कहिल्यै पनि अभाव हुँदैन। अनि किन फेरि सामग्रीमा भर पर्नुपर्ने र सामग्री नभए सृष्टि गर्न नसक्ने त ? त्यसले त सामग्री हुँदाहुँदै पनि नबनाउन सामर्थ्य राख्नुपर्ने र सामग्री नहुँदा पनि बनाउन सामर्थ्य राख्नुपर्ने। परन्तु त्यस्तो नभएर ठीक विपरीत भएको देखिन्छ। मानौं सामग्री पनि त्यसैले सृष्टि गर्छ रे, त्यसो भए त्यसको लागि उसलाई सामग्री चाहिन्छ कि चाहिँदैन ? यदि चाहिन्छ भने, ती पूर्वसामग्री फेरि उसले कहाँबाट पाउँछ ? ती पनि उसैले सृष्टि गर्ने हो भने अनवस्था दोषको प्रसङ्ग आउँछ जसले गर्दा अहिले सम्म उसले केही पनि सृष्टि गरिसक्न भ्याएको हुन्न विचरा ! यदि पहिलेदेखि नै त्यहाँ भइराखेका पूर्वसामग्री हुन् भने उसको सर्वसृष्टिसामर्थ्य कहाँ गयो ? यदि पूर्वसामग्री नै चाहिँदैन भने यो जगत् सृष्टि गर्नलाई मात्र किन सामग्री चाहियो ? अभावबाट पनि ठाडै जतग्को सृष्टि गर्न सक्नुपर्ने हो।

ठीकै छ, सामग्री भएपछि उसले सृष्टि गर्छ रे। अब के नचाहँदा न चाहदै पनि सामग्रीको बलले आकृष्ट भएर सृष्टि गर्छ कि स्वयं आफ्नो इच्छाले सृष्टि गर्छ ?

> करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत् परायत्तः प्रसज्यते।
> इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात् कुर्वतः कुत ईशता ॥१२६॥

न चाहेर पनि गर्छ भने त्यो परतन्त्र छ
इच्छाले हो भने 'इच्छाधीन' भो खोइ ईशता ?॥१२६॥

अन्वयार्थ : ईशः = ईश्वरले, अनिच्छन् = इच्छा नगर्दानगर्दै पनि, करोति चेत् = गर्छ भन्ने मान्छौ भने, परायत्तः = परतन्त्र (पराधीन)छ भन्ने कुराको, प्रसज्यते = प्रसङ्ग उठ्न जान्छ, इच्छन् अपि = इच्छा गरेर सृष्टि गर्छ भने पनि, इच्छायत्तः = इच्छाको अधीनमा, स्यात् = होला, कुर्वतः = गर्नेको लागि, कुतः = कहाँबाट, ईशता = ईश्वरत्व हुन सक्थ्यो ?

यदि त्यो ईश्वरले आफूले नचाहँदा नचाहँदै पनि सामग्री उपस्थित भएको कारणले सृष्टि गर्नैपर्ने हो भने त्यो पूर्णरूपमा पराधीन छ, बन्धनमा छ र स्वतन्त्र छैन भन्ने कुरा निस्किन्छ। यदि उसले स्वयं आफूलाई इच्छा लागेपछि सृष्टि गर्छ भनेपनि उ झन् इच्छाधीन अर्थात् इच्छाको वशमा परेको रहेछ। त्यसैले परतन्त्र भइहाल्यो। अतः सृष्टि आदि गर्ने त ईश्वर हुनै सक्दैन। त्यसकारण कसरी उसको ईश्वरत्व कायम भयो ? कोही ईश्वरवादीले भन्छन् कि बुद्धिमान् भएको हुनाले उसमा यस्तो कुनै दोष लाग्दैन किनकि बुद्धिहीनले मात्र आफूले उत्पन्न गर्ने कार्यहरूलाई कुनै क्रम नराखिकन जथाभावी रूपमा उत्पन्न गर्छ जसको कुनै पनि नियमितता हुँदैन। परन्तु ईश्वर त वुद्धिमान् भएको हुनाले उसँग सामर्थ्य भएपनि आफूले नचाहेमा कार्य उत्पन्न नगर्न सक्छ। त्यसकारण यो त उसको विशेषता हो, दोष होइन।

यसमा हामी बौद्धहरूले भन्छौं कि त्यो इच्छा पनि त्यही ईश्वरले उत्पन्न गर्ने भएकोले कुरा

अघिकै जस्तो हुन्छ। यदि इच्छा पहिले नै त्यहाँ छ भने पनि इच्छाधीनता उसमा बाँकी नै रहन्छ। त्यस अवस्थामा उ पूर्णरूपमा तृष्णाद्वारा ग्रस्त भएको ठहरिनेछ।

यदि सहकारी प्रत्ययहरूको अभावमा उसले कार्य गर्दैन, सहकारी प्रत्ययको उपस्थितिमा कार्य नगरेर रहँदैन भने कस्तो किसिमको सर्वसामर्थ्य हो ? गर्न नसक्नेलाई पनि कर्ता भन्न सकिन्छ ? 'समर्थ भए पनि सहकारी प्रत्यय भएनन् भने सृष्टि नगर्नु नै त्यसको प्रकृति हो' भन्नु त 'आमा भए पनि बाँझी हुनु उनको स्वभाव हो' भन्नु जस्तै हुन्छ। यस्तो त मूर्ख दुर्बुद्धिले मात्र भन्दछन्। ईश्वरलाई अनित्य त तिमीहरूले मान्दैनौ। त्यस्तो मान्ने भए त अरु सामान्य धर्महरूको जस्तो स्वभाव भएको हुनाले कसरी ईश्वरत्वसिद्धि हुन्छ भन्ने कुरा आउँछ। त्यसकारण यो जगत्को विचित्रता ईश्वरको कार्य हो भन्ने सिद्ध हुँदैन।

यदि यो जगत् कुनै बुद्धिमान् पुरुषको रचना होइन भन्छौ भने यो जगत् परमाणुको पुञ्जबाटै बनेको हो भन्ने मान्छौ त ? दुईटा अणुहरूको संयोग भए पछि एक द्वयणुक, तीन ओटा द्वयणुकको संयोगले एक त्रसरेणु गर्दै अन्तमा पूरा पृथ्वी आदिको निर्माण हुन्छ भन्न खोजेका हौ कि ? त्यसो हो भने–

ये ऽ पि नित्यानणूनाहुस्ते ऽ पि पूर्वं निवारिता :।
सांख्याः प्रधानमिच्छन्ति नित्यं लोकस्य कारणम् ॥१२७॥

जस्ले अणु नित्य भन्छन् भैसक्यो त्यो त खण्डन
सांख्य भन्छन् प्रधानै हो लोकको नित्य कारण ॥१२७॥

__अन्वयार्थ :__ ये ऽ पि = जस्ले, नित्यान् = नित्य, अणून् = अणुहरूलाई, आहुः = वताउँछन्, तेऽ पि = तिनीहरू पनि, पूर्वं = पहिले नै, निवारिता: = खण्डन गरिसकिए, सांख्या: = सांख्य मतानुयायीहरू, नित्यं = नित्य, प्रधानं = प्रधानलाई, लोकस्य = लोकको, कारणं = कारण हो भन्न, इच्छन्ति = चाहान्छन्।

मीमांसकहरूले पनि परमाणु या अणु नै नित्य कारक तत्व हुन् र यिनीहरूबाट नै जगत्को उत्पत्ति हुन्छ भन्छन्। त्यस्ता नित्य अणु आदिलाई कारण मान्नेहरूलाई पहिले नै यही परिच्छेदको ८७ औं कारिकामा खण्डन गरिसकिएको छ। त्यसकारण परमाणुपुञ्ज पनि यसको वास्तविक कारण हुन सक्दैन।

त्यस्तै कपिल मुनिका अनुयायी सांख्यवादीहरूले भन्छन् कि नित्य प्रधान नै यो लोकको कारण हो। प्रधान भन्नु र प्रकृति भन्नु उही कुरा हो। यसैबाट सम्पूर्ण जगत् निस्केको हुन्छ। उनीहरू भन्छन् –

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा अविषमस्थिताः।
प्रधानमिति कथ्यन्ते विषमैर्जगदुच्यते ॥१२८॥

सत्त्व, रज, तम गुण साम्यमा छन् 'प्रधान' भो
वैपम्यमा छन् भने त 'जगत्' भन्छन् त्यही त हो ॥१२८॥

__अन्वयार्थ :__ सत्त्वं = सत्त्व, रजः = रज, तमश्चेति = तम यी, गुणा: = गुणहरू, अविपमस्थिता: = साम्य अवस्थामा स्थित

भए भने, 'प्रधानम्' इति = प्रधान यस्तो, कथ्यन्ते = भनिन्छन्, विपमैः = विपम अवस्थामा छन् भने, 'जगद्' उच्यते = जगत् भनिन्छन् ।

सत्त्व, रज, तम यी तीन गुणहरूको साम्य अर्थात् समानरूपमा भएको अवस्था नै 'प्रधान' हो । त्यसवेला तिनीहरूलाई नै प्रधान भनिन्छ । जब यिनै गुणहरू विषम अवस्थामा आइपुग्छन् त्यसवेला यिनैलाई जगत् भनिन्छ । जब पुरुष अर्थात् चेतन तत्व (चिद्)लाई विषयभोग गर्ने इच्छा उत्पन्न हुन्छ तब उसको प्रधान अथवा प्रकृतिसँग सम्बन्ध हुन्छ। त्यसबाट ती साम्यावस्थामा रहेका सत्त्व, रज, तम गुणमा विकार अर्थात् क्षोभ उत्पन्न हुन्छ । जसले गर्दा त्यसको साम्यावस्था विग्रिन्छ र विषम अवस्थाको सिर्जना हुन्छ। त्यही नै जगत्को शुरुआत हो ।

त्यो प्रधानबाट पहिले उत्पन्न हुने महत्तत्त्व तहो जसलाई बुद्धि पनि भनिन्छ । यसबाट अहंकार उत्पन्न हुन्छ। त्यसबाट एघार इन्द्रियहरू र पाँच तन्मात्राहरू उत्पन्न हुन्छन्। तीमध्ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण) पाँच कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) र मन गरी एघार इन्द्रियहरू हुन्छन् र शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा र गन्ध तन्मात्रा गरी पाँच तन्मात्रा हुन्छन्। यी तन्मात्रामध्ये, शब्द तन्मात्राबाट आकाश महाभूत उत्पन्न हुन्छ, स्पर्श तन्मात्राबाट वायु महाभूत, रूप तन्मात्राबाट तेजोमहाभूत, रस तन्मात्राबाट अप् महाभूत, गन्ध तन्मात्राबाट पृथ्वी महाभूत उत्पन्न हुन्छन्। यो कुरा सांख्यकारिकामा यसरी बताइएको छ –

प्रकृतेर्महाँस्ततो ऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥

"प्रकृतिदेखि 'महान्' त्यस्बाट अहङ्कार र त्यसबाट १६ ओटाको गण उत्पन्न हुन्छ । त्यसमा पनि तीः १६ ओटा मध्ये पाँच ओटाको समूहबाट पाँच महाभूत निस्किन्छन् ।"

त्यस्तै सांख्यकारिकामै भनिएको छ –

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥

अर्थात् यसरी जम्मा जम्मी २४ तत्त्वमध्ये मूल प्रकृति अथवा प्रधान भनेको अविकृति याने कारण मात्र हो अर्थात् कार्य होइन। त्यसलाई कसैले पनि बनाएको होइन। 'महान्' 'अहङ्कार' र पाँच 'तन्मात्रा'हरू मिलाएर जम्मा सात तत्त्वहरू प्रकृति (कारण) र विकृति (कार्य) दुवै हुन् किनकि यी कसैका कार्य पनि हुन् भने कसैका कारण पनि हुन्। जस्तैः- महत्तत्त्व(महान्) प्रकृतिको कार्य हो भने अहङ्कारको कारण पनि हो। त्यस्तै एघार इन्द्रिय र पाँच महाभूतहरू केवल कार्य मात्र हुन् किनकि यिनीहरूले फेरि अर्को केही पनि उत्पन्न गर्न सक्दैनन्। त्यसकारण यी विकार मात्र हुन् भनिएको छ। पुरुष (चित्) चाहिँ न प्रकृति (कारण) हो, न विकृति (कार्य) हो।

यसरी सम्पूर्ण कार्यहरूको शक्ति प्रधानमा निहित छ र त्यसैबाट यो समस्त जगत्को आविर्भाव हुन्छ। यिनै तीन गुणहरू नै सधै विद्यमान छन्। यिनीहरूबाट उत्पन्न हुने सम्पूर्ण जगत् नै त्रिगुणात्मक हुन्छ। पहिले नभएकोबाट उत्पाद हुन्छ भन्ने कुरा यहाँ मानिन्न। तिलमा पहिलेदेखि नै तेल छ, त्यसैले त्यसलाई पेलेर तेल निकाल्न सकिन्छ। ढुङ्गो पेलेर तेल आउँदैन । यही नै

'सत्कार्यबाद'को अभिप्राय हो। आफ्नो कारणमा कार्य पहिलेदेखि नै विद्यमान हुन्छ। आचार्य शान्तरक्षितले तत्त्वसंग्रहमा यसरी बताउनुभएको छ,

> अशेषशक्तिप्रचितात् प्रधानादेव केवलात् ।
> कार्यभेदाः प्रवर्तन्ते तद्रूपा एव भावतः ॥
> यदि त्वसद् भवेत् कार्यं करणात्मनि शक्तितः ।
> कर्तुं तन्नैव शक्येत नैरूप्याद् वियदब्जवत् ॥

अर्थात् सम्पूर्ण शक्तिले युक्त भएको यो एक मात्र प्रधानतत्त्वबाट नै विभिन्न यी कार्यभेदहरू प्रवृत्त हुन्छन्। त्यसकारण यी पनि सारतः त्यही नै हुन् (त्रिगुणात्मक नै हुन्)। यदि यी कार्यहरू कारणमा शक्ति (Potential) को रूपमा नहुने भैदिएको भए त्यसलाई पछि उत्पन्न गर्न सकिने नै थिएन। त्यसबेला त्यो आकाशको कमल झैं रूप नभएको कार्य हुन जान्छ, अर्थात् काल्पनिक कार्य मात्र होला, वास्तविक हुँदैन।

यसप्रकारको प्रकृति (प्रधान) नै सर्वेसर्वा हो भन्ने कापिलहरूको खण्डन गर्दै माध्यमिकको तर्फबाट आचार्य भन्नुहुन्छ –

> एकस्य त्रिस्वभावत्वमयुक्तं तेन नास्ति तत् ।
> एवं गुणा न विद्यन्ते प्रत्येकं ते ऽ पि हि त्रिधा ॥१२९॥

एउटाको तीन रूप युक्त छैन अतः असत्
त्यस्तै प्रत्येक गुण नै हुनेछन् तीन औ असत् ॥१२९॥

अन्वयार्थ : एकस्य = एउटा वस्तुको , त्रिस्वभावत्वं = तीन किसिमको स्वभाव हुनु, अयुक्तं = उपयुक्त हुँदैन, तेन = त्यसो हुनाले, तत् = त्यो, नास्ति छैन, एवं = यस प्रकार, गुणाः = गुणहरू पनि, न विद्यन्ते = छैनन्, हि = किनकि, ते पि = तिनीहरू पनि, प्रत्येकं = एक एक गरेर, त्रिधा = तीन प्रकारका हुन जान्छन् ।

एउटै वस्तुको तीन किसिमको स्वभाव छ भन्नु नै युक्तिसंगत छैन। तीन भिन्दा भिन्दै स्वभाव भएका कुरालाई एउटै भन्न कसरी मिल्छ ? यदि तीन भिन्दै स्वभाव छन् भने त्यो 'प्रकृति' भन्ने कुरा नितान्त असत् र कल्पना गरिएको कुरा मात्र हो। त्यो कल्पना मात्र भएको हुनाले त्यसबाट उत्पन्न हुने सम्पूर्ण कुराहरू काल्पनिक हुन् र वास्तविक होइनन्। त्यसकारण यिनीहरूको अस्तित्व हुने त कुरै आएन।

सांख्यहरू भन्छन् कि प्रकृति छैन भने पनि तीन गुणको अस्तित्व त छ ?

यसमा बौद्धहरूको भनाइ छ – जब सम्पूर्ण कुरा त्रिगुणात्मक छन् भन्छौ भने त्रिगुणात्मक नभएको चीज केही पनि छैन। त्यसो भए सत्त्व गुण पनि त्रिगुणात्मक हुनु पर्‍यो, रजोगुण पनि त्रिगुणात्मक हुनु पर्‍यो, तमोगुण पनि त्रिगुणात्मक हुनु पर्‍यो। त्यसकारण अघि जस्तै यी गुणहरूको पनि सत्ता सिद्ध हुँदैन।

फेरि यदि यी गुणहरू स्वतन्त्र अस्तित्वले सम्पन्न छन् र नित्य स्वभावका छन् भने यिनीहरूमा साम्य या वैषम्य कसरी उत्पन्न हुन्छ। घट्ने र बढ्ने नभइकन साम्य वैषम्य हुने सम्भावना हुँदैन। जसमा बृद्धि र क्षय देखिन्छ त्यो नित्य कदापि हुन सक्दैन। अतः ती गुणहरू

तिमीहरूले भनेजस्ता नित्य प्रकृतिका स्वभाव हुनै सक्दैनन् । नित्य वस्तुमा परिवर्तन नै आउँदैन । त्यसैले यी गुणको सत्ता मानेर त्यसवाट जगत् आदिको उत्पत्ति मान्नु केवल गन्धर्वनगरको कल्पना गर्नु मात्र हो । त्यसले गुणहरूको अस्तित्व सिद्ध हुँदैन । गुणको अस्तित्व सिद्ध नभएपछि तिनीहरूका कार्यको अस्तित्व झन् कसरी होस् ?

गुणाभावे च शब्दादेरस्तित्त्वमति दूरतः ।
अचेतने च वस्त्रादौ सुखादेरप्यसम्भवः ॥१३०॥

गुण नै नभए शब्द आदि हुन् परका अझ
जड वस्त्र आदिमा त सुख आदि असम्भव ॥१३०॥

अन्वयार्थ : गुणाभावे च = गुणको अभावमा त, शब्दादेः = शब्द, स्पर्श आदिको, अस्तित्वं = अस्तित्व, अतिदूरतः = अत्यन्त परको कुरा हो, अचेतने = चेतन नै नभएको, वस्त्रादौ च = वस्त्र आदिमा त, सुखादेरपि = सुख-दुःख आदिको (अस्तित्व पनि), असम्भवः = असम्भव हुन्छ ।

जब यी तीन गुणको अस्तित्व नै प्रमाणित भएन भने तिनीहरूबाट उत्पन्न भएका शब्द, स्पर्श आदि कार्यहरूको अस्तित्वको कुरा त परै छ । कारण नै भएपछि कार्य कसरी होस् । त्यसकारण यी शब्द आदि तन्मात्रा, पाँच महाभूत जस्ता २४ तत्त्वहरू नै असिद्ध छन् ।

आचार्य शान्तरक्षितले तत्त्वसंग्रहमा भन्नुभएको छ,

सुखाद्यन्वितमेतद्धि व्यक्तं व्यक्तं समीक्षते ।
प्रसादतापदैन्यादिरूपस्यैकोपलब्धित : (तत्त्वसंग्रहः १४)

अर्थात् सांख्यहरूले प्रत्येक वस्तु प्रसन्नता, पीडा र दैन्य आदि स्वभावको रूपमा उपलब्ध हुने भएकोले यिनीहरूमा सुख, दुःख र मोहहरू सँगै रहेका हुन्छन् भन्ने स्पष्टरूपमा मान्ने गर्छन् । यसको तात्पर्य के हो भने प्रत्येक वस्तु तीन गुणले युक्त हुने भएकोले त्यसमा सुख, दुःख र मोह हुन्छ जसमध्ये सत्त्व गुणले सुख हुन्छ, रजोगुणले दुःख हुन्छ र तमोगुणले मोह हुन्छ भन्ने सांख्यहरू मान्दछन् । त्यही भएर जुन वस्तुमा पनि सुख, दुःख, आदि गुण भएकै हुन्छन् । त्यसको खण्डनमा आचार्य भन्नु हुन्छ *"अचेतने च वस्त्रादौ सुखादे रप्यसम्भवः"* जब यी अचेतन जड पदार्थहरूमा थाहा पाउने क्षमता नै छैन र जड भनिन्छन् भने त्यस्ता कपडा, घडा जस्ता पदार्थहरूमा वेदनाका धर्महरू कसरी रहन्छन् ? ती त चेतनाका स्वभाव हुन् । त्यसकारण यी जड पदार्थमा कसरी सुख, दुःख आदि वेदनाहरू हुन सम्भव छ ? ती गुणको अस्तित्व नै खण्डित भैसक्यो भने तिनीहरूमा सुख दुःख आदि कसरी हुन सक्छन् ? त्यसकारण जड पदार्थमा सुख आदि हुने सम्भावना छैन ।

तद्धेतुरूपा भावाश्चेन्ननु भावा विचारिताः ।
सुखाद्येव च ते हेतुर्न च तस्मात् पटादयः ॥१३१॥

त्यस्को हेतु भाव हुन् कि भने भाव विचारियो
मान्छौ सुखादि नै हेतु त्यसैले वस्त्र होइनन् ॥१३१॥

अन्वयार्थ : भावा: = भाव (पदार्थ)हरू, तद्धेतुरूपा: = ती सुख दु:ख आदिका हेतु स्वरूप, चेत् = हुन् भने, भावा: = भाव (पदार्थ)हरू, ननु विचारिता: = केलाइसकिएका छन् त, ते च = तिमी (सांख्यहरू)को मतमा त, सुखाद्येव = सुख आदि नै, हेतु: = हेतु मानिन्छन्, तस्मात् = त्यसकारणले, न च पटादय: = कपडा आदि जड वस्तुहरू मानिँदैनन् ।

तिमीहरूको मतमा यदि बाह्य वस्तुहरू जस्तै घट, पट, आदि नै ती सुख दु:ख आदिका कारण हुन् भने पनि ती घडा, कपडा आदि बाह्य भाव (पदार्थ)हरूको अस्तित्वमाथि पहिले नै विचार गरिसकिएको छ । फेरि किन दोहोऱ्याउने ? अवयवीको रूपमा, परमाणुको रूपमा र तीन गुणहरूको रूपमा समेत यी पदार्थहरू छैनन् भन्ने कुरा सिद्ध गरिसकियो । यी सबै केवल प्रतिभास हुन् र मायासमानका हुन् । त्यसकारण यिनीहरू सुख दु:ख आदिका कारण हुन सक्दैन् ।

बरु तिमीहरूको मतमा सत्व, रज, तम यी तीन गुण नै सबै पदार्थहरूको कारण भएको र सत्व, रज, तम नै क्रमश: सुख, दु:ख र मोहको व्यक्त स्वरूप भएको हुनाले यी सुख दु:ख नै वस्तुका कारण हुन जान्छन् न कि त्यसको विपरीत । त्यसकारण कपडा, चन्दन, माला जस्ता वस्तुहरू सुख- दु:खका कारण कसरी हुन सक्छन् ?

पटादेस्तु सुखादि स्यात् तदभावात् सुखाद्यसत् ।
सुखादीनां च नित्यत्वं कदाचिन्नोपलभ्यते ॥१३२॥

पटादिबाट सुखादि हुनेभा' ती न भैकन
सुखादि नै असत् हुन्थे, ती छैनन् नित्य नै कहीँ ॥१३२॥

अन्वयार्थ : पटादे: = कपडा आदिबाट, सुखादि = सुख, दु:ख आदि, स्यात्= हुने भए त, तदभावात् = तिनीहरूको अभावमा, सुखादि = सुख आदि, असत् = असत् हुने थिए, सुखादीनां = सुख आदिको, नित्यत्वं च = नित्यता त, कदाचित् = कहिल्यै पनि, न उपलभ्यते = उपलब्ध हुँदैन ।

यदि सुख-दु:ख जस्ता कुरा कपडा, चन्दन, माला आदिबाट उत्पन्न हुने भए ती कपडा, चन्दन, आदि नभएको अवस्थामा ती सुख आदि पनि असत् हुन्छन् अर्थात् तिनीहरूको पनि अभाव हुन्छ । त्यसकारण अन्वय र व्यतिरेक दुवैबाट त्यही कुरा सिद्ध हुनुपर्ने हो । परन्तु तिमीहरूको मतमा सुख आदि नै गुणका व्यक्त स्वरूप भएकाले र त्रिगुणहरू नित्य मानिने भएकोले सुख-दु:ख भनेका नित्य हुन जान्छन् । परन्तु व्यवहारमा सुख आदि नित्य भएको कहीँ पनि भेटिँदैन । त्यसकारण प्रत्यक्ष विरोध पनि हुन्छ । एकातिर नित्य पनि भन्ने अर्कातिर अनित्य हेतु पनि बताइरहने गरेर कसरी तिमीहरू उम्किन्छौ ? अर्को कुरा, ती सुख आदि नित्य भए –

सत्यामेव सुखव्यक्तौ संवित्ति : किं न गृह्यते ।
तदेव सूक्ष्मतां याति स्थूलं सूक्ष्मं च तत् कथम् ॥१३३॥

सुख व्यक्त हुँदा त्यस्को हुन्न थाहा सधैं किन ?
त्यही नै सूक्ष्म वन्ने र स्थूल वन्ने कसो गरी ! ॥१३३॥

अन्वयार्थ : सुखव्यक्तौ सत्याम् = सुखको अभिव्यक्ति भएपछि, संवित्ति: = अनुभव, किं = किन, न गृह्यते = गरिराखिँदैन ? नदेव = त्यही नै, सूक्ष्मतां = सूक्ष्म स्वरूपमा, याति = जान्छ भने, तत् = त्यो, स्थूलं = स्थूल पनि, सूक्ष्मं च = सूक्ष्म पनि, कथं = कसरी सम्भव हुन्छ ?

एक पटक सुखको अभिव्यक्ति भएपछि सधैं त्यही नै अनुभवमा आइरहनु पर्ने हो। परन्तु त्यस्तो भएको त कहीँ पनि देखिदैन। यदि सुख नित्य भए सधैं सुख मात्र भइरहनुपर्ने हो। जो कहिलेकाहीँ मात्र अनुभवमा आउँछ त्यसलाई कसरी नित्य भन्ने ?

यदि तिमीहरूले त्यो अनुभवमा नआएको वेलामा सूक्ष्मरूपमा अथवा अव्यक्तरूपमा रहेको हुन्छ भन्छौ भने झन अनुपयुक्त हुन्छ किनकि एउटै वस्तुको स्वभाव एक छिन 'सुख अनुभव' र केही छिन 'सुखको अनुभवको अभाव' हुन पुग्यो। कुनै कुराको अनुभूति हुँदा जे स्वभाव छ अनुभूति नहुँदा पनि उही स्वभाव कसरी भन्न सकिन्छ ? दुई भिन्दै स्वभाव भएपछि भिन्दै वस्तु हुन्छन् अन्यथा नित्यानित्यविवेक नै सम्भव हुनेछैन र सम्पूर्ण कुरा नित्य हुन् भने भइहाल्छ। त्यसकारण सूक्ष्म पनि स्थूल पनि एउटै कसरी हो ? एउटै भए त सूक्ष्म भन्नै परेन नि।

यदि तिमीहरूले एउटै वस्तुको एउटै समयमा दुई परस्पर विरोधी स्वभाव हुनु उपयुक्त छैन तापनि एउटा स्वभाव हटिसकेपछि त्यही वस्तुमा अर्को स्वभाव उत्पन्न हुन्छ भन्न खोजेका हौ भने पनि मिल्दैन किनकि-

स्थौल्यं त्यक्त्वा भेवत् सूक्ष्ममनित्ये स्थौल्यसूक्ष्मते।
सर्वस्य वस्तुनस्तद्वत् किं नानित्यत्वमिष्यते ॥१३४॥

स्थूलता वदली सूक्ष्म बन्दा हुन्छन् अनित्य ती
सबै कुरा अनित्यै छन् मान्दैनौ किन लौ तिमी ॥१३४॥

अन्वयार्थ : *स्थौल्यं = स्थूलतालाई, त्यक्त्वा = छोडेर, सूक्ष्मं = सूक्ष्म, भवेत् = हुने भए, स्थौल्यसूक्ष्मते = स्थूलता र सूक्ष्मता दुवै, अनित्ये = अनित्य हुन्छन्, तद्वत् = त्यसैगरी, सर्वस्य = सवै, वस्तुनः = वस्तुको, अनित्यत्वं = अनित्यतालाई, किं = किन, न इष्यते = चाहान्नौ ?*

एउटै वस्तुले पहिलेको आफ्नो स्थूलरूपलाई त्यागेर फेरि अर्को सूक्ष्म रूप धारण गर्छ भने त्यो सूक्ष्मता र स्थूलता दुवै नै अनित्य हुन जान्छन्। अतः उही वस्तु कसरी बाँकी रह्यो ? जब कि उसको स्वरूप नै बदलिइसक्यो ?

यसमा सांख्यवादीले भन्छन् – ठीकै छ स्वरूप बदलियो, अनित्य रहेछ, त्यसले के फरक पऱ्यो ? वस्तु त उही हो !

बौद्ध माध्यमिक भन्छन् – जसरी यी सूक्ष्मता र स्थूलता अनित्य भए त्यसैगरी तिमीहरूका सम्पूर्ण २४ पदार्थहरू पनि अनित्य छन् भन्ने किन मान्दैनौ ? तिनीहरू पनि सर्वथा नाश हुन्छन् भन्नमा के आपत्ति छ ?

स्थूलता नाश भएर सूक्ष्मता उत्पन्न हुँदाखेरि स्थूलता पूर्णरूपमा नष्ट भएर अत्यन्त नयाँ गुण सूक्ष्मता उत्पन्न भएको हो। नत्र भने सूक्ष्मता र स्थूलता पनि एउटै कुरा हुन् या दुवै सँगै छन् भन्नुपर्ने छ। परन्तु दुवैको एकै समयमा अस्तित्व मान्न अनुभव र युक्तिबाट पनि सम्भव छैन। त्यसैले आविर्भाव हुनु र तिरोभाव हुनु दुईटा अलग अलग स्वभाव हुन्। यति भए- पछि अरु पदार्थहरूमा पनि यस्तै गरी एक पछि अर्को आउँछ भन्दा केही पनि फरक पर्दैन।

अर्को कुरा, यदि स्थूलता र सूक्ष्मता अनित्य हुन् भने सुख र दुःख पनि अनित्य हुन जान्छन् किनभने स्थूलता, सूक्ष्मता र सुख, दुःखमा भेद छैन। यदि स्थूलता सुखदेखि भिन्दै हो भने स्थूलताको निवृत्ति भएपछि पनि पहिले जस्तै सुखको संवेदन भइरहनुपर्ने ? दुइटा भिन्दाभिन्दै वस्तुमा त एउटाको निवृत्ति हुँदा अर्कोको पनि निवृत्ति हुनुपर्ने कुनै पनि सम्बन्ध देखा पर्दैन। यदि सम्बन्ध छ भने पनि कार्यकारणभाव मात्र हुनुपर्छ नत्रभने एउटा निरोध भएमा अर्को निरोध हुन सक्दैन। अरू किसिमको सम्बन्धमा त्यस्तो हुँदैन। जस्तैः- एउटा गाई मर्दैमा त्यसको गोठालो पनि मर्ने कुरा आउँदैन।

> न स्थौल्यं चेत् सुखादन्यत् सुखस्यानित्यता स्फुटम्।
> नासदुत्पद्यते किञ्चिदसत्त्वादिति चेन्मतम् ॥१३५॥

स्थूलता सुख एकैभा' स्पष्टै सुख अनित्य छ
हुँदैन उत्पन्न असत् हुनाले त्यो अभाव त ॥१३५॥

अन्वयार्थ : स्थौल्यं = स्थूलता, सुखाद् = सुखभन्दा, न अन्यत् चेत् = अर्कै होइन भने, सुखस्य = सुखको, अनित्यता = अनित्यता, स्फुटम् = स्पष्ट छ, चेद् = यदि, असद् = असद् (नभएको) वस्तु, न उत्पद्यते = उत्पन्न हुँदैन, असत्वाद् = अभाव हुनाले भन्ने, मतम् = यस्तो मत छ भने।

यदि स्थूलता सुखभन्दा भिन्दै होइन अर्थात् अभिन्न छ भने स्थूलता हट्दा सुख पनि हट्छ। स्थूलता अनित्य भएको हुनाले सुख पनि अनित्य हुन्छ। त्यसकारण जताबाट पनि नित्य तत्त्वको सिद्धि असम्भव हुन्छ।

यदि सांख्यहरूले सत्कार्यवादको युक्ति अघि सार्दै 'पहिलेदेखि नै त्यहाँ न भएको वस्तु अचानक उत्पन्न हुन त केही कुरा पनि सम्भव छैन किनकि त्यसको पहिले कुनै प्रकारको पनि अस्तित्व थिएन अर्थात् सर्वथा अभाव थियो' भन्छन् भने त्यो पनि अनुपयुक्त छ। उनीहरू भन्लान् कि यदि पहिलेदेखि नै तिलमा तेल नभए कसरी त्यसलाई पेल्दा तेल आउँछ ? बालुवालाई पेलेर त तेल आउँदैन। त्यस्तै आकाशकमल (व्योमकुसुम) त कहिल्यै पनि उत्पन्न हुँदैन। खरायोको सिङ् पनि नितान्त असत् हो र त्यसको उत्पाद हुँदैन। कार्यको उत्पत्ति हुनुभन्दा अघि नै आफ्नो कारणमा त्यो विद्यमान हुन्छ। त्यस्तो नहुने भए आकाशको पुष्पजस्तै त्यो पनि उत्पन्न हुनै सक्ने थिएन। त्यसकारण पदार्थहरू, वस्तुहरू, कार्यहरू सधैं नै विद्यमान र नित्य हुन्छन्। त्यस्तो भनाइ हो भने -

> व्यक्तस्यासत उत्पत्तिरकामस्यापि ते स्थिता।
> अन्नादो ऽ मेध्यभक्षः स्यात् फलं हेतौ यदि स्थितम् ॥१३६॥

व्यक्त असत्को उत्पत्ति नचाहे पनि भैसक्यो
हेतुमा फल मानेमा अन्नखाँदा गू खाने भो ! ॥१३६॥

अन्वयार्थ : अकामंस्य = नरुचाउने भएका (इच्छा नगर्ने भएका), ते = तिमीहरूको सामु, अपि = पनि, असतः = असत स्वरूपको, व्यक्तस्य = 'व्यक्त' कुराको, उत्पत्तिः = उत्पाद, स्थिता = उपस्थित छ, यदि = यदि, हेतौ = हेतुमा, फलं = फल, स्थितम् = स्थित छ भने, अन्नादः = अन्नखाने व्यक्ति पनि, अमेध्यभक्षः = अशुचि (मल) खाने व्यक्ति, स्यात् = हुन जाला !

तिमीहरूले असत्को उत्पाद नै हुँदैन भन्ने भएकोले असत् कुरा (जस्तै खरायोको सिङ्) पनि उत्पाद भएको मान्न तयार छैनौं। परन्तु फसाद त यस्तो पऱ्यो कि तिमीहरूकै मतमा पनि अव्यक्तमा व्यक्त स्वरूप कार्य विद्यमान हुँदैन भन्ने मानिन्छ। त्यो नभएको (असत्) 'व्यक्त' कार्य पछि उत्पन्न भएको स्वीकारिन्छ। यसरी नचाहँदा नचाहँदै पनि तिमीहरूले असत्को उत्पाद मानिराखेका छौ। 'गू खानु वाङ्गो मुख' भनेझैं मान्नु छ भने सोझै किन मान्दैनौ र एकातर्फ मानिराखेका छौ र अर्कातर्फ ढाक छोप गरेझैं पनि गरिरहन्छौ ?

यदि तिमीहरूले सत्कार्यवादलाई नै मानिराख्छौ भने अर्को महान् दोष तिमीहरूलाई आइलाग्छ। अन्नबाट पाचन भएपछि मल बन्छ भन्ने कुरा त सर्वविदितै हो। त्यसकारण मलको कारण अन्न हो। अन्नको कार्य मल हो। अतः यदि कार्य पनि कारणमै स्थित छ भने अन्न खानेवालाले मल (गू) खान्छ भन्दा कुनै पनि अर्थापत्ति हुने भएन। तिमीहरूले आफूलाई मलभक्षी भन्न स्वीकार गर्छौ त ? त्यति मात्र होइन –

पटार्घेणैव कार्पासबीजं क्रीत्वा निवस्यताम्।
मोहाच्चेन्नेक्षते लोकस्तत्त्वज्ञस्यापि सा स्थितिः ॥१३७॥

कपडाको मूल्यमा नै कपास खरिदी बस
देख्दैन लोक मोहैले भने ज्ञानीको त्यही स्थिति ॥१३७॥

अन्वयार्थ : पटार्घेणैव = कपडाको मूल्यमा नै, कार्पासवीजं = कपासका वीजहरू, क्रीत्वा = किनेर, निवस्यातम् = (ओढेर) बस, लोकः = लोकले मोहात् = मोहले गर्दा, न ईक्षते चेत् = वास्तविकतालाई देख्दैन भने, तत्त्वज्ञस्य अपि = तत्त्वज्ञानीको पनि, सा= त्यही, स्थितिः = स्थिति छ।

कपासका गेडाबाट नै कपास र त्यसबाट कपडा बनेका हुन्। त्यस कारण तिमीहरूको मत अनुसार कपासमै कपडा रहेको हुन्छ। त्यसैले किन कपडा किन्नुको वदला त्यही मूल्यमा कपासका गेडाहरू किनेर ओढ्दैनौ ? त्यसले पनि त्यही काम गर्नुपर्ने हो।

तिमीहरूले भनौला कि कारणमा कार्य हुन्छ परन्तु त्यसलाई तत्त्वज्ञानीले मात्र बुझ्न, देख्नसक्छन्, सामान्य लौकिक व्यक्तिले त अज्ञानले गर्दा देख्न सक्दैनन्। त्यसैले हामीमा त्यो दोष नै लाग्दैन। परन्तु तिमीहरूका परमार्थतत्त्वज्ञ (सांख्यवेत्ता)ले पनि खाँदाखेरि अन्न नै खान्छन् र मल खान सक्दैनन् भने जाडो हुँदाखेरि कपडा नै पहिरिन चाहान्छन् र कपासका गेडा लगाएर बस्न त खोज्दैनन्। यही नै स्पष्ट रूपमा देखिजानिआएको छ। फेरि –

लोकस्यापि च तज्ज्ञानमस्ति कस्मान्न पश्यति।
लोकाप्रमाणतायां चेद् व्यक्तदर्शनमप्यसत् ॥१३८॥

लोकको पनि त्यो ज्ञान छँदैछ किन देख्दैन ?
लोक प्रामाणिक नभा' व्यक्त देखाइ भो असत् ॥१३८॥

अन्वयार्थ : लोकस्य = लोकको, अपि = पनि, तज्ज्ञानं = त्यो ज्ञान, अस्ति = छ, कस्मात् = किन, न पश्यति = देख्दैन, लोकाप्रमाणतायां = लोकलाई प्रामाणिक मान्न नसकिने अवस्थामा चेत् = हो भने त, व्यक्तदर्शनमपि = स्पष्ट देखिएको कुरा पनि, असत् = छैन भन्नुपर्छ।

लोकलाई पनि त्यो कुरा थाहा छ। उनीहरूले पनि जान्दछन् कि कपासको बीजबाटै कपास र कपडा आदि बनेका छन्। त्यसकारण कपास, कपडा आदि कार्य हुन् र तिनीहरूका कारण बीज (गेडा) हुन् भन्ने कार्य कारणताको ज्ञान त लोकमा जसलाई पनि छँदैछ। सांख्ययोगीलाई मात्र त्यो ज्ञान भएको त होइन। त्यसैले उनीहरूले कपासका गेडामा पनि कपडा देख्नुपर्ने हो। खाना(अन्न)मा पनि मल देख्नु पर्ने हो, किन देख्दैनन् त ?

यसमा सांख्यवादीहरू भन्न सक्छन् कि लौकिक व्यक्तिहरूले देख्ने कुरा त प्रमाणको रूपमा लिनै सकिन्न। किनकि लौकिक जनहरू प्रमाणभूत हुँदैनन्। उनीहरूमा अज्ञान हुन्छ।

हामी बौद्धहरू भन्छौं कि त्यसो हो भने लौकिक व्यक्तिहरूले स्पष्टरूपमा देखेका जानेका व्यक्त कुराहरू पनि असत् हुने भए। किनकि उनीहरूले यो जगत्लाई स्पष्टसँग देखेका, सुनेका कुरा सबै मिथ्या हुन्छन्। त्यति मात्र होइन तिमीहरूका योगी पनि अप्रामाणिक हुनेछन् किनकि कपासको बीजमा कपडा त तिनीहरूले पनि देखेका छैनन् जुनकुरा अघिल्लो श्लोकमा बताइसकियो। बरु लौकिक व्यक्तिहरू प्रामाणिक हुँदैनन् भन्ने त हाम्रै भनाइ हो। तिमीहरूले हाम्रै भनाई स्वीकार गरेजस्तो देखिन्छ।

यसमा सांख्यहरूद्वारा लगाइने दोषरोपणको प्रसङ्ग उठाउँदै आचार्य भन्नुहुन्छ -

प्रमाणमप्रमाणं चेन्ननु तत्प्रमितं मृषा।
तत्त्वतः शून्यता तस्माद् भावानां नोपपद्यते ॥१३९॥

प्रमाण नै अप्रमाण हुँदा मिथ्या त त्यो भयो
त्यसैले शून्यता सिद्ध तत्त्वत: नहुने भयो ॥१३९॥

अन्वयार्थ : प्रमाणं = प्रमाण पनि, अप्रमाणं चेत् = अप्रमाण हुन्छ भने, तत्प्रमितं = त्यसले प्रमाणित गरेको कुरा, ननु मृपा = मिथ्या त हुने भयो, तस्मात् = त्यसकारणले, तत्त्वत: = तात्विक रूपमा, भावानां = वस्तु (भाव)हरूको, शून्यता = शून्यता, न उपपद्यतं = सिद्ध हुँदैन।

तिमी बौद्ध माध्यमिकहरूले लौकिक प्रमाणलाई पनि मान्दैनौ भने प्रत्यक्ष, अनुमान आदि पनि तिमीहरूका निमित्त प्रमाण नहुने भए। यसप्रकार यदि लोकमा प्रमाण भइराखेको कुरा पनि तिमीहरूलाई अप्रमाण भयो भने त लौकिक प्रमाणद्वारा जे जति पनि निश्चय गरिन्छ त्यो सबै मिथ्या हुन जानेछ। त्यस अवस्थामा तिमीहरूले यो शून्यताको प्रतिपादन गर्नको लागि सम्पूर्ण वस्तुहरूको अस्तित्वलाई निःस्वभाव देखाउन जति पनि प्रयत्न गरेका छौ त्यो सबै अप्रामाणिक हुनेछ जसले गर्दा तिमीहरूको शून्यताको सिद्धान्तको प्रमाण नै केही हुनआएन। अतः शून्यता पनि मिथ्या सिद्ध भयो। आफ्नो खुट्टामा आफैले बञ्चरो हान्यौ।

यसको जवाफ दिँदै आचार्य भन्नुहुन्छ-

कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते।
तस्माद् भावो मृषा यो हि तस्याभावः स्फुटं मृषा ॥१४०॥

कल्पना नगरे भाव, त्यस्को हुन्न अभाव त
अत: जो भाव मिथ्या हो, त्यस्को अभाव झन् स्वत: ॥१४०॥

अन्वयार्थ : कल्पितं = कल्पना गरिएको, भावं = भाव (पदार्थ) लाई, अस्पृष्ट्वा = न छोइकन, तदभावः = त्यसको अभाव, न गृह्यते = जानिंदैन, तस्मात् = त्यसकारणले, यो हि भावः = जुन चाहीं भाव, मृषा = मिथ्या हुन्छ, तस्याभावः = त्यसको अभाव पनि, स्फुटं मृषा = स्पष्ट मिथ्या नै हुन्छ ।

हे सांख्यवादी हो, भाव पदार्थहरू सबै नै परिकल्पित अर्थात् कल्पना गरिएका हुन् । त्यस्ता परिकल्पित वस्तुहरूलाई अस्तित्व दिएर मनले ग्रहण गर्छ । मनले ग्रहण गर्ने ती सबै अस्तित्वहरूलाई 'भाव' भनिन्छ । त्यस्ता भावहरूको आधार नलिइकन तिनीहरूको 'अभाव'लाई बुझ्न या ग्रहण गर्न सकिँदैन । भावलाई छुँदै नछोइकन अलग्गै स्वतन्त्र रूपमा 'अभाव' भन्ने कहिल्यै पनि जान्न सकिँदैन । अतः जुन भाव कल्पित भएको कारणले मिथ्या हो र तात्त्विक होइन त्यसको अभाव पनि त्यसमा आश्रित भएकोले कल्पित र मिथ्या हो भन्ने कुरा त स्वतः स्पष्ट छ ।

परमार्थतः न 'अभाव'को सत्ता छ न 'भाव' को सत्ता छ । त्यसैले माध्यमिकहरू भन्छन् कि 'अस्ति' र 'नास्ति' दुवै कोटिबाट मुक्त स्वभाव नै वस्तुहरूको यथार्थता हो । त्यसकारण यो जगत् या लोकको अस्तित्व पनि अन्तमा मिथ्या नै हुन्छ । अतः हाम्रो मतमा अस्तित्वका कुनै पनि कोटि (छ, छैन, छ छैन दुवै, छ छैन दुवै होइन) मा नफसेको अवस्थालाई नै 'मध्यमा प्रतिपद्' या 'उपादाय प्रज्ञप्ति' अथवा शून्यता या प्रतीत्यसमुत्पाद भनिएको हो । आचार्य नागार्जुनले पनि यही भन्नुभएको छ –

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ॥

"जो प्रतीत्य समुत्पाद छ त्यसैलाई शून्यता भन्छौं, त्यही नै 'उपादाय प्रज्ञप्ति' अर्थात् संवृतिज्ञान हो र मध्यमा प्रतिपदा (मध्यममार्ग) पनि यही हो ।" अतः शून्यता असत् हुने भन्ने प्रश्नै उठ्दैन । जो सत् छ त्यसको अपकार भयो भने असत् हुन्छ । जो 'सत्' 'असत्' दुवै अन्तबाट मुक्त छ भने त्यसलाई तिमीहरूले गरेको प्रमाणखण्डनले कसरी छुन्छ ?

तस्मात् स्वप्ने सुते नष्टे स नास्तीति विकल्पना ।
तद्भावकल्पनोत्पादं निबध्नाति मृषा च सा ॥१४१॥

त्यसैले स्वप्नमा छोरो मर्दा त्यो छैन भन्नुले
त्यस्को भावकल्पना नै रोक्छ, झूटो छ आफू नै ॥१४१॥

अन्वयार्थ : तस्मात् = त्यसकारणले, स्वप्ने = सपनामा, सुते = छोरो, नष्टे = नाश भएमा (मरेमा), स = त्यो छोरो, नास्तीति = छैन भन्ने यो, विकल्पना = कल्पनाले, तद्भावकल्पनोत्पादं = त्यो छोरो छ (भाव) भन्ने कल्पनाको उत्पादलाई, निबध्नाति = रोकिदिन्छ, सा च = त्यो स्वयं पनि, मृषा = झूठो हुन्छ ।

त्यसकारण सपनामा छोरो मरेको देखेपछि अब मेरो छोरो छैन भन्ने विकल्प मनमा उत्पन्न हुन्छ र त्यो विकल्पले 'छोरो छ' भन्ने विकल्पलाई निषेध पनि गर्छ भने आफू स्वयंलाई मिथ्या सावित पनि गर्छ । यहाँ त्यो अभाव र भावको कल्पना दुवै नै सपनाका कल्पना हुन् । त्यसैले त्यहाँको छोरो मरेर अभावको कल्पना हुँदा सपनामै उत्पन्न हुने भावकल्पनालाई पनि रोक्छ भने मिथ्या हो भन्ने पनि देखाउँछ । त्यस्तै यो जगत्मा देखिने आफू स्वयं सपनाको कल्पना भएको हुनाले मिथ्या हो भन्ने पनि देखाउँछ ।

जति पनि व्यवहार छन् ती सबै सपनाजस्तै व्यवहारमात्र हुन्। त्यसकारण यहाँ व्यवहारमा भाव या अभाव जे देखिए पनि व्यवहारसत्य (संवृत्ति) को हेराइमा कल्पित गरिएको मात्र हो। यहाँ कल्पना गरिने 'शून्य' पनि व्यावहारिक कल्पना हो र त्यो कल्पना स्वतः नै मिथ्या हो। त्यही भएर नागार्जुनले अचिन्त्यस्तवमा भन्नुभएको छ,

> कल्पनामात्रमित्यस्मात् सर्वधर्माः प्रकाशिताः ।
> कल्पनाप्यसती प्रोक्ता यया शून्यं विकल्प्यते ॥

अर्थात् "सबै धर्महरू कल्पना मात्र हुन् भनेर भगवान्ले प्रकाशित गर्नुभएको छ र जसले शून्यलाई कल्पना गर्छ त्यो कल्पना पनि 'सत्' छैन भनेर बताउनु भएको छ।"

त्यसकारण प्रमाण-प्रमेय, बन्धन - मोक्ष जस्ता सबै कुराहरू व्यवहारमा मात्र लागू हुन्छन् र यिनीहरूको व्यवस्थामा यहाँ कुनै आपत्ति छैन। व्यवहारमा प्रमाणले प्रमेयलाई सिद्ध गर्छ, व्यवहारमा क्लेशले बन्धनमा पारेका हुनाले व्यवहारमा तिनीहरूको प्रतिपक्षले मोक्ष हुन्छ भन्ने व्यवस्था पनि राम्रैसँग सिद्ध हुन्छ। शून्यता त परमार्थ हो र त्यो व्यावहारिक दशाका सम्पूर्ण कल्पनाहरूबाट मुक्त भएको अवस्था हुनाले असिद्ध हुने या अप्रमाणित हुने प्रश्नै उठ्दैन।

> तस्मादेवं विचारेण नास्ति किञ्चिदहेतुतः ।
> न च व्यस्तसमस्तेषु प्रत्ययेषु व्यवस्थितम् ॥१४२॥

गर्दा विचार यसरी अहेतुबाट हुन्न क्यै
न व्यस्त प्रत्यय वा समस्तैबाट हुन्छ क्यै ॥१४२॥

__अन्वयार्थ :__ तस्मात् = त्यसकारणले, एवं = यसरी, विचारेण = विचार गर्दा, किञ्चित् = केही पनि, अहेतुतः = हेतु विना, नास्ति = उत्पन्न हुँदैन, व्यस्तसमस्तेषु = व्यस्त र समस्त अर्थात् एक-एक र सबै, प्रत्ययेषु च = प्रत्ययहरूमा पनि, न व्यवस्थितम् = रहेको हुँदैन।

त्यसकारणले माथि अहेतुवादको खण्डनको सिलसिलामा स्वभाववाद, ईश्वरकारणवाद र प्रधानकारणवादलाई राम्रोसँग निराकरण गर्दै 'अहेतुबाट कुनै कुरा पनि उत्पन्न हुँदैन' भन्ने स्पष्ट पारियो। ईश्वर, प्रधान, आदि सबै अहेतु हुन्। त्यसैले यिनीहरूको खण्डन पनि यसैभित्र परेको हो। अहेतुका दुई अर्थहरू हुन सक्छन्। एउटा हो, हेतुविना नै स्वभावैले उत्पन्न हुने अर्थात् कुनै कारण नभएको। सम्पूर्ण कुराहरू कारणबाटै उत्पन्न हुने देखिएका हुनाले अहेतुक वस्तु सम्भवै छैन। अर्को अर्थ हो, जो हेतु नै होइन त्यसबाट उत्पन्न भएका। यसमा तीर्थिकहरूले कल्पना गर्ने ईश्वर, प्रधान जस्ता जति पनि कारण छन् ती सबै वास्तविक कारण नभएकाले अहेतु हुन्। यो जगत् र यी समस्त धर्महरू ईश्वर आदि अहेतुबाट उत्पन्न भएका होइनन्। त्यसैले यी अहेतुक वस्तु हुन सक्दैनन्। यसरी यी दुवै दृष्टिकोणले विचार गर्नाले के सिद्ध हुन्छ भने कुनै कुरा पनि अहेतुक रहेनछन्।

त्यसो भए धर्महरू जुन हेतुबाट उत्पन्न भएका देखिन्छन् तिनै हेतुबाट नै परमार्थतः उत्पन्न भएका हुन् नभनेर सबै निःस्वभाव छन् र परमार्थतः अनुत्पन्न छन् किन भन्छौ त भन्ने प्रश्न उठाउलान् भनेर आचार्यले बाँकि तीन कोटीहरूबाट पनि उत्पाद सम्भव छैन भन्ने प्रसङ्ग उठाउन "न

च व्यस्तसमस्तेषु ……… ” भन्नुहुन्छ। ती तीनकोटीहरू हुन्-

स्वतः उत्पाद (आफैबाट उत्पन्न हुनु), परतः उत्पाद (अर्कोबाट उत्पन्न हुनु) र स्वपरतः अथवा उभयतः उत्पाद (‘स्व’ र ‘पर’ दुवैबाट उत्पन्न हुनु)। ती मध्ये व्यस्त भनेका एक एक कारण हुन् अर्थात् या ‘स्वतः’ या ‘परतः’ हुन्। समस्त भनेको दुवै कारण मिलेको हो। त्यो हो उभयतः उत्पाद। आचार्य भन्नुहुन्छ कि धर्महरूको उत्पाद यी तीनओटै कारणहरूमा आश्रित हुँदैन।

१. स्वतः उत्पन्न हुँदैनन्- स्वतः उत्पन्न हुनु भनेको आफैबाट उत्पन्न हुनु हो। उत्पन्न हुनुभन्दा पहिले आफ्नो अस्तित्व नै हुँदैन। त्यसकारण आफैबाट उत्पन्न हुने कुरा युक्तिसंगत हुँदैन र व्यवहारमा पनि त्यसको दृष्टान्त कहीँ पनि छैन। फेरि यदि आफ्नो अस्तित्व पहिलेदेखि नै छ भने पछि उत्पन्न हुने भन्ने कुरा मिल्दैन। जो पहिलेदेखि नै विद्यमान छ त्यसको कसरी उत्पाद हुन्छ ? त्यस्तो हुने हो भने त आफ्नै उत्पाद भएको भयै हुन्छ र वस्तुहरूमा परिवर्तन नै हुन पाउँदैन। अतः आफैबाट आफ्नो उत्पत्ति हुने सम्भावना युक्ति र व्यवहार दुवैबाट अत्यन्त असिद्ध छ। त्यही भएर चन्द्रकीर्तिले भन्नुभएको छ –

तस्माद्धि तस्य भवने न गुणो ऽस्ति कश्चित्
जातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम्। (मध्यमकावतार ६:८)

अर्थात् “त्यही वस्तुबाट त्यसकै उत्पत्ति हुने गुण कुनै वस्तुको पनि छैन किनकि जुन जन्मिसकेको छ (उत्पाद भइसकेको छ) त्यही नै फेरि उत्पन्न हुन्छ भन्नु उपयुक्त छैन।”

२. परतः उत्पन्न हुँदैनन्- ‘पर’ भनेको आफूभन्दा भिन्दै ‘अर्को’ हो। जस्तै ‘घडा’ भन्दा वेग्लै जति पनि वस्तुहरू छन् ती सबै घडाको लागि ‘पर’ हुन्। त्यतिमात्र होइन ‘घडा’भन्दा कपडा भिन्दै हो र त्यस्तै माटो, पानी, चक्का, कुम्हाले आदि सबै प्रत्ययहरू पनि घडाभन्दा बेग्लै हुन्। यदि यी एउटै भैदिएको भए माटोभन्दा खेरि ‘घडा’ को बोध हुनुपर्थ्यो, कपडा भन्दाखेरि पनि घडाको बोध हुनुपर्थ्यो। त्यसकारण ‘घडा’ भन्ने बेग्लै वस्तु हो र कपडा, माटो भन्ने बेग्लै वस्तु हो। त्यसैले वास्तवमा विचार गर्दा ‘घडा’ भन्दा ‘पर’ का वस्तुबाट घडाको उत्पाद भएको छैन। यदि ‘पर’ (अन्य) वस्तुबाट ‘घडा’ उत्पन्न हुने भए कपडा आदिबाट पनि घडाको उत्पत्ति हुन्छ भन्नु पर्नेछ र जेबाट पनि जुन वस्तु पनि उत्पन्न हुन सक्छ भन्ने स्वीकार्नु पर्नेछ जसले गर्दा आगोबाट पनि अन्धकारको उत्पत्ति हुन जानेछ। त्यसकारण परतः उत्पाद हुनु अनुपयुक्त छ। त्यही भएर आचार्य चन्द्रकीर्तिले भन्नुभएको छ,

अन्यत् प्रतीत्य यदि नाम परो ऽभविष्यज्जायेत तर्हि बहुलः शिखिनो ऽन्धकारः
सर्वस्य जन्म च भवेत् खलु सर्वतश्च तुल्यं परत्वमखिले ऽजनके ऽपि यस्मात्

(मध्यमकावतार ६-१४)

अर्थात् “यदि अर्कै वस्तुबाट अर्कै वस्तु उत्पन्न हुने हो भने त आगोबाट पनि प्रशस्त अन्धकार उत्पन्न हुनेछ। सबै वस्तुबाट सबै वस्तु उत्पन्न हुनेछन् जसले गर्दा अजनक (उत्पन्न नगर्ने) अरू वस्तुहरू सबै समान हुन जानेछन्।”

यसमा यदि परतः उत्पादलाई मान्नेहरूले कार्य र कारणमा जन्यजनकभाव अर्थात् उत्पत्ति हुने गुण र उत्पत्ति गराउने गुण विद्यमान छन्, त्यसैले सबैबाट सबै उत्पन्न हुने भन्ने दोष लाग्दैन भन्छन् भने हामी माध्यमिक भन्छौं कि अहिलेसम्म 'घडा' आदि कार्यको उत्पाद नै सिद्ध हुन सकेको छैन र त्यसकै प्रयासमा लागिराखेका छौ भने कसरी कार्य र कारणमा जन्यजनक भाव छ भनेर स्वीकार्ने ? पहिले त्यो कार्य साँच्चिकै उत्पाद भएको छ भन्ने सिद्ध भएपछि मात्र त्यसको स्वभावको चर्चा गर्नु उचित हुन्छ। फेरि ती कार्य र कारण मानिएका वस्तुहरूको एकै कालमा उपलब्धि हुँदैन। त्यसैले कसरी जन्यजनक सम्बन्ध कायम रहन्छ ? यदि कार्य र कारण एउटै सन्तानको प्रवाहमा देखिने कुरा हुन् भन्ने हो भने सन्तति पनि सिद्ध छैन किनकि जब फल अर्थात् कार्य नै प्रमाणित भएको छैन भने त्यसलाई आधार मानेर कल्पना गरिएको 'सन्तान' को पनि अस्तित्व सिद्ध छैन। त्यसैले सन्तान भन्ने नै कल्पना मात्र हो। 'पहिले' र 'पछि' भन्ने धारणा पनि काल्पनिक मात्र हो वास्तविक होइन। त्यसै गरी कार्य र कारणमा देखिने सादृश्य अर्थात् समानता पनि वास्तवमा छैन। अतः कार्य-कारणमा जन्यजनकभाव, सादृश्य, एउटै सन्तान हो भन्नु इत्यादि कुनै कुरा पनि सिद्ध हुँदैनन्। त्यसकारण अन्ततोगत्वा परतः उत्पाद भन्ने कुरा कतैबाट पनि सम्भव हुँदैन।

३. दुवैबाट उत्पन्न हुँदैनन् (उभयतः उत्पाद हुँदैन)- 'स्व' र 'पर' दुबैबाट उत्पन्न हुन्छ भन्नु झन् अनुपयुक्त हुन्छ किनकि दुवै तर्फका दोषहरूको एकै साथ प्रसङ्ग उठ्छ। फेरि दुईटाले अलग अलग केही सिद्ध गर्न सकेनन् भने मिलेर पनि केही गर्न सक्दैनन्। जस्तै एउटा अन्धोले कुनै वस्तु देखेन भने सय ओटा अन्धा मिलेर पनि त्यो देख्न सम्भव हुनेछैन। एक मुठि बालुवाले तेल निकाल्न सक्दैन भने सयौ बोरा बालुवा मिलाए पनि तेल निस्किँदैन। त्यसकारण 'स्व' र 'पर' दुवैबाट उत्पत्ति हुने कुरा झन् असम्भव हुन्छ।

यसप्रकार स्वतः, परतः, उभयतः र अहेतुतः उत्पाद हुन सम्भव छैन। त्यसैले वास्तवमा धर्महरू अनुत्पन्न नै छन्। अनुत्पन्न भएका हुनाले अनिरुद्ध छन्। यही नै धर्महरूको पारमार्थिक स्थिति हो। त्यही भएर यिनीहरू माया समानका, मृगमरीचिका समानका, प्रतिबिम्ब समानका, प्रतिध्वनि समानका, प्रतीत्यसमुत्पन्न र स्वभावशून्य छन् र त्यही रूपमै भासित भैराखेका छन्। यहाँ यिनीहरू प्रतिभासित हुनको लागि 'इदम्प्रत्ययता' मात्रको (यो भएमा यो हुन्छ भन्ने स्वभावको) संवृत्तिलाई कुनै पनि आपत्ति छैन।

आर्य शालिस्तम्बसूत्रमा भगवान्‌ले भन्नुभएको छ,

"तत्र कथं प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति ? इहोक्तं भगवता य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सततसमितं निर्जीवं यथावदविपरीतमजीव-मजातमभूतमकृतमसंस्कृतमप्रतिघमनालम्बनं शिवमभयमनाहार्यम-व्ययमव्युपशमस्वभावं पश्यति स धर्मं पश्यति।"

यसको तात्पर्य हो 'जसले प्रतीत्यसमुत्पादलाई निर्जीव, यथावत्, अविपरीत, अजीव, अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत, अप्रतिघ, अनालम्बन स्वरूपको र कल्याणकारक, भय नभएको, निश्छल, नाश नहुने, व्युपशम नहुने स्वभावको देख्दछ त्यसले धर्मलाई देख्दछ।' त्यस्तै उहाँले त्यहीँ बताउनुभएको छ कि उक्त स्वभावको प्रतीत्यसमुत्पादलाई जसले देख्छ उसले अनुत्तरधर्मशरीरको बुद्धलाई देख्छ।

त्यस्तै बाहिरी प्रतीत्यसमुत्पाद शाश्वतबाट पनि होइन, उच्छेदबाट पनि होइन, संक्रान्तिबाट पनि होइन, सानो हेतुबाट ठूलो फल देखिने गरी, उस्तै हेतुबाट उस्तै फल देखिने गरी भएको हुन्छ भन्ने देख्नुपर्छ भनिएको छ। अतः परमार्थतः सबै धर्महरू अनुत्पन्न भए पनि इदम्प्रत्ययताको कारणले व्यावहारिक जगत् देखा परिरहेको हुन्छ।

त्रैकाल्यवादी सर्वास्तिवादीबौद्धहरू भन्छन्– यी भाव (पदार्थ)हरू अत्यन्त असम्भव चाहिँ होइनन्। यहाँ यिनीहरू नितान्त अभाव या हुँदैनभएका होइनन्। त्यसकारण पूरै 'अनुत्पन्न' भन्न मिल्दैन। किनकि भूत, वर्तमान र भविष्य यी तीन कालको सत्ता छ। त्यसकारण यी पदार्थहरू हेतुप्रत्ययका बलले अनागतकालबाट वर्तमानकालमा आइपुग्छन्। त्यही नै तिनीहरूको उत्पाद हो। फेरि तिनीहरू अनित्यताको बलले गर्दा अतीतकालमा पुग्छन्। यो नै तिनीहरूको व्यय हो। यसप्रकार उत्पाद-स्थिति-भङ्गको व्यवस्था भएको हो र प्रतीत्यसमुत्पादको स्वरूप पनि यसरी नै बुझ्नुपर्छ। अनुत्पाद आदि प्रतीत्यसमुत्पादमा मिल्दैन। त्यसको उत्तरको लागि आचार्य भन्नुहुन्छ–

> अन्यतो नापि चायातं न तिष्ठति न गच्छति।
> मायातः को विशेषो ऽस्य यन्मूढैः सत्यतः कृतम् ॥१४३॥

अन्यत्रबाट आउन्न, रहन्न जान्न त्यो कहीँ
मायाभन्दा के छ बढी मूढले सत्य ठान्दछन् ॥१४३॥

अन्वयार्थ : अन्यतः = अन्यत्रवाट, अपि = पनि, न आयातम् = आएको होइन, न तिष्ठति = कहीँ स्थित पनि हुँदैन, अर्थात् रहँदैन, न गच्छति = कतै पनि जाँदैन, अस्य = यसको, मायातः = मायाभन्दा, कः विशेषः = के विशेपता छ ? यत् = जो, मूढैः = अज्ञानीहरूले, सत्यतः = सत्य अर्थात् साँच्चिकै छ भन्ने हिसावले, कृतम् = गराइएको छ।

वास्तवमा कुनै पनि वस्तु अनागत कालबाट वर्तमानमा आउने होइन। कुनै स्थानबाट यहाँ आउने पनि होइन। त्यस्तै त्यो वस्तु वर्तमानमा कतै अवस्थित पनि हुँदैन। न वर्तमान क्षणमा त्यो उपलबध हुन्छ न त्यसको स्थिति कहाँ छ भन्ने कुरा उपलबध हुन्छ। त्यस्तै त्यो अतीतमा जाने पनि होइन र कुनै स्थानमा यहाँबाट सरेर जाने पनि होइन। त्यसकारण त्यो तीनै कालमा एकसमान रूपमा रहने भन्ने पनि नमिल्ने कुरा हो। नत्र त त्यो नित्य हुन जाने छ। संस्कृत र प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तु नित्य नभएर अनित्य हुन्छन् भन्ने स्वयं त्रैकाल्यवादीहरूले पनि मान्छन्।

त्रैकाल्यवादी भन्छन्– क्रिया (अथवा कारित्र)को आधारमा हामीले तीनकालको व्यवस्था गरेका हौं। जुन वस्तुले अर्थक्रिया गर्दैछ त्यो वर्तमान हो, जसले अझै गरेको छैन त्यो भविष्य हो र जसले गरिसक्यो त्यो अतीत हो, त्यसकारण दोष हामीलाई लाग्दैन।

माध्यमिक भन्छन्– जब पहिले अर्थक्रिया थिएन, अहिले आउँछ र पछि हराउँछ भने त्यो वस्तुको स्वभावमा परिवर्तन आयो। परिवर्तन आए- पछि पनि त्यो उही वस्तु कसरी हुन सक्छ ? क्रियाकारित्व नभएकोमा क्रिया गर्ने क्षमता उत्पन्न भयो भने कसरी त्यो उही वस्तु रह्यो ? त्यो मान्ने हो भने त खरायोको सिङ् पनि वस्तु हो भन्नु पर्नेछ किनकि त्यसको पनि क्रियाकारित्व छैन। फेरि वर्तमान, अतीत र अनागत भन्ने द्रव्यतःसत् भएको भए वस्तुमा के कमीले अनागत भयो, केले प्रत्युत्पन्न भयो र के नहुनाले गर्दा अतीत भयो त ? द्रव्यसत् भनेको त सधैं उही रहने नित्यसत्ता

भएको हो। त्यसैले तीनै काललाई सत्ताको रूपमा कल्पना गर्नु प्रमाणतः असिद्ध हुन्छ।

त्रैकाल्यंवादी भन्छन्- भगवान् स्वयंले नै *'अस्त्यतीतं कर्म, अस्त्यनागतं कर्म'* भनेर अतीत र अनागत भन्ने कुराको अस्तित्व बताउनु भएको सूत्र प्रमाण हुँदाहुँदै कसरी नमान्ने ?

माध्यमिक भन्छन्- भगवान्ले हेतु र फलको व्यावहारिक अस्तित्व समेत नमान्ने मिथ्यादृष्टिवालाहरूलाई सम्झाउनको लागि त्यो बताउनुभएको हो न कि साँच्चिकै परमार्थतः अतीतको कर्म छ, अनागतको फल छ भन्नको लागि। उहाँ उपायकुशल भएको हुनाले अभिप्राय अनुसार उपदेश गर्नुभएको हो। नत्र उहाँले परमार्थशून्यता सूत्रमा यस्तो किन भन्नुहुन्थ्यो ? *"चक्षुर्भिक्षवः, उत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानं न क्वचित् संनिचयं गच्छति। इति हि भिक्षवः, चक्षुरभूत्वा भवति, भूत्वा च प्रतिविगच्छति इति।"* अर्थात् 'हे भिक्षु हो, चक्षु उत्पन्न हुँदा न कतैबाट आउँछ, न निरोध हुँदा कतै जान्छ। यसरी भिक्षु हो, चक्षु नभएर हुन्छ, भएर तुरुन्तै नाश हुन्छ अर्थात् हुँदैन।"

त्यसकारण वस्तुहरू तीनै कालमा रहने या गमन गर्ने भन्ने कुरा उपयुक्त छैन। यस्तै सबै पदार्थहरू, चाहे जड होस् चाहे चेतन होस्, न कहींबाट आउँछन् न कहीं जान्छन्। वर्तमानमा उनीहरूको प्रतिभास पनि साँच्चिकै केलाउने हो भने उपलब्ध हुँदैन। त्यही भएर यिनीहरूको स्वभाव माया (इन्द्रजाल)बाट बनेका हात्ती घोडाको जस्तै मात्र हो। त्यही भएर आचार्य भन्नुहुन्छ- *"मायातः को विशेषो ऽस्य ......"* अर्थात् मायाभन्दा यसमा केही पनि विशेषता छैन। तैपनि अज्ञानी मूढहरूले यिनीहरूलाई नै स्वभावतः 'सत्' भन्ने ठान्छन्।

मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम्।
आयाति तत्कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ॥१४४॥

मायाद्वारा बनेको या हेतुबाट बनेछ जो
कहाँबाट आउँछ या कहाँ जान्छ बताऊ त्यो ॥१४४॥

अन्वयार्थ : यत् = जो, मायया = मायाद्वारा, निर्मितं = बनेको छ, यच्च = जो, हेतुभिः = हेतु- प्रत्ययहरूबाट, निर्मितं = बनेको छ, तत् = त्यो, कुतः = कहाँबाट, आयाति = आउँछ, कुत्र = कहाँ, याति च = जान्छ पनि, इति = यो, निरूप्यताम् = निरूपण गर।

जुन वस्तु मायाद्वारा निर्मित भएको हुन्छ अर्थात् माया उत्पन्न गराउने सामग्री, विद्या, जुक्ति आदिबाट देखापरेको हुन्छ, जुन वस्तु विभिन्न हेतु र प्रत्ययहरूद्वारा बनेको हुन्छ त्यो कहाँबाट आउँछ या कहाँ जान्छ र हराउँछ ? यो कुरालाई राम्रोसँग विचार गर। ती सामग्री जुट्ने वित्तिकै देखापर्छ अर्थात् प्रज्ञप्ति हुन्छ भने ती सामग्रीमा परिवर्तन आउनासाथ उक्त वस्तुको प्रज्ञप्ति पनि हराउँछ। न त्यो वस्तु पहिले कतै थियो र त्यहाँबाट आएको हो न त्यो पछि कतै गएको छ।

यदन्यसन्निधानेन दृष्टं न तदभावतः।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कुतः ॥१४५॥

अरु हुँदा देखिने त नहुँदा देखिँदैन त्यो
छायासमान कृत्रिम त्यसमा सत्यता कहाँ ? ॥१४५॥

अन्वयार्थ : यद् = जो, अन्यसन्निधानेन = अरूको सामीप्यले गर्दा, दृष्टं = देखिएको छ, तदभावत: = त्यसको अभावमा, न = देखिदैन, तस्मिन् = त्यो, कृत्रिमे = कृत्रिम वस्तुमा, सत्यता = वास्तविकता या परमार्थता, कुत: = कहाँबाट हुन्छ ?

जो वस्तु अरुको आश्रयले अरुको उपस्थितिमा देखापर्छ त्यो वस्तु वास्तविक होइन र त्यसको आफ्नो कुनै पनि स्वभाव हुँदैन। त्यसकारण ती आश्रय स्वरूपका प्रत्ययहरू नहुने वित्तिकै त्यो देखापर्न सक्दैन र हराउँछ। त्यसैले त्यो पराधीन छ। जसरी ऐना सामुन्ने हुने वित्तिकै अनुहार देखापर्छ र ऐना नभएमा त्यो प्रतिविम्ब देखिँदैन त्यसरी नै कृत्रिम स्वभाव भएका यी संसारका सम्पूर्ण धर्महरू (वस्तुहरू) वास्तवमा बनावटी रूपमा देखिएका मात्र हुन्। यिनीहरूमा सत्यता या वास्तविकता कसरी हुन सक्छ ? जसको स्वयं कुनै पनि अस्तित्व छैन त्यसको सत्यता कसरी हुन सक्छ ? त्यही भएर आचार्य नागार्जुनले भन्नुहुन्छ–

हेतुतः सम्भवो येषां तदभावान्न सन्ति ये।
कथं नाम न ते स्पष्टं प्रतिबिम्बसमा मताः ॥ (लोकातीतस्तवः ४)

अर्थात् "जसको उत्पत्ति हेतुबाट भएको छ र त्यो हेतुको अभावमा तिनको उत्पत्ति हुन सक्दैन त्यस्ता वस्तुहरू प्रतिबिम्बसमानका हुन् भनेर मानिएको कसरी स्पष्ट नहोस् त ?" त्यसकारण हेतुप्रत्ययबाट उत्पन्न हुने कुनै कुरा पनि परमार्थसत् हुँदैन। फेरि हेतुप्रत्ययहरूमा साँच्चिकै वस्तु उत्पन्न गर्ने क्षमता पनि परमार्थतः हुँदैन।

अब प्रश्न उठ्छ कि 'स्व' या 'पर' या 'उभयात्मक' या 'अहेतु' बाट उत्पन्न हुने वस्तु 'विद्यमान (भइरहेको) हो कि अविद्यमान (नभएको) ? कि विद्यमान र अविद्यमान दुवै स्वभावको हो ? यदि वस्तुवादीहरूले 'विद्यमान' या 'अविद्यमान' हो भन्छन् भने आचार्य भन्नुहुन्छ–

विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजनम्।
अथाप्यविद्यमानो ऽसौ हेतुना किं प्रयोजनम् ? ॥१४६॥

विद्यमान भाव भए हेतुको के प्रयोजन ?
अविद्यमानै त भए हेतुको के प्रयोजन ? ॥१४६॥

अन्वयार्थ : विद्यमानस्य = विद्यमान, भावस्य = भावको, हेतुना = हेतुले, किं प्रयोजनम् = के प्रयोजन हुन्छ ? अथ = यदि, असौ = यो भाव, अविद्यमान: = हुँदै नभएको कुरा हो भने, हेतुना = हेतुले, किं प्रयोजनं = के प्रयोजन भयो ?

यदि पहिले नै त्यो वस्तु विद्यमान छ भने त्यसलाई उत्पन्न गर्ने कुरा आउँदैन। त्यसकारण हेतुले के गर्ने ? हेतुको व्यापार नै सम्भव हुँदैन। कार्य पहिलेदेखि नै भएकोले कारणको प्रयोजन केही पनि हुँदैन। यदि अविद्यमान अर्थात् हुँदै नभएको वस्तु हो भने पनि त्यो हेतुले के गर्न सक्ने भयो र ? बालुवामा तेल अविद्यमान भएकोले त्यसलाई पेल्नुरूपी प्रत्ययबाट तेल कसरी आउँछ र ? असत् कहिल्यै पनि सत् बन्दैन।

विद्यमान छ भने हेतुको प्रयोजन छैन भन्नु त ठीकै छ परन्तु अविद्यमानलाई हेतुले केही गर्न सक्दैन भन्नु कसरी मिल्छ भन्ने शंका छ कि भनेर आचार्य भन्नुहुन्छ–

नाभावस्य विकारो ऽस्ति हेतुकोटिशतैरपि ।
तदवस्थः कथं भावः को वान्यो भावतां गतः ॥१४७॥

अभाव विकृतै हुन्न करोडौं हेतुले पनि
त्यही रहे भाव कहाँ ? या अर्को भाव बन्दछ ? ॥१४७॥

अन्वयार्थ : अभावस्य = अभावको, हेतुकोटिशतैरपि = सयौँ करोडौं हेतुले पनि, विकारः = विकार, नास्ति = हुँदैन, तदवस्थः = त्यही अभाव अवस्थामै रहेर, कथं = कसरी, भावः = भाव हुन सक्छ ? वा = अथवा, अन्यः = अर्को, कः = को, भावतां = भावको अवस्थामा, गतः = प्राप्त भएको छ ?

अभावलाई करोडौं हेतु प्रत्यय मिलेर पनि भाव बनाउन सक्दैनन् । किनभने अभावमा कुनै पनि विकार आउन सक्दैन । अभाव भनेको केही पनि नभएको हो । त्यसको स्वभावमा परिवर्तन नभएर त्यही अवस्थामा रहिराख्ने हो भने कसरी भाव हुन्छ ? अथवा त्यहाँ अभावभन्दा अर्कै कुनै वस्तु छ र त्यो भाव बन्ने हो कि ? त्यस्तो के छ त ?

होइन, त्यही भावको विरोधी धर्मस्वरूप पहिलेको अभाव नै समाप्त भएपछि भाव उत्पन्न हुने हो भने-

नाभावकाले भावश्चेत् कदा भावो भविष्यति ?
नाजातेन हि भावेन सा ऽभावो ऽपगमिष्यति ॥१४८॥

अभावकालमा भाव नभए कहिले हुने ?
अनुत्पन्न भावबाट त्यो हट्नेछ कहाँ अनि ॥१४८॥

अन्वयार्थ : अभावकाले = अभावको समयमा, भावः न चेद् = भाव हुँदैन भने, भावः = भाव, कदा = कहिले, भविष्यति = होला त ? हि = किनकि, अजातेन = उत्पन्न नभएको, भावेन = भावले, सः = त्यो, अभावः = अभाव, न अपगमिष्यति = हट्ने छैन ।

यदि त्यो अभावको समयमा भाव हुँदैन भने भाव कतिखेर आउला त ? अभावलाई हटाउन भाव उत्पन्न हुनुपर्छ । परन्तु जबसम्म अभाव रहन्छ तबसम्म भाव उत्पन्न हुन सक्दैन । किनकि यिनीहरू परस्पर विरोधी स्वभावका छन् । अब उत्पन्नै नभएको भावले कसरी अभावलाई हटाउन सक्छ ? अनुत्पन्न भावले अभाव हटाउन सक्दैन । त्यसकारण त्यो अभाव हट्नै सक्दैन ।

न चानपगते ऽभावे भावावसरसम्भवः ।
भावश्चाभावतां नैति द्विस्वभावप्रसङ्गतः ॥१४९॥

अभाव नहटी हुन्न भावको आउने स्थिति
भावै अभाव बन्दैन, कुरा भो दुई स्वभावको ॥१५०॥

अन्वयार्थ : अभावे = अभाव, अनपगते = नहटिकन, भावावसरसम्भवश्च = भाव आउने मौकाको सम्भावना पनि, न = छैन, भावश्च = भाव नै, अभावतां नैति = अभावतामा पुग्ने पनि होइन, द्विस्वभावप्रसङ्गतः = एउटै कुराको दुई स्वभाव हुने प्रसङ्ग उठ्ने हुनाले ।

जबसम्म अभाव हट्दैन तबसम्म भाव उत्पन्न हुने कुनै पनि मौका मिल्दैन किनभने भावको

विरोधी धर्म त्यहाँ विद्यमान हुन्छ। यदि भावलाई उत्पन्न गर्ने कारणसामग्रीले नै अभावलाई नाश पनि गर्छन् जस्तै प्रकाशले अँध्यारोलाई नाश पनि गर्छ भने वस्तुहरूलाई देखाउने काम पनि गर्छ भन्ने हो भने पनि उपयुक्त छैन किनकि कारणले गर्ने व्यापार कार्य उत्पन्न गर्नुसम्म मात्र सीमित हुन्छ। कार्य उत्पन्न गर्दागर्दै अभावको नाश पनि गर्दै जान्छ भन्ने हो भने पनि मिल्दैन किनकि अभावको सामर्थ्य रहुञ्जेल कारण सामग्रीले कार्य (भावको उत्पाद) गर्न सक्दैनन्। फेरि कारण र त्यो अभावमा कुनै विरोधी पनि छैन जसले गर्दा अभावलाई उसले नाश गरोस् किनकि कारणको समयमा पनि त्यो अभाव छँदै छ। यसरी कार्यको विद्यमान या अविद्यमान दुवै पक्षमा पनि त्यो हेतुले कुनै प्रयोजन दिन नसक्ने सिद्ध भएकोले उभयपक्षमा झन् सम्भव हुँदैन। अतः कार्य (भाव पदार्थहरू) को वास्तवमा उत्पाद नै सिद्ध हुँदैन। त्यसैले 'अनुत्पाद' वास्तविकता हो। त्यही भएर आचार्य नागार्जुनले भन्नुभएको छ,

> न सन्नुत्पद्यते भावो नाप्यसन् सदसन्न च।
> न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां जायते कथम्॥ (लोकातीतस्तव १३)

अर्थात् 'सत्' वस्तु पनि उत्पन्न हुँदैन भने 'असत्' वस्तु पनि उत्पन्न हुँदैन। फेरि सद्-असद् दुवै स्वभावको वस्तु उत्पन्न हुन्छ भन्ने पनि मिल्दैन। त्यस्तै वस्तु (भावहरू) न आफैबाट उत्पन्न हुन्छन् न अर्कोबाट उत्पन्न हुन्छन्। अनि दुवैबाट झन् कसरी उत्पन्न हुने ?"

त्यस्तै जसरी अभाव कहिल्यै पनि भाव अवस्थामा आइपुग्दैन त्यसै गरी भाव पनि अभाव अवस्थामा आइपुग्दैन। यदि आउँछ भन्ने मान्ने हो भने झन् एउटै वस्तुको दुई भिन्दाभिन्दै स्वभाव हुने प्रसङ्ग निस्किन्छ जो सम्भव हुँदैन।

> एवं च न निरोधो ऽस्ति न च भावो ऽस्ति सर्वदा।
> अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्॥१५०॥

यसरी न निरोधै छ न भाव छ कहीं सदा
त्यसैले जगतै सारा अजात अनिरुद्ध छ॥१५०॥

अन्वयार्थ : *एवं च = यस्ता प्रकारले पनि, सर्वदा = सधै, न निरोधः अस्ति = न निरोध छ, न च भावः अस्ति = न त भाव छ, तस्मात् = त्यसकारणले, इदं सर्वं = यो सबै, जगत् = संसार नै, अजातं = अनुत्पन्न या नजन्मिएको र, अनिरुद्धं च = निरोध पनि नभएको छ।*

यसरी केलाउँदाखेरि स्पष्ट हुनआउँछ कि कतै कुनै कुरा उत्पन्न पनि भएको छैन र निरोध पनि भएको छैन। त्यसकारण उत्पाद र व्यय भन्ने कुरा परमार्थतः छैनन् र व्यावहारिक कल्पना मात्र हुन्। त्यसकारण यो सारा जगत् नै 'अजात' छ र 'अनिरोध' छ। यो जन्मेको पनि छैन र निरुद्ध भएको पनि छैन। भगवान्ले सूत्रमा बताउनुभएको छ कि,

"*उत्पादाद् वा तथागतानामनुत्पादाद् वा तथागतानां स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता, धर्मस्थितता, धर्मधातुः तथता अवितथता......* " अर्थात् तथागत उत्पन्न भए पनि या नभएपनि धर्महरूको यस्तो स्वभाव, धर्मस्थितता, धर्मधातु, तथता या अवितथता छँदैछ।

त्यसकारण यस्तो कहिल्यै झूटो नहुने यथार्थ स्वभाव नै वस्तुहरूको पारमार्थिक स्वरूप हो। उत्पाद निरोध आदि परमार्थतः छैनन्। यस्तो स्वभावहीनता नै शून्यता हो, धर्मता हो, धर्मधातु हो। सम्पूर्ण चराचर जगत् (सत्त्व लोक र भाजन लोक) कै स्थिति यही हो। तैपनि मायाबट उत्पन्न भए जस्तो गरी व्यवहारमा यो सबै जगत् देखा पर्ने गर्छ। यसबाट संवृतिसत्यमा कुनै हानि छैन। व्यवहारमा उत्पाद निरोध छन्।

धर्मसंगीतिमा भनिएको छ, *"तथता तथतेति, कुलपुत्र, शून्यताया एतदधिवचनम्। सा च शून्यता नोत्पद्यते न निरुध्यते। आह-यदि एवं सर्वधर्माः शून्या उक्ता भगवता तत्सर्वधर्मा नोत्पद्यन्ते, न निरोत्स्यन्ते ? निरारम्भो बोधिसत्त्वः ? आह-एवमेतत्, कुलपुत्र, यथाभिसम्बुध्यसे। सर्वधर्मा नोत्पद्यन्ते न निरुध्यन्ते 'आह-यदेतदुक्तं भगवता 'संस्कृता धर्मा उत्पद्यन्ते निरूध्यन्ते च' इत्यस्य तथागतभाषितस्य को ऽभिप्रायः ? आह- उत्पादनिरोधाभिनिविष्टः कुलपुत्र, लोकसन्निवेशः। तत्र तथागतो महाकारुणिको लोकस्य त्रासपद-परिहारार्थं व्यवहारवशादुक्तवान् उत्पद्यन्ते निरुध्यन्ते च। न चात्र कस्यचिद्धर्मस्य उत्पादो न निरोधः"* **इति।**

अर्थात् 'हे कुलपुत्र, तथता तथता भनिने यो शून्यताको पर्यावाची हो। शून्यता न उत्पन्न हुन्छ न निरुद्ध हुन्छ। सोध्छन्- यदि भगवान्ले यसरी सबै धर्महरूलाई शून्य बताउनु भएको छ, त्यसो हो भने के सबै धर्महरू उत्पन्न पनि हुँदैनन् निरुद्ध पनि हुँदैनन् त ? के बोधिसत्त्वलाई केही कर्तव्य नै छैन त ? भन्नुहुन्छ- 'हो कुलपुत्र, जे बुझ्यौ त्यो ठीक हो। सबै धर्महरू न त उत्पन्न हुन्छन् न त निरुद्ध हुन्छन्।' सोध्छन्- त्यसो भए भगवान्ले संस्कृत धर्महरू उत्पाद हुन्छन् र निरुद्ध हुन्छन् भनेर बताउनु भएको छ, यस्तो तथागतवचनको अभिप्राय के हो त ? भन्नुहुन्छ- हे कुलपुत्र, उत्पाद र निरोध सामान्यलोकले मान्ने कुरा हो जसमा उनीहरूको अभिनिवेश अर्थात् बलियो विश्वास हुन्छ। त्यसैले उनीहरूले बुझ्न नसकेर भयभीत होलान् (र दुःखनिरोधको मार्गमै न आउलान्) भनेर महाकारुणिक तथागतले व्यवहारवश 'उत्पन्न हुन्छन् र निरुद्ध हुन्छन्' भन्नुभएको हो। वास्तवमा यहाँ कुनै धर्मको पनि उत्पाद र निरोध भएको छैन।"

त्यसकारण सम्पूर्ण जगत् र षड्गति आदि सबै नै आदिशान्त र स्वभावैले परिनिर्वृत छन् भन्ने कुरा जनाउन आचार्य भन्नुहुन्छ-

स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः।
निर्वृतानिर्वृतानां च विशेषो नास्ति वस्तुतः ॥१५१॥

विचार्दा ती छन् केराको स्तम्भ झैं सपना सरी
अनिर्वृत निर्वृतको वस्तुतः भेद छैन क्यै ॥

अन्वयार्थ : विचारे तु = विचार गर्दा त, गतयः .= पड्गतिहरू पनि, स्वप्नोपमाः = सपनाजस्तै छन्, कदलीसमाः = केराको खम्वा जस्तै छन्, निर्वृतानिर्वृतानां च = निर्वृत (निर्वाणस्वरूपका) र अनिर्वृत (जगत् स्वरूपका) धर्महरूमा, वस्तुतः = वास्तविक रूपमा या परमार्थतः, विशेपः = भेद, नास्ति = छैन।

परमार्थगवेषक युक्तिहरूबाट विचार गर्ने हो भने त नरक, प्रेत, पशु, मनुष्य, असुर, देव आदि जति पनि सांसरका गतिहरू छन् ती सबै सपना समानका हुन्। जसरी सपनमा देखिने सम्पूर्ण

दृश्यका अनुभूतिहरू सुख, दुःख, त्रास, हर्ष आदि सबै भोगिराखिएको हुन्छ र वास्तविक जस्तै लाग्छन् तापनि जाग्ने वित्तिकै ती सबै काल्पनिक रहेछन् भन्ने जानिन्छ ठीक त्यसै गरी यी सम्पूर्ण जगत्का अनुभूतिहरू पनि वास्तविक छन् जस्तो लागिरहेको छ तापनि पारमार्थिक दृष्टिले देख्ने वित्तिकै सपना समानका हुन्छन् । त्यसकारण स्वर्ग-नरक र त्यहाँ जाने-आउने सबै सपना जस्तो मात्र हो । वास्तविक होइन । न कतै जानु छ, न कतै आउनु छ, न कतै रहनु छ । जसरी केराको खम्बा (बोट) लाई यो बोक्रो हो, भित्र गुदी खोज्नुपर्‍यो भनेर कोटचाउँदै जाने हो भने अन्तमा केही पनि भेटिँदैन, त्यसरी नै यो जगत्लाई विचार गर्ने हो भने वास्तविक सत्ता केही पनि भेटिँदैन । त्यही भएर आचार्य शान्तिदेवले पहिले नै यही ग्रन्थमा चौथो परिच्छेदमा भन्नुभएको थियो कि *"मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय त्रासं भजस्वोद्यमम्"* अर्थात् यो सबै माया नै हो त्यसकारण हे मन, नडराएर प्रयत्न गर्न थाल ।'

त्यसअर्थमा भन्ने हो भने निर्वाण र संसारमा केही पनि भेद छैन । निर्वृत र अनिर्वृतहरूमा पनि तत्वतः कुनै अन्तर छैन । परिनिर्वृत भैसकेका बुद्ध, अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध आदि र संसारमै भौंतारिइरहेका नरकदेखि लिएर अरूपधातुसम्मका सांसारिक प्राणीमा कुनै भेद छैन । त्यही भएर आचार्य नागार्जुन भन्नुहुन्छ–

बुद्धानां सत्त्वधातोश्च येनाभित्वमर्थतः ।
आत्मनश्च परेषां च समता तेन ते मता ॥(अचिन्त्यस्तवः ४२)

अर्थात् 'बुद्ध र सत्वधातुमा परमार्थतः जुनकारणले गर्दा कुनै पनि भिन्नता छैन त्यही कारणले गर्दा आफू र अरुमा तपाईंले समानता मान्नुभएको छ ।'

त्यसकारण यस्तो यथार्थतालाई बोध गर्न नसकेका हुनाले प्राणीहरूले अज्ञानी भएर जगत् र जगत्का व्यवहारलाई वास्तविक ठान्छन् र अनेक प्रकारका दुःख कष्टहरू भोगदछन् ।

एवं शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत् ।
सत्कृतः परिभूतो वा केन कः सम्भविष्यति ॥१५२॥

यसरी शून्य धर्मैमा के प्राप्ति ? के छ हानि र ?
कोबाट कस्को सत्कार, तिरस्कार छ सम्भव ? ॥१५२॥

अन्वयार्थ : एवं = यसरी, शून्येपु = शून्य, धर्मेषु = धर्महरूमा, किं = के, लव्धं = प्राप्त होला, किं = के, हृतं = अपहरित भवेत् = होला ? कः = को व्यक्ति, केन = कसद्वारा, सत्कृतः = सत्कार गरिएको, वा = अथवा, परिभूतः = अपमानित भएको, सम्भविष्यति = सम्भव होला ?

यसरी विचार गर्दा यी सबै शून्य धर्महरूमा लाभ भन्ने कुरा के छ र त्यसले गर्दा खुशी हुनु ? त्यस्तै के वस्तु हरण हुन्छ र त्यसबाट चिन्तित एवं द्वेषले युक्त हुनु ? त्यसैगरी कसले कसलाई आदर-सत्कार गर्न सम्भव हुन्छ ? अथवा कसले कसको अपमान गर्न सम्भव हुन्छ ? वास्तवमा कसैले केही पनि गरेको छैन किनकि कोही पनि वास्तविक धर्म होइनन् ।

कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रियं वा किमप्रियम् ।
का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावतः ॥१५३॥

सुख, दु:ख कहाँवाट ? प्रिय अप्रिय के छ र ?
तृष्णा के हो ? कहाँ त्यो छ ? खोज्दाखेरि स्वभावत: ॥१५३॥

__अन्वयार्थ :__ सुखं वा = सुख या, दु:खं वा = दु:ख पनि, कुत: = कहाँवाट हुन्छ ? प्रियं = प्रिय अर्थात् मनपर्ने, किं = के छ ? वा = अथवा, अप्रियं = अप्रिय (मन नपर्ने) भन्ने, किं = के हुन्छ ? तृष्णा = तृष्णा भनेको, का = के हो ? सा तृष्णा = त्यो तृष्णा, स्वभावत: = स्वभावको रूपमा, मृग्यमाणा = खोज्दा, कुत्र = कहाँ छ ?

सुख कसरी हुन्छ या दु:ख पनि कसरी हुन्छ ? हेतु र फल भन्ने कुरा त वास्तविक होइनन् भने सुख र दु:ख झन् कसरी वास्तविक हुन सक्छन् ? त्यसकारण प्रयत्न गर्नु नै आवश्यक पर्दैन जे छ अनायास नै छ, सहज नै छ। प्रिय भन्ने पनि के हुन्छ जसको लागि राग उत्पन्न होस् ? अप्रिय भन्ने के छ जसको लागि द्वेष उत्पन्न होस् ? यदि तृष्णा छ र त्यसले यो सबै भएको भनौं भने तृष्णा पनि के हो त ? स्वभाव नै केलाएर हेर्ने हो भने तृष्णा कहाँ उपलबध हुन्छ ? जब कुनै ज्ञाता नै छैन ज्ञेय नै छैन र ज्ञान पनि स्वभावत: छैन भने त्यो तृष्णा कहाँ भेटिन्छ ? त्यसकारण तृष्णा छ भन्नु, त्यसको निवारण खोज्नु पनि परमार्थरूपमा केही छैन। सबै व्यवहार मात्र हो र मायासमान हो।

**विचारे जीवलोक: क: ? को नामात्र मरिष्यति ?
को भविष्यति ? को भूत: ? को बन्धु: कस्य ? क: सुहृत् ॥१५४॥**

विचार्दा खै जीवलोक ? यहाँ मर्नेछ के कुरा ?
को हुनेछ ? को भयो ? को बन्धु ? को कसको सखा ? ॥१५४॥

__अन्वयार्थ :__ विचारे = विचार गर्दा, जीवलोक: = प्राणीहरूको लोक, क: = कुन हो ? अत्र = यहाँ, को नाम = को व्यक्ति, मरिष्यति = मर्नेछ र ? क: = को, भविष्यति = हुनेछ ? क: = को, भूत: = पहिले भएको छ ?, क: = को, बन्धु: = वन्धु हो ? कस्य = कसको, क: = को, सुहृद् = साथी (मित्र) हो ?

परमार्थत: के छ भनेर विचार गर्ने हो भने यो प्रणीलोक अर्थात् मानिस, पशु, देवता, प्रेत जस्ता कुरा के छन् र ? केही पनि छैनन्। जब यी केही पनि छैनन् भने यहाँ को मर्छ र ? कोही पनि मर्दैन किनकि कोही जन्मेकै छैन। कोही पनि नमर्ने भएकोले फेरि भविष्यमा जन्मिने पनि को छ र ? पहिले भएकै को थियो र ? हामी बन्धुबान्धव भनेर निकै तड्पिने गर्छौं, परन्तु बन्धु भनेको कहाँ छ ? को हो ? वास्तवमा कोही पनि छैनन् भने कसको को मित्र हुन सक्छ ? त्यही हिसाबले कसको को शत्रु हुन सक्छ ? वास्तवमा यो सब कल्पना मात्र हो। अरू केही पनि छैन। यस्तो नि:स्वभाव स्पष्ट हुँदाहुँदै पनि अज्ञानीहरूले सबै कुरा वास्तविक भन्ने ठान्छन्।

**सर्वमाकाशसङ्काशं परिगृह्णन्तु मद्विधा:।
प्रकुप्यन्ति प्रहृष्यन्ति कलहोत्सवहेतुभि: ॥१५५॥**

सबै आकाश झैं जान्नू, परन्तु मसमानका
रिसाउछन् खुशी हुन्छन् कलहोत्सवहेतुले ॥१५५॥

__अन्वयार्थ :__ सर्वं = सबै कुरालाई, आकाशसङ्काशं = आकाश समानको रूपमा, परिगृह्णन्तु = ग्रहण गरुन् (अर्थात् बुझ्नु पर्छ) मद्विधा = म जस्ता अज्ञानीहरू त, कलहोत्सवहेतुभि: = झगडा र उत्सव(खुशी)का कारणहरूले गर्दा, प्रकुप्यन्ति = रिसाउछन् प्रहृष्यन्ति = खुशी हुन्छन्।

जति पनि वस्तुहरू छन् ती सबै यथार्थमा स्वभावहीन एवं शून्य भएका हुनाले एक प्रकारले आकाश जस्तै नै छन्। किनभने आकाशको पनि यस्तो उस्तो भन्ने निश्चित स्वभावको ठेगान गर्न सकिँदैन। त्यसकारण बुद्धिमान्ले यसरी सबै कुरालाई आकाश झैं स्वभावहीन, असार र तत्त्वहीन बुझ्नुपर्छ। तैपनि मजस्ता अज्ञानीहरूले त्यो बुझ्न नसकेर झैंझगडा र खुशियाली मनाउने कारणहरूमा ग्राह गर्नाले तिनीहरूलाई वास्तविक ठान्छन् र झगडाका कारणहरूले गर्दा रिसाउने गर्छन् र उत्सव या खुशियालीका कारणले खुशी हुने र रमाउने गर्छन्।

यहाँ आचार्यले विनम्रता प्रकट गर्नको लागि आफूलाई नै अज्ञानीको दर्जामा राखेर दृष्टान्त बन्नुभएको छ। बौद्धहरूको यो स्वाभाविक शैली हो किनकि 'म' भन्ने आत्मदृष्टिलाई नै नाश गर्ने अभ्यास गरेका बोधिसत्वहरूमा नम्रताबाहेक अरु आडम्बर रहने ठाउँ नै छैन।

झगडा गर्ने, खुशी हुने जस्ता कुराहरू परमार्थ स्वरूप नबुझेर संवृतिमा नै वास्तविकता देख्नाले हुने गर्छन्। यदि परमार्थ स्वभाव शून्यतालाई नजान्ने हो भने त्यति मात्र होइन अन्य थुप्रै दुःखहरू भोग्नुपर्ने हुन्छ। जस्तै-

शोकायसैर्विषादैश्च मिथश्छेदनभेदनैः।
यापयन्ति सुकृच्छ्रेण पापैरात्मसुखेच्छवः ॥१५६॥

शोक, श्रम, विषादै र काट्ने छेँड्ने परस्पर
पापी भै वित्छ कष्टैले चाहँदा आफनू सुख ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ : आत्मसुखेच्छवः =आफ्नो सुखको चाहना गर्नेहरूले, शोकायसैः = शोक र कप्टले, विपादैश्च = खिन्नताले, मिथः = परस्पर, छेदनभेदनैः = काट्ने, छेड्ने जस्ता कामबाट र, पापैः = पापकर्मले, सुकृच्छ्रेण = अति कप्टपूर्वक, यापयन्ति = जीवन विताउँछन्।

परमार्थको ज्ञान नहुने हो भने आफ्नो सुखको चाहना गर्ने प्राणीहरूलाई छोरो, स्वास्नी, लोग्ने, धन, सम्पत्ति जस्ता कुराहरूबाट शोकले ग्रस्त हुँदै, सुखलाई प्रप्त गर्न र दुःखलाई हटाउनको लागि कठोर परिश्रम गर्दै, लाभ - सत्कार आदि प्राप्त नभएकोमा खिन्नता र हीनताबोधले ग्रस्त हुँदै, र आपसमा झैझगडा, द्वेष, कलह आदिले गर्दा टाउको, खुट्टा आदि काट्ने, हात, तिघ्रा, भुँडी आदि छेड्ने जस्ता काम गर्दै अनेकौं पाप कर्महरूको माध्यमबाट जीवन बिताउनुपर्ने हुन्छ। बाँचुन्जेल त्यसरी जीवन बिताइसकेपछि पनि उनीहरूलाई सुख हुँदैन। किनभने -

मृताः पतन्त्यपायेषु दीर्घतीव्रव्यथेषु च।
आगत्यागत्य सुगतिं भूत्वा भूत्वा सुखोचिताः ॥१५७॥

मरेपछि तीब्र पीडा भोग्न खस्छन् अपायमै
वारम्वार सुगतिमा सुख भोग्दै गरे पनि ॥१५७॥

अन्वयार्थ : मृताः = मरेपछि, दीर्घतीव्रव्यथेपु = लामो समयसम्म अत्यन्त पीडा हुने, अपायेपु = नरक, प्रेत र पशुजस्ता योनिमा, पतन्ति = खस्छन् अथवा जान्छन्। सुगतिं = सुगतिमा, आगत्य आगत्य = आइआइकन, सुखोचिताः = सुखले युक्त, भूत्वा भूत्वा = भइभइकन पनि (अपायमै खस्छन्)।

मरेपछि उनीहरू आफ्ना कुकर्महरूको बलले गर्दा सोझै नरक, प्रेत र पशुजस्ता लामो अवधिसम्म अति नै तीव्र दु:ख-कष्ट भोग्नुपर्ने अपाय गतिमा जान्छन् । त्यो भोग गरेर सिद्धिएपछि फेरि उनीहरू सुगतिमा आएर सुख भोग गर्न सक्छन् । तर पनि परमार्थ ज्ञान नभएकोले र अनादिकालदेखिका अकुशल कर्मका बीजहरू कायमै रहेका हुनाले मुक्त नभएर फेरि पनि त्यस्तै अपाय योनिमा खस्छन् । यसरी बारम्बार सुगतिमा आई आई सुखभोग गरी गरी फेरि नरक आदिमा परिरहन्छन् र दु:खको चक्रबाट पार हुन सक्दैनन् ।

भवे बहुप्रपातश्च तत्र चातत्त्वमीदृशम् ।
तत्रान्योन्यविरोधश्च न भवेतत्त्वमीदृशम् ॥१५८॥

धेरै गिरिन्छ भवमा यस्तो भ्रान्ति त्यहाँ छ र
परस्पर विरोधै छ, त्यस्तो हुन्न नि तत्त्व त ॥१५८॥

अन्वयार्थ : भवे = संसारमा, बहुप्रपातश्च = धेरै पतन भइरहनुपर्ने हुन्छ, तत्र = त्यहाँ, ईदृशम् = यस्तो प्रकारको, अतत्त्वं च = भ्रान्ति पनि भइरहन्छ, तत्र = त्यहाँ, अन्योन्यविरोधश्च = परस्परमा वैरभाव र विरोधहरू भइरहन्छन्, तत्त्वं = तत्त्व या परमार्थ त, ईदृशम् = यस्तो खालको, न भवेत् = हुँदैन ।

कामधातु, रूपधातु र अरूपधातुको यो संसारमा जहिले पनि झर्ने चढ्ने, आघात प्रतिघात जस्ता कुरा भइरहन्छन्, आवागमन भइरहन्छ। यसभित्र पनि माथि बताइएको जस्तो मोह या भ्रान्ति भइरहन्छ जसले गर्दा सुख दु:ख, स्वर्ग नरक जस्ता जनसाधारणले गर्ने अनुभूतिहरू भइरहन्छन् र यो नै अतत्त्व हो, व्यामोह हो, अज्ञान हो। त्यसमा पनि यहाँ परस्परमा विरोध, द्वेष, झैझगडा आदि भइरहन्छन्। परन्तु तत्त्व अर्थात् 'परमांर्थ' त यस्तो हुँदैन। त्यसकारण 'तत्त्वज्ञान'मा यी सबै शान्त हुन्छन्।

तत्र चानुपमास्तीव्रा अनन्ता दु:खसागरा: ।
तत्रैवमल्पबलता तत्राप्यल्पत्वमायुष: ॥१५९॥

त्यहाँ तीव्र अनुपम अनन्त दु:खसागर
हुन्छन्, थोरै हुन्छ बल आयु हुन्छ निकै कम ॥१५९॥

अन्वयार्थ : तत्र च = त्यति भएर पनि, अनुपमा: = तुलना गर्नै नसकिने गरी, तीव्रा: = तीव्र (असह्यवेदना भएका), अनन्ता: = सीमा नै नभएका, दु:खसागरा : = दु:खका सागरहरू हुन्छन्, तत्र एव = त्यस माथि पनि, एवं = यस प्रकार, अल्पवलता = वल थोरै हुन्छ, तत्रापि = त्यसमाथि पनि, आयुष: = आयुको, अल्पत्वम् = कमी हुन्छ ।

त्यो भवमा त्यति मात्र होइन अझै धरै दु:ख छन् । जस्तै:- त्यहाँका दु:खहरू यति कठोर हुन्छन् कि तिनीहरूको उपमा नै हुँदैन । त्यस्ता अनुपम दु:खहरूको पीडा पनि कहिलेसम्म भोग्ने र कति धेरै भोग्ने भन्ने सीमा नै हुँदैन । त्यसैले यी अनन्त छन् र दु:खका सागर समान नै हुन् । महायानको अभ्यासविना यिनीहरूबाट पार पाउन असम्भव जस्तै हुन्छ ।

लामो समयसम्म कठोर परिश्रम गरे त सुख पाइहालिन्छ भनौं भने पनि त्यति सजिलो छैन किनभने संसारमा बाँधिउञ्जेल अभ्यासको बल धेरै हुँदैन । थोरै बलले पुग्दैन । त्यही भए पनि

धेरै समयमा त सकिएला भन्दा पनि आयु यति थोरै छ कि केही गर्न नपाई मृत्यु आइहाल्छ। फेरि अन्योल ! त्यति मात्र कहाँ हो र ?

> तत्रापि जीवतारोग्यव्यापारैः क्षुत्क्लमश्रमैः ।
> निद्रयोपद्रवैर्बालसंसर्गैर्निष्फलैस्तथा ॥१६०॥

त्यहाँ बाँच्न र आरोग्य, व्यापार, भोक र श्रम
निद्रा, उपद्रव तथा बालसंगत मात्र छ ॥१६०॥

अन्वयार्थ : तत्रापि = त्यसमा पनि, जीवितारोग्यव्यापारैः = जीवन धान्ने र निरोगी रहने धन्दा गर्दै, क्षुत्क्लमश्रमैः = भोक, प्यास, थकान र हिँड्ने आदि परिश्रमहरू गर्दै, निद्रया = सुतेर, उपद्रवैः = उपद्रवहरूद्वारा, तथा = त्यस्तै, निष्फलैः = व्यर्थका, वालसंसर्गः = वालपृथग्जन (अज्ञानी)हरूको संगत गर्दा गर्दै जीवन वित्छ ।

त्यति छोटो आयुमा पनि रोग नलागोस् भनेर या रोग लागेको भए निको पार्न भनेर जीवन चलाउन र स्वस्थ रहनको लागि नुहाउने, तेल मालिश गर्ने, विहान हिँड्ने, विभिन्न थरिका औषधिहरू खोज्ने, खाने जस्ता धन्दाहरू गर्दागर्दै धेरै समय खेर गइराखेको हुन्छ। त्यति मात्र होइन भोक, प्यास, जीउको थकान, आराम, व्यवसायको लागि परिश्रम जस्ता कुराबाट पनि समय नष्ट हुन्छ। त्यस्तै झण्डै एक तिहाई समय त सुतेर मात्र वितेको हुन्छ। त्यसबाट पनि बचेको समयमा अनेक किसिमका उपद्रवहरू मच्चिने, सर्प, बाघ, भालू आदि जन्तुका आतंक फैलिने, महामारी, अनिकाल, खडेरी, बाढी, पहिरो भूकम्प आदिले जीवन अस्तव्यस्त बनाउने या आफैले हँस्सी मजाक गर्ने, खेल-ठट्टा गर्ने र अनेक किसिमका उपद्रव मच्चाउने काम गर्दै वितेको हुन्छ। कहिले फेरी अज्ञानी बाल पृथग्जनहरूसँग संगत गर्दागर्दै निरर्थक गफगाफमा लागेर अमूल्य समय नष्ट भइरहेको हुन्छ।

> वृथैवायुर्वहत्याशु विवेकस्तत्र दुर्लभः ।
> तत्राप्यभ्यस्तविक्षेपनिवारणगतिः कुतः ॥१६१॥

व्यर्थ आयु छिटै जान्छ विवेक हुन्छ दुर्लभ
विक्षेपमै छ बानी झन् कसरी हट्छ त्यो अझ ॥१६१॥

अन्वयार्थ : आयुः = आयु, वृथा एव = व्यर्थमा नै, आशु = चाँडै, वहति = वित्दछ, तत्र = त्यस्तो अवस्थामा, विवेकः=विवेक पलाउनु, दुर्लभः = दुर्लभ हुन्छ, तत्रापि = त्यसमा पनि, अभ्यस्तविक्षेपनिवारणगतिः = वानी पारिसकिएका विक्षेपहरूलाई हटाउने उपाय, कुतः = कहाँवाट हुन्थ्यो ?

यसप्रकार यस्ता व्यर्थका क्रियाकलापहरूबाट चाँडै चाँडै हाम्रो आयु बितिरहेको हुन्छ। त्यसकारण त्यहाँ के कुरा त्यागनुपर्ने हो ? के कुरा ग्रहण गर्नुपर्ने हो ? केले गर्दा दुःख हुन्छ ? त्यसको कारण के हो ? त्यसलाई कसरी हटाउने ? भन्ने जस्ता विषयको ज्ञान लिन, ती विषयमा चिन्तन गर्न र बुद्धि विवेक पैदा गर्न एक प्रकारले असम्भव नै हुन्छ, नभए पनि अत्यन्त दुर्लभ हुन्छ। त्यस्तो परिस्थितिमा पनि केही प्रयत्न गरेर चित्तलाई शान्त पार्न प्रयास गरौं त भन्दा पनि सकिँदैन किनभने हाम्रो मन अनादि कालदेखि नै विभिन्न काम, राग, द्वेष, प्रतिघ, लोभ जस्ता क्लेशहरूले चञ्चल

भएर निरन्तर यत्रतत्र फ्याँकिने (विक्षेप) बानी परिसकेको छ। त्यो अभ्यासले (बानीले) गर्दा अहिले त्यति सजिलोसँग यो चित्तलाई नियन्त्रण गरेर शान्त पार्न सकिदैन।

तत्रापि मारो यतते महापायप्रपातने।
तत्रासन्मार्गबाहुल्याद्विचिकित्सा च दुर्जया ॥१६२॥

त्यस्मा मार मरीमेट्छ खसाल्न त अपायमा
धेरै असत् मार्ग हुँदा विचिकित्सा छ दुर्जया ॥१६२॥

अन्वयार्थ : तत्रापि = त्यसमा पनि, मार: = मारले, महापायप्रपातने = महान् दुर्गतिमा खसाल्न, यतते = प्रयत्न गर्छ, तत्र = त्यसमा पनि, असन्मार्गबाहुल्यात् = असत् मार्गको अधिकताले गर्दा, विचिकित्सा च = शंका-उपशंकालाई, दुर्जया = जित्न गाह्रो हुन्छ।

जसरी पनि प्रयास गरौं भन्ने हो भने फेरि क्लेशमार र देवपुत्रमारले अलिकति ध्यानकुशल या अन्य कुशल कर्महरू बढ्न लागेको देख्ने बित्तिकै महान् अपायगतिमा कसरी खसाल्ने भनेर प्रयत्न गर्न थाल्छ जसले गर्दा क्लेशहरू बढ्ने या बुद्धि भ्रष्ट हुने सम्भावना बलियो हुन्छ र नरक आदिमा जाने कर्म नै गर्न पुगिन्छ।

त्यसबाट पनि बचियो र धर्म अभ्यास गर्नमा रूचि कायमै रह्यो भने पनि यो संसारको धार्मिक बजारमा यति थरीका असद् धर्महरू छन् कि जता गयो त्यतै असद् धर्म भेटिन्छन्। जस्तैः चार्वाक्, मीमांसा, न्याय, सांख्य, योग वेदान्त, भक्तिवाद इत्यादि। त्यसकारण सन्मार्ग के हो भन्ने कुरालाई निश्चय गर्न नसकेर विचिकित्सा (शंका) भइरहन्छ। यो विचिकित्साबाट पार पाउन पनि निकै मुश्कील हुन्छ। यसलाई जित्न कठीन हुन्छ र मिथ्यामार्गमै फँस्न पुगेर यो जीवन त्यसमै बित्छ।

पुनश्च क्षणदौर्लभ्यं बुद्धोत्पादो ऽतिदुर्लभः।
क्लेशौघो दुर्निवारश्चेत्यहो दुःखपरम्परा ॥१६३॥

फेरि पाइन्न 'क्षण' यो बुद्धोत्पाद छ दुर्लभ
क्लेशधारा त हट्दैन अहो ! दु:खपरम्परा ॥१६३॥

अन्वयार्थ : पुनश्च = फेरि पनि, क्षणदौर्लभ्यम् = 'क्षण' सम्पत्ति पाउनु दुर्लभ छ , बुद्धोत्पाद: = वुद्ध उत्पन्न हुनु, अति दुर्लभ: = अत्यन्त दुर्लभ हुन्छ, क्लेशौघ: = क्लेशहरूको यो प्रवाह, दुर्निवार: = हटाउन कठीन छ, इति = यसरी हेर्दा, अहो ! = हे आश्चर्य !, दु:खपरम्परा = दु:खको परम्परा कस्तो हो !

मृत्युपछि कुनै कारणले सुगति प्राप्त भइहाल्यो भने पनि फेरि 'क्षण' प्राप्त गर्न अति गाह्रो हुन्छ जसको बारेमा पहिलो परिच्छेदमा पनि बताइ-सकिएको छ। नरक, प्रेत, पशु, म्लेच्छ, दीर्घायु भएका देवता, लाटो बुङ्गो हुनु, मिथ्या दृष्टि हुनु र बुद्ध नआएको युगमा जन्मिनु यी आठ ओटा अक्षण हुन् भने यिनीहरूमा नपरेको अवस्था 'क्षण' हो। यस्तो 'क्षण' प्राप्त भयो भने पनि बुद्धको उत्पाद हुनु अति दुर्लभ कुरा हो। यो भएछ भने पनि क्लेशहरू यति बलिया छन् कि यिनीहरूलाई नियन्त्रण गर्नै गाह्रो हुन्छ। अहो ! यो दु:खको चक्र फेरी पनि घुमिरहन्छ। कठै विचरा ! सांसारिक

प्राणीहरू कति नराम्रोसँग यसमा फसेका छन् ! एउटा दुःखवाट उम्किन खोज्दा अर्को दुःखमा फस्न पुग्छन् !

अहो, बतातिशोच्यत्वमेषां दुःखौघवर्तिनाम् ।
ये नेक्षन्ते स्वदौःस्थित्यमेवमप्यतिदुःस्थिताः ॥१६४॥

अहो, दुःखसागरमा डुब्ने यी शोचनीय छन्
देख्दैनन् दुर्दशा आफ्नो यसरी दुःखमग्न छन् ॥१६४॥

अन्वयार्थ : अहो वत ! = अहो ! कठै !, दुःखौघवर्तिनाम् = दुःखको सागरमा वसेकाहरूको, अतिशोच्यत्वम् = अत्यन्त शोचनीय अवस्था छ !, ये = जसले, स्वदौःस्थित्यम् = आफ्नो दुःखमय अवस्थालाई, न ईक्षन्ते = देख्दैनन् (वुझ्दैनन्), एवम् अपि = त्यसैले पनि, अति दुःस्थिताः = अत्यन्त दुःख पाएर रहेका छन् ।

कठै ! विचरा ! यो दुखःको सागरमा चुर्लुम्म डुबेका प्राणीहरूको स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय छ। जन्मजन्मान्तरदेखि यो दुःखको भुमरीमा डुबिराखेका छन् र पनि आफ्नो त्यस्तो दुःखावस्था छ भन्ने कुरा बुझ्न नसकेर नै यिनीहरूको अवस्था अझै दुःखमय हुन पुगेको छ ।

स्नात्वा स्नात्वा यथा कश्चिद् विशेद् वन्हिं मुहुर्मुहुः ।
स्वसौस्थित्यं च मन्यन्ते एवमप्यन्तदुःस्थिता : ॥१६५॥

नुहाउँदै फेरि पस्ने आगोमा बार बार नै
अनि ठान्ने सुखी छु म त्यस्तै छन् दुःखमा सबै ॥१६५॥

अन्वयार्थ : यथा = जस्तै, कश्चिद् = कोही, स्नात्वा स्नात्वा = नुहाई नुहाई, मुहुर्मुहुः = फेरि फेरि पनि, वन्हिं = आगोमा, विशेद् = पस्छ, एम् = त्यसैगरी, अत्यन्त दुःस्थिताः = अति दुःखको अवस्थामा रहेका भएर पनि, स्वसौस्थित्यं च = आफ्नो सुखको अवस्था भन्ने, मन्यन्ते = ठानिराखेका छन् ।

जसरी एउटा मूर्ख मानिस नुहाउँदै आफ्नो शरीरलाई जाडो भयो भनेर फेरि आगोमा पस्दै, फेरि पोल्यो भनेर नुहाउँदै फेरि आगोमा पस्दै गरिरहला त्यसरी यी प्राणीहरू पनि आफू अत्यन्त दुःखी हुँदै कहिले सुगति र कहिले दुर्गतिको चक्कर लगाइरहन्छन्। तर पनि आफूलाई सुखी सम्झेर बसेका छन्। यसरी पनि तिनीहरू अत्यन्त दुःखमय अवस्थामा छन् ।

अजरामरलीलानामेवं विहरतां सताम् ।
आयास्यन्त्यापदो घोरा : कृत्वा मरणमग्रतः ॥१६६॥

अजरामर ठानेर रहेनहरूलाई त
घोर आपत्ति पर्नेछन् मृत्यु राखी अघिल्तिर ॥१६६॥

अन्वयार्थं : अजरामरलीलानां = अजर र अमर छु भन्ने लीला जस्ले गर्छन् त्यस्ता, एवं = यसरी, विरहतां सतां = निश्चिन्त भई संसारमा विचरण गर्नेहरूलाई, अग्रतः = अघिल्तिर, मरणं कृत्वा = मृत्युलाई लगाएर, घोराः = अत्यन्त भयङ्कर, आपदः = आपत्तिहरू, आयास्यन्ति = आउनेछन् ।

आफूलाई कहिल्यै पनि बूढो नहुने, कहिल्यै नमर्ने जस्तो सम्झेर त्यस्तै लीला या नाटक

गरेझैं गरी यो दुःखको संसारमा एक प्रकारले निश्चिन्त भई विचरण गर्ने यी प्राणीहरूलाई तुरुन्तै भयानक आपत्तिहरू आइहाल्नेछन् । त्यसमा पनि आफ्नो अगाडि मृत्युलाई लिएर ती आपत्तिहरू आउँछन् । त्यस्ता महाभयहरू कसरी आउँछन् भन्ने कुरा राजाववादक सूत्रमा पनि बताइएको छ । विशेष गरेर ती महाभयहरू आएपछि भागेर या दौडेर या औषधि प्रयोग गरेर या द्रव्य प्रयोग गरेर या कुनै उपायले पनि टार्न सकिँदैन । ती भयहरू हुन् जरा अर्थात् बुढचाइँ, व्याधि (रोग), मरण (मृत्यु) र विपत्ति । यौवनलाई मिच्दै र पेल्दै बुढ्याइँ आउँछ । आरोग्यलाई पेल्दै र मिच्दै व्याधि आउँछ । जीवनलाई मथ्दै मृत्यु आउँछ । सम्पूर्ण सम्पत्तिहरूलाई मथन गर्दै विपत्ति आउँछ । यी महाभयहरू जसरी पनि आएरै छाड्छन् । यिनीहरूबाट रक्षा गर्न कसैले सक्दैन । यिनीहरूको दुःखबाट शान्ति दिलाउने केवल धर्म मात्र हो । त्यसकारण बुद्धिमानले प्रज्ञाले युक्त भई कुशल कर्मको आचरणमा आफूलाई लगाइहाल्नुपर्छ । त्यही कुरा चाँडै गर्न सकियोस् भन्ने आशयले आचार्य भन्नुहुन्छ –

> एवं दुःखाग्नितप्तानां शान्तिं कुर्यामहं कदा ।
> पुण्यमेघसमुद्भूतै, सुखोपकरणैः स्वकैः ।।१६७।।

दुःखाग्निले तप्तलाई कहिले शान्त पारुँला ?
आफ्ना पुण्यमेघबाट निस्केका सुखवस्तुले ।।१६७।।

__अन्वयार्थ :__ अहं = मैले, कदा = कहिले, एवं = माथि भनिए अनुसार, दुःखाग्नितप्तानां = दुःखको आगोबाट पीडित भएकाहरूलाई, पुण्यमेघसमुद्भूतैः = पुण्यको बादलबाट उत्पन्न भएका, स्वकैः = आफ्ना, सुखोपकरणैः = सुखका साधनहरूले, शान्तिं कुर्याम् = शान्ति दिउँला ।

यसरी सांसरको दुःखको आगोले निरन्तर पोलिएका ती प्राणीहरूलाई मैले पुण्यको अभ्यास गर्दै अपार राशि बनाएर त्यसको फलस्वरूप उत्पन्न भएका आफ्ना सुखका साधनहरूको माध्यमबाट कहिले शान्तिको शीतलता दिन सकुँला ?

यसरी अरूलाई अभ्युदयको सुख दिने कामना गरेर फेरि उनीहरूलाई नैःश्रेयसको सुख दिने अभिलाषा प्रकट गर्दै आचार्य भन्नुहुन्छ –

> कदोपलम्भदृष्टिभ्यो देशयिष्यामि शून्यताम् ।
> संवृत्यानुपलम्भेन पुण्यसम्भारमादरात् ।।१६८।।

उपलम्भ दृष्टि हुनेहरूलाई म शून्यता
संवृतिवाट कहिले देशना गर्न पाउँला ! ।।
उपलम्भमुक्त हुँदै फेरि आदरयुक्त भै
देशना गरूँला कहिले पुण्यसम्भारको पनि ! ।।१६८।।

__अन्वयार्थ :__ उपलम्भदृष्टिभ्यः = उपलम्भ दृष्टि भएकाहरूलाई अर्थात् भावप्रति ग्राह भएकाहरूलाई, कदा = कहिले, संवृत्या = संवृति (व्यवहार)को माध्यमबाट, शून्यतां = शून्यताको र, अनुपलम्भेन = अनुपलम्भदृष्टिसहित भएर, आदरात् = आदर अर्थात् गौरव पूर्वक, पुण्यसम्भारं = पुण्यसभारको, देशयिप्यामि = देशना गरूँला ?

वस्तुहरूको अस्तित्वप्रति ग्राह भएका त्यस्ता उपलम्भदृष्टिवाला प्राणीहरूलाई मैले कहिले संवृतिको माध्यमबाट शून्यता अर्थात् सर्वधर्म निःस्वभावताको उपदेश गरुँला ? अर्को शब्दमा भन्दाखेरि कहिले ज्ञान- सम्भारको पूर्ति गर्ने उपदेश दिउँला जसले उनीहरूको मोक्षलाभ हुन सकोस्। त्यस्तै फेरि कहिले उपलम्भ अर्थात् 'ग्राह' रहित भएर पुण्यसम्भार गर्न आदरपूर्वक उपदेश गरुँला। जसबाट उनीहरूको अभ्युदय पनि परिपूर्ण होस् ?

यहाँ आचार्यले सत्वहरूलाई ज्ञानसम्भार र पुण्यसम्भार दुवैलाई उपदेश गर्न सकूँ भन्ने कामना गर्नुभएको छ। किनकि यी दुवै नहुने हो भने बुद्धत्व प्राप्त हुन सक्दैन। ज्ञानसम्भारको उपदेश दिनको लागि संवृत्ति सत्यको सहारा लिनुपर्ने हुन्छ नत्रभने त्यो 'ज्ञान' अर्थात् सर्वधर्मनिःस्वभावता (शून्यता)को बोध निष्प्रपञ्च हुने भएकोले त्यसको बोरमा उपदेश दिन पनि सम्भव हुनेछैन। त्यही भएर नागार्जुनले *"व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते"* भन्नुभएको हो। पृथग्जनहरूलाई त्यस्तो परमार्थको उपदेश संवृतिको सहारा लिएर मात्र दिन सकिन्छ अन्यथा पृथगजनहरू एकै पटक अचानक उक्त परमार्थमा प्रवेश गर्न असम्भव हुन्छ । पुण्यसम्भार फेरि व्यावहारिक पक्ष भएको हुनाले यदि दान, शील आदि पुण्यकर्महरू गर्दाखेरि यसलाई परमार्थ अर्थात् अनुपलम्भदृष्टिले मुद्रित गरिएको छैन भने त्यो पुण्यकर्म बुद्धताको लागि 'पुण्यसम्भार' बन्दैन, जसले गर्दा त्यो लौकिक सुखभोगको निमित्त मात्र काममा आउँछ। त्यसकारण पुण्यसम्भारको अभ्यासमा अनुपलम्भ दृष्टिको आवश्यकता पर्छ। अनुपलम्भ दृष्टि हुँदाखेरि दान दिनेवाला, दान लिनेवाला र दान दिइने बस्तु तीनओटै निःस्वभाव या अनुपलम्भ देखेर दिनुपर्छ। यस्तो दान त्रिकोटिपरिशुद्ध दान हुन्छ। यसैगरी सबै पारमिताहरूमा यो लागू हुन्छ। यस प्रकार पुण्यको सम्भार गर्दा अनुपलम्भ दृष्टिसहित भई गर्ने उपदेश दिनेछु भन्ने आशय व्यक्त गर्नुभएको हो। यी दुवै पूरा भएपछि प्राणीहरूको धर्मकाय र रूपकाय दुवै सिद्ध भई पूर्ण बुद्धता लाभ गर्छन्। यही उनीहरूको सबभन्दा ठूलो हित र सुख हो। बोधिसत्त्वको सङ्कल्प यही नै हुनुपर्छ।

बोधिचर्यावतारमा प्रज्ञापारमिता नामक नवौं परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त भयो।

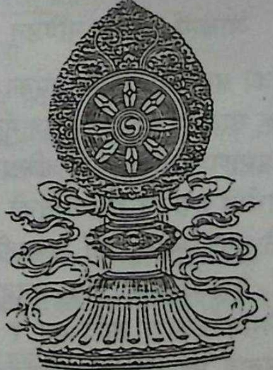

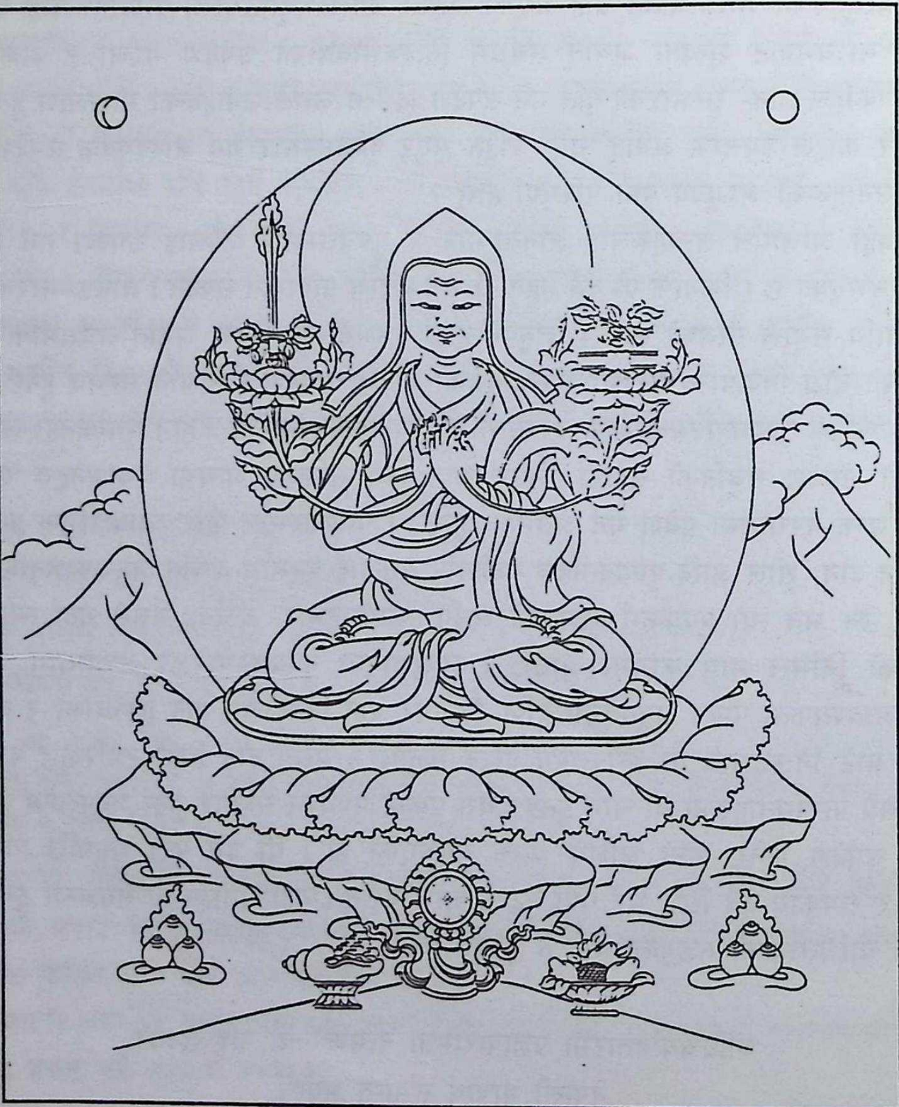

आचार्य साक्या पण्डित

[तिव्वतको साक्यामा बाह्रौं शताब्दीको अन्त्यमा जन्मिनुभएका र बोलि फुट्दाखेरि नै संस्कृत भाषामा बोलेका सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं सिद्ध गुरू साक्यापण्डित धर्मचक्रमुद्रामा । उहाँले धेरै सूत्र एवं तन्त्रहरूको गहन अध्ययन गर्नुभएको थियो र प्रमाणशास्त्रका एवं अभिधर्मका निष्णात पण्डित हुनुहुन्थ्यो । र भारतीय पण्डित हरिनन्दलाई शास्त्रार्थमा हराउने धर्मकीर्तिको प्रमाणवार्तिकलाई राम्रोसँग बुझ्ने एक मात्र दावेदार तिब्वती विद्वान् उहाँ नै हुनुहुन्थ्यो । उहाँ तिब्वती बुद्धधर्मको साक्या परम्पराका गुरु र तात्कालीन मंगोल सम्राट् 'गोदन' का राजगुरु पनि हुनुहुन्थ्यो । उहाँका अमूल्य ग्रन्थहरूमा प्रमाणयुक्तिनिधि, त्रिसम्वरप्रभेद, मुनिमत प्रकाश आदि हुन् र मुनिमतप्रकाश चाहिं नेपाली भाषामा व्योमकुसुमा अनुवाद समितिबाट अनुवाद भई प्रकाशित भैसकेको छ ।]

दशौं परिच्छेद

परिणामना

वोधिचार्यवतारं मे यद्विचिन्तयतः शुभम् ।
तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधिचर्याविभूषणाः ॥१॥

चर्यावतारको गर्दा हुन्छ जो पुण्य चिन्तन
त्यसले सबै जना होऊन् बोधिचार्यविभूषण ॥१॥

अन्वयार्थ : *वोधिचर्यावतारं = वोधिचर्यावतारको, विचिन्तयतः = चिन्तन गर्ने, मे = मेरो, यत् शुभम् = जनु पुण्य या कुशल प्राप्त भएको छ , तेन = त्यसले, सर्वे जनाः = सवै मानिसहरू, वोधिचर्याविभूपणाः = बोधिसत्वको चर्याद्वारा अलाङ्कृत, सन्तु = होउन् ।*

यो बोधिचर्यावतारको चिन्तन-मनन र रचना गर्ने कार्यले मेरो जुन पुण्य आर्जन भएको छ त्यसले सबै मानिसहरू बोधिसत्त्वचर्याद्वारा विभूषित बनून् ।

सर्वासु दिक्षु यावन्तः कायचित्तव्यथातुरा : ।
ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः सुखप्रामोद्यसागरान् ॥२॥

सबै दिशामा जति छन् काय-चित्त-व्यथातुर
ती पाऊन् पुण्यले मेरो सुख प्रामोद्य सागर ॥२॥

अन्वयार्थ : *सर्वासु = सवै, दिक्षु = दिशाहरूमा, यावन्तः = जति पनि, कायचित्तव्यथातुराः = शरीर र मनका पीडाले आकुल व्याकुल भएका छन्, ते = तिनीहरूले, मत्पुण्यैः = मेरा पुण्यहरूवाट, सुखप्रामोद्यसागरान् = सुख र हर्पको सागर नै, प्राप्नुवन्तु = प्राप्त गरुन् ।*

सम्पूर्ण दिशाहरूमा जति पनि कायिक र मानसिक वेदनाले आतुरभएका प्राणीहरू छन् ती सबैले मेरो पुण्यबाट सुख-सन्तोष र हर्षको सागर नै प्राप्त गरून् ।

आसंसारं सुखज्यानिर्मा भूत् तेषां कदाचन ।
बोधिसत्त्वसुखं प्राप्तं भवत्वविरतं जगत् ॥३॥

संसार रहँदासम्म सुखहानि कहीं नहोस्
वोधिसत्त्वसुखप्राप्ति निरन्तर भईरहोस् ॥३॥

अन्वयार्थ : *आसंसारं = संसार रहँदासम्म, तेपां = ती प्राणीहरूको, कदाचन = कहिल्यै पनि, सुखज्यानिः = सुखको हानि, मा भूत् = नहोस्, जगत् = यो लोक, अविरतं = निरन्तर, वोधिसत्त्वसुखं = वोधिसत्त्वहरूको सुख, प्राप्तं = प्राप्त गरेको, भवतु = होस् ।*

जबसम्म यो संसार रहन्छ तबसम्म ती प्राणीहरूलाई कहिल्यै पनि सुखको नाश नहोस् र सम्पूर्ण जगत्लाई निरन्तर बोधिसत्त्वसुखको लाभ भइरहोस् ।

यावन्तो नरकाः केचिद् विद्यन्ते लोकधातुषु ।
सुखावतीसुखामोद्यैर्मोदन्तां तेषु देहिनः ॥४॥

जति छन् लोकधातुमा नरकी जीव ती सबै
सुखावतीको सुखको आनन्दैले रहून् सधै ॥४॥

अन्वयार्थ : *लोकधातुषु = लोकधातुहरूमा, यावन्त: = जति पनि, केंचिद् = कुनै, नरका: = नरकहरू, विद्यन्ते = छन्, तेपु = तिनीहरूमा, देहिन: = देहधारी जीवहरू, सुखावतीसुखामोद्यै: = सुखावतीमा हुने सुखको आनन्दले, मोदन्तां = रमाऊन् ।*

यो सम्पूर्ण लोकधातुभरिमा जहाँ जहाँ जति जति पनि नरक होलान् ती सबैमा छटपटाइरहेका प्राणीहरूले सुखावतीमा प्राप्त हुने सुख पाएर आनन्दमग्न भई रमाऊन् ।

शीतार्ता : प्राप्नुवन्तूष्णमूष्णार्ताः सन्तु शीतलाः ।
बोधिसत्त्वमहामेघसम्भवैर्जलसागरैः ॥५॥

भेटून् शीतार्तले न्यानो भेटून् ऊष्णार्त शीतल
वोधिसत्त्वमहामेघबाट वर्षोस सागर ॥५॥

अन्वयार्थ : *शीतार्ता: = जोडोले पीडित भएकाहरूले, ष्णं = तातो, प्राप्नुवन्तु = प्राप्त गरून् , ऊष्णार्ता: = तातोले पीडित भएकाहरू, बोधिसत्त्वहामेघसम्भवै: = बोधिसत्त्वरूपी महामेघबाट निस्केका, जलसागरै: = पानीको सागरद्वारा, शीतला: = शीतल, सन्तु = होउन् ।*

शीतनरकमा चीसोले पीडित भएकाहरूले न्यानो पाऊन् र ऊष्ण- नरकहरूमा तातोले पीडित भएकाहरूलाई बोधिसत्त्वरूपी महामेघद्वारा वर्षेको सद्धर्मरूपी जलको सागरबाट शीतलता प्राप्त होस् ।

असिपत्रवनं तेषां स्यान्नन्दनवनद्युति ।
कूटशाल्मलिवृक्षाश्च जायन्तां कल्पपादपाः ॥६॥

असिपत्रवनै तीनको होस् नन्दनवनै अनि
कूटशाल्मलिका बोट होऊन् कल्पतरु तिनी ॥६॥

अन्वयार्थ : *तेपां = ती नरकवासीहरूका निमित्त, असिपत्रवनं = असिपत्रवंन, नन्दनवनद्युति = नन्दनवनजस्तो, स्यात् = होस्, कूटशाल्मलिवृक्षाश्च = कूटशाल्मलिका रुखहरू पनि, कल्पपादपा: = कल्पवृक्ष नै, जायन्ताम् = वनून् ।*

ती नारकी प्राणीहरूका निमित्त तरवारको जस्तो पात भएको असिपत्रको वन पनि इन्द्रको अति आनन्ददायक नन्दनवन जस्तो बनोस् । त्यस्तै जता फर्किदा पनि उल्टा काँडा हुने शाल्मलि (सिमल)को रुख पनि कल्पवृक्ष जस्तै बनोस् ।

कादम्बकारण्डवचक्रवाकहंसादिकोलाहलरम्यशोभैः ।
सरोभिरुद्दामसरोजगन्धै र्भवन्तु हृद्या नरकप्रदेशाः ॥७॥

कादम्व, कारण्डव चक्रवाक र हंसादिका वोलि हुंदा सुशोभित
सुगन्धले युक्त कमल् फुलेका तलाउ होउन् नरक प्रदेश ॥७॥

अन्वयार्थ : *नरकप्रदेशा: = नरक प्रदेशहरू, कादम्व-कारण्डव-चक्रवाक-हंसादिकोलाहलरम्यशोभै: = कलहंस, कारण्डव, चखेंवा, हाँस आदिको स्वरले दिएको रमणीय शोभाले युक्त भएका, उद्दाम सरोजगन्धै: = सुगन्धित कलमको वासना भएका,*

सरोभिः = तलाउहरूले गर्दा, हृद्याः = मनोहर, भवन्तु = होऊन् ।

ती दुःखदायी नरक प्रदेशहरू कलहंस, कारण्डव भन्ने पंक्षी, चखेवा, राजहाँसहरूले कोलाहल मच्चाउनाले अत्यन्त रमणीय शोभा भएका र सुगन्धित कमलको वासनाले युक्त भएका विभिन्न तलाउहरूद्वारा अति मनोहर क्षेत्र बनून् ।

सो ऽङ्गारराशिर्मणिराशिरस्तु तप्ता च भूः स्फाटिककुट्टिमं स्यात् ।
भवन्तु सङ्घातमहीधराश्च पूजाविमानाः सुगतप्रपूर्णाः ॥८॥

अङ्गारराशी मणिराशि होओस् तातो भूईं स्फाटिकको त होओस्
संघातका पर्वत ती बनून् है पूजाविमानै सुगत प्रपूर्णै ॥८॥

__अन्वयार्थ :__ सः = त्यो, अङ्गारराशिः = भुङ्ग्रोको थुप्रो, मणिराशिः = मणिको थुप्रो, अस्तु = होस्, तप्ता भूः च = तातो भूईं पनि, स्फाटिककुट्टिमं = स्फटिकको भूईं, स्यात् = होस्, सङ्घातमहीधराश्च = सङ्घात (नरकका) पर्वतहरू पनि, सुगतप्रपूर्णाः = बुद्धहरूले भरिएका, पूजाविमानाः = पूजाविमान, भवन्तु = होऊन् ।

नरकमा थुप्रेका अँगार या भुङ्ग्रोको थुप्रो मणिको थुप्रो बन्न पुगोस् । त्यहाँको तातो भूईं पनि स्फटिकको शीतल भूमि बनोस् । सङ्घात नरकका चेप्ने पर्वतहरू पनि बुद्धै-बुद्धहरूले विराजित पूजाविमान बन्न पुगून् ।

अङ्गारतप्तोपलशस्त्रवृष्टिरद्यप्रभृत्यस्तु च पुष्पवृष्टिः ।
तच्छस्त्रयुद्धं च परस्परेण क्रीडार्थमद्यास्तु च पुष्पयुद्धम् ॥९॥

अङ्गार तातो ढुङ्गो र शस्त्रको वर्षा बनोस् लौ अबदेखि पुष्पको
त्यो शस्त्रको युद्ध परस्परैमा क्रीडार्थको पुष्पयुद्धै बनोस् त्यहाँ ॥९॥

__अन्वयार्थ :__ अद्यप्रभृति = आजदेखि पछि, अङ्गारतप्तोपलशस्त्रवृष्टिः = अँगार, तातो ढुङ्गा र शस्त्रहरूको वर्षा, पुष्पवृष्टिः = पुष्पको वर्षा, अस्तु = होस्, अद्य = आजै, तच्छस्त्रयुद्धं च = त्यो शस्त्रहरूको युद्ध पनि, परस्परेण = आपसमा, क्रीडार्थं = खेल्नका निमित्त गरिएको, पुष्पयुद्धम् = फूलहरूको खेल युद्ध, अस्तु = होस् ।

ती नरकमा देखापर्ने अँगार, तातो ढुङ्गा र शस्त्र आदिको वर्षा अबदेखि पुष्पहरूको वर्षा जस्तो बनोस् । त्यहाँ शस्त्र अस्त्रहरूबाट भैरहेको जस्तो लाग्ने युद्ध पनि आपसमा खेल्ने पुष्पहरूको खेलजस्तो बनोस् ।

पतितसकलमांसाः कुन्दवर्णास्थिदेहाः
दहनसमजलायां वैतरण्यां निमग्नाः ।
मम कुशलबलेन प्राप्तदिव्यात्मभावाः
सह सुरवनिताभिः सन्तु मन्दाकिनीस्थाः ॥१०॥

झरिकन सब मासु श्वेत हड्डी बचेका
गरम जल छ आगोको डुबे वैतरणीमा ।
कुशल बल लिइ मेरो दिव्य देहै लिएर
रहून सुरपरीका साथ मन्दाकिनीमा ॥१०॥

__अन्वयार्थ :__ पतितसकलमांसा: = सम्पूर्ग मासु झरिसकेका, कुन्दवर्णास्थिदेहा: = सेता हाड मात्र देखिने शरीर भएका, दहनसमजलायां = आगो समानको पानी भएको, वैतरण्यां = वैतरणी नदीमा, निमग्ना: = डुबेका (नारकी प्राणीहरू), मम = मेरो, कुशलबलेन = कुशलमूलका बलले, प्राप्तदीव्यात्मभावा: = दीव्यशरीर पाएका छँदा, सुरवनितभि: सह = अप्सराहरूका साथमा, मन्दाकिनीस्था: = मन्दाकिनीमा स्थित, सन्तु = होऊन् ।

सम्पूर्ण मासु झरिसकेर कुन्दपुष्पको जस्तो सेतो हाड मात्र देखिने शरीर भएर अति तातो आगोसमानको भुङ्ग्रोरूपी पानी बगिरहेको वैतरणी नदीमा डुबेर छट्पटाइरहेका नारकीय प्राणीहरूले मेरो कुशल पुण्यको प्रभावले गर्दा दीव्य शरीर धारण गरी स्वर्गको गङ्गा अर्थात् मन्दाकीनीमा अप्सराहरूसँग पौडी खेलेको अवस्थामा रहून् ।

त्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मादिह यमपुरुषाः काकगृध्राश्च घोराः
ध्वस्तं ध्वान्तं समन्तात् सुखरतिजननी कस्य सौम्या प्रभेयम् ॥
इत्यूर्ध्वं प्रेक्षमाणा गगनतलगतं वज्रपाणिं ज्वलन्तं
दृष्ट्वा प्रामोद्यवेगाद् व्यपगतदुरिता यान्तु तेनैव सार्धम् ॥११॥

हेरुन् ती घोर कौवा, यमपुरुष तथा गिद्ध झट्टै डराई
भाग्यो सारा अँध्यारो अति सुखकर लौ हेर कस्को प्रभा यी ?
भन्दै आकाशमाथि, अनि नरक भरिका प्राणीले वज्रपाणी
देखी खुशी भएरै सहगमन गरून् तीसँगै पाप धोई ॥११॥

__अन्वयार्थ :__ अकस्मात् = अचानक, इह = त्यहाँ (नरकमा), यमपुरुषा: = यमराजका दूत र, घोरा: = डरलाग्दा, काकगृध्राश्च = कौवा र गिद्धहरू पनि, त्रस्ता: = डराएर, समन्तान् = चारैतिर, ध्वान्तं = अन्धकार, ध्वस्तं = हरायो, इयं = यो, सुखरतिजननी = सुख र प्रेम पैदा गर्ने खालको, कस्य = कसको, प्रभा = कान्ति होला, इति = यस्तो भन्दै, उर्ध्वं = माथितिर, प्रेक्ष्यमाणा: = हेर्दै गरेका अवस्थामा, (नरकवासीले), गगनतलगतं = आकाशमा स्थित भएका, ज्वलन्तं = बल्दै गरेका (तेजले), वज्रपाणिं = वज्रपाणिलाई, दुष्ट्वा = देखेर, प्रामोद्यवेगाद् = हर्षको वेगले, व्यपगतदुरिता: = पाप आदि पखालिएर, तेनैव सार्धं = उहाँसँगै नै, यान्तु = जान् ।

नरकमा दुःख भोग्दै गरेका प्राणीहरूलाई अचानक यस्तो होस् कि त्यहाँका यमदूत, कौवा, गिद्ध जस्ता डरलाग्दा दुःखदायी सत्त्वहरूले अचानक त्यहाँको अन्धकार हटेको देखेर डराउँदै "यो सुख र प्रेम पैदा गर्ने खालको कसको कान्ति आयो फेरि" भन्दै माथितिर हेर्न लागेको वेलामा आकाशमा अत्यन्त तेजले धपक्क बल्दै गरेका वज्रपाणि देखियून् र नरकमा दुःख पाइरहेका ती प्राणीहरू सुख र हर्षले गद्गद भई तत्कालै आफ्ना सम्पूर्ण पापहरू पखालिएर बुद्धक्षेत्रतिर लागून् ।

पतति कुसुमवृष्टिर्गन्धपानीयमिश्रा-
ऽ शमितनरकवह्निं दृश्यते नाशयन्ती ।
किमिदमिति सुखेनाह्लादितानामकस्माद्
भवतु कमलपाणेर्दर्शनं नारकाणाम् ॥१२॥

कुसुमजलसुगन्धी वृष्टिले शान्त पार्‍यो
नरकभरि सबै लौ अग्नि, के देखियो यो ?

यसरि सुख मिलेका ती सबै नारकीले
सहज कमलपाणीलाई देखून् खुशीले ॥१२॥

अन्वयार्थ : गन्धपानीयमिश्रा = सुगन्धले युक्त जल मिसिएको, कुसुमवृष्टि: = फूलको वर्षा, पतति = झर्दैछ, अशमितनरकवन्हिं = शान्तै हुन नसकेको यो नरकको आगोलाई, नाशयन्ती = नाश गर्दै गरेको, दृश्यते = देखिन्छ, इदम् = यो, किम् = के हो ?, इति = यसरी, सुखेन = आनन्दले, आह्लादितानां = हर्षित भएका, नारकाणां = नरकवासीहरूलाई, अकस्मात् = अचानक, कमलपाणे: = पद्मपाणि अर्थात् अवलोकित नाथको, दर्शनं = दर्शन, भवतु = होस् ।

नरकवासीहरूले "सुगन्धित जल र पुष्पहरूको वर्षा हुँदैछ, अहिलेसम्म शान्त नभएको नरकको आगो पनि शान्त पार्दैछ, के भएको होला !" भन्दै खुशीले गद्‌गद भइराखेको वेलामा उनीहरूलाई अचानक पद्मपाणि बोधिसत्व याने अवलोकितेश्वरको दर्शन होस् ।

आयातायात शीघ्रं, भयमपनयत भ्रातरो जीविता: स्म:
सम्प्राप्तो ऽ स्माकमेष ज्वलदभयकर: को ऽ पि चीरीकुमार: ॥
सर्वं यस्यानुभावाद् व्यसनमपगतं प्रीतिवेगा: प्रवृत्ता:
जातं सम्बोधिचित्तं सकलजनपरित्राणमाता दया च ॥१३॥

आओ आओ न चाँडै डर अब नलिई भाई हो, बाँचियो है
हाम्रै लागि त आए अभयकर कुनै चीरधारी कुमारै ॥
जस्को कारुण्यले नै सब दु:ख पर भो, प्रीतिको वेग उम्ल्यो
जाग्यो सम्बोधिचित्तै सकलजनपरित्राणमाता दया यो ॥१३॥

अन्वयार्थ : भ्रातर: = हे भाइ हो !, आयातायात ! = आओ आओ, शीघ्रं = चाँडै, भयं = डरलाई, अपनयत = भगाओ, जीविता:स्म: = बाँचियो लौ ! एष: = यी, ज्वलदभयकर: = देदीप्यमान भएर अभयदान दिँदै रहेका, क: अपि = कोही, चिरीकुमार: = चीवरधारी कुमार, अस्माकं = हाम्रा निमित्त, सम्प्राप्त: = आइपुगेका छन्, यस्य = जसका, अनुभावात् = कृपाले गर्दा, सर्वं = सबै, व्यसनं = दु:ख, अपगतं = हटेको छ, प्रीतिवेगा: हर्षका वेग, प्रवृत्ता: = उर्लिएका छन्, सम्वोधिचित्तं = वोधिचित्त, जातं = उत्पन्न भएको छ, सकलजनपरित्राणमाता = सम्पूर्ण प्राणीहरूको रक्षा गर्ने आमा समानको, दया च = करुणा पनि (उत्पन्न भएको छ) ।

"हे भाइ हो, आओ आओ, नडराइकन आओ, हाम्रो ज्यान बच्यो, हाम्रै लागि यी चीवर धारण गरेका अत्यन्त तेजस्वी र अभयदान दिन सक्ने कुनै कुमार आइपुगेका छन् जसको अनुकम्पाले र अधिष्ठानले गर्दा हाम्रा सबै दु:खहरू हटेका छन्, प्रसन्नताका लहर छाएका छन्, बोधिचित्त उदाएको छ, सबैलाई रक्षागर्ने करुणा माता पनि उत्पन्न भएकी छिन् ।

पश्यन्त्वेनं भवन्त: सुरशतमुकुटैरर्च्यमानाङ्घ्रिपद्मम्
कारुण्यादार्द्रदृष्टिं शिरसि निपतितानेकपुष्पौघवृष्टिम् ।
कूटागारैर्मनोज्ञै: स्तुतिमुखरसुरस्त्रीसहस्रोपगीतै-
र्दृष्ट्वाग्रे मञ्जुघोषं भवतु कलकल: साम्प्रतं नारकाणाम् ॥१४॥

हेर्नोस् पूजा गरेका चरणकमलको सैकडौं देवताले
फूलै वर्षेछ जस्को शिरभरि नयनै छन् रसीला कृपाले ।

भन्दै पारुन् त कोलाहल नरकभरी देखिँदा मञ्जुघोष
हज्जारौं देवतीका स्तुतिहरू गुँजिने कूट-आगार साथ ॥१४॥

अन्वयार्थ : *भवन्तः = तपाइंहरूले, एनं = यी, सुरशतमुकुटैः = सयौं देवताहरूका मुकुटद्वारा, अर्च्यमानाङ्घ्रिपद्मं = चरणकमलको पूजा गरिदै गरेका, कारुण्याद् = करुणाको भावले गर्दा, आर्द्रदृष्टिं = रसिला आँखा भएका, शिरसि = शिरमा, निपतितानेकपुष्पौघवृष्टिं = अनेकौं पुष्पहरूको वर्षा भइरहेका, पश्यन्तु = हेर्नुहोस् भन्दै, स्ततिमुखरसुरस्त्रीसहस्रोपगीतैः = स्तुतिद्वारा मुखर भएका हजारौं देवाङ्गनाहरूको गीतले, मनोज्ञैः = मनोहर भएका, कूटागारैः 'कूटागारहरूका साथमा, मञ्जुघोपं = मञ्जुघोपलाई, अग्रे = अगाडि, दृष्ट्वा = देखेर, साम्प्रतं = अहिले नै, नारकाणां = नरकवासीहरूका विचमा, कलकलः = कोलाहल, भवतु = होस् ।*

"तपाइंहरू यी कुमारको दर्शन गर्नुहोस् जसका चरणकमललाई सयौं देवताका मुकुटहरूले पूजा गरिराखेका छन्, यिनको शिरमा विभिन्न प्रकारका पुष्पहरूको वर्षा भइरहेको छ, यिनका आँखाहरू करुणाले गर्दा रसिला बनेका छन् ।" भन्दै स्तुतिहरूले मुखर भएका हजारौं देवाङ्गनाहरूको गीत गुञ्जिरहनाले मनोहर बनेका कूटागारहरूका साथमा ती मञ्जुघोषलाई अगाडि देखेर ती नरकवासीहरूमा कोलाहल मच्चियोस् ।

इति मत्कुशलैः समन्तभद्रप्रमुखानावृतबोधिसत्त्वमेघान् ।
सुखशीतसुगन्धवातवृष्टीनभिनन्दन्तु विलोक्य नारकास्ते ॥१५॥

लिई यो शुभ ती समन्तभद्र प्रमुखै व्यापक बोधिसत्त्वमेघ
सुख शीतल बास वायु वृष्टि गरनेलाई गरून् प्रणाम नारकीय ॥१५॥

अन्वयार्थ : *इति = यसरी, मत्कुशलैः = मेरा कुशल (शुभ) कर्मको प्रभावले, ते = ती, नारकाः = नरकका प्राणीहरूले, सुखशीतसुगन्धवातवृष्टीन् = सुख र शीतलतारूपी सुगन्धित वायुको वृष्टि गर्ने, समन्तभद्रप्रमुखानावृतवोधिसत्त्वमेघान् = समन्तभद्र आदि आवरणमुक्त प्रमुख वोधिसत्त्व- रूपी वादललाई, विलोक्य = देखेर, अभिनन्दन्तु = अभिनन्दन (प्रणाम) गरून् ।*

यसरी मेरा पुण्यकर्महरूको बलले गर्दा निर्वाणको सुख र शीतलताले युक्त सुगन्धित वायुको वर्षा गर्ने दुवै आवरणहरूबाट मुक्त भएका समन्तभद्रजस्ता प्रमुख बोधिसत्त्वरूपी बादलहरूलाई देखेर ती नारकीय प्राणीहरूले उहाँहरूलाई प्रणाम गरून् ।

शाम्यन्तु वेदनास्तीव्रा नारकाणां भयानि च ।
दुर्गतिभ्यो विमुच्यन्तां सर्वदुर्गतिवासिनः ॥१६॥

नारकीका तीव्र पीडा भय शान्त बनून् सबै
छुटून् दुर्गतिवासी ती सबै दुर्गतिदेखि नै ॥१६॥

अन्वयार्थ : *नारकाणां = नरकवासीहरूका, तीव्रा वेदनाः = तीव्र पीडा र कप्टहरू, भयानि च = डर र त्रासहरू पनि, शाम्यन्तु = शान्त होऊन्, सर्वदुर्गतिवासिनः = सम्पूर्ण दुर्गतिवासीहरू, दुर्गतिभ्यः = दुर्गतिहरूवाट, विमुच्यन्ताम् = मुक्त होऊन् ।*

नरकमा रहेका प्राणीहरूका तीव्र पीडा र डर-त्रास सबै शान्त होऊन् र दुर्गतिमा परेकाहरू सबै दुर्गतिवाट मुक्त होऊन् ।

अन्योन्यभक्षणभयं तिरश्चामपगच्छतु ।
भवन्तु सुखिनः प्रेता यथोत्तरकुरौ नराः ॥१७॥

खाइने एक अर्काले पशुको शान्त होस् डर
होऊन् प्रेत सुखी, जस्तै उत्तरी कुरुका नर ॥१७॥

अन्वयार्थ : तिरश्चां = तिर्यग्योनिवालाहरूको (पशुहरूको), अन्योन्यभक्षणभयं = एकले अर्कोलाई खाइने डर, अपगच्छतु = जाओस्, प्रेताः = प्रेतहरू, उत्तरकुरौ = उत्तर कुरुका, नराः यथा = मानिस जस्तै, सुखिनः = सुखी, भवन्तु = होऊन् ।

तिर्यग्योनि अर्थात् पशुहरूको एकले अर्कालाई खाइने डर हटोस् र प्रेतहरू पनि उत्तरकुरुका मानिसजस्तै सदा सुखी रहून् ।

सन्तर्प्यन्तां प्रेताः स्नाप्यन्तां शीतला भवन्तु सदा ।
आर्यावलोकितेश्वरकरगलितक्षीरधाराभिः ॥१८॥

प्रेत तृप्त बनून् स्नान गरुन् होऊन् त शीतलै
आर्य लोकितको हातबाटको दुग्धधारले ॥१८॥

अन्वयार्थ : प्रेताः = प्रेतहरू, आर्यावलोकितेश्वरकरगलितक्षीरधाराभिः = आर्य अवलोकितेश्वरको करकमलवाट झरेको दूधको धाराले, सदा = सधैं, सन्तर्प्यन्तां = सन्तृप्त बनून्, स्नाप्यन्तां = नुहाइयून् र, शीतलाः भवन्तु = शीतल होऊन् ।

प्रेतहरूले आर्य अवलोकितेश्वरको करकमलबाट झरेका दूधका धाराहरूले सधैं नुहाएर, खाएर, अघाएर शीतलता प्राप्त गरून् ।

अन्धाः पश्यन्तु रूपाणि श्रृण्वन्तु बधिराः सदा ।
गर्भिण्यश्च प्रसूयन्तां मायादेवीव निर्व्यथाः ॥१९॥

देखून् ती रूप अन्धाले बहिराले सुनून् सधैं
गर्भिणीले दिऊन् बच्चा नदुखी मायादेवी झैं ॥१९॥

अन्वयार्थ : सदा = सधैं, अन्धाः = आँखा नदेख्नेहरूले, रूपाणि = रूपहरू, पश्यन्तु = देख्न सकून्, वधिराः = कान नसुन्नेहरूले श्रृण्वन्तु = सुन्न सकून्, गर्भिण्यश्च = गर्भिणीहरू पनि, मायादेवीव = मायादेवीले जस्तै, निर्व्यथाः = पीडा नभइकन, प्रसूयन्ताम् = वच्चा जन्माऊन् ।

अन्धाहरूले रूप देख्न सकून्, बहिराहरूले शब्द सुन्न सकून्, गर्भिणीहरूले मायादेवीले जस्तै अलिकति पनि व्यथा नलागेरै बच्चा जन्माउन सकून् ।

वस्त्रभोजनपानीयं स्रक्चन्दनविभूषणम् ।
मनोभिलषितं सर्वं लभन्तां हितसंहितम् ॥२०॥

वस्त्र, भोजन, पानी र माला, चन्दन, भूषण
मनचाहा सवै पाऊन् हितगर्ने कुरा सब ॥२०॥

अन्वयार्थ : मनोभिलपितं = मनले चाहेको, हितसंहितम् = हित गर्ने गुणले युक्त भएको, वस्त्रभोजनपानीयं = कपडा, खाना, पानी, र स्रक्चन्दनविभूषणम् = माला, चन्दन, गहनाजस्ता कुरा, सर्वं = सवै, लभन्ताम् = प्राप्त गरून् ।

सबैले आफूले चाहेको र फाइदा गर्ने वस्तुहरू जस्तैः- कपडा, खाना, पानी, माला, चन्दन, गहना आदि सबै कुरा प्राप्त गरुन् ।

भीताश्च निर्भयाः सन्तु शोकार्ताः प्रीतिलाभिनः ।
उद्विग्नाश्च निरुद्वेगा धृतिमन्तो भवन्तु च ॥२१॥

होऊन् निडर डराएका शोकार्त प्रीतियुक्त नै
नआत्तियून् आत्तिएका धैर्यधारी वनून् सवै ॥२१॥

__अन्वयार्थ :__ भीताः च = डराएका पनि, निर्भयाः सन्तु = डरवाट मुक्त होऊन्, शोकार्ताः = शोकले व्याकुल भएकाहरूले, प्रीतिलाभिनः = प्रीति अर्थात् प्रसन्नता पाऊन्, उद्विग्नाश्च = आत्तिएकाहरू, निरुद्वेगाः = न आत्तिएका र, धृतिमन्तः च = धैर्यले युक्त पनि, भवन्तु = होऊन् ।

डराएकाहरू निर्भय बन्न पुगून्, शोकले पीडित भएका जति सबै प्रसन्नताले युक्त होऊन् । कुनै कारणले आत्तिएर छट्पटाएकाहरू शान्त र धैर्यशाली बनून् ।

आरोग्यं रोगिणामस्तु मुच्यन्तां सर्वबन्धनात् ।
दुर्बला बलिनः सन्तु स्निग्धचित्ताः परस्परम् ॥२२॥

आरोग्य रोगीले पाऊन् छुटून् बन्धन छन् जति
निर्धा त वलिया होऊन् परस्पर मिलून् पछि ॥२२॥

__अन्वयार्थ :__ रोगिणां = रोगीहरूका निमित्त, आरोग्यं = आरोग्य प्राप्त होस्, सर्वबन्धनात् = सबै बन्धनहरूबाट, मुच्यन्तां = मुक्त होऊन्, दुर्वलाः = कमजोरहरू, वलिनः = वलिया होऊन् र, परस्परं = एक अर्कामा, स्निग्धचित्ताः = प्रेमपूर्ण चित्त भएका, सन्तु = होऊन् ।

रोगीहरू निरोगी भएर सबै बाधा-बन्धनहरूबाट मुक्त होऊन् । कमजोर व्यक्तिहरू बलिया बनून् र आपसमा सौहार्द चित्तले रहून् ।

सर्वा दिशः शिवाः सन्तु सर्वेषां पथिवर्तिनाम् ।
येन कार्येण गच्छन्ति तदुपायेन सिध्यतु ॥२३॥

सवै पथिकका निम्ति होस् मङ्गल सबै दिशा
जे कार्यका निम्ति जान्छन् जसरी पनि होस् पुरा ॥२३॥

__अन्वयार्थ :__ सर्वेषां = सवै, पथिवर्तिनां = वटुवाहरूका, सर्वा दिशः = सवै दिशाहरू, शिवाः सन्तु = मङ्गलमय या कल्याणकारक होऊन् र, येन कार्येण = जुन कामले, गच्छन्ति = जान्छन्, तद् = त्यो, उपायेन = कुशलतापूर्वक, सिध्यतु = सिद्ध होस् ।

बाटो लागेकाहरूलाई जता गए पनि सबै दिशा मङ्गलमय होस् र जे कामले हिंडेका हुन् त्यो राम्रो तरीकाले पूरा होस् ।

नौयानयात्रारूढाश्च सन्तु सिद्धमनोरथाः ।
क्षेमेण कूलमासाद्य रमन्तां सह वन्धुभिः ॥२४॥

डुंगा जहाज चढ्नेका मनोरथ वनून् पुरा
राम्रै फर्केर तटमा रमाऊन् वन्धु साथमा ॥२४॥

अन्वयार्थ : *नौयानयात्रारुढाः च = डुंगा, पानीजहाज आदिवाट यात्रामा गएकाहरू पनि, सिद्धमनोरथाः = मनोरथ पूर्ण भएका, सन्तु = होऊन् र, क्षेमेण = सकुशल, कूलं = बन्दरगाहमा, आसाद्य = आइपुगेर, वन्धुभिःसह = वन्धुवान्धवहरूका साथ, र मन्तां = रमाऊन् ।*

जो व्यापार आदि कुनै प्रयोजनले डुँगा आदि चढेर समुद्रपार गएका छन् तिनीहरूको मनोरथ सिद्ध होस् र चाँडै नै सकुशल फर्की वल्लो किनारामा आई आफ्ना बन्धुबान्धवहरूसँग रमाऊन् ।

कान्तारोन्मार्गपतिता लभन्तां सार्थसङ्गतिम् ।
अश्रमेण च गच्छन्तु चौरव्याध्यादिनिर्भयाः ॥२५॥

वनमा मार्ग भुल्नेले पाऊन् सन्मार्गदर्शक
नभई सजिलै जाऊन् चोरको व्याधिको डर ॥२५॥

अन्वयार्थ : *कान्तारोन्मार्गपतिताः = जङ्गलमा बाटो छोडेर बरालिएकाहरूले, सार्थसङ्गतिं = सार्थवाह अर्थात् बाटो देखाउनहरूको संगत, लभन्तां = पाऊन् र, अश्रमेण च = कुनै परिश्रम नगरेरै, चौरव्याध्यादिनिर्भयाः = चोर, व्याधिजस्ता कुरावाट निर्भय भएर, गच्छन्तु = जाऊन् ।*

जसले बाटो बिराएर अलमलिएका छन् तिनीहरूले सार्थवाह (उत्तम मार्गदर्शक)लाई भेटून् र बाटामा कुनै चोर-डाँका या रोग-व्याधिको डर नभएर सजिलै जान सकून् ।

सुप्त - मत्त - प्रमत्तानां व्यध्वारण्यादिसंकटे ।
अनाथबालवृद्धानां रक्षां कुर्वन्तु देवताः ॥२६॥

सुत्ने, मात्ने र बेहोशी, अनाथ, बृद्ध, बालको
गरून् रक्षा देवताले कुबाटो, वन संकट ॥२६॥

अन्वयार्थ : *व्यध्वारण्यादिसंकटे = बाटो नभएको जंगलजस्ता आपत्ति विपत्ति परेको अवस्थामा, सुप्तमत्तप्रमत्तानां = सुतेका, मातेका र प्रमादी भएका, अनाथवालवृद्धानां = अनाथ वालक र बूढाहरूलाई, देवताः = देवताले, रक्षां कुर्वन्तु = रक्षा गरून् ।*

बाटो नभएको जंगल जस्ता संकटमा सुतेका या मातेका या बेहोशी (लापर्वाहीले) बनेका अनाथ, बालक या बृद्धहरूलाई देवताहरूले रक्षा गरून् ।

सर्वाक्षणविनिर्मुक्ता श्रद्धाप्रज्ञाकृपान्विताः ।
आकाराचारसम्पन्नाः सन्तु जातिस्मराः सदा ॥२७॥

सवै अक्षणले मुक्त श्रद्धा प्रज्ञा कृपान्वित
रूप शील सुसम्पन्न जातिस्मर बनून् सब ॥२७॥

अन्वयार्थ : *(प्राणीहरू) सर्वाक्षणविनिर्मुक्ताः = सवै अक्षणहरूबाट मुक्त, श्रद्धा प्रज्ञाकृपान्विताः = श्रद्धा, प्रज्ञा र करूणाले युक्त, आकाराचारसम्पन्नाः = रूप र शील आदिले सुसम्पन्न, (एवं) सदा = सधै, जातिस्मराः = पूर्वजन्मलाई सम्झिन सक्ने, सन्तु = होऊन् ।*

भवन्त्वक्षयकोषाश्च यावद् गगनगञ्जवत् ।
निर्द्वन्द्वा निरुपायासाः सन्तु स्वाधीनवृत्तयः ॥२८॥

होऊन् नसिद्धिने कोष आकाशै ढाकिने जति
द्वन्द्वहीन शोकहीन होऊन् स्वाधीन आयका ॥२८॥

अन्वयार्थ : (प्राणीहरू) यावद् गगनगञ्जवत् = आकाशभरि व्याप्त; अक्षयकोपा = कहिल्यै नसिद्धिने कोपले युक्त भएका, भवन्तु = होऊन्, निर्द्वन्द्वा: = झैझगडा नभएका, निरुपायासा: = शोक कष्ट केही नभएका र, स्वाधीनवृत्तय: = आफ्नै अधिनको कमाइ भएका, सन्तु = होउन् ।

सबै प्राणीहरूलाई कहिल्यै नसिद्धिने र आकाशै ढाक्ने जत्रो व्यापक राशीको कोष (धनको ढुकुटी) प्राप्त होस् । उनीहरू परस्परमा झैझगडा, चिन्ता, शोक आदिबाट मुक्त भएका र आफ्नै अधीनको कमाइ खानेवाला बनून् ।

अल्पौजसश्च ये सत्त्वास्ते भवन्तु महौजसः ।
भवन्तु रूपसम्पन्ना ये विरूपास्तपस्विन : ॥२९॥

वनून अल्पओजस्वी महाओजवस्वी नै सब
कुरूप, दुव्ला जति छन् बनून् उत्तम रूपका ॥२९॥

अन्वयार्थ : ये सत्त्वा: = जो प्राणीहरू, अल्पौजस: = थोरै ओज भएका छन्, ते = तिनीहरू, महौजस: = धेरै ओज भएका, भवन्तु = होऊन्, ये = जो, विरूपा: = कुरूप र, तपस्विन: = तपस्वी (जीउलाई तड्पाएका र दुव्ला)हरू छन् ती, रूपसम्पन्ना: = रूपले युक्त, भवन्तु = होऊन् ।

थोरै जोश र ओज भएका प्राणीहरू धेरै ओजले युक्त होऊन् र जो कुरूप र जीउ सुकेका तापसी जस्ता छन् तिनीहरू सवै रूप र यैवनले सम्पन्न होऊन् ।

याः काश्चन स्त्रियो लोके पुरुषत्वं व्रजन्तु ताः ।
प्राप्नुवन्तूच्चतां नीचा हतमाना भवन्तु च ॥३०॥

स्त्रीजाति लोकमा जो छन् पुगून् ती पुरुषत्वमा
नीचले उच्चता पाऊन् अभिमान नभैकन ॥३०॥

अन्वयार्थ : लोके = लोकमा, या: काश्चन = जो कोही, स्त्रिय: = स्त्रीजाति छन्, ता: = तिनीहरू, पुरुषत्वं = पुरुषत्वमा, व्रजन्तु = पुगून्, नीचा: = नीचहरू, उच्चतां = उच्चतामा, प्राप्नुवन्तु = प्राप्त होऊन् र, हतमाना: च = अभिमानले रहित पनि, भवन्तु = होउन् ।

लोकमा जति पनि स्त्रीजाति छन् ती सबैले पुरुषत्व लाभ गरून् । नीचहरू उच्च बनेर अभिमानरहित होऊन् ।

अनेन मम पुण्येन सर्वसत्त्वा अशेषतः ।
विरम्य सर्वपापेभ्यः कुर्वन्तु कुशलं सदा ॥३१॥

यो मेरो पुण्यले सारा सत्त्व वाँकी कुनै नभै
सवै पापवाट फर्की गरून् कुशल नै सधै ॥३१॥

अन्वयार्थ : अनेन = यो, मम पुण्येन = मेरो पुण्यले, अशेपत: = कुनै वाँकी नरहेर, सर्वसत्त्वा: = सम्पूर्ण प्राणीहरू, सर्वपापेभ्य: = सम्पूर्ण पापहरूवाट. विरम्य = विरत भएर, सदा = सधै, कुशलं = कुशल (पुण्य) नै, कुर्वन्तु = गरून् ।

मेरो यो पुण्यले गर्दा सबै प्राणीहरूले पाप कर्म गर्न छोडेर सधै कुशलकर्म गरून्।

वोधिचित्ताविरहिता बोधिचर्यापरायणाः।
बुद्धैः परिगृहीताश्च मारकर्मविवर्जिताः ॥३२॥
अप्रमेयायुषश्चैव सर्वसत्त्वा भवन्तु ते।
नित्यं जीवन्तु सुखिता मृत्युशब्दो ऽपि नश्यतु ॥३३॥

वोधिचित्तयुक्त तथा बोधिचर्यापरायण
वुद्धवाट कृपाप्राप्त मारकर्म विवर्जित ॥३२॥
धेरै आयु भएका ती सर्वसत्त्व बनून् सधै
सुखी भै बाँच्न पाऊन् ती नाश होस् मृत्युशब्द नै ॥३३॥

अन्वयार्थ : वोधिचित्ताविरहिताः = वोधिचित्तबाट अलग नभएका, बोधिचर्यापरायणाः = वोधिचर्यामा निरन्तर डुवेका, वुद्धैः च = वुद्धहरूवाट पनि, परिगृहीताः = अनुगृहीत भैसकेका, मारकर्मविवर्जिताः = मारकर्मवाट मुक्त भएका र।

अप्रमेयायुषश्चैव = नाप्नै नसकिने (लामो) आयुले युक्त, ते = ती, सर्वसत्त्वाः = सम्पूर्ण प्राणीहरू, भवन्तु = होऊन्, नित्यं = सधै, सुखिताः = सुख पाएर, जीवन्तु = बाँचून्, मृत्युशब्दः अपि = मृत्यु भन्ने शव्द समेत पनि, नश्यतु = नाश होस् ॥

त्यही मेरो पुण्यले नै ती सबै प्राणीहरू बोधिचित्तबाट कहिल्यै पनि अलग नहुने, बोधिचर्यामा सधै लागिपर्ने, बुद्धहरूबाट पनि कृपा पाइरहेका, मारकर्महरू कहिल्यै पनि आइनपर्ने र दीर्घजीवी बनून्। उनीहरूको जीवन सधै सुखमय रहोस् र मृत्यु भन्ने शब्द समेत नाश होस्।

रम्याः कल्पद्रुमोद्यानैर्दिशः सर्वा भवन्तु च।
बुद्धबुद्धात्मजाकीर्णा धर्मध्वनिमनोहरैः ॥३४॥

कल्पवृक्ष बघैंचा र धर्मध्वनि मनोहर
भई दिशा बनून् रम्य बुद्ध औ बोधिसत्त्वले ॥३४॥

अन्वयार्थ : सर्वा : = सवै, दिशः च = दिशाहरू पनि, कल्पद्रुमोद्यानैः = कल्पवृक्षको वगैंचाले गर्दा, रम्याः = रमणीय र, धर्मध्वनिमनोहरैः = मनोहर धर्मका ध्वनिहरू सहित, वुद्धवुद्धात्मजाकीर्णाः = वुद्ध र वोधिसत्त्वहरूले व्याप्त भएका, भवन्तु = होऊन्।

सबै दिशाहरूमा कल्पवृक्ष सुशोभित होऊन् र बुद्ध एवं बोधिसत्त्वका धर्मध्वनिहरू गुञ्जिराखून्।

शर्करादिव्यपेता च समा पाणितलोपमा।
मृद्वी च वैडूर्यमयी भूमिः सर्वत्र तिष्ठतु ॥३५॥

हत्केला झैं समतल काँडा कङ्कण मुक्त र
मृदु वैदूर्यमणिको बनोस् सम्पूर्ण भूतल ॥३५॥

अन्वयार्थ : भूमिः = पृथ्वी (जमीन), सर्वत्र = सबै ठाउँमा, पाणितलोपमा = हत्केलाको सतह जस्तै, समा = सम्म परेको (मसिनो) र, शर्करादिव्यपेता = काँडा कङ्कण नभएको, मृद्वी = कोमल या नरम र, वैडूर्यमयी = वैदूर्य मणिले युक्त भएको, तिष्ठतु = होस्।

जमीन सबै हत्केला जस्तो समतल, काँडा कङ्कणले रहित भएको, कोमल र वैदूर्यमणिले बनेको होस् ।

बोधिसत्त्वमहापर्षन्मण्डलानि समन्ततः ।
निषीदन्तु स्वशोभाभिर्मण्डयन्तु महीतलम् ॥३६॥

चारैतिर बोधिसत्त्व परिषद् मण्डली ठूला
वसेर आफ्ना शोभाले गरून् मण्डन भूतल ॥३६॥

अन्वयार्थ : समन्ततः = चारैतिरवाट, वोधिसत्त्वमहापर्षन्मण्डलानि = वोधिसत्त्वका महापरिपद्मण्डलहरू, निपीदन्तु = विराजमान होऊन्, स्वशोभाभिः = आफ्नो शोभाले, महीतलं = पृथ्वीतललाई, मण्डयन्तु = भूपित वनाऊन् ।

पृथ्वीमा चारैतिर बोधिसत्त्वका मण्डलीहरू विराजमान होऊन् र आफ्नो शोभाले धर तीलाई नै भूषित तुल्याऊन् ।

पक्षिभ्यः सर्ववृक्षेभ्यो रश्मिभ्यो गगनादपि ।
धर्मध्वनिरविश्रामं श्रूयतां सर्वदेहिभिः ॥३७॥

चरा या वृक्ष आकाश अथवा रश्मिबाट त
सुनून् प्राणी सबैले नै धर्मघ्वनि निरन्तर ॥३७॥

अन्वयार्थ : सर्वदेहिभिः = सबै देहधारीहरूलाई, अविश्रामं = निरन्तर, पक्षिभ्यः = चराहरूबाट, सर्ववृक्षेभ्यः = सबै रूखहरूबाट रश्मिभ्यः = प्रकाशका किरणहरूबाट र, गगनाद् अपि = आकाशबाट पनि, धर्मध्वनिः = धर्मको ध्वनि, श्रूयतां = सुनियोस् ।

सबै प्राणीहरूले निरन्तर यी चरा-चुरूङ्गी, बोट-विरुवा, प्रकाश, आकाश जस्ता प्राकृतिक चराचर जगत्बाटै धर्मको ध्वनि सुनिरहन सकून् ।

बुद्ध-बुद्धसुतैर्नित्यं लभन्तां ते समागमम् ।
पूजामेघैरनन्तैश्च पूजयन्तु जगद्गुरुम् ॥३८॥

बुद्ध-बुद्धपुत्रसँग बनोस् संगत सर्वदा
गरून् पूजामेघद्वारा जगत्का गुरुको पूजा ॥३८॥

अन्वयार्थ : ते = तिनीहरूले, नित्यं = सधैं, बुद्धवुद्धसुतैः = वुद्ध र बुद्धका पुत्र अर्थात् वोधिसत्त्वहरूसँग, समागमं = संगत, लभन्तां = पाइरहून्, अनन्तैः = अनन्त अर्थात् असंख्य, पूजामेघैः = पूजाका बादलहरूले, जगद्गुरुम् = जगत् कै गुरु (बुद्ध) लाई, पूजयन्तु = पूजा गरून् ।

ती सबै प्राणीहरूले सधै बुद्ध बोधिसत्त्वहरूको संगत गर्न पाइरहून् र लोककै सर्वोत्तम गुरु बनेका बुद्धलाई असंख्य पूजासामग्रीको राशीले पूजा गरिरहून् ।

देवो वर्षतु कालेन शस्यसम्पत्तिरस्तु च ।
स्फीतो भवतु लोकश्च राजा भवतु धार्मिकः ॥३९॥

देव वर्पोस् समयमा धनधान्य समृद्धि होस्
लोक पुप्ट बनोस् त्यस्तै राजा धार्मिक नै बनोस् ॥३९॥

अन्वयार्थ : देव: = पर्जन्यदेव, कालेन = समयमै, वर्पतु = वर्सियोस्, शस्यसम्पत्तिः च = धनधान्य पनि, अस्तु = होस्, लोकः च = लोक पनि, स्फीत: = पुष्ट अर्थात् सुसम्पन्न, भवतु = होस्, राजा = राजा, धार्मिक: = धार्मिक, भवतु = होस् ।

समयमा पानी परोस्, धनधान्य बढोस्, लोक मोटाओस् र राजा (या शासक) धार्मिक बनोस् ।

शक्ता भवन्तु चौषध्यो मन्त्राः सिध्यन्तु जापिनाम् ।
भवन्तु करुणाविष्टा डाकिनीराक्षसादयः ॥४०॥

औषधीमा शक्ति आओस् जप्नेको मन्त्र सिद्ध होस्
करूणामा प्रवेशै होस् डाकिनी राक्षसादिको ॥४०॥

अन्वयार्थ : औषध्य: = औषधीहरू, शक्ता = सामर्थ्यले युक्त, भवन्तु = होउन्, जापिनाम् = जप्ने, जापकहरूका, मन्त्रा: = मन्त्रहरू, सिद्धयन्तु = सिद्ध होऊन्, डाकिनीराक्षसादय: = डाकिनी, रक्षस आदि सवै, करुणाविष्टा: = करुणाले युक्त भएका, भवन्तु = होऊन् ।

औषधीहरूमा रोग नाश गर्ने सामर्थ्य आओस् । मन्त्र जप्नेहरूका मन्त्र सिद्ध होऊन्, रक्त-मांस खाने डाकिनी राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि करुणाले युक्त होऊन् ।

मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो मा पापी मा च रोगितः ।
मा हीनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः ॥४१॥

कोही दुःखी नहोस् कोही रोगी पापी र हीन या
हारेको अथवा द्वेषी नहोस् सत्त्व कुनै यहाँ ॥४१॥

अन्वयार्थ : कश्चित् = कोही पनि, सत्त्व: = प्राणी, मा दु:खित: भूत् = दु:खी न होस्, मा पापी = पापी नहोस् , मा च रोगी = रोगी पनि नहोस्, मा हीन: = हीन या तुच्छ पनि नहोस्, वा = अथवा, परिभूत: = पराजित पनि नहोस्, कश्चिच्च = कोही पनि, दुर्मना: = नराम्रो (द्वेपी) मन भएको, मा भूत् = नहोस् ।

कोही प्राणी पनि दुःखी, रोगी, पापी, हीन, पराजित, या द्वेषी या खराव मन भएका नहोऊन् ।

पाठस्वाध्यायकलिला विहाराः सन्तु सुस्थिताः ।
नित्यं स्यात् सङ्घसामग्री सङ्घकार्यं च सिध्यतु ॥४२॥

पाठ-स्वाध्यायले पूर्ण विहार सुव्यवस्थित
होऊन् र सङ्घसामग्री सङ्घकार्य बनोस् पुरा ॥४२॥

अन्वयार्थ : विहारा: = विहारहरू, पाठस्वाध्यायकलिला: = पठन-पाठन र स्वाध्याय आदिले परिपूर्ण भएका एवं, सुस्थिता: = शान्तिपूर्ण व्यवस्था भएका, सन्तु = होऊन्, नित्यं = सधै, सङ्घसामग्री = सङ्घलाई चाहिने सामग्री, स्यात् = (पर्याप्त) होस् ; सङ्घकार्यं च = सङ्घको कार्य पनि, सिध्यतु = सिद्ध होस् ।

विहारहरू सुव्यवस्थित र शान्त रहून् एवं पठन-पाठन, स्वाध्याय, भावना आदिले भरपूर होऊन् । संघलाई चाहिने सामग्री सधै पर्याप्त रहोस् र सङ्घले गर्नुपर्ने कार्य पूरा गर्न सकोस् ।

विवेकलाभिनः सन्तु शिक्षाकामाश्च भिक्षवः ।
कर्मण्यचित्ता ध्यायन्तु सर्वविक्षेपवर्जिताः ॥४३॥

विवेकलाभी शिक्षार्थी कर्मण्य चित्तका भई
कुनै विक्षेप नगरी गरून् ध्यान त भिक्षु ती ॥४३॥

अन्वयार्ग : भिक्षवः = भिक्षुहरू, विवेकलाभिनः = विवेक प्राप्त भएका र, शिक्षाकामाश्च = शिक्षाको इच्छा गरिरहने, सन्तु = होऊन्, कर्मण्यचित्ताः = कर्मण्य चित्त भएर, सर्वविक्षेपवर्जिताः = सबै विक्षेपहरूले रहित भई, ध्यायन्तु = ध्यान गरून् ।

भिक्षुहरू पनि विवेकी, शिक्षार्थी, कर्मण्यचित्तका बनेर सबै विक्षेपहरूबाट मुक्त भई ध्यान गरून् ।

लाभिन्यः सन्तु भिक्षुण्यः कलहायासवर्जिताः ।
भवन्त्वखण्डशीलाश्च सर्वे प्रव्रजितास्तथा ॥४४॥

लाभी बनून् भिक्षुणी र झगडा नगरून् सदा
अखण्ड शीलले युक्त होऊन् प्रव्रजितै तथा ॥४४॥

अन्वयार्थ : भिक्षुण्यः = भिक्षुणीहरू, लभिन्यः = लाभ भएका, कलहायासवर्जिताः = झैझगडा र दुःखकप्टवाट रहित भएका, सन्तु = होऊन्, तथा = त्यस्तै, सर्वे = सबै, अखण्डशीलाः = शील कहिल्यै नटुटाएका र, प्रव्रजिताः = प्रव्रजित, भवन्तु = होऊन् ।

त्यसै गरी भिक्षुणीहरू पनि लाभ-सत्कारले युक्त, झै-झगडा नगर्ने, अखण्डरूपमा शील पालन गरेका र प्रव्रजित होऊन् ।

दुःशीलाः सन्तु संविग्नाः पापक्षयरताः सदा ।
सुगतेर्लाभिनः सन्तु तत्र चाखण्डितव्रताः ॥४५॥

दुःशीलमा होस् पछुतो लागून् पाप हटाउन
गरून् सुगतिको लाभ नहोस् व्रत त खण्डित ॥४५॥

अन्वयार्थ : दुःशीलाः = शील विग्रेकाहरू, संविग्नाः = पछुतोले पोलेका र, सदा = सधै, पापक्षयरताः = पापलाई नाश गर्नमा लागिपरेका, सन्तु = होऊन्, सुगतेः = सुगतिको, लाभिनः = लाभी, सन्तु = होऊन्, तत्र = त्यसको लागि, अखण्डितव्रताः च = व्रत (शील) खण्डित नभएका वनून् ।

जो भिक्षु – भिक्षुणी आदि शीलभ्रष्ट भएका छन् उनीहरूले त्यसमा पछुतो मानून् र सधै पापलाई नाश गर्नमा लागिपरून् जसले गर्दा उनीहरूलाई सुगतिको लाभ होस् । त्यसको लागि अबदेखि खण्डित नहुने गरी शील पालन गरून् ।

पण्डिताः सत्कृताः सन्तु लाभिनः पैण्डपातिकाः ।
भवन्तु शुद्धसन्तानाः सर्वदिक्ख्यातकीर्तयः ॥४६॥

सत्कार होस् पण्डितको पिण्डपात मिलोस् सधैं
शुद्ध सन्तानका होऊन् फैलोस् कीर्ति दिशा दशै ॥४६॥

अन्वयार्थ : पण्डिता: = पण्डितहरू, सत्कृता: = सम्मानप्राप्त, लाभिन: = लाभ गरेका, पैण्डपातिका: = भोजनपानको व्यवस्था भएका (पिण्डपात प्राप्त गर्ने), सन्तु = होऊन्, शुद्धसन्ताना: = शुद्ध सन्तान प्राप्त भएका र, सर्वदिक्ख्यातकीर्तय: = सम्पूर्ण दिशाहरूमा किर्ति फैलिएका, भवन्तु = होऊन् ।

समाजमा पण्डितहरूको राम्रो आदर सत्कार होस् । उनीहरूलाई सधै लाभ होस्, पिण्डपात (भोजन पानी) निरन्तर प्राप्त भइरहोस् । उनीहरूका सन्तान शुद्ध होऊन् र किर्ति पनि दशै दिशातिर फैलिएको होस् ।

अभुक्त्वापायिकं दुःखं विना दुष्करचर्यया ।
दिव्येनैकेन कायेन जगद् बुद्धत्त्वमाप्नुयात् ॥४७॥

नभोगी दुर्गति-दु:ख चर्या कठिन क्यै नभै
जगत्ले बुद्धता पाओस् एउटै दिव्यकायले ॥४७॥

अन्वयार्थ : जगद् = जगत्ले, आपायिकं = अपायगतिको, दु:खं = दु:खलाई, अभुक्त्वा = नभोगेरनै, दुष्करचर्यया विना = कुनै कठीन चर्या नगरिकनै, एकेन = एउटै, दिव्येन कायेन = दिव्यकाय मार्फत, बुद्धत्वं = बुद्धतालाई, प्राप्नुयात् = प्राप्त गरोस् ।

सम्पूर्ण जगत्ले नरक आदि अपाय गतिका कुनै दु:ख पनि नभोगेर, बुद्धताको लागि अपनाउनु पर्ने हात पाउ आदि दान गर्ने जस्ता कठीन चर्याहरू कुनै पनि नगरी एउटै (वर्तमान जन्मको) दिव्य शरीरद्वारा सोझै बुद्धता प्राप्त गरोस् ।

पूज्यन्तां सर्वसम्बुद्धा : सर्वसत्त्वैरनेकधा ।
अचिन्त्यबौद्धसौख्येन सुखिनः सन्तु भूयसा ॥४८॥

सबै सत्त्वबाट सबै सम्बुद्ध पूजितै बनून्
अचिन्त्य बौद्ध सुखले सुख धेरै भई रहून् ॥४८॥

अन्वयार्थ : सर्वसम्बुद्धा: = सबै सम्बुद्धहरू, सर्वसत्त्वै = सबै प्राणीहरूबाट, अनेकधा = अनेक प्रकारलेपूज्यन्तां पूजित होऊन्, भूयसा = अति धेरै, अचिन्त्यबौद्धसौख्येन = अचिन्त्य बौद्ध सुखले, सुखिन: = सुखी, सन्तु होऊन् ।

सबै सम्बुद्धहरूलाई सबै प्राणीहरूले अनेक प्रकारले पूजा गरिराखून् र उहाँहरूको अचिन्त्य बौद्ध सुख सदाकाल धेरै भइरहेर सुखी रहनोस् ।

सिध्यन्तु बोधिसत्त्वानां जगदर्थं मनोरथाः ।
यच्चिन्तयन्ति ते नाथास्तत्सत्त्वानां समृध्यतु ॥४९॥

चाहेको लोकका निम्ति सिद्ध होस् बोधिसत्त्वको
ती नाथ सत्त्वका निम्ति जे चाहान्छन् सबै पुगोस् ॥४९॥

अन्वयार्थ : बोधिसत्त्वानां = बोधिसत्त्वहरूका, जगदर्थं = जगत्का निमित्त गरिएका, मनोरथा: मनले चाहेका कुराहरू, सिध्यन्तु सिद्ध होऊन्, ते = ती, नाथा: = नाथहरू, यच्चिन्तयन्ति = जे चिताउंछन्, तत् = त्यो, सत्त्वानां = सत्त्वहरूको निमित्त, समृध्यतु = सुसम्पन्न होस् ।

बोधिसत्त्वहरूले जगत्को लागि जे चिताउँछन् त्यो सबै सिद्ध होस् र उनीहरूका सबै मनोरथहरू पूरा होऊन् किनकि ती सबै जगत्को हितका निमित्त हुन्छन् ।

प्रत्येकबुद्धाः सुखिनो भवन्तु श्रावकास्तथा ।
देवासुरनरैर्नित्यं पूज्यमानाः सगौरवैः ॥५०॥

सुखी होऊन् श्रावक र प्रत्येकबुद्ध ती सबै
सगौरव गरून् पूजा देवासुरहरू सधै ॥५०॥

अन्वयार्थ : प्रत्येकबुद्धाः = प्रत्येकबुद्धहरू, तथा = त्यस्तै, श्रावकाः = श्रावकहरू पनि, नित्यं = सधै, सुखिनः = सुखी र, सगौरवैः = गौरवले युक्त भएका, देवासुरनरैः = देव, दानव र मनुष्यहरूद्वारा, पूज्यमानाः = पूजा गरिएका, भवन्तु = होऊन् ।

प्रत्येकबुद्ध र श्रावकहरू पनि सधै निर्वाणको सुखलाभ गरून् र उनीहरूलाई सधै देव, दानव र मनुष्यहरूले गौरवका साथ पूजा गरिरहून् ।

जातिस्मरत्वं प्रव्रज्यामहं च प्राप्नुयां सदा ।
यावत् प्रमुदिताभूमिं मञ्जुघोषपरिग्रहात् ॥५१॥

जातिस्मरण होस् मेरो, रहूँ प्रव्रजितै भई
प्रमुदिता भूमिसम्म मञ्जुघोषकृपा भई ॥५१॥

अन्वयार्थ : अहं = मैले, मञ्जुघोषपरिग्रहात् = मञ्जुघोषको कृपाले गर्दा, प्रमुदिताभूमिं यावत् = प्रभुदिता भूमिमा नपुग्दा सम्म, सदा = सधै, जातिस्मरत्वं = पूर्वजन्मको याद हुने क्षमता र, प्रव्रज्यां प्रव्रज्या पनि, प्राप्नुयां = पाइरहूँ ।

श्री मञ्जुघोषको कृपाले गर्दा मलाई प्रमुदिता भूमिमा नपुग्दासम्म सधै जातिस्मरण (पूर्वजन्मको याद) आइरहोस् र प्रव्रजित जीवन बिताइरहन पाऊँ ।

येन तेनाशनेनाहं यापयेयं बलान्वितः ।
विवेकवाससामग्री प्राप्नुयां सर्वजातिषु ॥५२॥

जे जे पाइन्छ खाएरै बितोस् सबल जीवनै
एकान्तवासका वस्तु पाइयून् जन्ममा सबै ॥५२॥

अन्वयार्थ : अहं = मैले, सवैजातिपु = सम्पूर्ण जन्महरूमा, येन = जे पाइन्छ, तेन अशनेन = त्यो भोजनले, बलान्वितः = वलियो (स्वस्थ) भएर, यापयेयं = जीवन विताउन सकूँ र, विवेकवाससामग्रीं = एकान्तवासको लागि चाहिने स्रोत साधन, प्राप्नुयाम् = पाइरहूँ ।

मैले जेजस्तो रुखो सुखो मिल्छ त्यस्तै खाएर पनि बलियो र स्वस्थ भएर जीवनलाई विताउन सकूँ र प्रत्येक जन्महरूमा एकान्तमा रहेर भावना गर्नलाई चाहिने सामग्री, स्रोत र साधन मलाई जुटिरहून् ।

यदा च द्रष्टुकामः स्यां प्रष्टुकामश्च किञ्चन ।
तमेव नाथं पश्येयं मञ्जुनाथमविघ्नतः ॥५३॥

जव देख्न, सोध्न कुरा, नाथलाई म चाहुँला
निर्विघ्न दर्शन मिलून् उनै श्रीमञ्जुनाथका ॥५३॥

अन्वयार्थ : यदा = जहिले, द्रष्टुकामः = दर्शन गर्ने चाहना र, किञ्चन = केही, प्रष्टुकामः = सोध्ने चाहनाले युक्त, स्यां = हूँला,

(त्यसवेला) तम् = उनै, नाथं एव = नाथ मञ्जुनाथं = मञ्जुनाथ, स्वामीलाई नै, अविघ्नतः = निर्विघ्नतापूर्वक, पश्येयम् = देख्न सकूँ ।

जहिले जहिले मलाई नाथको दर्शन गर्ने र शङ्का लागेका कुरा सोध्ने इच्छा हुन्छ तहिले तहिले मैले उनै मञ्जुनाथलाई निर्बाधरूपमा दर्शन गर्न र सोध्न सकूँ ।

दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने ।
यथा चरति मञ्जुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम ॥५४॥

दशै दिशाको आकाशव्यापी सत्त्वार्थ निम्तिको
मञ्जुश्रीको छ जे चर्या त्यही मेरो पनि बनोस् ॥५४॥

अन्वयार्थ : यथा = जसरी, मञ्जुश्रीः = मञ्जुश्री, दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने = दशै दिशाको आकाशव्यापी सम्पूर्ण सत्त्वहरूको हित गर्ने काममा, चरति = आचरण गर्नु हुन्छ, मम = मेरो पनि, सा एव चर्या = त्यही चर्या नै, भवेत् = होस् ।

जसरी मञ्जुश्रीले दशै दिशाका आकाशसमान व्यापक प्राणीहरूको हितका निमित्त बोधिसत्त्वचर्या गरिराख्नुहुन्छ मैले पनि त्यस्तै चर्या गरिरहूँ ।

आकाशस्य स्थितिर्यावद् यावच्च जगतः स्थितिः ।
तावन्मम स्थितिर्भूयाद् जगद्दुःखानि निघ्नतः ॥५५॥

यो आकाश जहाँसम्म जहाँसम्म जगत् रहोस्
तब सम्म जगद्दुःख नाश्दै मेरो स्थिति बनोस् ॥५६॥

अन्वयार्थ : यावद् = जबसम्म, आकाशस्य = आकाशको, स्थितिः = स्थिति हुन्छ, यावच्च = जबसम्म, जगतः = जगत्को, स्थितिः = स्थिति हुन्छ, तावद् = तबसम्म, मम = मेरो, जगद्दुःखानि = जगत्का दुःखहरूलाई, निघ्नतः = नाश गर्दै, स्थितिः = अवस्थिति, भूयात् = होस् ।

जबसम्म यो आकाश र यो संसार रहन्छ तबसम्म यो जगत्का दुःखहरू हटाउँदै म पनि यही रहिराखूँ ।

यत् किञ्चिद् जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ॥५६॥

जे छन् जगतका दुःख ती विपाक बनून् ममा
सबै लोक सुखी होऊन् शुभले बोधिसत्त्वका ॥५६॥

अन्वयार्थ : जगतः = जगत्को, यत् किञ्चिद् = जो कुनै, दुःखं = दुःख छ, तत् सर्वं = त्यो सबै, मयि = ममाः पच्यताम् = विपाक होस् (फलोस्), जगत् च = लोक त, सर्वैः = सबै, बोधिसत्त्वशुभैः = बोधिसत्त्वका कुशल कर्मले गर्दा, सुखितम् अस्तु = सुखी होस् ।

जगत्का जति पनि दुःखहरू छन् ती सबै मैले भोगूँ र बोधिसत्त्वहरूका सम्पूर्ण कुशल पक्षहरूले गर्दा जगत् सधै सुखी रहोस् ।

जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसम्पत्सुखाकरम् ।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम् ॥५७॥

सर्वसम्पत्-सुख दिने दुःखको एक औषधी
यो शासन स्थिर रहोस् लाभ-सत्कारयुक्त भै ॥५७॥

अन्वयार्थ : जगद्दुःखैकभैपज्यं = जगत्को दुःखलाई नाश गर्ने एक मात्र औपधी स्वरूपको, सर्वसम्पत्सुखाकरं = सम्पूर्ण सम्पत्तिरूपी सुखको खानि भएको, शासनं = बुद्धशासन, लाभसत्कारसहितं = लाभ र सत्कारले सहित भएर, चिरं = धेरै समयसम्म, तिष्ठतु = रहोस् ।

जगत्को दुःखलाई नाश गर्ने एकमात्र औषधिसमान भएको र सम्पूर्ण लौकिक र लोकोत्तर सम्पत्तिहरूको सुखको खानीसमान भएको यो भगवान् बुद्धको शासन लाभसत्कारसहित भई चिर कालसम्म यहाँ रहोस् ।

मञ्जुघोषं नमस्यामि यत्प्रसादान्मतिः शुभे ।
कल्याणमित्रं वन्दे ऽहं यत्प्रसादाच्च वर्धते ॥५८॥

जस्को प्रसादले बुद्धि शुभमा लाग्छ, बढ्दछ
ती मञ्जुघोष, कल्याणमित्रलाई प्रणाम छ ॥५८॥

अन्वयार्थ : यत्प्रसादाद् = जसको प्रसादले, मतिः = वुद्धि, शुभे = शुभकर्ममा लाग्छ, (त्यस्ता), मञ्जुघोपं = मञ्जुघोपलाई, अहम् = मैले, नमस्यामि = प्रणाम गर्दछु, यत्प्रसादात् = जसको प्रसादले, (त्यो) वर्धते = बढ्छ, (त्यस्ता) कल्याणमित्रं = कल्याणमित्रलाई, वन्दे = वन्दना गर्दछु ।

जसको कृपाले गर्दा मेरो मति शुभकर्ममा लाग्यो र यो ग्रन्थ रच्ने प्रेरणा भयो र अरूलाई पनि हुन्छ त्यस्ता भट्टारक मञ्जुघोषलाई प्रणाम गर्दछु । त्यस्तै जसको कृपाले गर्दा त्यो शुभमा लागेको मति बढ्दै जान्छ र त्यस्ता श्रवण, चिन्तन, भावना आदि कुशलको वृद्धि हुँदै जान्छ र मेरो पनि बढ्दै गएको छ त्यस्ता कल्याणमित्र गुरुजन आदिलाई वन्दना गर्दछु ।

बोधिचर्यावतारमा 'परिणामना' भन्ने दशौं परिच्छेदको
नेपाली भावार्थ समाप्त भयो ।

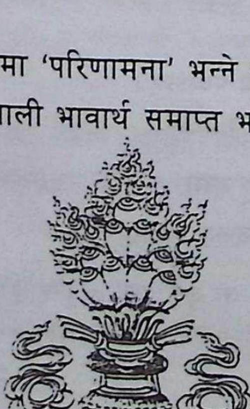

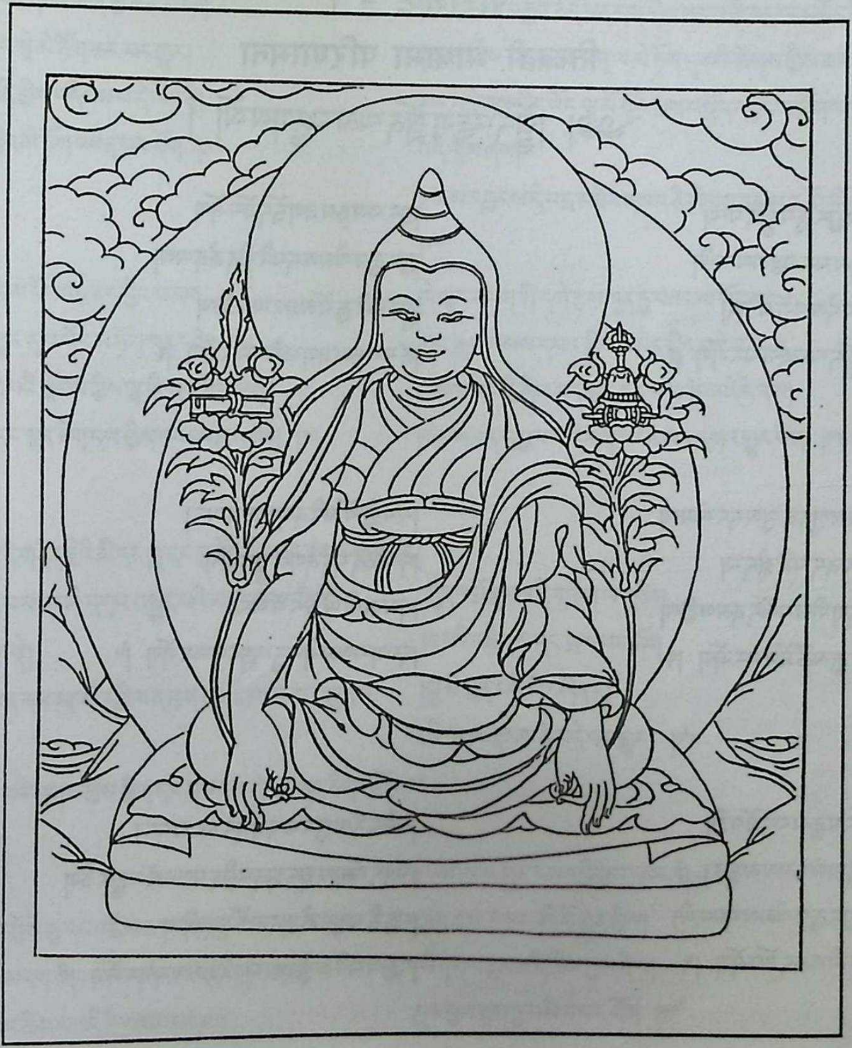

आचार्य लोङ्छेन्पा

[तिव्वतको योरू क्षेत्रमा जन्मिएका चौधौं शताब्दीका सिद्ध एवं विद्वान् पण्डित सर्वज्ञ लोङ्छेन्पा। उहाँ तिव्वतको बुद्धधर्मको न्यिङ्मा परम्पराका अद्वितीय विद्वान् एवं सिद्ध गुरु हुनुहुन्थ्यो र गुरू पद्मसम्भव र विमलमित्रका महासन्धि (झोक्छेन्)का उपदेशहरूका बाहक हुनुहुन्थ्यो। उहाँले साक्षात् गुरुपद्मसम्भव र येशे चोग्याल्बाट पनि उपदेश प्राप्त गर्नुभएको थियो भने उहाँका मूल गुरु विद्याधर कुमारराजबाट पनि उपदेश प्राप्त गर्नुभएको थियो। बुद्धधर्मका सबै पक्षहरूलाई (श्रावकयान, वोधिसत्त्वयान, बज्रयान, महासन्धि आदिलाई) समेटेर उहाँले सात कोपहरु (जो धुइन्) लेख्नुभएको छ।]

परिशिष्ट - १

तिब्बती भाषामा परिणामना

༄༅། །སྤྱོད་འཇུག་སྨོན་ལམ་བཞུགས་སོ། །

།བདག་གིས་བྱང་ཆུབ་སྤྱོད་པ་ལ།
།འཇུག་པ་རྣམ་པར་བརྩམས་པ་ཡི།
།དགེ་བ་གང་དེས་འགྲོ་བ་ཀུན།
།བྱང་ཆུབ་སྤྱོད་ལ་འཇུག་པར་ཤོག །༡

།ཕྱོགས་རྣམས་ཀུན་ན་ལུས་དང་སེམས།
།སྡུག་བསྔལ་ནད་པ་ཇི་སྙེད་པ།
།དེ་དག་བདག་གིས་བསོད་ནམས་ཀྱིས།
།བདེ་དགའ་རྒྱ་མཚོ་ཐོབ་པར་ཤོག །༢

།དེ་དག་སངས་རྒྱས་བདེ་ཐོབ་ཀྱི།
།བར་དུ་བདེ་ལས་ཉམས་མ་གྱུར།
།འགྲོ་བས་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཡི།
།བདེ་བ་རྒྱུན་མི་འཆད་ཐོབ་ཤོག །༣

།འཇིག་རྟེན་ཁམས་ན་དམྱལ་བ་དག
།གང་དག་ཇི་སྙེད་ཡོད་པ་རྣམས།
།དེ་དག་ཏུ་ནི་ལུས་ཅན་རྣམས།
།བདེ་ཅན་བདེ་བས་དགའ་བར་ཤོག །༤

།གྲང་བས་ཉམ་ཐག་དྲོད་ཐོབ་ཤོག
།བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྤྲིན་ཆེན་ལས།
།བྱུང་བའི་ཆུ་བོ་མཐའ་ཡས་ཀྱིས།
།ཚ་བས་ཉམ་ཐག་བསིལ་བར་ཤོག །༥

།རལ་གྲི་ལོ་མའི་ནགས་ཚལ་ཡང་།
།དེ་ལ་ཙན་དན་ནགས་སྡུག་ཤོག
།ཤལ་མ་ལི་ཡི་སྡོང་པོ་ཡང་།
།དཔག་བསམ་ཤིང་དུ་འཁྲུངས་པར་ཤོག །༦

།མཐིང་རིལ་ཏུར་པ་དག་དང་ངང་པ་དང་།
།བཞད་སོགས་སྐད་སྙན་འབྱིན་པས་མཛེས་གྱུར་ཅིག
།པདྨ་དྲི་བསུང་ཆེ་ལྡན་མཚོ་དག་གིས།
།དམྱལ་བའི་ས་ཕྱོགས་དག་ནི་ཉམས་དགར་ཤོག །༧

།སོལ་ཕུང་དེ་ཡང་རིན་ཆེན་ཕུང་པོར་གྱུར།
།ས་བསྲེགས་ཤེལ་གྱི་ས་གཞི་བསྟར་བར་ཤོག
།བསྡུས་འཇོམས་རི་བོ་རྣམས་ཀྱང་མཆོད་པ་ཡི།
།གཞལ་མེད་ཁང་གྱུར་བདེ་གཤེགས་གང་བར་ཤོག །༨

།མདག་མ་རྗེ་བསྲེགས་མཚོན་གྱི་ཆར་པ་དག
།དེང་ནས་བཟུང་སྟེ་མེ་ཏོག་ཆར་པར་གྱུར།
།ཕན་ཚུན་མཚོན་གྱིས་བདེབས་པ་དེ་ཡང་ནི།
།དེང་ནས་རྩེ་ཕྱིར་མེ་ཏོག་འཕེན་པར་ཤོག །༩

།ཆུ་བོ་རབ་མེད་མེ་དོང་འདྲ་ནང་བྱིང་བ་དག
།ཤ་ཀུན་ཞིག་ཕྱུར་རུས་གོང་མེ་ཏོག་ཀུན་དའི་མདོག
།བདག་གི་དགེ་བའི་སྟོབས་ཀྱིས་ལྷ་ཡི་ལུས་ཐོབ་ནས།
།ལྷ་མོ་རྣམས་དང་ལྷན་ཅིག་དལ་གྱིས་འབབ་གནས་ཤོག །༡༠

།ཅི་ཕྱིར་འདིར་ནི་གཤིན་རྗེའི་མི་དང་ཁྭ་དང་བྱ་རྒོད་མི་བཟད་རྣམས་སྐྲག་བྱེད།
།ཀུན་ནས་མུན་བསལ་བདེ་དགའ་བསྐྱེད་པའི་མཐུ་བཟང་འདི་གོ་
སུ་ཡི་མཐུ་སྙམ་སྟེ།
།གྱེན་དུ་བལྟས་ན་ནམ་མཁའི་དཀྱིལ་ན་ཕྱག་ན་རྡོ་རྗེ་འབར་བ་བཞུགས
མཐོང་ནས།
།རབ་ཏུ་དགའ་བའི་ཤུགས་ཀྱིས་སྡིག་དང་བྲལ་ནས་དེ་དང་ལྷན་ཅིག་འགྲོགས
པར་ཤོག །༡༡

།མེ་ཏོག་ཆར་པ་སྤོས་ཆུ་དང་འདྲེས་འབབ་པ་ཡི།
།དམྱལ་བའི་མེ་མདག་ཆིལ་ཆིལ་གསོད་པ་མཐོང་གྱུར་ནས།
།གློ་བུར་བདེ་བས་ཚིམ་པ་འདི་ཅི་བསམ་པ་དང་།
།སེམས་དམྱལ་རྣམས་ཀྱིས་ཕྱག་ན་པདྨ་མཐོང་བར་ཤོག །༡༢

།གྲོགས་དག་འཇིགས་པ་བོར་ལ་རིང་པར་ཚུར་ཤོག་ཨུ་བུའི་ཐད་དུ་ནི།
།གང་གི་མཐུ་ཡིས་སྡུག་བསྔལ་ཀུན་བྲལ་དགའ་བའི་ཤུགས་ཕྱིན་ལ།
།འགྲོ་བ་ཀུན་ནས་ཡོངས་སྐྱོབ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དང་བརྩེ་བ་སྐྱེས་གྱུར་པ།
།གཞོན་ནུ་ཟུར་ཕུད་ཅན་འབར་འཇིགས་པ་མེད་པར་བྱེད་པ་ཅི་ཞིག་ཕྱིན། །༡༣

ཁྱོད་ཀྱིས་ལྷ་བརྒྱའི་ཅོད་པན་དག་གིས་ཞབས་ཀྱི་པདྨ་ལ་མཆོད་ཅིང་།
།ཐུགས་རྗེས་བརླན་ཅན་དབུ་ལ་མེ་ཏོག་དུ་མའི་ཚོགས་ཀྱིས་ཆར་འབེབ་པ།
།ཁང་བརྩེགས་ཡིད་འོང་ལྷ་མོ་སྟོང་ཕྲག་བསྟོད་དབྱངས་སྒྲོགས་ལྡན
འདི་ལྟོས་ཞེས།
།འཇམ་དབྱངས་དེ་འདྲ་མཐོང་ནས་ད་ནི་སེམས་དམྱལ་ཅ་ཅོ་འདོན་པར་ཤོག
།༡༤

།དེ་ལྟར་བདག་གི་དགེ་རྩས་ཀུན་ཏུ་བཟང་ལ་སོགས།
།བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་སྒྲིབ་པ་མེད་སྤྲིན་བདེ་བ་དང་།
།བསིལ་ཞིང་དྲི་ཞིམ་ངད་ལྡན་ཆར་པ་འབེབ་མཐོང་ནས།
།སེམས་ཅན་དམྱལ་བ་དེ་དག་མངོན་པར་དགའ་གྱུར་ཅིག །༡༥

།དུད་འགྲོ་རྣམས་ནི་གཅིག་ལ་གཅིག
།ཟ་བའི་འཇིགས་དང་བྲལ་བར་ཤོག
།སྒྲ་མི་སྙན་པའི་མི་བཞིན་དུ།
།ཡི་དྭགས་རྣམས་ནི་བདེ་བར་གྱུར། །༡༦

།འཕགས་པ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་གི
།ཕྱག་ནས་འབབ་པའི་འོ་རྒྱུན་གྱིས།
།ཡི་དྭགས་རྣམས་ནི་ཚིམ་བྱས་ཤིང་།
།ཁྲུས་བྱས་རྟག་ཏུ་བསིལ་བར་ཤོག །༡༧

།ལོང་བ་རྣམས་ཀྱིས་གཟུགས་མཐོང་ཞིང་།
།འོན་པས་རྟག་ཏུ་སྒྲ་ཐོས་ཤོག
།ལྷ་མོ་སྒྱུ་འཕྲུལ་ཇི་བཞིན་དུ།
།སྦྲུམ་མའང་གནོད་མེད་བཙའ་བར་ཤོག །༡༨

།གཙེར་བུ་རྣམས་ཀྱིས་གོས་དགའ་དང་།
།བཀྲེས་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཟས་དགའ་དང་།
།སྐོམ་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཆུ་དགའ་དང་།
།བཏུང་བ་ཞིམ་པོ་ཐོབ་པར་ཤོག ༢༩

།བཀྲེན་པ་རྣམས་ཀྱིས་ནོར་ཐོབ་ཤོག
།མྱ་ངན་ཉམ་ཐག་དགའ་ཐོབ་ཤོག
།ཡི་ཆད་རྣམས་ཀྱང་ཡིད་སོས་ཤིང་།
།བརྟན་པ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པར་ཤོག ༣༠

།སེམས་ཅན་ནད་པ་ཇི་སྙེད་པ།
།མྱུར་དུ་ནད་ལས་ཐར་གྱུར་ཅིག
།འགྲོ་བའི་ནད་ནི་མ་ལུས་པ།
།རྟག་ཏུ་འབྱུང་བ་མེད་པར་ཤོག ༣༡

།སྐྲག་པ་རྣམས་ནི་འཇིགས་མེད་ཤོག
།བཅིངས་པ་རྣམས་ནི་གྲོལ་བར་གྱུར།
།མཐུ་མེད་རྣམས་ནི་མཐུ་ལྡན་ཞིང་།
།ཕན་ཚུན་སེམས་ནི་མཉེན་གྱུར་ཅིག ༣༢

།འགྲོན་པོ་དག་ནི་ཐམས་ཅད་ལ།
།ཕྱོགས་རྣམས་ཐམས་ཅད་བདེ་བར་ཤོག
།གང་གི་དོན་དུ་འགྲོ་བྱེད་པ།
།དེ་འབད་མི་དགོས་འགྲུབ་གྱུར་ཅིག ༣༣

།གྲུ་དང་གྲུ་ཆེན་ཞུགས་པ་རྣམས།
།ཡིད་ལ་བསམ་པ་འགྲུབ་གྱུར་ཏེ།
།ཆུ་ཡི་ངོགས་སུ་བདེར་ཕྱིན་ནས།
།གཉེན་དང་ལྷན་ཅིག་དགའ་བར་ཤོག ༣༤

།མྱ་ངན་ལམ་གོལ་འཁྱམས་པ་རྣམས།
།འགྲོན་པོ་དག་དང་ཕྲད་གྱུར་ནས།
།ཆོམ་རྐུན་སྟག་སོགས་འཇིགས་མེད་པར།
།མི་ངལ་བདེ་བླག་འགྲོད་པར་ཤོག ༣༥

།དགོན་སོགས་ལམ་མེད་ཉམ་ང་བར།
།བྱིས་པ་རྒན་པོ་མགོན་མེད་པ།
།གཉིད་ལོག་མྱོས་ཤིང་རབ་མྱོས་རྣམས།
།ལྷ་དག་བསྲུང་བ་བྱེད་པར་ཤོག ༣༦

།མི་དལ་ཀུན་ལས་ཐར་པ་དང་།
།དད་དང་ཤེས་རབ་བརྩེར་ལྡན་ཞིང་།
།ཟས་དང་སྤྱོད་པ་ཕུན་ཚོགས་ནས།
།རྟག་ཏུ་ཚེ་རབས་དྲན་གྱུར་ཅིག ༣༧

།ཐམས་ཅད་ནམ་མཁའ་མཛོད་བཞིན་ཏུ།
།ལོངས་སྤྱོད་ཟད་པ་མེད་པར་ཤོག
།རྩོད་པ་མེད་ཅིང་འཚེ་མེད་པར།
།རང་དབང་དུ་ནི་སྤྱོད་པར་ཤོག ༣༨

།སེམས་ཅན་གཟི་བརྗིད་ཆུང་ངུ་དག
།དེ་དག་གཟི་བརྗིད་ཆེན་པོར་ཤོག
།དཀའ་ཐུབ་ཅན་དང་གཟུགས་ངན་པ།
།གཟུགས་བཟང་ཕུན་སུམ་ཚོགས་གྱུར་ཅིག །༢༩

།འཇིག་རྟེན་བུད་མེད་ཇི་སྙེད་པ།
།དེ་དག་སྐྱེས་པ་ཉིད་གྱུར་ཅིག
།མ་རབས་རྣམས་ནི་མཐོ་ཐོབ་ཅིང་།
།ང་རྒྱལ་དག་ཀྱང་བཅོམ་པར་ཤོག །༣༠

།བདག་གིས་བསོད་ནམས་འདི་ཡིས་ནི།
།སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་མ་ལུས་པ།
།སྡིག་པ་ཐམས་ཅད་སྤངས་ནས་ནི།
།རྟག་ཏུ་དགེ་བ་བྱེད་པར་ཤོག །༣༡

།བྱང་ཆུབ་སེམས་དང་མི་འབྲལ་ཞིང་།
།བྱང་ཆུབ་སྤྱོད་ལ་གཞོལ་བ་དང་།
།སངས་རྒྱས་རྣམས་ཀྱིས་ཡོངས་བཟུང་ཞིང་།
།བདུད་ཀྱི་ལས་རྣམས་སྤོང་བར་ཤོག །༣༢

།སེམས་ཅན་དེ་དག་ཐམས་ཅད་ནི།
།ཚེ་ཡང་དཔག་མེད་རིང་བར་ཤོག
།རྟག་ཏུ་བདེ་བར་འཚོ་འགྱུར་ཞིང་།
།འཆི་བའི་སྒྲ་ཡང་གྲགས་མ་གྱུར། །༣༣

།དཔག་བསམ་ཤིང་དང་སྐྱེད་མོས་ཚལ།
།སངས་རྒྱས་དང་ནི་སངས་རྒྱས་སྲས།
།ཆོས་སྙན་སྒྲོགས་པས་གང་བ་ཡིས།
།ཕྱོགས་རྣམས་ཐམས་ཅད་གང་བར་ཤོག །༣༨

།ཐམས་ཅད་དུ་ཡང་ས་གཞི་དག
།གསེག་མ་ལ་སོགས་མེད་པ་དང་།
།ལག་མཐིལ་ལྟར་མཉམ་བཻ་ཌཱུརྱའི།
།རང་བཞིན་འཇམ་པོར་གནས་གྱུར་ཅིག །༣༥

།འཁོར་གྱི་དཀྱིལ་འཁོར་ཡོད་དགུར་ཡང་།
།བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་མང་པོ་དག
།རང་གི་ལེགས་པས་ས་སྟེང་དག
།བརྒྱན་པར་མཛད་པས་བཞུགས་གྱུར་ཅིག །༣༦

།ལུས་ཅན་ཀུན་གྱི་བྱ་དང་ནི།
།ཤིང་དང་འོད་ཟེར་ཐམས་ཅད་དང་།
།ནམ་མཁའ་ལས་ཀྱང་ཆོས་ཀྱི་སྒྲ།
།རྒྱུན་མི་འཆད་པར་ཐོས་པར་ཤོག །༣༧

།དེ་དག་རྟག་ཏུ་སངས་རྒྱས་དང་།
།སངས་རྒྱས་སྲས་དང་མཇལ་གྱུར་ཅིག
།མཆོད་པའི་སྤྲིན་ཕུང་མཐའ་ཡས་པས།
།འགྲོ་བའི་བླ་མ་མཆོད་པར་ཤོག །༣༤

།ལྷ་ཡང་དུས་སུ་ཆར་འབེབས་ཤིང་།
།ལོ་ཏོག་ཕུན་སུམ་ཚོགས་གྱུར་ཅིག
།རྒྱལ་པོ་ཆོས་བཞིན་བྱེད་པ་དང་།
།འཇིག་རྟེན་དག་ཀྱང་དར་བར་ཤོག །༣༩

།སྨན་རྣམས་མཐུ་དང་ལྡན་པ་དང་།
།གསང་སྔགས་བཟླས་བརྗོད་འགྲུབ་པར་ཤོག
།མཁའ་འགྲོ་སྲིན་པོ་ལ་སོགས་པ།
།སྙིང་རྗེའི་སེམས་དང་ལྡན་གྱུར་ཅིག །༤༠

།སེམས་ཅན་འགའ་ཡང་སྡུག་མ་གྱུར།
།སྡིག་པར་མ་གྱུར་ན་མ་གྱུར།
།འཇིགས་དང་བརྙས་པར་མི་འགྱུར་ཞིང་།
།འགའ་ཡང་ཡིད་མི་བདེ་མ་གྱུར། །༤༡

།གཙུག་ལག་ཁང་རྣམས་ཀློག་པ་དང་།
།ཁ་ཏོན་རྒྱས་ཤིང་ལེགས་གནས་ཤོག
།རྟག་པར་དགེ་འདུན་མཐུན་པ་དང་།
།དགེ་འདུན་དོན་ཡང་འགྲུབ་པར་ཤོག །༤༢

།བསླབ་པ་འདོད་པའི་དགེ་སློང་དག
།དབེན་པ་དག་ཀྱང་ཐོབ་པར་ཤོག
།གཡེང་བ་ཐམས་ཅད་སྤངས་ནས་ནི།
།སེམས་ནི་ལས་རུང་བསྒོམ་གྱུར་ཅིག །༤༣

།དགེ་སློང་མ་རྣམས་རྙེད་ལྡན་ཞིང་།
།འཐབ་དང་གནོད་པ་སྤོང་བར་ཤོག
།དེ་བཞིན་རབ་ཏུ་བྱུང་བ་ཀུན།
།ཚུལ་ཁྲིམས་ཉམས་པ་མེད་གྱུར་ཅིག །༤༤

།ཚུལ་ཁྲིམས་འཆལ་པས་ཡིད་བྱུང་ནས།
།རྟག་ཏུ་སྡིག་པ་ཟད་བྱེད་ཤོག
།བདེ་འགྲོ་དག་ཀྱང་ཐོབ་གྱུར་ནས།
།དེར་ཡང་བརྟུལ་ཞུགས་མི་ཉམས་ཤོག །༤༥

།མཁས་པ་རྣམས་ནི་བཀུར་བ་དང་།
།བསོད་སྙོམས་དག་ཀྱང་རྙེད་པར་ཤོག
།རྒྱུད་ནི་ཡོངས་སུ་དག་པ་དང་།
།ཕྱོགས་རྣམས་ཀུན་ཏུ་གྲགས་པར་ཤོག །༤༦

།ངན་སོང་སྡུག་བསྔལ་མི་མྱོང་ཞིང་།
།དཀའ་བ་སྤྱད་པ་མེད་པར་ཡང་།
།ལྷ་བས་ལྷག་པའི་ལུས་ཐོབ་ནས།
།དེ་དག་སངས་རྒྱས་མྱུར་འགྲུབ་ཤོག །༤༧

།སེམས་ཅན་ཀུན་གྱིས་ལན་མང་དུ།
།སངས་རྒྱས་ཐམས་ཅད་མཆོད་བྱེད་ཅིང་།
།སངས་རྒྱས་བདེ་བ་བསམ་ཡས་ཀྱིས།
།རྟག་ཏུ་བདེ་དང་ལྡན་གྱུར་ཅིག །༤༨

།བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱིས་ནི།
།འགྲོ་དོན་ཐུགས་ལ་དགོངས་འགྲུབ་ཤོག
།མགོན་པོ་ཡིས་ནི་གང་དགོངས་པ།
།སེམས་ཅན་རྣམས་ལ་དེ་འབྱོར་ཤོག །༤༩

།དེ་བཞིན་རང་སངས་རྒྱས་རྣམ་དང་།
།ཉན་ཐོས་རྣམས་ཀྱང་བདེ་གྱུར་ཅིག །༥༠

།བདག་ཀྱང་འཇམ་དབྱངས་བཀའ་དྲིན་གྱིས།
།ས་རབ་དགའ་བ་ཐོབ་པར་དུ།
།རྟག་ཏུ་ཚེ་རབས་དྲན་པ་དང་།
།རབ་ཏུ་བྱུང་བ་ཐོབ་པར་ཤོག །༧

།བདག་ནི་ཁ་ཟས་ཕྲི་ནས་ཀྱང་།
།ཉམས་དང་ལྡན་ཞིང་འཚོ་བར་ཤོག
།ཚེ་རབས་ཀུན་ཏུ་དབེན་གནས་པ།
།ཕུན་སུམ་ལྡན་པ་འཐོབ་པར་ཤོག །༥༢

།གང་ཚེ་ལྟ་བར་འདོད་པའམ།
།ཅུང་ཟད་དྲི་བར་འདོད་ན་ཡང་།
།མགོན་པོ་འཇམ་དབྱངས་དེ་ཉིད་ནི།
།གེགས་མེད་པར་ནི་མཐོང་བར་ཤོག །༥༣

།ཕྱོགས་བཅུ་ནམ་མཁའི་མཐས་བཏུགས་པའི།
།སེམས་ཅན་ཀུན་དོན་སྒྲུབ་པའི་ཕྱིར།
།ཇི་ལྟར་འཇམ་དབྱངས་སྤྱོད་མཛད་པ།
།བདག་གི་སྤྱོད་པའང་དེ་འདྲར་ཤོག །༥༤

།ཇི་སྲིད་ནམ་མཁའ་གནས་པ་དང་།
།འགྲོ་བ་ཇི་སྲིད་གནས་གྱུར་པ།
།དེ་སྲིད་བདག་ནི་གནས་གྱུར་ནས།
།འགྲོ་བའི་སྡུག་བསྔལ་སེལ་བར་ཤོག །༥༥

།འགྲོ་བའི་སྡུག་བསྔལ་གང་ཅིའང་རུང་།
།དེ་ཀུན་བདག་ལ་སྨིན་གྱུར་ཅིག
།བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་དགེ་ཀུན་གྱིས།
།འགྲོ་བ་བདེ་ལ་སྤྱོད་པར་ཤོག །༥༦

།འགྲོ་བའི་སྡུག་བསྔལ་སྨན་གཅིག་པུ།
།བདེ་བ་ཐམས་ཅད་འབྱུང་བའི་གནས།
།བསྟན་པ་རྙེད་དང་བཀུར་སྟི་དང་།
།བཅས་ཏེ་ཡུན་རིང་གནས་གྱུར་ཅིག །༥༧

།གང་གི་དྲིན་གྱིས་དགེ་བློ་འབྱུང་།
།འཇམ་པའི་དབྱངས་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ།
།གང་གི་དྲིན་གྱིས་བདག་དར་བ།
།དགེ་བའི་བཤེས་ལའང་བདག་ཕྱག་འཚལ། །༥༨

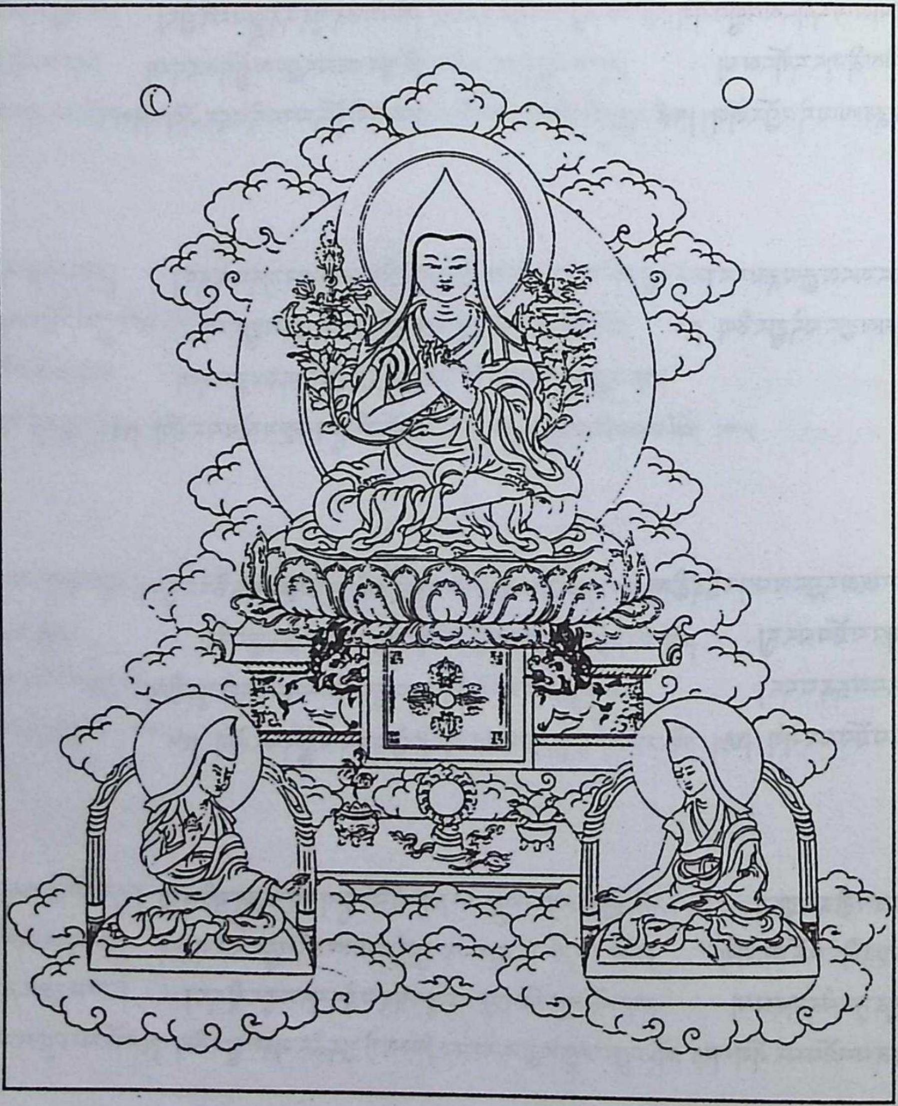

आचार्य चोङ्खापा (सुमतिकीर्ति)

[चौधौं शताव्दीमा पूर्वी तिब्बतको आम्दो प्रान्तमा जन्मिएका मेधावी एवं प्रचण्ड माध्यमिक विद्वान् भिक्षु चोङ्खापा । प्रासङ्गिक माध्यमिकको शाश्वतान्त र उच्छेदान्तलाई परिहार गर्ने शून्यताको नयाँ किसिमले व्याख्या गर्न सफल चोङ्खापा अहिलेको तिब्बती गेलुक् सम्प्रदायका प्रवर्तक मानिनुहुन्छ । उहाँले धेरै ग्रन्थहरू लेख्नुभएको छ जसमध्ये 'महामार्गक्रम' (लाम् रिम् छेन्मो) एउटा जडी ग्रन्थ मानिन्छ ।]

परिशिष्ट - २

बोधिचर्यावतारको अकारादिक्रममा श्लोकसूची

अंकुरादन्यतो ज्ञानात् ९.११६
अंकुरो जायते बीजाद् ९.११५
अंशा अप्यणुभेदेन ९.८७
अकारणेनैव रिपुक्षतानि ४.३९
अकुर्वतश्च कुशलं ४.१९
अकृष्टजातानि च शस्य २.५
अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य २.४४
अङ्गारतप्तोपलशस्त्रवृष्टि: १०.९
अचित्तके कृता पूजा ९.३९
अचेतनश्च नैवाहम् ९.३९
अजरामरलीलानाम् ९.१६६
अजानानां यदि ज्ञानम् ९.३२
अत: परं प्रतिष्ठन्ताम् २.२०
अत: परार्थं कृत्वापि ८.१०९
अत: सुपुष्पचन्द्रेण ८.१०६
अत एवं विचारोऽयं ९.९३
अत एवाह भगवान् ४.२०
अतीतानागतं चितं ९.७४
अतीत्य युष्मद्वचनम् २.५४
अत्यनिष्टागमेनापि ६.९
अत्यप्रमत्तस्तिष्ठामि २.५८
अत्ययमत्ययत्वेन २.६६
अत्र गृही भविष्यामि ४.४३
अत्र मे चेतना नास्ति ४.२७
अथ ज्ञेयवशाज्ज्ञान ९.११३
अथ ज्ञेयाद् भवेत् पश्चात् ९.१०६
अथ त्वदिच्छया सिद्धं ६.८८
अथ दोषोऽयमागन्तु: ६.४०
अथ प्रत्यपकारी स्यां ६.५१
अथ यस्य मन: प्रसादमेति १.३५
अथापि हस्तपादादि ७.२०
अथाविकृत एवात्मा ९.७०
अथाहमचिकित्सोऽस्य ८.१४५
अथाहमात्मदोषेण ६.१०३
अथैवमुच्यमानेऽपि ८.१६८
अदरिद्रं जगत् कृत्वा ५.९
अदान्ता मत्तमातङ्गा: ५.२
अद्य मे सफलं जन्म ३.२५
अद्यापि चेत्तथैव स्यां ४.१४
अद्याप्यस्ति मम स्वार्थ ८.१७०
अद्यैव मरणं नैति २.४९
अद्यैव शरणं यामि २.४८
अध्यतिष्ठदतो नाथ: ८.११८
अध्वानं प्रतिपन्नस्य ८.३४
अनाथानामहं नाथ: ३.१७
अनादिमति संसारे २.२८
अनित्यजीवितासढत् २.४३
अनिष्टकरणाज्जातम् ६.७
अनिष्यमाणमप्येतत् ६.२३
अनीलत्वे न तन्नीलं ९.२०
अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति ६.२८
अनुनीतं प्रतिहतं ५.४८
अनेकदोपदुष्टेन २.२१
अनेके श्रुतवन्तोऽपि ५.२६
अनेन मम पुण्येन १०.३१
अनेन हि विहारेण ५.२१
अन्ध: सङ्कारकूटेभ्य: ३.२७
अन्धा: पश्यन्तु रूपाणि १०.१९
अन्नादोऽमेध्यभक्ष: स्यात् ९.१३६
अन्यतो नापि चायातम् ९.१४३

अन्यत्र मयि वा प्रीत्या ६.९४
अन्यदीयश्चरो भूत्वा ८.१५९
अन्यद्रूपमसत्यं चेत् ९.६७
अन्यसम्बद्धमस्मीति ८.१३७
अन्याधिकयशोवादैः ८.१६३
अन्येनापि कृतं दोषं ८.१६२
अन्योन्यभक्षणभयम् १०.१७
अपकाराशयोऽस्येति ६.११०
अपश्यन्नरतिं याति ८.६
अपायदुःखविश्रामम् ३.१
अपि त्वनेकेऽनित्याश्च ९.१२०
अपि सर्वत्र मे लोके ८.१४८
अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः २.७
अपेक्षते चेत् सामग्रीं ९.१२५
अप्रमेया गताः कल्पाः ८.१५५
अप्रमेया गताः बुद्धाः ४.१३
अप्रमेया मया दोषाः ७.३३
अप्रमेयायुषश्चैव १०.३३
अप्रहीणा हि तत्कर्तुः ९.३२
अप्रिया न भविष्यन्ति २.३६
अभयं केन मे दत्तम् २.६०
अभविष्यदिदं कर्म ८.१५७
अभुक्त्वापायिकं दुःखं १०.४७
अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ३.१६
अभ्यामादन्यदीयेषु ८.१११
अममेषु प्रदेशेषु ८.२८
अमेध्यभवमल्पत्वात् ८.६०
अयं सुस्थः परो दुःस्थो ८.१६०
अयमेव हि कायो मे ८.३१
अयुक्तमपि चेदेतत् ८.१००
अर्जनरक्षणनाशविषादैः ८.७९
अल्पौजसश्च ये सत्त्वा १०.२९
अवर्णवादिनि द्वेषः ६.६२
अवश्यं गन्तुरल्पस्य ८.८२
अविषादबलव्यूह ७.१६
अव्यापारसुखास्वाद ७.३
अशक्यमिच्छतः क्लेशः ८.१७६
अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा १.१०
अश्रमोपार्जितस्तस्माद् ६.१०७
असंस्तवाविरोधाभ्याम् ८.३६
असत्यपि यथा माया ९.२८
असम्प्रजन्यचौरेण ५.२७
असहिष्णवलसं भीतं ५.५३
असंप्रजन्यचित्तस्य ५.२५
असिपत्रवनं तेषां १०.६
असिपत्रवनं यद्वद् ६.४६
अस्ति सूक्ष्मतया दुःखं ९.९१
अस्थीन्यपि पृथक्कृत्वा ५.६३
अस्यापि हि वराकस्य ८.१५१
अस्यैकस्यापि कायस्य ८.३२
अस्यैवं पतितस्यापि ८.१७५
अस्वामिकानि दुःखानि ८.१०२
अहं करोमि कर्माणि ८.१४२
अहमेव तदापीति ८.९८
अहमेवापकार्येषां ६.४९
अहो बतातिशोच्यत्वम् ९.१६४
अंशानप्यणुभेदेन ९.८७
आकाशस्य स्थितिर्यावत् १०.५५
आगमाच्च फलं तत्र ९.४०
आचारो बोधिसत्त्वानां ५.९७
आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ४.४२
आत्मभावं यथा दीपः ९.१८
आत्मभावाँस्तथा भोगान् ३.१०
आत्मसत्त्ववशं नित्यम् ५.५७
आत्मानं चापराँश्चैव ८.१२०
आत्मानमपरित्यज्य ८.१३५
आत्मार्थं पीडयित्वाऽन्यं ८.१२६
आत्मार्थं परमाज्ञप्य ८.१२८

आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत् तैः ६.१२६
आत्मोत्कर्षः परावर्णः ८.१३
आदाय बुद्ध्या मुनिपुंगवेभ्यो २.६
आदीप्तकायस्य यथा समन्तात् ६.१२३
आदौ शाकादिदानेऽपि ७.२५
आयातायात शीघ्रम् १०.१३
आराधनायाद्य तथागतानां ६.१२५
आरोग्यं रोगिणामस्तु १०.२२
आरोग्यदिवसं चेद् ४.१६
आर्यमाकाशगर्भं च २.५२
आशयस्य च माहात्म्यं ६.११४
आसंसारं सुखज्यानिः १०.३
आस्तां तावत् परो लोको ८.१३२
आस्तां भविष्यद्बुद्धत्वं ६.१३३
इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् ५.३२
इति मत्कुशलैः समन्तभद्र १०.१५
इति सत्त्रपतौ जिनस्य पुत्रे १.३४
इति सन्ततदीर्घवैरिषु ४.३४
इत्वरव्याधिभीतोऽपि २.५५
इदं च ते हृष्टिसुखं ६.७७
इदं तु मे परिमितं ७.२२
इदं न प्राप्तमारब्धम् ७.८
इदं सुबाहुपृच्छायां १.२०
इमं चर्मपुटं तावत् ५.६२
इमं परिकरं सर्वं ९.१
इमं ये कायमिच्छन्ति ८.१८३
इयमेव तु मे चिन्ता २.६३
इह शय्यागतेनापि २.४१
इहैव तिष्ठतस्तावद् २.३८
ईश्वरो जगतो हेतुः ९.११९
ईर्ष्योत्कृष्टात् समान् द्वन्द्वे ८.१२
उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा ५.८३
उद्दंशदंशमशक ६.१५
उद्धतं सोपहासं वा ५.४९
उद्बन्धनप्रपातैश्च ६.३६
उन्नाम्यमानं यत्नाद्यत् ८.४४
उपद्रवा ये च भवन्ति लोके ८.१३४
उपाध्यायानुशासन्या ५.३०
उरसाऽरातिघातान् ये ६.२०
ऋजु पश्येत् सदा सत्त्वान् ५.८०
एक उत्पद्यते जन्तुः ८.३३
एकक्षणकृतात् पापाद् ४.२१
एकस्मादशनादेषां ८.५०
एकस्य त्रिस्वभावत्वम् ९.१२९
एकस्यापि हि सत्त्वस्य ४.१०
एकेनागम्यमानेन ९.५१
एकेनापि यतः सर्वे २.५६
एकैकस्मिश्छले सुष्ठु ७.७२
एतत्तु मे परिमितं ७.२२
एतदेव समासेन ५.१०८
एतद्धि बडिशं घोरं ६.८९
एतानाश्रित्य मे पापं ६.४८
एतावाँश्च भवेत् स्वार्थी ६.९१
एवमङ्गुलिपुञ्जत्वात् ९.८६
एवमन्विष्य यत्नेन ५.६४
एवमाकाशनिष्ठस्य ३.२१
एवमागन्तुकोऽस्मीति २.३९
एवमात्मगुणान् श्रुत्वा ८.१५२
एवमादिभिराकारैः ८.८९
एवमादीनि दुःखानि ६.६
एवमादीनवो भूयान ८.९०
एवमापत्तिवलतो ४.११
एवमुद्विज्य कामेभ्यो ८.८५
एवं कुरुष्व तिष्ठैवं ८.१६८
एवं क्षमी भजेद् वीर्यं ७.१
एवं गृहीत्वा मतिमान् ३.२४
एवं गृहीत्वा सुदृढं ४.१
एवं च न निरोधोऽस्ति ९.१५०

एवं चानेकधा दत्त्वा ८.१७२
एवं चामेध्यमप्येतद् ८.७१
एवं चित्तं यदासङ्गाद् ६.७१
एवं तस्यापि तत्सङ्गाद् ८.१४
एवं ते रक्षतश्चापि ५.६७
एवं दु:खाग्नितप्तानाम् ९.१६७
एवं न च निरोधोऽस्ति ९.१५०
एवं परवशं सर्वं ६.३१
एवं परार्थं कृत्वापि ८.११६
एवं वुद्ध्वा तु पुण्येपु ६.६९
एवं वुद्ध्वा परार्थेषु ५.८४
एवं भावितसन्ताना: ८.१०७
एवं वशीकृतस्वात्मा ५.७१
एवं विनिश्चित्य करोमि यत्नं ४.४८
एवं विपक्षमुन्मूल्य ७.३२
एवं शून्येप भावेषु ९.१५२
एवं संक्लिष्टमालोक्य ५.५४
एवं सर्वमिदं कृत्वा ३.६
एवं सुखात् सुखं गच्छन् ७.३०
एवं हि सुकृतं सर्वम् ५.४४
एवं स्वप्नोपमे रूपे ९.८८
एवमङ्गुलिपुञ्जत्वात् ९.८६
एवमन्विष्य यत्नेन ५.६४
एवमाकाशनिष्ठस्य ३.२१
एवमागन्तुकोऽस्मीति २.३९
एवमात्मगुणान् श्रुत्वा ८.१५२
एवमादिभिराकारै: ८.८९
एवमादीनवो भूयान् ८.८०
एवमादीनि दु:खानि ६.६
एवमापत्तिवलतो ४.११
एवमुद्विज्य कामेभ्यो ८.८५
एप सत्क्रियते नाहं ८.१४१
क: पण्डितस्तमात्मानम् ८.१२४
कङ्कालान् कतिचिटद् दृष्ट्वा ८.७०
कतिपयजनसत्त्रदायक: १.३२
कथं च नि:सराम्यस्मात् २.३२
कथञ्चिदपि सम्प्राप्तो ४.२६
कथञ्चिल्लभ्यते सौख्यं ६.१२
कदलीव फलं विहाय याति १.१२
कदा तथागतोत्पादम् ४.१५
कदोपलम्भदृष्टिभ्यो ९.१६८
करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत् ९.१२६
कर्पूरादिष हृद्येषु ८.६
कर्मण: सुखदु:खे च ९.१२३२
कल्पना कल्पितं चेति ९.१०९
कल्पाननल्पान् प्रविचिन्तयभ्दि: १.७
कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा ९.१४०
कस्मात् सदा न कुरुते ९.१२४
कस्मादेवं कृतं पूर्वं ६.६८
कस्य मातु: पितुर्वापि १.२३
कस्यानित्येष्वनित्यस्य ८.५
कातरैर्दृष्टिपातैश्च २.४६
कादम्बकारण्डवचक्रवाक १०.७
कान्तारोन्मार्गपतिता: १०.२५
कामा ह्यनर्थजनका: ८.४०
कामैर्न तृप्ति: संसारे ७.६४
कायचित्तविवेकेन ८.२
कायभूमिं निजां गत्वा ८.३०
कायस्यात्र किमायातं ८.६७
कायस्यावयवत्वेन ८.११४
कायेनैव पठिष्यामि ५.१०९
कायेनैवमवस्थेयम् ५.३९
काये नौबुद्धिमाधाय ५.७०
काये न्यस्तोऽप्यसौ गन्ध: ८.६५
कायो न पादौ न जंघा ९.७९
कारयन्तु च कर्माणि ३.१४
कार्यं कस्य न चेत्सत्त्व: ९.७७
किंकृतो हेतुभेदश्चेत ९.११८

किं च निश्छद्मवन्धूनाम् ६.११९
किं निर्गुणेन कर्तव्यं ८.१४३
किं पुनर्भैरवाकारैः २.४५
किं ममानेन यन्त्रेण ८.१७९
किं वारयतु पुण्यानि ६.८५
किं वीर्यम्, कुशलोत्साहः ७.२
किमुत सततसर्वदुःखहेतून् ४.३८
किमुतानुत्तरं सौख्यम् ४.६
किमुताप्रतिमं शूल १.२२
किमुताहं नरो जात्या ७.१९
किमु निरवधिसत्त्वसंख्यया १.३३
कियतो मारयिष्यामि ५.१२
कुतः सुखं का दुःखं वा ९.१५३
कुत्र मे वर्तत इति ५.४१
कुपितः किं नृपः कुर्याद् ६.१३१
कुप्यामिति न सञ्चित्य ६.२४
कुशलानां च सर्वेषां ७.४०
कृताकृतपरीक्षोऽयं २.३४
कृते यः प्रतिकुर्वीत १.३१
कृत्वाऽपि पापानि सुदारुणानि १.१३
कृपया वहुदुःखं चेत् ८.१०४
केचित् स्वशोणितं दृष्ट्वा ८.७३
केचिद्दिनान्तव्यापारैः ८.७३
कोपार्थमेवमेवाहं ६.७४
क्रियामिमामप्युचितां ७.२४
क्रीडन्तु मम कायेन ३.१३
क्लेशज्ञेयावृतितमः ९.५५
क्लेशतस्करसंघोऽयम् ५.२८
क्लेशप्रहाणान्मुक्तिश्चेत् ९.४६
क्लेशप्रहारान् संरक्षेत् ७.६७
क्लेशवागुरिकाघ्रातः ७.४
क्लेशास्वतन्त्रो लोकोऽयं ७.५०
क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेपु ६.३८
क्व यास्यसि मया दृष्टः ८.१६९
क्वासौ यायान्मन्मनःस्थो निरस्तः ४.४६
क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा १.४
क्षणाद् भवन्ति सुहृदो ८.१०
क्षपयन् पूर्वपापानि ७.२९
क्षमासिद्ध्याशयो नास्य ६.१०९
क्षुत्पिपासाव्यथां हन्याम् ३.८
गण्डोऽयं प्रतिमाकारो ६.४४
गन्तुकामस्य गन्तुश्च १.१६
गम्भीरोदारमल्पेषु ५.८९
गलन्त्वन्त्राणि मे कामं ४.४४
गुणलेशेऽपि नाभ्यासो ७.३६
गुणसारैकराशीनां ६.११७
गुणाभावे च शब्दादेः ९.१३०
गुणा मयाऽर्जनीयाश्च ७.३५
गुणोऽपरश्च दुःखस्य ६.२१
गुरुसालोहितादीनां ६.६५
गृध्रैरामिपसंगृद्धैः ५.५९
ग्राह्यमुक्तं यदा चित्तं ९.३०
ग्लानानामस्मि भैपज्यम् ३.७
चतुर्भिः पुरुपैर्यावत् ८.३५
चर्मण्युत्पाटिते यस्माद् ८.६४
चित्तं रक्षितुकामानां ५.२३
चित्तमेव यदा माया ९.१७
चित्तादन्या न माया चेत् ९.२७
चित्तोत्पादसमुद्रांश्च ३.३
चिन्तामणिः कल्पतरुः ९.३६
चिन्तामणिर्भद्रघटः ३.१९
चिरं धक्ष्यति मे कायं ४.२५
चिरात् प्राप्तं क्षणवरं ५.५८
चेतनाचेतनकृता ६.६८
चेतनाचेतने चैक्यम् ९.६८
छन्दस्थामरतिर्मुक्ति ७.३१
छाद्येरन्नपि मे दोपाः ८.१४९
छिद्यन्ते कामिनः केचिद् ८.७८

छेत्तव्यश्चास्मि भेत्तव्यो ७.२१
जगदज्ञानतिमिर ३.३१
जगदद्य निमन्त्रितं मया ३.३३
जगदानन्दवीजस्य १.२६
जगदुदु:खैकभैषज्यं १०.५७
जगद्व्याधिप्रशमनम् ३.२९
जगन्मृत्युविनाशाय ३.२८
जन्मान्तरेऽपि सोऽभ्यास: ७.४८
जपास्तपांसि सर्वाणि ५.१६
जातं चेदप्रियं शत्रो: ६.७८
जातिस्मरत्वं प्रवज्याम् १०.५१
जीवमत्स्य इवास्मीति ७.११
जीवलोकमिमं त्यक्त्वा २.६२
ज्ञाते मायोपमत्वेऽपि ९.३१
ज्ञात्वा सदोपमात्मानं ८.११३
ज्ञेयात् पूर्वं यदि ज्ञानम् ९.१०५
तच्चिंत्तरत्नग्रहणाय सम्यक् २.१
तच्चितस्य दृढत्वेन ६.१८
तच्चिन्तया मुधा याति ८.८
तच्छस्त्रं मम कायश्च ६.४३
तत्सुखेन सुखित्वं चेत् ६.९६
तत: कोटिशतेनापि ८.८३
तत: प्रभृति सुप्तस्य १.१९
तत् तत् स्मरणतां याति २.३७
तत्र खड्गं यथा भ्रष्टं ७.६८
तत्र चानुपमास्तीन्ना: ९.१५९
तत्र दोपक्षयारम्भे ७.३४
तत्र लोको द्विधा दृष्टो ९.३
तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य २.५७
तत्रापि मारो यतते ९.१६२
तत् सर्वं देशयाम्येप २.६५
तत्सुखेन सुखित्वं चेत् ६.९६
तथा कायोऽन्यदीयोऽपि ८.११२
तथागताराधनमेतदेव ६.१२७
तथाधुना मया कार्यं ३.२६
तथा यद्यप्यसंवेद्यम् ८.९३
तदेवं शून्यतापक्षे ९.५४
तदेवं स्पर्शनाभावे ९.९८
तदेव रूपं जानाति ९.६३
तदेवान्येव रूपेण ९.६६
तद्दु:खेन न मे वाधा ८.९७
तद्दुष्टाशयमेवात: ६.१११
तद्धेतुरूपा भावाश्चेत् ९.१३१
तद्वोधिचित्तं द्विविधं १.११५
तद्वदुत्पादयाम्येष ३.२३
तन्नास्ति कायो मोहात्तु ९.८४
तन्मुखं त्वत्परिक्लेशम् ८.४५
तस्माच्छुभं दुर्बलमेव नित्यं १.६
तस्मात् कर्मावसानेऽपि ७.६५
तस्मात् कार्य: शुभच्छन्दो ७.४६
तस्मात् प्राज्ञो न तामिच्छेत् ८.१९
तस्मात् स्तुत्यादिघाताय ६.९९
तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारात् ५.२९
तस्मात् स्वदु:खशान्त्यर्थं ८.१३६
तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं ५.१८
तस्मात् स्वप्ने सुते नप्टे ९.१४१
तस्मादमित्रं मित्रं वा ६.३३
तस्मादहं स्तुतोऽस्मीति ६.९७
तस्मादावरणं हन्तुं ८.१८६
तस्मादुत्सङ्गे सर्पे ७.७१
तस्मादेकाकिता रम्या ८.३८
तस्मादेवं विचारेण ९.१४२
तस्माद् दृढेन चित्तेन ७.५४
तस्माद् यथान्तशोऽवर्णात् ८.११०
तस्माद् यथान्यदीयेषु ८.१५८
तस्माद् यथाप्रतिज्ञातं ४.१२
तस्माद् यथार्तिशोकादे: ८.११७
तस्माद् विघातयिप्यामि ६.८

तस्मान्न तावदहमत्र ४.३६
तस्मान्न प्रसरो देयः ८.१७७
तस्मान्मयानपेक्षोण ८.१८४
तस्मान्मया यज्जनदुःखदेन ६.१२४
तस्यास्वादलवस्यार्थे ८.८१
तस्यैव सुखमित्येवं ६.७८
तान्येवास्थीनि नान्यानि ८.४३
तुप्टः किं नृपतिर्दद्याद् ६.१३२
तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शैः ८.५०
तृष्णा तावदुपादानं ९.४७
तेन कि स्रप्टुमिप्टं च ९.१२२
तेन सत्त्वपरो भूत्वा ८.१३९
तेनालं लोकचरितैः ८.१८५
तेऽप्यासन् दंशमशकाः ७.१८
ते मानिनो विजयिनश्च ७.५९
तेषां शरीराणि नमस्करोमि १.३६
तेषामेव च सत्त्वानां १.२४
तैलपात्रधरो यद्वद् ७.७०
तैश्चाप्यधिगतं धर्मम् २.४९
तं चावलोकितं नाथं २.५१
त्यक्त्वान्योन्यसुखोत्पादं ८.१३३
त्यजेन्न जीवितं तस्माद ५.८७
त्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मादिह १०.११
त्राणशून्याः दिशो दृष्ट्वा २.४७
त्रिपु मानो विधातव्यः ७.४९
त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि ८.१७१
त्रैलोक्यपूज्यं वुद्धत्वं ६.८१
दक्ष उत्थानसम्पन्नः ५.८२
दण्डयात्राभिरपरे ८.७४
दत्वास्मै वेतनं तस्मात् ५.६९
ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः २.८
दन्तकाष्ठस्य खेटस्य ५.९१
दन्तकेशनखा नाहं ९.५८
दरिद्राणां च सत्त्वानाम् ३.९
दशदिग्व्योमपर्यन्त ४.४१; १०.५४
दह्यमाने गृहे यद्वद् ६.७०
दिव्यैर्मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभैः २.१३
दीपः प्रकाशत इति ९.२२
दीपार्थिनामहं दीपः ३.१८
दुःखं कस्मान्निवार्यं चेत् ८.१०३
दुःखं नेच्छामि दुःखस्य ६.४५
दुःखं न्यक्कारपारुष्यं ६.११
दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ६.१०१
दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ५.१७
दुःखमेवाभिधावन्ति १.२८
दुःखहेतुरहङ्कारः ९.७८
दुःखानि दौर्मनस्यानि ७.४१
दुःखेऽपि नैव चित्तस्य ६.१९
दुःशीलाः सन्तु संविग्नाः १०.४५
दुर्गतिर्नीचता मौर्ख्य ८.१२७
दुर्गतिव्यालवक्त्रस्थे ८.१४६
दुर्गत्युत्तरणे सेतुः ३.३०
दुर्गापुत्रककर्णाटा ६.१३
दुष्करान्न निवर्तेत ८.११९
दृश्यते स्पृश्यते वापि ९.१००
दृष्टिविश्रामहेतोस्तु ५.३६
देवादिलोकेपु च गन्धधूपाः २.४
देवो वर्पतु कालेन १०.३९
द्वयोरप्यावयोः सिद्धेः ९.७२
धन्यैः शशाङ्ककरचन्दनशीतलेपु ८.८६
धर्म निगौरवे स्वस्थे ५.८८
धर्मच्छन्दवियोगेन ७.३९
धर्मार्थमात्रमादाय ८.१६
न कर्तव्यात्मनि प्रीतिः ड.१७३
न कर्मफलसम्बन्धः ९.७१
न किञ्चिदस्ति तद्वस्तु ६.१४
न केवलं त्वमात्मानं ६.८३
न केवलममेध्यत्वम् ८.६१

न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे ४.४७
न खादितव्यमशुचि ५.६५
न च तन्मात्रमेवासौ ४.२२
न च द्वेपसमं पापं ६.२
न च प्रत्ययसामग्र्या ६.२६
न चात्र मे व्ययः कश्चित् ५.७८
न चानपगतेऽभावे ९.१४९
न चान्तिकचराः केचित् ८.३७
न चास्ति वेदकः कश्चित् ९.१०२
न चेदं तादृशं दुःखं ६.७५
न च्छिनत्ति यथात्मानं ९.१८
न त्वविच्छिन्नपुण्यत्व १.१७
न दुःखी त्यक्तपापत्वात् ७.२७
न दोपो योगिसंवृत्या ९.८
न नु निवर्तते सौख्यं ६.५८
न नाम साध्यं वुद्धत्वं ८.१३१
नन्वसिद्धं महायानम् ९.४२
न पश्यति यथाभूतं ८.७
न प्राप्तं भगवत्पूजाम् ७.३७
न वालः कस्यचिन्मित्रम् ८.२४
न वाहूत्क्षेपकं कञ्चित् ५.९५
न युक्तं स्वार्थदृष्ट्यादि ८.१३८
न शस्त्रं न विपं नाग्निः ८.८४
न स्थास्यतीति भृत्याय ५.६८
न स्थौल्यं चेत् सुखादन्यत् १३५
न स्वीकरोपि हे मूढ ५.६१
न हस्तौ नाप्ययं पार्श्वौ ९.८०
न हि कालोपपन्नेन ६.१०५
न हि किंचिदपूर्वमत्र वाच्यं १.२
न हि तद्विद्यते किञ्चिद् ५.१००
न हि सर्वान्यशत्रूणां ४.३२
न हि स्फटिकवन्नीलं ९.१९
न हीदृशैर्मच्चरितैः ४.१७
नाकाशमीशोऽचेष्टत्वात् ९.१२१
नागन्तुकगुणांशेन ८.१६४
नाङ्गुल्या कारयेतिकिञ्चिद ५.९४
नाणोरणौ प्रवेशोऽस्ति ९.९५
नातः परा वञ्चनास्ति ४.२३
नाथनिर्वाणशय्यावत् ५.९६
नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वाः ८.२२
नानाविधप्रलापेषु ५.४५
नाभावकाले भावश्चेत् ९.१४८
नाभावस्य विकारोऽस्ति ९.१४७
नामेध्यमयमन्यस्य ८.५६
नावध्यायन्ति तरवो ८.२६
नाशयत्यपि सम्मोहं १.३०
नासदुत्पद्यते किञ्चिद् ९.१३५
नाहं मांसं न च स्नायु ९.६०
नाहं वसा न च स्वेदो ९.५९
नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा ६.२९
निन्दन्त्यलाभिनं सत्त्वम् ८.२३
निरंशस्य च संसर्गः ९.९६
निरुद्यम फलाकांक्षिन् ७.१७
निरूप्य सर्वयत्रेन ५.४०
निर्वातुकामांश्च जिनान् ३.५
निर्वासितस्यापि तु नाम शत्रोः ४.४५
निर्वृत्तः परमार्थेन ९.१३
निश्चलादपि ते त्रासः ८.४८
निष्फला नेत्रविक्षेपा ५.३५
नीचं कर्म करोत्यन्यः ७.५१
नीलमेव हि को नीलं ९.२१
नेन्द्रियेपु न रूपादौ ९.१०३
नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद् ५.९३
नैकस्य सर्वसामर्थ्ये ९.१३
नैव प्रकाशते दीपो ९.१९
नैवान्तर्न वहिः कायः ९.८३
नैवावसादः कर्तव्यः ७.१७
नैवोत्साहोऽस्य दातव्यः ८.१६६

नोदारधर्मपात्रं च ५.९०
नौयानयात्रारूढाश्च १०.२४
न्यक्कार: परुषं वाक्यम् ६.५३
पक्षिभ्य: सर्ववृक्षेभ्यो १०.३७
पटादेस्तु सुखादि स्यात् ९.१३२
पटार्घेणैव कार्पास ९.१३७
पण्डिता: संस्कृता: सन्तु १०.४६
पतति कमलवृष्टिर्गन्ध १०.१२
पतितसकलमांसा:कुन्द १०.१०
परचक्षुर्निपातेभ्यो ८.४६
परचित्तविकल्पोऽसौ ९.१०८
परचोदनदक्षाणाम् ५.७४
परस्परविरुद्धाभि: ५.५६
परात्मसमतामादौ ८.९०
परायत्ताप्रसादत्वाद् ६.६३
परार्थरूक्षं स्वार्थार्थि ५.५२
परिग्रहेणास्मि भवत्कृतेन २.९
परोक्षं च गुणान् ब्रूयाद् ५.७६
पश्यन्त्वेनं भवन्त: १०.१४
पश्यामो मुदितास्तावत् ८.१५०
पाठस्वाध्यायकलिला: १०.४२
पापकारिसुखेच्छा तु ७.४३
पापक्षयं च पुण्यं च ६.६०
पापचित्तसमुद्भूतं ५.८
पारम्पर्येण साक्षद्वा ५.१०१
पिता चेन्न विना पुत्रात् ९.११४
पित्तादिषु न मे कोपो ६.२२
पुण्यविघ्न: कृतोऽनेन ६.१०२
पुण्येन काय: सुखित: ७.२८
पुनश्च क्षणदौर्लभ्यं ९.१६३
पुष्णाति यस्त्वया पोष्यं ६.८२
पूजयत्यर्थमानैर्यान् ६.४
पूज्यन्तां सर्वसम्बुद्धा: १०.४८
पूर्वं तावदिदं चित्तं ५.३४
पूर्वं निरूप्य सामग्रीम् ७.४७
पूर्वं पश्चाच्च जातेन ९.१०१
पूर्वानुभूतनष्टेभ्य: २.६१
पृथिव्यादीनि भूतानि ३.२०
प्रकाशा वाप्रकाशा वा ९.२३
प्रकृतिमरणदु:खितान्धकारान् ४.३७
प्रक्षिप्तश्च भयेऽप्यात्मा ८.४२
प्रतिमास्तूपसद्धर्म ६.६४
प्रत्यक्षमपि रूपादि ९.६
प्रत्ययानामनुच्छेदात् ९.१५
प्रत्ययान्तरयुक्तस्य ९.२५
प्रत्येकबुद्धा: सुखिनो १०.५०
प्रधूपितैर्धौतमलैरतुलयै: २.१२
प्रमाणमप्रमाणं चेत् ९.१३९
प्रमादादात्मनात्मानं ६.३५
प्रलम्बमुक्तामणिहारशोभान् २.१८
प्रासादिकत्वमारोग्यं ६.१३४
प्रियाप्रियनिमित्तेन २.३५
फलेन सह सर्वस्व ५.१०
वको विडालश्चौरश्च ५.७३
वद्धश्चेच्चित्तमातङ्ग: ५.३
वलनाशानुबन्धे तु ७.६६
वलीयसाभिभूतत्वात् ९.९०
वहवो लाभिनोऽभूवन् ८.२०
वहुना वा किमुक्तेन ८.१३०
वहूनामेकदु:खेन ८.१०४
बाध्यन्ते धीविशेषेण ९.४
वालाद् दूरं पलायेत ८.१५
वालै: सभागचरितो ८.९
वाह्या भावा मया तावत् ५.१४
वुद्धं गच्छामि शरणं २.२६
वुद्धधर्मागमांशेन ६.११६
वुद्धधर्मोदयांशस्तु ६.११८
वुद्धवुद्धसुतैर्नित्यम् १०.३८

वुद्धाश्च वोधिसत्त्वाश्च ५.३१
वुद्धोऽपि संसरेदेवं ९.१४
वोधिचर्यानुरूप्येण ९.३८
वोधिचर्यावतारं मे १०.१
वोधिचित्तं समुत्पाद्य ६.८०
वोधिचित्ताविरहिता: १०.३२
वोधिप्रणिधिचित्तस्य १.१७
वोधिसत्त्वमहापर्षन् १०.३६
वोधिसत्त्वस्य तेनैवं ४.८
भयेनोद्वीक्ष्यमाणस्य ७.६
भयोत्सवादिसम्वन्धे ५.४२
भवचारकपालका इमे ४.३५
भवचारकवन्धनो वराक: १.९
भवदु:खशतानि तर्तुकामै: १.८
भवन्त्वक्षयकोशाश्च १०.२८
भवेन्ममाशयगुणो ६.५०
भवे वहुप्रपातश्चं ९.१५८
भस्मनिष्ठावसानेयं ८.१७८
भिन्दन्ति देहं प्रविशन्त्यवीचिं ६.१२०
भीताश्च निर्भया: सन्तु १०.२१
भीतेभ्यो नाभयं दत्तम् ७.३८
भूमिं छादयितुं सर्वां ५.१३
मच्चितावस्थिता एव ४.२९
मञ्जुघोपं नमस्यामि १०.४८
मञ्जुघोपप्रभृतय: २.२२
मत्कर्मचोदिता एव ६.४७
मत्स्यादय: क्व नीयन्तां ५.११
मद्विज्ञप्त्या तथात्रापि ८.१५६
मन: शमं न गृह्णाति ६.३
मनसा चिन्तयित्वापि ४.५
मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णै: २.११
मनोरथ: शुभकृतां ७.४२
मनो हन्तुममूर्तत्वात् ६.५२
मन्त्रादीनामसामर्थ्यात् ९.१२
मम तावदनेन याति वृद्धिं १.३
मया चानेन चोपात्तं ६.१०८
मयान्यदु:खं हन्तव्यं ८.९४
मयापि पूर्वं सत्त्वानाम् ६.४२
मया बालेन मूढेन २.६४
मया वा पालितस्यैवं ८.१८१
मया हि सर्वं जेतव्यम् ७.५५
मय्यप्रसादो योऽन्येषां ६.५४
महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु ७.६१
महाकाश्यपमुख्यैश्च ९.५२
महीधरा रत्नमयास्तथान्ये २.३
मांसप्रियोऽहमस्येति ८.५४
मांसोच्छ्रयमिमं दृष्ट्वा ८.४७
मा कश्चिद् दुखित: सत्त्वो १०.४१
मानुष्यं नावमासाद्य ७.१४
मानेन दुर्गतिं नीता ७.५७
मान्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यै: २.१५
मामेवान्ये जुगुप्सन्ति ८.२१
मायया निर्मितं यच्च ९.१४४
मायापुरुषघातादौ ९.११
मायोपमत्वेऽपि कथं ९.३१
मायोपमाज्जिनात् पुण्यं ९.९
मारणीय: करं छित्वा ६.७२
मार्गादौ भयबोधार्थं ५.३७
मुक्त्यर्थिनश्चायुक्तं मे ६.१००
मुक्त्वा धर्मरतिं श्रेष्ठाम् ७.१५
मुखपूरं न भुञ्जीत ५.९२
मुख्यं दण्डादिकं हित्वा ६.४१
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ८.१०८
मृतं डुण्डुभमासाद्य ७.५२
मृता: पतन्त्यपायेषु ९.१५७
मृत्पात्रमात्रविभव: ८.२९
मृदाद्यमेध्यलिप्तत्वात् ८.५८
मृन्मर्दनतृणच्छेद ५.४६

मेरोरपि यदासङ्गाद् ४.३१
मैत्र्याशयश्च यत्पूज्य: ६.११५
मोहादेकेऽपराध्यन्ति ६.६७
यं दृष्ट्वैव च सन्त्रस्ता: २.५३
य: पूर्ववत् क्रियाकाले ६.३०
यच्चानुमोदितं किञ्चित् २.२९
यत: प्रभृत्यपर्यन्तसत्त्व० १.१८
यतस्ततो वाऽस्तु भयम् ९.५७
यतप्रभृत्यपर्यन्त १.१८
यतो निर्धार्यते यत्र ५.१०७
यत् किञ्चिज्जगतो दु:खं १०.५६
यत्प्रत्यया च तत्राऽऽस्था ९.४३
यत् प्रधानं किलाभीष्टं ६.२७
यत्र च्छन्नेऽप्ययं राग: ८.४९
यत्र यत्र रतिं याति ८.१८
यत् सूत्रेऽवतरेद् वाक्यम् ९.५०
यथा गारुडिक: स्तम्भं ९.३७
यथा गृहीतं सुगतै: ३.२२
गथा चपलमध्यस्थो ५.१९
यथाऽऽन्मबुद्धिरभ्यासात् ८.११५
यथा दृष्टं श्रुतं ज्ञातं ९.२६
यथा पांशुगृहे भिन्ने ६.९३
यथा यथाऽस्य कायस्य ८.१७४
यथा सुखीकृतश्चात्मा ३.१२
यथैको राजपुरुष: ६.१२८
यथैव कदलीस्तम्भो ९.७४
यथैव तूलकं वायो: ७.७५
यदन्यसन्निधानेन ९.१४५
यदर्थं दूतदूतीनां ८.४१
यदर्थमेव जीवामि ६.६१
यदर्थमेव विक्रीत ८.७५
यदा कुशलयोग्योऽपि ४.१८
यदा च द्रष्टुकाम: स्यात् १०.५३
यदा चलितुकाम: स्यात् ५.४७
यदाऽऽत्मोत्कर्पणाभासं ५.५०
यदा न भावो नाभावो ९.३५
यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति ९.१५
यदा न लभ्यते भावो ९.३४
यदा न वेदक: कश्चिद् ९.९९
यदा मम परेपां च ८.९५
यदा मम परेपां च ८.९६
यदा मायैव ते नास्ति ९.१६
यदा शाकेष्विव प्रज्ञा ७.२६
यदि केशनखैर्दीर्घै: ८.६८
यदि चैवं प्रतिज्ञाय ४.४
यदि चैवं विमृष्यामि ४.२४
यदिच्छसि न तच्चित्तं ८.५५
यदि तस्यैव यद् दु:खं ८.९९
यदि तु स्वेच्छया सिद्धि: ६.३४
यदि तेन न तल्लब्धं ६.८४
यदि ते नाशुचौ राग: ८.५२; ८.४९
यदि दास्यामि किं भोक्ष्ये ८.१२५
यदि नास्ति स्वसंवित्ति: ९.२४
यदि प्रत्यक्षमप्येतत् ८.६३
यदि प्रीतिसुखं प्राप्तम् ६.७६
यदि सत्त्वो न विद्येत ९.७६
यदि सर्वेपु कायोऽयम् ९.१८
यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् ८.६६
यदि स्वभावो बालानां ६.३९
यदेवापद्यते कर्म ७.६२
यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् ६.३७
यद् दु:खजननं वस्तु ९.५६
यद् बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ५.४३
यद्यप्यन्येपु देहेपु ८.९२
यद्यप्यस्य भवेल्लाभो ८.१५३
यद्यस्ति दु:खं तत्त्वेन ९.८९
यद्यस्त्येव प्रतीकारो ६.१०
यद्येतन्मात्रमेवाद्य ६.७३

यद्येवं संहतिर्नास्ति ९.१०७
यन्न काये न चान्यत्र ९.१०४
यमदूतैर्गृहीतस्य २.४२
यमपुरुपापनीतसकल ७.४५
यमेनोद्वीक्ष्यमाणस्य ७.६
यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थम् ६.९२
यश्चासुखीकृतश्चात्मा ३.१२
यस्तेषां सुखरङ्काणां १.२९
यस्माद् भयानि सर्वाणि ५.६
यस्मान्नरकपालाश्च ६.१३०
यस्मान्नैव स एकाकी ६.१२९
यस्मिन्नात्मन्यतिस्नेहात् ८.१२१
यस्य त्वेतद् द्वयं सत्यं ९.११२
यं दृष्ट्वैव संत्रस्ता: २.५३
य: पूर्ववत् क्रियाकाले ६.३०
या: काश्चन स्त्रियो लोके १०.३०
या अवस्था प्रपद्येत ५.९९
यावत् प्रत्ययसामग्री ९.१०; ९.८५
यावत्सम्भृतसम्भारं ७.७
यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव २.२
यावन्तो नरका: केचिद् १०.४
युक्तं गृध्रश्रृगालादे: ५.६६
युगान्तकालानवलन्महान्ति १.१४
ये केचिदपराधाश्तु ६.२५
ये केचिद् दु:खिता लोके ८.१२९
येन तेनाशनेनाहं १०.५२
येऽपि नित्यानणूनाहू: ९.१२७
ये सत्त्वा मानविजिता ७.५६
येपां क्रुद्धाऽप्रसन्ना वा ३.१५
येपां सुखे यान्ति मुदं मुनीन्द्रा: ६.१२२
योऽप्यन्य: क्षणमप्यस्य ४.९
यो मान्द्यक्षुत्पिपासादि ८.१२२
यो लाभसत्क्रियाहेतो: ८.१२३
यो हि येन विना नास्ति ६.१०४
रक्षसीमं मन: कस्माद् ५.६०
रणं जीवितसन्देहं ८.७७
रत्नत्रयेऽपकारो यो २.३०
रत्नप्रदीपाँश्च निवेदयामि २.१७
रत्नोज्ज्वलस्तम्भमनोरमेषु २.१०
रम्या: कल्पद्रुमोद्यानै: १०.३४
रात्रिन्दिवं च त्रिस्कन्धं ५.९८
रात्रिन्दिवमविश्रामम् २.४०
रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे १.५
रोषो यस्य खलीकारात् ८.१८२
लघुं कुर्यात् तथात्मानम् ७.७४
लब्ध्वापि च बहूँल्लाभान् ६.५९
लाभसत्कारकीर्त्यर्थि ५.५१
लाभा नश्यन्तु मे कामं ५.२२
लाभान्तरायकारित्वाद् ६.५५
लाभिन्य: सन्तु भिक्षुण्य: १०.४४
लाभी च सत्कृतश्चाहम् ८.१७
लोक: प्रत्यक्षतस्तावत् ९.११७
लोकस्यापि च तज्ज्ञानम् ९.१३८
लोकावतारणार्थं च ९.७
लोके न भावा दृश्यन्ते ९.५
वरमद्यैव मे मृत्यु: ६.५६
वर्धयित्वैवमुत्साहं ८.१
वस्त्र-भोजन-पानीयं १०.२०
वस्त्वाश्रयेणाभावस्य ९.२९
वारणाऽपि न युक्तैवं ६.३२
विक्रीतस्वात्मभावानां ८.७६
विघनार्कांशुविकचं ८.७५
विचारितं तु यद् बुद्धै: ४.३
विचारितेन तु यदा ९.११०
विचारिते विचार्यं तु ९.१११
विचारे जीवलोकस्य ९.१५४
विज्ञानस्य त्वमूर्तस्य ९.९७
विज्ञापयामि सम्बुद्धान् २.२७

विद्यमानस्य भावस्य ९.१४६
विना शून्यतया चित्तं ९.४९
विनिपातगतानाथ ५।८५
विपुलसुगन्धिशीतल ७.४४
विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ ९.९२
विवेकलाभिनः सन्तु १०.४३
विश्वस्तविन्यस्तपदं ५.७९
विपं रुधिरमासाद्यं ७.६९
विपादकृतनिश्चेष्ट ७.५३
विहृत्य यत्र क्वचिदिष्टकालं ८.८७
वृथैवाऽऽयुर्वहत्याशु ९.१६१
वेत्ति सर्वज्ञ एवैताम् ४.७
वेदनाप्रत्यया तृष्णा ९.४८
व्यक्तस्यासत उत्पत्तिः ९.१३६
व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः ५.४
व्याध्याकुलो नरो यद्वत् ५.२४
व्रणदुःखलवाद् भीतो ५.२०
शक्ता भवन्तु चौषध्यो १०.४०
शक्तित्रासात्त्वनिर्मुक्त्या ९.५३
शव्दग्रहणरूपं यत् ९.६४
शव्दज्ञानं यदि तदा ९.६१
शव्दस्तावदचित्तत्वात् ६.९४
शमथेन विपश्यनासुयुक्तः ८.४
शरीरपक्षपातेन ८.१८०
शर्करादिव्यपेता च १०.३५
शस्त्राणि केन नरके ५.७
शाम्यन्तु वेदनास्तीव्राः १०.१६
शासनं भिक्षुतामूलं ९.४५
शिक्षां रक्षितुकामेन ५.१
शिक्षाः सूत्रेषु दृश्यन्ते ५.१०४
शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं ५.१०५
शिरःशूलानि सत्त्वानां १.२१
शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं ८.७२
शीतार्ताः प्राप्नुवन्तूष्णम् १०.५
शीतोष्णवृष्टिवाताध्व ६.१६
शीलदृष्टिविपत्त्यादि ८.१४४
शून्यतावासनाभावाद् ९३३
शून्यदेवकुले स्थित्वा ८.२
शोकवेगसमुच्छून ७.९
शोकायासैर्विषादैश्च ९.१५६
श्रीसम्भवविमोक्षाच्च ५.१०३
संक्षेपेणाथवा पश्येत् ५.१०६
संतर्प्यन्तां प्रेताः १०.१८
संतानः समुदायश्च ८.१०१
संप्रजन्यं तदायाति ५.३३
संक्षेपाद् यद्यदात्मार्थे ८.१६५
संवृत्तिः परमार्थश्च ८.२
संसर्गं कर्म वा प्राप्तं ७.७३
संसारदुःखनिर्मोक्षम् ३.२
संक्लेशपक्षमध्यस्थो ७.६०
स किं नेच्छसि सत्त्वानां ६.८३
स किं संस्क्रियते सत्नात् ८.६९
सचेदपसरेद्वापि ५.३८
सक्तित्रासात् त्वनिर्मुक्त्या ९.५३
सक्तिसंत्रासनिर्मुक्त्या ९.५३
सत्त्वं रजस्तमो वाऽपि ९.६५
सत्त्वं रजस्तमश्चेति ९.१२८
सत्त्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रम् ६.११२
सत्त्वरत्नविशेषोऽयम् १.२५
सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च ६.११३
सत्यदर्शनतो मुक्तिः ९४१
सत्यामेव सुखव्यक्तौ ९.१३३
सदा कल्याणमित्रं च ५.१०२
सद्धर्मसेवकं कायम् ५.८३
समन्तभद्रायात्मानम् २.५०
सममात्मानमालोक्य ८.१४७
सम्प्रजन्यं तदायाति ५.३३
सरेदपसरेद्वाऽपि ५.३८

सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च २.२४
सर्वचैत्यानि वन्देऽहं २.२५
सर्वत: परिभूताश्च ७.५८
सर्वत्यागश्च निर्वाणम् ३.११
सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धै: २.१४
सर्वमाकाशसङ्काशम् ९.१५५
सर्वमेतत् सुचरितं ६.१
सर्वसद्धर्मरत्नेषु २.२१
सर्वाक्षणविनिर्मुक्ता: १०.२७
सर्वात्मना चेत् सर्वत्र ९.८२
सर्वा दिश: शिवा: सन्तु १०.२३
सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्त: ८.३९
सर्वारम्भा हि तुष्टचर्था: ५.७७
सर्वासु दिक्षु यावन्त: १०.२
सर्वासु दिक्षु सम्बुद्धान् ३.४
सर्वे देवा मनुष्याश्च ४.३०
सर्वेऽपि वैद्या: कुर्वन्ति ७.२३
सर्वे वद्धा भवन्त्येते ५.५
सर्वे हिताय कल्पन्ते ४.३३
सविवादं महायानम् ९.४४
सशव्दपातं सहसा ५.७२
सहसा यत्समारव्धम् ४.२
सहापि वाक्शरीराभ्यां ५.१५
सातत्याभिनिवेशोत्थं ५.८१
सान्तराविन्द्रियार्थौ चेत् ९.९४
सिध्यन्तु वोधिसत्त्वानाम् १०.४९
सुखभोगवुभुक्षितस्य वा ३.३२
सुखाच्च च्यावनीयोऽयं ८.१५४
सुखाच्च च्यावयात्मानं ८.१६१
सुखार्थं क्रियते कर्म ७.६३
सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् १.१
सुनिश्चितं सुप्रसन्नं ५.५५
सुपरीक्षितमप्रमेयधीभि: १.११
सुप्त-मत्त-प्रमत्तानां १०.२६
सुभाषितेषु सर्वेषु ५.७५
सुलभा याचका लोके ६.१०६
सुवर्णदण्डै: कमनीयरूपै: २.१९
सुहृदोऽप्युद्विजन्तेऽस्माद् ६.५
सोऽङ्गारराशिर्मणिराशिरस्तु १०.८
स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो ६.९०
स्तुत्यादयश्च मे क्षेमं ६.९८
स्थौल्यं त्यक्त्वा भवेत् सूक्ष्मम् ९.१३४
स्नात्वा स्नात्वा यथा कश्चित् ९.१६५
स्नेहान्न त्यज्यते लोको ८.३
स्पृष्ट उष्णोदकेनापि ७.१२
स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च २.१६
स्वगुणे कीर्त्यमाने च ६.७९
स्वच्छन्दचार्यनिलय: ८.८८
स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ता: ४.४०
स्वपापस्मृतिसन्तप्त: ७.१०
स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं ६.५७
स्वप्नोपमास्तु गतयो ९.१५१
स्वमेव बव्हमेध्यं ते ८.५३
स्वयं मम स्वामिन एव तावद् ६.१२१
स्वयूथ्यान्मार्यमाणाँस्त्वं ७.५
स्वराङ्गसागरै: स्तोत्रै: २.२३
स्वार्थद्वारेण या प्रीति: ८.२५
हस्तपादादिरहिता: ४.२८
हस्तादिभेदेन बहुप्रकार: ८.९१
हितमुक्ता: प्रकुप्यन्ति ८.११
हिताशंसनमत्रेण १.२७
हीनादिष्वात्मतां कृत्वा ८.१४०
हेतुमान् फलयोगीति ९.७३

✡

Acc. 28893
2AA13

अतीत → भूत
अनागत → भविष्य
प्रत्युत्पन्न ⇒ वर्तमान

सपरिभवम् - ~~[illegible]~~ तिरस्कारपूर्वक प्रवर्तताम् - भइरहोस्
प्रतिलभ्यताम् - रहिरहोस् मा स्वयति - नहोस्
प्रधारयामि - ओढाइदिन्छु - पुरीषोत्सर्गावकृत = चरा-जिवावले लातपतिए
आर्तस्वरं विरौमि = दुःखीस्वरमा बिलौना गर्छु। अतीत्य = अतिक्रमण गर्नाले
यास्यति = जान्छ
क्षुत्पिपासाव्यथा - भोक र प्यासको व्यथा परिलम्ब्यते - ढिलाइ गर्नु = चिरायते
संकारकुटेभ्यः = फोहोरको थुप्रोबाट विसंवाद्य = ढाँटेर लप्स्ये = पाउँला
अर्वीचि = नरक घ्नन्ति = मार्छ
याचितकोपमं = उधारो मागेर ल्याएको
अस्त्राणि = अस्त्रहरु अवमाति = छुस्सु

ज्ञानविज्ञानाढ्यैः [illegible] प्रतिलब्धाः पुरुषाः [illegible]
यदि नाम पुनरप्यत्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्यत्र समागमं कुरुतः ।।

व्योम कुसुमा

भगवान् बुद्धका उपदेशहरुलाई नेपाली भाषामा अनुवाद गरी प्रकाशित गर्दै लैजाने क्रममा व्योम कुसुमा अनुवाद समितिले हालसम्म छोकयुर लिङ्पाको जीवनी, महायान सातसूत्रीय मतशोधन अभ्यास, बुद्ध वचन दोहोऱ्याउँदै, दर्शन सौभाग्य, मुनि मतप्रकाश, बौद सार उपदेश तथा वोधिचर्यावतार जस्ता ग्रन्थहरु अनुवाद गरी विभिन्न प्रकाशकहरुको तर्फबाट प्रकाशित गरि सकेको छ । अन्य धेरै ग्रन्थहरु पनि अनुवाद सम्पन्न भई प्रकाशनको प्रतीक्षामा छन् ।

सिद्धाचार्य शान्तिदेवद्वारा विरचित यो 'वोधिचर्यावतार' को पूरा नाम 'वोधिसत्वचर्यावतार' हो। यसमा महायानको अभ्यास कसरी गर्ने भन्ने कुरालाई स्पष्टसँग बताइएको छ जसभित्र वोधिचित्तोत्पाददेखि शुरु गरी ६ ओटै पारमिताहरुको कसरी अभ्यास गर्ने भन्ने उपदेशहरु छन् । सम्यक्सम्बुद्धताको प्राप्ति गर्न चाहने बोधिसत्वले कस्तो आचरण गर्नुपर्छ (शील), के कुरामा कसरी चित्तलाई एकाग्र गर्नुपर्छ (समाधि) र शुद्ध माध्यामिक दृष्टिमा कसरी स्थित हुनुपर्छ (प्रज्ञा) भन्ने विषयहरुको प्रतिपादन यसमा गरिएको छ ।

अनुवादक नारायण प्रसाद रिजाल (बुद्ध वज्र) १२ वर्ष अघि देखि आचार्य धर्म वज्र (श्रीधर राणा) ज्यूको निर्देशनमा रही अटुट सिद्ध परम्पराका बौद्ध उपदेशहरुको अध्ययन र अभ्यास गर्दै आउनुभएको छ। भौतिक शास्त्रमा स्नातकोत्तर (एम्.एस्सी) र सिद्धान्तज्यौतिषमा शास्त्री सम्म अध्ययन गरेका रिजाल हाल वौद्ध ग्रन्थहरुलाई संस्कृत भाषाबाट नेपाली भाषामा रूपान्तर गर्ने, गहिरिएर बुद्ध धर्मको अभ्यास गर्न चाहनेलाई मार्गदर्शन गराउने र बौद्ध ग्रन्थहरु लेख्ने एवं सम्पादन गर्ने कार्यमा अति व्यस्त हुनुहुन्छ ।

यो पावन धर्मग्रन्थ भएको हुनाले यसलाई कुल्चने, नाघ्ने विछ्याउने आदि गरेमा भारी अकुशल हुने र शरणगमनको संवर पनि बिग्रिने भएकोले त्यसो नगर्न श्रद्धालु पाठकहरुमा अनुरोध गरिन्छ ।

व्योम कुसुमा अनुवाद समिति